

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क १७]

पूज्यपाददेवनन्दिविरचितं

जैनेन्द्रव्याकरणम्

तस्य टीका

आचार्य-अभयनन्दिप्रणीता

जैनेन्द्रमहावृत्तिः



सम्पादक

पण्डित शम्भुनाथ त्रिपाठी, व्याकरणाचार्य, सप्ततीर्थ

सहायक

पण्डित महादेव चतुर्वेदी, व्याकरणशास्त्राचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

प्रथम आवृत्ति
६०० प्रति

}

सारांशीर्षं बीर नि० सं० २४८३

वि० सं० २०१३

नवम्बर १९५६

}

मूल्य १५ रु०

भूमिका

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

भारतवर्षमें व्याकरणशास्त्रका अध्ययन लगभग तीन सहस्र वर्षसे चला आ रहा है। भाषाके शुद्ध ज्ञानके लिए व्याकरणका महत्त्व सर्व सम्मतिसे स्वीकृत हुआ। अतएव व्याकरणको 'उत्तरा धिक्ता' अर्थात् अन्य विद्याओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कोटिमें माना गया। किसी भी भाषाके इतिहासमें धातु और प्रत्ययोंकी पहचान उस गौरवपूर्ण स्थितिकी सूचक है जिसमें सूक्ष्म दृष्टिसे भाषाके आन्तरिक संगठनका विवेक कर लिया जाता है, और शब्दोंकी उत्पत्ति और निर्माणकी जो प्राणवन्त प्रक्रिया है उसके रहस्यको आत्मसात् कर लिया जाता है। यों तो सभी मनुष्य अपनी अपनी मातृभाषामें बोलकर अपना अभिप्राय प्रकट कर लेते हैं; किन्तु व्याकरणकी प्रक्रियाका जन्म उस राजपथका निर्माण है जिसपर चलकर निर्भय भावसे हम भाषाके विस्तृत साम्राज्यमें जहाँ चाहें पहुँच सकते हैं और शब्दोंमें भावप्रकाशनकी जो अपरिमित क्षमता है उसको भी प्राप्त कर सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणोंने संसारमें सर्वप्रथम इस प्रकारका महनीय कार्य किया। शब्दोंके विभिन्न रूपोंके भीतर जो एक मूल संज्ञा या धातु निहित रहती है उसके स्वरूपका निश्चय और प्रत्यय जोड़कर उससे बननेवाले क्रिया और संज्ञा रूपी अनेक शब्दोंकी रचना एवं प्रत्ययोंके अर्थोंका निश्चय—इस प्रकारके विविध विचारकी पद्धतिका जिस शास्त्रमें आरम्भ और विकास हुआ उसे शब्दविद्या या व्याकरणशास्त्र कहा गया।

संस्कृत साहित्यमें पाणिनिकी अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्रका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन है। उसके लगभग चार सहस्र सूत्रोंमें लौकिक और वैदिक संस्कृतका जैसा अद्भुत विचार किया गया है, वह विस्मय है। पाणिनिने संस्कृत व्याकरणका जो स्वरूप स्थिर किया उसीका विकास अनेक वृत्ति, वार्तिक, भाष्य, न्यास, टीका, प्रक्रिया आदिके रूपमें लगभग इस शती तक होता आया है। किन्तु पाणिनिके अतिरिक्त, पर मुख्यतः उन्हींकी निर्धारित पद्धतिसे और भी व्याकरण-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। इस विषयमें एक प्राचीन श्लोक ध्यान देने योग्य है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलिः शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥

यह श्लोक मुग्धबोधके कर्ता पं० बोपदेवका कहा जाता है। इस सूचीमें वैयाकरणोंकी दो कोटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। पहली कोटिमें इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न और पाणिनि, ये पाँच प्राचीन वैयाकरण थे। दूसरी कोटिमें अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र इन नवीन शाब्दिकोंकी गणना है। पाणिनीय सूत्र 'ऋतून्थादिसूत्रान्ताहम्' [४।२।६०] के एक वार्तिकपर काशिकामें 'पञ्चव्याकरणः' यह उदाहरण पाया जाता है; इसका अर्थ था पाँच व्याकरणोंका अध्ययन करनेवाला या जाननेवाला विद्वान् [तदधीते तद्वेद]। इसमें जिन पाँच व्याकरणोंका एक साथ उल्लेख है, वे यही पाँच प्राचीन व्याकरण होने चाहिए जिनकी सूची मुग्धबोधके इस श्लोकमें है। इसपर सूक्ष्म विचार करनेसे यह तथ्य सामने आता है कि पाणिनिसे पूर्वकालमें व्याकरणका अध्ययन-अध्यापन व्यापक रूपसे हो रहा था, जैसा कि पाणिनीय व्याकरणके इतिहाससे ज्ञात होता है। प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायीमें लगभग ६४ आचार्योंके नाम आये हैं जिन्होंने शब्दशास्त्रके सम्बन्धमें उस प्राचीनकालमें जहापोह किया था। इनमेंसे इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि और काशकृत्स्नके व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु पाणिनिसे पहले वे अवश्य विद्यमान थे। ज्ञात

होता है कि उन प्राचीन व्याकरणोंकी अधिकांश सामग्रीके आधारपर एवं स्वतः अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा लोकसे शब्द-सामग्रीका संग्रह करके पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीका निर्माण किया। वह शास्त्र लोकमें इतना महान् और सुविहित समझा गया [पाणिनीय मन्त्र-बुद्धिचिन्ता, भाग्य १:३:१६] कि पाणिनिके उत्तर कालमें नये व्याकरणोंकी रचनाका क्रम एक प्रकारसे बन्द सा हो गया। उसके बाद व्याकरणका परिष्कार केवल वार्तिक, भाष्य और वृत्तियों द्वारा चलता रहा। कात्यायन जैसे प्रखर बुद्धिशाली आचार्यने पाणिनि व्याकरणपर लगभग सवा चार सहस्र वार्तिकोंकी रचना करके उस महान् शास्त्रके प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त की, पर कोई स्वतन्त्र व्याकरण रचनेका उपक्रम नहीं किया। इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलिका महाभाष्य भी पाणिनीय व्याकरणकी सीमाके भीतर एक अद्भुत प्रयत्न था। पाणिनि लगभग पाँचवीं शती विक्रम पूर्वमें नन्द राजाओंके समयमें हुए थे। यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्यपर आश्रित जान पड़ती है जैसा कि हमने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक ग्रन्थमें प्रदर्शित किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि पाणिनिके बाद लगभग एक सहस्र वर्षतक नूतन व्याकरणकी रचनाका प्रयत्न नहीं किया गया।

भारतीय साहित्यिक इतिहासका यह सुविदित तथ्य है कि कुषाण कालके लगभग संस्कृत भाषाको पुनः सार्वजनिक रूपमें साहित्यिक भाषा और राजभाषाका पद प्राप्त हुआ। कनिष्कके समयमें अश्वघोषके काव्योंकी रचना और कदरामाके जूनागढ़ लेखसे वह स्पष्ट विदित होता है। वस्तुतः इस समय भाषाके क्षेत्रमें जो क्रान्ति प्रदित हुई उसका ठीक स्वरूप कुछ इस प्रकार था—ब्राह्मण साहित्यमें तो संस्कृत भाषाकी परम्परा सदासे अक्षुण्ण थी ही, पर उसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन आचार्योंने भी संस्कृत भाषाको उन्मुक्त भावसे अपना लिया और उसके अध्ययनसे दोनोंने अपने अपने क्षेत्रमें विपुल साहित्यका निर्माण किया जिसमें किसी समय सहस्रों ग्रन्थ थे। कुषाण कालसे जो भाषा सम्बन्धी नया परिवर्तन आरम्भ हुआ या वह उत्तरोत्तर सबल होता गया, यहाँ तक कि लगभग चौथी-पाँचवीं शती ईस्वीमें संस्कृत भाषाको न केवल भारतवर्षमें अखण्ड राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, बरख मध्य एशियासे लेकर हिन्द एशिया या द्वीपान्तर तकके देशोंमें पारस्परिक व्यवहारके लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बन गई।

इस पृष्ठभूमिमें शब्दविद्याका पुनः वह दृढ़ता हुआ सूत्र आरम्भ हुआ और नये व्याकरणशास्त्र लिखे जाने लगे। स्वयं पाणिनीय व्याकरणों पर वामन जयादित्य कृत काशिका वृत्ति और जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यासकी रचना हुई। यह टीकाके मार्गसे प्राचीन व्याकरणका ही विशदीकरण था; किन्तु बौद्ध और जैन जो दो बड़े समुदाय संस्कृत भाषाकी नई शक्तिसे परिचित हो रहे थे, उन्होंने अपने अपने क्षेत्रमें दो नये व्याकरणोंका निर्माण किया। बौद्धोंमें आचार्य चन्द्रगोमी कृत चान्द्र व्याकरण और जैनोंमें आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण गुप्त युगमें अस्तित्वमें आये। ज्ञात होता है कि दोनोंकी ही रचना लगभग ५ वीं शती ईस्वीके उत्तरार्धमें हुई। चान्द्र व्याकरणकी स्वोपश वृत्ति में 'अजयद् जतों हूणान्' [१:२:८१] उदाहरणसे सिद्ध है कि पाँचवीं शतीके मध्यमें स्कन्दगुप्तने हूणोंपर जो बड़ी विजय प्राप्त की थी उसकी समकालीन स्मृति इस उदाहरणमें अवशिष्ट है। इससे चान्द्रव्याकरणके रचनाकाल पर प्रकाश पड़ता है। पूज्यपाद देवनन्दीने दो सूत्रोंमें प्रसिद्ध आचार्य, सिद्धसेन [वेत्ते: सिद्धसेनस्य, ५:१:७] और समन्तभद्र 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' [५:१:१४०] का उल्लेख किया है, ये दोनों देवनन्दीसे कुछ समय पूर्व हो चुके थे। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकरका समय भी सर्वथा निश्चित नहीं है; किन्तु अनुश्रुतिके अनुसार उन्हें विक्रमादित्यका समकालीन माना जाता है। विक्रमके नवरत्नोंकी सूचीमें जिस क्षणिकका उल्लेख है उन्हें विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर ही मानते हैं। श्री राइसेने सिद्धसेनका समय पाँचवीं शतीके मध्यभागमें माना है; किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य [३७५-४१३] और सिद्धसेनकी समसामयिकताका आधार यदि सत्य हो तो सिद्धसेनको चौथी शतीके अन्तमें मानना ठीक होगा। लगभग यही समय समन्तभद्रका होना चाहिए। श्री प्रेमीजीने अपने पाणिन्यपूर्ण लेखमें देवनन्दीके

समयके विषयमें जो प्रमाण संगृहीत किये हैं उनकी सम्मिलित सাক্ষीसे भी यही सूचित होता है कि आचार्य देवनन्दी लगभग पाँचवीं शतीके अन्तमें हुए हैं। इस सम्बन्धमें एक विशेष प्रमाणकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसके अनुसार संवत् ६६० में बने हुए दर्शनसार नामक प्राकृत ग्रन्थमें कहा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने दक्षिण मधुरामें ५२६ विक्रमामें [४६६ ई०] द्वाविड़ संघकी स्थापना की। इससे भी पूज्यपादका समय ५ वीं शतीके उत्तरार्धमें सिद्ध होता है। इसीका समर्थन करनेवाला एक अन्य प्रमाण है—कर्नाटक-कविचरित्र के अनुसार गंगवंशीय राजा अविनीत [वि० सं० ५२३] के पुत्र दुर्विनीत [वि० सं० ५३८, ईस्वी ४८१] आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे; अतएव पूज्यपाद ५ वीं शतीके उत्तरार्धमें सिद्ध होते हैं। महाराज पृथिवीकौकशके दानपत्रमें लिखा है—श्रीमत्कोकणमहाराजाधिराजस्याविनीतत्तामनः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबन्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपंचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन...; अर्थात् अविनीतके पुत्र दुर्विनीतने शब्दावतारनामक ग्रन्थकी रचना की थी। जैसे प्रेमीजीने लिखा है शिमोगा जिलेकी नगर तहसीलके शिलालेखमें देवनन्दीको पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यासका कर्ता लिखा है। अनुमान होता है कि दुर्विनीतके गुरु पूज्यपादने वह ग्रन्थ रचकर अपने शिष्यके नामसे प्रचारित किया था।

जैनेन्द्र व्याकरण उस शृंखलाकी पहली कड़ी है जिसमें गुप्तकालसे लेकर मध्यकाल तक उत्तरोत्तर नये नये व्याकरणोंकी रचना होती चली गई। जैनेन्द्र [पाँचवीं शती], चन्द्र [पाँचवीं शती], शाकटायन [नवमी शती का पूर्वार्ध], सरस्वतीकण्ठाभरण [बारहवीं शतीका पूर्वार्ध] और प्रसिद्ध हैमचन्द्रानुशासन [बारहवीं शतीका पूर्वार्ध] इन सबने उन्नत मनसे और अत्यन्त सौहार्द भावसे पाणिनीय व्याकरणकी मूल सामग्रीका अवलम्बन लिया। इनमें भी जैनेन्द्र-व्याकरणने भोजके सरस्वतीकण्ठाभरणको छोड़ कर अपने आपको पाणिनीय सूत्रोंके सबसे निकट रखा है। किसी भी प्रकरणके अध्ययनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनेन्द्रने पाणिनि सामग्रीकी प्रायः अविकल रक्षा की है। केवल स्वर और वैदिक प्रकरणोंको अपने युगके लिए आवश्यक न जानकर उन्होंने छोड़ दिया था। जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताने पाणिनीय गणपाठकी बहुत सावधानीसे रक्षा की थी। मूल व्याकरणमें पाणिनिके गणसूत्रोंको प्रायः स्वीकार किया गया है। यद्यपि वैदिक शाखाओंवाले और गोत्र सम्बन्धी गणोंसे निवृत्त होनेवाले नामोंका जैन साहित्यके लिए उतना उपयोग न था, किन्तु जिस समय इस व्याकरणकी रचना हुई उस समय भाषाके विषयमें लोककी चेतना अत्यन्त स्वच्छ और उदार भावसे युक्त थी; अतएव जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रवृत्ति पाणिनि सामग्रीके निराकरणमें नहीं, वरन् उसके अधिकसे अधिक संरक्षणमें देखी जाती है। जैनेन्द्र व्याकरणके साथ उसका अलग गणपाठ किसी समय अवश्य ही रहा होगा, यद्यपि अब वह पृथक् रूपसे उपलब्ध न होकर अभयनन्दी कृत महावृत्तिके अन्तर्गत ही सुरक्षित है। कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यकी हड्डियोंमें जो नये नये रूप सिद्ध किये गये थे उन्हें देवनन्दीने सूत्रोंमें अपना लिया है; इस लिए भी यह व्याकरण अपने समयमें विशेष लोकप्रिय हुआ होगा। यह प्रवृत्ति काशिकामें भी किसी अंशमें आ गई थी और चन्द्र आदि व्याकरणोंमें भी बराबर पाई जाती है।

जैनेन्द्र व्याकरणके दो सूत्रपाठोंकी परम्परा इस समय पाई जाती है—एकमें तीन सहस्र सूत्र हैं; दूसरेमें लगभग ७०० सूत्र अधिक हैं। इस विषयमें श्रीप्रेमीजीका निष्कर्ष यथार्थ है कि मूल जैनेन्द्र सूत्रपाठकी संख्या ३ सहस्र हो थी जिसपर अभयनन्दीकी टीका पाई जाती है।

अभयनन्दी कृत महावृत्ति लगभग १२ सहस्र श्लोक परिमाणका बड़ा ग्रन्थ है। कदाचित् १६१८ में इसके प्रथम ३ अध्यायोंका एक संस्करण प्रकाशित हुआ था। किन्तु वह केवल एक प्रतिके आधारपर तैयार किया गया था, अतएव इस बातकी बहुत आवश्यकता थी कि सम्पूर्ण जैनेन्द्र व्याकरण तथा उसकी महावृत्तिका एक संशोधित संस्करण प्रकाशित किया जाय। हर्षकी बात है कि भारतीय ज्ञानपीठके सत्ययत्नसे इस मूल्यवान् ग्रन्थका यह संशोधित संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है जिसके तैयार करनेमें पूनाके भयङ्गरकर ओरिएण्टल इंस्टीट्यूटमें सुरक्षित प्रतियोंका और काशीमें ही प्राप्त ३ प्रतियोंका उपयोग किया गया है। आशा है, व्याकरण-

शास्त्रके तुलनात्मक अध्ययनके लिए जैनेन्द्रका वह वर्तमान संस्करण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, विशेषतः गणपाठसे तुलनात्मक अध्ययनके लिए इस संस्करणका विशेष उपयोग हो सकेगा।

आचार्य अभयनन्दीकी महावृत्ति लगभग काशिकाके समान ही बृहत् ग्रन्थ है। इसके कर्ताने काव्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके माध्यसे बहुत अधिक उपादेय सामग्रीका अपने ग्रन्थमें संकलन कर लिया है। महावृत्ति-का काल आठवीं शताब्दीका प्रारम्भ माना जाता है और सम्भावना ऐसी है कि अभयनन्दीने काशिका वृत्तिका उपयोग किया था। वस्तुतः किसी भी पाठकसे यह तथ्य छिपा नहीं रह सकता कि अष्टाध्यायी और काशिकाका ही रूपान्तर जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी और उसकी महावृत्तिमें प्राप्त होता है। फिर भी काशिका और महावृत्तिकी सूक्ष्म तुलना करनेपर यह प्रकट हो जाता है कि अभयनन्दीने कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जो काशिकामें उपलब्ध नहीं होते और फलस्वरूप ऐसी सामग्रीकी रक्षा की है जो काशिकासे प्राप्त नहीं हो सकती। उन्होंने जहाँ सम्भव हो सका वहाँ जैन तीर्थङ्करोंके, महापुरुषोंके, या ग्रन्थोंके नाम उदाहरणोंमें डाल दिये हैं। जैसे, सूत्र १।४।१५ के उदाहरणमें 'अनु शास्त्रिभद्रम् आख्याः, अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः, सूत्र १।४।१६ के उदाहरणमें 'उपसिंहनन्दिनं कवयः, उपसिंहसेनं वैयाकरणाः'; सूत्र १।४।२० की वृत्तिमें 'आकुमारंभ्यो यशः समन्तभद्रस्य'; सूत्र १।४।२२ की टीकामें 'अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति'; सूत्र २।१।६८ की टीकामें 'भरतगृह्यः, भुजबलिगृह्यः'; सूत्र १।३।१० की वृत्तिमें 'आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य' ऐसे उदाहरण हैं जो वृत्तिकारने मूलग्रन्थके अनुकूल जैन वातावरणका निर्माण करनेके लिए अपनी प्रतिभासे बनाये हैं। सूत्र १।३।५ की वृत्तिमें 'प्राभृतपर्यन्तमधीते' उदाहरण महत्वपूर्ण है, उसीके साथ 'सवन्धम्, सदीकम् अधीते' भी ध्यान देने योग्य हैं। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृतसे तात्पर्य महाकर्मप्रवृत्ति प्राभृतसे या जिसके रचयिता आ० पुष्पदन्त तथा भूतबलि माने जाते हैं [प्रथम-द्वितीय शती]। इसीका दूसरा नाम षट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसीका भागविशेष 'बन्ध' या महाबन्ध [महाधवल सिद्धान्तशास्त्र] था जिसके अध्ययनसे यहाँ अभयनन्दीका तात्पर्य ज्ञात होता है; अर्थात् उस समय भी विद्वानोंमें प्राभृत या षट्खण्डागमसे पृथक् महाबन्धका अस्तित्व था और दोनोंका अध्ययन जीवनका आदर्श माना जाता था। 'सदीकमधीते' में जिस टीकाका उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना बीरसेनने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतारके अनुसार महाकर्मप्राभृतपर आचार्य कुन्दकुन्दने भी एक बड़ी प्राकृत टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। संभवतः वही टीका प्राभृत और बन्धके साथ पढ़ी जाती थी। इनके स्थान पर पाणिनि सूत्रके उदाहरणोंमें किसी समय इष्टि, पशुबन्ध, अग्नि, रहस्य नामक शतपथ ब्राह्मणके तत्तद् काण्डोंका अध्ययन विद्याका आदर्श माना जाता था। देवनन्दीने सूत्र १।४।३४ में जिन श्रीदत्त आचार्यका उल्लेख किया है उन्हें कुछ विद्वान् काल्पनिक समझते हैं, परन्तु अभयनन्दीकी महावृत्तिसे सूचित होता है कि श्रीदत्त कोई अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनका लोकमें प्रमाण माना जाता है। 'इतिश्रीदत्तम्', यह प्रयोग 'इतिपाणिनि' के सदृश लोकप्रसिद्ध था। इसी प्रकार 'तच्छ्रीदत्तम्', 'अहोश्रीदत्तम्' प्रयोग भी श्रीदत्तकी लोकप्रियता और प्रामाणिकता अभिव्यक्त करते हैं [श्रीदत्तशब्दों लोके प्रकाशते; महावृत्ति १।३।५]। सूत्र ३।३।७६ पर 'तेन प्रोक्तम्' के उदाहरणमें अभयनन्दीने श्रीदत्तके विरचित ग्रन्थको श्रीदत्तीयम् कहा है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीदत्तका बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था। सूत्र १।४।४ की वृत्तिमें 'शरदं मधुरा रमणीया, मासं कल्याणी काञ्ची' वे दोनों उदाहरण अभयनन्दीकी मौलिकता सूचित करते हैं। पाणिनि सूत्र 'कालाध्वनोरस्यन्तसंयोगे' [२।३।५] की काशिका वृत्तिमें 'मासं कल्याणी' उदाहरण तो है किन्तु 'मासं कल्याणी काञ्ची' यह ऐतिहासिक सूचना अभयनन्दीने किसी विशेष स्रोतसे प्राप्त की थी। जिस काञ्चीपुरीके मासव्यापी उत्सवोंकी विशेष शोभाकी ओर इस उदाहरणमें संकेत है वह महेन्द्रवर्मन्, नरसिंह वर्मन् आदि पल्लवनरेशोंकी राजधानीके सम्बन्धमें होना चाहिए। अतएव सप्तम शतीसे पूर्व यह उदाहरण भाषामें उत्पन्न न हुआ होगा। सूत्र ४।३।११४ की वृत्तिमें अभयनन्दीने माघके 'खट्वाह्णमिश्रघनेन विभ्रता...' श्लोकका उद्धरण दिया है। माघके दादा मुद्रभदेव वर्मलक्ष्मणके मंत्री

ये जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है। अतएव माघका समय सप्तम शतीका उत्तरार्ध होना चाहिए। उसके बाद ही अभयनन्दीने महावृत्तिका निर्माण किया होगा। सूत्र १।४।६९ पर 'चन्द्रगुप्तसभा' उदाहरण तो पाणिनीय परम्परामें प्राप्त होता है किन्तु उसके साथ काशिकामें जो 'पुण्यमित्रसभा' दूसरा उदाहरण है उसकी जगह महावृत्तिकारने 'सातवाहनसभा' उदाहरण रक्खा है। उसी प्रकार काशिकामें [१।४।२३] में केवल 'काष्ठसभा' उदाहरण है, किन्तु अभयनन्दीने 'पाषाणसभा और पर्वतकासभा' ये दो अतिरिक्त उदाहरण दिये हैं। कहीं-कहीं अभयनन्दीने काशिकाकी अपेक्षा भाष्यके उदाहरणोंकी स्वीकार किया है। जैसे सूत्र १।४।२३७ में 'औद्बलिकः पिता, औद्बलकायनः पुत्रः' यह भाष्यका उदाहरण था जिसे बदलकर काशिकाने अपने समयके अनुकूल 'आर्जुनिः पिता, आर्जुनायनः पुत्रः' [काशिका २।१।६९] यह उदाहरण कर दिया था। 'आर्जुनायन' काशिकाकारके समयके अधिक सन्निकट था जैसा कि समुद्रगुप्तकी प्रयागस्तम्भ प्रशस्तिमें आर्जुनायनगणके उल्लेखसे ज्ञात होता है। कहीं-कहीं महावृत्तिमें काशिकाकी सामग्रीकी स्वीकार करते हुए उससे अतिरिक्त भी उदाहरण दिये गये हैं जो सूचित करते हैं कि अभयनन्दीकी पहुँच अन्य प्राचीन वृत्तियों तक थी, जैसे सूत्र १।४।८३ की वृत्तिमें 'उद्धवरावति' तो काशिकामें भी है किन्तु 'विपाट्-चक्रमिदम्' [विपाटा और चक्रमिद नदीका संगम] उदाहरण नया है। ऐसे ही सूत्र २।४।२९ में मगूरिकावन्ध, कौशिकवन्ध, चक्रवन्ध, कूटवन्ध उदाहरण महावृत्ति और काशिकामें समान हैं, पर चण्डालिकावन्ध और महिषिकवन्ध उदाहरण महावृत्तिमें नये हैं। काशिकाका मुष्टिकवन्ध महावृत्तिमें दृष्टिकवन्ध और चोरकवन्ध चारकवन्ध हो गया है। सूत्र १।३।३६ में भी चारकवन्ध पाठ है। सूत्र ५।४।९६ 'पानं देशे' की वृत्तिमें काशिकाके 'क्षीरपाणाः उर्जानराः' को 'क्षीरपाणाः आम्नाः' और 'सौवीरपाणा वाह्नीकाः' को 'सौवीरपाणाः द्रविणाः' कर दिया है। 'द्रविणाः' द्रमिल या द्रमिडका रूप है। ये परिवर्तन अभयनन्दीने किसी प्राचीन वृत्तिके आधार पर या स्वयं अपनी सूचनाके आधारपर किये होंगे। आन्ध्र देशमें दूध पीनेका और तामिल देशमें काँजी पीनेका व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध रहा होगा। कहीं-कहीं महावृत्तिमें कठिन शब्दोंके नये अर्थ संग्रह करनेका प्रयास किया है इसका अच्छा उदाहरण सूत्र २।४।१६ का 'अपडक्षीण' शब्द है। पाणिनि सूत्र ५।४।७ की काशिका वृत्तिमें 'अपडक्षीणो मन्त्रः' उदाहरण है अर्थात् ऐसा मन्त्र या परामर्श जो केवल राजा और मंत्रीके बीचमें हुआ हो [यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः]। 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः' के अनुसार राजा और मुख्य मंत्रीकी 'चार आँखों' या 'चार कानों' से बाहर जो मन्त्र चला जाता था उसके फूट जानेकी आशंका रहती थी। अभयनन्दीने काशिकाके इस अर्थको स्वीकार तो किया है, किन्तु गौण रीतिसे। उन्होंने 'अपडक्षीणो देवदत्तः' उदाहरणको प्रधानता दी है। अर्थात् कोई देवदत्त नामका व्यक्ति जिसने अपने पिता, पितामह और पुत्रमेंसे किसीको न देखा हो। अर्थात् जो स्वयं अपने पिता पितामहकी मृत्युके बाद उत्पन्न हुआ हो और स्वयं अपने पुत्र जन्मके कुछ मास पहले गत हो गया हो। इसके अतिरिक्त गेंदको भी अपडक्षीण कहा है [येन वा कन्दुकेन द्वौ कीदृतः सोऽप्येवमुक्तः]। या तो ये अर्थ अभयनन्दीके समयमें लोकप्रचलित थे या उनकी कल्पना है। महावृत्तिमें 'अपडक्षीण'का एक अर्थ मछली भी किया है पर उसमें खोजतान ही ज्ञान पड़ती है। सूत्र २।४।१३४ में 'अयानवीन' शब्दके अर्थका भी महावृत्तिमें विस्तार है।

महावृत्ति सूत्र २।२।६२ में इतिहासकी विशेष महत्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित रह गई है। उसमें ये दो उदाहरण आये हैं—

‘अरुणन्महेन्द्रो मथुराम् । अरुणद् यवनः साकेतम्’

व्याकरणकी दृष्टिसे यह आवश्यक था कि कोई ऐसा उदाहरण लिया जाता जो लोकप्रसिद्ध घटनाका सूचक हो, जो कहनेवालेके परोक्षमें घटित हुआ हो किन्तु जिसका देख सकना उसके लिए सम्भव हो अर्थात् उसके जीवन कालकी ही कोई प्रसिद्ध घटना हो, पर जिसे सम्भव होने पर भी उसने स्वयं देखा न हो। भाष्यकार पतञ्जलिने इसका उदाहरण देते हुए अपनी सभसामयिक दो घटनाओंका उल्लेख किया था—‘अरुणद्

यवनः साकेतम्, अरुणश्च यवनो मध्यमिकास ।' इनमें शाकलके यवन राजाओं द्वारा किये हुए उन दो हमलोंका उल्लेख है जिनमेंसे एक पूर्वकी ओर साकेत पर और दूसरा पच्छिममें मध्यमिका पर। मध्यमिका चित्तौड़के पासका वह स्थान था जिसे इस समय नगरी कहते हैं और जहाँ खुदाईमें प्राप्त पुराने सिक्कों पर मध्यमिका नाम लिखा हुआ मिला है। ये हमले किस राजाने किये थे उसका नाम पतञ्जलिने नहीं दिया, किन्तु ग्रीक इतिहासलेखकोंके वर्णनसे ज्ञात होता है कि उस राजाका नाम मिनन्डर था जिसे पाली भाषामें मिलिन्द कहा गया है। उसके सिक्कों पर तत्कालीन बोलचालकी प्राकृत भाषामें उसका नाम मेनन्द्र मिलता है। महावृत्तिके 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' इस उदाहरणमें दो महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। इसमें राजाका नाम महेन्द्र दिया हुआ है, पर हमारी सम्मतिमें इसका मूलपाठ 'मिनन्द्र' था। पीछेके लेखकोंने मेनन्द्र नामकी ठीक पहचान न समझ कर उसका संस्कृत रूप महेन्द्र कर डाला। इस उदाहरणसे संस्कृत साहित्यकी भारतीय सान्नी प्राप्त हो जाती है कि पूर्वकी ओर अभियान करनेवाले यवनराजका नाम मेनन्द्र या मिनन्डर था। यवनराज मेनन्द्रने पाटलिपुत्र पर दौट गड़ा कर पहले धक्केमें मथुरा पर अधिकार जमाया और फिर आगे बढ़कर साकेतको लूँक लिया। साकेत पहुँचनेके लिए मथुराका जीतना आवश्यक था। अब यह सूचना पक्के रूपमें अभयनन्दीके उदाहरणसे प्राप्त हो जाती है। इससे यह भी पता लगता है कि काशिकाके अतिरिक्त भी अभयनन्दीके सामने पाणिनि व्याकरणकी ऐसी सामग्री थी जिससे उसे यह नया ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुआ। सूत्र १।३।३६ की वृत्तिमें आरण्यक पर्व १२६।८-१० का यह श्लोक पठित है—

उल्लुल्लैराभरणैः पिशाची यदभापत् । एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तं तु द्रक्ष्यसि ॥

काशिका २।१।४५ में यह श्लोक किन्हीं प्रतिवियोंमें प्रक्षिप्त और किन्हींमें मूलके अन्तर्गत माना गया है, किन्तु महावृत्तिसे सिद्ध हो जाता है कि वह काशिकाके मूलपाठका भाग था। श्लोकके उत्तरार्धमें जो 'दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तं' पाठ है उसका समर्थन महाभारतकी कुछ प्रतियोंसे होता है पर कुछ अन्य प्रतियोंमें 'वृत्तं' पाठ है जैसा कि काशिकामें और महाभारतके पूना संस्करणमें भी स्वीकार किया गया है। आचार्य अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिको जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरणकी पुष्कल सामग्रीसे भर दिया है वह सर्वथा अभिनन्दनके योग्य है। आशा है जिस समय काशिकावृत्ति, अभयनन्दीकृत महावृत्ति और शाकटायन व्याकरणकी अमोघवृत्ति इन तीनोंका तुलनात्मक अध्ययन करना सम्भव होगा तो यह बात और भी स्पष्ट रूपसे जानी जा सकेगी कि प्रत्येक वृत्तिकारने परम्परासे प्राप्त सामग्रीकी कितनी अधिक रक्षा अपने अपने ग्रन्थमें की थी। यह सन्तोषका विषय है कि इन वृत्तियोंने सावधानीके साथ प्राचीन सामग्रीको बचा लिया।

आचार्य देवनन्दीने पाणिनीय अष्टाध्यायीको आधार मानकर उसे पञ्चाध्यायीमें परिवर्तन करते समय दो बातोंकी ओर विशेष ध्यान रखा था—एक तो धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओंको भी जिनके कारण पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरणमें इतनी स्पष्टता और स्वारस्य आ सका था, इन्होंने बोजगणितके जैसे अतिसंक्षिप्त संकेतोंमें बदल दिया है जिनकी सूची परिशिष्टमें दे दी गयी है। दूसरे जितने स्वर सम्बन्धी और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्र थे उनको आ० देवनन्दीने छोड़ दिया है। किन्तु ऐसा करते हुए इन्होंने उदारतासे काम लिया है, जैसे आनाय्य, घाव्या, सानाय्य, कुण्डपाय्य, परिचाय्य, उपचाय्य, [२।१।१०४-१०५] : प्रावस्तुत् [२।२।१५६] आदि वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंको रख लिया है। इसी प्रकार सास्य देवता प्रकरण [३।२।२१-२८] में शुक्र, अपोनाम्न, महेन्द्र, सोम, यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोस्पति, गृहमेध आदि गृहसूत्रकालीन देवताओंके नामोंको पाणिनीय प्रकरणके अनुसार ही रहने दिया है। प्रत्ययोंमें आनेवाले फ, ट, ख, ल, घ और यु, वु, एवं उनके स्थानमें होनेवाले आदेशोंको भी ज्योंका त्यों रहने दिया है। [५।१।१ : ५।१।२]। 'तेन प्रोक्तम्' प्रकरण [३।३।७६-८०] में वैदिक शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थोंके नाम भी ज्योंके त्यों जैनेन्द्र व्याकरणमें स्वीकृत कर लिये गये हैं। कहीं कहीं जैनेन्द्रने उन परिभाषाओंको स्वीकार किया है जो प्राक् पाणिनीय व्याकरणोंमें मान्य थी और जिनका

उल्लेख भाष्य या वार्तिकोंमें आया है। उदाहरणके लिए जैनेन्द्र सूत्र १।३।१०५ में उत्तरपदकी सुसंज्ञा मानी गई है। पतञ्जलिके महाभाष्यमें सूत्र ७।३।३ पर श्लोकवार्तिकमें बु पाठ है और वहां 'किमिदं चोरिति उत्तरपदस्येति' लिखा है। सूत्र ७।१।२१ के भाष्यमें अबुको अनुत्तरपदका पर्याय माना है पर कौलहर्न का सुझाव था कि बु का शुद्ध पाठ बु होना चाहिए। वह बात जैनेन्द्रके सूत्र १।३।१०५ 'उत्तरपदं बु' से निश्चयेन प्रमाणित हो जाती है। और अब भाष्यमें भी बु ही शुद्ध पाठ मान लेना चाहिए।

सबसे आश्चर्यकी बात यह है कि पाणिनिके 'पूर्वशासिद्धम्' [८।२।१] सूत्र और उससे संबंधित अखिद्ध प्रकरणको भी जो पाणिनिके शास्त्रनिर्माण कौशलका अद्भुत नमूना है, जैनेन्द्र व्याकरणमें 'पूर्वशासिद्धम्' सूत्र [५।३।२७] में स्वीकार किया है। तदनुसार जैनेन्द्रके साढ़े चार अध्यायोंके प्रति अन्तके लगभग दो पाद अखिद्ध शास्त्रके अन्तर्गत आते हैं। देवनन्दीने अपनी पञ्चाध्यायीमें पाणिनीय अध्यायीके सूत्रक्रममें कमसे कम फेरफार करके उसे जैसेका तैसा रहने दिया है। केवल सूत्रोंके शब्दोंमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके सन्तोष कर लिया है। जैनेन्द्र और पाणिनीय व्याकरणोंकी तुलनात्मक पाद सारणीसे यह स्पष्ट हो जाता है। विशेष तुलनात्मक सूत्रसूची ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट रूपमें दी गयी है।

जैनेन्द्र	पाणिनि	जैनेन्द्र	पाणिनि
१।१	१।१-२	३।३	४।३-४।४।१०६
१।२	१।३-४	३।४	५।१-५।२।४७
१।३	२।१-२	४।१	५।२।४८-५।३।११०
१।४	२।३-४	४।२	५।४
२।१	३।१	४।३	६।१-३
२।२	३।२	४।४	६।४
२।३	३।३	५।१	७।१-२।११३
२।४	३।४	५।२	७।२।११४-७।४
३।१	४।१	५।३	८।१-२
३।२	४।२	५।४	८।३-४

पूज्यपाद देवनन्दीने आचार्य गृह्यपिण्ड उमास्वतिके तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि नामक टीकाका निर्माण किया था जो ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थमें उन्होंने कई स्थलोंपर व्याकरणके सूत्रोंका उद्धरण दिया है। उनमें बिना पक्षपातके जैनेन्द्र सूत्रोंको भी और पाणिनीय सूत्रोंको भी उद्धृत किया गया है। उदाहरणके लिए अध्याय ४ सूत्र १६ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें दो सूत्रोंका उल्लेख है—'तदस्मिन्नस्तीति' और 'तस्य निवासः'। इनमें पहलेके विषयमें यह कहना कठिन है कि वह किस व्याकरणसे लिया गया है किन्तु दूसरा पाणिनीय व्याकरणका ही है [४।२।६९] क्योंकि उसका जैनेन्द्रगतपाठ 'तस्य निवासादूरभवौ' रूपमें मिलता है [सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृष्ठ ५०]। पूज्यपादने न केवल नवीन व्याकरण सूत्रोंकी रचना की, वरन् उनपर जैनेन्द्रन्यास भी बनाया था। उन्होंने पाणिनीय सूत्रों पर शब्दावतार न्यास भी लिखा था किन्तु अभी तक ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनीय व्याकरण, कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यके पूर्ण मर्मज्ञ थे, एवं जैनधर्म और दर्शनपर भी उनका असामान्य अधिकार था। वे गुप्तयुगके प्रतिभाशाली महान् साहित्यकार थे जिनका तत्कालीन प्रभाव कोंकणके नरेशोंपर था, किन्तु कालान्तरमें वो सारे देशकी विभूति बन गये।

दो शब्द

सुग्धबोध व्याकरणके रचयिता बोपदेवके नामसे एक श्लोक प्रसिद्ध है; यथा—

“इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशर्त्ता शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥”

इसमें मुख्य आठ व्याकरणोंके साथ जैनेन्द्र व्याकरणका भी उल्लेख है। इस समय यद्यपि इस व्याकरणका पूर्ण रूपसे अध्ययनाध्यापन आदिमें उपयोग नहीं दिखाई देता तथापि ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिसे इसका अपना विशेष महत्त्व है। इतना होने पर भी जैनेन्द्रव्याकरणका कोई प्रामाणिक संस्करण अद्यावधि उपलब्ध न हो सका। लाजरस कम्पनी बनारसकी ओरसे इसका प्रकाशन हुआ भी तो भी वह अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तकका ही हो सका। और इसलिए इस ग्रन्थके सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर प्रकाशनकी आवश्यकता बनी रही।

लगभग ८-१० वर्ष भारतीय ज्ञानपीठके अधिकारियोंका ध्यान इस कमीकी ओर आकृष्ट हुआ। फलस्वरूप इसके सम्पादनका गुरुतर कार्य इसके अधिकारी विद्वान् श्री पं० राम्भुनाथ जी त्रिपाठी व्याकरणाचार्य सतीर्थको सौंपा गया। श्री त्रिपाठीजीने इसका पूरा प्रामाणिक सम्पादन करनेका प्रयत्न तो किया किन्तु प्रेसमें देनेके पूर्व ही वे यहाँसे चले गये और उन्होंने यहाँ आनेका विचार ही त्याग दिया। तब भी ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीयने अपने प्रयत्नमें कमी न आने दी। उन्होंने सूचित किया कि यदि त्रिपाठी जी यहाँ नहीं आ सकते हैं तो आप इसे उनके पास ले जाकर सम्पादन सम्बन्धी सारी बातें समझ लीजिए और इसे पूर्ण निर्दोष बनाकर प्रकाशनके लिए दे दीजिए। तदनुसार मैं त्रिपाठी जीके मूल निवास-स्थान दोस्तपुर [फैजाबाद] भी गया किन्तु उनसे साक्षात् भेंट न हो सकनेके कारण मन्त्री जीकी सम्मतिसे मुझे ही इस कार्यमें लग जाना पड़ा। अभी तक सम्पादित होकर मेरे नामसे कोई ग्रन्थ प्रकाशित तो नहीं हुआ है फिर भी ज्ञानपीठमें रहते हुए मैंने जो सम्पादन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया है उसपर विश्वास करके मैंने माननीय मन्त्रीजी, श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री एवं डा० वासुदेवशरण अग्रवालके उत्साहपूर्ण आदेशसे यह कार्य अपने हाथमें ले लिया। ‘अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्’ इस वचनके अनुसार यह शब्दशास्त्र अनन्त और अगाध है—इसका पार पाना कठिन है; फिर भी त्रिपाठी जी द्वारा किये गये सम्पादनरूप सेतुके सहनेसे उसपरसे चलनेमें मुझे विशेष कठिनाईका अनुभव नहीं करना पड़ा। इन सब प्रयत्नोंके फलस्वरूप जो भी कार्य हुआ है वह सामने है।

सम्पादनकी विशेषताएँ

यह तो पहले ही निर्देश कर आये हैं कि इसका सर्वप्रथम सम्पादन श्रीमान् त्रिपाठी जीने किया था। उन्होंने भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूना और स्यादबाद विशालय काशीकी हस्तलिखित प्रतियों तथा लाजरस कम्पनी बनारसकी मुद्रित प्रतिके आधारसे प्रस्तुत संस्करणका सम्पादन किया है। प्रतियोंका परिचय ग्रन्थमें अन्यत्र दिया है। यद्यपि उपर्युक्त सभी प्रतियोंमें वृत्तिमें आये हुए सूत्रोंकी अध्याय व पादके अनुसार संख्याका उल्लेख नहीं किया है तथापि आवश्यक समझकर [] कोष्ठकमें उन्होंने उसका निर्देश कर दिया था जिसमें हमें बहुत कुछ संशोधन भी करना पड़ा है।

प्रायः सब प्रतियोंमें कुछ पाठ त्रुटित व अशुद्ध हो गये हैं। इस सम्बन्धमें वहाँ अशुद्ध पाठको वैसा ही रखकर उसके सामने अन्य ग्रन्थोंके आधारसे शुद्ध पाठ देनेका प्रयास किया गया है; यथा—‘अनियता [नियतवृत्तयः] उल्लेखजीविनः’, ‘दशोर [द्वयमानेन] सम्भाव्यमानेन’ [पृष्ठ १०३] आदि।

वृत्तिमें प्रायः वार्तिकों और परिभाषाओंका उल्लेख किया गया है। उनके परिज्ञानके लिए वार्तिकोंके अन्तमें [वा०] तथा परिभाषाओंके अन्तमें [प०] या [परि०] ऐसा संकेतात्मक निर्देश कर दिया है।

यद् तो मानी हुई बात है कि श्रीमान् त्रिपाठीजीने इसके सम्पादनमें बहुत श्रम किया है तथापि हमें जो अन्य विशेषताएँ लानी पड़ी हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

१. किसी भी उपलब्ध प्रतिमें अध्याय व पादके साथ सूत्रसंख्या नहीं दी गई थी, किन्तु आवश्यक समझकर हमने अध्याय तथा पादकी संख्याका प्रत्येक सूत्रके साथ उल्लेख कर दिया है।

२. अध्याय ४ तथा ५ में अनेक स्थलों पर सूत्र तथा उनकी वृत्ति खण्डित है। हमने उन स्थलों पर मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीके अनुसार सूत्रपाठ देकर उसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

३. श्री त्रिपाठीजीने परिशिष्ट तैयार नहीं किये थे जिनकी पूर्ति हमें करनी पड़ी है। जो परिशिष्ट दिये गये हैं वे ये हैं—[१] जैनेन्द्र सूत्रोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [२] जैनेन्द्र वार्तिकोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [३] जैनेन्द्र परिभाषाओंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [४] जैनेन्द्र गणपाठ सूची, [५] जैनेन्द्र संज्ञा सूची [इस सूचीमें विद्वानोंकी जानकारीके लिए जैनेन्द्र संज्ञाओंके साथ तत्समकक्ष पाणिनि संज्ञाओंका भी उल्लेख कर दिया है], [६] जैनेन्द्र तथा पाणिनिके सूत्रोंकी तुलनात्मक सूत्र-सूची और [७] जैनेन्द्रध्रुपाठ।

प्रत्याहार-विचार

उपलब्ध किसी भी प्रतिमें प्रत्याहार-सूत्रोंका उल्लेख नहीं मिलता। मालूम पड़ता है कि जैनेन्द्र व्याकरणमें लेखक-परम्पराको भूलसे उनका उल्लेख होना छूट गया है, क्योंकि शब्दानुशासनके सूत्रोंमें प्रत्याहारोंका आश्रय लेकर शास्त्रोंकी प्रवृत्ति दिखलाई गई है। इस समय हमारे सामने दो प्रकारके प्रत्याहार-सूत्र उपस्थित हैं—प्रथम पञ्चाध्यायीके आरम्भमें आये हुए और दूसरे शब्दार्णवचन्द्रिकाके आरम्भमें आये हुए।

पञ्चाध्यायीके आरम्भमें आये हुए प्रत्याहार-सूत्र ये हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। ह्यवरट् ५। छण् ६। जमङ्गणनम् ७। कभञ् ८। घढधष् ९। जवगडदश् १०। खफळ्ठथचटतव् ११। कपय् १२। शपसर् १३। हल् १४।”

किन्तु शब्दार्णवचन्द्रिकामें आये हुए प्रत्याहार-सूत्रोंमें पञ्चाध्यायीके प्रत्याहार-सूत्रोंसे कुछ अन्तर है। यहाँ पर द्वैविध्यका ठीक तरहसे ज्ञान करानेके लिए शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रत्याहार-सूत्र भी दिये जाते हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। ह्यवरलण् ५। जमङ्गणनम् ६। कभञ् ७। घढधष् ८। जवगडदश् ९। खफळ्ठथचटतव् १०। कपय् ११। शपस अं अः ऋक् ऋपर् १२। हल् १३।”

शब्दार्णवके ये प्रत्याहार-सूत्र शाकटायनके प्रत्याहारसूत्रोंसे बहुत कुछ साम्य रखते हैं। जानकारोंके लिए शाकटायनके प्रत्याहार-सूत्र भी यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। ह्यवरलण् ५। जमङ्गणनम् ६। जवगडदश् ७। कभघडधष् ८। खफळ्ठथट् ९। चटतव् १०। कपय् ११। शपस अं अः ऋक् ऋपर् १२। हल् १३।”

यह तो सुनिश्चित है कि महावृत्तिके आधारसे पञ्चाध्यायीमें जो सूत्रपाठ उपलब्ध होता है उससे शब्दार्णव चन्द्रिकाका सूत्रपाठ बहुत अंशमें भिन्न है और इसी सूत्रपाठके अनुसार प्रत्याहार-सूत्रोंमें अन्तर हुआ है; उदाहरणार्थ—सन्धिसूत्रोंमें पञ्चाध्यायीमें ‘शश्चोऽटि’ [५। ४। १७३] सूत्र आता है उसके अनुसार अट् प्रत्याहारके परे रहते ‘श’ के स्थानमें ‘छ’ आदेश होता है किन्तु शब्दार्णवकारने उसके स्थानमें ‘शश्चोऽमि’ [५। ४। १५६] सूत्रको रखकर अट् प्रत्याहारको नहीं माना है और इसलिए ‘ह्यवरट्, छण्’ इन दो सूत्रोंके स्थानमें शब्दार्णवकारने ‘ह्यवरलण्’ यह एक ही प्रत्याहार-सूत्र माना है। इसी प्रकार अन्यत्र भी अट् प्रत्याहारके निमित्तसे होनेवाले कार्योंमें शब्दार्णवकारने अन्य प्रकारसे निर्वाह करनेका प्रयास किया है।

ऋ और लृ में अभेद मानकर ‘ऋक्’ के स्थानमें शब्दार्णवकारने ‘ऋक्’ प्रत्याहार-सूत्र रखा है।

अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा यमकी व्याकरण शास्त्रमें अयोगवाह संज्ञा है। पाणिनिके प्रत्याहार-सूत्रोंमें तथा जैनेन्द्र-पञ्चाध्यायीगत प्रत्याहार-सूत्रोंमें इनका उल्लेख नहीं है किन्तु शब्दार्णव-वाले पाठमें अयोगवाहका भी शर् प्रत्याहारके अन्तर्गत समावेश किया है। शाकटायन व्याकरणके प्रत्याहार-सूत्रोंसे शब्दार्णवके प्रत्याहार-सूत्र बहुत कुछ साम्य रखते हैं। ज्ञात होता है कि शब्दार्णवकारने शाकटायन व्याकरणके सूत्रोंके आधारसे ही अपने प्रत्याहार-सूत्रोंकी रचना करके तदनुसार ही जैनेन्द्र शब्दानुशासनके सूत्रोंमें परिवर्तन या परिवर्धन किया हो। सिद्धान्तकौमुदीके हल्सन्धि प्रकरणमें एक वाक्य मिलता है—“अनुस्वार-विसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीययमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यानत्वेन...”। ज्ञात होता है कि शाकटायन तथा शब्दार्णवके प्रत्याहार-सूत्रोंको ध्यानमें रखकर ही भट्टोजिदीक्षितने उपर्युक्त वाक्य लिखा हो।

सात विभक्तियोंका विचार

साधारणतया पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठमें ७ विभक्तियोंके लिए प्रथमा, द्वितीया, तृतीया आदि शब्दोंका ही निर्देश किया है। पृथक् किन्हीं संज्ञाओंका निर्देश नहीं किया है, किन्तु जैनेन्द्रकारने 'विभक्ती' शब्दके प्रत्येक अक्षरको अलग करके स्वरके आगे 'पू' और व्यञ्जनके आगे 'आ' जोड़कर सात विभक्तियोंकी संज्ञा निर्दिष्ट की है: यथा—'वा' [प्रथमा], इप् [द्वितीया], मा [तृतीया], अप् [चतुर्थी], का [पञ्चमी], ता [षष्ठी] और ईप् [सप्तमी]। इस प्रकार 'विभक्ती' शब्दके आधारसे ही इन संज्ञाओंका उल्लेख अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता।

जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ

१. पाणिनीय अष्टाध्यायीमें वैदिक एवं त्वरप्रक्रिया इन दो प्रकरणोंके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है किन्तु जैनेन्द्रकारने इन दोनों प्रकरणोंके सूत्रोंका उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि वैदिक शब्दों व प्रयोगोंकी सिद्धि और त्वरविधानका प्रश्न जैनेन्द्रकारके समक्ष उपस्थित नहीं था।

२. पाणिनीय व्याकरणमें एकशेष प्रकरणके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है। किन्तु जैनेन्द्रकार इस प्रकरणके सूत्रोंकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करत हुए मालूम देते हैं। उन्होंने इस प्रकरणको ध्यानमें रखकर 'स्वाभाविकत्वाद्भिधानस्यैकशेषान्तरम्भः' इस सूत्रकी रचना की है। इससे विदित होता है कि उनका मत रहा है कि लोक-व्यवहारमें जो चीज आयात वृद्ध प्रचलित है उसे सूत्रबद्ध निर्देश करके शास्त्रके कलेवरको बढ़ाना उचित नहीं है। और इसी लिए उन्होंने एकशेष प्रकरणको नहीं रखा है।

३. पाणिनीय व्याकरणसे सम्बद्ध स्वतन्त्र रूपसे चार प्रकरण मिलते हैं—लिङ्गानुशासन, पाणिनीय शिक्षा, धातुपाठ और गणपाठ। यह कह सकना तो कठिन है कि इन सबका निर्माण स्वयं पाणिनिने किया होगा। उदाहरणार्थ—पाणिनीय शिक्षाको ही लीजिए। इसके प्रारम्भके प्रथम श्लोकमें कहा है—'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।' अर्थात् पाणिनिके मतानुसार शिक्षाका निरूपण करते हैं। तथा इसी प्रकरणके अन्तमें एकाधिक बार पाणिनिके लिए नमस्कार भी किया गया है। इसलिए बहुत सम्भव है कि इस प्रकरणका संकलन पाणिनीय व्याकरणको आधार मानकर किसी अन्य समर्थ विद्वान्ने किया हो। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने विक्रम संवत् १८३६ में 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नामसे भाषानुवाद सहित एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, उसमें उन्होंने किसी प्राचीन प्रतिके आधारसे पाणिनीय शिक्षा-सूत्रोंका संकलन किया था। बहुत सम्भव है कि ये शिक्षासूत्र ही वर्तमान श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षाके आधार रहे हों।

४. पाणिनीय लिङ्गानुशासनका समावेश अष्टाध्यायीमें नहीं किया गया है। उपलब्ध पाणिनीय लिङ्गानुशासनमें कुल १८१ सूत्र हैं। उनमें कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जो अष्टाध्यायीमें भी उपलब्ध होते हैं; परन्तु अधिकतर सूत्र अष्टाध्यायीसे सम्बन्ध नहीं रखते। इन सूत्रोंका निर्माण किसने किया यह प्रश्न विचारणीय है। बहुत सम्भव है कि पाणिनि व्याकरणमें शब्दसिद्धिके आधार पर अन्य किसी विद्वान्ने लिङ्गानुशासनको सूत्रबद्ध कर दिया हो।

जैनेन्द्र व्याकरणमें लिङ्गानुशासन तथा जैनेन्द्र शिक्षा नामके तो प्रकरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

५. 'भूवादयो धातवः' [१।३।१] 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' [२।४।७२] इत्यादि सूत्रों द्वारा गणशः प्रत्यय-विधान तथा 'इदितो जुम् धातोः' [७।१।५८], 'अथन्तक्षणश्चसृजागृगिश्येदिताम्' [७।२।५], 'रुदश्च पञ्चम्यः' [७।३।६८] आदि सूत्रों द्वारा अनुबन्ध तथा गणपाठका आश्रय लेकर धातुओंसे कार्य विधान किया गया है। इसी प्रकार गणपाठका आश्रय लेकर भी प्रकृति-प्रत्ययका विधान किया हुआ है। इससे यह सुनिश्चित है कि पाणिनिके समक्ष उनके स्वनिर्मित गणपाठ और धातुपाठ अवश्य ही विद्यमान थे।

यही स्थिति जैनेन्द्र धातुपाठ तथा गणपाठके विषयमें भी है। वहाँ भी 'भूवादयो धुः' [१।२।१] 'उज्जुहोत्वादिभ्यः' [१।४।१४५] 'इदिदोर्जुम्' [५।१।३७] आदि सूत्रों-द्वारा धातुओंसे संज्ञा, प्रत्यय और आगम एवं आदेश आदिका विधान किया गया है। तथा गणपाठके निमित्तसे भी शास्त्र प्रवृत्ति देखी जाती है।

अतः सुनिश्चित है कि जैनेन्द्रके समस्त भी अपने स्वरचित धातुपाठ तथा शकटपाठ अवश्य रहे होंगे किन्तु काल-क्रम वे आज अनुपलब्ध हो गये हैं।

६. पाणिनि व्याकरणमें उणादि-सिद्ध कार्योंके लिए “उणादयो बहुलम्” [३।३।१] सूत्र आता है। जैनेन्द्र व्याकरणमें भी इसी रूपमें इस सूत्रका उल्लेख है [२।२।१६]। इन दोनों मूल व्याकरणोंमें इस प्रकरणमें आये हुए प्रयोगोंकी सिद्धिके विषयमें इससे अधिक कुछ नहीं कहा गया है। मात्र जैनेन्द्र महाकृतिमें इस सूत्रकी व्याख्या करते समय कुछ सूत्रोंके उल्लेखके साथ उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले प्रयोगोंके कतिपय प्रकार दिखलाये गये हैं। यह निश्चित कहना कठिन है कि जैनेन्द्र महाकृतिमें ये उणादि सूत्र कहाँ से आये। यदि इन्हें जैनेन्द्रकारका माना जाय तो शंका होती है कि पञ्चाध्यायीमें इनका संकलन क्यों नहीं हुआ? यद्यपि महाकृतिमें उल्लिखित उणादि सूत्रोंमें कहीं-कहीं जैनेन्द्रव्याकरणकी संज्ञाओंका प्रयोग किया हुआ दिखाई देता है यथा ‘अस् सर्वधुम्यः’ [पृष्ठ १७]; पर जबतक कोई निश्चित आधार नहीं मिलता तबतक इन सूत्रोंको स्वयं जैनेन्द्रकारका मान लेनेको मन नहीं होता। उणादि प्रकरणका संकलन करते हुए भट्टोजिदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीमें ७५५ सूत्र प्रमाण पञ्चपादी उणादि सूत्रोंकी सोदाहरण व्याख्या दी है। किन्तु पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें ये सूत्र उपलब्ध नहीं होते। उणादिका निर्देश करनेवाला ‘उणादयो बहुलम्’ [३।३।१] सूत्र अष्टाध्यायीमें उपलब्ध होता है किन्तु उसका संकलन भट्टोजिदीक्षितने उणादि ग्रन्थोंमें न करते उत्तर कुटुम्बमें किया है। विद्वानोंका मत है कि ये उणादिसूत्र शाकटायन प्रणीत हैं जिनके समयका उल्लेख करते हुए श्रीयुधिष्ठिर मीमांसकने लिखा है कि ‘इसका काल विक्रमसे लगभग ३१०० वर्ष पूर्व होगा’। [संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास पृष्ठ ११६]

पातञ्जल महाभाष्यमें एक वाक्य मिलता है; यथा—‘नाम च धातुजम्माह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च लोकः।’

इसका आशय यह है कि ‘निरुक्तमें सभी संज्ञाशब्दोंको धातुज कहा है और व्याकरण शास्त्रमें शकटके पुत्र [शाकटायन] भी ऐसा ही कहते हैं।’ इससे मालूम पड़ता है कि शाकटायन विरचित कोई ऐसा प्रकरण अवश्य रहा होगा जिसमें धातुश्रोंके निमित्तसे प्रत्यय विधान करके संज्ञाशब्दोंकी सिद्धि की गई हो। वह प्रकरण उणादिके सिवा और क्या हो सकता है? उणादिके दशपादी तथा त्रिपादी पाठ भी उपलब्ध होते हैं। [विशेष विवरणके लिए इसी ग्रन्थमें प्रकाशित श्री युधिष्ठिर मीमांसकका ‘जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिलपाठ’ शीर्षक निबन्ध देखिए]।

श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने ज्ञानपीठके अनुरोधसे इसकी अनुसन्धानपूर्ण भूमिका लिखकर इसके महत्त्वको बढ़ानेकी कृपा की तथा इनके ही अनुरोधसे ऐतिहासिक सामग्रीकी पूर्णताके लिए श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैन साहित्य और इतिहास’ में मुद्रित ‘देवनन्दि तथा उनका जैनेन्द्र व्याकरण’ शीर्षक गवेषणापूर्ण निबन्ध छापनेकी अनुमति-पूर्वक उसके दूसरे संस्करणके फार्म भिजवानेकी कृपा की जिससे ग्रन्थ-कारके विषयमें ऐतिहासिक अन्वेषणके कठिन कार्यसे मुझे छुट्टी मिल गई। श्री युधिष्ठिर मीमांसकने भी ‘जैनेन्द्रशब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ’ शीर्षक अनुसन्धानपूर्ण निबन्ध लिखकर हमारी बहुत बड़ी सहायता की है। इतना ही नहीं, उन्होंने, प्रस्तुत संस्करणमें जो थोड़ी बहुत त्रुटियाँ रह गई हैं, उनका उल्लेख करके आत्मीयतापूर्वक सौहार्द भी प्रदर्शित किया है। अतः उक्त तीनों विद्वानोंका विशेष आभारी हूँ।

श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीने भी समय समय पर उपयोगी सुझाव देकर इस ग्रन्थको शुद्ध, सर्वाङ्गपूर्ण तथा सर्वोपयोगी बनानेमें सहायता दी तथा मेरे उत्साहको बढ़ाया इसलिए मैं उनका भी विशेष आभारी हूँ।

कार्य बहुत बढ़ा था और सम्पादनका मेरा यह पहला अवसर है, इसलिए सम्भव है कि इसमें अभी भी कुछ दोष रह गये हों। मेरा विश्वास है कि विद्वान् पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे।

वाराणसी
दीपावली
वि० सं० २०१३

—महादेव चतुर्वेदी

अध्यायके पहले पादका १६ वॉ सूत्र है। यह प्रति बहुत प्राचीन और शुद्ध है परन्तु आगसे मुलसी हुई है। दूसरी प्रतिमें केवल तीन अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या १२००० है। इससे जान पड़ता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ १६००० के लगभग होगा।

अभयनन्दिकी श्रुतिसे यह बड़ा है और उससे पीछे बना है। इसमें महाश्रुतिके शब्द ज्योंके त्यों ले लिये गये हैं और तीसरे अध्यायके अन्तके एक श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार भी किया है।

इसके कर्ता प्रभाचन्द्र हैं और वे प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके ही कर्ता मालूम होते हैं। क्योंकि इसके प्रारंभमें ही यह कहा गया है कि अनेकान्तकी चर्चा उक्त दोनों ग्रन्थोंमें की गई है, इसलिए यहाँ नहीं करते। अवश्य ही इसमें उन्होंने अपने ही ग्रन्थोंको देखनेके लिए कहा है, “अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यासामान्याधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो धर्मार्थस्यासाधनेकान्तः, अनेकान्तात्मक इत्यर्थः। तत्र च प्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पकल्पिताशेषविप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिप्रमाणमेव प्रत्यस्तमयतीति (?) तद्वित्तया तदात्मकत्वं चार्थस्य अव्यक्ततोऽनुमानदिश्च यथा सिद्धयति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रतिरूपितमिह द्रष्टव्यम्।”

इसके मंगलचरणमें पूज्यपाद और अकलंकको नमस्कार किया गया है।

३—पञ्चवस्तु—भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें इसकी दो प्रतियाँ मौजूद हैं, जिनमें एक ३००-४०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई है और बहुत शुद्ध है और दूसरी^२ संवत् १६२० की। पहलीपर लेखकका नाम और प्रति लिखनेका समय आदि नहीं है। इसके अन्तमें केवल इतना लिखा हुआ है—“कृतिरियं देवचन्द्राचार्यस्य परचादिमधनस्य ॥६॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयोः ॥ श्रीसंघस्य ॥”

दूसरी प्रति स्तनकरणध्यावकाचारकचनिका आदि अनेक भाषाग्रन्थोंके रचयिता सुप्रसिद्ध पण्डित सदासुखजीके हाथकी संवत् १९१० की लिखी हुई है।

यह टीका प्रक्रिया-बद्ध है और बड़े अच्छे ढंगसे लिखी गयी है। इसकी श्लोकसंख्या ३३०० के लगभग है। प्रारंभके विद्यार्थियोंके लिए बड़ी उपयोगी है।

इस ग्रन्थके आदि-अन्तमें कहीं भी कर्ताका नाम नहीं है। केवल एक जगह पाँचवें पत्रमें नाम आया है, जिससे मालूम होता है कि इसके रचयिता श्रुतकीर्ति हैं।

१. नमः श्रीविर्धमानाय महते देवचन्द्रिने । प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥

२. नं० १०५६ सन् १८८७-८९ की रिपोर्ट।

३. नं० ५६० सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट। इस ग्रन्थकी एक प्रति परतापगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरके भंडारमें भी है। देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५।

४. अच्चे नमश्चन्द्रविधिस्थिरांके शुद्धे सहस्र्यम् (?) युक् चतुर्थ्याम्।

सत्प्रक्रियावन्धनिबन्धनेयं सद्भवस्तुवृत्तीरवनात्समाप्ता (?) ॥

श्रीमन्नराणामधिपेशराजि श्रीरामसिंहे विलसत्यलेखि।

श्रीमद्भुधेनेह सदासुखेन श्रीयुक्तेलालनिजात्मबुद्धये ॥

शब्दीयशास्त्रं पठितं न यैस्तैः स्वदेहसंपालनभारजद्भिः।

किं दर्शनीयं कथनीयमेतत् वृथांगसंघावपलापवद्भिः ॥

यह प्रति भी प्रायः शुद्ध है।

५. याम-वैर-वर्ण-कर-चरणादीनां संघीना बहूनां संभवत्वात् संशयानः शिष्यः संपृच्छति स्म। कस्सन्धिरिति।

संज्ञास्वरप्रकृतिह्रस्वजविसर्गजन्मा संधिस्तु पञ्चक इतीत्यमिहाहुरन्ये।

तत्र स्वरप्रकृतिह्रस्वजविकल्पतोऽस्मिन्संधि त्रिधा कथयति श्रुतकीर्तिरार्यः ॥

कनड़ी भाषाके चन्द्रप्रभचरित नामक ग्रन्थके कर्ता अगल कचिने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है—“इदु परमपुसनायकुलभूचत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिश्वाथ—श्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्री मदमालदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते—” इत्यादि । और यह चरित शक संवत् १०११ (वि० सं० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ है । अतएव यदि श्रुतकीर्ति और श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती एक ही हों तो पंचवस्तुको भी अभयनन्दि महावृत्तिके पीछेकी—विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके प्रारंभकी—रचना समझना चाहिए । नदिसंवकी गुर्वावलीमें श्रुतकीर्तिको वैयाकरण-भास्कर लिखा है ।

४—लघुजैनेन्द्र—इसकी एक प्रति अंकलेश्वर (भरोच) के दिगम्बर जैनमन्दिरमें है और दूसरी अधूरी प्रति परतापगढ़ (मालवा) के पुराने दि० “जैनमन्दिरमें । यह अभयनन्दिकी वृत्तिके आधारसे लिखी गई है । पण्डित महाचन्द्रजी विक्रमकी इसी बीसवीं शताब्दिमें हुए हैं ।^१ इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और भाषामें कई ग्रंथ लिखे हैं ।

५—जैनेन्द्र-प्रक्रिया—यह पं० वंशीधरजी न्यायतीर्थ न्यायशास्त्रीने हाथ ही लिखी है । इसका केवल पूर्वार्ध ही छपकर प्रकाशित हुआ है ।^२

शब्दार्णवकी टीकाएँ

जैनेन्द्र सूत्र-पाठके संशोधित परिवर्धित संस्करणका नाम—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है—शब्दार्णव है । इसके कर्ता गुणनन्दि हैं । यह बहुत संभव है कि सूत्र-पाठके सिवाय उन्होंने इसकी कोई टीका या वृत्ति भी बनाई हो जो कि उपलब्ध नहीं है ।

गुणनन्दि नामके कई विद्वान् हो गये हैं । एक गुणनन्दिका उल्लेख भवणप्रेम्नोल्लके ४२, ४३ और ४७ वें नम्बरके लिखालेखोंमें मिलता है । ये बलाकपिच्छके शिष्य और गृध्रपिच्छके प्रशिष्य थे । तर्क, व्याकरण और साहित्य शास्त्रोंके बहुत बड़े विद्वान् थे । इनके ३०० शास्त्रपारंगत शिष्य थे और उनमें ७२ शिष्य सिद्धान्तशास्त्री थे । आदि पंथके गुरु देवेन्द्र भी इन्हींके शिष्य थे^३ । कर्नाटक-व.विचरितके कर्ताने इनका समय वि० संवत् ६५७ निश्चय किया है । क्योंकि इनके प्रशिष्य देवेन्द्रके शिष्य आदि पंथका जन्म वि० सं० ६५६ में हुआ था और उसने ३६ वर्षकी अवस्थामें अपने सुप्रसिद्ध कनड़ी काव्य भारतचम्पू और आदिपुराण निर्माण किये हैं । हमारा अनुमान है कि ये ही गुणनन्दि शब्दार्णवके कर्ता हैं ।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यके कर्ता वीरनन्दिका समय शक संवत् ९०० के लगभग निश्चित होता है । क्योंकि वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें उनका स्मरण किया है और वीरनन्दिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार

१. त्रैविद्यः श्रुतकीर्त्यालयो वैयाकरणभास्करः ।

२. देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५ ।

३. महावृत्ति शुभत्सकलभुधपूज्या सुखकरी, विलोक्योद्यद्ज्ञानप्रभुविभयनन्दिप्रवहिताम् ।

अनेकैः सञ्चुद्धैर्भ्रमविगतकैः संदडभूतां (?) प्रकुर्वेऽहं (टीकां) तनुमतिमहाचन्द्रविवुधः (?) ॥

४. जैनेन्द्रकी एक टीका प्रक्रियावतार नामकी और है जिसके कर्ता नेमिचन्द्र हैं । डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग आफ दि सं० मे० गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सेनु० लायब्रेरी मद्रास, घोल्थूम III में उसका परिचय दिया है—

सर्वज्ञाय नमस्तस्मै र्वातक्लेशाय शान्तये । येन भव्यात्मनश्चेतस्तमस्तांमश्चिकित्सितः ॥

किं वार्णाचनुरानः किमथवा वाचस्पतिः किं न्वसौ, विद्वानो विभवात्सहस्रवदनस्साक्षाद्वन्तः किमु ।

इत्थं संसदि साधवः समुदितास्संशेरते सादरं, विद्वत्पुङ्गवनेमिचन्द्रभवति व्याख्यानमातन्वति ॥

५. तन्निष्ठयो गुणनन्दिपण्डितयतिश्चारित्र्यचक्रेश्वरः, सर्वज्ञाकरणादिशास्त्रनिपुणः साहित्यविद्यापतिः ।

मिथ्यात्वादिमवाग्धसिन्धुरव्दासंवातकण्ठीरवो, भव्याम्भोजदेवाकरो विजयतां कन्दर्पदर्पापहः ॥

है—१ श्री गुणनन्दि, २ विबुध गुणनन्दि, ३ अभयनन्दि और ४ वीरनन्दि । यदि पहले गुणनन्दि और वीरनन्दिके बीचमें हम ७८ वर्षका अन्तर मान लें, तो पहले गुणनन्दिका समय वही शक संवत् ८२२ या वि० सं० १५७ के लगभग आ जायगा । इससे यह निश्चय होता है कि वीरनन्दिकी गुरुपरम्पराके प्रथम गुणनन्दि और आदि पम्पके गुरु देवेन्द्रके गुरु गुणनन्दि एक ही होंगे ।

गुणनन्दि नामके एक और आचार्य शक संवत् १०३७ [वि० सं० ११७२] में हुए हैं जो मेघचन्द्र त्रैविचके गुरु थे ।

शब्दार्णवकी इस समय दो टीकाएँ उपलब्ध हैं और दोनों ही सनातनजैनग्रन्थमालामें छप चुकी हैं—
१-शब्दार्णवचन्द्रिका, और २-शब्दार्णव प्रक्रिया ।

१-शब्दार्णव-चन्द्रिका—इसकी एक बहुत ही प्राचीन और अतिशय जीर्ण प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें है । यह ताड़पत्रपर नागरी लिपिमें है । इसके आदि-अन्तके पत्र प्रायः नष्ट हो गये हैं । छपी हुई प्रतिमें जो गद्य-प्रशस्ति है, वह इसमें नहीं है और अन्तमें एक श्लोक है जो पूरा नहीं पढ़ा जाता—

इन्द्रश्चन्द्रः शकटतनयः पाणिनिः पूज्यपादो

यत्प्रोवाचापिशलिर्मरः काशकृत्स्नः शब्दपारायणस्येति ।

इसके कर्ता श्रीसोमदेव मुनि हैं । ये शिलाहार वंशके राजा भोजदेव [द्वितीय] के समयमें हुए हैं और अर्जुनिका नामक ग्रामके त्रिभुवनतिलक नामक जैनमन्दिरमें—जो कि महामण्डलेश्वर गंडरादित्यदेवका बनवाया हुआ था । इसे शक संवत् ११२७ [वि० सं० १२७२] में बनाया है । यह ग्राम इस समय आजरें नामसे प्रसिद्ध है और कोल्हापुर राज्यमें है । वादीमवज्राकुश श्रीविशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयाकृत्यसे इस ग्रन्थकी रचना हुई है ।

इस ग्रन्थके मंगलाचरणके पहले श्लोकमें पूज्यपाद, गुणनन्दि और सोमदेव ये विशेषण वीर भगवान्को दिये हैं और दूसरे श्लोकमें कहा है कि यह टीका मूलसंघीय मेघचन्द्रके शिष्य नागचन्द्र (भुवंगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र रचितके लिए बनाई गई^३ ।

गुणनन्दिकी प्रशंसा चुरादि धातुपाठके अन्तमें भी एक पद्यमें की गई है, जिसका अन्तिम चरण यह है—
“शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधिगुणनन्दिप्रतीशस्सुखीस्यः ।” इसमें शब्दब्रह्मा विशेषण देकर गुणनन्दिको शब्दार्णव व्याकरणका कर्ता ही प्रकट किया गया है ।

ये मेघचन्द्र आचारसारके कर्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु ही मालूम होते हैं । इन्हें अवणघोस्तोलके नं० ४७ के शिलालेखमें सिद्धान्तज्ञतामें जिनसेन और वीरसेनके सहश, न्यायमें अकलंकके समान और व्याकरणमें साक्षात् पूज्यपादसदृश बतलाया है । अवणघोस्तोलके नं० ५० और ५२ नम्बरके शिलालेखोंसे मालूम होता है कि इनका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ [वि० सं० ११७२] में और उनके शुभचन्द्रदेव नामक शिष्यका स्वर्गवास शक संवत् १०६८ [वि० सं० १२०३] में हुआ था । इसके सिवाय उनके दूसरे शिष्य प्रभाचन्द्रदेवने शक सं० १०४१ [वि० सं० ११७६] में एक महापूजाप्रतिष्ठा कराई थी । जब सोमदेवने शब्दार्णवचन्द्रिका मेघचन्द्रके प्रशिष्य हरिचन्द्रके लिए शक सं० ११२७ [वि० सं० १२६२] में बनाई थी, तब मेघचन्द्रका समय वि० सं० ११७२ के लगभग माना जा सकता है ।

१. नं० २५ सन् १८८०-८१ की रिपोर्ट ।

२. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरवतिपूजितपादयुग्मम् ।

सिद्धं समुज्जतपदं धृषभं जिनेन्द्रं सत्कृन्वन्क्षणमहं विनमामि वीरम् ॥ १ ॥

३. श्रीभूजसंघजज्ञप्रतिबोधमानोमधेन्दुदीक्षितभुजङ्गसुधाकरस्य ।

राष्ट्रास्ततोयनिधिबुद्धिर्भूतस्य वृत्तिं मेमे हरीदुपतये वरदाक्षिताय ॥ २ ॥

नागचन्द्र नामके दो विद्वान् हो गये हैं, एक पम्प रामायणके कर्ता नागचन्द्र जिनका दूसरा नाम अभिनव पम्प था, और दूसरे लब्धिसारटीकाके कर्ता नागचन्द्र । पहले गृहस्थ थे और दूसरे मुनि । अभिनव पम्पके गुप्तका नाम बालचन्द्र था जो मेघचन्द्रके सहाध्यायी थे और दूसरे स्वयं बालचन्द्रके शिष्य थे । इन दूसरे नागचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए यह वृत्ति बनाई गई है । इन्हें जो 'शब्दान्ततोयनिधिवृद्धिकर' विशेषण दिया है उससे मालूम होता है, कि ये सिद्धान्तचक्रवर्ती या टीकाकार होंगे ।

२—शब्दार्णव-प्रक्रिया—यह जैनेन्द्र-प्रक्रियाके नामसे छपी है, परन्तु वास्तवमें इसका नाम शब्दार्णव-प्रक्रिया ही है । हमें इसकी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिल सकी । जिस तरह अभयनन्दिकी वृत्तिके बाद उसीके आधारसे प्रक्रियारूप पंचवस्तु टीका बनी है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिकाके बाद उसीके आधारसे यह प्रक्रिया बनी है । प्रकाशकोंने इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि प्रकट किया है; परन्तु जान पड़ता है कि इसके अन्तिम श्लोकमें गुणनन्दिका नाम देखकर ही भ्रमवश इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि समझ लिया है^१ ।

इनमेंसे पहले पद्यसे यह स्पष्ट है कि गुणनन्दिके शब्दार्णवके लिए यह प्रक्रिया नावके समान है और दूसरे पद्यमें कहा है कि सिंहके समान गुणनन्दि पृथ्वीपर सदा जयवन्त रहें । यदि इसके कर्ता स्वयं गुणनन्दि होते तो स्वयं ही अपने लिए यह कैसे कहते कि वे गुणनन्दि सदा जयवन्त रहें ? अतः गुणनन्दि ग्रन्थकर्तासे कोई पृथक् ही व्यक्ति है जिसे वे शब्दास्पद समझते हैं ।

तीसरे पद्यमें भट्टारकशिरोमणि श्रुतकीर्ति देवकी प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है कि वे मेरे मन्त्रमानसरोवरमें राजहंसके समान चिरकालतक विशाजमान रहें । इसमें भी ग्रन्थकर्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे श्रुतिकीर्तिदेवके कोई शिष्य होंगे और संभवतः उन श्रुतिकीर्तिके नहीं जो पंचवस्तुके कर्ता हैं । ये श्रुतिकीर्ति पंचवस्तुके कर्तासे पृथक् जान पड़ते हैं । क्योंकि इन्हें प्रक्रियाके कर्ताने 'कविपति' बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं । ये वे ही श्रुतिकीर्ति मालूम होते हैं जिनका समय प्रो० पाठकमें शक संवत् १०४५ या वि० सं० ११८० बतलाया है^२ । श्रवणबेलगोलके जैन गुरुओंने 'चारुकीर्ति पंडिताचार्य' का पद शक संवत् १०३२ के बाद धारण किया है और पहले चारुकीर्ति इन्हीं श्रुतकीर्तिके पुत्र थे^३ । श्रवणबेलगोलके १०८ वें शिलालेखमें^४ इनका जिक्र है और इनकी बहुत ही प्रशंसा की गई है ।

प्रक्रियाके कर्ताने इन्हें भट्टारकोत्तंस और श्रुतकीर्तिदेवयतिप लिखा है और इस लेखमें भी भट्टारकयति लिखा है । अतः ये दोनों एक मालूम होते हैं । आश्चर्य नहीं जो इनके पुत्र और शिष्य चारुकीर्ति परिण्डाचार्य ही इस प्रक्रियाके कर्ता हों ।

१. छपी हुई प्रति के अन्तमें "इति प्रक्रियावतारे कृद्धिधिः समाप्तः । समाप्तये प्रक्रिया ।" इस तरह छपा है । इससे भी इसका नाम जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं जान पड़ता ।

२. सत्संधि दधते समाप्तमभितः स्यात्तार्थनामोज्ज्वलं निश्रुतिं बहुवृद्धितं कृतमिहाख्यातं यशःशालिनम् ।

सैषा श्रीगुणनन्दितात्तिवपुः शब्दार्णवं निर्णयं नाविद्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥१॥

दुरितमदैभनिशुम्भकुम्भस्थलभेदनक्षमोअनखैः । राजन्सुगाधिराजो गुणनन्दी भुवि चिरं जीयात् ॥२॥

सन्मार्गे सकलसुखप्रियकरे संज्ञापिते सद्गने दिग्वासस्सु चरित्रवानमलकः कान्तो विवेकी प्रियः ।

सोऽयं यः श्रुतकीर्तिदेवयतिपो भट्टारकोत्तंसको रंरम्यान्मम मानसे कविपतिः सद्गजहंसश्चिरम् ॥३॥

३. देखो 'सिस्टिग्स आफ् संस्कृत ग्रामर', पृष्ठ ६७ ।

४. देखो 'कर्नाटक जैन कवि' पृष्ठ २० ।

५. तत्र सर्वशरीरिरक्षाकृतमतिर्विजितेन्द्रियः । सिद्धशासनवर्द्धनप्रसिद्धधर्मीतिशालापकः ॥२२॥

विश्रुतश्रुतकीर्तिभट्टारकयतिस्समजायत । प्रस्फुरद्भजनाभुतांशुभिनाशितासिलहस्तमाः ॥२३॥

देवनन्दिका समय

देवनन्दिने अपने किसी ग्रन्थमें न तो कोई रचना तिथि दी है और न अपनी गुरुपरम्परा । इसलिए उनके समयका निर्णय उनके ग्रन्थोंके उल्लेखों तथा दूसरे साधनोंसे ही करना पड़ेगा ।

जैनेन्द्र व्याकरणके 'षेस्तेः सिद्धसेनस्य' [५-१-७] सूत्रमें सिद्धसेनका मत दिया है और प्रज्ञाचन्द्र पं० सुखलालजीने सिद्धसेनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है^१ । उनके लेखका सारांश आगे दिया जाता है—

“जैसलमेरके जैन मण्डारमें विशेषावश्यक भाष्यकी जो अतिशय प्राचीन प्रति मिली है उसके अंतमें ग्रन्थकार जिनभद्र गणिने स्वयं ही ग्रन्थ-रचना-काल दिया है । और उसके अनुसार उक्त ग्रन्थ वि० सं० ६६६ में वल्लभीमें समाप्त हुआ है । उन्होंने अपने इस विशेषावश्यक भाष्यमें और द्वितीय लघुग्रन्थ विशेषणवतीमें सिद्धसेन और मल्लवादिके उपयोगाभेद-वादको विस्तृत समालोचना की है । मल्लवादि सिद्धसेनके सन्मतितर्कके टीकाकार हैं । इससे सिद्ध होता है कि मल्लवादि और सिद्धसेन जिनभद्रगणिसे क्रमशः पूर्व और पूर्वतर हैं । मल्लवादिके विनष्टमूल द्वादशार नयचक्रके जो प्रतीक उसके विस्तृत टीकाग्रन्थमें मिलते हैं उनमें सिद्धसेन दिवाकरके उल्लेख तो हैं, परन्तु जिनभद्रगणिके नहीं है । इससे फलित होता है कि मल्लवादि जिनभद्रसे पहले हुए हैं और मल्लवादिने सिद्धसेनके सन्मतितर्कपर टीका लिखी थी, इसका निर्देश आचार्य हरिभद्रने किया है । अतः यह सिद्ध है कि सिद्धसेन मल्लवादिसे पहले हुए हैं । इसलिये मल्लवादिको विक्रमकी छठी शताब्दिके पूर्वार्धमें माना जाय, तो सिद्धसेनका समय पाँचवीं शताब्दि ठीक लगता है ।

‘सिद्धसेनके मतके अनुसार ‘विद्’ धातुमें ‘र’ का आगम होता है, भले ही वह सकर्मक हो । उनकी नवीं द्वात्रिंशतिकाके २२वें पद्यमें ‘र’ आगमवाला ‘विद्वते’ प्रयोग मिलता है । अन्य वैधाकरण ‘सम्’ उपसर्ग-पूर्वक अकर्मक विद् धातुमें ‘र’ आगम मानते हैं जब कि सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक विद् धातुमें ‘र’ आगमवाला प्रयोग किया है । इसके सिवाय पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके [अ० ७ सूत्र १३] में सिद्धसेनकी तीसरी द्वात्रिंशतिकाके १६ वें पद्यकी ‘उक्तं च’ शब्दके साथ “वियोजयति चासुभिर्न बधेन संयुज्यते” पंक्ति उद्धृत की है । द्वात्रिंशिकामें यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

वियोजयति चासुभिर्न बधेन संयुज्यते
शिर्यं च न परोपमर्दपु [प] रुषस्मृतेर्विद्यते ।
बधायतनमभ्युपैति च पराननिघ्नमपि
खयाज्यमसिबुर्गमः प्रथ[श]महेतुरुद्योतितः ॥१६॥

“पूज्यपाद देवनन्दिका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध माना जाता है । परन्तु मेरी समझमें अभी इसपर और भी गहराईसे विचार होनेकी जरूरत है । यदि सिद्धसेनको देवनन्दिसे पूर्ववर्ती अथवा उनका वृद्धसमकालीन माना जाय, तो भी उनका समय पाँचवीं शताब्दिसे आर्वाचीन नहीं जान पड़ता ।”

सिद्धसेनसे देवनन्दि कितने बादके हैं, इसका निर्णय करनेके लिए देवसेनके दर्शनसारसे भी कुछ सहायता मिल सकती है । यह ग्रन्थ उन्होंने वि० सं० ६६० में धारानगरीमें निवास करते हुए पूर्वाचार्योंकी बनाई हुई गाथाओंका एकत्र संचय करके—‘पुञ्चाहरियक्याई गाथाई संचिउण पयस्थ’ लिखा गया है । अर्थात् इस ग्रन्थकी गाथाएँ देवसेनसे भी पहलेकी हैं और इस दृष्टिसे उनकी प्रामाणिकता अधिक है । उसके अनुसार श्री पूज्यपादका शिष्य पाहुडवेदि वज्रनन्दि द्वाविड संघका कर्ता हुआ और तत्र दक्षिण मथुरा [मदुरा] में

१ देखो भारतीय विद्या, भाग ३, अंक ५ में ‘श्री सिद्धसेन दिवाकरनां समयकी प्रश्न’ शीर्षक लेख ।

वि० सं० ५२६ में यह महामिथ्याती संघ उत्पन्न हुआ। वज्रनन्दि चूँकि देवनन्दिके शिष्य थे, इसलिए इस संघ-स्थापना-कालके लगभग या दस बीस वर्ष पहले देवनन्दिका समय माना जा सकता है। सिद्धसेनके पूर्वोक्त निश्चित किये हुए समयसे भी यह असंगत नहीं जान पड़ता।

पं० युधिष्ठिर मीमांसकने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' लिखा है। उन्होंने जैनेन्द्रके 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' सूत्रपरसे अनुमान किया है कि सिद्धसेनका कोई व्याकरण ग्रन्थ अवश्य होगा। उज्ज्वलदत्तकी उणादि सूत्र वृत्तिमें 'क्षपणक' के नामसे एक ऐसा सूत्र उद्धृत है जिससे प्रतीत होता है कि क्षपणकने भी उणादि सूत्रोंपर कोई व्याख्या लिखी थी और उससे यह भी संभावना होती है कि क्षपणकने अपने शब्दानुशासनपर भी कोई वृत्ति रची होगी। मैत्रेयरचितने तंत्रप्रदीपमें भी क्षपणकके व्याकरणका उल्लेख किया है।

बहुतसे विद्वानोंकी राय है कि ज्योतिर्विदाभरणमें^३ बतलाये हुए विक्रमके नी रत्नोंमें जो क्षपणक है, वही सिद्धसेन है और गुप्तवंशके चंद्रगुप्त (द्वितीय) ही विक्रमादित्य हैं। इतिहासज्ञ विन्सेंट स्मिथके अनुसार चन्द्रगुप्तका समय वि० सं० ४३२ से ४७० तक है और इस तरह सिद्धसेनका समय जो पं० सुखलालजीने विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है, और भी पुष्ट हो जाता है।

हेम्ब्रुके दानपत्रमें गंगवंशी महाराजा अविनीतके पुत्र दुर्विनीतको "शब्दावतारकारः देवभारतीनिबद्ध-बृहत्कथः किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गाटीकाकारः"^४ ये तीन विशेषण दिये हैं जिनका अर्थ होता है—शब्दावतारके कर्ता, पैशाचीसे संस्कृतमें गुणाढ्यकी बृहत्कथाको रचनेवाले और किरातार्जुनीय काव्यके पन्द्रह सर्गों के टीकाकार। इन विशेषणोंमें कोई ऐसी बात नहीं जिससे यह प्रकट हो कि देवनन्दि दुर्विनीतके शिष्यागुरु थे या उनके समकालीन थे। परन्तु चूँकि शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेके ४६ वें शिलालेखमें^५ पूज्यपादको पाणिनीयके शब्दावतारका कर्ता बतलाया है, इसलिए दुर्विनीतके साथ लगे हुए "शब्दावतारकार" विशेषणसे कुछ विद्वानोंको भ्रम हो गया और दोनोंका समकालीन समझकर गुणादेश्यका सम्बन्ध खड़ा कर दिया है। दुर्विनीतका राज्यकाल वि० सं० ५३९ से शुरू होता है, इसलिए इसीके लगभग पूज्यपादका समय मान लिया गया, परन्तु मैसूरके आस्थान विद्वान् पं० शान्तिराज शास्त्रीने भास्करनन्दिकृत तत्त्वार्थटीकाको प्रस्तावनामें इस भ्रमको स्पष्ट कर दिया है। इसलिए भले ही पूज्यपाद देवनन्दि दुर्विनीतके राज्यकालमें रहे हों, परन्तु केवल इस दानपत्रसे वह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जैनेन्द्र व्याकरणके एक और सूत्र "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" [४-४-१४०] में सिद्धसेनके ही समान आचार्य समन्तभद्रका उल्लेख है, जिससे समन्तभद्रका देवनन्दिसे पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है, परन्तु साथ ही

१. सिसिपुज्जपादसीसो धाविडसंघस्स कारणो दुट्ठो । णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥

पंचसए छुर्वीसे विक्कमरायस्स मरणएत्तस्स । दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघे महामोहो ॥

२. प्रकाशक—भारतीय साहित्यभवन, नवाबगंज, दिल्ली।

३. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहसंक्षुब्धेतालभट्टघटखर्परकाजिदासाः । ख्यासो वराहमिहरो नृपतेः समायाः रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

४. मैसूर पृथक् कुर्ग रैजेटियर, प्रथम भाग पृ० ३७३.

५. इस शिलालेखका वह 'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं' आदि पद्य इसके पहले पृष्ठ ३३ पर उद्धृत किया है।

६. बौद्धाचार्य चन्द्रकीर्तिने "समन्तभद्र" नामका एक व्याकरण लिखा था और चन्द्रकीर्ति धर्मकीर्तिसे भी पूर्ववर्ती है। १४ वीं शताब्दिमें लिखे हुए बौद्ध धर्मके इतिहाससे जो तिब्बती भाषामें है, और जिसका संस्कृती अनुबाध हो गया है इस बातकी सूचना मिलती है। पं० श्री बलसुख मालवणियाने अपने एक पत्रमें मुझे यह लिखा है।

सर्वार्थसिद्धि टीकाके 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि मंगलाचरण पर जयजयभारते, 'शास्त्राधीनता' नामक ग्रन्थ लिखा है। इससे जान पड़ता है कि दोनों समकालीन एक दूसरेका आदर करनेवाले हैं और एक दूसरेके ग्रन्थोंसे सुपरिचित होनेके कारण ही यह संभव हुआ है कि देवनागरी अपने जैन-व्याकरणमें समन्तभद्रका व्याकरणविषयक मत देते हैं और समन्तभद्र देवनागरीकी सर्वार्थसिद्धि के मंगलाचरणपर अपनी आत्ममीमांसा निर्माण करते हैं।

आचार्य विद्यानन्दने अपनी आत्मपरीक्षाके अन्तमें लिखा है—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्वरस्तोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं ग्रथितपृथुयशं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥ १२३ ॥

अर्थात् प्रकाशमान रत्नोंके उद्भवस्थान तत्त्वार्थशास्त्र रूप अद्भुत समुद्रके उत्थान या बहावके आरम्भकालमें शास्त्रकार (देवनागरी) ने तीर्थके तुल्य जो प्रसिद्ध और अति यशस्वी स्तोत्र (मोक्षमार्गस्य नेतारं आदि) बनाया और जिसकी स्वामि (समन्तभद्र) ने मीमांसा की, उसीका अपनी शक्तिके अनुसार सत्यवाक्यार्थसिद्धिके लिए विद्यानन्दने बड़े आदरके साथ कथन किया।

इसमें यह बिच्छुकुल स्पष्ट रूपसे कह दिया गया है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इस मंगलाचरण पर ही आत्ममीमांसा रची गई है और उसीपर विद्यानन्द परीक्षा (आत्मपरीक्षा) लिखते हैं।

परन्तु उक्त पद्यमें जो 'शास्त्रकारैः' पद पड़ा हुआ है, उसपर एक बड़ा भारी विवाद खड़ा कर दिया गया है और उसका अर्थ किया जाता है—तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति; जब कि वास्तवमें मोक्षमार्गस्य नेतारं आदि मंगलाचरण सर्वार्थसिद्धिका है। मूल तत्त्वार्थसूत्रका नहीं। क्योंकि यदि यह मंगलाचरण तत्त्वार्थसूत्रका होता तो उसकी टीका सभी दिगम्बर श्वेताम्बर टीकाकार जो प्राचीन हैं—अवश्य करते। और कोई न करता तो देवनागरी पूज्यपाद तो [सर्वार्थसिद्धिमें] अवश्य करते। सर्वार्थसिद्धि टीकाका पहला संस्करण स्व० पं० कल्याणभरमाणा निटवेने प्रकाशित किया था। उसमें इसे टीकाके मंगलाचरणके रूपमें ही दिया है और भूमिकामें भी उन्होंने इसे टीकाका ही बतलाया है। शोलापुरके पं० वंशीधरजी शास्त्रीके संस्करणमें भी यह टीकाका है और यह संस्करण उन्होंने आगरेकी तीन प्राचीन प्रतियोंके आधारसे सम्पादित किया है। उसमेंकी एक प्रतिको तो वे ५०० वर्ष पुरानी बतलाते हैं। अकलंकदेव और विद्यानन्दने भी राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसकी टीका नहीं की है, श्वेताम्बर टीकाकार सिद्धसेन और हरिभद्र आदिने भी नहीं की। तत्त्वार्थसूत्रपाठ [मूल] की भी अधिकांश लिखित प्रतियाँ इस मंगलाचरणसे रहित हैं। सनातनग्रन्थमाला प्रथम गुच्छक, जैननित्यपाठसंग्रह आदि मुद्रित प्रतियोंमें भी यह नहीं है। तत्त्वार्थसारमें भी, जो तत्त्वार्थका एक तरहसे पल्लवित पद्यानुवाद है, अमृतचन्द्रने इस मंगल पद्यका अनुवाद नहीं किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह मंगलाचरण सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता पूज्यपाद देवनागरीका है, इसीपर समन्तभद्रने आत्ममीमांसा और विद्यानन्दने आत्मपरीक्षाकी रचना की।

१. दिगम्बर टीकाकारोंमें श्रुतसागर और भास्करनन्दने 'मोक्षमार्गस्य' आदिकी टीका की है। इनमें श्रुतसागर विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीके अन्तमें हुए हैं और भास्करनन्द १३-१४ वीं शताब्दीमें।

२. जिन पोथियों या गुटकोंमें मूल तत्त्वार्थसूत्र लिखा मिलता है, उसमें इस मंगलाचरणके साथ ही प्रायः "त्रैकाक्ष्यं ब्रह्मषट्कं" आदि संस्कृत पद्य और भगवती आराधनाके प्रारम्भकी 'सिद्धे जयप्यसिद्धे' आदि दो गाथाएँ भी लिखी रहती हैं और उनके बाद 'सम्पददर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' शुरू होता है। वास्तवमें जो लोग नित्यपाठ करते हैं, उन्होंने यह परम्परा चला दी है।

अतएव समन्तभद्र और देवगन्धि छठी शताब्दिके हैं और समकालीन हैं। सिद्धसेन उनके पूर्व-वर्ती हैं।

जैनेन्द्रोक्त अन्य आचार्य

पाणिनि आदि वैयाकरणोंने जिस तरह अपनेसे पहलेके वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उसी तरह जैनेन्द्रसूत्रोंमें भी नीचे लिखे पूर्वाचार्योंका उल्लेख मिलता है—

१ राट् भूतबलः [३-४-८३], २ गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [१-४-३४], ३ कृत्तुपिमृजां यशोभद्रस्य [२-१-६६], ४ रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य [४-३-१८०], ५ वेत्तेः सिद्धसेनस्य [५-१-७], ६ चतुष्टयं समन्त-भद्रस्य [५-४-१४०]।

जहाँतक हम जानते हैं इन छहों आचार्योंमेंसे शब्द किसीने भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखा है। इनके ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको लक्ष्य करके उक्त सब सूत्र रचे गये हैं। शाकटावनने भी इसीका अनुकरण करके तीन आचार्योंके मत दिये हैं।

१—भूतबलि—भूतबलिका ठीक-ठीक समथ निश्चित करना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि वे श्रीर नि० सं० ६८३ के बाद हुए हैं।^१

२—स्वामी समन्तभद्र^२ और ३—सिद्धसेन प्रसिद्ध हैं।

४—श्रीदत्त—विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें श्रीदत्तके 'जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है। मालूम होता है कि ये बड़े भारी वादि-विजेता थे^३। आदिपुराणके कर्ता जिनसेनसूरिने भी इनका स्मरण किया है। संभव है^४ ये श्रीदत्त दूसरे हों और जल्प-निर्णयके कर्ता दूसरे, तथा इन्हीं दूसरेका उल्लेख जैनेन्द्रमें किया गया हो।

५—यशोभद्र—आदिपुराणमें यशोभद्रका स्मरण करते हुए कहा है कि विद्वानोंकी सभामें जिनका नाम कीर्तन सुननेसे ही वादियोंका गर्व खर्व हो जाता है।^५

६—प्रभाचन्द्र—आदिपुराणमें जिनसेन स्वामीने प्रभाचन्द्र कविकी स्तुति की है, जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना की थी। हरिवंशपुराणमें भी इनका स्मरण किया गया है। ये कुमारसेनके शिष्य थे।

उपलब्ध ग्रन्थ

जैनेन्द्रके सिवाय पूज्यपादके केवल पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

१—सर्वार्थसिद्धि—आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बर सम्प्रदायकी उपलब्ध टीकाओंमें सबसे पहली टीका।

२—समाधितंत्र। इसमें लगभग १०० श्लोक हैं, इसलिए इसे समाधिशतक भी कहते हैं।

३—इष्टोपदेश—यह केवल ५१ श्लोकोंका छोटा-सा ग्रन्थ है। पं० आशाधरने इसपर एक संस्कृत टीका लिखी है।

४—दशभक्ति [संस्कृत]—प्रभाचन्द्राचार्यने अपने त्रिवाकलापमें इसका कर्ता पूज्यपाद या पाद-पूज्यको बतलाया है। परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता।

१-२. इसके लिए प्रो० हीरालालजीकी धवलाकी 'भूमिका' और पं० जुगलकिशोरजी मुस्तारका 'स्वामी समन्तभद्र' देखिए।

३. द्विप्रकारं जगौ जल्पं तरु-प्रातिभगोचरम् । त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥

४. श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीद्रीप्तमूर्तये । कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभद्रभेदने ॥४५॥

५. विदुषिणीषु संससु यस्य नामापि कीर्तितम् । निखर्वयति तद्गर्वं यशोभद्रः स पातु नः ॥४६॥

५—सिद्धप्रियस्तोत्र—निर्णयसागरकी काव्यमाला [सतमगुच्छ] में छप चुका है। २६ पद्योंमें चौबीस तीर्थङ्करोंकी स्तुति है।

अनुपलब्ध ग्रन्थ

शब्दावतार न्यास और जैनेन्द्र न्यास—पूज्यपादका पाणिनि व्याकरणपर 'शब्दावतार' नामका न्यास है और जैनेन्द्रपर स्वोपश न्यास भी है।

वैद्यक ग्रन्थ—शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णवके 'अपाकुर्वन्ति' आदि श्लोकके 'काय' शब्दसे ध्वनित होता है कि पूज्यपादका कोई वैद्यक ग्रन्थ होगा।

सारसंग्रह—पञ्चला [वेदसंग्रह पुः १ पु० ३६७] के एक उद्धरणके आधारसे 'सारसंग्रह' नामक एक और ग्रन्थके होनेका अनुमान है—“तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति।” यह कोई न्याय या सिद्धान्तका ग्रन्थ जान पड़ता है। उक्त वाक्यका 'पूज्यपाद' किसी अन्य पूज्य आचार्यका विशेषण भी हो सकता है।

'जैनाभिषेक' नामके एक और ग्रन्थका जिक्र अवशुवेन्गोलके शिलालेख नं० ४० के 'जैनेन्द्रं निज-शब्द भागमनुलं' आदि श्लोकमें किया गया है।

इस लेखके लिखनेमें हमें श्रद्धेय मुनि जिनविजय और पं० केन्द्रदास जीवराजकी न्याय-व्याकरण-तीर्थसे बहुत अधिक सहायता मिली है। इसलिए हम उक्त दोनों सज्जनोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। मुनि महोदयकी कृपासे हमको जो साधन सामग्री प्राप्त हुई है यदि न मिलती तो यह लेख शायद ही इस रूपमें पाठकोंके सम्मुख उपस्थित हो सकता।

परिशिष्ट १

पूज्यपाद-चरित

कनड़ी भाषाके इस चरितको चन्द्रध्व नामक कविने जो कर्नाटक देशके मलयनगरकी 'ब्राह्मणगली' के रहनेवाले थे। दुःषम कालके परिधानी संवत्सरकी आश्विन शुक्ल ५, शुक्रवार, तुलालग्नमें समाप्त किया है। चरितका सारांश यह है—

१. अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवः। कलङ्कमङ्गिनं सोऽयं देवनन्दो नमस्यते॥

पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूटमें 'पूज्यपादकृत वैद्यक' नामका एक ग्रन्थ है, परन्तु वह आधुनिक कनड़ीमें लिखा हुआ कनड़ी भाषाका ग्रन्थ है। उसमें न कहीं पूज्यपादका उल्लेख है और न वह उनका बनाया हुआ है। "वैद्यसार" नामका एक और ग्रन्थ अभी जैन-सिद्धान्त-भास्करमें प्रकाशित हुआ है, पर वह भी उनका नहीं है।

विजयनगरके राजा हरिहरके समयमें एक मंगराज नामके कनड़ी कवि हुए हैं। वि० सं० १४१६ के लगभग उनका अस्तित्व-काल है। स्थावर विषयोंकी प्रक्रिया और चिकित्सापर उनका खगेन्द्रमणिदर्पण नामका ग्रन्थ है। वे उसमें अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाते हैं और यह भी कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद वैद्यक ग्रन्थसे संशुद्धित है। अभी हाल ही शोलापुरसे उमादित्याचार्यका 'कल्याणकारक' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें भी अनेक जगह 'पूज्यपादेन भाषितः' कहकर पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख किया गया है। उमादित्य राष्ट्रकूट अमोघवर्षके समयके बतलाये गये हैं, परन्तु हमें इसमें सन्देह है। उसकी प्रशस्तिकी भी बहुत-सी बातें सन्देहास्पद हैं जिनपर विचार होनेकी आवश्यकता है।

२. इसके लिए प्रो० हीरालालजी जैन लिखित धवला (पुस्तक १) की भूमिकाके पृष्ठ ६०-६१ देखिए।

कर्नाटक देश के ' कोले ' नामक ग्रामके माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीसे पूज्यपादका जन्म हुआ । ज्योतिषियोंने बालकको त्रिलोकपूज्य बतलाया, इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रखा गया । माधवभट्टने अपनी स्त्रीके कहनेसे जैनधर्म स्वीकार कर लिया । भट्टजीके सालेका नाम पाणिनि था उसे भी उन्होंने जैनी बननेको कहा, परन्तु प्रतिष्ठाके खयालसे वह जैनी न होकर मुड़ीगुंड ग्राममें वैष्णव संन्यासी हो गया । पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहिन हुई, वह गुणभट्टको ब्याही गई, और गुणभट्टको उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ ।

पूज्यपादने एक बगीचेमें एक सोंपके मुँहमें फँसे हुए मेंढकको देखा । इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये ।

पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे । वह पूरा न हो पाया था कि उन्होंने अपना मरणकाल निकट आया जान कर पूज्यपादसे कहा कि इसे तुम पूरा कर दो । उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया ।

पाणिनि दुर्घ्यानवश मरकर सर्प हुए । एक बार उसने पूज्यपादको देखकर फूत्कार किया, इसपर पूज्यपादने कहा, विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूँगा । इसके बाद उन्होंने पाणिनि व्याकरणको पूरा कर दिया ।

इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और वैद्यक ज्योतिष आदिके कई ग्रन्थ रच चुके थे ।

गुणभट्टके मर जानेसे नागार्जुन अतिशय दरिद्री हो गया । पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्ध करनेकी विधि भी बतला दी । उसके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्धरसकी वनस्पति बतला दी ।

इस सिद्धरससे नागार्जुन सोना बनाने लगा । उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई बड़े सिद्धरस बना दिया । नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा, तब धरमेन्द्र-पद्मावतीने उसे रोका और जिनाल्य बनानेको कहा । तदनुसार उसने एक जिनाल्य बनवाया और पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की ।

पूज्यपाद पैरोंमें गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्रको जावा करते थे । उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दिने अपने साथियोंसे भगड़ा करके द्राविड संघकी स्थापना की ।

नागार्जुन अनेक मन्त्र तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया । एक बार दो सुन्दरी स्त्रियाँ आई जो गाने नाचनेमें कुशल थीं । नागार्जुन उनपर मोहित हो गया । वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चली गयी ।

पूज्यपाद मुनि बहुत समयतक योगन्यास करते रहे । फिर एक देव-विमानमें बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की । मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी, सो उन्होंने एक शास्त्रयुक्त बनाकर ज्योंकी त्यों कर ली । इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया ।

इस चरितपर कोई टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है । इस तरहके न जाने कितने मनगढ़न्त और ऊलजलूल किस्से हमारे यहाँ इतिहासके नामसे चल रहे हैं ।

परिशिष्ट २

हेम्बूरुका दानपत्र

श्रीमन्माधवमहाविराजः, तस्य पुत्रः अविच्छिन्नाश्वमेधाभृथाभिषिक्तः श्रीमत्कदम्बकुलगगनगभस्ति-
मालिनः श्रीमत्कृष्णधर्ममहाराजस्य प्रियभागिनेयः जननीदेवताङ्गपर्यङ्क एवाधिगतराज्यः विद्वत्कविकाञ्चननिक-
षोपलभूतः असम्भ्रावनमितसमस्तसामन्तमण्डलः अविनीतनामा श्रीमत्कोङ्कणिमहाराजः तस्य पुत्रः पुष्पादराज-
प्रियपुत्रिकापुत्रः विजृम्भाणशक्तिप्रबोपनमितसमस्तसामन्तमण्डलः सन्वर्धालसूपौरुलररेपेनाराथनेकसम-

मुखमखदुतप्रधानपुरुषपक्षपहारः विधसविहस्तीकृतकृतान्ताभिमुखः शब्दावतारकारः देवभारतीनिबद्धवृहत्कथः
किराताजुनीयपञ्चदशसर्गाटीकाकारः दुर्निनीतनामा..... —४सूर एण्ड कुर्ग गैजेटियर, प्रथम पृ० ३७३

परिशिष्ट ३

[भगवद्वाग्वादिनीका विशेष परिचय]

इसके प्रारंभमें पहले 'लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य' आदि प्रसिद्ध मंगलाचरणका श्लोक लिखा गया था। परन्तु पीछेसे उसपर हरताल फेर दी गई है और उसकी जगह यह श्लोक और उत्थानिका लिख दी गई है—

ओं नमः पार्श्वाय

त्वरितमहिमदूतामंत्रितेनाद्भुतात्मा, विषममपि मघोना पृच्छता शब्दशास्त्रम् ।

श्रुतमदरिपुरासीद् वादिवृन्दाप्रणीतां परमपदपर्युः स श्रिये वीरदेवः ॥

अष्टवार्षिकोऽपि सधाविधभक्ताभ्यर्थनाप्रशुभः स भगवानिदं प्राह—सिद्धिनेकान्तात् ॥ १-१-१ ॥

इसके बाद सूत्रपाठ शुरू हो गया है। पहले पत्रके ऊपर मार्जिनमें एक टिप्पणी इस प्रकार दी है जिसमें पाणिनि आदि व्याकरणोंको अप्रामाणिक ठहराया है—

“प्रमाणवद्व्यामुपेक्षणीयानि पाणिन्यादिप्रणीतसूत्राणि स्यात्कारवादिप्रवृत्त्यात्परिवाजकादिभाषितवत् अप्रमाणानि च कपोलकल्पनामस्त्रिनानि हीनमातृकत्वात्तद्वदेव ।”

इसके बाद प्रत्येक पादके अन्तमें और आदिमें इस प्रकार लिखा है जिससे इस सूत्र पाठके भगवत्प्रणीत होनेमें कोई सन्देह बाकी न रह जाय—

“इति भगवद्वाग्वादिन्यां प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः । ओं नमः पार्श्वाय । स भगवानिदं प्राह ।”

सर्वत्र 'नमः पार्श्वाय' लिखना भी हेतुपूर्वक है। जब ग्रन्थकर्ता स्वयं महावीर भगवान् हैं तब उनके ग्रन्थमें उनसे पहलेके तीर्थंकर पार्श्वनाथको ही नमस्कार किया जा सकता है। देखिए, कितनी दूर तक विचार किया गया है !

आगे अध्याय २ पाद २ के 'सह्वह्चल्यपतेरिः' [६४] सूत्रपर निम्न प्रकार टिप्पणी दी है और सिद्ध किया है कि यदि यह व्याकरण भगवत्कृत न हो तो फिर सिद्धहैमके अमुक सूत्रकी उपपत्ति नहीं बैठ सकती—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । 'सह्वह्चल्यपतेरिर्भाषकसूत्रजन्मः कालिद् चवत्-की सासहिवावाहवाचलिपापति, सस्त्रिआक्रिद्विधजिनेमीति सिद्धहैमसूत्रस्याऽन्यथानुपपत्तेः । शर्ववर्मपाणिन्योस्तु आहवर्षोपधालोपिन किर्द्धेच १, आपृगमहनजनः किकिनी लिद् चेति २ ।”

इसके बाद ३-२-२२ सूत्रपर इस प्रकार टिप्पणी दी है—

“कथं न ह्यचः प्राग्भस्तेष्वादि चैत्रादिनियामि शिक्षाविशेषाः ।

कुमारशब्दः प्राच्यानामाशिवनं मासमूचिवान् ।

मैथुनं तु मिधक्त्रे वाचकं मधुसर्पिणः ॥

इत्याद्यन्यथानुपपत्तेरिति बौटिकतिमिरोपलक्षणम् ।”

इसके बाद ३-४-४२ सूत्र [स्तेयाहृत्यम्] पर फिर एक टिप्पणी दी है—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । अहृतस्तोत्रं च १, सहाहा २, सस्त्रिणिभूताद्यः ३, स्तेनाहलुक् च ४, ति सिद्धहैमसूत्रस्यान्यथानुपपत्तेः । पाणिन्यादी त्वाहृत्यशब्दं प्रति सूत्राभावात् । कथं सरस्वतीकण्ठभरणे तदासिः । ऐन्द्रानुसारावहृतशब्दयद्वेति परम् ।

फिर ३-४-४० सूत्र [रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य] पर एक टिप्पणी है। इसमें बौटिको या दिगम्बरियोंका स्तकार किया गया है—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य सूत्रस्य प्रचेपता स्फुटत्वात् । अतो वौटिकतिमिरोपलक्षणे—

देवनन्दिमतां मांहः प्रचेपरजसोऽपि चेत् ।

चिराय भवता रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य जीव्यताम् ॥

पञ्चोत्तरः कः स्वचानासीः प्रसेन्दोः नमन यस्य यः [१] ।

विस्मयो रमयेः शिष्या स तं चेद्देवनन्दिनम् ॥ इति ।

विक्रमाष्टतुल्ययुगाब्दे ४०६ देवनन्दी, ततो गुणनन्दि-कुमारनन्दि-लोकचन्द्रानंतरं मुनिर्युगान्दे प्रथम-प्रभाचन्द्र इति वौटिके ।”

इसी तरह ४-३-७ [वेत्तेः सिद्धसेनस्य] सूत्रपर लिखा है—

“वेत्तेः सिद्धसेनस्य, चतुर्थ्यं समंतभद्रस्य प्रचेपेऽर्थाच्चता स्फुटत्वात्, रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य वदिति वौटिकतिमिरोपलक्षणे ।”

अन्तर्मे ५-४-६५ [शश्छोमि] सूत्रपर एक टिप्पणी दी है जिसमें पाणिनि आदि वैयाकरणोंकी अष्टव-शता सिद्ध की गई है—

“प्रयोगाशातना माभूदनादिसिद्धा हि प्रयोगाः । ज्ञानिना तु केवलं ते प्रकाशयन्ते न तु क्रियन्ते इति । अतएव शश्छोटीति पाणिनीयसूत्रं वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयवरपरः शकाश्छकारं नवेति शर्ववर्मकर्तृ-ककालापकसूत्रानुसारि । अत एव पाणिन्यादयोऽसर्वज्ञा इति सिद्धम् । अतएव तेषां तत्त्वत आप्तत्वाभाव इति सिद्धिः । नन्वभ्यः प्रभृतीनि सूत्रे निर्जरसैर्मुख्या यदि युक्तिस्ते मस्करिण्येव भवत्कृतमास्ते न तु सारस्वत-वाग्देव्या । शश्छोटीप्रमुखैः सूत्रैस्तच्छ्रुप्रभृतिपदादर्शी कालापकाद्युपजीवी पाणिनिरजितत्वं प्रति नाव्यक्तः ।”

जहाँ सूत्रपाठ समाप्त होता है, वहाँ लिखा है—

इत्याख्यज्ञगयानर्हन्नुत्वेन्द्रस्तु सुदं वहन् ।

वादिवक्त्राब्जचन्द्रः स्वमंदिराभिमुखोऽभवत् ॥

आगे ग्रन्थ-प्रशस्ति देखिए—

“ओं नमः सकलकलाकौशलपेशलशीलशालिने पार्श्वाय पार्श्वपाश्वर्याय । स्वस्ति तत्प्रवचनसुधास-मुद्रलहरीस्नाचिभ्यो महामुनिभ्यः । परिसमाप्तं च जैनेन्द्रं नाम महाव्याकरणम् । तदिदं श्रीवार्धराभुर्मध्येने पृच्छते प्रकाशयांचकार । सपादलक्षव्याख्यानकपरमतमदांघकारापहारपरममिति । नमः श्रीमच्चरमपरमेस्वर-पादप्रसादविशदस्याद्वादनयसमुपासनगुणकोटिसत्कौटिकगणाविभूतचिद्विभूतिविमलचंद्रचान्द्रकुलविपुलवृद्धत-पोनिगमनिर्गतनागपुरीयस्वच्छगच्छसमुत्थमुत्पविपाश्वर्यचन्द्रशाखासुखाकृतसुकृतसुकृतिधरामेन्द्रपाश्यायचारुधर-णारविन्दरजोराजीमधुकरानुकरवाचकपदधीपवित्रिताक्षयचंद्रचरणेभ्यः ससुधी रत्नचंद्रम् । श्रीवार्धरात् २२६७ विक्रमनृपात् सं० १७६७ फाल्गुनसितत्रयोदशी भाँमे तक्षकाख्यपुरस्थेन रत्नधिष्ठा दर्शनपावित्र्याय लिखितं चिरं नञ्चात् ।”

ग्रन्थके पहले पत्रकी खाली पीठपर मो कुछ टिप्पणियाँ हैं और उनमें अधिकांश वे ही हैं जो ऊपर दी जा चुकी हैं । शेष इस प्रकार हैं—

ओं नमः पार्श्वाय

जैनेन्द्रमैन्द्रतः सिद्धहैमतो जयहेमवत् । प्रकृत्यंतरदूरत्वाच्चान्यतामेतुमर्हति ॥ कथं ।

इंद्रश्रृंगः काशकूरस्नादिशर्लाशाकशयनाः । पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयत्यष्टौ हि शाब्दिकाः ॥

इति (?) चतुर्थी तद्धितानुपलक्षणात् ।

१ यह ‘वौटिकमतिमिरोपलक्षण’ नामका कोई ग्रंथ है और संभवतः वाग्वादिनांके कर्ताका ही बनाया हुआ है ।

यदिद्वय जिनेन्द्रेण कीमारेऽपि निरूपितं । ऐदं जैनेन्द्रमिति तथाहुः शब्दानुशासनं ॥
यदावश्यकनियुक्तिः—

अहं तं अस्मापिअरो जाणित्ता अहियअट्ठवासं तु ।

कयकोउअलंकारं लेहायरिअस्स उअणित्ति ॥

सक्को अ तस्समवकं भयवंतं आसणो निवेसित्ता ।

सदस्स लक्खणं पुच्छे आगारणं अवयवा इदं ॥ इति ॥

तद्वचनवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः । ततश्चैन्द्रं व्याकरणं संजातमिति हरिभद्रः ॥

यत्तु देवर्नदिबौटिकं पूज्यपाद

इतीच्छंतस्तद्गुरुकाः पूज्यपादस्य लक्षणं ।

द्विसंधानकवेः कान्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।

इति धनंजयकोपात्तदयुक्तं । नेति चेत्कथं जैनेन्द्रमिति । द्वादशस्वरमध्यमिति चेन्न इतरोपपत्त्याभावात् । जैनकुमारसम्भववद्वगतिरिति चेन्न । कुमारवदिदं प्रति श्लेषाभावात् थारीतिकतत्तद्विस्तभावाच्च तर्हि

लक्ष्मीरात्यंतिकी यस्य निरवद्यावभासते । देवर्नदितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

का गतिरिति चेत् ।

लक्ष्मीरात्यंतिकीपद्यनुपपत्तेशस्य कित्तरां । ऐद्वत्त्वयजि तत्त्वार्थे सोऽज्ञमार्गस्य पद्यवत् ॥

मिवादयश्चेत्प्रथमं यदि हैमत्वपेक्षयते ।

कालापकादि न तथा षट्चैन्द्रं महते कृतिः ॥

पूर्वत्र । मिप् वस् मस् १ सिप् थस् थ २ तिप् तस् कि ३ इड् वहि महि १ थस् आथां ध्यं २ त आताम् ऋङ् ३ इति ।

आस्थातरीति प्रति देवराजं मिद्वस्मसो यः पितः रादितोदाः ।

जीवं प्रपन्नाहममाथ जिश्वे तत्त्वादिमं स्वां कतिमात्मनोयं ॥

तर्हि सिद्धसेनादिविशेषोऽपि दुर्निवार इति चेन्न

जातामात्रोपि चिद्वीर्यं प्रत्यात्मशरणोऽसि यः ।

जनताका वराकीयं पराधमन् बीर तत्पुत्र ॥

इति बौटिकमततिमिरोपलक्षणस्य सुयैवकाशे इन्द्रजिनेन्द्रौ प्रत्युत्तरिणी यदुक्तोक्तद्विततस्त्वमसि-
मिबिह् दौरेयमदैदं जैनेन्द्रं व्याकरणानां । सिद्धिमनेकांतादिच्छों अः X क X पाहं त्यतथारीते हैमार्गाकृत-
वर्त्मनूप्रक्षेपार्थविजेप्रचिरंजीया इति प्रसन्नचन्द्रोत्पले [?]

१ इसके आगे ४-३-७ सूत्रकी टिप्पणी जैसा ही लिखा है और फिर ३-४-४० सूत्रकी टिप्पणीके 'वेचनन्दिमत्ता' आदि ही श्लोक दिये हैं ।

२ इसके आगे ५-४-६५ सूत्रकी टिप्पणी दी है ।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाट

[श्री युधिष्ठिर मीमांसक. ग्रन्थविद्याप्रतिष्ठान, दिल्ली]

संसारमें वाङ्मयके प्रादुर्भावका आदिस्थान पुरुषभूमि भारत है। उसका विशाल संस्कृत वाङ्मय मुख्यतः तीन धाराओंमें विभक्त है। इस वाङ्मयकी समृद्धिमें वैदिक, जैन और बौद्ध विद्वानों तथा आचार्योंने मुक्तहस्तसे सहयोग प्रदान किया है। भगवान् महावीरसे पूर्वके जैन तीर्थङ्करोंने उपदेश और ग्रन्थ-रचनामें किस भाषाका आश्रय लिया था, इसके प्रमाण अभी नहीं मिले। उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध अथवा ज्ञात नहीं। इसलिए उपलब्ध संस्कृत वाङ्मयमें वैदिक वाङ्मय ही प्राचीनतम कहा जा सकता है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायी मनीषियोंने अपने विचारोंको सर्वसाधारण तक पहुँचानेके लिए उपदेश और ग्रन्थ-रचनामें तात्कालिक जनभाषा प्राकृत तथा पालीका आश्रय लिया। कालान्तरमें, सम्भवतः विक्रमकी प्रथम शतीके लगभग जैन तथा बौद्ध आचार्योंने भारतीय जनताके हृदयमें संस्कृतके प्रति युग-युगसे वर्तमान विशिष्ट अनुराग और आदरकी भावनाको अनुभव किया और उदारचेता होकर उन्होंने भी विद्वज्जनोपयोगी विशिष्ट ग्रन्थोंका रचनाके लिए संस्कृत भाषाको अपनाना आरम्भ किया।

नये युगके प्रवर्तक

इस नये युगके प्रवर्तक जैन सम्प्रदायमें आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर तथा बौद्ध सम्प्रदायमें भद्रत अश्वघोष थे। ये सब वैदिक सम्प्रदायके विशिष्ट ज्ञाता थे। इसलिए उभय सम्प्रदायके शास्त्रज्ञानकी जो प्रौढ़ता इनके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है, वह अन्वय दुर्लभ है। इन आचार्योंने अपनी अगाध-विद्वत्ताके कारण अपने-अपने सम्प्रदायोंमें नये युगका सूत्रपात किया। इनका अनुकरण करके उत्तरवर्ती अनेक सुदृढ़ आचार्योंने अपने-अपने उत्तमोत्तम ग्रन्थों-द्वारा संस्कृत वाङ्मयको आगे बढ़ाया।

संघर्ष युग—दोनों सम्प्रदायोंमें संस्कृत भाषाके प्रति अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। प्रत्येक विषय पर संस्कृतमें ग्रन्थ-रचनाएँ होने लगीं। विक्रमकी प्रथम शतीसे १२ वीं शती तकका युग संस्कृत वाङ्मयके इतिहासमें अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। इस कालमें वैदिक, जैन और बौद्ध विद्वानोंके पारम्परिक तार्किक वाद-प्रतिवादन वाङ्मयके प्रत्येक क्षेत्रको, विशेषकर न्यायशास्त्रको परिबृंहित करनेमें विशेष योग प्रदान किया। इस कालमें वैदिक न्यायशास्त्रकी तो प्रवृत्ति ही बदल गई। वह अपने मूल प्रयोजनसे हटकर अर्थात् प्रमेय-निर्णायक न रहकर केवल प्रमाण-लक्षण-निर्णय तक ही सीमित हो गया और अन्तमें उसने नव्य न्यायके रूपमें केवल बौद्धिक अमका रूप धारण कर लिया।

जैन व्याकरण-वाङ्मय

संस्कृत वाङ्मयमें व्याकरणशास्त्र अपना प्रमुख स्थान रखता है। प्राचीन शास्त्रोंमें इसे स्वतन्त्र विद्या-स्थान माना है। इसलिए जब जैन विद्वानोंने संस्कृत भाषाको अपनाया, तब जैन सम्प्रदायमें भी इस शास्त्रका महत्त्व बढ़ा। अनेक जैन आचार्योंने व्याकरणके क्षेत्रमें भी अनेक उत्तम कृतियाँ प्रदान कीं। उनमेंसे अधिकांश विकराल काल द्वारा कबलित हो गई, अनेक ग्रन्थोंका नाम भी स्मृति-पटलसे नष्ट हो गया। कइयोंका नाम-मात्र शेष रहा। बहुत स्वरूप कृतियाँ शेष बचीं। जो कृतियाँ कथञ्चिन् कालकबलित होनेसे इस समय तक बच भी गईं वे ग्रन्थागारोंमें वेष्टनोंमें दँधी, प्रकाशमें आनेकी तिथिकी प्रतीक्षा कर रही हैं। सम्भव है उनमेंसे अधिकांश कृतियाँ 'शीर्यते वन एव वा' नियमके अनुसार विद्वज्जगत्को सुरक्षित न करके वनोपम ग्रन्थागारोंमें ही

शीर्ण हो जायें। ईद परधरोंसे बने भौतिक कृतियोंको बचाने अथवा उनके उद्धारकी चिन्ताकी अपेक्षा इन सांस्कृतिक और बौद्धिक कृतियोंका बचाना, उनका उद्धार करना परम आवश्यक है। जो विद्वान् महानुभाव, धनी मानी श्रेष्ठीवर्ग तथा संस्थाएँ इस कार्यमें लगी हुई हैं वे देश, जाति तथा धर्मकी वास्तविक सेवा कर रही हैं। देशके स्वतन्त्र हो जाने पर युगयुग उपाजित प्राचीन वाङ्मयकी रक्षाका भार मुख्यतया राज्यको ही वहन करना चाहिए, परन्तु सम्प्रति हमारे नेता इस ओर उदासीन हैं।

उपलब्ध जैन व्याकरण

जैन आचार्यों-द्वारा लिखे गये ६, ७ व्याकरण इस समय उपलब्ध हैं। उनमेंसे केवल तीन व्याकरण प्रमुख हैं—जैनेन्द्र, शाकटायन और सिद्धहैम। इनमें आचार्य देवनन्दी, अपर नाम पूज्यपाद, इतर नाम जिनेन्द्रबुद्धि द्वारा प्रोक्त जैनेन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है।

इन प्रमुख तीन व्याकरणोंके ग्रन्थ भी अभी तक पूरे प्रकाशित नहीं हुए। सबसे अधिक हैम व्याकरणके ग्रन्थ प्रकाशमें आये हैं^१। शाकटायन व्याकरण केवल चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति सहित प्रकाशित हुआ है [परिशिष्टमें मूल गणपाठ, लिङ्गानुशासन तथा धातुपाठ भी छपे हैं]। सूत्रकारकी स्वोपश्रमोघ महावृत्ति अभी तक लिखित रूपमें ही क्वचित् उपलब्ध होती है^२। जैनेन्द्र व्याकरण भी तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके ६० वें सूत्र तक अभयनन्दी विरचित महावृत्ति सहित कुछ वर्ष पूर्व लाजरस कम्पनी काशीसे प्रकाशित हुआ था [अब वह भी दुर्लभ है]। यह प्रथम अवसर है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने इस भारी कमीको पूर्ण करनेका बीड़ा उठाया और वह उसे अभयनन्दीकी महावृत्ति सहित प्रकाशित कर रहा है।

जैनेन्द्रसे प्राचीन व्याकरण

आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनमें निम्न ६ पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख किया है—

- १—गुणो श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [१ । ४ । ३४]
- २—कृष्णमृजां यशोभद्रस्य [२ । १ । ६६]
- ३—राद् भूतप्रलेः [३ । ४ । ८३]
- ४—रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य [४ । ३ । १८०]
- ५—वेत्तेः सिद्धसेनस्य [५ । १ । ७]
- ६—चतुष्टयं समन्तभद्रस्य [५ । ४ । १४०]

इन छ आचार्योंमेंसे किसीका भी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। अनेक विद्वानोंको इन आचार्योंके व्याकरण-शास्त्र-प्रवक्तृत्वमें भी सन्देह है। जैसा कि जैन इतिहास-विशेषज्ञ श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' [पृष्ठ १२०] में लिखा था—

“इन छ आचार्योंमेंसे किसीका भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। परन्तु जान पड़ता है इनके अन्य ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको व्याकरण-सिद्ध करनेके लिए वे सब सूत्र रचे गये हैं।”

१ सम्प्रति हैम व्याकरणकी केवल लघुवृत्ति सुप्राप्य है, अन्य सभी सुद्रित ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गये। इनका पुनर्मुद्रण अत्यन्त आवश्यक है।

२ यह महावृत्ति भी शीघ्र ही भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे ही प्रकाशित होगी।

३ यद्यपि माननीय प्रेमीजीने इस विचारकी निस्सारताको समझकर अपने ग्रन्थके द्वितीय संस्करणमें उक्त अंश निकाल दिया, पुनरपि जिनकी ऐसी धारणा अभी भी है उनके विचारोंके प्रतिनिधित्व रूपमें उक्त पङ्क्तियाँ उद्धृत की हैं।

पं० फूलचन्द्र सि० शा० ने भी सर्वार्थसिद्धि की भूमिकामें लगभग इसी मतका प्रतिपादन किया है ।^१

पाणिनीय व्याकरणमें स्मृत शाकल्य आपिशलि शाकटायन आदि १० प्राचीन शाब्दिकोंके विषयमें भी अनेक विद्वानोंकी ऐसी ही धारणा है ।

हमारे विचारमें इस प्रकारकी धारणाओंका मूलकारण भारतीय प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके विषयमें पाश्चात्य विद्वानों-द्वारा समुत्पादित अविश्वासकी भावना और अनर्गल कल्पनाएँ ही हैं ।

हम अपने 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमें पाणिनिसे पूर्ववर्ती आपिशलि काशकृत्स्न और भारगुरि आदि अनेक शाब्दिक आचार्योंके सूत्र, धातु और गणके वचन उद्धृत करके सिद्ध कर चुके हैं कि पाणिनिसे प्राचीन आचार्योंके भी पाणिनिके समान ही सर्वांगपूर्ण व्याकरण थे ।^२ अब तो काशकृत्स्न व्याकरणका समग्र धातुपाठ चत्तवीर कवि कृत कल्लव टीकासहित प्रकाशमें आ गया है । उसमें काशकृत्स्न शब्दानुशासनके लगभग १४० सूत्र भी उपलब्ध हो गये हैं ।^३ ये [धातुपाठ तथा सूत्र] न केवल उनके सर्वाङ्गपूर्ण होनेके, अपितु पाणिनीय व्याकरणसे अधिक विस्तृत होनेके भी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादके शब्दानुशासनमें उद्धृत प्राचीन वैयाकरणोंके विषयमें भी हमारी यही धारणा है कि उन आचार्योंने भी अपने-अपने शब्दानुशासन रचे थे । उन्हींके शब्दानुशासनोंसे आचार्य पूज्यपादने उनके मतोंका संग्रह किया । इसके विपरीत कल्पना करना पूज्यपाद जैसे प्रामाणिक आचार्यको मिथ्यावादी कहना है [आः शान्तं पापम्] । जब हमने पाणिनिसे पूर्ववर्ती अनेक शाब्दिक आचार्योंके बहुतसे वचन प्राचीन ग्रन्थोंमें ढूँढ लिये, यहाँ तक कि आद्य शब्दान्व-प्रणेता इन्द्रके भी 'अथ वर्णसमूहः', 'अर्थः पदम्' दो सूत्र उपलब्ध कर लिये,^४ ऐसी अवस्थामें हमें पूर्ण निश्चय है कि यदि जैन वाङ्मयका सावधानता पूर्वक अवगाहन किया जाय तो इन आचार्योंके शब्दानुशासनोंके सूत्र भी अवश्य उपलब्ध हो जायेंगे ।

आचार्य सिद्धसेनका व्याकरणविषयक मतका उल्लेख आचार्य पूज्यपादने तो किया ही है; उसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे उनके व्याकरण प्रवक्ता होने की पुष्टि होती है । यथा—

१. सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१ ।

२. देखो 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' के सप्तम प्रकरण ।

३. श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने "पाणिनि कालीन भारतवर्ष [हिन्दी संस्करण] पृष्ठ ५ पं० २२, २३ पर पाणिनिपूर्ववर्ती व्याकरणोंको बिना किसी प्रमाणके एकाङ्की लिखा है । पृष्ठ २६ पं० ६ पर गणपाठकी सामग्रीको पाणिनिकी मौलिक देन बताया है । परन्तु पृष्ठ ३३ पं० १६, १६ में भर्तृहरिके प्रमाणसे पाणिनि-पूर्ववर्ती आपिशलिके गणपाठकी सत्ता भी स्वीकार की है । डा० कीलहार्नका भर्तृहरि कृत महाभाष्य टीका संबंधी लेख हमें सुखम नहीं हुआ । अतः नहीं कह सकते कि उसमें आपिशल गणपाठका उल्लेख था वा नहीं । परन्तु हमने अपनी भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीकाकी प्रतिलिपिके आधारसे 'सं० व्या० शास्त्रका इतिहास' पृष्ठ १०२ पर आपिशल गणपाठका उल्लेख किया है । तथा इसी ग्रन्थके पृष्ठ २७४-२७५ पर महाभाष्यटीकाके इतिहासोपयोगी सभी वचन एकत्रित कर दिये हैं ।

४. इन सूत्रोंका प्रकाशन हम शीघ्र ही कर रहे हैं ।

५. सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ ६२ । महाभाष्य मराठी अनुवाद प्रस्तावना खण्ड [भाग ७, सन् १९५४] पृष्ठ १२५, १२६ पर श्री पं० काशीनाथ अभ्यङ्करजीने हमारे द्वारा प्रथमतः [सन् १९५१] प्रकटीकृत दोनों सूत्रोंका उल्लेख किया है । दूसरे सूत्रका पाठ भी हमारे द्वारा परिष्कृत हो स्वीकार किया है । लेखकने अन्यत्र भी हमारे ग्रन्थके पर्याप्त दुर्लभ सामग्री स्वीकार की है, परन्तु हमारे ग्रन्थका कहीं निर्देश नहीं किया ।

१. अभयनन्दी जैनेन्द्र १।४।१६ की वृत्तिमें एक उदाहरण देता है—‘उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः’ अर्थात् सब वैयाकरण सिद्धसेनसे हीन हैं ।

इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि अभयनन्दी आचार्य सिद्धसेनको न केवल वैयाकरण ही मानता है, अपितु उस कालतक प्रसिद्ध वैयाकरणोंमें उसे सर्वश्रेष्ठ कदता है ।

जैनेन्द्र व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद आपर नाम देवनन्दीने जिस शब्दानुशासनका प्रवचन किया वह लोकमें जैनेन्द्र-नामसे विख्यात है ।

इस शब्दानुशासनका जैनेन्द्र नाम क्यों पड़ा, आचार्य पूज्यपादका काल कौन सा है, जैनेन्द्र व्याकरण का मूल सूत्रपाठ कौन सा है, इसपर कितने व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये और आचार्य पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरणके अतिरिक्त और कितने ग्रन्थ लिखे इत्यादि विषयोंपर हम यहाँ विशेष चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि इन विषयोंपर माननीय श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैन साहित्य और इतिहास’ ग्रन्थमें विस्तारसे लिखा है [यही अंश पुनः परिष्कृत करके इस ग्रन्थके आदिमें पृष्ठ १७-२७ तक छपा है] । पश्चात् हमने भी अपने ‘संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास’ ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचना की है [हमने श्री प्रेमीजीके ग्रन्थसे पर्याप्त सामग्री ली है] । इसलिए हम यहाँ केवल उतना ही अंश लिखेंगे, जो उक्त दोनों लेखोंके पश्चात् परिज्ञात हुआ है ।

जैनेन्द्र नामका कारण—इस शब्दानुशासनको सर्वत्र जैनेन्द्र नामसे स्मरण किया है । इसके नामकरणके सम्बन्धमें श्री प्रेमीजीने जैनग्रन्थोंसे जो कथाएँ उद्धृत की हैं, वे प्रायः ऐतिहासिक तत्त्वरहित हैं । श्री प्रेमीजी भी उक्त कथाओंसे सन्तुष्ट नहीं हैं । हमारे विचारमें इस नामकरणका निम्न कारण है—

आचार्य देवनन्दीका एक नाम जिनेन्द्रबुद्धि भी था जैसा कि अणवेल्लोक्तके ४० वें शिलालेखमें लिखा है—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्त्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥

श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्भूतजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

अर्थात्—आचार्यका प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ ।

जिस प्रकार ‘पदेषु पदैकदेशान्’ नियम अथवा ‘विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्’ [४।१।१३६] वार्तिकके अनुसार प्राचीन ग्रन्थकार देव अथवा नन्दी नामसे देवनन्दीको स्मरण करते हैं, उसी प्रकार जिनेन्द्र एक देश भी जिनेन्द्रबुद्धि अपरनाम देवनन्दीका वाचक है । अतः ‘जैनेन्द्र’ की व्युत्पत्ति होगी—जिनेन्द्रेण प्रोक्तं जैनेन्द्रम् । अर्थात् जिनेन्द्र = जिनेन्द्रबुद्धि = देवनन्दी द्वारा प्रोक्त व्याकरण ।

आचार्य देवनन्दीका काल और उसका निश्चायक नूतन प्रमाण—आचार्य देवनन्दीके कालके विषयमें ऐतिहासिकोंका परस्पर वैमत्य है । यथा—

१—कीथ अपने ‘हिस्ट्री आफ़ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर’ में लिखता है—

The जैनेन्द्र व्याकरण ascribed to the Jinendra really written by पूज्यपाद देवनन्दी perhaps was Composed C. 678, P. 432.

१. देखो पृष्ठ ३२३-३२८ तथा ४२१-४२१ ।

२. जिनसेन तथा वादिराज सूरि ‘देव’ नामसे स्मरण करते हैं । देखो श्री प्रेमीजीका लेख, यही ग्रन्थ, पृष्ठ १६, दि० ३, ४ ।

३. इसके उद्धरण भागें लिङ्गानुशासनके प्रकरणमें देंगे ।

अर्थात्—जैनेन्द्र व्याकरण सन् ६७८ [= ७३५ वि०] के समीप लिखा गया ।

२—श्री प्रेमीजीने अनेक प्रमाण उपस्थित करके देवगन्दीका काल सामान्यतया विक्रमकी षष्ठ शताब्दी निश्चित किया है । [देखो इसी ग्रन्थके साथ मुद्रित उनका लेख] ।

३—श्री आई० एस० पन्तेने अपने 'स्टू क्वर आफ् दी अष्टाध्यायी' में लिखा है—

'महामहोपाध्याय नरसिंहाचार्यने कर्णाटक कवि चमिनके प्रथम भागके प्रथम संस्करणमें पूज्यपादको ईस्वी सन् ४७० [= ५२७ वि०] में बताया है और दूसरे संस्करणमें सन् ६०० [= ६५७ वि०] का । परन्तु मुझे २१।२।१९३३ को लिखे एक पत्रमें लिखा है कि पूज्यपाद ४५० ई० [= ५०७ वि०] के आसपास है ।

४—हमने अपने व्याकरण शास्त्रके इतिहासमें श्री प्रेमीजी द्वारा उद्धृत प्रमाणोंके आधारपर आचार्य पूज्यपादका काल विक्रमकी षष्ठ शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना था । अब हम उसे ठीक नहीं समझते ।

विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्व—अब हमें जो नूतन प्रमाण उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार आचार्य पूज्यपाद विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्ववर्ती हैं, यह निश्चित होता है ।

कात्यायनने एक विशिष्ट प्रकारके प्रयोगके लिए नियम बनाया है—परोक्षे च लोकाविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शन-विषये [महा० ३।२।१९] । अर्थात्—ऐसी घटना जो लोकविज्ञात हो, प्रयोक्ताने उसे न देखा हो, परन्तु प्रयोक्ताके दर्शनका विषय सम्भव हो [अर्थात् वह घटना प्रयोक्ताके जीवन-कालमें घटी हो] उस घटनाको कहनेके लिए भूतकालमें लङ् प्रत्यय होता है ।

पतञ्जलिने महाभाष्यमें इस वार्तिकपर उदाहरण दिये हैं—अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवने माध्यमिकाम् । वार्तिकके नियमानुसार साकेत [= अयोध्या] और माध्यमिका [= चित्तौड़ समीपवर्ती नगरी ग्राम] पर वह लोकप्रसिद्ध आक्रमण पतञ्जलिके जीवनकालमें हुआ था । प्रायः सभी ऐतिहासिक इस विषयमें सहमत हैं ।

इसी प्रकारका नियम पाणिनिसे उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याकरण-ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है और उसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार प्राचीन उदाहरणोंके साथ साथ स्वसमकालिक किन्हीं महती घटनाओंका भी प्रायः निर्देश करते हैं । यथा—

अजयद् जर्तो हुणान् । चान्द्रै

अरुणन्महेन्द्रो मथुराम् । जैनेन्द्र० [२।२।६२]

अदहदमोघवर्षोऽरातीन् । शाकटायन [४।३।२०८]

अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तिम् । हैम० [५।२।८]

इनमें अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट हैं । आचार्य पाल्यकीर्ति [शाकटायन] महाराज अमोघवर्ष और आचार्य हेमचन्द्र महाराज सिद्धराजके कालमें विद्यमान थे । इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं । परन्तु चान्द्रके जर्त और जैनेन्द्रके महेन्द्र नामक व्यक्तिको इतिहासमें प्रत्यक्ष न पाकर पार्श्वत्य मतानुयायी विद्वानोंने जर्तको गुप्त और महेन्द्रको मेनेन्द्र-मिनण्डर बनाकर अमर्गल कल्पनाएँ की हैं । इस प्रकारकी कल्पनाओंसे इतिहास नष्ट हो जाता है । हमारे विचारमें जैनेन्द्रका 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' पाठ सर्वथा ठीक है, उसमें किञ्चिन्मात्र भ्रान्तिकी सम्भावना नहीं है । आचार्य पूज्यपादके कालकी यह ऐतिहासिक घटना इतिहासमें सुरक्षित है ।

१. देखो, स्टू क्वर आफ् दी अष्टाध्यायी, भूमिका, पृष्ठ ५३ ।

२. यद्यपि ये उदाहरण क्रमशः धर्मदास तथा अभयनन्दकी वृत्तिसे दिये हैं, परन्तु इन वृत्तिकारोंने ये उदाहरण चन्द्र और पूज्यपादकी स्वोपज वृत्तिसे लिखे हैं ।

महेन्द्र और उसका मथुरा-विजय—जैनेन्द्रमें स्मृत महेन्द्र गुप्तवंशीय कुमारगुप्त है। इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है। जैनेन्द्रके 'विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्' [४।१।१३६] वार्तिक अथवा 'पदेशु पदैकदेशान्' नियमके अनुसार उसीको महेन्द्र अथवा कुमार कहते थे। उसके सिक्कोंपर श्री महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्रधर्मा, महेन्द्रकुमार आदि कई नाम उपलब्ध होते हैं।^१

तिब्बतीय ग्रन्थ चन्द्रगर्भ सूत्रमें लिखा है—“यवनों पहिकों शकुनों [कुशनों] ने मिलकर तीन लाख सेनासे महेन्द्रके राज्यपर आक्रमण किया। गङ्गाके उत्तरप्रदेश जीत लिये। महेन्द्रसेनके युवा कुमारने दो लाख सेना लेकर उनपर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लौटनेपर पिताने उसका अभिषेक कर दिया।”^२

चन्द्रगर्भ सूत्रका महेन्द्र निश्चय ही महाराज कुमारगुप्त है और उसका युवराज स्कन्दगुप्त। मञ्जु भी मूलरूप श्लोक ६४६ में श्री महेन्द्र और उसके सकारादि पुत्र [स्कन्दगुप्त] को स्मरण किया है।^३

चन्द्रगर्भ-सूत्रमें लिखित घटनाकी जैनेन्द्रके उदाहरणमें उल्लिखित घटनाके साथ तुलना करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके उदाहरणमें इसी महत्त्वपूर्ण घटनाका संकेत है। उक्त उदाहरणसे यह भी विदित होता है कि विदेशी आक्रान्ताओंने गङ्गाके वास-पासका प्रदेश जीतकर मथुराको अपना केन्द्र बनाया था। इस कारण महेन्द्रकी सेनाने मथुराका ही घेरा डाला था।

महाभाष्य, शाकटायन तथा सिद्ध हैम व्याकरणोंमें निर्दिष्ट उदाहरणोंके प्रकाशमें यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त अपर नाम महेन्द्र कुमारके समकालिक हैं। पाश्चात्यमतानुसार कुमारगुप्तका काश वि० सं० ४७०-५१२ [=४१३-४५५ ई०] तक था। अतः पूज्यपादका काल अधिकन्से अधिक विक्रमकी ५ वीं शतीके चतुर्थ चरणसे षष्ठ शताब्दीके प्रथम चरण तक माना जा सकता है, इसके पश्चात् नहीं। भारतीय ऐतिहासिक काल-गणनानुसार गुप्तकाल इससे कुछ शताब्दी पूर्व ठहरता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके 'अरुणमहेन्द्रो मथुराम्' उदाहरणमें महेन्द्रको मेनेन्द्र = मिमण्डर समझना भारी भ्रम है।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन

अब हम जैनेन्द्र व्याकरणके सम्बन्धमें संक्षेपसे लिखते हैं—

जैनेन्द्र शब्दानुशासनका परिमाण—जैनेन्द्र शब्दानुशासनमें ५ अध्याय, २० पद और ३०६७ सूत्र [प्रत्याहार सूत्रोंके बिना] हैं।

जैनेन्द्रका प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ—आचार्य पूज्यपादके समय निश्चय ही पाणिनीय और चान्द्र शब्दानुशासन विद्यमान थे। पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनकी रचना पाणिनीय शब्दानुशासनके आधार पर की है, यह पाणिनीय चान्द्र तथा जैनेन्द्र शब्दानुशासनोंकी सूत्र-रचना और प्रकरण-विन्यासकी तुलनासे स्पष्ट है। कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि पूज्यपादने चान्द्र शब्दानुशासनसे भी कुछ सहायता ली है।

जैनेन्द्रमें प्रत्याहार सूत्रोंका सद्भाव—अभयनन्दीकी महावृत्तिके साथ 'अ इ उ ण्' आदि प्रत्याहार सूत्र उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जैनेन्द्र शब्दानुशासनके मूल पाठमें वे अवश्य विद्यमान थे। इसमें निम्न हेतु हैं।

क—जैनेन्द्र सूत्रपाठमें जहाँ अनेक वर्णोंका निर्देश करना होता है, वहाँ संक्षेपार्थ पाणिनीय अनुशासन के समान प्रत्याहारोंका प्रयोग किया है। यथा—अच् [१।१।५६], इक् [१।१।१७], यण् [१।१।४६],

१. श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास [सं० २००३], पृष्ठ ३५४।

२. वही, पृष्ठ ३५४।

३. महेन्द्रचरित्रके मुख्यः सकाराद्यो मतः परम्।

४. जैनेन्द्र और पाणिनीय सूत्रोंकी तुलनात्मक सूची इस ग्रन्थके अन्तमें छपी है।

ऐच् [१।१।१५], एच् [१।१।७०]। ये प्रत्याहार पाणिनीय प्रत्याहारोंके समान हैं। किस प्रत्याहारमें कितने वर्णोंका निर्देश सम्भक्तना चाहिए अथवा प्रत्याहार कैसे बनाया जाता है, इसका नियम-प्रदर्शक “अन्ये नेतादिः” सूत्र जैनेन्द्र शब्दानुशासन [१।१।७३] में विद्यमान है। इस सूत्र द्वारा अच् प्रत्याहारोंका परिज्ञान तभी सम्भव है, जब ग्रन्थके आरम्भमें पाणिनीय ग्रन्थवत् प्रत्याहार सूत्र पठित हों। अन्यथा ‘अन्येनेतादिः’ सूत्र तथा इसकी वृत्ति कभी सम्भक्तमें नहीं आ सकती।

ख—जैनेन्द्र १।१।४८ पर अभयनन्दी लिखता है—‘रन्त इति जणो लकारेण प्ररक्षेपनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम्।’ अर्थात् ‘रन्त’ इस निर्देशमें जण् सूत्रके लकारमें पठित अकारसे र प्रत्याहार लिया गया है। “जण्” यह पाणिनिके समान प्रत्याहार सूत्र ही है।

ग—अभयनन्दी १।१।३ सूत्रकी वृत्तिके अनन्तर उदाहरण देता है—‘अ इ उ ण्—णकारः।’ अर्थात् ‘अ इ उ ण्’ सूत्रमें ‘ण्’ इत् संज्ञक है। वहाँ भी पाणिनिके समान ‘अ इ उ ण्’ सूत्रकी उद्धृत किया है।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र व्याकरणके आरम्भमें भी प्रत्याहार सूत्र थे। हमने प्रत्याहार-सूत्रोंके विषयमें इस महावृत्तिके सम्पादक महोदयसे पूछा था कि किसी हस्तलेखमें ये सूत्र मिलते हैं, अथवा नहीं। श्री सम्पादकजीने २६।६।५६ के उत्तरमें लिखा—“प्रत्याहार-सूत्रोंका पाठ किसी भी हस्तलिखित प्रतिमें उपलब्ध नहीं है। मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायो तथा शब्दार्णव-चन्द्रिकामें कुछ हेर फेरके साथ पाणिनीय व्याकरण सदृश [अ इ उ ण् आदि] दो प्रकारके सूत्रपाठ मिलते हैं।”

हमारा विचार है कि प्रत्याहार सूत्रोंकी व्याख्याकी आवश्यकता न समझकर अभयनन्दीने इनकी व्याख्या नहीं की। अव्याख्यात होनेके कारण महावृत्तिके हस्तलेखोंमें इनका अभाव हो गया। अथवा वह भी सम्भव है—जैसे अन्यत्र कई स्थानों पर सूत्रोंकी वृत्ति उपलब्ध नहीं होती,^१ उसी प्रकार इन प्रत्याहार-सूत्रोंकी भी व्याख्या नष्ट हो गई और व्याख्याके न रहने पर महावृत्तिके हस्तलेखोंमें सूत्र पाठका भी अभाव हो गया। जो कुछ भी कारण उनके अभावका हो, परन्तु इतना निस्सन्दिग्ध है कि अभयनन्दी जैनेन्द्र प्रत्याहार-सूत्रोंसे परिचित था।

सूत्रपाठके पाठान्तर—महावृत्तिके साथ जो जैनेन्द्रसूत्र पाठ छपा है उसमें तथा अभयनन्दीकी व्याख्यामें उद्धृत सूत्र पाठमें कतिपय पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। कई पाठान्तर अभयनन्दीकी वृत्तिके गम्भीर अनुशीलनसे विहित होते हैं; यथा—

क—अभयनन्दी ने १।१।८५ की व्याख्यामें ५।१।७९ का पाठ उद्धृत किया है—‘वद्वज्ज’ इत्यादि-नैप्। परन्तु ५।१।७९ पर सूत्रपाठ छपा है—‘अज्जवद्वोऽतः’ [इस पर वृत्ति अप्राप्त है]।

ख—जैनेन्द्र १।१।११४ सूत्रका मुद्रित पाठ है—साधकसमं करणम्। इसकी व्याख्यामें अभयनन्दी लिखता है—‘पुंल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? परिक्रयणम् [१।२।११२] इत्यनवकाशया सम्प्रदानसंज्ञया बाधा मा भूत्।’ अर्थात्—पुल्लिङ्ग निर्देश क्यों किया.....।

इस सूत्र में दो पद हैं। दोनों ही नपुंसक लिङ्ग पद हैं। ऐसी अवस्थामें न तो संज्ञा ही उपपन्न होती है और न उनका समाधान ही। क्योंकि ‘नञ्बाध आसम्’ [१।२।६१] सूत्रानुसार नपुंसक लिंगसे निर्दिष्ट संज्ञाका अनवकाश संज्ञासे बाध होता है। अतः ‘करण’ संज्ञाका नपुंसकसे निर्देश होनेके कारण अनवकाश सम्प्रदान संज्ञा [१।२।११२] से निश्चय ही बाध होगा। इस कारण प्रतीत होता है अभयनन्दीका सूत्रपाठ “साधकसमं करणः” था, जो पीछेसे विकृत हो गया। ‘करणः’ पुल्लिङ्ग निर्देश होनेपर ही

१. शाकटायनकी चिन्तामणि वृत्तिमें भी प्रत्याहार सूत्र व्याख्यात नहीं हैं।

२. पृष्ठ २८८, ३१७, ३२८।

‘पुंलिङ्गनिर्देशः किमर्थः’ यह शंका तथा उसका समाधान उत्पन्न हो सकता है। पुंलिङ्ग निर्देश [करणः] होनेपर अनवकाश संप्रदान संज्ञासे भी करण संज्ञाकी जाधा नहीं होगी और ‘शतेन परिकीर्तः’ प्रयोग भी उत्पन्न हो साध्या।

जैनेन्द्रमें एक विवेचनीय स्थल—जैनेन्द्र व्याकरण लौकिक मानाया व्याकरण है। इसलिए उसमें स्वर और वैदिक प्रक्रियाका अंश छोड़ दिया है। प्रथमाध्यायके प्रथम पादमें आचार्यने तीन सूत्र पढ़े हैं—कौवैतौ, उजः, ऊम् [२४-२६] [यहाँ शुद्ध पाठ ‘ऊँ’ चाहिए]। इन सूत्रोंके पाठ तथा इनकी वृत्तिसे प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग विषय लोकभाषा है। परन्तु इनका वास्तविक प्रतिपाद्य विषय वैदिक [पदपाठ] है। यह बात पाणिनिके ‘संयुद्धौ शाकल्यस्थेतावनात्’, उजः ऊँ [१।१।१६-१७] सूत्रोंसे स्पष्ट है। पाणिनिने प्रथम सूत्रमें वैदिक सम्प्रदायके पारिभाषिक ‘अनार्ष इति’ का निर्देश किया है [इसकी अनुवृत्ति अगले सूत्रमें भी जाती है]। पदकारों द्वारा पदपाठमें प्रगृह्य आदि संज्ञाका निदर्शन करानेके लिए मन्त्रसे बहिर्भूत जिस ‘इति’ शब्दका प्रयोग किया जाता है वह अनार्ष इतिकरण कहाता है। इसीको उपस्थित भी कहते हैं। इस शब्दका व्यवहार भी पाणिनिने ६।१।२६ में किया है। ये संज्ञाएँ प्रातिशाख्यग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं। पदपाठमें अनार्ष इतिकरणका प्रयोग कहाँ करना चाहिए इसका प्रतिपादन प्रातिशाख्योंमें विस्तारसे किया है। ऋग्वेदके पदपाठमें शाकल्यने प्रगृह्य संज्ञक [जैनेन्द्रके अनुसार ‘दि’ संज्ञक] पदसे परे सर्वत्र इति शब्दका प्रयोग किया है। यथा— अग्नि इति [ऋ० ५।४।५४], मेधेते इति [ऋ० १।१।३।३] युग्मे इति [ऋ० ४।१।०।८], वायो इति [ऋ० १।२।१], ऊँ इति [ऋ० १।२।४।८], गौरी इति [ऋ० १।१।२।२]। पाणिनिने शाकल्यके मतका अनुवाद अपने शास्त्रमें किया है। इससे स्पष्ट है कि जैनेन्द्रके उक्त सूत्रों-द्वारा प्रतिपाद्य विषय भी वैदिक नियमोंके अन्तर्गत आता है। इसलिए आचार्यको चाहिए था कि उसने जैसे पाणिनिके “ओ” [१।१।१३] और “इदुसौ च ससमी” [१।१।१८] सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयके लिए सूत्र रचना नहीं की, वैसे ही इनका भी समावेश न करता। समावेश करनेसे विदित होता है कि आचार्यने इन सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयको लौकिक समझा है। परन्तु लोकमें वाया इति ऊँ इति ऐसे प्रयोग उपलब्ध नहीं हैं।

भूलका कारण—इस भूलका कारण भगवान् पतञ्जलिकी पाणिनीय उजः ऊँ [१।१।१७] सूत्रकी व्याख्या है। पतञ्जलिने शाकल्य ग्रहणको विकल्पार्थ मानकर और उजः ऊँ का योग-विभाग करके ‘वायो इति वायविति, वाय इति, ऊँ इति उ इति विति’ इतने काल्पनिक रूप बनाये हैं। पतञ्जलिने भी पारिभाषिक ‘अनार्ष इति’ को ‘लौकिक इति’ मान लिया, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु है यह समस्त प्राचीन वैदिक साम्प्रदायके विपरीत। इस विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिका अनुकरण करनेसे ही जैनेन्द्रमें यह भूल हुई प्रतीत होती है।

जैनेन्द्रके सम्बन्धमें एक भ्रम—जैनेन्द्र शब्दानुशासनके सम्बन्धमें भ्रम है कि जैनेन्द्र ही प्रथम व्याकरण है जिसमें एकशेष प्रकरण नहीं है। इसका कारण महावृत्तिमें निर्दिष्ट ‘देवोपज्ञमनेकशेष व्याकरणम्’ [१।४।६७] उदाहरण है। हमने सं० व्या० शास्त्रका इतिहासमें [पृष्ठ ४२४] इस भ्रमका निराकरण किया है। जैनेन्द्रसे प्राचीन चान्द्रमें भी एकशेष प्रकरण नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि और जैनेन्द्र शब्दानुशासनका पौर्वापर्य—आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि नामक व्याख्यामें कहीं पाणिनीय शब्दानुशासनके और कहीं स्वर्चित शब्दानुशासनके सूत्र यत्र तत्र उद्धृत किये हैं। इससे विदित होता है कि जैनेन्द्र शब्दानुशासनकी रचना आचार्यने सर्वार्थ सिद्धिके पूर्व ही कर

१. इसकी विशद विवेचनाके लिए देखो हमारे द्वारा सम्पादित ‘अष्टाध्यायीप्रकाशिका’ का ‘उजः ऊँ’ [१।१।१७] सूत्र।

ली थी। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० सूत्र ४ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें आचार्य पूज्यपादने पञ्चमी विभक्तिके लिए स्थानित 'का' संज्ञाका निर्देश किया है। हमसे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है [सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१]

जैनेन्द्र शब्दानुशासनके खिलपाठ

वैयाकरण वाङ्मयमें शब्दानुशासन पद केवल सूत्रपाठके लिए प्रयुक्त होता है। सूत्रपाठको लघु बनानेके लिए उससे सम्बद्ध विस्तृत विषयोंको सूत्रकार जिन ग्रन्थोंमें संगृहीत करते हैं वे शब्दानुशासनके खिल अथवा परिशिष्ट कहते हैं। प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासनके धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन ये चार खिल होते हैं। इन्हें मिलाकर व्याकरणकी पञ्चपाठी बनती है। जैनेन्द्र व्याकरण के भी ये चार खिल थे [उणादि और लिङ्गानुशासन उपलब्ध नहीं हैं]।

धातुपाठ—आचार्य देवचन्द्री प्रोक्त धातुपाठका मूल ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया। शुभनन्दी प्रोक्त शब्दार्णव व्याकरण [जैनेन्द्रका परिवर्धित संस्करण] का चन्द्रिका टीकासहित जो संस्करण काशीसे छपा है, उसके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ भी मुद्रित है। वह धातुपाठ जैनेन्द्र [पूज्यपाद] प्रोक्त मूल रूपमें है अथवा शब्दार्णवके समान परिवर्धित है, यह हम नहीं कह सकते। अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र धातुपाठके अनेक सूत्र उद्धृत हैं उनकी मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठकी तुलनासे कुछ परिणाम निकाला जा सकता है। परन्तु सम्प्रति मेरे पास मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठ नहीं है। अतः मैं इसके निर्याथमें इस समय असमर्थ हूँ।

मैं इसी वर्ष ६ अगस्तको काशीमें भारतीय ज्ञानपीठके व्यवस्थापक तथा महावृत्तिके सम्पादक महोदयोंसे मिला था [यह मेरा प्रथम मिलन था] और उन्हें ग्रन्थके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ छापनेका सुझाव दिया था। दोनों महानुभावोंने बड़ी सहृदयतासे मेरे सुझावको स्वीकार किया और वह इस ग्रन्थके अन्तमें दिया जा रहा है [अभी छपा मेरे पास नहीं पहुँचा]।

धातुपारायण—आचार्य हेमचन्द्रने स्वीय लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें पृष्ठ १३२ पं० २० पर नन्दिधातुपारायण तथा पृष्ठ १३३ पं० २३ पर नन्दिपारायण उद्धृत किया है। इस नामके साथ हेम-धातुपारायण नामकी तुलनासे प्रतीत होता है कि यह आचार्य देवचन्द्रीका अपने धातुपाठ पर स्वोपज्ञ विवरण रहा होगा।

गणपाठ—जैनेन्द्र गणपाठ अभयनन्दीकी महावृत्तिमें वयास्थान सज्जिष्ठ है, पृथक् छपा नहीं मिलता।

उणादिसूत्र—जैनेन्द्र उणादिसूत्रका कोई हस्तलेख अभी तक हमारी दृष्टिमें नहीं आया। महावृत्तिके सम्पादकजीसे भी इसके विषयमें पूछा था। उन्होंने २६।६।५६ के पत्रमें लिखा—“उणादि सूत्र तथा परिभाषाओंका भी संकलन कहीं नहीं उपलब्ध हो सका। लिङ्गानुशासन भी जैनेन्द्रका अनुपलब्ध ही है।”

अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक उणादि सूत्र उद्धृत हैं। कुछ प्राचीन पञ्चपादीसे पूर्णतया मिलते हैं, कुछमें पाठान्तर है। अनेक सूत्र ऐसे भी हैं जिनमें प्रत्यक्ष जैनेन्द्र संज्ञाओंका प्रयोग हुआ है। इसलिए यह निश्चित है कि जैनेन्द्र प्रोक्त उणादि सूत्र भी थे। उदाहरणके लिए हम कुछ सूत्र उद्धृत करते हैं। यथा—

१. काशिका १।३।२ में खिल शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त है।

२. प्राचीन परम्परानुसार ‘भू सत्तायाम्’ पृथ वृद्धौ’ आदि वाक्य सूत्र माने जाते हैं। द्रष्टव्य-अस्मात्-संपादित खीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १, टि० २।

१—तनोतेईउः सन्वच्च । पृष्ठ ३ ।

२—अस् सर्वधुभ्यः । पृष्ठ १७ ।

३—कृवापाजिमिस्वदिसाध्वशुभ्य उण् । पृष्ठ ११८ ।

४—वृत्तुवद्विह्निकमिकधुभ्यः सः । पृष्ठ ११८ ।

५—अण्डो जृकुसृजृकः । पृष्ठ ११६ ।

६—गमेरिन् । पृष्ठ ११६ ।

७—आडि णित् । पृष्ठ ११६ ।

८—सुवश्च । पृष्ठ ११६ ।

जैनेन्द्र उणादि सूत्रोंका आधार—जिस प्रकार आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनके प्रवचनमें पाणिनीय शब्दानुशासनका प्रधान आश्रय लिया, उसी प्रकार उणादि सूत्रोंके प्रवचनमें भी निश्चय ही किसी प्राचीन उणादिको मुख्य आधार बनाया होगा। जैनेन्द्र उणादि पाठके उपलब्ध न होनेसे वदपि हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि आचार्यने किस प्राचीन उणादि पाठको मुख्यता दी, पुनरपि हमारा अनुमान इस प्रकार है—

पाणिनीय शब्दानुशासनके मुख्य आधार हो सकानेके उणादि पाठ उपलब्ध होते हैं। एक है पञ्चपादी और दूसरा दशपादी। पञ्चपादी-पाठ भी रामायण महाभारत आदि ग्रन्थोंके समान अनेक शास्त्राओंमें विभक्त है। एक है औत्तर पाठ, दूसरा पश्चिमोत्तर, तीसरा दक्षिणात्य। उज्ज्वलदत्त तथा तदाश्रित भट्टोजिदीक्षित आदिकी वृत्तियाँ औत्तरपाठ पर हैं [उज्ज्वलदत्त वंगीय था, अतः इसे वाङ्ग पाठ भी कह सकते हैं]। श्वेत-वनवासी तथा नारायणकी वृत्ति दक्षिणात्य पाठ पर हैं। क्षीरस्वामी अपने क्षीरतरङ्गिणीमें पश्चिमोत्तर पाठको उद्धृत करता है [इसे काश्मीर पाठ कह सकते हैं]। दशपादी पाठ पञ्चपादीके सम्भवतः पश्चिमोत्तर पाठके आधार पर रचा गया है। पञ्चपादी पाठका भी मूल कोई त्रिपादी पाठ प्रतीत होता है। उणादिके ये सभी पाठ आचार्य पूज्यपादने प्राचीन हैं। अमरानन्दीने ११।७५ सूत्रकी वृत्तिमें एक जैनेन्द्र उणादि सूत्र उद्धृत किया है—“अस् सर्वधुभ्यः”।

पञ्चपादीका औत्तरपाठ—सर्वधातुभ्योऽसुन् । [उज्ज्वल० ४।१८८]

“ “ दक्षिणात्य पाठ—असुन् [श्वेत० ४।१६४]

“ “ पश्चिमोत्तर पाठ—असुन् [क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ९३ पं० १६९]

दशपादीका पाठ असुन् [१।४९]

इन सब सूत्रोंकी तुलनासे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र उणादि पाठका मुख्य उपजीव्य औत्तर पाठ है जिसमें जैनेन्द्रके ‘सर्वधुभ्यः’ समान ‘सर्वधातुभ्यः’ पद दिद्यमान है। अन्यपाठों में ‘सर्वधातुभ्यः’ पद है ही नहीं—

उणादि सूत्र व्याख्या—आचार्य देववन्दी कुत उणादि सूत्र व्याख्याका हमें कोई साक्षात् प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु जिस प्रकार आचार्यने अपने धातुपाठकी तथा लिङ्गानुशासनकी व्याख्या की उसी प्रकार उणादिकी व्याख्या भी अवश्य रची होगी।

१. महावृत्तिका सुद्रित पाठ है—‘अण्डः । जृकुसृजृकः’। यह अशुद्ध है। तुलना करो—‘अण्डन् कृसृमृजृकः’ [पञ्चपादी उ० १।११८ ॥ द० उ० ५।६ ॥] सूत्र से।

२. हमने इसका अनेक हस्तलेखोंके आधारपर सम्पादन किया है। सरस्वती भवन ग्रन्थमाला काशीसे [१६४२ में] यह प्रकाशित हुआ है।

३. हमने दशपादी-उणादिके उपोद्घातमें दोनों पाठों तथा इनकी वृत्तियोंका संक्षिप्त इतिहास १६४२ में लिखा था। उस समय पञ्चपादीके इतने विभिन्न पाठका बोध हमें नहीं था। उणादि सूत्र और उनकी व्याख्याओंका विस्तृत इतिहास हम अपने सं० व्या० शास्त्रका इतिहासके दूसरे भागमें लिखेंगे।

४. क्षीरतरङ्गिणीके सम्पादनके प्रारम्भमें हमें इसका ज्ञान नहीं था, अतः हमने वहाँ दशपादीके पते दिये हैं।

५. लिङ्गानुशासनकी व्याख्याका वर्णन आगे करेंगे।

लिङ्गानुशासन—आचार्य देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासनका कोई ग्रन्थ हमारी दृष्टिमें नहीं आया, परन्तु जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन था अवश्य । इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—वामन अपने लिङ्गानुशासनके अन्तमें प्राचीन आचार्य प्रोक्त लिङ्गानुशासनोंका निर्देश करता हुआ लिखता है—**व्याहृप्रणीतमथ चारुचं सचान्द्रं जैनेन्द्रं लक्षणगतं विविधं तथाऽन्यत् । लिङ्गस्य लक्षम्**..... ॥ ३० ॥ इसमें जैनेन्द्र लिङ्गानुशासनका उल्लेख स्पष्ट है ।

२—अभयनन्दी अपनी महावृत्ति १।४।१०८ में लिखता है—**गोमयकषायकार्पापयकृतपक्वाटशंखादि-पाठाश्चगमः कर्तव्याः । अर्थात् गोमय आदि ३३८ दिनमें अभयलिङ्गता देखी जाती है, उनका ज्ञान पाठसे कर लेना चाहिए ।**

यहाँ पाठसे अभिप्राय लिङ्गानुशासनका ही है, क्योंकि ‘पुंसि चार्धर्चाः’ [१।४।१०८] सूत्र पर पाणिनिके समान जैनेन्द्रमें कोई गण नहीं है । अतः इनका पाठ लिङ्गानुशासनमें ही सम्भव हो सकता है ।

३. आचार्य हेमचन्द्रने अपने लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें नन्दीके नामसे एक पाठ उद्धृत किया है—**“आमरं तु भवेच्छुद्धं चौद्रं तु कपिलं भवेत्”**—इति नन्दी । पृष्ठ० ८५ पंक्ति २५ ।

हमारे विचारमें यह पाठ देवनन्दीके लिङ्गानुशासनका है और पूर्वोद्धृत नियमके अनुसार यहाँ नन्दी शब्दसे देवनन्दीका ग्रहण है । दर्पवर्धनीय लिङ्गानुशासनके सम्पादक पं० वेङ्कट राम शर्माने अपनी निवेदनामें २३ प्राचीन लिङ्गानुशासनोंका उल्लेख किया है । उसमें संख्या १८ पर ‘नन्दिकृत लिङ्गानुशासन’ का निर्देश है । इससे भी हमारे विचारकी पुष्टि होती है कि आचार्य हेमचन्द्र द्वारा नन्दी-नामसे स्मृत आचार्य देवनन्दी ही है ।

लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था—हेमलिङ्गानुशासन विवरणमें उद्धृत पूर्व वचनसे प्रतीत होता है कि देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था ।

लिङ्गानुशासन-व्याख्या—आचार्य देवनन्दीने अपने लिङ्गानुशासनपर कोई व्याख्या भी लिखी थी । हेमचन्द्र अपने लिङ्ग विवरणमें लिखता है—**“नन्दिनः गुणवृत्तेस्त्वाधयतिङ्गता स्वादुरोदनः, स्वाङ्गी पेया, स्वाहु पयः ।**’ आचार्य हेमचन्द्रने यह पङ्क्ति अथवा अभिप्राय निश्चय ही जैनेन्द्रलिङ्गानुशासनकी व्याख्यासे लिया होगा ।

व्याकरणके अन्य ग्रन्थ

पूर्वलिखित धातुपाठ, गणापाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन इन ४ खिलोंके अतिरिक्त जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे संबन्ध रखनेवाले न्यूनातिन्यून तीन ग्रन्थ और थे । उनके नाम हैं—वार्तिकपाठ, परिभाषा पाठ, शिक्ता ।

वार्तिक-पाठ—अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे संबन्ध रखनेवाले बहुतसे वार्तिक व्याख्यात हैं । ये वार्तिक किसके हैं, यह अज्ञात है । इसी प्रकार महावृत्तिमें समस्त वार्तिक व्याख्यात हैं अथवा उसमें काशिकाके समान अधिक उपयोगी वार्तिकोंका ही सन्निवेश है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैनेन्द्र वार्तिक पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नहीं आया ।

वार्त्य भुतकीर्तिने अपनी पञ्चवस्तुप्रक्रियाके अन्तमें जैनेन्द्रशब्दानुशासनपर रचे गये किसी भाष्य ग्रन्थकी सूचना दी है । यह भाष्य इस समय अनुपलब्ध है । स्वयं आचार्य पृज्यपादने भी अपने शब्दानुशासनपर एक न्यास लिखा था, वह भी अप्राप्य है । अतः जैनेन्द्रसे संबद्ध वार्तिक पाठकी रचना किसने की यह अज्ञात है ।

वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं—महावृत्तिमें व्याख्यात वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं, क्योंकि उसमें स्थान-स्थानपर पातञ्जल महाभाष्यके समान वार्तिकोंका निराकरण करके सूत्र-द्वारा कार्यका

निर्वाह दर्शाया है। यथा—उदितकार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यं भवती, अतिभवती, दासिः । नैतद् वक्तव्यम् । पृष्ठ १५ । यदि वार्तिक अभयनन्दी विरचित होते तो यह स्वयं अर्थक वार्तिक रचकर उनका खण्डन न करता । इतना ही नहीं, अभयनन्दीसे पूर्ववर्ती विद्यानन्द जैनेन्द्र महावृत्ति १।४।३७ में पठित 'प्यस्वे का अक्तव्या' वार्तिकका अष्टसहस्री [पृष्ठ १३२] में 'प्यस्वे कर्मण्युपसंख्यानात्' इस रूपमें अर्थतः अनुवाद करता है। 'प्य, ख' ये जैनेन्द्रके परिभाषिक प्रयोग हैं।

अभयनन्दीकी वृत्तिमें वार्तिकोंके व्याख्यात होने तथा अष्टसहस्रीमें उद्धृत होनेसे इतना तो निश्चय है कि ये अभयनन्दीसे प्राचीन हैं। हमारा विचार है कि व्याकरण संबंधी अन्य ग्रन्थोंके समान वार्तिकपाठ भी आचार्यने स्वयं रचा होगा।

परिभाषा-पाठ—परिभाषाएँ व्याकरण शास्त्रका महत्त्वपूर्ण भाग हैं। परिभाषाएँ दो प्रकार की हैं। कुछ सूत्रकार द्वारा स्वयं सूत्रोंमें पठित होती हैं। यथा—इको गुणवृद्धी [अष्टा० १।१।३] इकस्तौ [जैनेन्द्र० १।१।१७]। कुछ सूत्रसे बहिर्भूत होती हुई भी सूत्रकार-द्वारा स्वीकृत होती हैं। पाणिनीय व्याकरणसे संबद्ध परिभाषाएँ व्याख्यित मानी जाती हैं। भाष्यकार पतञ्जलिने अनेक परिभाषाओंको सूत्रोंसे ज्ञापित किया है, अनेकको वे बिना ज्ञापकके प्रमाण मान लेते हैं। अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक परिभाषाएँ उद्धृत हैं। कतिपय परिभाषाओंके ज्ञापक भी लिखे हैं। इन परिभाषाओंका पाठ पाणिनीय परिभाषाओंके समान होते हुए भी स्वतन्त्रानुसार परिवर्तित है। जैनेन्द्र संबद्ध परिभाषाओंका प्रवक्ता कौन है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। परिभाषा पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया।

परिभाषाओंकी व्याख्या—इन जैनेन्द्र परिभाषाओंकी व्याख्या भी किसी प्राचीन ग्रन्थकारने की थी। अभयनन्दी १।१।६१ पर लिखता है—सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां वक्ष्यति। यहाँ 'वक्ष्यति' क्रियाका कर्ता कौन है, यह अज्ञात है। परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व किसीने परिभाषाओंकी व्याख्या रची थी। इस प्रकारका विचार परिभाषा वृत्तिमें ही सम्भव हो सकता है।

आचार्य हेमचन्द्रने अपने व्याकरणसे संबद्ध परिभाषाओंकी स्वयं ही रचना की और स्वयं ही उनकी व्याख्या की। इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादने भी स्वयं परिभाषा पाठ और उसकी व्याख्या लिखी हो यह सम्भव हो सकता है।

शिक्षा—अभयनन्दीने १।१।२ की वृत्तिमें लगभग ४० शिक्षासूत्र उद्धृत किये हैं। ये अधिकांशमें आपिशलि शिक्षासूत्रोंसे मिलते हैं^१। पुनरपि इनका प्रवचन जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रक्रियानुसार किया हुआ है, यह दोनोंकी तुलनासे स्पष्ट है। यद्यपि ये जैनेन्द्र सम्बन्धी शिक्षासूत्र किसके द्वारा प्रोक्त हैं, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, तथापि जैसे आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोपीने अपने-अपने शब्दानुशासनोंसे सम्बद्ध शिक्षासूत्रोंका प्रवचन किया। इसी प्रकार सम्भव है आचार्य देवनन्दीने इन शिक्षासूत्रोंका भी प्रवचन किया हो। इसका विशेष वर्णन हम 'शिक्षाका इतिहास' नामक ग्रन्थमें करेंगे [पाण्डुलिपि प्रायः तैयार हो चुकी है]।

१. देखो, श्री प्रेसीजीका 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' लेख, यही ग्रन्थ पृष्ठ २४।

२. सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ २०७।

३. देखो महावृत्ति पृष्ठ ४५५, ४५६। इस सूचीमें कुछ परिभाषाएँ रह गई हैं। यथा—पृष्ठ १२ पर उद्धृत—“अनुबन्धकृतमनेकालत्वं न” परिभाषा।

४. देखो हमारे द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित 'शिक्षा-सूत्राणि' [आपिशलि, पाणिनीय तथा चान्द्र]।

आचार्य पूज्यपादके अन्य ग्रन्थ

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने लेखमें आचार्य पूज्यपादके निम्न ग्रन्थोंका उल्लेख किया है—

उपलब्ध ग्रन्थ—१. सर्वार्थसिद्धि, २. समाधितन्त्र ३. हाटोपदेश, ४. दशभक्ति ।

अनुपलब्ध, परन्तु ज्ञात ग्रन्थ—१. शब्दावतार न्यास, २. जैनेन्द्र न्यास, ३. वैद्यक ग्रन्थ [नाम अज्ञात], ४. सार-संग्रह, ५. जैनाभिषेक ।

वैद्यक ग्रन्थके सम्बन्धमें नये प्रमाण—१. आचार्य पूज्यपाद रचित वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख श्री प्रेमीजीके लेखके पृष्ठ १९, टि० १ पर उद्धृत श्रवणवेगोलके ४० वें शिलालेखके चतुर्थ श्लोकके तृतीय चरणके 'स्वास्थ्यं यदीयम्' पदोंमें भी मिलता है ।

२. जैन आचार्य उग्रादिस्थ-विरचित कल्याणकान्त नामक ग्रन्थमें भी पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका निर्देश है ऐसा ज्ञात हुआ है [स्वयं नहीं देखा] ।

आचार्य पूज्यपादका नूतन परिज्ञात ग्रन्थ-छन्दःशास्त्र—आचार्यने छन्दःशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था, इसकी सूचना श्रवणवेगोलके ४० वें शिलालेखके चौथे श्लोकके तृतीय चरणके 'छन्दः' पदसे मिलती है । श्री प्रेमीजीसे इसका संकेत रह गया प्रतीत होता है । जैनेन्द्र छन्दःशास्त्रका विस्तृत वर्णन हम अपने 'छन्दःशास्त्रका इतिहास' में करेंगे । यह लिखा जा रहा है ।

इस प्रकार आचार्य पूज्यपादके व्याकरणातिरिक्त उपलब्ध और अनुपलब्ध ग्रन्थोंकी संख्या १० हो जाती है ।

हमारे विचारानुसार आचार्य विरचित जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी निम्न ग्रन्थ थे—

जैनेन्द्र सूत्रपाठ, जैनेन्द्रन्यास, धातुपाठमूल, धातुपारायण, गणपाठ, उग्रादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, लिङ्गानुशासन व्याख्या, चार्तिकपाठ, परिभाषापाठ और शिक्षासूत्र ।

सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठके अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थोंको ढूँढ़नेका प्रयत्न प्रयत्न होना चाहिए । ये ग्रन्थ निश्चय ही किन्हीं जैन ग्रन्थागारोंमें छिपे पड़े होंगे । उनका उद्धार परम आवश्यक है । धातुपाठ और गणपाठके हस्तलेखोंकी भी उपलब्ध करनेका प्रयत्न करना चाहिए । जिससे इनकी पाठशुद्धिमें सहायता मिले ।

जैनेन्द्रके व्याख्याग्रन्थ

जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर अनेक ग्रन्थ लिखे गये । उनमेंसे जैनेन्द्रन्यास, भाष्य, अभयनन्दीकी महावृत्ति, प्रभाचन्द्रका शब्दशमोजभास्कर न्यास, पञ्चवस्तु, लघुजैनेन्द्र और जैनेन्द्र प्रक्रिया नामक ग्रन्थोंका उल्लेख श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' नामक लेखमें किया है । इनमेंसे न्यास और भाष्य ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध हैं । उपलब्ध ग्रन्थोंमें अभयनन्दीकी वृत्ति ही सबसे प्राचीन है ।

अभयनन्दीसे प्राचीन अनेक वृत्तियाँ—अभयनन्दीने महावृत्तिके आरम्भमें एक श्लोक लिखा है—

यच्छब्दलक्षणमसुखजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।

तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥

अर्थात्—कठिनतासे पार पाने योग्य जिस शब्दलक्षणको दरिद्रोंने व्याख्या करनेमें स्पष्ट नहीं किया, उस सम्पूर्ण शब्दलक्षणको अभयनन्दी मुनि सबके हृदयोंको प्रिय लगनेवाले सुन्दर वाक्योंसे स्पष्ट करता है ।

उक्त श्लोकके पूर्वार्धसे स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व इस जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर ऐसी अनेक वृत्तियाँ बन चुकी थीं, जिनमें सूत्रोंकी पूर्ण स्पष्ट व्याख्या नहीं थी । ये व्याख्याएँ लघुवृत्तिके रूपमें थीं, वह 'दरिद्रैः' पदसे व्यक्त होता है ।

अभयनन्दीका काल—अभयनन्दीका काल विवादास्पद है । डाक्टर बेल्लेक्करने अपने 'सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर' में अभयनन्दीका काल सन् ७५० [वि० ८०७] माना है [पैराग्राफ ३०] । अभयनन्दीकी

महावृत्ति ३।२।५५ में मद्र अकलंक [जिनका काल ८०० विक्रम माना जाता है] के तत्त्वार्थवार्तिक का उल्लेख है। इससे यह वृत्ति उसके बाद की है, यह निश्चित है। हमने अपने सं० व्या० शास्त्रका इतिहास ग्रन्थमें अभयनन्दीका काल विक्रम संवत् १०००-१०५० के मध्यमें लिखा है [पृष्ठ ४२६]। अभी इस विषयमें अनुसंधानकी आवश्यकता है।

अभयनन्दीकी महावृत्ति—जैनेन्द्र व्याकरणके वाङ्मयमें महावृत्तिका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो पाणिनीय व्याकरणमें काशिका का है। यह महावृत्ति काशिकासे भी अधिक विस्तृत है। इसका ग्रन्थ परिमाण १२ सहस्र श्लोक है। ग्रन्थकारने अपनी वृत्तिके सम्बन्धमें पूर्वनिर्दिष्ट श्लोकमें जो लिखा है वह पूर्णतया सत्य है, उसमें यत्किञ्चित् अतिशयोक्ति नहीं है।

अभयनन्दीका पाण्डित्य—निश्चय ही अभयनन्दी व्याकरण शास्त्रमें परम निपुण थे। उनका व्याकरण विषयक-ज्ञान केवल जैनेन्द्र तक सीमित नहीं था, अपितु पाणिनीय व्याकरणमें भी उनकी अप्रत्यादत गति थी। यह इस वृत्तिके सूक्ष्म अध्ययनसे पदे-पदे स्पष्ट होता है। महावृत्तिमें कई स्थान उनके व्याकरण विषयक अभूतपूर्व पाण्डित्यका निदर्शन कराते हैं। यथा १।२।९६ सूत्रकी व्याख्यामें “प्रविनश्य” प्रयोगकी सिद्धिके सम्बन्धमें जो विचार किया है, वह हमें अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

महावृत्तिके उपजीव्य ग्रन्थ—यद्यपि अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिकी रचनामें निस्तन्देह जैनेन्द्र न्यास, प्राचीन लघु वृत्तियों, पातञ्जल मद्रभाष्य आदि सभी ग्रन्थोंसे सहायता ली है, तथापि सूत्र व्याख्या शैली और वाक्य विन्यासमें काशिकावृत्तिका प्रभाव अधिक प्रतीत होता है।

पतञ्जलिके पञ्चिहोपर—[क] पतञ्जलिने जिस प्रकार पाणिनि और कात्यायनके प्रति सम्मानकी भावना रखते हुए उनके सूत्र तथा वार्तिककी सूक्ष्म विवेचना करते समय पाणिनि और कात्यायनके गौरवसे प्रभावित हुए बिना अपना निर्णय प्रकट किया है, उसी प्रकार अभयनन्दी मुनिने भी अनेक स्थलों पर जैनेन्द्र वार्तिकोंका निष्प्रयोजनत्व दर्शाया है। यथा—पृष्ठ १५ पर “उगित् कार्यम्” तथा पृष्ठ २६ पर “दाणश्च सा” वार्तिक का।

[ख] जैसे पतञ्जलिने पाणिनीय सूत्रोंसे साक्षात् असिद्ध प्रयोगोंका साधुत्व दर्शानेके लिए योगविभाग रूपी कौशल दिखाया है। उसी प्रकार अभयनन्दीने भी योगविभाग-द्वारा अनेक पदोंका साधुत्व दर्शानेका प्रयत्न बहुत स्थानोंपर किया है।

महावृत्तिकी एक महती विशेषता—महावृत्तिकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पाणिनि पतञ्जलि चन्द्र तथा पूज्यपाद द्वारा असंगृहीत प्राचीन व्याकरण-नियमोंका यत्र तत्र संग्रह उपलब्ध होता है। यथा [१।२।१]—

‘भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते। इको यचिमर्त्यवधानमनेकेषामिति संग्रहः।’

अर्थात्—‘भूवादयो धुः’ [१।२।१] सूत्रमें ‘भू+आदयो’ के मध्यमें वकारका निर्देश व्याकरणका लक्षण बतलानेके लिए रखा गया है। अनेक आचार्योंके मतमें ‘इक्’ से परे यणका व्यवधान होता है”, इस लक्षणका संग्रह वकारसे दर्शाया है।

१. कलकत्ताके श्री पं० क्षितीशचन्द्र जी चट्टोपाध्यायने ‘टेक्निकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर’ [पृष्ठ ७१] में इस कारिका तथा महावृत्तिमें आगे व्याख्यात दो चरणोंका पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—“भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते। व्यवधानमिको यचिमर्त्यवधानमनेकेषामिति संग्रहः ॥ भूवो वायं वदन्तीति वदेरीणादिके इति। भूवादय इति ज्ञेया भूवोऽर्था वादयोऽथवा।”

२. इस सन्धि तथा इससे पदसिद्धि-प्रक्रियापर पढ़नेवाले प्रभावके लिए हमारा सं० व्या० शा० का इतिहास, पृष्ठ २१-२४ विशेष रूपसे देखना चाहिए।

हमारी दृष्टिमें अभीतक सबसे प्राचीन यही ग्रन्थ है, जिसमें यण्डव्यवधान-सन्धि का साक्षात् उल्लेख किया है।^१ आगे वृत्तिकारने महाभाष्योक्त वकारके मंगलार्थत्वका खण्डन किया है। हमारे विचारमें 'मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' लेखमें पतञ्जलिकृत 'मंगल' का वह भाव नहीं है जो जनसाधारणमें प्रसिद्ध है। अपितु यहाँपर अध्येता छात्रोंका मंगल अभिप्रेत है। इसकी व्याख्यामें स्पष्ट कहा है—अध्येतारश्च मंगलार्थं यथा स्युः। अध्येताओंका मंगल लक्षण ज्ञानसे ही सम्भव है।^२

महावृत्ति मध्यमध्यमें शुद्धित—यद्यपि महावृत्तिका यह संस्करण पाँच हस्तलेखोंके आधार रूपा है, परन्तु इसमें अनेक स्थलोंपर कई-कई सूत्रोंकी व्याख्या खण्डित है। देखो पृष्ठ २८८, ३१७, ३५८। इससे स्पष्ट है कि ये पाँचों हस्तलेख किसी एक ही मूल प्रतिका प्रतिलिपिर्ण हैं। अतः इसकी पूर्तिके लिए अन्य हस्तलेख प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

जैनेन्द्र व्याकरण तथा महावृत्तिका मुद्रण

आजसे ४६ वर्ष पूर्व काशीकी लाजरात कम्पनीकी ओरसे सन् १९१० में महावृत्ति सहित जैनेन्द्र व्याकरणका मुद्रण आरम्भ हुआ था। इसके सम्पादक थे, विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी। इसका मुद्रण तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके ६०वें सूत्र तक ही होकर रह गया। तब से वह परमोपयोगी ग्रन्थ अधूरा ही रहा। यह परम सौभाग्यका विषय है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशमें लानेका महान् प्रयत्न किया। उसीका यह फल है कि ४६ वर्षके अनन्तर यह ग्रन्थ पूरा छपकर प्रकाशमें आया है। इसके लिए उक्त संस्था अत्यन्त धन्यवादी पात्र है। इस संस्थाने इसी प्रकारके अनेक दुर्लभ ग्रन्थोंका प्रकाशन करके समस्त भारतीयों, विशेषकर जैनमतानुयायियोंका महान् उपकार किया है। हमारी यही कामना है कि यह संस्था भविष्यमें भी इसी प्रकार अपना कार्य करनेमें समर्थ हो, दिन दूनी रात चौगुनी फले फूले।

महावृत्तिका नूतन संस्करण—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित महावृत्तिका यह संस्करण निस्सन्देह महान् परिश्रमका फल है। इसके सम्पादनमें ५ हस्तलेखोंसे सहायता ली गई है। इतना प्रयत्न करनेपर भी इसके सम्पादनमें कुछ कठिनाईयें रह गई हैं। उनकी ओर भी संकेत कर देना हम उचित समझते हैं, जिससे आगामी संस्करणमें उसका परिमार्जन हो सके।

क—अनेक स्थानोंपर उद्धृत जैनेन्द्र सूत्रोंके पते देने रह गये हैं। यथा—पृष्ठ ११ पं० २—जेरिति दीखम्—'जेः' ४।३।२३४ का सूत्र है, यही पृष्ठ पं० १३—शास इत्येवमादिषु—'शास' यह ४।४।३३ का प्रतीक है।

ख—वृत्तिमें उद्धृत उद्धरणोंके पते देने रह गये। यथा—पृष्ठ २४ पङ्क्ति २६—'एति जीवन्तमानन्दः'। यह रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ३४ श्लोक ६ का तृतीय चरण है। पृष्ठ ११६ पं० ६ पर निर्दिष्ट 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुद्वयेः' कारिका महाभाष्य ३।३।१ की है। इसी प्रकार १।२।१२१ सूत्रपर उद्धृत कारिकाएँ भी महाभाष्य की हैं।

ग—कई स्थानोंपर कुछ अधिक सावधानता बर्ती जाती तो अनेक पाठ ठीक हो सकते थे। यथा—पृष्ठ ११६ पं० ३ पर मुद्रित 'अण्डः। जृहुसृहुडः' पाठ 'अण्डो जृहुसृहुडः' चाहिए। पृष्ठ ८ पं० ५-६—'कृतः। कृतवान्। भूतवर्तमाने'.....'। यहाँ 'कृतः। कृतवान्। "तः" [२।२।८५] भूत इति वर्तमाने.....'

१. यद्यपि शाकटायन लघुवृत्ति [पृष्ठ २३] में यह नियम उल्लिखित है। उसका काल अनिश्चित है। अमोघवृत्तिमें इसका उल्लेख है या नहीं यह हमें ज्ञान नहीं।

२. महाभाष्यकी पंक्तिका यह अभिप्राय हमें महावृत्तिके प्रकाशमें ही समझमें आया।

पाठ चाहिए। 'भूत इति वर्तमाने' आदि पदों द्वारा जिस सूत्रकी वृत्ति लिखी है वह, 'तः' [२।२।८५] सूत्र यहाँ भ्रुष्ट है।

घ - अनेक स्थानोंपर वृत्तिमें उद्धृत जैनेन्द्र सूत्र तथा परिभाषा आदिको भिन्न टाइपमें करना रह गया है।

ङ—कहीं-कहीं सम्पादकीय टिप्पणियोंमें भी भूल प्रतीत होती है। यथा—पृष्ठ १६ पं० १६ पर [४ अन्यथा अनिदित इति उक्तः स्वस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पर टिप्पणी है—४. कोष्ठ स्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति। "अलुङः—क्लित्यनिदितः" इत्यस्यान्नाप्रवृत्तेः । प्रतीत होता है यह पङ्क्ति पाणिनीय व्याकरणकी प्रक्रियाकी अन्तिसे लिखी गई है। 'इन्स्' इस अवस्थामें 'त' के परे रहने पर 'मये तदादि गुः' [जै० १।२।१०२] सूत्रसे 'इन् स्' की 'गु' [पाणिनीय-अंग] संज्ञा है। जैनेन्द्र प्रक्रियानुसार २।१।३८ सूत्रसे 'सि' प्रत्यय होता है, उसका इकार इत् है। गुके इदिन् होनेसे 'हलुङः क्लित्यनिदितः' [४।४।२३] सूत्रकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसकी प्रवृत्ति न होनेसे उङ् [= उपधा] के 'न्' का लोप नहीं हो सकता। अतः कोष्ठान्तगत पङ्क्ति सर्वथा शुद्ध है।

इन सब कमियोंने रहने पर भी जो संस्करण प्रकाशित हुआ है, वह निस्सन्देह महान् प्रयत्नका फल है। प्रथमवार इतना सुन्दर संस्करण प्रकाशित हो गया, यह महान् संतोषकी बात है।

ग्रन्थके सम्पादनमें कितना परिश्रम पड़ता है, यह भी भुक्तभोगी ही जान सकता है। हाँ, ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेका लक्ष्य तथा उसके लिए सर्वविध प्रबल सम्पादकका अवश्य होना चाहिए। तत्पश्चात् जो कार्य हो जाय उससे सन्तुष्ट रहते हुए अगले संस्करणको सर्वात्मना ध्येय बनानेका प्रयत्न होना चाहिए।

आचार्यदेवनन्दिप्रणीतम् जैनेन्द्र-व्याकरणम्

अभयनन्दाचार्यकृतमहावृत्तिसहितम्

देवदेवं जिनं नत्वा सर्वसत्त्वामयप्रदम् ।

शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विरच्यते ॥ १ ॥

यच्च देवदेवतासु सुवक्त्राणां यच्चैरव्यक्तमप्युक्तमपि धर्मविधेः सांख्येः ।

तत् सर्वलोकहृदयप्रियचास्वाभ्यैर्व्यक्तीकरोत्वभयनन्दिसुनिः समस्तम् ॥ २ ॥

शिष्टाचारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमिदमाहाचार्यः—

लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते ।

देवनन्दितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयम्भुवे ॥

लक्ष्मीः श्रीः । सैव विशिष्यते—अन्तर्मतिकान्तः कालोऽत्यन्तः तत्र भवा आत्यन्तिकी अविनश्वरी आत्मस्वभावाधीना केवलज्ञानादिविभूतिरित्यर्थः । अवद्याद् गह्वान्निष्क्रान्ता निरवद्या निर्दोषा, अवभासते शोभते, यस्य भगवतः, यस्येति सर्वनामपदस्य सामान्यवाचित्वेऽपि अन्यस्यैवविधा श्रीर्न सम्भवतीति पारिशेष्यादर्हद्व्यङ्ग्यस्य ग्रहणम् । यच्छब्दाभिहितोऽर्थस्तच्छब्देन परामृश्यत इति तस्मै देवनन्दितपूजेशे स्वयम्भुवे नमः । 'अस्तु' इत्यध्याहारः, देवाः सुराः तैर्नन्दिता अभिवर्द्धिता सा चासौ पूजा च तस्याः, 'ईष्ट' इति क्विपि कृते देवनन्दितपूजेद्, तथा स्वयमात्मना भवतीति स्वयम्भूः । नमःशब्दयोगे सर्वत्र हेर्भवति ।

लोके प्रसिद्धसाधुत्वानां शब्दानामन्वाख्यानार्थमिदमारभ्यते । अन्वाख्यानञ्च प्रकृत्यादिविभागेन सामान्यविशेषवता लक्षणेन शब्दानां व्युत्पादनम् । तच्च शब्दार्थसम्बन्धमन्तरेण न सम्भवति । शब्दार्थसम्बन्धसिद्धिश्चानेकान्ताधीनेत्यत आह—

सिद्धिरनेकान्तात् ॥ १.१.१॥ प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा ओत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिः अनेकान्ताद्भवतीत्यर्थाधिकार आ शास्त्रपरिसमाप्तैर्वेदितव्यः । अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः । तस्यावग्रहेहावायधारणात्मकं प्रत्यक्षं तद्व्यवहारान्यथानुपपत्तेरितीदमनुमानञ्च साधकम् । अथास्तित्वनास्तित्वादीनां परस्परविरुद्धानां कथमैकाधिकरण्यमसङ्कीर्णरूपता च ? यथा भवतामेकत्र हेतौ अन्वयव्यतिरेकयोः जनके रसे वा जन्यमानरूपरसापेक्षयोः सहकारित्वासहकारित्वयोः । अथ हेतौ सपक्षविपक्षपेक्षया रूपद्वयं रसे च समागासमागकार्यापेक्षया; अत्रापि तर्हि स्वरूपपररूपापेक्षयाऽस्तित्वनास्तित्वे द्रव्यपर्यायापेक्षया च नित्यत्वानित्यत्वे, द्रव्यपर्याययोश्चान्वयव्यतिरेकस्यां सिद्धिरित्यास्तां तावदेतत् । अनेकान्तादितीदमेव शापकम्, हेतौ कापि भवति । तैरानित्यः शब्दः कृतवत्त्वादित्यादि सिद्धम् ।

१. दुस्तरम् । २. तस्मै नमः इति शेषः । ३. सम्बन्धान्तरेण अ०, मु० । ४. 'प्रकृत्यादिविभागेन' इति पुनरुक्तः । ५. —मैक्याधि—मु० । ६. जनकयोरपि मु० । ७. च भासा—अ० । ८. पञ्चम्यपि ।

उत्तरत्र त्वेकदेशाद्व्यवायोऽधिकार इति । वक्ष्यति—“संस्थानक्रियं स्वम् [१।१।२] इति । एतच्च वस्तुना साधर्म्य-
वैधर्म्यात्मकेऽनेकान्ते सत्युपपद्यते । तथा हि अकाराकारयोः ह्रस्वदीर्घकालभेदेन वैधर्म्येऽपि तुल्यस्थानकरणत्वेन
साधर्म्यमस्तीति स्वसञ्ज्ञाव्यवहारः सिध्यति । यदि हि साधर्म्यमेव स्यात्; तदास्तित्वेनेवान्यैरपि धर्मैः
साधर्म्यं सर्वमेकं प्रसज्येत । यदि च वैधर्म्यमेव; तदा कस्यचिदस्तित्वमपरस्य नास्तित्वमन्यस्य चान्यत् स्यात् ।
“अधु सृष्ट्” [१।१।५] इति अन्यव्यतिरेकाभ्यामर्थवच्छब्दरूपं मृत्सञ्ज्ञकमनेकान्तात् सिध्यति । तथा हि—
विभक्त्यन्तस्य च शब्दस्य प्रयोगादर्थे ज्ञानमुत्पद्यत इति सङ्ख्याता अर्थवन्तो दृष्टाः; तदवयवानामप्यन्यव्यतिरेका-
भ्यामर्थवन्ता जायते । वृद्धावित्यत्र, विसर्जनीयाभावादेकत्वार्थो निवृत्तः, औकारभावाद् द्वित्वं जातम् । अका-
रान्तवृद्धशब्दान्वयाज्जातिरन्वयिनी प्रतीयते । अन्यव्यतिरेकौ च भावाद्येकान्तवादे न सः । तथा “व्यपाये
ध्रुवमपादानम्” [१।२।११०] इत्यादिपङ्क्तारकी नित्यक्षणाकपक्षयोर्नोपपद्यते व्यपायध्रौव्यायभावात् । उक्तं च—

“इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो

व्ययोयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम ।

अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतदेशकालाविमा-

विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥”

संस्थानक्रियं स्वम् ॥ १।१।२ ॥ स्थानं ताल्वादि, क्रिया सृष्टतादिका । समाना स्थाने क्रिया यस्य,
सामर्थ्यात् स्थानमपि समानं लभ्यते । अथवा एतत् स्थानक्रियं करणं स्यादन्त्येति योऽन्विभावाद् सन्देशः,
तत् संस्थानक्रियं स्वसंज्ञं भवति । आत्मलाभमापद्यमाना वर्णास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं वर्णोत्पत्तिस्थानमित्यर्थः ।
तदष्टविधम्—

“अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥” इति ।

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुरन्तरः परिस्पन्दः क्रिया । सा चतुर्विधा—सृष्टता ईषत्सृष्टता विवृतता
ईषद्विवृतता चेति । ध्वनावुत्पद्यमाने यथा स्थानानि सृष्टति सा सृष्टता । मनाक् स्पर्शं ईषत्सृष्टता । दूरेण स्पर्शो
विवृतता । समीपेण स्पर्शं ईषद्विवृतता । कस्य पुनः किं स्थानम् ? अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः । हविसर्जनीया-
वुरस्यावेकेषाम् । जिह्वामूलीयो जिह्वयः । सर्वमुखस्थानमवर्णमेके मन्यन्ते । इशयन्वेदैतस्तालव्याः । एदैतौ
कण्ठतालव्यावेकेषाम् । उप्वोदैदुपध्मानीया ओष्ठ्याः । ओदैतौ कण्ठोष्ठ्यावेकेषाम् । वकारो
दन्तोष्ठ्यः । सृक् स्थानमेके आच्छन्ति । ऋदुरवा गूर्धन्याः । रेफो दन्तमूल्य एकेषाम् । लृतुलसा दन्त्याः ।
नासिकयोऽनुस्वारः । जमकणनाः स्वस्थानाः । नासिकास्थाना एकेषाम् । तेषां स्वसञ्ज्ञाप्राप्तिर्दोषः । सृष्टिः
सृष्टं सृष्टानुगतं करणं कृतिसञ्चारणमेवमिति सृष्टकरणं वर्णाः । ईषत्सृष्टकरणं अन्तःस्थाः । ईषद्विवृतकरणं
ऊष्माणः । विवृतकरणाः स्तराः । तैभ्य एदोलौ विवृततरौ । तेन दध्येतत् मध्वोदनामिति स्वेऽको दीत्वाभावः ।
ताभ्यामैदोलौ विवृततरौ । तेन दिश्यैन्द्रया मध्वौषधम् । ताभ्यामवर्ण इति । तेन पित्रर्थः, दध्यन्न, मध्वन्न । अन्ये
संवृतमकारमिच्छन्ति लोके । शास्त्रव्यवहारे तु विवृतम् । एतच्चायुक्तम्, लोकशास्त्रयोरुच्चारणं प्रत्यविशेषात् ।
अयं च प्रपञ्चश्चिन्तनीयः । स्वरेभ्यो विवृततराः आवर्णैच इति । इत्यपि निर्देशो न दोषं पश्यामः । अ अ अ इत्य-
कार उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितः । स प्रत्येकं ङसञ्ज्ञकोऽङ्संज्ञकः । एवं दीः, एवं पः । एवमष्टादशप्रभेदोऽवर्णः
तथा हवर्णः, तथा उवर्णः, तथा ऋवर्णः, तथा लृवर्णः । कथं लृकारो द्विमात्रः ? अशक्तिज्ञानुकरणापेक्षया ।
सन्ध्यन्तराणां प्रा न सन्ति, तान्यतो द्वादशप्रभेदानि । अन्तःस्था यवला द्विप्रभेदाः नासिक्येतरभेदात् । एवमर्थः^{१२}

१. उत्तरसूत्रैक-ब० । उत्तरसूत्रैकदेशाध्यायायो-मु० । २. अनुवृत्तिरित्यर्थः । ३. -वकारण-अ०, स०,
४. -न्यत् । अधु व०, मु० । ५. च भावावेकान्त-मु० । ६. प्रतिषु ‘द्विषन्’ इति पाठः । ७. पा० जि० १३।
म. पाणिनीयानाम् । ८. ओष्ठग्रन्थयोः सूक्तम् । ९. आवर्णैच ब०, स०, मु० । ११. -कः, एवं प्रः, एवं दीः,
अ०, व०, स० । १२. -अत्र चै-अ० ।

इत्यत्रान्तग्रहणादन्यत्र “संज्ञाविधौ त्यग्रहणात्तदन्तविधिर्नास्ति” [परि०] इत्युक्तं तत्कथं कृदन्तहृदन्तग्रहणम् ? नायं संज्ञाविधिः । पूर्वेण विद्विताया मूलसंज्ञाया नियमोऽयम् । अथवा “सात्” [५।४।७७] इति क्त्वप्रतिषेधादिह तदन्तविधिर्ज्ञायते । अन्यथा सादित्येतस्य केवलस्य मृत्वे “वाचन्ते” [५।४।७६] इत्यनेनैव प्रतिषेधः सिद्धः स्यात् । अथ “कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [परि०] इति कृद्ग्रहणं समुदायविध्यर्थं न नियमार्थम् । तेन देवदत्तेन कृतमित्यादेः समुदायस्य मृत्वात् “सुपो ध्रुवदोः” [१।४।१४२] इति सुपः उप्र प्रसज्येत । नैष शेषः, “साधनं कृत्वा बहुलम्” [१।३।२६] इत्यस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । सर्वशब्दानां व्युत्पत्तिरस्तीत्यस्मिन् पक्षे, पूर्वसूत्रे नास्त्युदाहरणं, संज्ञार्थमेव तत् ।

प्रो नपि ॥ १।१।७॥ मृदिति वर्तमानमर्थात्तान्त्वं सम्पद्यते । प्रादेशो भवति नपि वर्तमानस्य मृदः । नविति नपुंसकलिङ्गस्य संज्ञा पूर्वेषाम् । श्रियमतिक्रान्तमतिश्रि । अतिरि । अतिवधु कुलम् । अतिनु जलम् । ईकारैकारौ तालव्यौ । ऊकारौकारौ च ओष्ठधात्वस्माकम्, ततः “स्थानेऽन्तरवमः” [१।१।४७] इति परिभाषया अन्त्यस्याचः प्रादेशः । नपीति फिम ? राजकुमारी । अग्रणीः । मृद इति किम् ? रमने कुलम् । नन्वलिङ्गत्वादाख्यातस्यात्र प्रादेशाप्राप्तिरत एवात्रापि न प्रादेशः कण्ठीभूतमिति । इह तर्हि मा भूत् । फाएडे तिष्ठतः, कुड्ये तिष्ठत इति । अत्र मृदधिकाराद् मृदभृदोरेकादेशो मृदन्न भवति ।

स्त्रीगोर्नीचः ॥ १।१।८॥ न्यग्रभूतो यः स्त्रीचः गोशब्दश्च तदन्तस्य मृदः प्रादेशो भवति । स्त्री इति स्वरितचिह्नितनिर्देशात् स्त्रियामित्येवंचिहितस्य त्यस्य ग्रहणम् । निष्कौशाश्विः । निर्मधुरः । उभयगतिरिह शास्त्रे । तेन एकविभक्तित्वादप्रधानत्वाच्च शास्त्रीवं लौकिकं च न्यक्त्वं गृह्यते । “त्यग्रहणे यस्मात्स तद्देशः” इतीयं परिभाषा स्त्रीत्यग्रहणान्नेष्यते । तेन—अतितिलपीडनिः । अतिराजकुमारिः । चित्रगुः । रक्तेगुः । वौक्त्वादप्रधानत्वाच्च न्यक्त्वम् । स्त्री इति स्वरितचिह्नितग्रहणं किम् ? अतिलक्ष्मीः । अतिश्रीः । नीच इति किम् ? साधुविद्या । सुगौः । इह राजकुमारीपुत्रः सुमोकुलमिति यदपेक्षं न्यक्त्वं तद्वति तदन्तत्वं नास्तीति न प्रादेशः । मृद इत्यधिकारः किमर्थः ? कुमारीपुत्रः गोकुलम् “वोक्तं न्यक्” [१।३।६३] इति प्रादेशः प्रसज्येत । “ईयसो वसे प्रतिषेधो वक्तव्यः” (वा०) ब्रह्मणः श्रेयस्यो वस्य बहुश्रेयसी पुरुषः । विद्यमानश्रेयसी । सान्तो विधिरनित्य इति “कन्मोः” [४।२।१५३] इति कश्चिपि न भवति ।

हृदुप्युप् ॥ १।१।९॥ स्त्रीग्रहणं नीच इति चानुवर्तते । हृदुपि सति स्त्रीत्यस्य नीच उच्यते । आमलकम् । कुवलम् । वदस् । आमलक्या अवयवः फलम् । “नित्यं दुश्चरादेः” [३।३।१०६] इति मयट् । इतराभ्यां “प्राग् गोरेण्” [३।१।६८] तयोः “उप् फले” [३।३।१२१] इत्युप् । स्त्रीत्यस्य पूर्वेण प्रादेशो प्राप्ते उचनेन क्रियते । तस्य “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद् “यस्य ह्या च” [४।४।१३६] इत्यकारस्य खं प्राप्तमीविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्न भवति । एवं पञ्चेन्द्रः । पञ्चशङ्कुलः । पञ्चेन्द्रायो देवता अस्य “हृदयं—” [१।३।४६] इति घसः “संख्यादी रश्च” [१।३।४७] इति रसंज्ञः, “प्राग्गोरेण्” [३।१।६८] इति, तस्य “रस्योवनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । स्त्रीत्यस्योपि “सन्नियोगशिष्टानामभ्यन्तरापाये उभयोरप्यभावः” [परि०] इत्यानुको निवृत्तिः । पञ्चमिः शङ्कुलीभिः क्रीतः आर्हाड्यः “रादुबलौ” [३।४।२६] इत्युप् । हृदिति किम् ? गार्गीपुत्रः । सुप उच्यते । उपीति किम् । गार्गी त्वम् । नीच इत्येव—अवन्ती । कुन्ती । कुरुः । अवन्तेरपत्यं स्त्री “द्विकुलजादकोशलाज्ज्यः” [३।१।१५३] इति ज्यः । तस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इत्युप् । “हृत्तो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति डी । “ऊस्तः” [३।१।५६] इति ऊः । अत्र उपि सतीत्युच्यमाने प्रसज्येत ।

इद् गोण्याः ॥ १।१।१०॥ इकारादेशो भवति गोण्या हृदुपि सति । पञ्चमिर्गोणीभिः क्रीतः पञ्चगोणिः । दशगोणिः । आर्हाड्यो “रादुबलौ” [३।४।२६] इत्युपि कृते स्त्रीत्यस्य पूर्वेणोपि प्राप्तं ज्ञेन इकारः । गोण्या इति सूत्रे प्रकृतप्रादेशेन सिद्धे इदञ्चनं किम् ? क्वचिदन्यत्रापि यथा स्यात् । पञ्चमिः सूचिभिः क्रीतः पञ्चसूचिः । सप्तसूचिः ।

आकालोऽच् प्र-दी-पः ॥११११२॥ आ इति मात्रिकद्विमात्रिकनिमात्राणां संहितया निर्देशः । प्र-दी-प इति “सूत्रेऽस्मिन् सुबिधिरिष्टः” [५।२।११४] इति जसः स्थाने सुः । अ आ आइत्येवं काल इव कालो यस्य सोऽच् यथासंख्यं प्र दी प इत्येवंसंज्ञो भवति । अकालः—दधि । मधु । पितृ । आकालः—खट्वा । गौरी । वामीरुः । आ २ कालः—आगच्छ भो माणव जिनदत्ता ३ इत्यादयः । कालग्रहणं प्रत्येकं परिमाणार्थम् । ततः अकाल इति विशेषणाद् भिन्नकालयोर्दीपयोर्ग्रहणं न भवति । अजग्रहणं किमर्थम् ? हलचा संघातनिवृत्त्यर्थम् । प्रतक्ष्य । तितउच्छ्रमिति । प्र-दी-पप्रदेशाः “प्रो नपि [१।१।७] इत्येवमादयः ।

अचश्च ॥११११२॥ परिमाणेषु । अचः स्थाने ते प्र-दी पसंज्ञका भवन्ति । “प्रो नपि” [१।१।७] इति । अतिनु । अतिथि । हच्छातो विशेषणविशेष्यभाव इति अजन्तस्य प्रादेशः । अच इति किम् ? सुवाक् पूत-कुलम् । इतः प्रो न भवति । “दीरुदूरो” [५।२।१३४] इति । चीयते । शून्यते । अच इति किम् ? मिथ्यते । “शमित्यामदोदीः” [५।२।७२] इत्यत्र गृह्यमाणेन शमादिनाञ्च विशिष्यते इत्यनजन्तस्यापि दीत्वम् । शाम्यति । वाक्यटेः प इत्यत्रापि गृह्यमाणेन टिना अविशिशिष्यते । आगच्छ भो माणव जिनदत्ता ३ । अच इति किम् ? धर्मवीरत् । तकारस्य मा भूत् । चकारः किमर्थः ? संज्ञाविधौ नियमार्थः । इह मा भूत् । द्यौः । पन्थाः । सः । द्युभ्याम् । द्युभिः ।

उच्चनीचानुदात्तानुदात्तौ ॥११११३॥ अजिति वर्तते । उच्चैरुपलभ्यमानोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति । नीचैरुपलभ्यमानोऽनुदात्तसंज्ञो भवति । स्थानकृतमुच्चत्वं नीचत्वं च गुणः संज्ञिनो विशेषणम् । समान एव स्थाने ऊर्ध्व-मार्गनिष्पन्नोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति, नीचमार्गनिष्पन्नोऽनुदात्त इति । “नित्याः शब्दार्थसंबन्धाः” इति यैरिष्यते तेषां निरवयवस्य नित्यस्य शब्दस्य अवयवोपचयापचयाभावात् उदात्तादिव्यपदेशो न घटते, सावयवत्वे च तेषामनित्यत्वं प्राप्नोति । न च नित्यस्य स्थानकरणव्यापारविशेषाद्विशेषः प्रसज्यते । क्षणिकपक्षेऽपि नैका नित्यास्वरजातिरस्ति यामपेक्षयायमत्रोच्चैर्यं नीचैरिति परस्परपेक्षो व्यवहारो भवेत् । तस्मादुक्तमनेकान्तमाश्रित्योदात्तादयः समर्थनीयाः । न च लोकप्रतीतेषु शब्देषु विभागेनोदात्तादयः प्रतीयन्ते केवलं शास्त्रे व्यवहारार्थं प्रति संज्ञायन्ते । भू इति उदात्तत्वादिद् । भविता । एध स्पर्ध इत्येतयोरेन्नोऽनुदात्त इति “हनुदात्ते तो दः” [१।२।६] इति दो भवति । एधत्वे । स्पर्धत्वे । उदात्तानुदात्तप्रदेशेषु उच्चनीचगुणविशिष्यस्य ग्रहणं प्रत्येतज्यम् ।

व्यामिश्रः स्वरितः ॥११११४॥ उच्चनीचगुणव्यामिश्रोऽच् स्वरितसंज्ञो भवति । पच यज इत्यन्तस्य स्वरितत्वात् “अस्वरितेतः कर्त्रप्ये फले” [१।२।६८] इति दो भवति । पचे । यजे । स्वरितप्रदेशाः “स्वरितेनाधिकारः” [१।२।५] इत्येवमादयः ।

आदैर्गैप् ॥११११५॥ प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिराश्रीवते । प्रत्येकमादैर्चां वर्णानामैविल्लेषा संज्ञा भवति । पौरिशेष्यालंज्ञासंज्ञिसम्बन्धो ज्ञायते । तथा हि नानर्थकमिदमाचार्यप्रामाण्यात् । ‘साधनानुशासनमपि न भवति, आदैर्चां प्रत्याहारे उपदेशात् । ऐप्शब्दस्यापि मूलंज्ञा सिद्धा । नापि पूर्वोपरप्रयोगनियमार्थम् । “सावैस्मे” [५।१।७७] इत्यन्यथापि प्रयोगदर्शनात् । स्थान्यादेशार्थमपि न संभवति । “अवधात् [अवधवाहोः]” [५।२।१६] “रायो हलि” [५।१।१४४] “नाचो” रात्” [४।२।१०२] “मृजेरप्” [५।२।१] इति च उभयदर्शनात् । लिङ्गा-माधाक्तगमात्मभावः । विशेषणविशेष्यभावोऽपि प्रतीतपदार्थोर्भवति नीलोत्पलवत् । एवमन्यस्यार्थस्यासम्भवान् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः । लघ्वक्ष्ण संज्ञा । आदैर्चामैषा तद्भाविता नामतद्भावितानां च सामान्येनैसंज्ञा । तद्भावितानामु-

१. हलामचौ च संघातस्य प्र-दी-पसंज्ञानिवृत्त्यर्थः । २. ‘अ’ इत्यस्य हलसमुदायस्य ‘प्र’ संज्ञार्था-
त्यपि परतस्तुक् प्रसज्येत । ३. तितउच्छ्रमिति ‘अउ’ इति अ-उसंघातस्य दीर्घंज्ञायां ‘वा पवस्य’
[४।३।६४] इति विभाषया तुक् प्रसज्येत । ४. विशेष्यते अ०, ब०, स० । ५. पश्चिष्ठा—अ० ।
६. साध्वनुशास—स० । ७. ‘नाचो रात्’ अ०, ब०, स० । एतच्च नोपलभ्यते । ‘नाचो रात्’ इत्युपलभ्यते
पवन्तु नोचितमिदमत्र । ग्रन्थस्वरस्यात् - ‘अतो नादेर्वेः’ [५।१।८३] इति प्रतिभाति ।

दाहरणम्—नाडापनः । देवदत्तिः । औष्ण्यः । अतद्भावितानाम्—मालामयम् । रैमयम् । नौमयम् । विका-
राऽर्थे “नित्यं दुःशरादेः” [१।३।१०३] इति मयच् । आदिति तपरकरणमैजर्थम् । तादृषि परस्तापर इति ।
तेन तत्रैवा महौषधिरित्यादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । “आदैर्गैप्” [१।१।१५] इत्यत्र “सूत्रेऽस्मिन्
सुबिधिरिति” इति जसः स्थाने सुः । ऐप्रदेशाः “मृजेरैप्” [५।२।१] इत्येवमादयः ।

अदेङ्गैप् ॥ १।१।१६ ॥ अदेङां वर्णानां प्रत्येकमेवित्येषा संज्ञा भवति । अत्रायतद्भावितानां तद्भा-
वितानामदेङामेपसंज्ञा । अतद्भावितानाम्—पचन्ति । पचे । पचन्ते । “पृथतोऽपदे” [१।३।८४] इति पररूपम् ।
तद्भावितानाम्—कर्ता । कर्ता । चेता । क्रोधा । क्रुद्धः । क्रौञ्चः । स्वान्तोऽन्तरतमौ अकाराकारौ भवतः ।
तौ च प्रसज्यमानावेव रन्तौ । अदिति तपरकरणं दी एनिवृत्त्यर्थमेङ्गर्थं च । तेन मालेयं खड्गोदा इत्यत्र त्रिमा-
त्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । एप्रदेशाः “मिदेरेप्” [५।२।७३] इत्येवमादयः ।

इकस्तौ ॥ १।१।१७ ॥ परिभाषेयम् । ऐवैपौ संज्ञया विधीयमानौ इक एव स्थाने भवतः । स्थानि-
नियमोऽर्थं न विधिनियम इति । कुत एतत् ? “सकथस्थिदध्यक्षणां” [५।१।५४] इतीको निर्देशात्, एवै-
पोर्लक्षणान्तरेण विधानाच्च । प्रत्यासत्तेः पूर्वमेवुदाहरणं वक्ष्यति । “गाऽगयोः” [५।२।८१] । करेति । नयति ।
मविता । “सावैग्मे” [५।१।७७] । अकारात् । अनैधीत् । अहौधीत् । इच्छासौ विशेषणविशेष्यभावः । “मिदेरेप्”
इत्यत्र गृह्यमाणेन मिदादिना इग्विशेष्यते । तेनानन्त्यस्य भवति । “जुसि” [५।२।८०] “गाऽगयोः”
[५।२।८१] इति च गृह्यमाणमिका विशेष्यते इतीगन्तस्य भवति । इक इति किम् ? आर्त्तव्यक्षरव्यञ्जनां मा
भूत् । यानम् । ग्लायति । उन्मिता । अजित्यत्रानुवर्तनादैवेषोः सगन्धे सिद्धे ‘तौ’ग्रहणं संज्ञाविधाने नियमार्थम् ।
घौः । पन्थाः । सः । यत्र स्थानी निर्दिश्यते तत्र नेर्धं व्याप्रियते । यथा “व्यित्यचः” [५।२।३] इति ।

नधुखेऽगो ॥ १।१।१८ ॥ प्रतिषेधसामर्थ्यादेकदेशे धुर्वर्तते । घोः खं यस्मिन्नगो स धुखः । तन्निमित्ता-
वैवैपौ न भवतः । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । यङन्तेभ्यः पचाद्यच् । “यङोऽचि” [१।४।१४४] इति
यङ उप । अतः स्थात् प्रागेव च यङ उवेषितव्यः । अन्यथा देर्ध इत्यत्र अखमजादेश इति कृत्वा तस्य
स्थानिवद्भावात् “दीङोऽचि क्ङिति युट्” [४।४।६२] इति युट् प्रसज्येत । धुग्रहणं किम् ? लूज्—लविता ।
खविधिवर्लवानिति प्रागेव धुसंज्ञाया अनुबन्धनाशः । अत्रागनिमित्तं खं नास्त्येति द्रव्यङ्गवैकल्यं नाशङ्कनीयम् ।
यतो धुग्रहणे सति वसे लम्ब्यतो घोः खं यस्मिन्निति । वसेन अग इत्यस्य विशेषणं किम् ? कर्षी, कोपयति । अत्र
पुकमाश्रित्य यखं नागनिमित्तमिति न प्रतिषेधः । वसे तु प्रसज्येत । अग इति किम् ? रोरवीति । गनिमित्त
एवमवत्येव । अत्रापि यङ्खमगनिमित्तं न भवतीति द्रव्यङ्गवैकल्यं न मन्तव्यम् ; यतोऽगग्रहणे सति
धुखनिमित्तत्वं लम्ब्यते । इक इत्येव । अभाजि । रागः ।

क्क्ङिति ॥ १।१।१९ ॥ गिति किति ङिति च निमित्तभूते यावैवैपौ प्रातुतस्तौ न भवतः । गिति—
“ग्लभूजिस्थः वस्तुः” [२।२।११५] इति, भूष्णुः । जिष्णुः । किति—चितम् । स्तुतम् । मिन्नम् ।
मृष्टम् । ङिति—चिनुतः । चिन्वन्ति । मृष्टः । मृजन्ति । इक इत्येव । कामयते । अचिनवर्मित्यत्र लङो
ङित्वात्कस्मान्न प्रतिषेधः, “सूभवत्योर्मिङि” [५।२।८६] इति । अभूत्^{१०} । भवतेर्हलादौ मिङ्येप्रतिषेधवचनं
शापकं ङितो लकारस्यादेशो ङिन्न भवतीति । यासुटो ङित्करणं च शापकम् ।

ईदुवेद्विर्विः ॥ १।१।२० ॥ ईत् ऊत् एत् इत्येवमन्तो यो द्विः स दिसंहो भवति । अग्नी इति ।
वायू इति । खड्गे इति । तद्वदित्यनेन द्वेखे ईचैकादेशो द्विग्रहणेन गृह्यत इतीदाद्यन्तश्च भवति व्यपदेशिवद्भावेन ।
सुख्यरूपेणागं द्विरेकारान्तः । पचेते इति । पचेथे इति । सत्यां दिसंज्ञायाम् “प्रकृष्याऽचि द्विपाः” [४।३।१०३]

१. अनिवृ-अ०, व०, स० । २. अकारस्येत्यर्थः । ३. अकारनाश इत्यर्थः । ४. अचूस्थानिका-
देश इत्यर्थः । ५. विध्यगवै-य० । ६. वसे तु अ०, व०, मु० । ७. यङः स-अ०, व०, स० । ८. अगनि-
मित्तं न इत्यत्र ‘अनिमित्तं न’ इति पाठः स्वरसः । ९. ‘वस्तुः’ सु० । १०. अभूत् इत्यस्य ‘सूभवत्योर्मिङि’
इत्यतः पूर्वमेव पाठो युक्तः । ‘अभूत्’ इत्यस्याग्रे ‘इत्यत्र’ इत्यपि योज्यम् ।

इति प्रकृतिभावः । ईदूदेदिति किम् ? वृक्षावश्च । तपकरणात्मन्नेहार्थम्, “मणीचादिषु नेष्यते” मणीव । दम्प-
तीव । रोदसीव शोभेते । “संज्ञाविधौ स्वप्नहृणो तदन्तस्त्रिभिर्वास्ति” इति अशुक्ले शुक्ले सम्पन्ने शुक्लधास्तां
वस्त्रे इति त्वत्वे स्वाश्रयन्यायेन दिसंज्ञा न भवति ।

ज्ञः ॥१११२१॥ एदिति निवृत्तम् । दकारस्य स्थाने यो मकारस्तस्मात्परावीदूतो दिसंज्ञो भवतः । अमी
आसते । अमी अत्र । अमू आसते । अमू अत्र । “बहवरेतः” [५।२।८६] इति मत्वमीत्वं च । “बाहुर्दो
सोऽवसोऽसेः” [५।३।८८] इति मत्वम् । द्विमात्रस्य ओकारस्य द्विमात्र उकारः । आश्रयान्मकारादीनां
सिद्धिः । द इति किम् ? शम्बव । दाडिम्यव । म इति किम् ? द इति तानिर्देशपक्षे तेऽत्रेत्यत्र दकारदेशस्य
‘परेणादेः’ कृते स्थानिवद्भावात्तद्वद्भावाच्च दिसंज्ञा प्रसज्येत । कानिर्देशपक्षे चतुष्पदार्थ इत्यत्र स्यात् । ईदूदित्येव ।
इमेऽत्र । एकवर्गनिर्दिष्टानामेकदेशोऽनुवर्तते निवर्तते चैकदेश इति एदग्रहणं निवृत्तमिति । अन्यथा अमुकेऽत्रे-
त्यनुवर्तनसामर्थ्यादुकारककाराभ्यां व्यञ्जनेऽपि वचनप्रामाण्यवाद्दिसंज्ञा प्रसज्येत ।

निरेकाजनाङ् ॥१११२२॥ निसंज्ञ एकाच् अनाङ् दिसंज्ञो भवति । अ अपेहि । इ इन्द्रं पश्य । उ
अपसर । निरिति किम् ? चकाराव । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतेस्त्यस्य च विभागः । “अपायिना ह्यनुबन्धलिङ्गेन”
निरनुबन्धादकाराद् मिथ्यते खल् । एकश्चासावच्च एकाजिति किम् ? प्रश्नाति । अनाङिति किम् ? आ उद-
कान्तात् । ओदकान्तात् । डित्करणं ‘येध्वर्थेषु छिद्यं वर्तते’ तत्र प्रतिषेधो यथा स्वादन्वय दिसंज्ञैव भवति ।

“ईपदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिधिषौ च यः ।

एतमातं” डितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥”

यथाक्रमम् । आ उष्णम् ओष्णम् । आ इहि एहि । आ उदकान्तात् ओदकान्तात् । आ अर्मकेभ्यः
आर्मकेभ्यः । आर्मकेभ्यो यशः प्रसीतम् । वाक्यपूरणे स्मरणे चार्थे छित्वाभावादिसंज्ञा । आ एवं नु मन्यसे ।
आ एवं किल तत् ।

ओत् ॥१११२३॥ अनेकाजर्थ आरम्भः । ओदन्तो निर्दिसंज्ञो भवति । अहो इति । उताहो इति ।
अत्र ओदिति प्रधानम् । वचनात् प्रधानेनापि सदन्तविधिः । तेनेह लाक्षणिकत्वान्न भवति । अदोऽभवत् । तिरो-
ऽभवत् । अनुपदेशोऽदः [१।२।१३६] “तिरोऽन्तर्धौ” [१।२।१४०] इति निसंज्ञा । इह तु गौणत्वान्न भवति ।
अगौर्गाः सम्पन्नो गोभवत् । “चिञ्जङ्गूर्यादिः” [१।२।१३२] इति निगंज्ञा । गौणत्वाद्वाहीके गोशब्दस्य
कथमैवाधिकार्यमिति चेत् ? सामान्येन संस्तु^१ तस्य पदस्य प्रयोगाददोषः ।

कौ वेतौ ॥१११२४॥ किनिमित्तौ य ओकारस्तदन्त इतौ परतो वा दिसंज्ञो भवति । पटो इति । पट-
निति । साधो इती । साधवित् । काविति किम् ? गवित्ययमाह । गौरिति वक्तव्यमशक्त्या गो इत्युक्तमनुक्रियतेऽ-
नेकान्ताश्रयणात् । अनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षावामसत्यर्थवत्त्वे विभक्त्यनुत्पादः । इताविति किम् ? पटोऽत्र ।

उजः ॥१११२५॥ उजित्येतस्य वा दिसंज्ञा भवतीती परतः । उ इति, विति । “निरेकाजनाङ्”
[१।१।२२] इति नित्यं दिसंज्ञा प्राप्ता । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? अहो इति । उताहो इति । निसंज्ञातपक्षे
निरनुबन्धस्य मा भूत् ।

ऊम् ॥१११२६॥ उजः ऊमित्ययमादेशो भवतीती परतः । इति द्विमात्रो नासिकयो दिसंज्ञकश्च ऊं
इति यद्यपठितोऽपि निसंज्ञकोऽस्ति तस्येतावेव प्रयोगो यथा स्वादित्यारम्भः ।

दाधा भवपित् ॥१११२७॥ दा धा इत्येवंरूपा धवो सुसंज्ञका भवन्ति पितौ वर्जयित्वा । दारुपाश्च-

१.-शात्मका—अ०, स०, मु० । २. अकारेण इत्यर्थः । ३. दोरो निर्दि—अ० । ४.-को वे-स० ।
५. निरिति ग्रहणे कस्माच्च भवतीत्यत आह—अपायिनेत्यादि । ६. छिद्येन निरनुबन्धछिद्येन निर—अ०, मु० ।
परमसमीचीन एव पाठः । ७. एष्व—मु० । ८. तेन द्विमात्र मर्यादा । ९. तेन सदाभिधिः । १०. माङ्
ङि—अ०, ब०, स० । ११. संस्तुतस्य व० ।

त्वारः । प्रणिददाति । दाण् । प्रणिदाता । प्रणिदयते । प्रणिचति । धारूपौ द्वौ । प्रणिदधाति । प्रणिधयति ।
द्वैपः पितृकरणं ज्ञापकम् । अत्र प्रतिपदोक्तपरिमता नाश्रीयते । भुसंज्ञाकार्यं “नेगदनव” [५।१।१००]
इत्यादिना शास्त्रं “सुभा” [४।४।६५] इत्यादिना हलीत्वं च । दीयते । धीयते । धीतं कलंन । अपिदिति
किम् ? दायते वर्द्धिः । अवदायते भाजनम् । सुप्रदेशाः “सुस्थोः” [१।१।६१] इत्येवमादयः ।

क्लृक्कवतू तः ॥१।१।२८॥ क्लृक् क्लृक्कश्च तसंज्ञौ भवतः । रूपसंज्ञेयम् । कृतः । कृतवान् । भूत इति
वर्तमाने इति क्लृक्कवतूरूपौ ल्यौ भवतः । कारितः । कारितवान् । “ते सेटि” [४।४।५४] इति रोः खम् ।
मिन्नः । मिन्नवान् । “वान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इति नत्वम् । ककारः कित्कार्यार्थः । उकार उगित्कार्यार्थः ।
तप्रदेशाः “ते सेटि” [४।४।५४] इत्येवमादयः ।

संज्ञाः खुः ॥१।१।२९॥ संज्ञाशब्दवाच्योऽर्थः खुसंज्ञो भवति । खुप्रदेशाः “खावन्यपदार्थे”
[१।३।१८] इत्येवमादयः ।

भावकर्म डिः ॥१।१।३०॥ भावकर्मशब्दवाच्योऽर्थो डिसंज्ञो भवति । डिप्रदेशाः “मिर्ली”
[२।१।६२] इत्येवमादयः । तत्र भावकर्मणोर्ग्रहणं प्रत्येतव्यम् ।

शि धम् ॥१।१।३१॥ शि इत्येतद्वसंज्ञं भवति । शि इति नपुंसके जश्शसोरादेशस्वार्थवतो ग्रहणम् ।
कुरण्डानि तिष्ठन्ति । कुरण्डानि पश्य । धप्रदेशाः “धेऽकौ” [४।४।६] इत्येवमादयः ।

सुडनपः ॥१।१।३२॥ सुडिति प्रत्याहारेण स्वौजसमौटां ग्रहणम् । सुट् धसंज्ञो भवति नपुंसकलिङ्गा-
दन्यस्य । राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वम् । सुडिति
किम् ? राज्ञः पश्य । अनप इति किम् ? सामनी । घेमनी । अनप इति पर्युदासात् स्त्रीपुंसस्वन्धनः सुटो धसंज्ञा
नपुंसके न विधिर्न प्रतिषेधः । तत्र पूर्वैण जश्शसोरादेशस्य शौर्धसंज्ञा भवत्येव । ननु व्यक्तं स्त्रीपुंसग्रहणमेव
कर्तव्यम् ? एवं तर्ह्यनप इति निर्देशात् सापेक्षस्यापि नञः सविधिर्भवतीति ज्ञाप्यते । तेन अश्राद्धमोक्षी अलवण-
भोजीत्येवमादयः सिद्धाः ।

कतिः संख्या ॥१।१।३३॥ कतिशब्दः संख्यासंज्ञो भवति । कतिकृत्वः । कतिधा । कतिकः । किं
परिमाणमेषां “किमः” [३।४।१६२] “संख्यापरिमाणे डतिश्च” [३।४।१६३] इति डतिः । कति वारान्
भुङ्क्ते । कतिभिः प्रकारैः । कतिमः क्रीत इति । यथाक्रमं “संख्याया ध्वंभ्याश्रुतौ कृत्वस्” [४।२।२४]
“संख्याया विधार्थे भा” [४।१।१०६] “संख्यायाः कौऽतिज्ञतः” [३।४।१६] इति क इत्येते भवन्ति ।
ननु प्रदेशेषु संख्याग्रहणेनान्वर्थविज्ञानात् संख्यायतेऽनर्थेति कृत्वा कतिशब्दस्यापि ग्रहणे सिद्धे किमर्थमिदम् ?
नियमार्थम् । अनिवमितेषु कतिशब्दरूपैव संख्यारूपता । तेन भूरिप्रभूतादीनां निवृत्तिः “संख्यायाऽबहुगण्यात्”
[४।२।६६] इत्यत्र बहुगण्योः प्रतिषेधान्नवति संख्याग्रहणम् । बहुकृत्वः । गणकृत्वः । वैपुल्यसङ्ख्योर्न
संख्यात्वम् । “वसोर्वेट्” [३।४।२०] इति वचनं ज्ञापकं भवति वत्वन्तस्य संख्याग्रहणेन ग्रहणम् । तावतिकः ।
तावत्कः । संख्याप्रदेशाः “संख्यायाः कौऽतिज्ञतः” [३।४।१६] इत्येवमादयः ।

ष्णान्तेल् ॥१।१।३४॥ कतिः संख्येति वर्तते । धकारनकारान्ता संख्या कतिशब्दश्च ह्रस्वसंज्ञौ भवतः ।
ष्णान्तेति पदस्य संख्यापेक्षः खौलिङ्गनिर्देशः । कतेरनुवर्तनसामर्थ्यादिलसंज्ञा । षट् । पञ्च । सप्त । कति
तिष्ठन्ति । “उबिळः” [५।१।१६] इति जस उप् । ष्णान्तेति संख्याविशेषणं किम् ? विप्रुव । पामान इति अन्त-
ग्रहणं वसनिर्देशेन संख्याप्रतिपत्त्यर्थमौपदेशिकार्थं च । तेन शतानीत्यादौ न भवति । इल्लप्रदेशाः “उबिळः”
[५।१।१६] इत्येवमादयः ।

सर्वादिः सर्वनाम ॥१।१।३५॥ सर्वादयः शब्दाः प्रत्येकं सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । सर्वे । सर्वस्मै ।
सर्वेषाम् । त्रियाम्-सर्वस्वै । विश्वे । विश्वस्मै । उभशब्दस्य “सर्वनाम्नो भा” [१।४।३६] इत्येवमर्थः पाठः ।

१. जिह्वा-अ०, स० । २. स्त्रीपुंससम्ब-अ०, स० । ३. नपः व० । ४.-या अभ्या-मु० ।
५.-वि स-मु० । ६.-मो भावत्ये-व० । -म्नो भावत्ये-स० ।

उभयोर्ये हेतुभ्याम् । उभयोर्हेतोर्यसति । द्विवचनवाच्यश्चायम् । उभौ पक्षौ । उभे कुले । उभे विधे । उभे । उभयस्मिन् । उभयेषाम् । जसि “प्रथमचरम्” [१।१।४१] आदित्रिकल्पात् पूर्वनिर्णयैनायमेव विधिः । उभये इति । उत्तरद्वयम् इति ल्यौ । कतरस्मै । इतर अन्य अन्यतर । इतरस्मै । अन्यस्मिन् । अन्यतरस्मै । त्व इत्यर्थं शब्दोऽन्यवाची । त्वे । त्वेषाम् । तेम् । नेमस्मिन् । जसि वक्ष्यमाणो विकल्पः । नेमे । नेमाः । समशब्दः सर्वशब्दस्यार्थः । समे । समस्मिन् । अन्यत्र यथासंख्यं समाः । समे देशे तिष्ठतीति भवति । सिमः । सिमस्मै । पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” “स्वसंज्ञानिधनाख्यायाम्” “अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यानयोः” लट् लृट् यट् एतद् अदस् इदम् एक द्वि । अलविधिं प्रति द्विपर्यन्तास्त्यदादयः । युष्मद् अस्मद् भवत् किम् । लृट् आदीनां यद्यत्परं तत्तदुभयवाचि । सर्वनामैत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् संज्ञोपसर्जनानां न भवति । सर्वो नाम कश्चित्स्मै सर्वाय देहि । अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्मन्मै अतिसर्वाय । “पूर्वपदात् स्वावसः” [१।१।८०] इति एत्वं न भवति । सर्वनामप्रदेशाः “आस्यात्सर्वनाम्नः” [१।१।३४] इत्येवमादयः ।

धा द्विकत्वये ॥१।१।३६॥ दिग्गुपदिष्टे से वसंज्ञके सर्वादीनि वा सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति । “न वे” [१।१।३७] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । दक्षिणपूर्वस्यै । दक्षिणपूर्वायै । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्ध्वन्तरालमिति विग्रहः “दिशोऽन्तराले” [१।३।८८] इति वसः । “सर्वनाम्नो वृत्तिभावे पुंवद्भावः” [ना०] इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । उत्तरपदस्य “स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रः । पुनश्चाप । प्रतिपदोक्तस्य दिक्स्य ग्रहणादिह नास्ति विकल्पः । दक्षिणैव पूर्वा अस्य मुखस्य दक्षिणपूर्वाय देहि । दक्षिणा च सा पूर्वा च सा अस्मिन्नपि विग्रहे परत्वात् “दिशोऽन्तराले” [१।३।८८] इतीयं प्राप्तिर्न राज्ञा द्रव्यवारितेति कर्तव्यमेवेदं सूत्रम् । दिग्ग्रहणं किम् ? “न वे” इति प्रतिषेधं वक्ष्यति तस्य प्रतिषेधस्यास्य च विकल्पस्य विषयज्ञापनार्थम् । सग्रहणं किम् ? साधिकारविहिते वक्ष्ये विकल्पो यथा स्यादातिदेशिके मा भूत् । दक्षिणातन्निगम्यै देहि । “आभावे” [१।३।८] इति हितम् । अवदतिदेशश्च “न वे” इत्यत्रापिदं सग्रहणमनुवर्तते चेनापि न प्रतिषेधः । वग्रहणं किम् ? दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । इन्हे विकल्पो मा भूत् । ननु प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणमत्रोक्तं ततो “इन्हे” [१।१।३६] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः । उत्तरार्थं तद्धि वग्रहणम् ।

न वे ॥१।१।३७॥ वसे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । इयन्त्याय । अन्यथाय । “सर्वनामसंख्ययोः” इति वक्तव्येन पूर्वनिपातः संख्याया एव । प्रियविधाय । प्रियोभवाय । इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकमत्र तदन्तविधिरस्तीति । तेन परमसर्वस्मै इत्यत्रापि सर्वनामसंज्ञा । ननु सर्वनामसंज्ञायामन्वर्थविज्ञानात्संज्ञोपसर्जननिवृत्तिरुक्तं सर्वोपसर्जनश्च वस इति सर्वनामसंज्ञायाः प्राप्त्यभावात्सूत्रमिदमनर्थकम् । नानर्थक्यमेगत्, प्रयोजनसद्भावात् । त्वकं पिताऽस्य अहं पिताऽस्य स्वल्पितृकः । मत्कपितृकः । वसावयवस्य सर्वनामसंज्ञाविग्रहादगमा भूत् । कुत्सायर्थे के परतः “स्वद्योश्च” [१।१।३६] इति लमादेशौ । स इत्येव । एकैकास्मन् । “एको वयत्” [१।३।७] इत्यातिदेशिके वसे प्रतिषेधो मा भूत् । वाऽधिकारे पुनर्वग्रहणं वसगमै इन्हेऽपि नित्यप्रतिषेधार्थम् । वस्त्रान्तरग्रहान्तरा इति ।

भासे ॥१।१।३८॥ भासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । मासपूर्वाय । संवत्सरपूर्वाय । मासेन पूर्वः । “पूर्वावरत्वाश्च” [१।३।२८] आदिसूत्रेण भासः । सः इति वर्तमाने पुनः सग्रहणं भासार्थं वाक्येऽपि तत्संज्ञाप्रतिषेधार्थम् । मासेन पूर्वाय । मुख्ये च “पूर्वावर” [१।३।२८] इत्यादि भासे यद् वाक्यं तत्र प्रतिषेधो न । “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इति भासे । लयका कृतम् । मयका कृतम् । अन्यथा लक्तेन कृतं मत्केन कृतमित्यनिष्टं स्यात् । लयका भवकेति पूर्वं लमादेशौ । ततः सुवन्तादक् । तथा ह्यग्नियधौ वक्ष्यति । मृदः मुपः इति च द्वयमपीहानुवर्तते । अभिधानतश्च व्यवस्था । सत्र मृदः प्राक् सुपोऽभवति । युष्मकाभिः । अस्मकाभिः ।

१. एकशेषवादिनो हि “स्वदादीनामस्मिधः सहोक्ती यत्परं नच्छिद्यते” इति वचनेन परस्य पूर्वार्थ-वाञ्छितामभ्युपगच्छन्ति । परं “स्वदादीनां यद्यत्परं तत्तदुभयवाचि” उपशेषशेषसङ्घर्षवाच्यमाचक्ष्यै एक-शेषप्रयोजनं निर्वाहयति । २. ‘सर्वनामसंख्ययोः’ इति शेषः । ३. सौमत्यात् इति शेषः । ४. ‘ग्रदाय’ मु० । ५. “न वे” सूत्रार्थमिदमर्थः । ६. ‘पूर्वं’ मु० ।

युष्मकासु । अस्मकासु । युवकयोरावकयोरिति । क्वचित् सुवन्तस्याक् । त्वयका । मयका । त्वयकि । मयकि ।

द्वन्द्वे ॥११३९॥ द्वन्द्वे से सर्वादिनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । कतरकतमाय । कतरकतमात् । कतरकतमानाम् ।

वा जसि ॥११४०॥ द्वन्द्वे से सर्वादयः सर्वनामसंज्ञा वा भवन्ति । कतरकतमे । कतरकतमाः । पूर्वेषु नित्यप्रतिषेधः प्राप्तः । जसीत्याधारनिर्देशाज्जसि कार्यं शीभावो विभाष्यते । अक् तु पूर्वैशैव प्रतिषेद्धः । यदि जसि परतस्तत्संज्ञा विकल्प्येत तदा संज्ञापक्षेऽगम्येत्, कतरकतमके इत्यनिष्टं प्रसज्येत । कुत्साद्यर्थविवक्षायां तु के सति तद्व्यवधानान्न शीभावः । अतः कतरकतमका इति सिध्यति । न च केऽपि सति स्वार्थिकस्य प्रकृतिग्रहणेन ग्रहणम् । अन्यथा सर्वादौ उत्तरव्रतमग्रहणमनर्थकं स्यात्, सर्वनाम्न एव तयोर्विधानात् ।

प्रथमचरमतयाल्पाधिकतिपथनेमाः ॥११४१॥ प्रथमादयः शब्दा जसि वा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । प्रथमे, प्रथमाः । चरमे, चरमाः । तय इति त्र्यग्रहणं तेन वचनसंज्ञाविधावपि तदन्तर्विधिः । द्वावयववाक्यामिति द्वितये, द्वितयाः । “संख्याया अचयवे तयट्” [३४१३४] इति तयट् । एकदेशविकृतत्वानन्यत्वाद्विकल्पः द्वये, द्वावाः । उभये । अयमुभयशब्दः सर्वादित्वान्नित्यं सर्वनामसंज्ञा । अल्पे, अल्पाः । अर्धे, अर्धाः । कतिपये, कतिपयाः । नेमे, नेमाः । नेमशब्दस्य प्राप्तौ ऽन्येषामप्राप्ते विभाषा । अत्रापि जसः कार्यं प्रति विकल्पः । कुत्साद्यर्थे के कृते तेन व्यवधानात्पक्षेऽपि सर्वनामसंज्ञा न भवति । तेन प्रथमका इत्यादि सिद्धम् ।

पूर्वादयो नव ॥११४२॥ पूर्वोदयो नव सर्वादौ व्यवस्थिता जसि वा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । तथा हि— “पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापरधराणि व्यवस्थायाभिसंज्ञायाम्” “स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्” “अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यामयोः” इति । पूर्वे, पूर्वाः । परे, पराः । अवरे, अवराः । दक्षिणे, दक्षिणाः । उत्तरे, उत्तराः । अवरे, अपराः । अधरे, अधराः । व्यवस्थायामिति किम् ? दक्षिणा इमे गाथकाः । अपरा वादिनः । नात्र दिग्देशकालकृतोऽवधिनियमो व्यवस्था प्रतीवते; किं तर्हि ? प्राचीण्यमन्यार्थता च । असंज्ञायामिति किम् । उत्तरा कुरवः । व्यवस्थायामपीयं संज्ञा । तेषां स्वे शिष्याः स्वाः । यदा ज्ञातिधनयोः संज्ञारूपेण वर्तते स्वशब्दस्तदा नास्ति सर्वनामसंज्ञा । उल्लुकाणीव स्वा दहन्ति । विद्यमाना अपि स्वा न दीयन्ते । अन्तरे गृहाः । अन्तरा गृहाः । नगराद्या इत्यर्थः ।

अपुरीति वक्रज्यम् [वा०] । अन्तरायाः पुर आगताः । बाह्याया इत्यर्थः । अन्तरे शाटकाः । अन्तराः शाटकाः । उपसंव्यानमित्युत्तरीयवक्रस्य संज्ञा । बहिर्योगोपसंव्यानयोरिति किम् ? इमे ग्रामाणामन्तराः । अयमनयोरन्तरे स्थितः । जसि कार्यं विभाष्यते; अक्तु भक्त्येव प्रतिषेधाभावात् । पूर्वके, पूर्वकाः । इत्येवमादि जं यम् ।

डिडस्योरतः ॥११४३॥ पूर्वोदयो नव वेति चानुवर्तते । अकारान्तानि नव पूर्वोदीनि डिडस्योर्जं सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति । पूर्वस्मिन्, पूर्वे । पूर्वस्मात्, पूर्वात् । परस्मिन्, परे । परस्मात्, परात् । इत्यादि योज्यम् । डिडस्याश्रयं कार्यं विभाष्यते; अक्तु भवत्येव । अत इति किम् ? पूर्वस्याम् । पूर्वस्याः ।

तीयस्य किति ॥११४४॥ तीयत्यान्तस्य किति वा सर्वनामसंज्ञा भवति । द्वितीयस्मै, द्वितीयाय । तृतीयस्याः, तृतीयाया । इह मुखादागतः पार्श्वदागतः “मुखपार्वतसोरीयः” [३२११२ ग०] इतीयः । मुखतीयः । पार्श्वतीयः । पर्वते जालः पर्वतीव इति । अमीषा लाक्ष्णिकत्वादग्रहणम् । द्वितीति किम् ? द्वितीयायाम् । किति कार्यं विकल्प्यते; अक्तु न भवत्येव । कुत्साद्यर्थे के कृते द्वितीयकाय ।

इग् यणो जिः ॥११४५॥ इक् यो यणः स्थाने मृतो भावी वा स जितंज्ञो भवति । इक् यणः स्थाने भावित्वेनासत्त्वान् कथं जितंज्ञ इति चेत् ; संज्ञिनो भावित्वात्संज्ञापि भाविनी । यथाऽस्य सूत्रस्य शाटकं वयेति भावी । यथा “षे व्यस्य पुत्रपत्योजिः” [४३१३] “वसोजिः” [४३११८] इति । कारीषगन्धीपुत्रः ।

विदुषः पश्य । शास्त्रान्तरेण भूतो यणः स्थाने^१ इक् उ जिप्रंशो यथा “जेः” [४।३।६२] इति परपूर्वत्वम्, जेरिति दीत्वम् । हूतः । गृहीतः । यदि यणः स्थाने इक् भाव्यमानो जिप्रंश इहापि स्यात्, अदुहितराम् । अतु-
म्याम् । अतुनुवा । दुह आत्मकर्मणि लङ् । “स्नोश्च जिश्च” [२।१।२६] इति जियकोः प्रतिषेधः । शप्
तस्योप् । अत्र लस्य स्थाने इड् वकारस्य स्थाने उदूढाः । ततश्च “जः” [४।३।६२] इति परपूर्वत्वं “हलः”
[४।४।२] इति दीत्वं च प्रसज्येत । नारं दोषः, भाविन्या संज्ञवा विधीयमानस्यैको जिवत् । “कार्यकारं
संज्ञपरिभाषम्” इति । जिप्रंशो “ये ध्यस्य पुत्रपत्योऽजः” [४।३।६] इत्येवमादयः

ता तत्तन्ने ॥११।४६॥ केनमन्त्रमुद्रमुद्राणि ता सा स्थान एव ज्ञातव्या । बहवो हि तार्थाः । स्वस्वामि-
संज्ञवसमीपसमूहविकारावयवस्थानादयः । तेषु प्राप्तेषु नियमः कियते-अन्यार्थसंप्रत्ययो मा भूदिति । नित्य-
शब्दार्थसंबन्धविवक्षायां स्थानशब्दः प्रसङ्गवाची । प्रसङ्गश्च प्राप्तादित्वं स्वार्थप्रत्यार्थकावसरो वा । यथा गुरोः
स्थाने शिष्य उपचर्यते इति गुरोः प्रसङ्ग इति गम्यते । एवमस्तेः स्थाने प्रसङ्गं भूः । भविता । भावतुम् ।
भवितव्यम् । ब्रूजः प्रसङ्गे वच्मिर्भवति । वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । अनित्यशब्दार्थसंबन्धविवक्षायामपकर्ष-
वाची स्थानशब्दः । यथा गोः स्थाने अश्वं वन्नाति । एवमस्तेः स्थानेऽपकर्षं भूर्भवति । अतरेनन्तरमस्तेः
समीप इत्येवमादयो निवर्तिता भवन्ति । यत्र तानिदेशे सम्बन्धविशेषो न निर्ज्ञातस्तत्रयं परिभाषोपतिष्ठते । शास
इत्येवमादिषु तु शासो य उङ् तस्येत्यवयवयोगो निज्ञात इति नेयं व्याप्रियते ।

स्थानेऽन्तरतमः ॥११।४७॥ अन्तरः प्रत्यासन्नः । स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम एवादेशो
भवति । आन्तर्यं च शब्दस्य स्थानार्थगुणप्रमाणतः । स्थानतः—लोकाग्रम् । “स्वेज्जो दीः” [४।३।८८] इति
कण्ठ्य एत्राकारो दीर्भवति । अर्थतः—वतण्डस्यापत्यं स्त्री “वतण्डात्” [३।१।६७] इति यञ् । तस्य “स्त्रिया-
मुप्” [३।१।६८] इत्युप् । वतण्डी चान्नी युवतिश्च वातण्ड्ययुवतिः । “पोटायुवतिस्तोक” [१।३।६०] आदि
सूत्रेण यमंजः षसः, “स्थ्युक्तपुंस्क” [४।३।१४६] आदिना पुंवद्भावः प्राप्तो “जातिश्च” [४।३।१५२] इति
प्रतिषिद्धः “पुंश्चजातीयदेशान्ते” [४।३।१५४] इति । अर्थतो वातण्ड्यशब्दो भवति । गुणतः—
पाकः । त्यागः । अल्पप्राणस्य घोषवत्स्तादृश एव । प्रमाणतः—अमुष्मै । अनूभ्याम् । प्रस्य प्रः । दीसंज्ञकस्य
दीः । स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं यत्रानेकमान्तर्यं सम्भवति तत्र स्थानत एव भवतीति । चेता । स्तोता ।
प्रमाणतोऽकारः प्राप्तः स्थानतोऽन्तरतमावेकारौकारौ च । तत्र पुनः स्थानग्रहणात्स्थानकृतमेवान्तर्यं वलीय
इत्येकारौकारौ भवतः । तमग्रहणं किम् ? वाग्वसति । इकारस्य पूर्वस्वत्वे सोष्मणस्तोष्मा द्वितीयः प्राप्तो नादक्तो
नादवास्तुतीयः । तमग्रहणाद्यः सोष्मा नादवांश्च स चतुर्थो भवति ।

रन्तोऽणुः ॥११।४८॥ उः स्थानेऽणु प्रसज्यमान एव रन्तो भवति । लक्षणान्तरेण विधीयमान
प्रवाण् विधानद्वलेन तत्सहायकं प्रतिपद्यमानेन रन्तो भाव्यत इत्यर्थः । अकर्तरीकि- निर्देशात्सर्वादेशो न
भवति । कर्ता । किरति । गिरति । द्वैमातुरः । भरतः । शतमातुरः । द्वयोर्मात्रोरपत्यं [शतमातुरपत्यम्]
‘तस्यापत्यम्’ [३।१।७७] इत्यणि परतो “मातृहृत्संख्याऽसम्भवादेः” [३।१।१०४] इत्युकादेशः । उरिति
किम् ? गेधम् । पन्थाः । अणिति किम् ? मातापितरौ । सौधातकिः । आनङ्मकञौ मंघातनेतौ । नाणौ ।
महर्षिरित्यत्र द्वयोः स्थाने एप् कथं रन्तः ? वो हि द्वयोस्तानिर्दिष्टयोः स्थाने भवति सोऽन्यतरेणापि व्यपदिश्यते ।
नरस्य पुत्रः । नार्याः पुत्रः । ऋकारलृकारयोः स्वसंज्ञोक्ता । तेन तक्लकारः । कथं लन्तत्वम् ? रन्त इति लणो
लकाराकारेण प्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम् । तेनादोषः ।

१. स्थाने इम्भूतो जि-मु० । २. प्रत्यायनावसरो वा अ०, स० । ३. उस्तस्य मु० । ४. “रन्तोऽणुः”
सूत्रारम्भसामर्थ्येनेत्यर्थः । ५. अनेनेति शेषः । ६. न्यस्यं शतमातृहृत्संख्याऽसम्भवादेः तस्या, अ०, व०, स० ।

अन्तेऽलः ॥१११४६॥ तानिर्दिष्टस्य य उच्यते विधिः सोऽन्ते वर्तमानस्यालः स्थाने भवति । “ता स्थाने” इति तास्थाने निर्जातस्थानेनान्ते उपसंहारः क्रियते । टिक्रिन्मितस्त्वय्यक्तसम्बन्धतानिर्दिष्टस्य विधीय-
माना अस्तस्य न भवन्ति । “इद् गोण्याः” [११११०] पञ्चगोणिः । दशगोणिः । अन्त्यस्येद् भवति । ननु
“पुंसीदोऽन्” [११११६१] इति वर्तमाने “हलि खम्” [११११७१] इतीद्रूपस्य योऽन्त्यस्तस्य प्राप्नोति ।
“नानर्घकेऽन्तेऽल्लो विधिः” इति न भवति । “ता स्थाने” इत्यस्य योगस्य किं प्रयोजनम् ? वस्तानिर्दिष्टस्तस्य स्थाने
आदेशो यथा स्यादधिकस्य मा भूत् । “पादः पत्” [४४१११६] इति । द्विपदः पश्य । पादस्तस्य न भवति ।

क्रिस् ॥१११५०॥ क्रिः सर्वेऽनेकालः । क्रिञ्च आदेशोऽनेकाल् सोऽन्तेऽलः स्थाने भवति । वक्ष्यति
“युष्मदस्मदोष्कृत् खम्” [३२११२१] यौष्माकीणः । आस्माकीनः । दकारस्याकृत् । अकारोच्चारणसामर्थ्या-
त्पररूपाभावः । “सिद्धे सस्यास्मिन् निधमाय” डिदेवानेकालन्त्यस्य स्थाने । अतोऽन्यः सर्वस्य । “अस्तिञ्-
जोभूषणी” [१४११२४] इत्येवमादयः सर्वादेशाः ।

परस्यादेः ॥१११५१॥ परस्य कार्यं शिष्यमाणमादेरलः स्थाने वेदितव्यम् । क्व च परस्य कार्यम् ।
यत्र कानिर्देशेन “ईकेत्यन्यत्रान्ते पूर्वपरयोः [१११६०] इति परस्य ताप्रकृतिः । “ईदस्तः” [११११४२]
आसीनो भुङ्क्ते । इयनगोरीदपः” [४३२०२] द्वोपः । अन्तरीपः । समीपः ।

शित्सर्वस्य ॥१११५२॥ शिदादेशः सर्वस्य स्थाने वेदितव्यः । “जरशसोः शिः” [११११७] वनानि
तिष्ठन्ति । वनानि पश्य । इदमेव शापकमनुबन्धकृतमनेकाल्वं न भवतीति । तेन “दिव उत्” [४३१०८]
इत्येवमादिषु सर्वादेशो न भवति । य अल् णलिति प्रश्लेषनिर्देशात्प्रणालादयः सर्वादेशाः । “जडाभ्य चौश्”
[११११८] इति “परस्यादेः” इतीमं आधित्वा शित्वेन परत्वाद्वा सर्वादेशः ।

टिदादिः ॥१११५३॥ टिग्रः स तानिर्दिष्टस्यादिर्भवति । “बलाद्यगस्येद्” [१११८४] लविता ।
लञ्चिनुम् । लवितव्यम् । “ता स्थाने” इत्यस्यायमपवादः । “चरेष्टः” [२२२११] इत्येवमादौ तानिर्देशाभावा-
दादौ विधिः । अथवा “मध्येऽपवादाः पूर्वोन्विधीन् बाधन्ते” इति “ता स्थाने” इत्यस्यैव अचो
न तु लपरत्वस्य ।

किदन्तः ॥१११५४॥ किग्रः स तानिर्दिष्टस्यान्तो भवति । मुखो भीषयते । जटिलो भीषयते । भियो
णिञ् हेतुभावार्थे । “ईतः पुग्नित्यम्” [४३१४६] इति पुक् । “योर्भास्मेहेतुभवे” [११२१४४] इति दः ।
‘पूर्वोक्तपरिहाराद् “आसः कः” [२२२३] इत्येवमादिषु नातिप्रसङ्गः ।

परोऽचो मित् ॥१११५५॥ अन्त इति वर्तते । अर्थवशाद्विभाक्त्यपरिणामः । मिग्रः स तानिर्दिष्ट-
स्यान्त्यादयः परो भवति । अन्तग्रहणानुवृत्तेर्हलन्तस्यापि भवति । अन्यथा अच इति विशेषणम्, तेन तदन्तविधिः
स्वयमेव लभ्येतेति वक्ष्यति । “इदिहोनुम्” [५११३७] नन्दिता । नन्दिनुम् । नन्दितव्यम् । व्यपदेशि-
वद्भावादत्रान्त्यत्वम् । “रुञ्जितुवाविभ्यर् रनम्शौ” [१११७३] रुणद्धि । भिनत्ति । “ता स्थाने” [१११४६]
“ल्यः” [२१११] “परः” [२११२] इत्यनयोः समपवादः । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते” इत्यनित्या
परिभाषा “तृणह” [५२११०] इति निर्देशात् ।

स्थानीवादेशोऽनल्लिख्यौ ॥१११५६॥ स्थानं प्रसङ्गोऽस्यास्तीति स्थानीय भवत्यादेशः । स्थान्या-
श्वेषु कार्यध्वनलाश्रयेषु स्थान्यादेशयोर्नानात्वात् स्थानिकार्यमादेशं न प्राप्नोतीत्यतिदिश्यते । धुरुकुत्तहत् मुम्पिङ्-
पदमादेशाः प्रायः प्रयोजयन्ति । घोरदेशो घुरिव भवति । अस्तीर्भूमावे धोर्विहितान्तव्यादयः सिद्धाः । भवितव्यम् ।
भवित् । गौरादेशो गुरिव भवति । त्रयाणाम् । “गोः” [४४११] “नामि” [४४१३] इति दीत्वं सिद्धम् ।
कुदादेशः कुदिव । प्रहृत्य । प्रहृत्य । आदेशो कुते पिति कुविसङ्गः । हृदादेशो हृदिव । अच्चेर्दोष्यति आक्षिपः ।

१. नानुबन्धेति परिभाषा वृत्तसामर्थ्यान्निष्पन्ना । २. “वाचः” अ०, व०, स० । ३. तानिर्देशा-
भावादित्यर्थः ।

शालाकिः “प्राग्यदृष्टम्” [१।१।१२६] इकादेशे कृते “कृद्वृत्ताः” [१।१।६] इति सूत्रसंज्ञा सिद्धा । सुवादेशः सुबिव । वृद्धाय । हेर्वादेशेऽपि “सुपि” [१।२।६७] इति दीर्घं सिद्धम् । मिडादेशो मिडिव । वभृषतुः । वभृषः । अतस्युसि च कृते “सुस्मिडन्तं पदम्” [१।२।१०३] इति पदसंज्ञायां ‘पदस्येति’ रित्वं सिद्धम् । पदादेशः पदमिव भवति । ग्रामो कः स्वम् । ग्रामो नः स्वम् । वस्नसोः कृतयोः पदस्येति रित्वं सिद्धम् । गादेशो ग इव । अचिनुतम् । डिलादेशप्रतिषेधः । इवेति किम् ? स्थानी आदेशस्य संज्ञेति मा विज्ञायि । अत्र कां दोषः ? “आळो यमहनः” [१।२।२३] इति ववेरेव द्विविधः स्यादन्तेस्त्वाश्रयस्य न स्यात् । इवप्रक्षणादुभयत्र भवति । आहत । आवधिष्ट । आदेशमङ्गणं किम् ? विकारभावेऽपि यथा स्यात् । पचतु । पचन्तु । मिडन्तं पदं सिद्धम् । अनलिवधायिति किम् ? वौः । पन्थाः । स्यः । कुपधित्यदादेशा न स्थानिवद् भवन्ति । स्थानिवद्भावे “हृस्त्वपः” [४।१।१६] इति सौः खं प्रसज्येत । अलः परो विधिरयं प्राप्तः । क हृ इत्यवेकारस्य स्थानिवद्भावे हृशि रेकत्वं प्रसज्येत । अलि विधिरयम् । प्रदीव्येति क्त्वात्यस्य स्थानिवद्भावे “वल्लावगमयेत्” [१।१।८८] प्रसज्येत । अलः न्वाने विधिरयम् । अलाश्रयो विधिः अलिविधिः । शाक-पार्थिवादिजनमयूरव्यंतकादित्वास्तः ।

परेऽचः पूर्वविधौ ॥१।१।२७॥ आदेशः स्थानीवेति वर्तते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ कर्तव्यं स्थानीव भवति । तदुमानंष्टं पठ्यति । णिनिमित्तस्य स्थानिवद्भावात् “उङोऽतः” [१।२।४] इत्यैभ्यो भवति । अवधीत् । अगनिमित्तस्यातः स्वस्य स्थानिवद्भावात् “अतोऽनादेर्वे” [१।१।८३] इति हलन्त-लक्षण ऐन्विकल्पो न भवति । पूर्वेषु “अनलिवधौ” [१।१।१६] इति प्रतिषेध उक्तऽस्त्वित्यर्थमिदम् । परे इति किम् ? वेर्वाप्रपञ्चः । पादस्य खमजादेशः परनिमित्तो न भवतीति पदभावे स्थानीव न भवति । शुवर्तिर्जग्याऽ-स्व शुवर्तानिः । जायाया निङ् न परनिमित्तक इति “वलि व्योः खम्” [४।१।१५] न प्रतिबध्नाति । अच इति किम् ? प्रत्ययः । ये परतो ङस्य खं परनिमित्तं प्रत्यय तुकि कर्तव्ये स्थानीव न भवति । पूर्वविधायिति किम् ? नैधेयः । निधेरपत्यं “ङ्-यचः” [३।१।११०] “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति दृशि परविधौ कर्तव्ये आस्त्वस्य न स्थानिवद्भावः । अन्यथा व्यञ्जो दृष् न स्यात् । हे गौः । परविधौ सुखे कर्तव्ये ऐगो न स्थानिवद्भावः । अचोऽनादिष्टात् पूर्वविधौ स्थानिवद्भावः । इह मा भूत् । अचीकरत् । अजीहरत् । अत्र हि “गौ कव्युङः” [१।२।११२] इति प्रादेशे कृते द्वित्वे च प्रादेशस्य स्थानिवद्भावात् “गौ कव्यनक्से सन्वत्” [१।२।११०] इति सन्वद्भावो न प्राप्नोति । आदिष्टादेशोऽचः पूर्व इति स्थानिवद्भावाद्भवति । वाय्वोरध्व-र्योरित्यत्र वक्ष्यविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “वलि व्योः खम्” [४।१।१५] इति यत्वं प्राप्नोति । कर्तव्योऽच यत्नः ।

न पदान्तद्वित्ववरेयखस्वानुस्वारदीचर्विधौ ॥१।१।२८॥ पदान्तादिविधिव्यञ्जदेशः स्थानीव न भवति । पूर्वेषु प्राप्तस्य स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधोऽयम् । पदान्तविधौ—कौ स्तः । कानि सन्ति । अतः खं विङ्निमित्तमावादेशो यणदेशे च कर्तव्ये स्थानीव न भवति । अथ नात्र नियमः पूर्वविधेः । स्तः कौ, सन्ति कानि इत्यपि प्रयोगात् । आदिष्टाच्चाचः पूर्वमीकारादि । इदं तर्ह्युदाहरणम्—अभिपन्ति । निपन्ति । द्वित्व-विधौ—अध्यत्र । मध्यत्र । वणदेशस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “अनचि” [१।१।१२७] इति घकारस्य रित्वं सिद्धम् । “असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे” इति सप्तान्तस्य खं न भवति । परविधौ—यापावरः । यातेर्यङन्तान् “यो यङः” [२।२।१५५] इति वरे कृतेऽतः खस्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधाज्जले च कृते अका-स्त्व स्थानिवद्भावात् “इष्टि चात्त्वम्” [४।१।६३] इत्याखं न भवति । ईविधौ—आमलकम् । पञ्चदाक्षिः ।

१. पदत्वात् “ससञ्जो रिः” इति रित्वं सिद्धमित्यर्थः । २. व्यञ्जस्येव पादाचस्येति असे “सम्पा-दस्याहस्यादेः” इत्यतः खं ततोऽपत्यार्थे “गगादिर्वञ्” इति यञि “पावः पत्” इति पदादेशे ऐचि रैयात्रपथ इति । ३. “दीर्घे यलोपे च लोपाच्चादेशे एव न स्थानिवत्” इत्येवंरूपो यत्नः ।

आमलक्या अवयवः फलं “नित्यं तुशरादेः” [३।३।१०६] इति मयट् । तस्य “उष्फले” [३।३।१२१] इत्युप् । “ह्रुप्युप्” [१।१।६] इति लोत्वस्योप् परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “यस्य कथा च” [४।४।१३६] इत्यलं न भवति । पञ्चभिर्दाक्षिभिः क्रीतः “रादुबसौ” [३।४।२६] इति ठस्य उपि लोत्वस्योप् । तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादिकारण्यं खं न भवति । अत्रविधौ—कण्डूतिः । कण्डूयनेः “क्लिच्क्षौ ली” [३।३।१२०] इति क्तिचि कृतैऽतः खत्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “वलि व्योः खम्” [४।३।२५] इति यलं भवति । उवादेशं प्रति स्थानिवद्भावः स्यादिति चेद् भवतु । च्छ्वोः शूड् भविष्यति । ततः स्वेऽङ्गो दीत्वम् । योऽनादिष्ठात्पूर्वं इति न्यायात्पुनरुवादेशो न भवति । स्विधौ—शिष्टि । पिष्टि । इनस खस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादनुस्वारस्य परस्वत्वं भवति । अनादिष्ठादचः पूर्वस्थानी नकारस्तस्यैवायं विधिः । अनुस्वारविधौ—शिषन्ति । पिषन्ति । “नश्चापदान्तस्य ऋक्लि” [५।४।८] इत्यनुस्वारे कर्तव्ये नकारः “इनसः खम्” [४।४।१०१] इत्यनादिष्ठादचः पूर्वं इत्यलं न स्थानिवद्भवति । दीविधौ—प्रतिदीनः । प्रतिदीना । अनः खस्य परनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “हस्यभकुसुरः” [५।३।८६] इत्यनुवृत्तौ “उक्लि” [५।३।८७] इति दीलं सिद्धम् । वकारो हल्परोऽस्मादेव वचनात् । चर्विधौ—जक्षतुः । जक्षुः । “गमहनजनखनवसोऽनकि षिङ्गति” [१।४।६३] इत्युङः खं घकारस्य चत्वे कर्तव्ये स्थानीव न भवति । गिर्योरिति प्रकृतिपूर्वत्वेनान्तरङ्गे दीलं कर्तव्ये वणादेशोऽसिद्धः ।

द्वित्वेऽस्मि ॥१।१।२६॥ नपदान्तद्वित्वेऽस्मि द्वित्वग्रहणमनुवर्तते । तत्कार्यविशेषणम् । द्वित्वनिमित्तेऽन्वयादेशो द्वित्वे कर्तव्ये स्थानीव भवति । रूपातिदेशोऽयम् । आदुङ्णिग्वान्तःस्थायाद्यादेशाः प्रयोजनम् । आत्वम्—यपतुः । पपुः । “इडि चात्खम्” [४।४।६३] इत्यात्वस्य स्थानिवद्भावादेकाचो लिटि द्वित्वं सिद्धम् । उङ्गः खम्—जग्मतुः । जग्मुः । “गमहनजनखनवसोऽनकि” [४।४।६३] इत्युङः खस्य स्थानिवद्भावाद् द्वित्वं भवति । णिखम्—आटिष्टत् । लुङि कचि णिखे च कृते णिखस्य स्थानिवद्भावादचं इति द्वितीय-स्रैकाचो द्वित्वं भवति । अन्तःस्थादेशः—चक्रतुः । चक्रुः । वणादेशस्य स्थानिवद्भावादेकाचो द्वित्वं भवति । अयाद्यादेशाः—अहं निनव निनाय । अहं लुलव लुलाव । अयाद्यादेशानां स्थानिवद्भावादस्य णलि नेनै, लोलौ इति द्वित्वं भवति । द्वित्वनिमित्त इति किम् ? दुद्युति । ऊटि यणादेशो धोर्न तूड् द्वित्वनिमित्तमिति स्थानिवद्भावो न भवति । अचीति किम् ? जेघीयते । देघीयते । यङि द्वित्वनिमित्ते प्राध्मोरीकारादेशः स्थानीव न भवति । द्वित्वे कर्तव्य इति किम् ? जग्ले । मग्ले । धोराकारस्यावस्थानं न भवति ।

ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः ॥१।१।६०॥ ईविति यत्र निर्दिश्यते तत्र पूर्वस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति । केति यत्र निर्दिश्यते तत्र परस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति । ताप्रकृतिर्भवतीत्यर्थः । इतिकरणोऽर्थ-निर्देशार्थः । ईप्केति इमे संज्ञे द्वयोर्विमक्तयोः प्रत्यायिके प्रसिद्धं । ताभ्यामिति शब्दः परः प्रयुज्यमानो विभक्ति-प्रतिपाद्यो योऽर्थस्तं प्रत्यापयति । ईवथौ यत्र निर्दिश्यते, कार्यो यत्र निर्दिश्यत इत्यर्थः । ईवर्थनिर्देशः “अचीको यण्” [४।३।६५] दध्युदकम् । मध्ववत् । अव्यवाय इति किम् ? धर्मविदत्र । कार्यनिर्देशः—अस्यात् । ददति । दधति । अव्यवाय इति किम् ? चिकीर्षन्ति । शपा व्यवायाज्जेरदादेशो न भवति ।

नाशः खम् ॥१।१।६१॥ नाशोऽनुपलब्धिविधरभावोऽप्रयोग इत्यनर्थान्तरम् । एतैः शब्दैः प्रति-पाद्यमानस्यार्थस्य खमित्येवा संज्ञा भवति । इतिकरणोऽनुवर्तते । तेन नाशार्थस्य संज्ञेयं लभ्यते । स्थानिग्रहणं चानुवर्तते । प्रसङ्गवाञ्छ स्थानी । तेन प्रसङ्गस्य नाशः खसंज्ञो भवति । भाविनी नाशस्य संज्ञित्वं संज्ञापि भावि-नीति नेतरेतराश्रयदोषः । वक्ष्यति “वलि ऋदोः खम्” [४।३।५५] दासेरः । काणेरः । “क्षुद्राभ्यो वा” [३।१।१२०] इति दूण् । “इडि चात्खम्” [४।४।६३] यिखम् । जक्षत् । खप्रदेशाः “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इत्येवमादयः ।

१. खमित्यलं न अ०, स० । २. प्रतिदीक्षा अ०, स० । ३. प्रतिदीक्षे अ०, स० । ४. प्रकृतेः “गिरि” इत्यस्य पूर्वभागस्य “गिर्” इत्यस्यापेक्षत्वेनेत्यर्थः । ५. —वादेकाचो द्वि-प० । ६. आयाद्यादे-स० ।

उबुजुस् ॥११६२॥ तस्यैव नाशस्य उप् उच् उस् इत्येताः संज्ञा भवन्ति । संज्ञासंकरप्रसङ्ग इति चेत् उप् उच् उस् संज्ञाभिर्भावितस्य नाशस्य एताः पृथक् संज्ञास्तेनादोषः । “नोमता गोः” [१११६४] इति प्रतिषेधो ज्ञापकः खसंज्ञाया अत्र समावेशो भवति । ततः पञ्च सप्तेति त्याश्रयं पदञ्च सिद्धम् । “क्सस्याचि खम्” [५१२६६] इति वर्तमाने “बोद् दुहदिह” [५१२७०] आदिसूत्र उव्वचनं ज्ञापकमुबुजुसः सर्वस्य स्थाने भवन्ति नान्तस्य । एता अपि भाविन्यः संज्ञाः । उदाहरणम्—पञ्चशकुलम् । पञ्चभिः शकुलीभिः क्रीतम् । “शकुलसौ” [३१२२६] इत्याहोस्य ठस् उप् । ततो “हृदुप्युप्” [११११६] इति स्त्रीस्यस्योप् । जुहोति । विभेति । “उज् जुहोत्यादिभ्यः” [११४१४६] इति शप् उच् । तत उचि द्वित्वम् । पञ्चालानां निवासो जनपद इत्यागतस्यास्यः “जनपदे उस्” [३१२६१] इत्युस् । ततो “युक्तवदुसि क्लृप्तसंख्ये” [१११६८] इति लिङ्संख्यातिदेशः । उबुजुसप्रदेशाः “हृदुप्युप्” [११११६] इत्येवमादयः ।

त्यखे त्याश्रयम् ॥११६३॥ तस्य खे कृतेऽपि त्याश्रयं कार्यं भवति । सुमिह् किप्यश् खिखानि प्रायः प्रयोजयन्ति । सुपः खम्—धर्मवित् । सोः खेऽपि पदसंज्ञा भवति । मिहः खम्—अधोक् । “हृक्कषापः” [४११५६] इति तिप् खेऽपि पदसंज्ञायामेवत्वान्पृथक्त्वान्तराणि भवन्ति । विष्णुः खम्—अग्निचिह्नम् । क्षिपो नाशेऽपि तुक् । बहः खम्—पापचीति । यङो नाशेऽपि द्वित्वादिकार्यं भवति । णिखम्—कार्यते । हार्यते । गौरभावेऽप्येवभवति । प्रथमं त्यग्रहणं किम् ? आशनीत । आश् पूर्वाहन्तोर्विभ्यदितिङ् । “आङो यमहनः” [१११६३] इति दः । “लिङोऽनन्त्यसखम्” [६१११३८] इति सीयुङैकदेशस्य सकारस्य खेऽपि त्याश्रयं कार्यं भवति किञ्चित् ङस्य खं न भवति । द्वितीयं त्यग्रहणं किम् ? वर्णाश्रयं मा भूत् । गवे हितम् गोहितम् । त्यखे सत्यपि अचीति वर्णाश्रया अवदयो न भवन्ति ।

नोमता गोः ॥११६४॥ उमता वचनेन नाशिते त्ये यो गुस्तस्य त्याश्रयं न भवति । मृष्टः । जुहुवः । शत्राश्रवावैत्रेणो न भवतः । गर्गा इति बहुत्वविवक्षायां यजिप्रोक्तपि कृते तदाश्रय आदेरेव भवति । गोरिति किम् ? पार्श्वक । जरीयुहोति । द्वित्वं जिश्च भवतः । नोमतेति योगविभागः । तेन गोरन्यत्रापि क्वचि-त्याश्रयं न भवति । परमवाचः । परमवाचा । अन्तर्वर्तिनी विभक्तिमाश्रित्य पदत्वात्कुत्वं प्राप्तं नोमतेति प्रतिषिध्यते ।

अन्त्याद्यचष्टिः ॥११६५॥ अच इति जातिनिर्देशः । निर्धारणे च ता । समानजातीयस्यैव लोके निर्धारणं प्रसिद्धमिति द्वितीयमग्रहणं लभ्यते । अचां योऽन्त्योऽच् तदादि शब्दरूपं टिसंज्ञं भवति । धर्मविदत्र इच्छब्दः । ज्ञानसुदत्र उच्छब्दः । आताम्, आयामित्यत्र उच्छब्दः । पचेते । पचेथे “दिदुदरे” [२१४६६] इति ढेरेत्वम् । अहं पचे इति व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । टिप्रदेशाः “दिदुदरे” [२१४६६] इत्येवमादयः ।

उपान्त्यालुङ् ॥११६६॥ अलामन्त्यस्य समीपोऽल् उङ्संज्ञो भवति । अन्त्यग्रहणादलां समुदायो लभ्यते । अस्सनुदायापेक्षया अन्त्योऽल् भवति न केवलः । पच् इत्यकारः । भिद् इतीकारः । पाचकः । भेदकः । उपान्त्य इति किम् ? व्यवहितस्यान्त्यस्य च मा भूत् । अलिति किम् ? समुदायस्य मा भूत् । उङ्प्रदेशाः “उङोऽतः” [५१२४] “युङः” [५१२८३] इत्येवमादयः ।

येनालि विधिस्तदन्ताद्योः ॥११६७॥ येन शब्देन यो विधिर्विधीयते स तदन्तस्य भवति । अलि यो विधिः स तदादौ भवति । “योऽचोऽजासुयुवः” [२११८४] इत्यचो यविधिर्विधीयत इत्यजन्ता-भवति । जेयम् । जेयम् । केवलाद्व्यपदेशिजङ्गावेन । एयम् । अध्येयम् । “आतः कः” [२१२३] इत्या-कारान्तात्कः । गोदः । कम्बलदः । “स-त्य-विधौ न तदन्तविधिः” [वा०] । सविधौ—कथं परमश्रित इति ईसो न भवति । त्यविधौ—सूत्रनङस्यापत्यं सौत्रनाडिः । “नडादेः फण्” [३११८८] इति फण् न भवति । “उगित्कार्ये” वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यम् [वा०] भवती । अतिभवती । दाद्विः । नैतद्वक्तव्यम् ।

सुपा श्रितादयो विशेष्यन्ते न तु श्रितादिभिः किञ्चिद्विशेषणेन च तदन्तविधिः । मृदा नडादयो विशेष्यन्ते न नडादिभिर्मृदः । उगिता च वर्णेन मृद् विशेष्यते । अलीति वर्णनिर्देशः । अलि यो विधिः स तदगदी भवति । “रनुधुभ्रुवां स्वरुवांयुवौ” [४।४।७२] चिच्छियतुः । चिच्छियुः । व्यपदेशिवद्भावेन केदलेऽपि तदादित्वात् । चिच्छिये । येनेति करणे भा । विधिशब्दः कर्मसाधनः ।

अदवाद्यैस्तु ॥ १।१।६८ ॥ अद्वयति जातिनिर्देशे निर्वाण्ये नेत् । अन्तु आदिभूतानाञ्च एतस्य समुदायस्य स दुसंज्ञो भवति । ऐतिकायनस्य शिष्य ऐतिकायनीयः “दोश्छः” [३।२।६०] इति छः । आम्बुस्यपत्यमाभ्याश्च “द्वित्कुहनाद्यादकोशलाज्यः” [३।१।१५३] इति ज्यः । इयणा अस्मिन्देशे सन्ति “बुध्छयकठेछ” [३।२।६०] आदिसूत्रे अरीहणादिस्ताद् बुज् । द्रौघणके जातो द्रौघणकीयः “दोः कलोछः” [३।२।११७] इति छः । आद्वयति किम् ? इलामात्रवच्चार्थम् । ओषगवीयः । कण्टवीयः । आन्ध्रपञ्चया बहुत्र किम् ? द्वयच एकाचश्च दुसंज्ञा यथा स्यात् । मालामयम् । वाङ्मयम् । आदिगिति किम् ? नमान्द्वयने जातः सभासन्नयनः । छः प्रसज्येत । ऐविति किम् ? दत्तस्यायं दातुः । दुपदेशाः “दोश्छः” [३।२।६०] इत्येवमादयः ।

त्यदादि ॥ १।१।६९ ॥ त्यदादीनि शब्दरूपाणि दुसंज्ञानि भवन्ति । अदवादिर्नित मेहविषयवत् । चयमित्यन्वयेत तदोपसर्जनत्वे सत्यपि वचनात्तदादेरेव दुसंज्ञा स्यात् केवलानामिति । त्यदीयः । तर्दीयः । तदापत्यं स्वादायनिः । मादायनिः । “वा वृद्धाद् दोः” [३।१।१४४] इति फिज् । त्यदादिः सर्वोद्देशार्थः । आपरिसमाप्तेः ।

एङ् प्राग्देशे ॥ १।१।७० ॥ अदवादेरिति वर्तते । एङ् यस्याचामादिस्ताद् दुसंज्ञा भवति प्राचो देशाऽभिधाने । एणीपचने जात एणीपचनीयः । एवं गोनदीयः । भोजकदीयः । एङिति किम् ? आहिन्ध्यः । कान्यकुब्जः । प्राग्ग्रहणं किम् ? देवदत्तो नाम बाहीकेषु ग्रामस्ताव भवो देवदत्तः । देश इति किम् ? गोमर्ता नाम नदी तस्यां भवो गोमतः । “वा नाम्नः” [१।१।७१] इति यदा दुसंज्ञा नास्ति तदेदमुक्ताम् । “भिन्नलिङ्गो नदीवेशोऽग्रामोऽपुरम्” [१।४।८३] इति ज्ञापकान् नदी देशग्रहणेन न गृह्यते । शरावती नाम नदी नम्याः पूर्वो देशः प्राग्देशः । उत्तरस्तूदीचां देशः ।

वा नाम्नः ॥ १।१।७१ ॥ पुरुषैर्व्यवहाराय सङ्केतितः शब्दः संज्ञा नाम । नामधेयस्य वा दुसंज्ञा भवति । पद्मनन्दीयम् । पाद्मनन्दिनम् । देवदत्तीयन् । देवदत्तम् । नाम्न इति किम् ? देवदेस्त इति यः क्रियानिमित्तको देवदत्तशब्दस्तस्य काश्वादिषु पाठाद्व्युत्पादेव भवतः । वेति व्यवस्थितविभाषः । तेन कृत्वाभ्यासो रौढिः घृतरौढिः । संज्ञेयम् । तस्य शिष्या घृतरौढीयाः । एवमोदनपाणीयः । वृद्धार्मीयाः । वृद्धकाश्यपीयाः । नित्यं दुसंज्ञा । “जिह्वाकात्यहरितकात्ययोर्न भवत्येव” [वा०] जैह्वाकाताः । हरितकाताः ।

अणुदित् स्वस्यात्मनाऽभाव्योऽतपरः ॥ १।१।७२ ॥ अण् उदिच्च गृह्यमाणः स्वस्य ग्राहको भवति आत्मना सह भाव्यमानं तपरं च वर्जयित्वा । इदमणग्रहणं परेण णकारेण । “अतः फादेरेष्” [१।२।१२२] इति तपरनिर्देशाज्जायते । “यः य ऊर्था च” [४।४।१३६] दाक्षिः । चौलिः । दैत्यः । कामारः । “अस्य स्त्रौ” [१।२।१४१] शुक्लीभवति । मालीभवति । उदित्—“स्तोः क्षुना क्षुः” [१।४।११६] “क्षुना क्षुः” [१।४।१२०] । अभाव्य इति किम् ? भाव्यन्ते उत्पाद्यन्ते त्यादेशद्विक्तिर्नितस्ते स्वस्य ग्राहका न भवन्ति । “अस्यात्” [२।३।८४] “त्यशदेरः” [१।१।१६१] दित्-लविता । किन्-बभूव । भित् । “सुजिह्वोरम्” [४।३।२१] । अतपर इति किम् ? सिसोऽन ऐस्” [१।१।८] । वृत्तैः । खट्वाभिरित्यत्र न भवति । तकार इदस्य सोऽयं तिदिति सिद्धे परग्रहणमुभयार्थम् । तः परोऽस्मात्तपस्तादपि परस्त-

१. इतिकस्यापत्यं पुमान् ऐतिकायनः । नडादेः कणिति कण् । २. अरनादेरित्यर्थः । ३. वृद्धान्तीयः
व०, स० ।

परः । इदमेव शपकं सविधौ केति वोगविभागोऽस्ति । “आइगैप्” । [१।१।१५] “अदेडेप्” [१।१।१६] तपरत्यादैवेडादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । “अभाभ्योऽतपरः” इति पृथग्भावा-
वशुच्चारणं किम् ? क्वचिद्भाष्योऽपि स्वं गृह्णातीति शपनार्थम् । अमूभ्याम् । संज्ञासूत्रमिदं न परिभाषा ।
सा हि नियमार्था भवति । न चाणुदितां स्वस्यास्वस्य च ग्रहणं प्राप्तं येन स्वस्यैवेति नियमः स्यात् ।

अन्त्येनेतादिः ॥१।१।७३॥ अन्त्येनेतसंज्ञकेन गृह्यमाण आदिस्तन्मध्यपतितानां ग्राहको भवत्यात्मना
सह । आद्यन्तौ सम्बन्धिशब्दौ । अतः सामर्थ्यादाद्यन्तव्यतिरेकेण तन्मध्यपाति वस्तु प्रत्येकं मञ्जित्वेनाक्षिप्तम् ।
अ इ उ इत्येतेषां प्रत्येकमस्ति संज्ञा । एवमक् अच् अट् इत्येवमादयः । अन्त्येनेति किम् ? सुडित्यत्र
आदिना टा इत्येतस्य टकारेण ग्रहणं मा भूत् । अन्त्येनेतीदमेव शपकं सहाय्यं गम्यमानेऽपि मा भवति ।

असंख्यं भिः १ ॥१।१।७४॥ संख्या एकत्वादिका सा यत् न विद्यते तदसंख्यं भित्तं भवति । एकत्वा
दिनिवृत्तना विभक्त्युत्पत्तिरसंख्यादप्राप्ता “सुपो केः” [१।४।१५०] इति वचनाद्भवति । के पुनरसंख्याः ? स्क् ।
अन्तरं । प्रातरं । सनुतरं । पुनरं । सायनं । नक्तम् । अस्तम् । वस्तोः । दिवा । दोषा । ह्यः । श्वः । कम् । शम् ।
योर्ध्वः (?) च* । न । अभ्यस् । विहायसा । रोदसी । ओम् । भूः । भुवः । स्वस्ति । समया । निकया । अन्तरा ।
बहिस् । साम्प्रतम् । अद्या । सत्यम् । इद्या । मुधा । मृषा । कृषा । मिथ्या । मिथो । मिथु । मिथुनम् । मिथुम् ।
अनिशम् । नुह्यः । अभीक्ष्णम् । मङ्गलम् । भटिति । उच्चैस् । अवश्यम् । सामि । साचि । विश्वक् । अन्वक् ।
आनुषक् । साजक् । द्राक् । प्राक् । ऋधक् । पृथक् । धिक् । हिरक् । व्योक् । मनाक् । शनैः । ईप्त् । जोषम् ।
तूष्णीम् । कामम् । निकामम् । प्रकामम् । आरात् । अरम् । वरम् । परम् । चिरम् । तिरः । नमः । स्वयम् ।
भूयः । प्रायः । प्रबाहुकम् । । आर्वहलम् । कुः । अलम् । बलवत् । अतीव । सुष्ठु । दुष्ठु । ऋते ।
सपदि । सान्नात् । सनात् । सना । आशु । सहसा । युगपत् । उपोशु । पुरा । पुरतः । पुरस्तात् । पुरः ।
इत्येवंप्रकाराः, निसंज्ञकाश्च सर्वे “च, वा, इ, अह” एवम्भूतयो द्वितश्च तसादयस्तत इत्यादयश्च्यवर्गाः, कृतः
मुमाम्लुमादयः क्त्वाप्यदेशश्चेति । हसश्चेति केचिरुच्यन्ति, तत्तु चिन्त्यम् । उपाधिकमित्येकोऽसम्भवात् । उपकुम्भ-
म्भन्यम् इति मुमो दर्शनात् । उपकुम्भीकृत्येति ईर्त्वाविधानाच्च । सामान्यविषया भित्तंज्ञा । विशेषविषया निसंज्ञा ।
असंख्यग्रहणं किम् ? यत्रासंख्यत्वं प्रतीयते तत्र भित्तंज्ञा । उच्चैः । परमोच्चैः । अस्ति । स्वस्ति । उपसर्जने मा भूत् ।
अत्युच्चैः । अच्युच्चैसौ । अत्युच्चैसः । अत्यस्तिः । भिप्रदेशाः “सुपो केः” [१।४।१५०] इत्येवमादयः ।

गाङ्गादादेरञ्जिण्डित् ॥१।१।७५॥ गाङ्गित्येतस्मात् कुटादिभ्यश्च घुभ्यः परेऽञ्जितस्तस्या ङितो भवन्ति ।
विनापि वतमतिदेशो गम्यते । गाङ्गिति व्याख्यानादिङादेशो गृह्यते । कुटादिस्तुदादेरन्तर्गणो यावत् कृत्शब्द इति ।
गाङ्—अध्यगीष्ट । अध्यगीषताम् । अध्यगीषत । लुङ्लृङोर्वेति इङो गाङादेशः । “सुभा” [४।४।६२]
आदिसूत्रेणेत्यम् । कुटादि—कुटिता । कुटितुम् । कुटितव्यम् । पुटिता । पुटितुम् । पुटितव्यम् । व्यचेरनसि
कुटादित्वम्—विचिता । विचितुम् । विचितव्यम् । अनसीति किम् ? उद्धवचाः । “अस् सर्वधुभ्यः” इत्यस् ।
अञ्जिण्डिति किम् ? उक्तोदयति । उक्तोदो वर्तते । द्वितीव ङिङ्वात् । ईवन्तादयौ गम्यते । तेन उच्चुकुटिपति
इत्यत्र “ऊनुदात्तेषो ङः” [१।२।६] इति दो न भवति ।

इङ्चिजः ॥१।१।७६॥ अन्त्येनेतादिरित्यत आदिरिति वर्तते । विजेषोऽन्तर इडादिस्त्यो ङिङ्गवति ।
उद्विजित्वा । उद्विजितुम् । उद्विजितव्यम् । इङिति किम् ? उद्वेजनम् । उद्वेजनीयम् । विज इति किम् ?
लजिता ।

१. “भिः” सु० । २. “च नास्ती” इति अ०, व०, स०, पुस्तकेषु, तत्र “च” “न” “आम्” “नो”
इति पवच्छेदो युक्तः । ३. ‘बहिर्’ अ०, व०, स० । ४. ‘भाजक्’ इति अ० । ‘ताजक्’ इति स० ।
‘साजक्’ इति व० भुविस्तयोः । परमयं शब्दभेदोऽन्वेष्ट्यमाणोऽन्यव्याकरणशिक्षांशेषु च नोपलब्धः ।
५. अदर्शनादिति युक्तम् । ६. ‘ङिङ्चिजम्—अ०, व०, स० ।

घोर्णोः ॥१११७७॥ ऊर्णोतेः पर इडादित्यो^१ वा ङिङ्भवति । प्रोर्णुं विता । प्रोर्णविता । अप्राप्ते^२ विक-
त्योऽयम् । दसंज्ञके तु लङ् इति परत्वान्नित्यो विधिः । प्रोर्णुं वि । अङिणदित्येव । निवदिदि-प्रोर्णविन्यते ।
इडादिरित्येव । प्रोर्णवनम् । प्रोर्णवनीयम् ।

गोऽपित् ॥ १११७८ ॥ अपिद् गसंज्ञको ङिङ्भवति । कुरुतः । कुर्वन्ति । चिनुतः । चिन्वन्ति । मृष्टः ।
मृजन्ति । ग इति किम् ? कर्ता । मार्था । अपिदिति किम् ? करोति । मार्थे । अपिदिति प्रसज्यप्रतिषेधः ।
यद्येवं तुदानि लिखनीत्यत्र पिदपितोरेकादेशः^३ पिङ्भवति “बुङ्” [१११८३] एधप्रसज्येत । नायं दोषः ।
लोडादेशस्य पित्वं न चाट^४ । अथवायं पर्युदासः । इह तर्हि न्यवन्ते प्लवन्त इति परापेक्षपिदपितोरेकादेशस्य
पितोऽन्यत्वमस्तीत्येव प्रतिषेधः प्रसज्येत । नैष दोषः—“वाखाद् गात्रं बलीयः” इति, प्रागैवैकादेशादेप् ।

लिङ्स्फात्कित् ॥ १११७९ ॥ अपिदित्येव । अस्फान्तात्परोऽपिङ्गिद् किङ्भवति । विभिदतुः । विभिदुः ।
ममृजतुः । ममृजुः । लिङिति किम् ? यथा । अस्फादिति किम् ? ममन्यतुः । ममन्युः । ननु ररन्धिव ररन्धिम
इत्यत्रास्फाद्विहितो लिङ् । नैवम् । भुविवावुपदेशग्रहणाभयणात् । एवञ्च कुरडा दुरडेत्यत्र “सरोर्हलः”
[१११८५] इति अस्त्वो भवति । अपिदित्येव । विभेदिथ । ङिदिति कर्त्तमाने किङ्ग्रहणं किम् ? ईजतुः । ईजुः ।
ङिति जिर्न स्यात् । इयमेव किङ्ग्रहणः । वृते, वृषे इत्यत्र परत्वादेपि कृते स्फान्तात्वमिति चेत्, इष्टवाचित्वा-
त्परशब्दस्येत्यदोषः । अस्फादिति प्रसज्यप्रतिषेधः । न चेत् स्फान्ताद्विहित इति पर्युदासे हि हलन्तादेव लिङ्
कित् स्यात् । “घोर्णोः” [१११८८] इत्यतो वेति ध्वजस्थितविभाषाऽनुवर्तते । ततः अन्धिमन्धिर्धमन्धि-
न्धिम्योऽपि किङ्भवतीत्येके । श्रेयतुः । श्रेयुः । प्रेयतुः । प्रेयुः । देमतुः । देमुः । परिषस्वजे । परिषस्वजाते ।
समीधे । समीधाते । समीधिरे ।

मृडमृदगुधकुषवदवसः क्त्वा ॥१११८०॥ मृड मृद गुध कुष वद वस इत्येतेभ्यः परः क्त्वा त्यः
किङ्भवति । मृडित्वा । मृदित्वा । गुधित्वा । कुषित्वा । उदित्वा । उधित्वा । सिद्धे विधिरारम्भमागो नियमार्थः ।
तुल्यजातीयस्य च नियमः । सेट् क्त्वा तुल्यजातीयः, तेन मृडादिभ्य एव क्त्वा भेद् किङ्भवति नान्येभ्यः । देवित्वा ।
सेवित्वा । वर्तित्वा । सेडिति विशेषणं किम् ? मुक्त्वा । मुक्त्वा । मृडादिभ्यः क्त्वैव किङ्भवतीति^५ विपर्ययो
नियमो नाशङ्कनीयः । एवं हि “क्लिशः” [१११८१] इति क्त्ववचनमनर्थकं स्यात्, प्रतिषेधाभावात् ।
गुधिकुष्योस्तु “बुङ्गोऽवो हलः संज्ञ” [१११८७] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः ।

क्लिशः ॥ १११८१ ॥ क्लिशः परः क्त्वा सेट् किङ्भवति । क्लिशित्वा । पूर्वेण नियमेन क्त्वै निवर्तिते
“बुङ्गोऽवो हलः संज्ञ” [१११८७] इति विकल्पः प्राप्तः । पूर्वं सूत्रे इष्टतोऽवधारणार्थं योगान्तरम् ।

मुषग्रहिरुदावदः संञ्च ॥१११८२॥ मुष ग्रहि रुद विद इत्येतेभ्यः परः संञ्च (सन्) क्त्वा च सेट् किङ्-
वति । मुमुषिषति । जिघृक्षति । रुदिरपति । विविदिषति । मुषित्वा । गृहीत्वा । रुदित्वा । विदित्वा । ग्रहेर्मु-
डादिनियमाभिप्रायौ विध्यर्थमितरेषां “बुङ्गोऽवो हलः संज्ञ” [१११८७] इति विकल्पे प्राप्ते वचनम् ।

भल्लिकः ॥१११८३॥ क्त्वेति निवृत्तम् । अन्त्येनेतादिरित्यत आदिरिति वर्तते । इगन्ताद्धोः परो भल्लादिः
सन्किङ्भवति । सामर्थ्यात्सन्निहितस्य धोरिका तदन्तविधिः । चिचीषति । निनीषति । रुरुपाति । चिकीर्षति ।
शुल्लुषति । सुवि सुनि दीत्ववचनसामर्थ्यान्मात्रिकद्विमात्रिकयोरेवभावः सिद्ध इत्यस्यानर्थक्यम् । शिखमपि तर्हि न
स्यात् । शीप्सति । एतस्मिंस्तु सनि चिचीषत्यादिषु सात्वकाशं दीत्वं परत्वाशिखात्वेन बाध्यते । भल्लादिगिति किम् ?
शिखायिषते । इक इति किम् ? पिपासति । सनीत्येव । कर्ता ।

१.-दिः त्यो” अ०, स०, सु० । २.-स्तविक-अ० । ३. पिङ्गवद् अ-अ०, ब०, स० । ४. चाटः अ० ।
५.-वति विप-अ०, ब०, स० । ६. पूर्वं सूत्रे सु० । ७. रुदित्वा इति नास्ति अ० ब० स० पुस्तकेषु ।
८. शीप्सतीति अ०, ब०, स० ।

हलन्तात् ॥ १।१।८४ ॥ सन् भलिक इति^१ वर्तते । अन्तःशब्दः समीपवचनः । इकोऽन्तः समीपे यो हल तदन्ताद्धोर्लतादिः सन्किद् भवति । विमित्तति । बुभुत्सते । विवृत्सति । अन्तग्रहणं किम् ? यियत्तति । जिर्न भवति । नात्रेकस्मीपादलः परः सन् । एवं वा सूत्रार्थः । इकः परो हलन्तो हलवयवो यो धुस्तस्मादुचरो भलादिः सन्किद् भवति । अन्तग्रहणं स्पष्टार्थमुक्तमस्मिन् व्याख्याने । इक इति कानिदेशः किम् ? यियत्तति । भलित्वेव । निर्विद्धपते । “निरेकाजनाङ्” [१।१।२२] इत्यत्र एकग्रहणं सापकमुक्तम्, “अन्यत्र वर्णाग्रहणे जाति-ग्रहणमिति ।” तेनेह हलग्रहणेन भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययानिभित्तिं हल् जातिर्गृह्यते । ततो धिंसतीति सिद्धम् ।

सिलिङ् दे ॥ १।१।८५ ॥ सन्निति निवृत्तम् । भलिकः हलन्तादिति च वर्तते । सिश्च लिङ् च दे इको हलन्तादुचरो भलादी कितौ भवतः । सेरेव दपरत्वं विशेषणं न लिङोऽसम्भवात् । द एव हि लिङ् भलादिः । अभित्त । अलुङ् । भिःसीष्ट । सुत्सीष्ट । द इति किम् ? अस्ताच्चीत् । अद्राच्चीत्^३ । किञ्चे सृजितशोरमागमो न स्यात् । “वदधज (वजवद)” [२।१।७६] इत्यादिनैप् । इक इत्येव । अयष्ट । यच्चीष्ट । जिः प्रसज्येत । हलन्तादित्येव । अचेष्ट । चेष्ठीष्ट । एम्न स्यात् । भलादिरित्येव । अवर्तिष्ट । वर्तिष्ठीष्ट । एम्न स्यात् ।

उः ॥ १।१।८६ ॥ अर्तव्याख्यानादग्रहणम् । शृवर्णान्ताद्धोः परौ सिलिङो दे भलादी कितौ भवतः । अकृत । अदृत । कृषीष्ट । हृषीष्ट । द्विमात्रस्व । अस्तीष्टाम् । स्तीर्षीष्ट । “लिङ्स्पोर्दे” [२।१।६०] इत्यनि-ट्पक्षे द्रष्टव्यम् । भलादिरित्येव । अस्तिरिष्ट । स्तरीष्ठीष्ट ।

गमो वा ॥ १।१।८७ ॥ गमेर्धोः परौ सिलिङौ दे भलादी वा कितौ भवतः । समगत । सङ्गसीष्ट । वा गमः किञ्चे “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना ङत्वं “ग्राद् गोः” [२।१।४५] इति सेः खम् । पक्षे-समगंस्त । सङ्गसीष्ट ।

हनः सिः ॥ १।१।८८ ॥ हन्तेर्धोः परः सिर्दे किद्भवति । आहत । आहसाताम् । आहसत । सेः कित्वान्ङस्य खम् । [“अन्यथा अनिदित इति उङः खस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पुनः सिग्रहणं लिङ्निवृत्त्यर्थम् । दग्रहणमनुवर्तते । एवं नित्यो वधादेश इति इह प्रयोजनं नास्ति ।

यमः सूचने ॥ १।१।८९ ॥ यमेर्धोः सूचनेऽर्थे वर्तमानात्परः सिर्दे किद्भवति । सूचनं गन्धनमा-विष्करणमित्यर्थः । उदायत । उदायसाताम् । उदायसत । अकर्मकत्वे “आङो यमहनः” [१।२।२३] इति दः । सूचनं इति किम् । आयंस्त कृपाद्रज्जुम् । सकर्मकत्वे “समुदाङ्ग्यमोऽग्रन्थे” [१।२।७०] इति दः ।

चोपयमे ॥ १।१।९० ॥ उपयमो दारस्वीकारः । उपयमेऽर्थे वर्तमानाद्यमेर्धोः परः सिर्दे वा किद्भवति । उपायत कन्याम् । उपायंस्त कन्यान् । “स्वीकृतावुपायमः” [१।२।२१] इति दः । इयमप्राप्ते विभाषा । स्वीकारसूचने पूर्वविप्रतिषेधेन पूर्वेषु नित्यो विधिः ।

भुस्थोरिः ॥ १।१।९१ ॥ द इति वर्तते । भुसंज्ञकानां तथा इत्येतस्य च धोरिकारोऽन्तादेशो भवति सौ सिश्च दे कित् । अदित । अधित । उपास्थित । “ग्रात्” [४।३।२४] इति सेः खम् । सन्निपातपारभाषाया अनित्यतां वक्ष्यति । तिष्ठतेः “उपान्मन्त्रकरणे” [१।२।२०] “धेः” [१।२।२१] इति दः । इत्ववचनसामर्थ्या-देपो निवृत्तिः सिङ्गंति किद्ग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्तमानं सेरपि विशेषणम्^१ ।

१. इति च वर्तते अ०, व०, स० । अत्र च शब्दोऽप्यर्थकः । २. अन्तःशब्दः व० । ३. अद्राक्षीत् इति सुजितपुस्तके नास्ति । ४. कोष्ठकस्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति । “इङ्गुङः किङ्कत्यनिर्दिष्टः” इत्यस्याग्राप्रवृत्तेः । ५. इन्धोर्दे “इनो वध लिङि” इति नित्यवधादेशविधानात् “हनः सिः” इत्यत्र लिङ्निवृत्तेः प्रयोजनं नास्ति किरवप्रयुक्त-नख-रूप-फलस्य लिङि नित्ये वधादेशोऽभावात् । ६. यथा विहितम् । तः सेट्—अ०, व०, स० ।

ॐ सेड् पूङ् शीङ् सिङ् निङ् इति ध्रुवो न ॥११।६२॥ पूङ् शीङ् सिङ् मिङ् चिङ् ध्रुव इत्येतेभ्यः परस्तसंज्ञः सेट् न किङ्भवति । पवितः । पवितवान् । “अयुक्तः किति” [१।१।१०] इतीटि प्रतिषिद्धे “पूङ्” [१।१।६६] इति तत्त्वोरिङ् विभाषितः । शीङ्-शयितः । शयितवान् । अनुबन्धो यङुबन्तनिवृत्त्यर्थम् । शोशितः । शोशितवान् । “एगिवाक्चादुङोऽसुधियः” [४।४।७८] इति यत्वम् । स्विदा । प्रस्वेदितः । प्रस्वेदितवान् । प्रमेदितः । प्रमेदितवान् । प्रक्षेदितः । प्रक्षेदितवान् । प्रधर्षितः । प्रधर्षितवान् । वैयात्ये धृष्ट इत्येव भवति । पूङ् : “तयोर्भ्यस्तत्त्वार्थः” [२।४।२२] इति कर्मणि क्तः । शीङ् : “धिगत्वार्थाच्च” [२।४।२८] इति कर्तरि (क्तः) चेति । स्विदादीनां “कर्तरि चारम्भे क्तः” [२।४।२६] इति कर्तरि क्तः । “आवितः” [१।१।१२२] इति प्रतिषेधे (धिद्धे) “वा भावारम्भयोः” [१।१।१२३] इति पक्षे भवति । त इति किम् ? पवित्वा । “पूङ्” [१।१।६६] इतीट्पक्षे मृडादिनियमादकित्वम् । सेडिति किम् ? पृतः । पृतवान् ।

मृषः स्वार्थे ॥११।६३॥ स्वार्थस्तितित्त्वा । मृषेर्धोः स्वार्थे वर्तमानात्तसंज्ञः सेट् न किङ्भवति । मर्षितः । मर्षितवान् । स्वार्थे इति किम् ? अण्मृषिते वाक्यमाह । धूनामनेकार्थत्वात् स्वार्थग्रहणं पठितापेक्षम्^१ । पाठस्तूपलक्षणम् । सेडित्येव । मृषु ग्रहणे चास्योदित्वात् “यस्य वा” [१।१।१२१] इतीटि प्रतिषिद्धे मृष्टम्^२ ।

उदुङो भावारम्भयोः शपः ॥११।६४॥ तः सेट् न किङ्भवति । उदुङो धोः शान्विकरणात्परो भावे चारम्भे च तः सेड् वा न किङ्भवति । भावग्रहणं क्तस्य विशेषणम् । आरम्भ आश्रयः^३ क्रियात्तुल्यः । स धोर्विशेषणम् । युतितमस्य । व्युतितमस्य । सम्बन्धे ता । कर्तृत्वविवक्षायां “न भित्त” [१।४।७२] इत्यादिना ताप्रतिषेधः । युतितमनेन । व्युतितमनेन । प्रलुटितः । प्रलोडितः । प्रलुटितवान् । प्रलोडितवान् । “कर्तरि चारम्भे क्तः” [२।४।२६] इति कर्तरि क्तः । उदुङ् इति किम् ? विदितमनेन । प्रविदितः । भावारम्भयोरिति किम् ? रुचितः कार्षीपणः । शान्विकरणादिति किम् ? गुणितमस्य । प्रगुणितः । श्रविकरणोऽयम् । सेडित्येव । रुढमस्य । प्ररुढः । तपरकरणमसन्देहार्थम् । निकुचित इति नकारस्य स्वे कृते “सन्निपातलक्षणे विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” इत्युदुङो विकल्पो न भवति । विहितविशेषणाद्वा ।

नोङ्स्थफात् क्त्वा ॥११।६५॥ सेडिति वर्तते वेति च । नकारोङोभोस्यकारान्तात् फकारान्ताच्च क्त्वा सेड् वा किङ्भवति । अथित्वा । अथित्वा । प्रथित्वा । प्रथित्वा । गुफित्वा । गुफित्वा । मृडादिनियमान्नित्यमकित्वे प्राप्ते विधिर्विभाष्यते । नोङ् इति किम् ? गोफित्वा । नन्वत्रापि “अ्युङोऽचो हलः संश्च” [१।१।६७] इति विकल्पेन भाव्यम् । एवं तर्हि ऋफोरफित्वा प्रत्युदाहरणम् । यफान्तादिति किम् ? छंसित्वा ।

यञ्चिलुश्च्युस्त् षिमुयिकृषः ॥११।६६॥ वञ्चि लुञ्चि ऋति तृषि मृषि कृष् इत्येतेभ्यः परः क्त्वा सेड् वा किङ्भवति । वञ्चित्वा । वञ्चित्वा । लुञ्चित्वा । लुञ्चित्वा । ऋतेर्वाऽर्ग इति यदा ईयङ् न भवति तदा ऋतित्वा । अर्तित्वा । तृषित्वा । तर्षित्वा । मृषित्वा । मर्षित्वा । कृषित्वा । कर्षित्वा । मृडादिनियमान्नित्यमकित्वं प्राप्तम् । सेडित्येव । वक्त्वा । मृष्ट्वा । “वोदितः” [१।१।१०४] इति पक्षे नेट् ।

अ्युङोऽचो हलः संश्च ॥११।६७॥ सेडिति वर्तते वेति च । उकारोङ् इकारोङ्श्च धोरस्यकारान्ताद्वलादेः परः संश्च क्त्वा च सेटो वा कितौ भवतः । उकारेकारोङोऽजन्तत्वासम्भवाद्बलग्रहणमादिविशेषणम् । दिव्युतिषते । दिव्युतिषते । “ए तु त्स्वाप्योर्जिः” [१।२।१६७] इति चंस्य जिः । युतित्वा । व्युतित्वा । लिलिखिपति । लिलिखिपति । लिङित्वा । लेखित्वा । सन्नकिदेव क्त्वापि सेट्मृडादिनियमादकित् । तयोर्प्राप्तं कित्वमनेन विधीयमानं

१. धातुपाठपठिततितिक्षार्थस्य ग्रहणमित्यर्थः । २. मृष्टः अ० । ३. अक्रि-व० । ४. “अयुक्तो-शिङ्गीयङ्” २।१।२८ इति नित्यं शिङ्गीयङो । अत्र “वाऽर्गो” इत्यनुवृत्ते अगो विकल्पेन शिङ्गीयङो इति तत्रत्यवृत्त्यभिप्रायः । एतदाशयेनैवात्र ऋतेर्वाग इति इत्याद्युक्तम् । नन्वित्यं किमपि सूत्रम् । ५. सवेति अ०, स० । ६. अभ्यासस्य ।

विकल्प्यते । व्युद्ध इति किम् ? विवर्तिष्यते । वर्तित्वा । अव इति किम् ? दिदेविषति । देवित्वा । हलादेरिति किम् ? एषिषिषति । एषित्वा । सनि एषि कृते द्वित्वम् । सेदित्येव । सुमुद्धते । भुक्त्वा ।

युक्तवृत्तसि लिङ्गसंख्ये ॥११॥६८॥ युक्तः प्रकृत्यर्थः । प्रत्ययार्थेन सम्बन्धात् । उसीऽर्थं उस् । उसि युक्त इव लिङ्गसंख्ये भवतः । इवार्थे वत् । उसिति नाशस्य संज्ञा । उसा नष्टस्य त्यस्यार्थः साहचर्यादुस् । तत्रोसर्थे प्रकृत्यर्थे इव लिङ्गसंख्ये विधीयते । लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकानि । संख्या एकत्वद्वित्वबहुत्वानि । पञ्चालो नाम राजा तत्प्राप्त्यर्थं “राष्ट्रशब्दाद्वाजोऽङ्” [३।१।१२०] इत्यङ् । बहुत्वे तस्योपि कृते पञ्चालाः क्षत्रियाः पुंल्लिङ्गा बहुसंख्याः । तेषां निवासो जनपदः “तस्य निवासादूरभवौ” [३।२।२६] इत्यागतस्याङ् : “जनपद उस्” [३।२।६१] इत्युस् । क्षत्रियेषु ये लिङ्गसंख्ये ते जनपदेऽपि भवतः । पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः । एवं वरुणानामदूरभवः । गोदौ नाम हृदौ तयोरदूरभवः । “वरुणादेः” [३।२।६२] इति उस् । वरुणाः । शिरोषाः । गोदौ । “अर्थातिदेशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता सिद्धा” (वा०) पञ्चाला रमणीया बह्वन्ना बहुक्षौरवृता बहुमाल्यफलाः वरुणा रमणीयाः । गोदौ रमणीयौ । “अजातेरिति वक्तव्यम्” (वा०) । पञ्चाला जनपदः । गोदौ ग्रामः । अत्र जनपदग्रामयोर्जातित्वात्तातिदेशः । जात्यर्थो जातिः । तेन तद्विशेषणानामपि प्रतिषेधः । पञ्चाला जनपदो रमणीयः । नेदं वक्तव्यम् । सम्ज्ञाग्रामाख्यात् । यथा वर्षा आपो दारा गृहाः सिकता इत्येवमादीनां संज्ञाशब्दानां संज्ञाग्रामा- एवादेव त्वलिङ्गे न त्वसंख्यया च साधुत्वमेवं जातेरपि भविष्यति । पञ्चालादीनां तु संज्ञाशब्दानामन्वाख्यान- प्रदर्शनार्थमुल्लिङ्गसंख्यातिदेशश्च विधीयते इत्यदोषः । उसीति किम् ? आमलकं फलम् । उपि कृते फलेऽर्थे आमलकशब्दस्य स्त्रीलिङ्गे मा भूत् । लिङ्गसंख्ये इति किम् ? वरुणा अदूरभवो ग्रामः । वरुणादित्वादुस् तस्य वनं वदरीवनम् । वनस्मत्तित्वातिदेशो मा भूत् । “विमाषौषधिवनस्पतिभ्यः” [५।४।६०] इति शतृवं प्रसज्येत । वेति व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेर्मनुष्यार्थे उसि विशेषणानां न लिङ्गसंख्यातिदेशः । पञ्चाला अभिरूपः । बह्वीका दर्शनीयः । चक्षेव मनुष्यः । “इवे प्रतिकृतौ कः” [४।१।१२०] इति कः । तस्य “उस् मनुष्ये” [४।१।१२२] इत्युत् । खलतिकादिषु संख्यातिदेश एव । खलतिकस्य पर्वतस्थादूरभवानि खलतिकं वनानि । हरीतक्यादिषु लिङ्गातिदेश एव । हरीतक्या अवयवः फलानि । “हरीतक्यादेः” [३।३।१२४] इत्युत् । हरीतक्यः फलानि ।

तिष्यपुनर्वसूनां भग्नन्द्वे द्वित्वम् ॥११॥६९॥ तिष्य एकः पुनर्वसू द्वौ । तेषां भग्नन्द्वे द्वित्वं भवति । उदितौ तिष्यपुनर्वसू । तिष्यपुनर्वसूनामिति किम् । राधानुराधाः । अवर्णधनिष्ठाः । भग्नहणं किम् । तिष्ये जातः । पुनर्वसूदोर्जातौ तत्र जात इत्यागतत्वाणो “भेभ्यो बहुलम्” [३।३।१३] इत्युप् । तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्य- पुनर्वसवो माणवकाः । ननु गौणत्वदेवात्र न भविष्यति । पर्यायार्थं तर्हि भग्नहणम् । पुष्यपुनर्वसू सिद्धपुनर्वसू इति । बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? एकवद्भावे मा भूत् । इदं तिष्यपुनर्वसु । इदमेव ज्ञापकं “वा तस्युग०” [१।४।८८] आदिसूत्रे वेति योगविभागोऽस्ति । द्वन्द्व इति किम् । यस्तिभ्यस्तौ पुनर्वसू येषां ते तिष्यपुनर्वसवो मुग्धाः तिष्यादय एवात्र विपर्ययेण प्रतीयन्त इति भविष्यत्वमस्ति । “जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनग्रन्थ- तरस्याम्” [१।२।६८ पा० सू०] इति न वक्तव्यम् । सामान्यविशेषात्मकत्वाद्वस्तुनः । विशेषेधनुवृत्ताकार- बुद्धिनिमित्तं सामान्यम् । व्यावृत्ताकारबुद्धिहेतव्यो विशेषः । तत्र सामान्यविवक्षायामेकत्वं भवति । सन्तो ब्रीहिः । विशेषविवक्षायां बहुत्वम् । सम्पत्ता ग्रीह्यः । संख्यातुप्रयोगे जातिविवक्षैव । एको ब्रीहिः सम्पत्तः सुभिन्नं कोति । अस्मदो द्वयोरेकत्वं च वा बहुत्वं न वक्तव्यम् । कथमहं ब्रवीमि, आवां ब्रूयः, वयं ब्रूम इति ? आत्मन इन्द्रियाणां च स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं विधत्त्या भविष्यति । कदाचिदात्मा स्वतन्त्रो भवति । अनेनाक्षणां पश्यामि । कदाचिदिन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यम् । इदमेऽङ्गि पश्यति । तत्रात्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षाया-

१. विकल्पेन विधीयत इत्यर्थः । २. “वद्विभक्ता” अ० “वद्विभक्त” सु० । ३. अस्मदो द्वयोश्च (पा० सू० १।२.५६) इति सूत्रं लक्षयति वृत्तिकारः ।

मेकंलंमिन्द्रियाणां^१ स्वातन्त्र्ये बहुत्वम् । सविशेषणस्यात्मविवक्षैव । अहं देवदत्तो ब्रवीमि । अहं साधुर्ब्रवीमि । युष्मदि गुराबुभश्विवक्षा । त्वं मे गुरुः । यूयं मे गुरुवः । एतच्च शब्दशक्तिस्त्वाभाव्यात् । फल्गुनीप्रोष्ठपदानां नक्षत्रे द्वयोर्बहुत्वं वेति न वक्तव्यम् । कथं कदा पूर्वं फल्गुन्यौ कदा पूर्वाः फल्गुन्यः । कदा पूर्वं प्रोष्ठपदे कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः ? यदा फल्गुनीसमीपगते चन्द्रमसि फल्गुनीशब्दो विवक्ष्यते तदा बहुत्वमन्यदा द्वित्वम् ।

स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषान्तरम्भः ॥१॥१॥१००॥ स्वभावत एव शब्द एकशेषमनपेक्ष्य एकत्वद्वित्वबहुत्वेषु वर्तते । अत एवैकशेषान्तरम्भः । एकत्वादीनां प्रकृत्युपात्तानामभिव्यक्तये विभक्त्युपादानम् । यथा एको द्वौ बहवः पञ्च सप्तेति । एव वृद्धः वृद्धौ वृद्धाः । अथ प्रत्यर्थे शब्दनिवेशाज्जेनानेकस्याभिधानं तत्रानेकार्थाभिधानेऽनेकशब्दत्वं प्रसक्तमत एकशेषः । अत्रोच्यते—यदि भिन्नेष्वभिधानाभिधानप्रत्ययहेतुर्जातिः शब्दार्थः । तस्याः प्रत्यायने एक एव शब्दः समर्थः । अथ द्वयं शब्दार्थः । तच्चानेकं व्यावृत्ताभिधानश्रुद्विलिङ्गम् । तस्याभिधित्वावामनेकशब्दत्वे प्राप्त एकशेष इति । एतदप्ययुक्तम् । अवशिष्टः शब्दो निवृत्तशब्दस्य यद्यर्थमभिधत्ते तदास्य द्वित्वेऽपि वृत्तिरिति किमेकशेषेण । अथ नाभिधत्ते तदा पश्चादपि स एवार्थः । कथमनेकार्थे वृत्तिः ? सरूपाणां द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थमेकशेष इत्यपि नास्त्यनभिधानात् । न हि भवति द्वौ च द्वौ च द्वाविति । अथ विरूपशब्दार्थ एकशेषः । तथाहि—“वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः” [पा० सू० १।२।६५] ‘अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम्’ । एवकारो मित्रक्रमः । विशेषो वैरूप्यम् । वृद्धः शिष्यते यूना सह वचने वृद्धयुक्ताक्षणे एव यदि विशेषः समानायां प्रकृतौ । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । दाक्षिश्च दाक्षायणश्च दाक्षी । वृद्ध इति किम् ? औपगवश्चानन्तर औपगविश्च युवा औपगवोपगवी । गार्गीगार्ग्यायणौ । यूनेति किम् ? गर्गश्च गार्ग्यश्च गर्गगार्ग्यौ । तल्लक्षण एवेति किम् ? गार्ग्यवात्स्यायनौ । अत्र प्रकृतिविशेषोऽप्यस्ति । एवकारः किमर्थः । भार्गविति भार्गवित्तिका । भार्गवित्तेरपत्यं युवा । “खोष्ठणू सौखीरेषु प्रायः” [१।१।१३६] इत्यत्र ज्ञेयस्यापि भावान्न तल्लक्षण एव । विशेष इति किम् ? वैदश्च वृद्धो वैदश्च युवा वैदवैदौ । तल्लक्षणवैरूप्याभावात् द्वन्द्वो भवत्येव । “स्त्री पुंवच्च” [पा० सू० १।२।६६] स्त्री वृद्धा यूना सह वचने शिष्यते पुंवद्भावश्चास्या भवति तल्लक्षण एव यदि विशेषः । गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी । नेदं द्वयं वक्तव्यम् । जीवति वंश्ये वृद्धं द्वयमभिधत्ते । अजीवति वृद्धयूनोर्द्वन्द्वो नास्त्यनभिधानात् । जीवति वंश्ये वृद्धा स्त्री युवानश्च सामान्येन वृद्धशब्द एवाभिधत्ते । द्वन्द्वस्य चानभिधानम् । यदपि पुमान् स्त्रिया सह वचने शिष्यते तल्लक्षण एव यदि विशेषः । कठश्च कठी च कठौ । मयूरश्च मयूरी च मयूरी । प्राणिधर्मयोः स्त्रीपुंसयोर्बहुत्वादिह न भवति । नदनदीपतिः । घटघटीसरावोदञ्चनादि । तल्लक्षण इत्येव । कुक्कुटमयूरी । एवकार इत्येव । इन्द्रेन्द्रायौ । भवमवायौ । पुंयोगलक्षणोऽयत्र विशेषः । इदमपि जातिमात्रविवक्षया सिद्धयति । द्वन्द्वस्य चानभिधानम् । अभिधाने द्वन्द्वोऽस्ति । नदनदीपतिः । ब्राह्मणवत्सा-ब्राह्मणी(ण)वत्सी । भ्रातृपुत्री स्वसृदुहितृभ्यां शिष्यत इति न वक्तव्यम् । भ्राता च स्वसा च भगिनी वा भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ । अपत्यमात्रविवक्षया द्वन्द्वानभिधानञ्च । इदं तर्हि वक्तव्यम् । नपुंसक^१ मन-पुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यान्तल्लक्षण एव यदि विशेष इति । शुक्लश्च क्वं शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च साटी तदिदं शुक्लम् । तानीमानि शुक्लानि । नेदं ज्ञायः, त्रिषु लिङ्गेषु नपुंसकस्य प्रश्नादौ प्राधान्यात् । तेन (नपुंसकत्वं)

१.—याणां बहु-अ०, ब०, स० । २.—किस्त्वावात् । फल्गु-अ० । ३. “फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे” पा० सू० १।२।६० । ४. प्रत्यर्थशब्द-अ० । ५.—क्षान्ते प्रत्य-अ० । ६.—तस्य शब्द-अ०, ब०, स० । ७.—कार्थे वृ-स० । ८. “पुमान् स्त्रिया” पा० सू० १।२।६७। इत्यभिलक्ष्य खण्डयति । ९. “भ्रातृपुत्री स्वसृदुहितृभ्याम्” पा० सू० १।२।६८। इति खण्डयति । १०. “नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्” इति पा० सू० १।२।६९।

सामान्यविशेषापेक्षया च वचनभेदः । पिता^१ मात्रा श्वशुरः श्वश्र्वाऽन्यतरस्यामित्यपि न वक्तव्यम् । सामान्यवि-
क्षया पितरौ श्वशुराविति । द्वन्द्वोऽप्यस्ति । मातापितरौ । श्वश्रुश्वशुरौ । श्वश्रुशब्दः स्त्रियामिहैव निपातितः ।
“त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ।” [पा० सू० १।२।७२] सर्वैरिति त्यदादिभिरन्यैश्च सहवचने त्यदादीनि शिष्यन्त
इत्येतदपि नास्ति । त्यदादीनामन्यापेक्षया सामान्यवाचित्वम् । त्यदादिषु च यद्यत्परं तत्तत्सामान्यवाचीति
तत्प्रयोगो युक्तः । स च देवदत्तश्च तौ । कश्च देवदत्तश्च कौ । स च यश्च यौ । अथात्र कस्य लिङ्गम् । स च
स्याली च कुण्डश्च । स च देवदत्ता च^२ कुण्डं चेति । उच्यते—द्वन्द्वा^३पवादोऽयम् । द्वन्द्वे चान्त्यलिङ्गम् । अत्रापि
तदेव युक्तम् । इदं चापि न वाच्यम् । “ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री” [पा० सू० १।२।७३] ग्राम्या ये
पशवस्तेषां सङ्घेषु स्त्री शिष्यते अतरुणाश्चेद् ग्राम्यपशवः । गावश्च स्त्रियो गावश्च पुमांसः गाव इमाः । अजा
इमाः । प्रायद्वह्नां स्त्रिः । आरण्यानां मा गूतः । करव इमे । पृषत इमे । पशुग्रहणं किम् । मास्रणा इमे ।
सङ्घेष्विति किम् ? एतौ गावौ चरतः । अतरुणेष्विति किम् ? वत्सा इमे । वर्कसा इमे । कथं नैदं वक्तव्यम् ?
लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति । अन्यथा अथा इमे इत्येवमादिषु एकशेषेषु अनिष्टं स्त्रीलिङ्गं
प्रसज्येत

इत्यभयनन्दिमुनिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

भूवादयो धुः ॥ १।२।१ ॥ भू इत्येवमादयः शब्दाः प्रत्येकं दुसञ्ज्ञा भवन्ति । भू पृथ स्पृष्टं इत्यादि ।
धोरित्यधिकृत्य लडादिविधिः कार्यम् । भवति । एधते । स्पृष्टते । आदिशब्दो ध्यवस्थावाची । तेन आशयवत्या-
दीनां निरासः । अर्थपदोपलक्षितानाञ्च व्यवस्था । ततो धुसमानशब्दानां यात्रामादिवित्येवमादीनां सर्वनामवि-
कल्पप्राप्तपेधस्वर्गादिवाचिनामग्रहणम् । भूशब्द आदिरेषामिति वसे भूवादय इति प्राप्नोति । नैवम् । “भूवादीनां
वकारोऽयं लङ्गणार्थः प्रयुज्यते । इको यण् भिव्यदधानमेकेषामिति संग्रहः” । तेन त्रिधाभक्तं यजामहे वायुवम्भ-
र्योरिवेत्यादि सिद्धम् । “भुवो वार्धं वदन्तीति” भवतेः सम्पदादिपाठात्किञ्चप । भुवं भवनं क्रियां वदन्तीति बहु-
लवचनादण्यन्तादपि वदेरौणादिके इति कृते भूवादयः । अस्मिन् पक्षे शिष्टाप्रयोगाद्वाणवयत्वादीनां दोषः ।
“भवर्धा वा वादयः स्मृताः ।” अथवा वा गतिगन्धनयोरेत्यस्मात्पर आदिशब्दः । भुवो वादयो वाच्यवाचक-
भावसम्बन्धे ता भवर्ध इत्यर्थः । ये तु वकारो मङ्गलार्थ इति पठन्ति^४ । त इदं वाच्याः । यथाधिव्याहकारो मङ्गल-
मतिप्रसङ्गः स्यात् । एतेन तत् ज्ञानं प्रत्युक्तम् । मङ्गलाभिधेयश्च वकारो नाममालादिषु न पठ्यते । वृत्तौ
मध्यनिपातश्च चित्यः । धुप्रदेशाः “धोर्यङ् क्रियासमभिहारे” [१।१।१३] इत्येवमादयः ।

अकर्मको धिः ॥ १।२।२ ॥ अकर्मको धुर्धिसञ्ज्ञो भवति । “कर्त्राप्यम्” [१।२।१२०] हायादिना
लङ्घणेन विहितं कर्म तदविवक्षितं वा नास्या (नास्त्यस्य वाऽ) कर्मकः । धिप्रदेशाः “अनोधेः” [१।२।१३]
इत्येवमादयः ।

कार्यार्थोऽप्रयोगीत् ॥ १।२।३ ॥ शास्त्रेऽन्यस्य कार्यार्थमाश्रीयते प्रयोगे च न श्रूयते यः स इत्सञ्ज्ञो
भवति । अइङ्ण् णकारः । मिमिदा स्नेहने, दुनदि समृद्धौ, हुङ्ण् करण इत्यादिषु मिदुङ्णो डेङ्स्यादिषु
ङकारः । कार्यार्थ इति किम् ? कुलात्तः कुलीनः । परमकुलीन इत्यत्र स्वकारस्याऽप्रयोगित्वात् “स्तिथ्येकेमु-
-

१. “पिता मात्रा, श्वशुरः श्वश्र्वा” पा० सू० १।२।७०, ७१ इत्यभिलक्ष्य खण्डयति । २.-ता च ।
स च कु-अ०, स० । ३. इदमेकशेषवादिनां मते संगच्छते । एकशेषानारम्भवादिना वृत्तिकृता तु “स्तिथि-
मक्षिप्यं लोकाश्रयत्वाह्निगस्य” इति वाच्यम् । ४.-न्दिविर-अ०, ब०, स० । ५. आशयवत्या-अ०, स०
आशयवत्या-ब० । ६.-दाणपय-अ०, ब०, स० । ७. निरास इत्यर्थः । ८. “भूवादीनां वकारोऽयमंग-
कार्यः प्रयुज्यते” (१।३।१ पा० म० भा०) इति खण्डनपरः सन्दर्भः ।

भवः” [४।३।१७६, १७७] इति मुम् प्रसज्येत । अप्रयोगीति किम् ? परमकुलीनः । ईनादेशः कार्यमिति मुम् स्यात् । ननु कार्यार्थोऽप्रयोगी च खः कथं नेत्सञ्ज्ञः ? उभयविशेषणोपादानात् । अन्यस्य कार्यार्थो भूत्वा योऽप्रयोगीत्यदोषः । अन्वर्थी चेयमित्यंशः । एति गच्छति नश्यतीत् तेन “तस्य लोपः” [पा. सू. १।३।६] इति न वक्तव्यम् । प्रयोगानुसारेण प्रयोगित्वावगतेः । प्रतिपत्तिगौरवमिति चेत् “उपदेशोऽजनुनासिक इत्” [पा० सू० १।३।२] इत्यनुनासिकत्वमपि प्रयोगादेवावसीयत इति समानम् । ह्रस्वदेशाः “टिटादिः” [१।२।२३] इत्येवमादयः ।

यथासंख्यं समाः ॥ १।२।४ ॥ यथासंख्यं यथाकर्म समाः शिष्यमाणा भवन्ति । यथासंख्यं “यावद्यथा-वधृत्यसादृश्ये” [१।३।६] इति हसः । समास्तुल्याः । तुल्यत्वञ्च द्विष्टमतः पूर्वोद्दिष्टानामनुद्दिष्टाः समा ज्ञेयाः । “मिथस्थतसोऽस्तंजन्तम्” [१।४।८२] इत्यस्तंजन्तस्य मिथः प्रत्यसंख्योऽपि इत्येवमादि बोध्यम् । समा इति किम् ? “सङ्घादयश्चत्वारोऽर्था अजादयस्त्रयः, वैषम्यात् सङ्घादिषु चतुर्थार्थेष्वनन्तादण् भवति, तथा यजन्तादिजन्तान्च । समशब्दस्य सर्वार्थे युक्तार्थे च सर्वनाम-सञ्ज्ञोक्ता न तुल्यार्थे ।

स्वरितेनाधिकारः ॥ १।२।५ ॥ स्वरितेन लिङ्गेनाधिकारो वेदितव्यः । “त्यः” [२।१।१] “परः” [२।१।२] “ख्याम्मुदः” [३।१।१] इत्येवमादिः । स्वरित इति आचार्यप्रतिज्ञाया लिङ्गम् । “व्यामिश्रः स्वरितः” [१।१।१४] इत्यस्याचो धर्मत्वेन “रो रि” [२।४।१८] इत्येवमादिषु ह्रस्वसम्भवादग्रहणम् । अधिकारो विनियोगा व्यापार इत्यर्थः । स्वरितेनेति योगविभागाद्यथासंख्यमपि स्वरितेन ज्ञेयम् ।

अनुदात्तो दः ॥ १।२।६ ॥ ऊकारेतोऽनुदात्तेतश्च धोर्द एव भवति । ङितः । षूङ् । सूते । शीङ् । शेते । इङ् । अधीते । अनुदात्तेतः । आस । आस्ते । वस । वस्ते । चक्ष । आचष्टे । चदोर्ङित्करणमनर्थकम् । अनुदात्तेत्वाद्युच् । विचक्ष्णः । “छः कर्मणि च भावे च धेः” [१।४।६४] इति धोर्लकारा विहिताः । तद्द्वारेण दविधौ नविधौ च प्राप्ते प्रकृतिनियमोऽयम् । अनुदात्तेतो द एव भवति । दस्त्वनियतः । सोऽन्येभ्योऽपि प्राप्तः । “मम्” [१।२।७६] इति द्वितीयो नियमः । यत्र मञ्च दश्च प्राप्नोति तत्र ममेव भवति । यदि त्यनियमः स्याद् अनुदात्तेत एव दो भवति नान्येभ्यस्तदान्वय मस्य सिद्धत्वात् “मम्” [१।२।७६] इति सूत्रमनर्थकं स्यात् । तदारम्भादिधावधारणं सिद्धम् । किञ्च त्वनियमे हि अनुदात्तेतोऽपि मं प्राप्नोति तन्नित्यन्ये शेषान्मिति शेषग्रहणं कुर्वात् । तदकरणां च ज्ञापकं प्रकृतिनियमस्य ।

ङौ ॥ १।२।७ ॥ ङिरिति भावकर्मणाः सञ्ज्ञा । ङौ द एव भवति । आस्पते भवता । सुष्वते भवता । भावस्यैकत्वं युष्मदस्मदर्थोऽसम्भवश्च । कारकेभ्यः पूयभूतो धोरर्थः स्वप्रधानको भावः । एति जीवन्तमानन्द इत्यत्र आनन्दो राक्ष एतेः कर्तृत्वेन विवक्षित इति दो न भवति । कर्मणि । क्रियते कटः । कर्मकर्तरि । लूयते केसरः । भिद्यते कुसुलः स्वयमेव । अर्थनियमोऽयम् । दस्तु कर्तव्यं पि प्राप्तः स मामित्यनेन नियमेन निवर्त्यते । यदि ङावेव दो भवतीति त्वनियमः स्याद् भावकर्मणोरनियतत्वान्मेऽपि प्राप्ते तन्नित्यर्थः शेषात् कर्तरि मामित्युच्येत शेषोऽकरणं ज्ञापकमर्थनियमस्य । एवं प्रकृतिनियमेऽर्थनियमे च सति “मम्” [१।२।७५] इत्यत्र कर्तृग्रहणं शेषग्रहणञ्च प्रत्याख्यातम् ।

कर्तरि जे ॥ १।२।८ ॥ कर्तरि आर्यं दो भवति । “कर्मव्यतिहारे जः” [२।३।७६] इति जो विहितस्तत्सहचरितः कर्मव्यतिहारो वार्यः । कर्मव्यतिहारश्च कर्मग्रहणसामर्थ्यात् क्रियाव्यतिहारः । अन्यस्य कर्तृमिष्टां क्रियां यदान्यः करोति तदिष्टां चेतस्सदा क्रियाव्यतिहारः । व्यतिलुनीते । व्यतिपुनीते । आरम्भसामर्थ्यात्

१.-न्ति । यायासङ्ख्या यथा—अ०, व०, स० । २. इत्यत्र दो अ०, व० । ३. केदारः अ०, व०, स० । ४. उत्तरवाक्यस्वारस्येन शेषाकरणं ज्ञापकं प्रकृतिनियमस्य, कर्तृग्रहणाकरणाज्ञापक-मर्थनियमस्येति पाठो युक्तः । ५. णसहचरित इत्यर्थः । ६. व्यतिलुनते । व्यतिपुनते अ०, व० ।

कर्तार्येव सिद्धे कर्तृग्रहणमुत्तरार्थम् "न गतिर्हिंसार्थेभ्यः" [१।२।६] इति । कर्तारि कर्मव्यतिहारे विहितस्य दस्य प्रतिषेधो यथा स्यादिह मा भूत् । व्यतिभूयते सेनया । व्यतिगम्यन्ते ग्रामाः । व्यतिहन्यन्ते दस्यवः । क्रिया-व्यतिहार इति किम् ? पारिभाषिककर्मव्यतिहारे मा भूत् । देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति ।

न गतिर्हिंसार्थेभ्यः ॥ १।२।६ ॥ गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धुभ्यो आर्ये दो न भवति । व्यतिगच्छन्ति । व्यतिधावन्ति । हिंसार्थेभ्यः । व्यतिहिंसन्ति । व्यतिभिन्दन्ति । व्यतिक्लिन्दन्ति । व्यन्तिपिषति । बहुवचननिर्देशो ह्यदिशंस्रहणार्थः । व्यतिहसन्ति । व्यतिजलयन्ति । व्यतिपटन्ति । व्यतिकथयन्ति । "इवद्योरप्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०] सम्प्रहरन्ते राजानः । व्यतिवहन्ते नयः । गतिर्हिंसयोः प्रतिषेधो गतिर्हिंसाहेतौ न भवति । व्यतिगम्यन्ते । व्यतिभेदयन्ते ।

परस्परान्योन्येतरेतेरे ॥ १।२।१० ॥ परस्पर अन्योन्य इतरेतर इत्येतेषु प्रयुक्तेषु आर्ये दो न भवति । परस्परस्य व्यतिलुनन्ति । अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति । इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति । व्यतिभ्यां द्योतितेऽपि कर्मव्य-तिहारे परस्परदिपदप्रयोगो द्वावप्यौ भक्षयेति यथा । परस्परदिशब्दानां कथं सिद्धिः । द्वित्वप्रकरणे कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वम् । "सवच्च बहुलम्" [वा०] इति वक्ष्यति ।

निविशः ॥ १।२।११ ॥ नि इति स्वरूपस्य ग्रहणं न निमज्जाया । निपूर्वादिशो दो भवति । निविशते । निविशते । निविशन्ते । लावस्थायामवगमः । तद्वक्त्रो न व्यवधायकः । न्यविशत । "ग्रम्" [१।२।७२] इति मे प्राप्तम् । सनिर्देशः समर्थार्थः । सामर्थ्यञ्च धोर्गिना । तेनेह न भवति । मधुनि विशन्ति भ्रमराः । अनर्थकत्वाद्वा ।

परिव्यवक्रियः ॥ १।२।१२ ॥ परि वि अव इत्येवंपूर्वात् क्रीणानेदौ भवति । परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते । अकर्त्राप्ये फले विधिरयम् । अनर्बकत्वादिह न भवति । उपरि क्रीणाति । गवि क्रीणाति । अपचाव क्रीणीवः । क्री इति अनुकरणम् । अनुकार्येणार्थवत्त्वान्मुखे सति स्वादिविधिः । "प्रकृतिवदनुकरणम्" इति ध्रुवातिदेशादियादेशः । उत्तरव जेरिति निर्देशान् वक्तरणादपि स्वाश्रयोऽपि क्वचिदेव ।

विपरजोः ॥ १।२।१३ ॥ वि परा इत्येवंपूर्वाज्वनेदौ भवति । विजयते । पराजयते । अत्रापि सनिर्देशः समर्थस्य गेर्ग्रहणार्थः । तेनेह न भवति । बहुविजयति वनम् । पराजयति सेना ।

आडो दोऽव्यसने ॥ १।२।१४ ॥ व्यसनं विकसनं विवरणं वा । अन्येषां दारूपाणां व्यसने वृत्तिर्नास्ति । आडूपूर्वाद्दत्तैरव्यसनेऽयं दो भवति । विद्यामादत्ते । अकर्त्राप्ये फले प्राप्तर्यार्थमिदम् । अव्यसनमिति किम् ? आस्यं व्याददाति । पिलकं व्याददाति । विपादिकां व्याददाति । "स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्" [वा०] इह मा भूत् । व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गमुखम् । यद्यकर्त्राप्ये फले प्राप्तस्याव्यसन इति प्रतिषेधः कर्त्राप्ये फले व्यसने दः प्राप्नोति । नैवम् । अव्यसन इति योगविभागाद् वेन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । आडिति द्वित्वरणं किम् ? आ ददात्यसौ भिक्षामिदानीमहमस्मार्थम् । आडिति योगविभागः । तेन स्थः प्रतिज्ञाने दो भवति । अनित्यं शब्दमातिष्ठन्ते । "गमयतेः कालहरणे" [वा०] आगमवस्य तावदेवदत्त । "भुप्रक्षिप्यमात्र" [वा०] । आनुते शृगालः । आपृच्छते गुरुमिति सिद्धम् ।

क्रीडोऽनुपर्याङ् ॥ १।२।१५ ॥ अनु परि आङ् इत्येवंपूर्वात् क्रीडो दो भवति । अनुक्रीडते । परिक्रीडते । आक्रीडते । गिसाहचर्यादनोर्गेरेव ग्रहणादिह न भवति । माणवकमनु क्रीडति । माणवकेन सहेत्यर्थः । "भार्थे" [१।४।१४] इत्यनुना योग इप् मितिसञ्ज्ञाप्रतिषेधश्च । "शिक्षेर्जिज्ञासार्था दो वक्तव्यः" [वा०] शकेः सन्नन्तस्येदं ग्रहणम् । विद्यासु शिञ्जते । धनुषि शिञ्जते । कर्मविवक्षायां विद्याः शिञ्जाचक्रं । "इस्तेर्गति-ताच्छीक्षे" [वा०] पैतृकमक्षा अनुहरन्ते मातृकं गावः । मातुरागतम् "श्रुतवृज्" [३।३।२२] इति उज ।

गतिताछीत्य इति किम् ? मातरमनुहरन्ति । “एष उपलम्भन इति च वक्तव्यम्” [वा०] वाचा शरीरस्पर्श-
नमुपलम्भः । देवदत्ताय शपते । उपलम्भन इति किम् ? शपति ।

समोऽकूजे ॥१॥२॥१६॥ सम्पूर्णात् क्रीडोऽकूजेऽर्थे दो भवति । संक्रीडते । संक्रीडेते । संक्रीडन्ते ।
अकूज इति किम् ? संक्रीडन्ति शकटानि । अव्यङ्गं शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

स्थोऽवविप्राश्च ॥१॥२॥१७॥ अव वि प्र इत्येवंपूर्वात् सम्पूर्वाच्च तिष्ठेदो भवति । अवतिष्ठते ।
वितिष्ठते । प्रतिष्ठते । सन्तिष्ठते ।

शीप्सास्थेयोह्नौ ॥१॥२॥१८॥ परपरितोषार्थमात्मरूपादिप्रकाशनं शीप्सा । स्त्रीयतेऽस्मिन् निर्णयरूपे-
णेति स्थेयः । बहुलवचनादधिकरणे यः । शीप्सायां स्थेयोह्नौ च तिष्ठेदो भवति । शीप्सायाम्-तिष्ठते कन्या
छात्रेभ्यः । तिष्ठते ब्राह्मणी छात्रेभ्यः । स्वाभिप्रायप्रकाशनेनात्मानं रोचयतीत्यर्थः । शीप्सनक्रियया कर्मव्यपदेश-
भाजो छात्राणामुपेयत्वात् संप्रदानत्वम् । स्थेयोह्नौ-देवदत्ते तिष्ठते । त्वयि तिष्ठते । मयि तिष्ठते । संशयान्नि-
श्चयं करोतीत्यर्थः ।

उद् ईहे ॥१॥२॥१९॥ उत्पूर्वात्तिष्ठतेरीर्हाथे वर्तमानादो भवति । रोहे उत्तिष्ठते । धर्मे उत्तिष्ठते । घटत
इत्यर्थः । ईह इति किम् ? अस्माद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति । उत्पद्यत इत्यर्थः । ईह इति ईहतेः पर्यायग्रहणात्
गम्यमानायामीहायां न भवति । आसनादुत्तिष्ठति । उत्तिष्ठति सेना । अस्माद् ग्रामादिर्हिः (?) । पञ्च
पुरुषा उत्तिष्ठन्ति ।

उपान्मन्त्रकरणे ॥१॥२॥२०॥ उपपूर्वात्तिष्ठतेर्मन्त्रकरणे दो भवति । जगत्योपतिष्ठते । त्रिष्टुभोपतिष्ठते ।
मन्त्रकरण इति किम् ? भर्तारमुपतिष्ठति भार्या वीकनेन । उपादितं योगविभागः । तेन देवपूजासङ्गतिकरण-
मित्रकरणपथिषु दो भवति । देवपूजायाम्-सीमन्धरमुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणे-रधिकानुपतिष्ठते । मित्रकरणे-
महामात्रानुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणमुपश्लेषः । मित्रकरणं मानसः सम्बन्धः । पथि-अथ पन्थाः सुधन्मुप-
तिष्ठते । “वा क्षिप्सायामिति वक्तव्यम्” [वा०] । भिक्षुको दातृकुलमुपतिष्ठते । उपतिष्ठति वा ।

धेः ॥१॥२॥२१॥ अकर्मको धिरिति । उपपूर्वात्तिष्ठतेर्धेदो भवति । यावदमुक्तमुपतिष्ठते । यावदोर्ध्वनमुपति-
ष्ठते । भोजने भोजने ओदने ओदने उदीक्षत इत्यर्थः । धेरिति किम् ? स्वामिनमुपतिष्ठति ।

व्युत्तपः ॥१॥२॥२२॥ धेरिति वर्तते । वि उदित्वेवम्पूर्वात्तपतेर्धेदो भवति । वितपते । ज्वलतीत्यर्थः ।
उत्तपते । धेरित्वेव । उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । वितपति पृथ्वीमादित्यः । दहतीत्यर्थः । व्युद इति किम् ?
निष्ठपति । दीयत इत्यर्थः । “स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । वितपते पाणिम् । उत्तपते पाणिम् ।
आत्मीयमङ्गं स्वाङ्गं न पारिभाषिकं तेनेह न भवति । वितपति परपाणिम् । उत्तपति देवदत्तो यजदत्तस्य पृष्ठम् ।

आहो यमहनः ॥१॥२॥२३॥ आङ्पूर्वाभ्यां यम हन इत्येतभ्यां धिभ्यां दो भवति । आयच्छते । दीर्घो
भवतीत्यर्थः । आहते । आहनाते । आहनते । यमः कर्त्राण्ये फले “समुदाह-यमोऽग्रन्थे” [१॥२॥७०] इति
दः सिद्धोऽन्यत्रेदम् । धेरित्वेव । आयच्छति रज्जुम् । आहान्त पापम् । “स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] ।
आयच्छते पाणिम् । आहते वक्षः । स्वाङ्गादिति किम् ? परकीयाङ्गे कर्मणि मा भूत् । आहान्त
शिरः परकीयम् ।

१. रोहेऽर्थे अ०, ब०, स० । २. अ० स० पुस्तकयोः “विष्टिः” इति पाठः । ब० सु० पुस्तकयोः
“विष्टिः” इति । परं “विष्टिः” इति पाठः प्रतिभाति । विष्टिश्च कर्मकृत् “आजूवेतनयोर्विष्टिः कर्मकृत्कर्मको-
रपि” इति शाश्वतवचनात् । पूर्ववाक्याच्चात्र “उत्तिष्ठति” इत्यव्याहारः । “रुष्टिः” इत्यपि पाठः
सम्भवति । रुष्टिश्च सकृत्प्रसूता गौः । ३. दानिकु-अ० । ४. -दामौद-अ० । ५. दीर्घोभव-ब०, स० ।

समो गम्प्रच्छिस्वच्छिभ्रुविद्वद्वः ॥ १२२४ ॥ धेरिति वर्तते । सम्पूर्वभ्यो गम्-प्रच्छि-स्व-भ्रु-भ्रुच्छि-भ्रु-विद्व-द्व-इत्येतेभ्यो दो भवात् । सङ्गच्छते । संपृच्छते । संस्वरते । भ्रु इति भ्रुच्छतेरित्येतेषु ग्रहणम् । सम्पृच्छते । समिष्यते । समरिष्यते । भ्रुच्छतेरनादशस्य ग्रहणम् । आदशस्य भ्रुग्रहणेन सिद्धत्वात् । सम्पृच्छिष्यते । संभ्रुणुते । विद्वरादादिकस्य ग्रहणं मर्वाद्भ्रुत्ताहचर्यात् । संवेत्तं । संपश्यते । धेरित्येव । सङ्गच्छति । सुहृदम् । संवेत्ति धमेन् । “गेरस्यत्पूर्वाच्चा वक्तव्यम्” [वा०] । निरस्यते । निरस्यति । समूहति । समूहते ।

निसंव्युपाद् ह्रः ॥१॥२॥२५॥ पुनः संग्रहणाद्धे रिति निवृत्तम् । नि-सं-वि-उप इत्येवम्पूर्वात् ह्यतेदो भवति । निह्यते । संह्यते । विह्यते । उपह्यते । ह्यतेरात्वेन विकृतनिर्देशोऽपि प्रकृतिग्रहणम् “न व्यो छिष्टि” [४।५।३६] इति निर्देशात् ।

आखः स्पृष्टं ॥२॥२॥२६॥ स्पृष्टः पराभिभवेच्छा । आङ्गूयात् ह्यतः स्पृष्टविषये दो मवति । मल्लो मल्लमाह्वयते । छात्रश्चात्रमाह्वयते । स्पृष्टयाङ्गानं करोतीत्यर्थः । स्पृष्ट इति किम् ? गामाह्वयति ।

गन्धनाऽवक्षेपसेवाऽन्यायप्रतियत्नप्रकथोपयोगो कृञः ॥११२॥ गन्धनं सूचनम् । अवक्षेपो भर्त्सनम् । सेवा संश्रयः । अविधिना प्रवृत्तिरन्यायः । अविद्यमानार्जनं विद्यमानसंस्कारो वा प्रतियत्नः । प्रबन्धेन कथनं प्रकथा । उपयोगो धर्मादिनिमित्तो व्यवः । गन्धनादिष्वर्थेषु वर्तमानात् कृञो दो भवति । गन्धने-उत्कुरुते अयमिमम् । सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपे-स्वेनो वर्तिकामुपकुरुते । भर्त्सयतीत्यर्थः । सेवयाम्-गणकानुपकुरुते । सेवत इत्यर्थः । अन्याये-परदारानुपकुरुते । न्यायमनपेक्ष्य तेषु प्रवर्तत इत्यर्थः । प्रतियत्ने-एषो दक्षस्योपस्कुरुते । “प्रतियत्ने कृञः” [१।४।६०] इति कर्मणि ता । “उपात्प्रतिपत्तवैकृतः” [४।१।११२] इत्यादिना सुट् । प्रकथायाम्-जनापवादान् प्रकुरुते । उपयोगे-रात प्रकुरुते । धर्मादर्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? कटं करोति । आविष्करोतीत्यत्र आदिः शब्द एव गन्धने वर्तते न करोति । अपकारप्रयुक्तं वा सूचनं गन्धनमित्यदोषः ।

प्रसहनेऽध्वे ॥१२॥२८॥ प्रसहनमभिमतः । अधिपूर्वात्कृञः प्रसहनेऽयं दो भवति । शत्रून्धिकुरुते ।
चादिनोऽधिकुसते । अभिभवतीत्यर्थः । प्रसहन इति किम् ? अधिकरोति । अकर्त्राध्वे फले समेव भवति ।

शब्दकर्मणो वेः ॥१।२।२६॥ कर्मेह कर्त्ताप्यम् । निपूर्वात् करोतेः शब्दकर्मकादौ भवति । ध्वाञ्चो विकृते स्वरान् । कौष्टा विकृते स्वरान् । शब्दकर्मण इति किम् ! विकरोति कटम् । शब्दग्रहणेन शब्दविशेषः स्वरादयो गृह्यन्ते । तेनेह न भवति । वकरोति शब्दम् । विकरोत्यनुवाकम् । विकरोत्यध्यायमसावह्वा ।

धे. ॥१२॥३०॥ विपूर्वात्करोतेर्धेर्दी भवति । विकुर्वते सैन्धवाः । सधुदान्ताः । ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा
विकुर्वते । “तृप्यर्थे योगे उपसंख्यानम्” [वा०] इति करणे ता ।

सम्मानोत्सञ्जनोपनयनज्ञानश्रुतिगणनव्यये नियः ॥१॥२॥३॥ सम्मानः पूजनम् । उत्सञ्जनमुल्लेपः । उपनयनमाचार्यकरणम् । ज्ञानमवगमः । श्रुतिर्वेत्तनादानम् । श्रृणुश्रुत्कादिनिर्यातनं गणनम् । व्ययो धर्मादिष्वर्थविनियोगः । सम्मानादिषु यथासम्भवं विशेषणेषु नयतेर्धोर्दो भवति । सम्माने-नयते चार्वा स्याद्वादे । चार्वा बुद्धिस्तथागताचार्याऽपि तथोक्तः । विनेयेषु प्रतिपादनेन सम्मानं करोतीत्यर्थः । उत्सञ्जने-ब्रह्ममुदानयते । उत्तिपतीत्यर्थः । उपनयने-माणवकमुपनयते । आत्मनः शिष्यभावेन माणवकं प्रापयतीत्यर्थः । ज्ञाने-नय ते चार्वा तत्त्वार्थे । तत्त्वपदार्थान् निश्चिनोतीत्यर्थः । श्रुतौ-कर्मकरानुपनयते । वेत्तनादानेन पुष्पा-तीत्यर्थः । गणने-मद्रकाः करं विनयन्ते । निर्यातयन्तोत्यर्थः । व्यये-शतं विनयते । सहस्रं विनयते । एतै-ष्विति किम् ! अत्रां नयति ग्रामम् ।

कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तौ ॥१२।३२॥ नयतैः कर्ता लकारवाच्यः । रूपाद्यात्मिका मूर्तिः । कर्तृस्थे कर्मणि मूर्तिवर्जिते सति नयतेदो भवति । क्रोधं विनयते । हर्षं विनयते । भ्रमं विनयते । शमयतीत्यर्थः । अत्र कर्तृस्थत्वात्कर्मणः कर्ताऽप्यफलता कर्मता । तेन कर्त्राप्ये क्रियाफले सिद्धेऽपि दे नियमार्थमेतत् । कर्तृस्थ इति किम् ? देवदत्तो जिनदत्तस्य क्रोधं विनयति । कर्मणीति किम् ? बुद्ध्या विनयति । अमूर्ताविति किम् ? गड्ढं विनयति ।

किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे ॥१२।३३॥ किरतेदो भवति हर्षजीविकाकुलायकरण इत्येतेषु गम्यमानेषु । हर्षे-अपस्किरते वृषभो दृष्टः । जीविकायाम्-अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी । कुलायो निवासः-कुलायकरणे-अपस्किरते आ आश्रयार्थी । “चतुष्पाच्छकुनिष्वपाद्धर्षादौ” [४।३।११५] इति सुट् ।

वृत्तिसर्गतायने क्रमः ॥१२।३४॥ वृत्तिरविधातः । सर्ग उत्साहः । तायनं पृथुभावः । वृत्त्यादिष्वर्थेषु वर्तमानात् क्रमेदो भवति । वृत्तौ-नयेष्वस्य क्रमते बुद्धिः । न प्रतिबध्यत इत्यर्थः । सर्गो-क्रमते जैनेन्द्रा-ध्ययनाय । उत्सहत इत्यर्थः । तायने-नास्मिन्भूदे शास्त्राणि क्रमन्ते । न तायन्त इत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? क्रामति । “क्रमो मे” [५।२।७४] इति दीत्वम् ।

परोपक्रमः ॥१२।३५॥ वृत्तिसर्गतायने गति वर्तते । पर-उप-इत्येवंपूर्वात् क्रमेदो भवति । पराक्रमते । उपक्रमते । सिद्धे सत्थारम्भो नियमाय परोपाध्यामेव नात्यसाद्रेः । अनुक्रमति । वृत्त्यादिष्वित्येव । पराक्रमति । उपक्रमति ।

ज्योतिरुद्गतावाहः ॥१२।३६॥ आहपूर्वात् क्रमेज्योतिषामुद्गमनेऽर्थे दो भवति । आक्रमते सूर्यः । आक्रमते चन्द्रमाः । आक्रमन्ते ज्योतीर्षि । ज्योतिरुद्गताविति किम् ? आक्रामात धूमो हर्म्यतलम् । आक्रामति माणवकः कुतपमित्यत्रोद्गतिरपि नास्ति ।

वेः स्वार्थे ॥१२।३७॥ स्वार्थः पादविच्छेपः । विपूर्वात् क्रमेः स्वार्थे दो भवति । (अश्वः) सुष्ठु विक्रमते । साधु विक्रमते । विक्रमणमश्वादीनां शिक्षाविशेषाद् गतिविशेषः । स्वार्थ इति किम् ? विक्रामत्य-जिनसन्धिः । स्फुटतीत्यर्थः ।

प्रादारम्भे ॥१२।३८॥ आरम्भः प्रथमं कर्म । प्रपूर्वात् क्रम आरम्भे दो भवति । प्रक्रमते भोक्तुम् । परोपादित्यत उपादिति वर्तते । उपक्रमते भोक्तुम् । आरभते भोक्तुमित्यर्थः । आरम्भ इति किम् ? पूर्वेद्युः प्रक्रमति । अपरेद्युरपक्रमति । पूर्वस्मिन्नहनि यदनेन गतं तदपरस्मिन्नागच्छतीत्यर्थः ।

वाऽग्रे ॥१२।३९॥ अग्रेः क्रमो वा दो भवति । क्रमते । क्रामति । इयमप्राप्ते विभाषा । वृत्त्यादिषु पूर्वेण नित्यो विधिः । अग्रेरिति किम् ? संक्रमति ।

ज्ञोऽपह्ववे ॥१२।४०॥ अपह्ववोऽपलापः । अपह्ववेऽर्थे जानातेदो भवति । शतमपजानीते । सहस्रमपजानीते । अपह्वव इति किम् ? “किञ्चिदपि जानाति ।

धेः ॥१२।४१॥ जानातेर्धेदो भवति । सर्पिषो जानाते । दध्नी जानाते । सर्पिषा दध्ना चोपायनेन सम्यश्यत इत्यर्थः । “ज्ञोऽस्वार्थे करणे” [१।४।२८] इति करणे ता । अकर्त्राप्ये फले इदं दविधानम् । धेरिति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति ।

संप्रतेरस्मृतौ ॥१२।४२॥ स्मृतिराध्यानं चिन्तनं वा । सम्प्रतिपूर्वाजानातेरस्मृत्यर्थे दो भवति । शतं स्मृजानीते । शतं प्रतिजानीते । अस्मृताविति किम् ? मातुः सज्जानाति । पितुः सज्जानाति । “स्मदपदेयैर्ज्ञा कर्मणि” [१।४।२९] इति ता ।

दीप्त्युपोत्तिज्ञानेहविमत्युपमन्त्रणे चद् ॥१२।४३॥ दीप्तिः प्रकाशनम् । उपेत्योक्तिरुपोक्तिः । उपसान्वनमित्यर्थः । शनं पदार्थावगमः । ईहो यज्ञः । नानामतिर्विमतिः । उपमन्त्रणं रहस्यनुकूलनम् । दीप्त्या-

दिष्वर्थेषु वदतेदो भवति । दीप्तौ-वदते चार्थो तत्त्वार्थः । 'दीप्यमानो' वदतीत्यर्थः । उपोक्तौ-कर्मकानु-
पवदते । उपेत्य सम्भाषत इत्यर्थः । ज्ञाने-वदते चार्थो चन्द्रोदये । जानाति वदितुमित्यर्थः । ईहे-कोऽस्मिन्
क्षेत्रे वदते । को यतत इत्यर्थः । विमतौ-गोहे विवदन्ते । 'गोष्ठे' विवदन्ते । विचित्रं भाषन्त इत्यर्थः । उपम-
न्वणे-कुलभार्यामुपवदते । परदारानुपवदते । अनुकूलश्रुतीत्यर्थः । प्रतेष्विति किम् ? वदति देवदत्तः ।

व्यक्तावाक्यसमुक्तौ ॥१२।४४॥ व्यक्तावाचो व्यक्त्वर्थान्त्वान्मनुष्यादयः प्रसिद्धाः । सम्भूय वचनं
समुक्तिः । व्यक्तावाचां समुक्तौ गम्यमानावां वदतेदो भवति । सम्प्रवदन्ते ग्राम्याः । सम्प्रवदन्ते साधवः । सम्भूय
भाषन्त इत्यर्थः । व्यक्तावागिति किम् ? सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः । समुक्ताविति किम् । देवदत्तो वदति विनदत्तम् ।

अनोर्थः ॥१२।४५॥ अनुपूर्वाद् वदतेर्धेदो भवति । अनुवदते जिनदत्तो देवदत्तस्य । अनुः सादृश्ये
पुनरर्थे वा । धेरिति किम् ? पूर्वमुक्तमनुवदति । व्यक्तावाक्यसमुक्तावित्येव । अनुवदन्ति वीणाः ।

वा विवादे ॥१२।४६॥ विवादो विप्रलापस्तत्र वर्तमानाद्वदतेर्वा दो भवति । विप्रवदन्ते सांवत्सराः ।
विप्रवदन्ति सांवत्सराः । विप्रवदन्ते वादिनः । विप्रवदन्ति वादिनः । युगपद्विरुद्धं वदन्तीत्यर्थः । व्यक्तावाग्रहण-
मनुवर्तते । ततो व्यक्तावाक्यसमुक्ताविति नित्ये प्राप्ते विकल्पः । विवाद इति किम् ? सम्प्रवदन्ते साधवः । व्यक्ता-
वागित्येव । सम्प्रवदन्ति शकुनयः । समुक्तावित्येव । सम्प्रवदन्ति वादिनः क्रमेण ।

मोऽद्यात् ॥१२।४७॥ अवधूतद्विस्तेदो भवति । अवगिरते । अवगिरते । अवगिरन्ते । गृणातेरव-
पूर्वस्य प्रयोगो नास्ति । अवादिति किम् ? गिरति । निगिरति ?

प्रतिज्ञाने समः ॥१२।४८॥ प्रतिज्ञानमभ्युपगमः प्रतिज्ञानेऽर्थे सम्पूर्वाद्विस्तेदो भवति । अनेकान्ता-
त्मकं वस्तु सङ्गिरते । शतं सङ्गिरते । प्रतिज्ञान इति किम् ? सङ्गिरति ।

उच्चरोऽधेः ॥१२।४९॥ उत्पूर्वाच्चरतेर्धेदो भवति । उरुवचनमुचरते । उक्तस्य चरतीत्यर्थः ।
अधेरिति किम् ? धूम उचरति । उदूर्ध्वं गच्छतीत्यर्थः ।

समो भया ॥१२।५०॥ सम्पूर्वाच्चरतेर्भान्तेन योगे दो भवति । रथेन संचरते । अश्वेन संचरते ।
भान्ते प्रयुक्ते दो भवति, न तु गम्यमाने । भायुक्तादिति किम् ? त्रीँल्लोकान् संचरति जिनधर्मः । अत्र स्वात्मनेति
करणं गम्यमानम् । "दृग्गणश्च सा चेद्वर्धेऽशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्" [वा०] सम्पूर्वादाणो भायोगे दो भवति
सा चेद्वर्धे भा । इदमेव शापकमशिष्टव्यवहारे भाऽपि भवतीति । दात्याः संप्रयच्छते । वृषल्याः संप्रयच्छते
कामुकः । सम इति संबन्धे ता । तेन प्रशब्देन व्यवधानं न भवति । अवर्थ इति किम् ? पाणिना सम्प्रयच्छति ।
नेदं वक्तव्यम् । कर्मव्यतिहारे दः । सहार्थे च भा द्रष्टव्या ।

स्वीकृतावुपायमः ॥१२।५१॥ पाणिग्रहणमविरोधो वा स्वीकृतिः । उपपूर्वायमः स्वीकृतावर्थे दो
भवति । कन्यामुपयच्छते । भार्यामुपयच्छते । स्वीकृताविति किम् ? परभार्यामुपयच्छति ।

श्रुस्मृदशः सनः ॥१२।५२॥ श्रु-स्मृ-दश-इत्येतेभ्यः सन्नन्तेभ्यो दो भवति । शुश्रूषते शास्त्रम् ।
मुस्मृषते पूर्ववृत्तम् । दिदृक्षते देवम् । श्रुदृशिभ्यामकर्मकावस्थायां "समो गन्धर्वादि" [१२।२४] इत्यादिना
दो विहितस्तत्र "सनः पूर्ववत्" [१२।५२] इत्येव दः सिद्धः सकर्मकार्थमिदम् । स्मरतेऽप्राप्ते विधानम् ।

ज्ञः ॥१२।५३॥ जानातेः सन्नन्तात् दो भवति । जिज्ञासते धर्मम् । "ज्ञोऽवहवे" [१२।४०]
"धेः" [१२।४१] "संप्रतेरस्मृतौ" [१२।४२] इति जानातेर्दो विहितः । तथा कर्त्राग्ने फले "ज्ञोऽग्नेः"
[१२।७१] इत्यत्र पूर्ववत्सन इति सिद्धस्ततोऽन्यत्रेदं वचनम् ।

१. तथेति शेषः । २. -प्यमाना वद—अ०, ब०, स० । ३. 'गोष्ठे विवदन्ते' अ० पुस्तके नास्ति ।
४. -ति सांवत्सरः । व्यक्त—अ० । ५. वाप्यः ब०, स०, मु० । ६. सङ्गिरन्ते मु० । ७. -रते । कुटुम्ब-
मुचरते । उक्तस्य—अ०, ब०, स० ।

नानोः ॥१।२।५४॥ अनुपूर्वाज्ज्ञानातोः सन्नन्तादो न भवति । पुत्रमनुजिज्ञासति । भृत्यमनुजिज्ञासति । सकर्मकादिति वक्तव्यम् [वा०] इह मा भूत् । अनुजिज्ञासते मनसा । नो वक्तव्यम् । पूर्वेषु प्राप्तस्यायं प्रतिषेधः । पूर्वेषु च सकर्मकादेव सन्नन्तादो विहितः । धेस्तु “सनः पूर्ववत्” [१।२।५८] इति दः । अनोरिति किम् ? पुत्रं जिज्ञासते ।

प्रत्याङ्श्रुचः ॥१।२।५५॥ नेति वर्तते । प्रति आङ् इत्येवमूर्धात् शृणोतेः सन्नन्तादो न भवति । प्रतिशुश्रूषति । आशुश्रूषति शास्त्रम् । “श्रुस्तृश्चः सनः” [१।२।५२] इति प्राप्तस्यानेन प्रतिषेधः । सनिदेशः समर्थार्थः । सामर्थ्यञ्च धोर्णिना । तेनेह न प्रतिषेधः । देवदत्तं प्रतिशुश्रूषते ।

शदेर्गात् ॥१।२।५६॥ नेति निवृत्तमसम्भवात् । गतिमिच्छन्तः । शदिरूपचाराद्गः । शदेर्गविषयादो भवति । शीयते । शीयेते । शीयन्ते । “पाप्मा” [१।२।३६] आदिना शीयादेशः । गादिति किम् ? शस्यति । अशस्यत् । शिशत्सति ।

मृळो लुङ्लिङ्गोश्च ॥१।२।५७॥ म्रियतेर्लुङ्लिङ्गोर्गपरान्न दो भवति । अमृत । मृषीष्ट । आशियि लिङ् । “उः” [१।१।८६] इति सिलिङ्गोः क्त्वम् । गप्पात् खल्वर्णः । म्रियते । म्रियस्व । “रिङ् यग्लिङ्गो” [१।२।१३७] इति रिङादेशः । छिन्नादेशः हे मिङ्गे नियमार्थमिदमन्यत्र दो न भवति । मरिष्यति । अमरिष्यत् । ममार ।

सनः पूर्ववत् ॥१।२।५८॥ पूर्वेषु तुल्यं वर्तते इति पूर्ववत् । पूर्ववच्च प्रत्यासत्तेः । सनः पूर्वो यो धुस्तद्वत्सन्नन्तादो भवति । येभ्यो धुभ्यो येन विशेषणेन दो विहितस्तेभ्यः सन्नधिकेभ्योऽपि दो भवतीत्यर्थः । यथा “अनुदासोतो दः” [१।२।६] इति । शेते । आस्ते । एवं सन्नन्तादपि शिशयिषते । आसिस्मिषते । निविशेण्येन “निविशः” [१।२।११] निविशते । निविधिक्षते । अर्थविशेषेण “गन्धना” [१।२।२७] आदिना उत्कुप्ते । अयमिममुचिकीर्षते । उभयविशेषेण “ज्योतिरुद्गतावाङ्” [१।२।३६] आक्रमते । आचिकंसते । “सोर्द्धार्थात्” [१।१।१११] “क्रमः” [१।१।११२] इतीति प्रतिषेधः । कारकविशेषेण “शोऽपङ्कवे” [१।२।४०] “धेः” [१।२।४१] । सर्पिषो जानीते । सर्पिषो जिज्ञासते । इह जुगुप्सते मीमांसते इति गुप्प्रकृतेरवयवस्यानुदासोत्करणं सन्नन्तसमुदायस्य विशेषणमिति दः सिद्धः । यद्येवं गोपायत्यादावपि स्यात् । कर्त्तव्योऽव वत्नः । पूर्ववदिति किम् ? शिशत्सति । मुमूर्षति । अत्र दनिमित्तं नास्ति ।

आम्बत् तत्कृञ् ॥१।२।५९॥ आम्बहणेन यस्मादाम् विहितस्तस्य ग्रहणम् । आम्ब इव आम्बत् । तस्य कृञ् तत्कृञ् । यस्मादाम् तस्वेव धोस्तत्कृञो दो वेदितव्यः । ईहाञ्चक्रे । ईहाञ्चक्रे । लिटि परतः “स्तोसिञादेः” [२।१।३२] इत्याम् । “आमः” [१।४।१४६] इति परस्योप् । तस्य कृत्वाभ्युत्वे सति स्वादिविधिः । “सुपो केः” [१।४।१५०] इति तस्योप् । “छिङ्चत् कृञि” [२।१।३६] इत्यनुप्रयोगस्य करोतेरनेन दः । विधिर्नियमश्चात्राप्येते । पूर्ववदिति वर्तते । अकर्त्राप्ये फले पूर्ववदो भवतीति विधिः । कर्त्राप्ये फले आम्बदेव दो भवति । तेन दाहस्यैवामन्तस्य प्रयोगे दो भवतीति नियमादिह न भवति । उदुम्भाञ्चकार । तद्ग्रहणं किम् ? आमन्तानुप्रयोगस्य ग्रहणं यथा स्यादिह मा भूत् । ईहते । करोतीति कृञ्ग्रहणं किमर्थम् ? करोतेरेव यथा स्यादिह मा भूत् । ईजामास । ईजाभ्यभूव । इह कृञ्ग्रहणादन्यनिरासार्थाज्जायते “छिङ्चत्कृञि” [२।१।३६] इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणं “कृञ्चस्त्रियोगे” [४।२।१५] इत्यत आरभ्य “कृञो द्वितीय” [४।२।६२] इति ञकारेण ।

युजोऽयज्ञपात्रे गेः ॥१।२।६०॥ अकर्त्राप्यफलायौऽयमारम्भः । युजेर्गिपूर्वादो भवत्ययज्ञपात्रविषये ।

१. “आसिस्मिषते” इति अ, पुस्तके नास्ति । २. विशेषकमिति अ०, ब०, स० । ३. “अनुदासोत्त-
लङ्गो दोऽनित्यः” इति परिभाषारूपो यत्नः ।

प्रयुङ्क्ते । वियुङ्क्ते । नियुङ्क्ते । अयजपात्र इति किम् ? इन्द्रं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । गेरिति किम् ? युनक्ति । “युज समाधौ” इत्यस्यानुदात्तेत्यादप्रहरणम् ।

उदः ॥१२।६१॥ उत्पूर्वाद्युजेर्यज्ञपात्रे दो भवति । उद्युङ्क्ते । नियमोऽयं हलन्तेषूद् एव नाम्न्य-
स्मात् । निर्युनक्ति । दुर्युनक्ति । संयुनक्ति ।

संक्षुण्णोः ॥१२।६२॥ सम्पूर्वात् क्षुण्यो दो भवति । संक्षुण्णते । संक्षुण्णवाते । संक्षुण्णते शस्त्रम् ।

भुजोऽङ्गौ ॥१२।६३॥ शब्दे कार्यस्यान्मात्रादद्वयित्यर्थप्रहरणम् । भुजेर्यर्थवर्तमानादो भवति । भुङ्क्ते । भुञ्जाते । भुञ्जते । अत्रार्थासम्भवात्तौदादिकस्य भुजेरग्रङ्गम् । निभुजात पाणिम् । अदाविति किम् ? भुनक्ति वसुधां मरतः । पालयतीत्यर्थः ।

रोभीस्मेहेतुभये ॥१२।६४॥ रयन्ताभ्यां भी स्मि इत्येताभ्यां हेतुभयेऽर्थे दो भवति । “तद्योजको हेतुः” [१।२।१२६] इति हेतुः । तस्य भयशब्देन भावसाधनेन “का भीमिः” [१।३।३२] इति पठः । भयमहणेन विस्मयोऽपीह लक्ष्यते । मुरडो भीषयते । “ईतः पुङ् नित्यम्” [४।३।४४] इति पुङ् । मुरडो विस्मापयते । जटिलो विस्मापयते । “स्मिङ्” [४।३।२०] इत्यात्वम् । हेतुभव इति किम् ? कुञ्चिकयैर्न भाययति । वाचा विस्माययति । अकर्त्तव्यफलार्थोऽयमारम्भः ।

वञ्चने गृध्रवञ्चेः ॥१२।६५॥ गेरिति वर्तते । वञ्चनं विसंवादनम् । गृध्रि वञ्चि इत्येताभ्यां रयन्ता-
भ्यां वञ्चनेऽर्थे दो भवति । माणवकं गर्द्वयते । माणवकं वञ्चयते । विसंवादयतीत्यर्थः । वञ्चन इति किम् ? आनं गर्द्वयति । काङ्क्षामस्योत्पादयतीत्यर्थः । अहिं वञ्चयति । गमयतीत्यर्थः ।

लियोऽधाष्ट्यसम्मानने च ॥१२।६६॥ गेरिति वर्तते । न धाष्ट्यमधाष्ट्यं शालीनीकरणम् । सम्माननं पूजनम् । लिनातेर्लीयतेश्च रयन्ताद्धाष्ट्यसम्माननयोर्वञ्चने च वर्तमानादो भवति । अधाष्ट्यं—
श्वेनो वर्तिकामपलापयते । अभिभवतीत्यर्थः । सम्मानने—जटाभिरालापयते । हेतौ भा । आत्मानं पूजयती-
त्यर्थः । वञ्चने च । कल्त्रामुल्लापयते । प्रलम्भवतीत्यर्थः । “जिभाषा लियोः” [४।३।४४] इति व्यवस्थि-
तविभाषाश्रयणाद्देशु त्रिषु नित्यमात्वम् । अधाष्ट्यादिष्विति किम् ? बालकमुल्लापयति ।

कृत्रो मिथ्यायोगेऽभ्यासे ॥१२।६७॥ गेरिति वर्तते । अभ्यासो गुणनिका । करोतेर्यन्तान्मि-
थ्याशब्दयोगेऽभ्यासेऽर्थे दो भवति । पदं मिथ्या कारयते । स्तुतिं मिथ्या कारयते । सदापं पुनः पुनरुच्चारय-
तीत्यर्थः । कृत्र इति किम् ? पदं मिथ्या वान्वयति । मिथ्यायोग इति किम् ? स्तोत्रं सुप्तु कारयति । अभ्यास-
इति किम् ? सकृत्पदं मिथ्या कारयति । एकवारमुच्चारयतीत्यर्थः ।

जस्वरितेतः कर्त्राण्ये फले ॥१२।६८॥ गेरिति निवृत्तम् । उत्तरत्र णिच इति निर्देशात् । जितः
स्वरितेतश्च ये धक्त्रेभ्यो दो भवति कर्त्तारमाप्नोति चेत् क्रियाया फलम् । फलं सर्वं क्रियातो भवतीति सामर्थ्यात्
किंवा लभ्यते । फलप्रहरणं मुख्यफलपरिग्रहार्थम् । जितः—पुनीते । लुनीते । कुमते । स्वरितेतः—पचते । यजते ।
वपते । मुख्यं क्रियाफलमत्र कर्त्तारमाप्नोति । कर्त्राण्ये फल इति किम् ? पचन्ति मरुकराः । वपन्ति शृतकाः ।
नात्र मुख्यं फलं किन्तु श्रुतिरागुणञ्जिकं वा फलम् । जस्वरितेत इति किम् ? याति । वाति ।

वदोऽपात् ॥१२।६९॥ अपपूर्वाद् वदतेर्दो भवति कर्त्राण्ये फले । एकान्तवादमपवदते । कर्त्राण्ये फले
इत्येव । अपवदति । इतः प्रभृति कर्त्राण्ये फले दो वेदितव्यः ।

समुदाङ्ग्यमोऽग्रन्थे ॥१२।७०॥ सम उत् आङ् इत्येवम्पूर्वाधमेऽग्रन्थविषये दो भवति । ग्रीहीन्
संयच्छते । आत्मनश्चद् ग्रीहयो भवन्ति । भारमुचच्छते । पापमायच्छते । अग्रन्थ इति किम् ? उद्यच्छति

चिकित्सां वैद्यः । निःकित्सांतं वैद्यकग्रन्थः । कर्त्राप्ये इत्येव । मयच्छति उदच्छति आयच्छति परस्य वज्रम् । “आहो यमहनः” [१।२।२३] इत्यनेन भेदविधानमुक्तम् ।

ज्ञोऽज्ञोः ॥१।२।७१॥ जानातेरगिपूर्वाद्भो भवति कर्त्राप्ये फले । गां जानीते^१ । अगेरिति किम् ? स्वर्ग-
लोकं प्रजानाति । कर्त्राप्ये फले इत्येव । परस्य गां जानाति ।

शिचः ॥१।१।७२॥ शिबन्ताद्भो भवति कर्त्राप्ये फले । कटं कारयते । ओदनं पाचयते । लङ्घेः^२
स्वरितेत्करणाज्जायते हेतुमण्णिचो ग्रहणमिदम् । कर्त्राप्ये फले इत्येव । परस्य कटं कारयति ।

पादम्याङ्यथमाङ्यथसपरिमुहसचिन्तुधेद्वद्वसः ॥१।२।७३॥ शिच इति वर्तते । पा दमि
आङ्यथम आङ्यथस परिमुह सचिन्तु धेद्वद्वस इत्येतेभ्यो ग्यन्तेभ्यः कर्त्राप्ये फले दो भवति । पाययते ।
दमयते । आयाययते । “यसोऽपरिवेषणे” इति मित्सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् प्रो न भवति । आयासयते । परिमोहयते ।
रोचयते । नर्तयते । धापयते । नादयते । वासयते । पाधेदोरद्यर्थत्वान्नातिवचोश्चल्यर्थत्वात् “चक्ष्यद्यर्थात्”
[१।२।८३] इति मं प्राप्तम् । अन्येषाम् “अयौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [१।२।८२] इति । तत आरम्भः ।

वा वागगम्ये ॥१।२।७४॥ वागिति नेदं पारिभाषिकस्य “ईपाऽत्र वाक्” [२।१।७६] इत्यस्य
प्रद्व्यां किं तर्हि वाक्छन्दः । पदान्तरमित्यर्थः । वागगम्ये कर्त्राप्ये फले वा दो भवति । स्वं धान्यं पुनीते । स्वं
धान्यं पुनाति । पङ्भिर्योगैर्नित्यं दे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

मम् ॥१।२।७५॥ निर्यमार्थम् । यस्मान्मं दक्ष प्राप्नोति तत्स्मान्ममेव भवति । पूर्वेषु प्रकरणेन
प्रकृतिनियमः कृतो दस्त्वनियत इत्युभयप्रातिरस्ति । याति । वाति । प्रविशति । आक्रामति धूमः । छौ द एव
भवतीति अर्थनियमो व्याख्यातः । ततः कर्त्तरि मं द्रष्टव्यम् । यदि वा “कर्त्तरि जे” [१।२।८] इत्यतः कर्त्तरि
तेनेह न भवति । गम्यते । रम्यते ।

परानुकृजः ॥१।२।७६॥ परा अनु इत्येवंपूर्वाङ् कृजो मं भवति । गन्धनादिषु दः प्राप्तस्तदपवादोऽयम् ।
पराकरोति । अनुकरोति । कर्त्राप्ये फले ममेव भवति । कस्मान्न नियमः । तत्रापूर्वो विधिरस्तु नियमो वास्तित्य
पूर्वं एव विधिर्भवति ।

प्रत्यभ्यतिक्षिपः ॥१।२।७७॥ प्रति अभि अति इत्येवम्पूर्वात् क्षिपो मं भवति । प्रतिक्षिपति । अभि-
क्षिपति । अतिक्षिपति । स्वरितेत्वाद्ः प्राप्तः । एतेभ्य इति किम् ? आक्षिपते ।

प्रवहः ॥१।२।७८॥ प्रपूर्वाद्ब्रह्मैः कर्त्राप्ये फले मं भवति । प्रवहति^३ ।

मृषः परेः ॥१।२।७९॥ परिपूर्वाङ्मृषतेर्मं भवति । परिमृष्यति । परिमृष्यतः । परिमृष्यन्ति । वहिमपि
केचिदनुवर्तयन्ति । परिवहति । परेरिति किम् । मृष्यते परीषहान् साधुः ।

व्याङ्श्च रमः ॥१।२।८०॥ वि आङ् इत्येवम्पूर्वात् परिपूर्वाच्च रमेर्मं भवति । विरमति । आरमति ।
परिरमति । अनुदात्तेत्वाद्ः प्राप्तः । एतेभ्य इति किम् । रमते । अभिरमते ।

उपात् ॥१।२।८१॥ उपपूर्वाङ् रमेर्मं भवति । मार्यामुपरमति । पृथग्वोग उत्तरार्थः ।

वा धेः ॥१।२।८२॥ उपपूर्वाङ्मेष्वेर्वा मं भवति । यावद्भुक्तमुपरमति । उपरमते । निवर्तत इत्यर्थः ।
विरिरसतीत्यत्र पूर्वस्य दनिमित्ताभावात् “सनः पूर्ववत्” [१।२।८८] इति दो न भवति ।

बुध्युभ्रजनेङ् प्रुद्र स्रोतौः ॥१।२।८३॥ कर्त्राप्ये फले शिच इति दे प्राप्तेऽथमारम्भः । बुध युध नश
जन इङ् प्रु द्रु सु इत्येतेभ्यो ग्यन्तेभ्यो मं भवति । येऽत्राकर्मकास्तेषाम् “अयौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [१।२।८५]

१ जानीते । अहं जानीते । अगे—अ०, ब०, स० । २. “कञ् वृशनाङ्गनयोः” इति धोः
स्वरितेत्करणादित्यर्थः । ३. नियमोऽयम् अ०, स० । ४. प्रवहति । प्रवहतः । प्रवहन्ति ।” अ०, ब०,
स० । ५. “परिवहान्” अ० । ६. “यावद्भुक्तमुपरमति” अ० ।

इति सिद्धे अप्राणिकर्तृकार्यं ग्रहणम् । प्रकृत्यादीनामचल्यद्यर्थम् । बोधयति पद्मम् । बोधयति कण्ठानि । नाशयति पापम् । जनयति पुण्यम् । अच्चापयति शास्त्रम् । प्रावयति ग्रामम् । प्रापयतीत्यर्थः । द्रावयति ऋद्धम् । वितापयतीत्यर्थः । स्नाययति तैलम् । स्पन्दयतीत्यर्थः ।

चल्यद्यर्थात् ॥११२।८४॥ शेरिति वर्तते । चलैरर्थः कम्पनम् । अदेरर्थोऽभ्यन्तरहारः । चल्यर्थेभ्योऽद्य-
र्थेभ्यश्च धुभ्योऽयन्तेभ्यो मं भवति । चल्यर्थेभ्यः—चलवति । चोपयति । कम्पयति । “कम्पने चलेः” (१)
इति मिस्त्वञायां प्रादेशः । अद्यर्थेभ्यः—निगारयति । भोजयति । आशयति । सर्वत्राद्यर्थकार्यमदेनेष्यते । आद-
यन्ते देवदत्तेन । इह पय उपयोजयते देवदत्तेनेति भक्षणार्थाभावान्नं न भवति । सकर्मकार्यमप्राणिकर्तृकार्यञ्च
सूत्रम् ।

अणौ धेः प्राणिकर्तृकात् ॥११२।८५॥ अयन्तावस्थायां यो धुर्धिः प्राणिकर्तृकस्तस्मादयन्ताभ्यं
भवति । आस्ते देवदत्तः । आसवति देवदत्तम् । शेते देवदत्तः । शाययति देवदत्तम् । अशाविति किम् ? चेत-
यमानं प्रयोजयति । चेतयते । ननु च “णिचः” [११२।८२] इत्यत्र हेतुमणिराज्ञो ग्रहणं व्याख्यातम् । अणा-
विति तस्यायं प्रतिषेधः । तेनात्र मं भवत्येव चेतयतीति । इदं तर्हि प्रत्युदाहरणम् । आरोह्यमाणं प्रयोजयति
आरोहयते । अथवाऽणाविति धेर्विशेषणम् । अणौ यो धिस्तस्य ऋणं यथा स्यात् । अन्यथा धिग्रहणे
अयन्तविशेषणे इहैव मं स्याच्चेतयमानं प्रयोजयति चेतयति । आसयति इत्यादौ न स्यात् । धेरिति किम् ?
कटं कुर्वाणं प्रयोजयति कारयते । प्राणिकर्तृकादिति किम् ? शुष्यन्ति व्रीहयः । शोषयते व्रीहीनातपः । “प्रापयो-
षश्चिदृक्षेभ्योऽवयवे च” [३।३।१०३] इति वृथा निर्देशादिह शब्दशास्त्रे वनस्पतिक्रियाः प्राणिग्रहणेन न गृह्यन्ते ।

क्ययो वा ॥११२।८६॥ क्यधन्ताद्वा मं भवति । वाचचनसामर्थ्यात् पक्षे दोऽपि भवति । अपट्य-
रुहवति पटपटायति । पटपटायते । “अभ्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच्” [४।२।६१] इति डाच् । “डाधि”
इति द्वित्वम् । “नौ डाचि नित्यम्” [४।३।८७] इति तकारस्य पररूपत्वम् । टित्वम् । “डाङ्कोहितक्यच्”
[२।१।११] इति क्यच् । एवमलोहितो लोहितो भवति लोहितायते ।

द्युद्भ्यो लुङि ॥११२।८७॥ कृपूर्यन्ता द्युतादयः । वेति वर्तते । द्युतादिभ्यो वा मं भवति लुङि
परतः । व्यद्युतत् । व्यद्योतिष्ठ । अलुटत् । अलोतिष्ठ । मविधिपक्षे “द्युत्पुषादिङित्सिञ्जाल्यत्तेमै” [१।१।४८]
इत्यङ् । यद्यपि मेऽङ्विधानसामर्थ्यान्मविधिर्लब्धस्तथाप्यनुदात्तेत्करणं लुङोऽन्यत्र सावकाशमिति नित्यं मं
स्यादिति विकल्पार्थं वचनम् । लुङीति किम् ? द्योतते । द्युता सहचरिता इतरेऽपि तयोच्यन्त इति बहुवचन-
निर्देशः ।

स्यसनोर्वृद्भ्यः ॥११२।८८॥ द्युतादिष्वन्तर्भूता वृतादयः । वृतादिभ्यो वा मं भवति स्ये सनि च
सति । वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवृत्सति । वर्तिष्यते । अवर्तिष्यत । विवर्तिषते । एवं वृध सुध स्यन्दू इत्येते
योज्याः । मविधौ “न वृतादेः” [५।१।१०७] इतीदं प्रतिषेधः ।

लुटि च क्लृपः ॥११२।८९॥ क्लृपेर्लुटि स्यसनोश्च वा मं भवति । कल्प्ता । कल्प्तारौ । कल्प्सारः ।
कल्प्स्यति । अकल्प्स्यत् । चिक्लृप्सति । कल्पितारः । कल्पिष्यते । अकल्पिष्यत । चिकल्पिषते । क्लृपेर्वृता-
दित्वादेव स्यसनोर्विकल्पे सिद्धे चकारेणानुकरणमसन्देहार्थम् । क्लृप इति लट् किमर्थम् ? श्रुकारस्य रेफ-
भागास्य रेफग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् । क्लृप्तः । क्लृप्तवान् । मातृणाम् । पितृणाम् । लट् शत्वञ्च सिद्धम् ।

स्पर्द्धे परम् ॥११२।९०॥ स्पर्द्धे परं कार्यं भवति । द्वयोः प्रसङ्गयोरन्यार्थयोरेकस्मिन् युगपदुपनि-
पाते सङ्घर्षः स्पर्द्धः । “यज्यतो दीः” [१।२।६६] “सुपि” [१।२।६७] इति दीत्वस्याक्काशः । देवाभ्याम् ।
इक्ष्वाभ्याम् । “बहौ कषवेत्” [१।२।६८] इत्यस्यावकाशः । देवेषु । वृद्धेषु । इहोभयं प्राप्नोति देवेभ्य इति । सूत्र-
विन्यासे परमेत्वं भवति । अप्रवृत्तौ पर्याये वा प्राप्ते वचनम् । “कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्” [परि०] इति । यावन्ति

१. पापम् । जनयति पापम् । जन—ब०, स० । २. ‘आदयते’ ज०, ब०, स० । ३. चिक्लृप्सति ।
कल्पिता । कल्पितारौ । कल्पितारः—अ०, ब०

कार्याणि तावद्वा सूत्रस्य भेद इति विधिर्नियमश्चेदं सूत्रम् । यत्र परस्मिन्कार्ये कृते “पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्” पूर्वं तत्र विधिः । यत्र परस्मैव कार्ये दृश्यते “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [परि०] इति तत्र नियमः । तच्चथा द्वित्वस्यावकाशः । त्रेभिर्व्यते । जेरवकाशः । विचरति । वेतिव्यते इति परत्याजौ कृते पुनः प्रसङ्गाद् द्वित्वम् । “जरशसो शिः” [११११७] इत्यस्यावकाशः । कुरङानि । “छेसुटोरम्” [१११२४] इत्यस्यावकाशः । यूयं रावानः । इह यूयं गुरुकुलानि इति पर एवाम्भावः । अतुल्यबलयोः स्पर्द्धा न भवति । उत्सर्गादपवादः परनित्यविचारणे भवेन्नित्यम् । नित्यान्तयान्तरङ्गम् । तस्मादप्यनवकाशं यत् । एकार्थयोरपि नास्ति विरोधः । धोर्विहितास्तव्यादयः पर्यायेण भवन्ति ।

नब्बाभ्य आसम् ॥१२।६१॥ नपा निर्दिष्टो बाध्यो भवति आ साधिकारपरिसमाप्तं रित्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । लोके संज्ञासमावेशो दृष्टः इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । शास्त्रेऽपि त्यः कृद् व्य इति । “शेषोऽग एव” [२।१।६४] इत्यवधारणाच्छापयति इहापि संज्ञासमावेशः स्यादिति यत्नः क्रियते । यत्र नपः समावेश इष्यते तत्र नशब्दोपादानमस्ति । यथा “यश्चैकाग्रये” [१।३।४४] इति । वक्ष्यति “प्रो धि च” [१।२।६६] विदि^१ । भिदि । “स्के रुः” [१।२।१००] । शिद्धि । भिद्धि । नपा निर्दिष्टा धिसंज्ञा रुसंज्ञया बाध्यते । समी-वेशे हि अततर्द्धादित्यत्र “धौ कच्यनक्खे सन्वत्” [१।२।१६०] इति कच्यरे^२ धौ परतः सन्वद्भावः प्रसज्येत । अवित्रजदित्यत्र वेदीत्वं स्यात् । नभिति किम् ? बाधन्यः । पुल्लिङ्गा गुसंज्ञा पुल्लिङ्गया भसंज्ञया न बाध्यते ।

ख्यौ स्त्र्याख्यौ मुः ॥१२।६२॥ स्त्रियमाचक्षते इति छाख्यौ । “घ्रे” [२।२।४] इति नियमादप्राप्तः “सुषि” [२।२।७] इति योगविभागात्कः । याचीकारोकारौ स्त्र्याख्यौ तदन्तं शब्दरूपं मुसंज्ञं भवति । “सुष्मि-कन्तं पवम्” [१।२।१०२] इत्यत्रान्तप्रद्वयमन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधार्थमिह नाश्रीयते “आमीयुवोः” [१।२।६४] इति नियमारम्भात् । व्याविति यणादेशादूकारो द्विमात्रस्तस्माच्चर्यादीकारोऽपि द्विमात्रः । ईकारः—कुमारी । गौरी । लक्ष्मीः । ऊकारः—नक्षत्रबन्धूः । वामोरुः । ववानूः । “अण् मोः” [५।२।१०७] इत्यादि मुसंज्ञाकार्यम् । व्याविति किम् ? मात्रे । दुहित्रे । स्त्र्याख्याविति किम् ? हे ग्रामणीः । हे खलपूः । नेमौ स्त्रियमेवाचक्षते । आख्याग्रहणं किम् ? शब्दार्थे स्त्रीत्ये यथा स्यात् पदान्तरगम्ये मा भूत् । ग्रामण्ये स्त्रियै । खलप्वे स्त्रियै । उभयलिङ्गानामिष्वसनिप्रभृतीनां शब्दार्थ एव स्त्रीत्वम् । श्वे अस्यै स्त्रियै । तथा गुणशब्दानां षट्त्वै स्त्रियै । इदञ्चाख्याग्रहणस्य प्रयोजनम् । कुमारीभिवात्मानमाचरति (कुमा-रीवाचरति) “आचारे सर्वमृद्भ्यः क्विप्” इति क्विप् । कुमार्यै देवदत्ताय । लक्ष्मीमतिक्रान्ताय अतिलक्ष्म्यै । प्रागेव मुसंज्ञा वृत्ता तदन्तान्मुकार्यं भवति । इह अतिकुमारये देवदत्ताय । प्रादेशे कृते “अनल्विषौ” [१।१।५६] इति प्रतिषेधान्मुकार्यं न भवति ।

स्त्री ॥१२।६३॥ स्त्रीशब्दश्च मुसंज्ञो भवति । “आमीयुवोः” [१।२।६४] “वा” [१।२।६५] किति प्रश्च [१।२।६६] इति नियमविकल्पयोः सामान्येन पुरस्तादयमपवादः । हे स्त्रि । स्त्रीणाम् । स्त्रियै । प्रादेशानुङाडागमाः सिद्धाः ।

आमीयुवोः ॥१२।६४॥ आमि परत इयुवोः स्थानिनौ ख्यौ स्त्र्याख्यौ मुसञ्ज्ञौ भवतः । सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः, आम्बेव मुसंज्ञा नान्यत्र । हे स्त्रीः । हे भूः । इयुवोरिति किम् ? प्रथ्यै । वर्षाभ्यै ।

वा ॥१२।६५॥ वा^१ मुसंज्ञा भवतीत्यामीयुवोः । श्रोणाम् । श्रियाम् । भूणाम् । भुवाम् ।

किति प्रश्च ॥१२।६६॥ ख्योर्यः प्रः स्त्र्याख्य इयुवोरश्च स्थानिनौ यौ ख्यौ तेषां किति वा मुसंज्ञा भवति । कृत्यै । कृतये । धेन्यै । धेनवे । पदे “स्वसञ्जि” [१।२।६७] इति सुसंज्ञा । “सोर्किति”

१. ‘छिदि’ अ०, ब०, स० । २.-तदात् । जरशदित्य-अ०, स० । ३. कच्यरे धौ-अ० । ४. ‘आण्मोः’ स० । ५.-डागमाडागमाः सिद्धाः-अ०, ब०, स० । ६. ‘वा च मु-ब०, स० ।

[१।२।१०६] एप् । इयुञ् । श्रियै । श्रिये । भुनै । भुवे । स्वाख्यावित्येव । अग्नये । अतिकृतये । अतिश्रिये । अतिभुवे दवदत्ताय । य्वी य्वीः प्र इति किम् ? मात्रे । दुहित्रे ।

स्वसखि ॥१।२।६७॥ प्रो य्वोरिति वर्तते । य्वोः प्रसुसंज्ञो भवति सखिशब्दं वर्जयित्वा । असखीति प्रतिषेधात् सिद्धौ प्रेति निर्देशाच्च स्वाख्याख्यस्य स्वाख्याख्यस्य च प्रस्पेहं ग्रहणम् । अग्नये । वायवे । स्वाख्याख्यश्च यो सुसंज्ञो न भवति तस्य ग्रहणम् । कृतये । धेनवे । सुसंज्ञाविषये “नञ्बाध्य आसम्” [१।२।६९] इति सुसंज्ञा बाध्यते । कृत्याम् । धेन्याम् । असखीति किम् ? सख्युः । सख्यौ । असखीति पर्युदासोऽयम् । तेन शोभनः सखा सुसखा । अतिसखा । अतिसखेरागच्छति । अतिसखेः स्वम् । सखिशब्दादन्यत्वमस्तीति सुसंज्ञा । मृद्ग्रहणेन तदन्तविधिरिति वा ? य्वोः प्र इत्येव । पित्रे । मात्रे । सुप्रदेशाः “सोर्द्धिति” [५।२।१०६] इत्येवमादयः ।

पतिः से ॥१।२।६८॥ पतिशब्दः स एव सुसंज्ञो भवति । प्रजाप्रतिना । प्रजापतये । पतिरेव स इति कस्मात् नियमः । एवं हि “द्वन्द्वे सुः” [१।३।६८] इति पूर्वनिपातवचनमनर्थकं स्यात् द्वन्द्वे पतिरिति ब्रूयात् । न ह्यन्यस्य से सुसंज्ञासम्भवः । अपि चानेकप्राप्तावेकस्य नियम इति वचनमनर्थकं स्यात् । पटुमृदुगुप्तपटव इति । स इति किम् ? पत्या । पत्ये ।

प्रो घि च ॥१।२।६९॥ प्र इति मात्रिकस्य संज्ञा । प्रो घिसंज्ञो भवति । भेत्ता । बोद्धा । घीति नपा निर्देशः किमर्थः ? पुल्लिङ्गया कसञ्ज्ञया बाधा यथा स्वात् । प्रयोजनमग्रे वक्ष्यते । चशब्दः सञ्ज्ञान्तर-समावेशार्थः । घि च भवति यच्चान्यप्राप्नोति तच्च भवति । इह प्रविनय्य गत इति सुसंज्ञासमावेशः । विश्वं ना च विनरो तावाचष्टे णिच् । “णाविष्टवन्मृदः” [४।४।१४६] इति इष्टवद्भावः । ट्ठित्वम् । प्रशब्देन योगः । तच्चः व्यादेशो णिन्ने प्राप्ते घिसंज्ञायां सत्यां “प्ये विपूर्वात्” [४।४।१६] इति खेरयादेशः सिद्धः । सुसंज्ञायाश्च पूर्वनिपातः । अन्यथेकारोकाराभ्यामन्यत्र सावकाशा घिसंज्ञा इकारोकारविषयत्वादनवकाशाया सुसंज्ञाया बाध्येत ।

रुफे रुः ॥१।२।१००॥ प्र इति वर्तते । रुसञ्ज्ञो परतः प्रो रुसञ्ज्ञो भवति । कुरडा । हुण्डा । स्पर्धा । तुम्विधाङुपदेशाश्रयणात्प्रागेव तुम् । “सरोर्द्धकः” [२।३।८५] इति अस्त्यः । “नञ्बाध्यतष्टाम्” [३।१।४] ।

दीः ॥१।२।१०१॥ दीरिति द्विमात्रस्य सञ्ज्ञा । दीश्च रुसञ्ज्ञो भवति । ईहाङ्गके । लिटि परतः “सरोरिजादेः” [२।१।३२] इत्याम् । शेषम् “आन्वत्तकृजः” [१।२।६६] इत्यत्रोक्तम् । ररिति पुल्लिङ्ग-निर्देशः किमर्थः ? ईकारोकारविषयया रुसञ्ज्ञया बाधा मा भूत् । द्वयोः समावेशे हे परमवाचीश्च इत्यत्र “आन्वोः” [४।२।१६३] इति रुसञ्ज्ञाश्रयः कप् । रुसञ्ज्ञाश्रयो “अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः” [१।३।६४] इति पविधिरश्च सिद्धः ।

यस्ये तदादि गुः ॥१।२।१०२॥ यो हि यस्मात्तः स तस्येत्युच्यते । यस्य धोर्भृदो वा त्यः यत्यस्तास्मिन् परतस्तदादिशब्दरूपं गुसञ्ज्ञं भवति । केवलायाः प्रकृतेर्व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । दोग्धि । जुहोति । कारिष्यति । कुरङ्गानि । गुकार्वमेविडागमो नुमागमश्च । जसि “नोङ्” [४।४।६] इति दोत्वञ्च । यदिति सञ्ज्ञानिर्देशार्थम् । अन्यथा तदादीति न लभ्येत तथा च त्ये सति पूर्वमात्रस्य गुसञ्ज्ञा स्यात् । तत्र को दोषः ? इह न्यविशत प्राकरोदिति सरोरडागमः स्यात् । यत्य इति यञ्छब्देन त्यस्य विशेषणं किम् ? अस्यापत्यमिः । देवदत्त इं पश्येत्वात्र आदेरैप् स्वात् । अतस्य स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमिति चेत् योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तं प्रति स्थानिवद्भावः । आदिष्टाच्चैपोऽचः पूर्वो निष्पत्तस्य पदस्य पदान्तरेणाभिसम्बन्धात् । यत्य इति ईमिर्निर्देशः

१. ‘निर्देशात्’ इत्यस्य ‘अनुवृत्तेः’ इत्यर्थः । प्रसङ्गस्वारस्यात् । २. ‘चा’ अनित्यमित्यर्थः ।

३. नोङ् इत्यस्मिन्नुच्यमाने ‘वेङ्कौ’ इति दीः ।

किमर्थः ? यत्तत्तदादि गुरित्युच्यमाने यस्य त्वः सम्भवति तस्यान्वस्मिन्नपि शब्दे गुसंज्ञा स्यात् । तथा च ज्ञिषे इदं स्व्यर्थे भुवे इदं भ्वर्थम् । इयुवौ प्रसज्येयाताम् । तदादिवचनं किमर्थम् ? यत्रानेकरूपः सम्भवति तत्र तदादेर्गुसंज्ञा यथा स्यात् । करिष्याति । कुण्डानि । स्थान्तस्य सन्तुम्कस्य च गुसंज्ञायां “यज्यन्तो दीः” [१।२।१६] “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वं सिद्धम् । गुरिति पुल्लिङ्गनिर्देशो भवदसंज्ञासमविशार्थः । इह चाभ्रव्य इति गुसंज्ञाश्रय आदेरैप् । भसंज्ञाश्रयः “कम्बो रोऽस्वयम्भुचः” [४।४।१३४] इति ओकारः । इह च यजुः पर्ययस्य याजुष्कः । गुसंज्ञाश्रय आदेरैप् “स्वादावधे” [१।२।१०६] इति पदत्वे पदसंज्ञाश्रयाणि रितत्त्वत्वानि सिद्धानि । नपुंसकलिङ्गा चेद् गुसंज्ञा होतुरपत्यं होत्र इत्यत्र सावकाशा सती पदसंज्ञया बाध्येत ।

सुम्भिडन्तं पदम् ॥१।२।१०३॥ “नः क्ये” [१।२।१०४] इति नियमारम्भात् सुभिति प्रत्याहार-ग्रहणं नेपो बहोः । मिडा साहचर्याद्वा । सुवन्तं मिडन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति । सूपकारः पचति । पदसंज्ञाश्रयो रित्वादिविधिः । खरि सादेशविधिश्च भवति । ननु सुम्भिडौ त्यौ । त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहण-मित्यन्तग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविध्यभावज्ञापनार्थम् । तेन दृषत्तीर्णेत्यत्र क्लान्तस्य “कल्-वत्” [१।१।२८] इत्यनेन तसंज्ञा नास्तीति “द्वान्तस्य सो नः” [५।३।५६] इत्येप विधिर्षट्कारापेक्ष-या न भवति । इह च कुमारीगौरितरा “तादी रुः” [४।१।११७] इत्यनेन तरान्तस्य भसंज्ञा नास्तीति “रुहूप०” [४।३।१५५] इत्यादिना प्रादेशो न भवति । पदमिति नपा निर्देशो भसंज्ञया बाधा यथा स्यादि-त्येवमर्थः । अन्यथा राज्ञः राजन्थ इत्यत्र भसंज्ञाश्रयमनोऽखं पदसंज्ञाश्रयं नखञ्च स्यात् । पदप्रदेशाः “पदस्य” [५।३।१४] इत्येवमादयः ।

नः क्ये ॥१।२।१०४॥ क्ये इति क्यच्क्वङ्क्वपामविशेषग्रहणम् । क्ये परतो नान्तस्य पदसंज्ञा भवति । राजानमिच्छति राजीयति । राजेनाचरति राजायते । अचर्म चर्म भवति चर्मायते । पदत्वे सति नखं सिद्धम् । “नखं सुखिर्विधु कृत्तु कि” [५।३।२८] इति नियमादन्यत्र सिद्धमिति “क्यचि” [५।२।१४२] इतोत्वं “कीरुद्दो” [५।२।१३४] इति दीत्वञ्च भवति । “स्यस्ते त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति पदत्वे सिद्धे नियमार्थ-मिदम् । नान्तमेव क्ये पदसंज्ञं भवति नान्यत् । बाध्यति । शुच्यति^१ । कुत्वं न भवति । नान्तं क्य एवेति विप-रीतो नियमो नाशङ्कनीयः । “अकौ” [१।३।३०] इति कौ नखप्रतिषेधात् ज्ञायते पदत्वे हि नखप्राप्तिः ।

सिति ॥१।२।१०५॥ सिति त्वे परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति । भवतोऽवं भवदीयः । “भवतष्टयुक्षसौ” [१।२।१६] इति छम् । “यधि भः” [१।२।१०७] इति पदसंज्ञायां बाधितायां पुनरारम्भः । एवमूर्णा अस्या-स्तीति ऊर्णायुः । “ऊर्णाहंशुभंभ्यश्च युस्” [४।१।३२] इति युस् । “यस्य ह्याञ्च” [४।४।१३६] इति खं न भवति । अहंय्युः । अहंयुः । शुभंय्युः । शुभंयुः । “वा पदान्तस्य” [१।४।१३३] इति परस्त्विकल्पः ।

स्वादावधे ॥१।२।१०६॥ अध इति प्रतिषेधाद्वावा एकस्य सोर्ग्रहणम् । स्वादौ धवर्जिते परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति । राजभ्याम् । राजभिः । राजध्वम् । राजता । अध इति किम् ? राजानौ । राजानः । यद्येवं राजे-त्यत्रापि प्रतिषेधः स्यात् । नैवं शङ्क्यम् । अध इति पर्युदासोऽयं धादन्यत्र पदसंज्ञा विधीयते । धे तु पूर्वेषु भविष्यति । यद्येवं सुवाचौ सुवाच इत्यत्रान्तर्वर्तिनी विभक्तिमाश्रित्य पदत्वं प्राप्नोति । अस्तु तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधः । राजेत्यत्र “अकौ” [१।३।३०] इति प्रतिषेधात् ज्ञायते सौ पदसंज्ञा भवति । एवमप्यध इति अनन्तरस्य स्वादौ विधेः प्रतिषेधोऽयं सुवाचौ सुवाच इत्यत्र पूर्वेषु प्राप्तिरस्त्येव । कर्तव्योऽत्र यत्नः । “उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ त्यक्तक्षणा न भवतीति ।

यधि भः ॥१।२।१०७॥ स्वादावध इति वर्तते । यकारादावजादौ च स्वादौ धवर्जिते पूर्वं भसंज्ञं भवति । गार्ग्यः । वात्स्यः । दाक्षिः । प्लाक्षिः । पूर्वेषु पदसंज्ञा प्राप्ता भत्वाद् “यस्य ऊधाञ्च” इत्यक्षम् । “नभोऽङ्गिरो-

१. भुवे अ०, व०, ख० । २. भवर्थम्—अ०, व०, ख० । ३. इति नावधि—अ०, ख०, स० । ४. न सम्भ—अ० । ५. शुच्यति अ०, ख० ।

मनुष्या वस्तुपसकृष्यमानम् । [वा०] नभसा तुल्यं वर्तते इति नभस्त्वत् । अक्षिरस्वत् । मनुष्यत् । वृष्णो
वस्वश्चयोर्ध्वोर्मसंज्ञेति केचित् । वृष्णो वसुः वृषणवसुः । वृषणश्चः ।

मत्वर्थे स्तौ ॥१२॥१०८॥ मत्वर्थे ल्ये परतः सकारान्तं तकारान्तञ्च मसंज्ञं भवति । तपस्वी ।
यशस्वी । “विलसमायामेधास्त्रजः” [४।१।४७] इति विन् । मतोर्विशेषणत्वेऽपि मत्वर्थग्रहणेन ग्रहणम् । यथा
देवदत्तशालापरिहृता आनीयन्तामित्युक्ते देवदत्तो विशेषणभूतोऽपि यदि परिहृतः सोऽपि आनीयते । मास्वान् ।
विशुत्वान् । मरुत्वान् । स्ताविति किम् ? राजवद् एहम् ।

कारके ॥१२॥१०९॥ कारक इत्यधमधिकारः । यदित उर्ध्वमनुकमिष्यामः कारक इत्येवं उद्घोषित-
व्यम् । कारकं निर्वर्तकं हेतुर्वा । कथं ? क्रियावाः । का च क्रिया ? धर्मः । कारक इति निर्धारणलक्षणेयमीप् ।
जात्यपेक्षैकवचनम् । सौत्रो वा निर्देशः । कारकेषु यद्भ्रुवं तदपादानं, यः कर्मणोपेयोऽर्थः स सम्प्रदानमित्यादि
योष्यम् । वक्ष्यति “अप्याये ध्रुवमपादानम्” । [१।२।११०] ग्रामादागच्छति । स्वर्गादवरोहति । अपाय-
क्रियाया ग्रामोऽपि निर्वर्तकः देवदत्तोऽपि । ध्रुवत्वाद् ग्रामोऽपादानम् । कारक इति किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति ।
कुड्यस्य पिण्डः पतितः । अपायक्रियाया निर्वर्तकत्वेन वृक्षः कुड्यश्च न विवक्षितम् । “अकथितव्य”
[१।२।१११] अपादानादिभिरकथितं च कारकं कर्मसंज्ञं भवति । आचार्यं धर्मं पृच्छति । कारक इति किम् ?
आचार्यस्य शिष्यं धर्मं पृच्छति । आचार्यस्य शिष्यविशेषणत्वादकारकत्वम् । वदा कारकञ्चाकारकञ्च सर्वमकथितम-
प्रतिपादितमित्यर्थस्तदेवं प्रत्युदाहरणम् । असङ्कीर्तितमिति व्याख्याने कारकमेव लभ्यते । प्रदेशेषु कारकाभिधानेऽ-
पादानादीनां ग्रहणम् ।

अप्याये ध्रुवमपादानम् ॥१२॥११०॥ धीर्बुद्धिः । प्राप्तिपूर्वको विश्लेषोऽपायः । धिया कृतो
अपायो ध्यापयः । धीप्राप्तिपूर्वको विभाग इत्यर्थः । धीग्रहणे ह्यसति कायप्राप्तिपूर्वक एवापायः प्रतीयेत धीग्रह-
णेन सर्वः प्रतीयते । ध्रुवमविचलम्, अवधिभूतं वा । ध्यापये साध्ये यद् भ्रुवं तदपादानसंज्ञं भवति । ग्रामादा-
गच्छति । ग्रामो देवदत्तं नानुपतति इति ध्रुवः । अथवा अपायात्पागपि ग्रामः । अपायेऽपि ग्राम एव । देवदत्त-
स्वपाये ग्रामग्रहणेन न शक्यत इति ग्रामो ध्रुवः । एवमश्नाद् भावतः पतितः । गच्छतः सार्थादवहीनः । देवदत्तो
जिनदत्तादागतः । मेधौ परस्परस्तोऽप्रसर्पतः । शृङ्गाच्छरो जायते । गङ्गा हिमवतः प्रभवति । इह ग्रामादागच्छ-
तीति पूर्वमपादानसंज्ञा पश्चात्प्रतिषेधः । धियाऽपायस्य विशेषणं किम् ? अधर्माङ्गुसप्तै । प्रेक्षापूर्वकारी दुःखहेतुर-
धर्म इति बुद्ध्या संग्राह्यं ततो निर्वर्तत इति अपादानत्वम् । एवमधर्माद्विरमति प्रमाद्यति । व्याघ्राद्विभेति । चौरै-
भ्यस्त्रायते । अध्ययनात् पराजयते । न शक्नोतीत्यर्थः । यवेभ्यो गां वारयति । अकार्यात्सुतं वारयति । कृपादन्धं
वारयति । उपाध्यायादन्तर्द्धत्ते । मयं सञ्चिन्त्य निर्वर्तत इत्यर्थः । विप्रज्ञातः कारकाणि भवन्ति । उपाध्यायाद-
धीते । उपाध्यायाच्छ्रियोति । अविप्रज्ञायां नटस्य शृणोति । ग्रन्थिकस्य शृणोति । ध्रुवमिति किम् ? अरस्ये
विभेति । नात्र भयावधिभूतमरणं किं तर्हि चौराः । नप निर्देशः किमर्थः । वक्ष्यमाणाभिः संज्ञाभिर्वा
यथा स्यात् । धनुषा विध्यति । पुलिङ्गया करणसंज्ञया बाधात् । कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते । पुलिङ्गाऽधिकरणसंज्ञैव ।
धनुर्विध्यतीति कर्तृसंज्ञा । इह गां दोषि पत्र इति परत्यात्मसंज्ञा । अपादानप्रदेशाः “काऽपादाने” [१।२।११०]
इत्येवमादयः ।

कर्मणोपेयः सम्प्रदानम् ॥१२॥१११॥ उपपूर्वादिको ये कृते उपेय इति भवति । कर्मणा य
उपेयोऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । उपाध्यायाय गां ददाति । देवाय वलिं प्रयच्छति । कर्मणेति किम् ?
गवा उपाध्यायमुपैति । सम्प्रदानमित्यन्वयसंज्ञाकरणात् ददात्यर्थानां धूनां द्रव्येण कर्मणा उपेयोऽर्थः सम्प्रदानमिति ।
तेनेह न भवति । देवदत्तस्य वज्रं दर्शयति । मित्रस्य कार्यं कथयति । अजां नयति ग्रामम् । सम्यक् प्रदानं सम्प्र-
दानमिति चाश्वितम् । तेनेह न भवति । ज्ञतः पुष्टं ददाति । रजस्य वज्रं ददाति । राज्ञो दण्डं ददाति । इह
तर्हि कथं श्राद्धाय निगृह्यते । युद्धाय सन्नद्धति । तिष्ठते ब्राह्मणी क्षत्रिभ्यः ! तादर्थ्यात् सिद्धम् । अथवा

कथञ्चिद्विचक्षितभेदाभिः सन्दर्शनप्रार्थनाऽध्यवसायक्रियाभिः क्रियापि व्याख्या सती कर्मतथोपेयत्वात् सम्प्रदानत्वम् । तेनेहापि भवति । रोचते देवदत्ताय मोदकः । स्वदते देवदत्ताय मोदकः । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । मित्राय कथयति । मित्राय क्रुध्यति । मित्राय द्रुह्यति । मित्राय ईर्ष्यति । मित्रायाः पूरयति । मित्राय कुम्सति । कोपादन्यत्र कुधादीनां प्रार्थनादिभिः क्रियाविशेषैर्भेदो न विवक्षित इति क्रियायाः कर्मव्यपदेशो नास्ति । भार्यामीर्ष्यति । औषधं द्वेष्टि । शप उपलम्भनेऽर्थे भेदः । देवदत्ताय शपते । हुङ् आत्मनिहृदे भेदः । मित्राय हृते । अन्यत्र मित्रं हृते । राधो-
क्त्यर्द्धवालोचने । पुत्राय राध्यति । पुत्राय ईक्षते । अन्यत्र पुत्रस्य राध्यति । पुत्रमीक्षते । यत्र च प्रत्याङ्पूर्वः
शृणोतिरभ्युपगमे वर्तते । देवदत्ताय प्रतिशृणोति । अनुप्रतिपूर्वश्च शृणातिर्यदि कथयितुः प्रोत्साहने वर्तते ।
आचार्याय अनुगृह्णाति । आचार्याय प्रतिगृह्णाति । इह भेदाभेदविवक्षा । देवदत्ताय श्लाघते । देवाय प्रणमति ।
गत्थार्थानां चेष्टायाः समसम्प्राप्तादुभे [वा०] । यथा ग्रामाय गच्छति ग्रामं गच्छति । ग्रामाय व्रजति । ग्रामं व्रजति ।
चेष्टावामिति किम् ? मनसा पाठलिपुत्रं गच्छति । असम्प्राप्ताविति किम् ? पन्थानं गच्छति । भार्या गच्छति ।
अन्यत्राभेदविवक्षैव । कटं करोति । ओदनं पचति । शास्त्रं पठति । “सग्योश्च क्रुधिदुष्टोः” [वा०] मित्रमभि-
क्रुध्यति । मित्रमभिद्रुह्यति । “सिद्धिर्लोकात्प्राप्तः” [१११३] इत्यतो भेदाभेदोभयविवक्षा प्रत्येतव्या ।
परेषामपि प्रतिपत्तिगौरवं तुल्यम् । क क्रियाया व्याप्यत्वमिष्टं क च नेति दुर्बोधम् ।

धारयतेरुत्तमर्णः ॥१२॥११२॥ ऋणे उत्तम उत्तमर्णः । निपातनात् सविधिः । धारयतेरुत्तमर्णो
योऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । देवदत्ताय गां धारयति । उत्तमर्ण इति किम् ? देवदत्ताय शतं
धारयति दग्धिः ।

परिक्रियणम् ॥१२॥११३॥ परिक्रीयतेऽनेनेति परिक्रियणम् ; तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति ।
शताय परिक्रीतः । सहस्राय परिक्रीतः । साधकतमत्वात् करणसंज्ञा प्राप्ता ।

साधकतमं करणम् ॥१२॥११४॥ क्रियावामतिशयेन साधकं साधकतमम्, तत्कारकं करणसंज्ञं
भवति ।

“दानेन भोगं दयया सुरुपं ध्यानेन मोक्षं तपसेऽसिद्धिम् ।

सत्त्वेन वाक्यं प्रशमेन पूजां वृत्तेन जन्मायमुपैति मर्त्यः ॥”

तमग्रहणं किमर्थम् ? यथा रूपप्रस्तावे अभिरूपाय कन्या देयेतुक्तेऽभिरूपतमावेति । एवमिहापि कारका-
धिकारादकारकं संज्ञावृत्तिर्नास्त्येति ‘साधकं करणम्’ इत्युक्तेऽपि साधकतममिति गम्यते तदेतत् तमग्रहणं साधकमन्यत्र-
तमग्रहणेन विना प्रकर्षो न लभ्यते । तेना ‘आधारीऽधिकरणः’ [१११११३] इत्यनेन मुख्यमुख्ययोरधिकरणत्वं
सिद्धम् । तिलेषु तैलम् । गङ्गायां घाघः । साधकतमस्याविवक्षायां स्वातन्त्र्याद्भुविर्व्यतीति भवति । पुल्लिङ्गनि-
र्देशः किमर्थः ? परिक्रियणमित्यनवकाशया सम्प्रदानसंज्ञया बाधा ना भूत् । शतेन परिक्रीतः । वचनात् साऽपि
भवति । शताय परिक्रीतः । “विचः कर्म” [११२१११५] इत्यत्र च समावेशो यथा स्यात् । अर्द्धदीव्यति ।

विचः कर्म ॥१२॥११५॥ दिवेः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं भवति । अक्षान् दीव्यति । शर्लाकां
दीव्यति । नपा निर्देशात् करणत्वमपि ।

आधारीऽधिकरणः ॥१२॥११६॥ आध्रियतेऽस्मिन् क्रियेत्याधारः । इदमेव निपातनमधिकरणो
पञः । आधारो यस्तत् कारकमधिकरणसंज्ञं भवति । यद्येवं कर्तृकर्मणोरधिकरणसंज्ञा प्राप्ता तदाश्रित-
त्वात् क्रियायाः । एवं तर्हि कर्तृकर्मणोः क्रियाश्रययोर्धारणादाधारोऽभिप्रेतः । पूर्वं तमग्रहणेन शापितं गौरव-

स्याप्याधारस्याधिकरणत्वम् । कर्तृकर्मणोः सत्यपि क्रियाधारत्वेऽनवकाशत्वात् कर्तृकर्मसंज्ञे भविष्यतः । भेदवि-
वक्षायां अधिकरणत्वमपि । अशनक्रिया देवदत्तं वर्तते । विक्रमेदनं तण्डुलेषु ।

“औपश्लेषिकवैषयिकाऽभिध्यापक इत्यपि । आधारस्त्रिविधः प्रोक्तः कटाकाशतिलेषु च ॥”

• औपश्लेषिकः—कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । वैषयिकः—आकाशे शकुनयः । गङ्गायां घोषः । गुरौ
पसति । यदधीना यस्य स्थितिः स तस्याधारः । अभिव्यापको विभागाप्रतीतेः । तिलेषु तैलम् । दधनि सर्पिः ।
अधिकरणप्रदेशाः “ईदधिकरणे च” [११४।४४] इत्येवमादयः ।

कर्मैवाऽधिशीकृत्स्थाऽस्तः ॥११२।११७॥ अधिपूर्वाणां शीङ् स्था आङ् इत्येवमाधारो यस्तत्
कारकं कर्मसंज्ञमेव भवति । ग्राममधिरोते । पर्वतमधितीष्ठति । प्रासादमध्यास्ते । एवकारः पुंल्लिङ्गाऽधिकरण-
संज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थः । कर्मप्रदेशाः “कर्मणीप्” [११४।२] इत्येवमादयः ।

वसोऽनूपाध्याहः ॥११२।११८॥ अनु उप अधि आङ् इत्येवम्पूर्वस्य वसतेराधारो यस्तत् कारकं
कर्मसंज्ञं भवति । ग्राममनुवसति । गिरिमुपवसति । गृहमधिवसति । वनमावसति । इह कथं ग्रामे उपवसति ।
भोजननिवृत्तिं करोतीत्यर्थः । अत्रापि शिरादेराधारस्य कर्मत्वं प्रतीयते ।

अभिनिविशुश्च ॥११२।११९॥ अभिनि इत्येवम्पूर्वस्य विशतेराधारो यस्तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति ।
ग्राममभिनिविशते । गेहमभिनिविशते । चकारात् कचिदधिकरणसंज्ञाऽपि भवति । या या संज्ञा यस्मिन्नभिनि-
विशते । अर्थेष्वभिनिविष्टः । कल्याणेऽभिनिवेशः ।

कर्त्राप्यम् ॥११२।१२०॥ कर्त्रा क्रियया वदाप्यं तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति । कर्तृग्रहणादाप्यग्रहण-
सामर्थ्याद्वा क्रिया लभते । तत्र कर्म ।

“प्राप्यं विषयभूतं च निर्वर्त्यं विक्रियात्मकम् । कर्तुश्च क्रियया व्याप्यमीप्सितानीप्सितेतरत् ॥”

आप्यत्वसामान्यं सर्वत्र विद्यते । प्राप्यम्—ग्रामं गच्छति । आदित्यं पश्यति । विषयभूतम्—जैनेन्द्रमधीते ।
हिमवन्तं शृणोति । निर्वर्त्यम्—घटं करोति । ओदनं पचति । विक्रियात्मकम्—काष्ठानि दहति । घटं भिनत्ति ।
ईप्सितम्—गुडं मत्स्यति । ओदनं मुञ्चते । अनीप्सितम्—ग्रामं गच्छन् व्याघ्रं पश्यति । फण्टकान्-
मृदाति । अनुभयम्—ग्रामं गच्छन् घुत्तनूलान्युपसर्पति । कर्वेति किम् ? माषेष्वश्वं वध्नाति । अश्वेन
कर्मणा भक्षणक्रियया माषाणामाप्यानां कर्मसंज्ञा मा भूत् । अथ सर्वाणि कारकाणि कर्त्राऽप्यन्त इति कर्मसंज्ञा
प्राप्नोति ? नैव दोषः । सर्वेषु कारकेष्वप्येषु आप्यग्रहणसामर्थ्यादावतमे संप्रत्ययः । तेन करणादिषु न भवति ।
पयसा ओदनं मुञ्चते । इह कथं कर्मत्वं गेहं प्रविशतीति ? आधारस्याविवक्षया ।

अकथितश्च ॥११२।१२१॥ अकथितमसङ्कीर्तितम् । अपादानादिभिर्विशेषकारकादिभिरकथितं च यत्
कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति । अकथितमप्रधानमिति गृह्यमाणे इह देवदत्ताद् गां याचत् इत्यप्रधानतयाऽपादान-
संज्ञा कर्मसंज्ञया बाधेत ।

“दुहियाचिरुधिप्रच्छिन्नमिक्षिचिन्नामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ ।

अविज्ञासिगुणेन च यत् सञ्चते तदुक्तीर्तितमाचरितं कविना ॥”

दुहि—गां दोग्धि पयः । गौः कारकमपादानत्वेनासङ्कीर्तितमपायस्याविवक्षितत्वात् । गोरप्याप्यत्वेन सिद्धं
कर्मत्वमिति चेत् परिगणनार्थमिदं वक्तव्यम् । इह मा भूत् । नटस्य शृणोति श्लोकम् । याचि-मायावकं
गां याचने । याचनमात्रेणापायस्याविवक्षितत्वात् । रुधि—गामवरुणादि वज्रम् । सतोऽप्याधारस्याविवक्षा ।
अनुदरा कथ्येति यथा । प्रच्छिन्न-आचार्यं धर्मं पृच्छति । प्रश्नमात्रेणापायस्याविवक्षा । भिक्षि-देवदत्तं गां
भिक्षते । चिब्-वृक्षमवचिनोति फलानि । उपयोगनिमित्तं प्रयोगनिमित्तम् । अथवा उपयोगो दुग्धादि तन्नि-
मित्तं गवादि । इहापि तर्हि स्यात् । पाणिना कांस्यपात्रां दोग्धि । पापयादिकमप्युपयोगनिमित्तमित्याह ।

अपूर्वविधौ—यस्य पूर्वो विधिर्नोक्तः । इह तु पूर्वमेव करणसञ्ज्ञा अधिकरणसञ्ज्ञा च विहिता । ब्रुविशा-
स्योर्गुणेन च क्रियया कर्मणा वा यत् सचते सम्बध्यते तदकीर्तितमित्युक्तमाचार्येण । ब्रुवि-माणवकं धर्मं
ब्रूते । शासि-माणवकं धर्ममनुशासति । माणवकस्य सम्प्रदानत्वेनाविवक्षा । अकथितमिति किम् ? देवदत्तात्
गां याचते । चतारोऽनृणाः पुत्रयान् १ । तेन २ “कालभावाश्चरान्तव्याः” कर्मसंज्ञा अकर्मणामिति ३ लब्धम् ।
काले—मासमास्ते । संवत्सरं वसति । भावे—गोदोहं स्वपिति । अथा च स गन्तव्यश्चेति इच्छया विशेषणत्वम् ।
क्रोशमास्ते । क्रोशं स्वपिति । देशोऽपि कर्मसंज्ञ इति केचित् । कुरुजास्ते । कुरुज् स्वपिति । अथ नीवहि-
हरतिकृषिज्वत्पादयो द्विकर्मका उपलभ्यन्ते । तेषां कथं द्विकर्मकत्वं प्रधानाप्रधानकर्मणोः सामान्येनाऽप्यत्वात् ।
अजां नयति ग्रामम् । भारं वहति ग्रामम् । भारं हरति ग्रामम् । शाखां कर्तति ग्रामम् । देवदत्तो जिनदत्तं शतं
जयति । देवदत्तो ग्रामं शतं दण्डयति । अर्थं तु विशेषः —

“प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां प्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥”

नीयते अजा ग्रामम् । उच्यते भारो ग्रामम् । हिवते भारो ग्रामम् । कृष्यते शाखा ग्रामम् । जीयते
जिनदत्तः शतम् । दण्डयते जिनदत्तः शतम् । अप्रधाने कर्मणि दुहादीनाम् । दुहते गौः पयः । याच्यते माण-
वको गाम् । अवबध्यते गां व्रजः । पुच्छ्यते आचार्यो धर्मम् । मित्यते देवदत्तो गाम् । अवचौक्यते वृक्षः
फलानि । उच्यते माणवको धर्मम् । शिष्यते माणवको धर्मम् । एवन्ते कर्तुश्च कर्मण इति उत्तर सूत्रेणाऽप्य-
न्तावस्थायां यः कर्ता एयन्तावस्थायां कर्मतामापन्नः प्रयोज्यस्तस्याभिधाने लादीनाहुः । बोध्यते माणवकः
शास्त्रम् । गम्यते माणवको ग्रामम् । भोज्यते माणवक ओदनम् । आस्यते माणवको मासम् । अध्याप्यते
माणवको जैनेन्द्रम् । ननु एयन्तेषु ध्रुषु एवन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाऽप्येषणलक्षणया यदाप्यते तत् प्रधानं
कर्म । अवयवक्रियया यदाप्यते तदप्रधानम् । एवं च सति प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनाहुर्नित्येनैव सिद्धत्वादन-
र्थकमिदं एयन्ते कर्तुश्च कर्मण इति ? नानर्थकं समुच्चयार्थमेतत् प्रधाने कर्मणि लादयो भवन्त्यप्रधाने च । तेन
बोध्यते माणवकं धर्मः । भोज्यते माणवकमोदनः । अध्याप्यते माणवकं जैनेन्द्रः । अकर्मणां गत्यर्थानां च प्रधान
एव कर्मणि लादयः । आस्यते माणवको मासम् । आस्यते माणवको गोदोहम् । गम्यते माणवको ग्रामम् ।
प्राप्यते माणवको ग्रामम् ।

ज्ञागम्यद्यर्थधेरणि कर्ता यौ ॥१॥१२२॥ शार्थानां गम्यर्थानामवर्थानां धीनाञ्च धूनामव्य-
न्तानां यः कर्ता स यौ सति कर्मसंज्ञो भवति । शार्थानाम्—जानाति माणवको धर्मम् । ज्ञापयति माणवकं
धर्मम् । बुध्यते माणवको धर्मम् । बोधयति माणवकं धर्मम् । पश्यति माणवको ग्रामम् । दर्शयति माणवकं
ग्रामम् । गम्यर्थानाम्—गच्छति माणवको ग्रामम् । गमयति माणवकं ग्रामम् । याति माणवको ग्रामम् ।
यापयति माणवकं ग्रामम् । अवर्थानाम्—भुङ्क्ते ओदनं माणवकः । भोजयति माणवकमोदनम् । अश्नाति
माणवक ओदनम् । आशयति माणवकमोदनम् । धीनाम्—आस्ते माणवकः । आसयति माणवकम् । शेते
माणवकः । शाययति माणवकम् । अत्रापि पूर्ववरिणजन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाऽप्येषणलक्षणया आस्यत्वात्
कर्मसंज्ञा सिद्धा । यद्यपि स्वातन्त्र्यमाप्यत्वञ्चास्ति तथापि कर्मवैल्यवधारणात् कर्तृसंज्ञा न भवतीति । एवं सिद्धं
नियमार्थमिदं तेषामेवाणौ कर्ता एयन्ते कर्मसंज्ञो भवति नान्येषाम् । पचत्योदनं देवदत्तः । पाचयत्योदनं देव-
दत्तेन । अणि कर्तेति किम् ? गमयति देवदत्तो जिनदत्तम् । तमन्यः प्रयुङ्क्ते । गमयति देवदत्तेन जिनदत्तम् ।
नवत्यादयः प्रापणार्था न गत्यर्थस्तेनेह कर्मसंज्ञा न भवति । अजां नयति देवदत्तः । नाययति देवदत्तेन । भारं

१. गन्तव्यः क-मु०, व० । २. कालः अ०, स० । ३. भावः अ०, स० । ४. कृषज-मु० ।
५. जिनदत्तो ग्रामं भारं हरति अ०, व०, स० । ६. कृषति अ०, व०, स० । ७. ‘शिष्यते माणवको धर्मम्’
इति व० पुस्तके नास्ति । ८. अध्याप्यते माणवको जैनेन्द्रम् अ०, व०, स० ।

वहति वाहीकः । वाहयति वाहीकेन । यदा गत्यर्थतासंभवस्तदा भवति कर्मसंज्ञा । वहन्ति वलीवर्दा यवान् । वाहयन्ति वलीवर्दान् यवान् । प्रवहत्युदकं देवदत्तः । प्रवाहयत्युदकं देवदत्तम् । “अथर्धेषु अद्विसाधोः प्रतिषेधो वक्तव्यः [वा०] अस्ति देवदत्तः । आदयति देवदत्तेन । आहयति (आदयति) देवदत्तः । आहयति देवदत्तेन । अथवा “सर्वमथर्धकार्यमदेन भवतीति वक्तव्यमधिकरणे तद्विधिं मुक्त्वा” [वा०] आदयते माणवकेन । “अस्यथर्धात्” [१।२।८७] ममपि न भवति । “अक्षिरहिंसार्थः कर्मसंज्ञो न भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] भजयति पिण्डीं देवदत्तः । भजयति पिण्डीं देवदत्तेन । अहिंसार्थस्येति किम् ? भजयति वलीवर्दा यवम् । भजयति वलीवर्दा यवम् । अत्र हिंसाऽस्ति । वनस्पतिकावानां प्राणित्वात् । प्रकृतेन कर्मणा अकर्मका इह गृह्यन्ते तेन विग्रहणे कालादिकर्मणः कर्ता कर्मसंज्ञो भवति । आस्ते मासं देवदत्तः । आसयति मासं देवदत्तम् । आस्ते गोदोहं देवदत्तः । आसयति गोदोहं देवदत्तम् । आस्ते कोशं देवदत्तः । आसयति कोशं देवदत्तम् ।

शब्दे च ॥१।२।१२३॥ शब्दे कर्मभावेन क्रियाभावेन च यो धुर्वर्तते तस्याण्यन्तस्य कर्ता एव कर्मसंज्ञो भवति । शब्दकर्मणः—शृणोति देवदत्तः शब्दम् । श्रावयति देवदत्तं शब्दम् । उपलभते देवदत्तः शब्दम् । उपलभयति देवदत्तं शब्दम् । अधीते माणवकस्तर्कम् । अध्यापयति माणवकं तर्कम् । शब्दक्रियस्य—जल्पति देवदत्तः । जल्पयति देवदत्तम् । विलपति देवदत्तः । विलापयति देवदत्तम् । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन ह्यत्यादिषु न भवति । ह्वयति देवदत्तः । ह्वाययति देवदत्तेन । क्रन्दति देवदत्तः । क्रन्दयति देवदत्तेन ।

हृकोने वा ॥१।२।१२४॥ हृ कृ इत्येतयोरण्यन्तयोर्वः कर्ता स एण्यन्तयोर्न वा कर्मसंज्ञो भवति । न वेति निर्देशात् प्राप्तं चाप्राप्ते च विकल्पः । प्राप्ते—अभ्यवहरति देवदत्तः । अभ्यवहारयति देवदत्तं देवदत्तेनेति वा । विहरति देवदत्तः । विहारयति देवदत्तं देवदत्तेनेति वा । विकुर्वते सैन्धवाः । विकारयन्ति सैन्धवान् सैन्धवैरिति वा । अथर्धगम्यर्थे भित्तंशयां पूर्वेण प्राप्तिः । अप्राप्ते—हरति माणवको भारम् । हारयति माणवकं माणवकेन वा । करोति कटं देवदत्तः । कारयति कटं देवदत्तं देवदत्तेन वा । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनुवर्तते । तेन अभिवदिदृश्योर्द्विविधे विकल्पः । अभिवदति गुरुं देवदत्तः । अभिवादयते गुरुं देवदत्तं देवदत्तेन वा । पश्यन्ति भृत्या राजानम् । दर्शयते भृत्यान् भृत्यैरिति वा । “शिचः” [१।२।७२] इति द्विविधिः ।

स्वतन्त्रः कर्ता ॥१।२।१२५॥ स्वतन्त्र आत्मप्रधानः । क्रियासिद्धौ स्वतन्त्रो योऽर्थस्तत् कारकं कर्तृसंज्ञं भवति । देवदत्तः पचति । देवदत्तेन कृतम् । प्रेषितः करोतीत्यत्रापि स्वातन्त्र्यं गम्यते । अनिच्छायामकरणात् । इह स्थाली पचतीति स्वातन्त्र्यं विवक्षितम् ।

तद्योजको हेतुः ॥१।२।१२६॥ योजकः प्रेरकः, तस्य स्वतन्त्रस्य योजको योऽर्थस्तत् कारकं हेतुसंज्ञं भवति । पुल्लिङ्गकर्तृसंज्ञासमावेशात् कर्तृसंज्ञं च । कारयति । भोजयति । हेतुत्वात् “हेतुमति” [२।१।२४] इति शिच् । कर्तृत्वान्नकारवान्यता । गौणस्यापि योजकस्य हेतुत्वम् । भिक्षा वासयति । कारीषोऽग्निरध्यापयति । तद्योजक इति वचनं शापकं “शुजकाभ्या” [१।३।७८] “कर्तरि” [१।३।७९] इत्यस्य तासप्रतिषेधस्यानित्यत्वम् ।

निः ॥१।२।१२७॥ अधिकारोऽयम् । “आग्नेस्ते” [१।२।१४६] इत्यतः प्राक् । यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो निसंज्ञास्ते वेदितव्याः । वदयति चादिरसत्वे । च वा ह अह एव । निरिति पुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? गितिसंज्ञाभ्यां समावेशो वथा स्यात् । निप्रदेशाः “निरेकाजनाह्” [१।१।२२] इत्येवमादयः ।

चादिरसत्वे ॥१।२।१२८॥ सीदत आसिंल्लिङ्गसंज्ञे इति सत्त्वम् । लिङ्गसंख्यावद् द्रव्यमित्यर्थः । चादयो निसंज्ञका भवन्ति न चेत् सत्त्वे वर्तन्ते । च वा ह अह एव एवम् नूनम् शश्वत् सप्त कूपत् कुक्कि

नेत् चेत् चण् कश्चित् यत्र नह इत् माकिम् नकिम् माङ् । उकारो "माकि लुकि" [१।१।१२३] इति विशेषणार्थः । अङिति माशब्दे माऽभवत् मा भविष्यति । न नञ् । जकारो "नञ्" [१।३।६८] इति विशेषणार्थः । नहि वाचं त्याक ननु च त्वे^१ तु^२ द्वे^३ न्वै^४ नु^५ वै^६ रुवै^७ रे^८ वै^९ श्रौषट् वौषट् वषट् स्वाहा स्वभा ओम् तथाहि खलु किल अथ अवस् स्म अस्मि अ इ उ ऊ ऋ लृ ए ऐ ओ औ उञ् सुञ् आदह आतह वेलायमा मात्रायाम् यावत् यथा किम् यत् नत् यदि पुरा भिक्^{१०} हे^{११} हो^{१२} पाट् प्याट् उताहो आहो अथो अथो^{१३} मानो ननु नाना मन्ये असि ब्रूहि दिनु तु इति इव वत् चैन धावत् एवं आ आं शं हिकम् हिरक् शुभम् सुकम् शुक्रम तुकम् नहि कम् अतम् सन्तम् अन्ता नो हि मुना न चेत् जातु कथम् ऋते कुत्र अपि (अयि) आदक आबहन् मौल् भित्^{१४} वाह्य संवत् दिष्ट्या पशु युगपत् फट् सह अनुध्वक् ताजक् नाजक् अह् भुज अये अरे अवे वट् वेट् वाट् उं शक्ति मर्या ईप्^{१५} कौम् सीम् गिविमङ्गीस्वरप्रतिरूपकाश्च । गिप्रतिरूपका अत्रदत्तमित्यादौ । दुर्नीतं दुर्नय इति शत्वं न भवति । असत्त्व इति किम् ? अस्यापत्यमिरिति ।

प्राप्तिः ॥१।२।१२६॥ प्रादयो निसंज्ञा भवन्त्यसत्त्वे । प्रपराऽपसम्निदुर्व्याङ्म्यधयोऽप्यनिसूदभयश्च । प्रतिना सह लक्षयितव्याः पयु^{१६}पयोरपि लक्षणमत्र । असत्त्व इत्येव । विप्रातीति विप्रः । पराजयति सेना । पृथक्करणमुत्तरार्थम् । प्रादीनामेव गिसंज्ञा यथा स्याच्चादीनां मा भूत् । उत्तरत्र प्रादिग्रहणे क्रियमाणे अक्रियायोगे निसंज्ञा न स्यात् । आ एवं तु मन्यसे । आ एवं किल तत् ।

क्रियायोगो गि ॥१।२।१३०॥ क्रियायोगे प्रादयो गिसंज्ञा भवन्ति । प्रणमति । परिणायकः । "गेस्तेऽपि विहृते" [१।४।६८] इति शत्वं सिद्धम् । क्रियायोग इति किम् ? प्रगता नायकः अस्मादेशात् प्रनायको देशः । नन्वत्रापि क्रियाऽस्ति । योगग्रहणसामर्थ्यात् यत्क्रियायुक्तास्त्वं प्रति गितिर्गंज्ञा भवति । गमि-क्रियया चात्र योगः । "मरुद्भृद्भ्योऽपसंख्यानम्" । मरुतः । "गेस्तेऽप्यः" [५।२।१४१] इति अनजन्तत्वेऽप्युपसंख्यानसामर्थ्यात्तादेशः । "प्रज्ञाश्चद्वान्चौदृप्तिभ्यो शः" [४।१।२८] इति निर्देशादङ्विषये अतो गित्त्वम् । "तिरोऽन्तर्द्धौ" [१।२।१४] इति निर्देशादन्तःशब्दस्यापि क्त्वादिविषये ।

ति ॥१।२।१३१॥ तिसंज्ञाश्च प्रादयो भवन्ति क्रियायोगे । प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । तिसंज्ञायां "तिकुप्राव्यः" [१।३।८१] इति षसः । "ध्यस्तिवाक्से त्वः" [५।१।३१] इति व्यादेशः । पुंलिङ्गा गिसंज्ञा समाविशति । अभिषिच्य । प्रणम्य । पत्वणत्वे सिद्धे । योगविभागः किमर्थः ? उत्तरत्र तिसंज्ञैव यथा स्यात् गिसंज्ञा मा भूत् । इह ऊरीत्यादिति । "गिप्रादुभ्यो यध्यस्तेः" [१।४।६८] इति पत्वं त्यात् ।

चिबडाजूर्यादिः ॥१।२।१३२॥ क्यन्तो जाजन्त ऊरीप्रभृतयश्च शब्दाः क्रियायोगे तिसंज्ञा भवन्ति । अशुक्लं शुक्लं कृत्वा शुक्लीकृत्य । डाच्-अपट् पट् कृत्वा पटपटाकृत्य । कृन्वस्तियोगं चिबडाचौ विहितौ तत्साहचर्यादूर्यादीनामपि कृन्वस्तिभिरेव योगे तिसंज्ञा भवति । ऊर्यादिषु क्यर्थो न संभवात् । ऊरीकृत्य । ऊरीकृत्य । ऊरीभूय । ऊरीभूय । ऊरीऊरीशब्दावङ्गीकरणे विस्तारे च । पापीशब्दो विध्वंसं माधुर्यं सकृदङ्ग-विलापे च । तालीआतालीशब्दौ वर्णौ । वेताली वैरुन्वे । धूसीशब्दः कान्ती वाञ्छायाञ्च । सकलाशंसकला-ध्वंसकलाभ्रंसकला एते हिंसयाम् । शुल्लुगुथाशब्दौ पीडयाम् । सज्जः सहाय्ये । फलू फली विह्वली अह्वी एते विकारे । आलम्बी आलोधी कंवासी केवाली वर्षाली भस्मसा मसमसा एते हिंसयाम् । औषट् वौषट् स्वाहा

१. त्वे अ० । २. तुवे अ० । तुवे अ०, स० । ३. द्वे अ०, व० । ४. द्वे अ० । ५. द्वे स० । ६. नवो अ०, स०, स० । ७. चन । ८. वत् अ० । वत् । ९. वत् स० । वत् । धवत् । मु० । १०. हो शिवत् अ० । ११. वाट अ० । १२. इप् अ० ।

स्वभा एते दानार्थाः । चादिषु च पाठादक्रियायोगेऽपि निसंज्ञा । प्रादुस् अत् आविस् । प्रादुःकृत्य । प्रादुर्भूय । अद्याय । आविर्भूय । आविःशब्दः साक्षादादौ च पठ्यते । तस्य “वा कृञि” [१।२।१७१] इति करोतियोगे तिसंज्ञाविकल्पः । आविष्कृत्य । आविष्कृत्वा ।

अभिधावनुकरणम् ॥१।२।१७२॥ अभिधावनुकरणे वा शब्दोऽनुक्रियतेऽनेनेत्यनुकरणम् । अनिति-परमनुकरणं क्रियायोगे तिसंज्ञं भवति । खादृकृत्य । पद्यकृत्य । अनिताविति किम् ? खादिति कृत्वा निरुद्धी-वत् । खादृकृत्यस्य धोः प्राक् प्रयोगः सविधिश्च प्रसज्येत । “ध्वादेः षः सः” [४।१।२३] इत्यत्र सुषुप्ती-वत्तिष्यत्कृतिः क्वायसीर्ना प्रतिषेध उक्तः ।

सदादरानादरयोः ॥१।२।१७३॥ आदरः सम्भ्रमः । अवज्ञानमौदासीन्यं वाऽनादरः । सच्छब्द आदरानादार इत्येतयोरर्थबोलिसंज्ञो भवति । आदरे-सकृत्य । अनादरे-असकृत्य । अनादर इत्यर्थनिर्दे-शात् सच्छब्दस्य तदन्तविधिरिष्टः । तेनेहापि भवति । परमसकृत्य । तिसंज्ञायां निसंज्ञासमावेशः । निसंज्ञस्या-संख्यत्वाग्निभक्तज्ञा । आदरानादरयोरिति किम् ? सकृत्वा कारणं गतः । विद्यमानं कृत्वेत्यर्थः ।

भूषाऽपरिग्रहेऽसमन्तः ॥१।२।१७४॥ अलमन्तरित्येतौ शब्दौ भूषायामपरिग्रहे चार्थे यथासंख्यं तिसंज्ञौ भवतः । अलङ्कृत्य । भूषयित्वेत्यर्थः । अन्तर्हृत्य । मध्ये इत्येत्यर्थः । भूषाऽपरिग्रहे इति किम् ? अलं कृत्वा । अन्तर्हृत्वा मूषिका गताः । पर्याप्तं कृत्वेत्यर्थः । परिग्रह्येत्यर्थः । “तिरोऽन्तर्द्धौ” [१।२।१७०] इति शपकादन्तःशब्दस्य भिन्नं वाऽपि । अङ्गिविधिरित्येषु प्रयोगदर्शनात् । अन्तर्द्धा । अन्तर्द्धिः । अन्तर्द्ध्यर्थः ।

कण्ठेभ्यः अद्याघाते ॥१।२।१७५॥ अद्याघातोऽभिलाषनिवृत्तिः । कण्ठेभ्यःशब्दौ अद्याघातेऽर्थे तिसंज्ञौ भवतः । कण्ठेशब्द ईदृशप्रतिरूपको निसंज्ञोऽभिलाषतिशये वर्तते । मनःशब्दोऽपि तस्मादन्तर्यादिषु तादृशः । कण्ठेभ्यः भुङ्क्ते । मनोहृत्य भुङ्क्ते । अद्याघात इति किम् ? दन्दुलावयवे कण्ठे हत्वा गतः । मनो हत्वा गतः । चेतो इत्येत्यर्थः ।

पुरोऽस्तं भिः ॥१।२।१७६॥ पुरस् अस्तमित्येतौ भिन्नं क्रियायोगे तिसंज्ञौ भवतः । पुरःशब्दः “पूर्वाभरावराणो पुरध्वोऽसि” [४।१।१०३] इत्यत्र साधितः । अस्तंशब्दोऽनुपलब्धौ वर्तते । पुरस्कृत्य गतः । अस्तकृत्य पुनर्हति । “नमःपुरसोस्त्योः” [५।४।२३] इति सत्वम् । भिरिति किम् ? पूः पुरौ पुरः कृत्वा गतः । अस्तं कृत्वा कारणं गतः ।

गत्यर्थघटेऽच्छः ॥१।२।१७७॥ भिरिति वर्तते । अच्छशब्दो भिन्नः गत्यर्थे बदलौ च तिसंज्ञौ भवति । अच्छगत्य । अच्छगम्य । “प्ये” [४।४।३८] “वा सः” [४।४।३९] इति वा मस्य खम् । अच्छोय । अच्छशब्दो द्वादर्थे आमिमुख्ये च वर्तते । भिरित्येव । उदकमच्छं गत्वा ।

अनुपदेशेऽदः ॥१।२।१७८॥ अवचनात्मिका प्रतिपत्तिरनुपदेशः । अदःशब्दोऽनुपदेशे तिसंज्ञौ भवति । अदःकृत्य । अनुपदेश इति किम् ? अदः कृत्वा गतः । एतत् कृत्वा गत इति परस्य कथयति ।

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥१।२।१७९॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धाने तिसंज्ञौ भवति । तिरोभूय । अन्तर्द्धानिति किम् ? तिरो भूत्वा स्थितः । तिर्यग्भूत्वा स्थित इत्यर्थः ।

वा कृञि ॥१।२।१८०॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धौ कृञि वा तिसंज्ञौ भवति । प्राप्ते विकल्पः । तिरस्कृत्य । तिरः कृत्वा । “तिरस्त्रो वा” [२।४।३०] इति सत्वम् । अन्तर्द्धानित्येव । तिरः कृत्वा काष्ठं गतः ।

उपाजेऽन्वाजे ॥१।२।१८१॥ उपाजे अन्वाजे ईदृशप्रतिरूपकावेतौ कृञि वा तिसंज्ञौ भवतः । उपा-जेकृत्य । उपाजे कृत्वा । अन्वाजे कृत्य । अन्वाजे कृत्वा । दुर्बलस्य भग्नस्य वा वलाघातं कृत्वेत्यर्थः ।

साक्षादादिः ॥११२१४३॥ वेति वर्तते । साक्षात्प्रभृतीनि शब्दरूपाणि कृञि वा तिसंज्ञानि भवन्ति । “चिबडाजूयादिः” [१२१४२] इत्यसौ मण्डूक्युत्वा विवग्रहणमर्थपरमनुवर्तते । तेन व्यर्थं तिसंज्ञावि-
कल्पोऽयम् । साक्षात्कृत्य । साक्षात्कृत्वा । मिथ्याकृत्य । मिथ्याकृत्वा । यदा चिबत्पद्यते तदा “चिबडाजूयादिः”
इत्यनेन नित्यं तिसंज्ञा भवति । साक्षात् । मिथ्या । चिन्ता । भद्रा । रोचना । लोचना । अमा ।
आस्या । श्रद्धा । आद्या । प्राज्या । प्राज्यहा । बीज्या । बीजरुहा । संसर्या । अर्थे । लवणम् । उष्णम् ।
शीतम् । उदकम् । आर्द्रम् । तिसन्निभो लवणादीनां मकारान्तत्वं निपात्यते । अग्नौ । वसे । विकसने ।
विकम्पने । शिङ्गले । तन्मौल्यस्य ईदृशप्रतिरूपक निपातनं वा । वेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तनाल्लवणादीनां
व्यन्तानां मकारौकारनिपातनं न भवति । लवणीकृत्य । घषीकृत्य । नमस् । प्रादुराविःशब्दौ ऊर्यादिष्वपि
पठ्येते । तयोः कृञि विकल्पार्थं इह पाठः ।

मनस्युरस्यनत्याधाने ॥१२१४४॥ मनसिउरसिशब्दौ ईदृशप्रतिरूपकौ निपातनं च । अत्याधान-
मुपश्लेषः । मनसि उरसि इत्येतौ अनत्याधानेऽर्थे कृञि वा तिसंज्ञौ भवतः । उरसिकृत्य । उरसि कृत्वा ।
मनसिकृत्य । मनसि कृत्वा । निश्चित्येत्यर्थः । अनत्याधान इति किम् ? उरसि कृत्वा पाणिं शेते ।

मध्ये पदे निवचने ॥१२१४५॥ अनत्याधान इति वर्तते । मध्ये पदे निवचने इत्येते शब्दाः
कृञि वा तिसंज्ञा भवन्ति अनत्याधाने । एकारान्तता पूर्ववद्वेदितव्या । मध्येकृत्य । मध्ये कृत्वा । पदेकृत्य ।
पदे कृत्वा । निवचने इति वचनाभावे वर्तते । निवचनेकृत्य । निवचने कृत्वा । अनत्याधान इत्येव ।
इतिनः पदे कृत्वा इतिमास्ते ।

हस्ते पाणौ स्वीकृतौ तिः ॥१२१४६॥ हस्ते पाणौ इत्येतौ स्वीकृतावर्थे कृञि तिसंज्ञौ भवतः ।
हस्तेकृत्य । पाणौकृत्य । भार्या कृत्वेत्यर्थः । स्वीकृताविति किम् ? हस्ते कृत्वा कार्यापणं गतः । नात्र दार-
स्वीकारः । पुनस्तिग्रहणं नित्यार्थम् ।

प्राध्वं बन्धे ॥१२१४७॥ प्राध्वमिति मकारान्तो भित्तंशः शब्द आनुलोम्ये वर्तते । प्राध्वंशब्दः
कृञि तिसंज्ञौ भवति बन्धो निमित्तं चेत् । प्राध्वंकृत्य । बन्धनिमित्तमानुलोम्यमिह प्राध्वंकरणम् । बन्ध इति
किम् ? प्रगतमध्वानं प्राध्वं कृत्वा शक्यं गतः । “तिकुप्रादयः” [१३१८१] इति पसः । “गेरध्ववः”
[३१८०] इति सान्तोऽकारः । प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रये प्रत्युदाहरणमिदम् ।

जीविकोपनिषदाविवे ॥१२१४८॥ उपनिषद्वहस्यम् । जीविका उपनिषदित्येतौ शब्दविवशब्दस्यार्थे
कृञि तिसंज्ञौ भवतः । जीविकाकृत्य । उपनिषत्कृत्य । जीविकामिव उपनिषदमिव कृत्वेत्यर्थः । इवाथ इति
किम् ? जीविकां कृत्वा गतः ।

प्राग्घोस्ते ॥१२१४९॥ प्रयोगनियमोऽयम् । ते गितिसंज्ञा धोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः । तथा चैवोदा-
हृतम् । ते इति वचनं किमर्थम् । अनन्तराणां तीनां गीनां च ग्रहणार्थम् ।

लो मम् ॥१२१५०॥ नवानां लकाराणामनुबन्धापाये ल इति सामान्येन निर्देशः । लादेशो मसंज्ञो
भवति । मिप् वस् मस् सिप घस् थ तिप् तस भि शनृ । नपा निर्देशः पुल्लिङ्गया दसंज्ञया बाधा यथा
स्यात् । समावेशे हि आक्रमत आदित्यः । सङ्गस्थत इत्यत्र “क्रमो मे” [५२१७८] दीवं “गमेरिष्मे”
[५११०६] इति इट् प्रसज्येत । शतरि मसंज्ञा सावकाशेति मिङ् लु वक्ष्यमाणामिरस्मदादिभिः संज्ञाभिर्वाध्यत्वं
नाशङ्कनीयम् । “सावैष्मे” [५११७७] इति वचनं शापकं मिङां मसंज्ञाऽपि भवतीति ।

इकानं वः ॥१२१५१॥ इकिति प्रत्याहार इदित्यतः प्रभृति आ भङ्गो ङकारेण । इङ् च आनञ्च
दसंज्ञौ भवतः । इङ् वहि महि थास आथाम् ध्वम् त आताम् भङ् । आन इति शानो ग्राते ।

मिङ्लिङ्गोऽस्मद्युष्मदन्याः ॥१२१५२॥ मिङो मसंज्ञानि च त्रीणि त्रीणि वचनानि अस्मद्युष्म-
दन्य इति एवसंज्ञानि भवन्ति । मिप् वस् मसित्यस्मद् । सिप् थस् येति युष्मद् । तिप् तस् भित्यन्यः ।

दानामपि । इद् वहि महि इत्यस्मद् । यास् आथां ध्वमिति युष्मद् । त आतां भ्रष्टित्यन्यः । मिह शति किम् ? अनुत्तरस्य दस्य मस्य च ग्रहणार्थम् । त्रिश इति “संख्यैकद्वीप्सायाम् [१।२।१८] इति शस् ।

साधने स्वार्थे ॥१।२।१५३॥ अस्मदादयोऽन्वर्थसंज्ञा अनुवर्तन्ते । तस्येत्यधिकृत्याविशेषेण मिहादयो विहितास्तन्नियमोऽयम् । स्वस्यार्थः स्वोऽर्थो वा स्वार्थस्तस्मिन् स्वार्थे साधनेऽस्मदादयो वेदितव्याः । अस्मत्पदस्यार्थे साधनेऽस्मत्त्रिकं युष्मत्पदस्यार्थे साधने युष्मत्त्रिकमाभ्यामन्वस्यार्थे साधनेऽन्यन्त्रिकं भवति । अस्मदादयर्थानां साधनत्वे सति नियमोऽयम् । ततोऽस्मदादिपदानामनुप्रयोगे सत्यसति चास्मदादयो भवन्ति । अहं पचामि । आवां पचावः । वयं पचामः । पचामि । पचावः । पचामः । त्वं पचसि । युवां पचथः । यूयं पचथ । पचसि । पचथः । पचथ । स पचति । तौ पचतः । ते पचन्ति । पचति । पचतः । पचन्ति । एवं दविधाऽपि योज्यम् । भावेऽस्मद्युष्मदर्थयोस्मावात् भावस्य चाभ्यामन्वत्वादकत्वाच्च तस्मिन् साधनेऽन्य एव भवति । आस्यते भवता । ग्लायते भवता । यत्रास्मदादयर्था युगपत् साधनं तत्र क इष्यते ? पूर्वनिर्णयमेव यः पूर्वः । अत्र किमस्मदर्थ एव साधनेऽस्मद् भवतीत्यवशिष्यते आहोस्विदस्मदर्थे साधनेऽस्मदेव भवतीति । उभयथाऽप्यदोषः सर्वेषां निवृत्तत्वात् । ननु द्वितीये पदे त्वया (मया) कुर्वाणेनेत्यत्र दोषः । मैवम् । त्रिकापेक्षया नियमो न साधनापेक्षया ।

प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च ॥१।२।१५४॥ मन्य इति मन्यतेरेकदेशः । नृते इति वाच्यः । मन्यो वाच्यः कालः प्रहासस्व तस्मिन् मन्यतानि प्रहासे मन्यमाने युष्मद्भवति मन्यतेरचास्मद्भवति एकवच । अस्मद्युष्मदौर्व्यत्ययार्थोऽवमारम्भः । एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता । एहि मन्यसे रथेन यास्यामीति प्राप्तम् । एवमेहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे न हि भोक्ष्यसे भुक्तः सोऽतिथिभिः । द्वित्वबहुत्वविवक्षा-यामपि मन्यतेरेकवद्भावो भवति । एवं मन्ये रथेन यास्यथ न यास्यथेति । प्रहास इति किम् ? एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्य इति सुष्ठु मन्यसे साधु मन्यसे ।

एकद्विवह्वचैकशः ॥१।२।१५५॥ यान्यस्मद्युष्मदन्वसंज्ञानां संज्ञित्वेनोपात्तानि बहु त्रिकाणि तान्येकश एक द्वि बहु इत्येवंसंज्ञानि भवन्ति । मिथित्वेकः । वसिति द्विः । मसिति बहुः । एवं शेषेषु योज्यम् । अस्मदादिसंज्ञाः पुंल्लिङ्गा एकादिभिः सह समाविशन्ति ।

सुपश्च ॥१।२।१५६॥ त्रिश इति वर्तते । सुपश्च त्रिकाणि एकद्विवहुसंज्ञानि भवत्येकशः । सु इत्येकः औ इति द्विः । वसिति बहुः । एवं शेषेषु त्रिकेषु नेयम् । उभयत्र चशब्दः “साधने स्वार्थे” [१।२।१५२] इत्यस्यानुकर्षणार्थः । एकार्थे साधने एको भिन्नभवति । द्वयर्थे द्विवत् । बहुवर्थे बहुवत् । एवं मिङ्ङु सुसु च योज्यम् । ननु च “साधने स्वार्थे” इत्येतन्मिङ् उपपद्यते यतः साधनं कारकं क्रियाया निर्वर्तकं क्रिया च ध्वर्थः । धोश्च मिङो विहिता इति साधनवाचित्वोपपत्तेः । सुपस्त्वक्रियावाचिनो ङ्याम्भृदो विधीयन्त इति तत्र साधने स्वार्थ इत्येतन्न भटते । नैष दोषः । अक्रियावाचिनोऽपि विधीयमानाः सुपः क्रियावाचिपदान्तरमाकाङ्क्षन्ति । पदान्तरवाच्यायाः क्रियायाः साधनभावोपपत्तेः सुप्स्वपि “साधने स्वार्थे” इत्ययं व्यवहारो युज्यते । देवदत्तः पचति देवदत्तौ पचतः । देवदत्ताः पचन्ति । यत्रापि क्रियापदं न प्रयुज्यते वृत्तः “क्षद इति तत्राप्यस्ति भवतीति परः सन्निहितस्तदपेक्षया व्यवहारः । मिङः सामान्येन धुमात्रादिधीयन्ते सुपश्च मृन्मात्रात्तेषां संकरेण प्राप्तौ नियमोऽयम् । त्यनियमोऽर्थनियमो वा । एकार्थ एव साधन एको भवति द्वयर्थ एव साधने द्विर्भवति बहुवर्थ एव (साधने) बहुवर्भवतीति त्यनियमः । एकार्थे साधने एक एव भवति द्वयर्थे द्विरेव भवति बहुवर्थे बहुरेव भवतीत्यर्थनियमः । त्यनियमपक्षे “सुपो केः” [१।४।१२०] इति वचनं आपकमेकत्वादीनामभावेऽप्युत्पद्यन्ते भेः सुप इति । अर्थनियमपक्षे एकत्वादयो नियतास्तान्नां स्वभिचरन्ति त्याः पुनरनियता एकत्वादीनामभावे व्यति-करणेन नित्यञ्चक्रेभ्यो भवन्ति । तत्र “सुपो केः” [१।४।१२०] इत्युपि कृते सुवृत्तं पदं भवति ।

विभक्ती ॥१२।१५७॥ सुप् इत्यनुवर्तते विश इति च । सुपां त्रीणि त्रीणि वचनानि विभक्तीसंज्ञानि भवन्ति । सु औ जसिति त्रिको वर्गस्तस्य विभक्ती इति संज्ञा । त्रिकसमुदाये संज्ञा । विहिताऽवयवेऽप्युपचर्यते । एवं सर्वत्र सुपां त्रिकेषु योज्यम् । मिष्ठां विभक्तीसंज्ञायां न गुणो नापि दोषः । विभक्तीशब्दस्य कथं सिद्धिः । विपूर्वाद्भजेः “क्लिच्चौ खौ” [१३।१५०] इति क्लिच् । तस्मात् “कृदिकारादक्तेः” [१३।१।३१। ग० सू०] इति ङीविधिः । महासंज्ञाकरणमुत्तरार्थम् ।

तासामाप्यरास्तद्धलञ्च ॥१२।१५८॥ तस्य विभक्तीशब्दस्य हलोऽचश्च आकारपकारपरास्तासां विभक्तीनां यथासंख्यं संज्ञा भवन्ति । वा इप् भा अप् का ता ईप् इति एताः संज्ञाः । सुपस्विश इति चानुवर्तते । सु औ जसिति वा । अम् औट् शसिति इप् । टा भ्यां भिसिति भा । डे भ्यां भ्यसिति अप् । ङसि भ्यां भ्यसिति का । ङस् ओस् आमिति ता । ङि ओम् सुप् इति ईप् । तासां ग्रहणं सुबिभक्त्युपादानार्थम् । “सपूर्वाया वायाः” [१३।३।२३] इत्येवमादयो निर्देशाः सौत्राः ।

इत्यभयनन्दिर्विश्रितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहाकृतौ प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥२॥

समर्थः पदविधिः ॥१३।१॥ परिभाषेयम् । समर्थपदाश्रयत्वात् समर्थः । पदसम्बन्धी विधिः पदविधिः । सर्वः पदविधिः समर्थो वेदितव्यः । समर्थानां पदानां विधिर्वेदितव्य इत्यर्थः । द्विविधं सामर्थ्यमेकार्थीभावे परस्परव्यपेक्षा । १. सविधित्वमुद्दिष्टिः शक्यत्वात् एतदर्थः । २. सामर्थ्यमन्यत्र व्यपेक्षा । एकार्थीभावे सङ्गतार्थः संसृष्टार्थो वा समर्थः । व्यपेक्षायां सम्प्रदायार्थः सम्प्रेक्षितार्थो वा समर्थः । वक्ष्यति “इप् तच्छ्रुतातीतपतितगतत्वस्तैः [१३।२१] धर्मे श्रितो धर्मश्रितः । समर्थग्रहणं किम् ? व्याचष्टे मुनिधर्मं श्रितः शिष्यो गुरुकुलम् । अत्र व्यपेक्षा नास्ति । “आ गुणोक्त्याऽर्धेनोनैः” [१३।२७] । मदेन पदमदपदः । समर्थग्रहणं किम् ? दन्ती भ्रमति मदेन पदः शास्त्रेण । “असद्वर्थावर्धकहितसुखरहितैः” [१३।३१] । रथाय दास रथदास । समर्थग्रहणं किम् ? गच्छ त्वं रथाय दास देवदत्तस्य गेहे । “का भीभिः” [१३।३२] । संसाराद्भवं संसारभयम् । समर्थग्रहणं किम् ? ध्यानी निष्कामति संसाराद्भयमरणये । “ता” [१३।३०] । मोक्षस्य मार्गो मोक्षमार्गः । समर्थग्रहणं किम् ? अनन्तसुखं मोक्षस्य मार्गः स्वर्गस्य व्रतम् । “ईच्छौषैः” [१३।३२] । अस्तेषु शौण्डोऽन्तशौण्डः । समर्थग्रहणं किम् ? मूढः शक्नोऽस्तेषु शौण्डः पिबति पानागारे । पदग्रहणं किम् ? तिष्ठतु दय्यशान त्वं साकेन । तिष्ठतु कुमारी, छत्रं हर देवदत्तात् । वर्षाविधौ समर्थपरिभाषा नावतरतीत्यानन्तर्यमात्रेण यथादेशस्तुविधिश्च भवति । “वा पदस्य” [१३।३४] इत्यत्र पदग्रहणं द्विमात्रस्य विशेषणमिति पदविधिरयं न भवतीति विकल्पेन वृत् ।

सः ॥१३।२॥ स इत्ययमधिकारो वेदितव्य आ पादपरिसमाप्तेः । समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिश्चाश्रीयते तेन पदसमुदाये संज्ञा न प्रत्येकमिति । वक्ष्यति “यावद्यथावद्व्यसादरये” [१३।६] । यथावद्व्यसादरयेति योऽर्थः । नित्यत्वात् सविधेरस्वपदविग्रहेणार्थः प्रदर्श्यते ये ये वृद्धा इति । वीक्षायां यथाशब्दः । स इति पुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? हादिभिर्विशेषसंज्ञाभिः समावेशो यथा स्यात् ।

सुप् सुपा ॥१३।३॥ सुबन्तं सुबन्तेन सह सो भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यमापादपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति “इहच्छ्रुता” [१३।२१] इत्यादि । धर्मश्रितः । लक्षणञ्च दं सुबन्तं सुबन्तेन सह सो भवति । यदच्छ्रुताऽतर्कितोपदिश्यते चित्राकरणे वाऽयमिष्यते । तेन काकतालीयादयः सिद्धाः । तथाहि यदच्छ्रुता तालस्य पतनं सन्निहितं काकश्चातर्कित उपदिश्यतः स काकस्तेन तालेन पतता इतः । अस्मिन्नर्थेऽनयोः सामान्येन सः । काकश्च तालश्च काकतालं तदिव काकतालीयम् । “इषे प्रसिद्धौ” [१३।१५०] इत्यधिकृत्य “कुशा-प्राण्डः” [१३।१२६] इति चानुवर्तमाने “सात्तद्विषयात्” [१३।१६०] इति चङ्गो भवति । एवम-जाकृपाणीयमन्धकवर्तकीयम् ।

इः ॥१३।४॥ अधिकारोऽयम् । यानि कर्ध्वमनुकम्पिण्यामो हस्तज्ञास्ते वेदितव्याः धर्मित्यतः प्राक् ।

१.-न्दिरधि-अ० । २.-यां महा-अ० । स० । ३. द्विविधम् इति अ० व० स० पुस्तकेषु नास्ति ।

वक्ष्यति “स्तोके प्रतिना” [१।३।७] सूपप्रति । शाकप्रति । अस्वपदेन विग्रहः । अस्त्यत्र किञ्चित् सूपस्य मात्रा स्तोकमिति वा । अत्रान्ये मन्यन्ते अनव्ययस्याव्ययभवनमव्ययोभाष इत्यन्वर्थसंज्ञा कर्तव्या । एतच्चायुक्तम् । असंख्यस्य भित्तंशो गुज्यते । अस्य च संख्या विद्यते । उपकुम्भेन । उपकुम्भाभ्याम् । उपकुम्भैः । दोषः सत्वपि भित्तंशयां “भित्तसर्वनाम्नोऽक् प्राकटेः” [३।१।१३०] इति यथेहान्वयति । उच्चैः । नीचकैरिति । अपमिक्षापि प्राप्नोति उपाग्निकं प्रत्यग्निकमिति । तथा “खित्यभेः” [३।३।१७६] “सुमचः” [३।३।१७७] इति भेः प्रतिषेध उच्यते दोषामन्यमहः दिवामन्या रात्रिः । स इहापि प्राप्नोति । उपकुम्भमन्य । उपमणिकमन्यः । इह च “अस्य च्चौ” [२।२।१७१] इति भेः प्रतिषेधो वक्ष्यति दोषाभूतमहः विवाभूता रात्रिरिति । स इहापि प्राप्नोति । उपकुम्भीभूतः । उपमणिकीभूतः । तस्माल्लघीवग्री इ इति संज्ञा युक्ता । यथेवं “कृकमिक्कंस कुम्भकुकाकर्णीपादेऽतो भेः” [२।३।३४] इत्यनेन सत्वस्य प्रतिषेधो न प्राप्नोति उपपत्त्यकार इति । अद्युस्थस्येति तत्र वर्तते । हसे च वृत्त्यो भवतीति प्रतिषेधः सिद्धः । पूर्वपदप्राधान्यञ्च हसस्याभिधानवशाज्ज्ञेयम् । इमप्रदेशः “हात्” [१।७।१५१] इत्येवमादयः ।

किं विभक्त्यभ्यासस्यार्थार्थाभावातीत्यसंप्रतिव्युद्धि-शब्दप्रभवपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्य-संप-
त्साकल्यान्तोक्तौ ॥ १।३।४ ॥ विभक्ती-अभ्यास-श्रुद्धि-अर्थाभाव-अतीति-असंप्रति व्युद्धि-शब्दप्रभव-पश्चात्-
यथा-आनुपूर्व्य-यौगपद्य-सम्पत्-साकल्य-अन्तोक्ति इत्येतेष्वर्थेषु यत् भित्तंशं वर्तते तत् सुप्रन्तेन समर्थेन सह हसंशकः
सो भवति । विभक्त्यर्थः कारकमाधिकरणादि । स्त्रीषु कथा वर्तते । अधिस्त्रि । अविकुमारि । ईवन्तेन
वृत्तिः । “हश्च” [१।४।६४] इति नपुंसकलिङ्गातिदेशः । “प्रो नपि [१।१।७] इति प्रादेशः ।
“हात्” [१।४।१२१] इति सुप् उप । अभ्यासः-समीपम् । उपकुम्भम् । उपगुह ।
कुम्भस्याभ्यास इत्यर्थप्रदर्शनम्, तान्तेन वृत्तिरिति केचित् । तदयुक्तम् । उपशब्दोऽयं चोतकः स
उत्तरपदार्थव्यतिरेकं न जनयति अभ्यासादीनान्तु शब्दानां वाचकानां सन्निधाने व्यतिरेकः प्रतीयते यथा धवश्च
खदिरश्चेत्यस्यार्थे समुच्चयो धवखदिरस्य । तस्माद्धान्तेन वृत्तिः । विभूतेराधिक्यं श्रुद्धिः । मद्राणां श्रुद्धिः सुमद्रं
सुमगधं वर्तते । पूर्वपदार्थस्य प्राधान्ये हसः । यदा तु मद्रा श्रुद्ध्या विशिष्यन्ते तदा शोभना मद्राः सुमद्रा इति
“सिक्कुमादयः” [१।३।८१] इति प्रसः । अर्थाभाव उत्तरपदार्थप्रध्वंसः । अभावो मद्रिकाणाममद्रिकम् ।
विमद्रिकम् । निर्मद्रिकम् । अर्थग्रहणं किम् ? धर्माभावे इतरेतराभावे च मा भूत् । न भवति ब्राह्मणो
गौरवो न भवतीति । अतीतिरतीतत्वम् । स्वत एवातिक्रान्तत्वमित्यर्थः । अतीतानि तृणानि अनृणम् । निनृ-
णम् । एवं निशीतं निवातं वर्तते । न सम्प्रति असम्प्रति नेदानीमित्यर्थः । न सम्प्रति तैसृकमतितैसृकम् । नायं
तैसृकस्याच्छादनदशोपभोगकाल इत्यर्थः । तिसृका नाम ग्रामस्तत आगतं तैसृकम् । विगम श्रुद्धेत्युद्धिः ।
गर्भिकानामुद्धेर्विगमो दुर्गर्भिकम् । तुर्यवनम् । शब्दप्रभवः शब्दस्य प्रकाशमानता । श्रीदत्तस्य शब्दप्रभवः
इतिश्रीदत्तम् । तच्छ्रीदत्तमहो श्रीदत्तम् । श्रीदत्तशब्दो लोके प्रकाशत इत्यर्थः । पश्चात्-रथानां पश्चादनुरथं
पादात्तम् । यथार्थो योग्यता । अनुरूपं सुरुपो बहति । सादृश्यमपि यथार्थः । उत्तरत्रासादृश्य इति प्रतिषेधाज्ज्ञा-
यते । सहशं मतस्य सग्रतम् । सशीलम् । “हेऽकाले” [३।३।१८६] इति सहस्य सादेशः । पूर्वं पूर्वमनुपूर्वं
तस्य भाव आनुपूर्व्यम् । अनुष्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः । ज्येष्ठानुक्रमेणेत्यर्थः । आनुपूर्व्यं विन्यासविशेष इति
यथार्थात् पृथगुक्तम् । यौगपद्यसम्पत्साकल्यान्तोक्तिषु सहशब्दो वर्तते । यौगपद्यमेककालता । सचक्रं घेहि । युग-
चक्रे घेहीत्यर्थः । सधुरं प्राज । युगपद्धुरौ प्राजेत्यर्थः । सम्पत् सिद्धिः । आत्मभावनिष्पत्तिरित्यर्थः । वृत्तस्य
सम्पत् ज्ञानस्य सम्पत् सवृत्तं साधूनाम् । सज्ञत्रं शालङ्कायनानाम् । साकल्य-सतृणमभ्यवहरति । सर्वेषु सहा-
भ्यवहरतीत्यर्थः । अस्तः समाप्तिः-प्राप्तपर्यन्तमधीते । एवं सग्रन्धं सटीकम् । अत्र परिसमाप्तिरसाकल्येऽभ्यव्याने
प्रतीयत इति साकल्येऽनन्तर्भावः । इह आचण्डालं प्रवच्छतीति अन्तोक्तिरभिविधिरप्यस्ति । परत्वात् “पर्य-
पाङ्गबहिरुचवः कया” [१।३।१०] इति विभाषा भवति । आचण्डालमाचण्डालेभ्य इति । “कीप्याचौ
वा हसो वक्तव्यः” [वा०] प्रत्ययम् । प्रतिपर्यायम् । अर्थमर्थं प्रति । पर्यायं पर्यायं प्रति ।

यावद्यथाधृत्यसादृश्ये ॥१३।६॥ प्रसक्तस्य परिमाणमवर्तितः । सादृश्यं तुल्यता । यावत् यथा इत्येतौ शब्दाववर्तिते असादृश्य इत्येतयोरर्थयोः सुप्त सह यथासंख्यं हसो भवति । यावदमत्रं यावदवकाशमति-
धीन् भोजय । यावन्त्यमत्राणि तावतो भोजयेत्यवधार्यते । यथावृद्धं साधूनर्चय । यथापटु । यथाव्यापकम् ।
वृद्धानतिक्रमेणेत्यर्थः । उत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्यथाशब्दस्यार्थो वीक्षा सादृश्यञ्च । अवधृत्यसादृश्य इति किम् ?
यावद् दर्शं तावद्भुक्तम् । यथा देवदत्तस्तथेन्द्रदत्तः । पूर्वेणैव यथार्थं हसो सिद्धं सादृश्ये प्रतिषेधार्थमिह यथाशब्दो-
पादानम् । गुणक्रियाङ्गानामसादृश्ये हसो वक्तव्यः [वा०] गुणः—यथाशक्ति । यथाबलम् । क्रिया—यथोपदेशम् ।
कृपा—यथासुखम् । न वक्तव्यम् । अत्रान्युत्तरपदार्थानतिवृत्तिरिष्यते ।

स्तोके प्रतिना ॥१३।७॥ भीति निवृत्तम् । स्तोकं मात्रा । स्तोकेऽर्थे प्रतिना सह सुबन्तं हसो
भवति । सूपस्य मात्रा सूपप्रति । शाकप्रति । स्तोक इति किम् ? वृद्धं प्रति विद्योतते विद्युत् । लक्षणेऽत्र
प्रतिशब्दी वर्तते ।

परिणाऽक्षशलाकासंख्याः ॥ १३।८ ॥ अक्षशब्दः शलाकाशब्दः संख्या च परिणा सह हसो
भवति । परिणाक्षशलाकासंख्यमिति सिद्धे बहुवचननिर्देशादिप्रसंगो लब्धो वेति सिंहावलोकनाद्वा । अक्षादयो
यदा भान्ता एकलञ्चाक्षशलाकायोः पूर्वोक्तस्यान्यथावृत्तौ परिशब्दो यदा वर्तते कितव्यवहारविषये तदा वृत्तिरि-
ष्यते । तथाहि पञ्चिका नाम वृत्तं यत्र पञ्चाक्षाः शलाका वा पात्यन्ते पञ्चस्वेकरूपास्तु पातयिता जयत्यन्यथा
पाते जीयते । अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं जये । अक्षपरि । शलाकापरि । संख्या—एकपरि । द्विपरि ।
त्रिपरि । चतुःपरि । परिणेति किम् ? सुबन्तमात्रे मा भूत् । अक्षादय इति किम् ? पाशकेनेदं न तथा वृत्तम् ।
एकत्वेऽक्षशलाकायोरिति किम् ? अक्षाभ्यां न तथा वृत्तम् । कितव्यवहार इति किम् ? अक्षेणेदं न तथा-
वृत्तं शक्ये ।

वा ॥१३।९॥ वेत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तद्वा भवतीति वेदितव्यः । इत उत्तरः सवि-
धिर्या भवति पक्षे वाक्यमपि साधु भवति । पूर्वस्तु सविधिर्नित्यः । तेनास्वपदेन तत्र विग्रहो ज्ञेयः ।

पर्यपाङ्बहिरञ्चवः कया ॥१३।१०॥ परि अप आङ् बहिष् अञ्च इत्येते सुबन्ताः कन्तेन सह
वा हसो भवति । परित्रिगते बृष्टो देवः । वाक्यपक्षं परेर्वर्जने वा वचनामिति वा द्वित्वम् । परि परि त्रिगतेभ्यः ।
परि त्रिगतेभ्यः । अप त्रिगतेभ्यः । “वर्जनेऽपपरिभ्याम् [१।४।२१] इति का । आपाटलिपुत्रं बृष्टो
देवः । पाटलिपुत्रात् । आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य । आ कुमारेभ्यः । “काङ्कामर्यादावचने” [१।४।२०] ।
इति मर्यादाभिविध्योः का । बहिर्ग्रामम् । बहिर्ग्रामात् । इदमेव शापकं बहिःशब्दयोगे का भवति । अञ्चु ।
प्राग्ग्रामम् । प्राग्ग्रामात् । प्राची दिग् रमणीया इति विग्रह्य “दिक्छब्देभ्यो वा केभ्योऽस्तादिग्देशयोः कास्ते”
[१।१।१२] इति अस्तात् । तस्य “अञ्चेरुप्” [४।१।६६] इत्युप् । “सुपो केः” [१।४।१५०] इति सुप् उप् ।
पदत्वात् कृत्वम् । तेन योगे ता प्राप्ता तां बाधित्वा दिक्छब्दत्वात् का प्राप्ता तां बाधित्वा “ताऽतसर्थे त्येन”
[१।४।३१] इति तायां प्राप्तायाम् “अञ्चुषु” [१।४।३८] इति का भवति । कयेति किम् ? परिगतः ।
अपगतः । वर्जनार्थमावात् का नास्तीति “लिकुषादयः” [१।३।८१] इति नित्यं षसो भवति ।

लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती ॥१३।११॥ लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् । तद्वाचिना सुबन्तेन सह अभि-
प्रतिशब्दावामिमुख्ये वर्तमानौ वा हसो भवति । अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । अभि-
मभि पतन्ति । अग्निं प्रति पतन्तीति वाक्यम् । अत्राग्निना चिह्नेन शलमपातो लक्ष्यते । “वीप्सेत्यम्भूत-
लक्षणेऽग्निना” [१।४।१३] इप् । “भागे आनुप्रतिपरिणा” [१।४।१२] इति चेप् । लक्षणेनेति किम् ?
लुप्तं प्रति गतः । दिङ्मोहात्तत्रैव पुनरागत इत्यर्थः । आभिमुख्य इति किम् ? अभ्यङ्का गावः । अभिनवः
प्रतिनवोऽङ्को यासमिति । यद्यपि पूर्वपदार्थप्रधानो हसस्तथापीदृशार्थविशेषाभावेऽन्यपदार्थेऽपि स्यात् । अभिप्रती
इति किम् ? येनाग्निरस्तेन गतः । येनेत्यस्याग्निना सह हसो न भवति ।

यत्समयाऽनुः ॥११३॥१२॥ समयावाची अनुशब्द उपचारात् समया । यस्य समया यत्समया । मुख्येन समयाशब्देन योगाभावादिभ्यः भवति । अत एव 'न मित' [११४॥७२] इत्यादिनाऽपि न तासप्रति-
षेधः । अनुर्वत्समयावाची तेन लक्षणभूतेन सह वा हसो भवति । अनुचनं गतोऽशनिः । वनमनुगत इति
वाक्यम् । "भाते चानुप्रतिपरिणा" [११४॥१२] इति लक्षणा इप् । वनेन समीपस्थमशनिगमनं लक्ष्यते । "किं
विभक्त्यभ्यासः" [११४॥५] इत्येवं सिद्धे विकल्पार्थं वचनम् । यत्समयेति किम् ? वृद्धमनु विद्योतते ।

आयामिना ॥११३॥१३॥ अनुरिति वर्तते । लक्षणभूतेन च । अनुनाऽऽयामिना लक्षणभूतेन सह वा
हसो भवति । द्वयोः प्रकृष्टहीनयोर्दीर्घयोर्गोऽनुः प्रयुज्यमान उभयोर्दीर्घत्वमाह । तत्र प्रसिद्धाऽऽयामेन लक्षणभूतेनाति-
शयेन दीर्घेण वा हसवृत्तिर्भवति । अनुगङ्गा वाराणसी । अनुशोणं पादलिपुत्रम् । वाक्यमपि साधु भवति ।
गङ्गामन्वायता वाराणसी । नद्यावामेन पत्तनायामो लक्ष्यते । लक्षणे इप् । अथवा "हेतावनुभा" [११४॥१३] ।
"भाऽर्थे" [११४॥१४] इतीच् । गङ्गाया सहायतेत्यर्थः ।

तिष्ठद्गवादीनि च ॥११३॥१४॥ तिष्ठद्गु इत्येवमादीनि च शब्दरूपाणि हसंशानि भवन्ति । समुदाया
एते हसंशः कार्यार्थे (कार्यार्थः) पाठादेवं निपातवन्त इत्यर्थः । तिष्ठद्गु कालविशेषेऽन्यपदार्थे । तिष्ठन्ति गावो
यस्मिन् काले दोहाव तिष्ठद्गु । "त्यद्यो" [५१॥१२७] इति लटः शब्दादेशो निपातनाद्वा । "स्त्रीगोर्लीचः" [१११॥८]
इति प्रादेशः । वहन्ति गावो यस्मिन् काले वहद्गु । आयतीगवम् । पूर्वपदस्य निपातनात् पुंवद्भावाभावो
ऽकारश्च सान्तो निपात्यते । खल्लेबुसम् । निपातनादीपोऽलुप् । लूनयवम् । लूयमानयवम् । लूयन्ते यवा यस्मिन्
काले त्यद्योरिति लटः शानादेशः । पूरयवम् । पूयमानयवम् । संहृतयवम् । संह्रियमाणयवम् । संहृतबुसम् ।
संह्रियमाणबुसम् । एते कालविशेषेऽन्यपदार्थे उक्ताः । समभूमिसमपदातिशब्दौ पूर्वपदार्थप्रधानौ समत्वं भूमेः
समत्वं पदातैरिति । उत्तरपदार्थप्रधाने तु समा भूमिः समभूमिरिति पस एव । हमे पूर्वपदस्य केचिन्मकारान्त-
त्वमपीच्छन्ति । समभूमिः । समग्रपदाति । सुपमम् । विपमम् । निष्पमम् । दुष्पमम् । अवरसमम् । समशब्देन
पूर्वपदार्थप्रधान्ये हसः । अत्र शोभनत्वं समस्येत्येवमादिवाक्यमप्युह्यम् । उत्तरपदार्थप्रधान्ये तु पसः । समाशब्दः
संवत्सरस्याचि । तेन वक्ष्यमाणो हसः । आयतीसमा । आयतीसमम् । पापसमम् । पुण्यसमम् । केचित्तु सम-
शब्देनैव भासमिच्छन्ति । आयत्या सममायतीसमम् । प्रगतमहः प्राहम् (प्राहम्) । उत्तरपदार्थप्रधान्ये षसः ।
प्राहो (हो) कल्याणनामानाबुदितौ तिष्यपुनर्वसु । प्ररथम् । प्रमृगम् । प्रदक्षिणम् । अपदक्षिणम् । सम्प्रति ।
असम्प्रति । इच्-दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । "अ इच्" [४१॥१२८] इति इच् सान्तः । "अन्यस्यापि"
[४१॥२३२] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । अशब्दोऽवधारणार्थः । तिष्ठद्गवादीन्येव तान्यैः सह वृत्तिः लभन्ते ।
परमं तिष्ठद्गु । "सन्महत्परमो" [११३॥५६] इत्यादिना षसो न भवति ।

पारे मध्ये तथा वा ॥११३॥१५॥ पारे मध्ये शब्दौ तान्तेन सह हसो भवति वाचवनात्तासोऽपि । प्रकृ-
तेन वाग्रह्येन वाक्यस्य साधुत्वमभ्यनुज्ञायते । हसन्त्ययोगेन वानयोरेकारान्तता निपात्यते । पारं गङ्गायाः । मध्यं
गङ्गायाः । पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । तासपक्षे गङ्गापारम् । गङ्गामध्यम् ।

संख्या वंश्येन ॥११३॥१६॥ विद्याजन्मादिकृतः सन्तानो वंशः । तत्र भवो वंश्यः । संख्या वंश्य-
वाचिना सह हसो भवति । द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ द्विगुनि व्याकरणस्य । अत्र सम्बन्धे ता । यदा व्याक-
रणस्याचार्ययोरेकदिवन्ता यावेतो द्वौ मुनी तावन्व व्याकरणमिति द्वौ मुनी वंश्यौ द्विगुनि व्याकरणमिति तदा-
सामानाधिकरण्यं भवति । एवं सप्तकाशि । त्रिकोशलम् । एकाश्रयस्य वसस्य चापवादीऽयम् ।

नदीभिश्च ॥११३॥१७॥ बहुवचननिर्देशार्थस्येदं ग्रहणम् । नदीवाचिभिः शब्दैः सह संख्या हसो
भवति । सप्त सिन्धवः समाहृताः सप्तसिन्धुः । सप्तगङ्गम् । द्विवमुनम् । तिलो गोदाकर्कः समाहृताः त्रिगो
दावरम् । "कृष्णोदकपाण्डुपूर्वाया भूमेः सान्त इष्यते । गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उच्यते यदा ॥" इति

अस्यः सान्तो भवति । नदीशब्दोऽपि नदीवचन इति तेनापि वृत्तिः । पञ्चनदम् । अत्राऽप्यः सान्तः । चकारः किमर्थः ? समाहारे यथा स्यादिह मा भूत् । द्वीरापतीको देशः । एका नदी एकनदी ।

खाद्यन्यपदार्थे ॥१३।१८॥ संख्येति निवृत्तम् । नदीभिरिति वर्तते । अन्यपदार्थे खुविपये नदीभिः सह सुबन्तं हसो भवति । उन्मत्तगङ्गा देशः । लोहितगङ्गम् । शनैर्गङ्गम् । तूष्णीगङ्गम् । अत्र वृत्तिपरेण संज्ञा गम्यत इति सामर्थ्यात्तित्यः सविधिः । उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् देशे इति सादृश्यमात्रेणार्थकथनं यथा यौरित्यस्यार्थे गच्छतीति । खानिति किम् ? शीघ्रा गङ्गा यस्मिन् देशे स शीघ्रगङ्गो देशः । अन्यपदार्थ इति किम् ? कृष्णवेष्ट्या । कृष्णवेष्ट्या नाम नदीविशेषलक्षणः ।

धम् ॥१३।१९॥ अधिकारोऽयं प्राग् वसान् । यदित् ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः पसञ्चः सो भवति इत्येवं वेदितव्यम् । वक्ष्यति “इत्तच्छ्रुतातीतपतितगतात्यस्तैः” [१।३।२१] । धर्मं श्रितो धर्माश्रितः । नपा निर्देशः किमर्थः ? इह वीरपुत्रको ग्राम इति पूर्वापरप्रथमादिसूत्रेण प्राप्तः स्वपदार्थविषयत्वादन्तरङ्गः पसो बहिरङ्गं न बसेन बाध्यो यथा स्यात् । उत्तरपदार्थप्रधानत्वं पसस्यभिधानवशात् ।

इषा च प्राप्तापन्ने ॥१३।२०॥ इत्यन्तेन सह प्राप्तापन्ने शब्दरूपे पसो भवति । प्रातो जीविकां प्रातः जीविकः । आपन्नो जीविकामापन्नजीविकः । “स्त्रीगोर्नचः” [१।१।८] इति प्रादेशः । चकारः किमर्थः ? अकारादेशसमुच्चयार्थः । प्राता जीविकां प्राप्ताजीविका । आपन्ता जीविकामापन्ताजीविका । प्रपञ्चार्थभिर्दं सूत्रम् । वसेनाप्येतत् सिध्यति । यदा कर्मणि कृतदा प्राप्ता जीविका येनेति विग्रहो यदा कर्तरि तदा प्राप्ता जीविका यं पुरुषमिति ।

इत्तच्छ्रुतातीतपतितगतात्यस्तैः ॥१३।२१॥ तच्छब्देन प्राप्तापन्नयोर्महत्त्वम् । इत्यन्तं श्रित अतोत पतित गत अत्यस्त इत्येतैश्च सह पसो भवति । जीविकां प्रातो जीविकाप्रातः । सुखापन्नः । धर्माश्रितः । संसारमतीतः संसारातीतः । नरकं पतितो नरकपतितः । मोक्षं गतो मोक्षगतः । बुद्धिमत्यन्तस्तुहिनात्यस्तः । इति पदं सूत्रे वानिर्दिष्टं “षोक्तं न्यक्” [१।३।२३] इति न्यक्संज्ञं तस्य वृत्तौ “पूर्वम्” [१।३।६७] इति पूर्वनिपातः । महान्तं धर्मं श्रित इति सपेक्षत्वाद्भूत्यभावः । यदा महांश्चासी धर्मश्च महाधर्म इति तदा महाधर्माश्रित इति भवति ।

स्वयं क्लेन ॥१३।२२॥ स्वयमित्येतत् भित्तं क्लान्तेन सह पसो भवति । इयधिकारोऽसम्भवादिसंयोगमुत्प्लुत्य गच्छति । स्वयन्धौतौ पादौ । स्वयंगुप्ताः । “कृद्ग्रहणे विकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ।” स्वयंक्लिन्नमाज्यम् । ऐकपद्यं प्रयोजनम् । स्वयन्धौतस्येदं स्वायन्धौतम् ।

खट्वाऽक्रमे ॥१३।२३॥ आचार्योक्तं खट्वा । उत्पथगमनमक्रमः । खट्वाशब्द इत्यन्तः क्लान्तेन सह पसो भवति अक्रमे । खट्वाशब्दो जाल्मः । खट्वाश्रितः । खट्वाप्लुतः । सर्व एते आचनीतपर्यायाः । गुहमिरनुज्ञातेन खट्वा आरोह्य तदन्यथाकरणमक्रमांश्च प्रतीयते । अत्रापि वृत्तिपरिनाक्रमो गम्यत इति नित्यः सविधिः । वाक्यं सादृश्यमात्रेण । अक्रम इति किम् ? खट्वामाशब्दोऽध्यापकोऽध्यापयति ।

सामि ॥१३।२४॥ सामि इत्यर्द्धवाचि भित्तं तत् सुबन्तं क्लान्तेन पसो भवति । सामिकृतम् । सामिसुक्तम् । सङ्घातादधुदुत्पत्तिः प्रयोजनम् । श्वित्युपेक्षया गच्छति ।

कालाः ॥१३।२५॥ कालवाचिनः शब्दा इत्यन्ताः क्लान्तेन सह पसो भवति । “कालाध्वन्यविच्छेदे” [१।१।४] इत्यन्तेन या विहितेप् सस्या उत्तरसूत्रेणाक्लान्तेन वृत्तिं वक्ष्यति । विच्छेदे क्लान्तेनेदोदाहरणम् । पण्मुहूर्त्ताश्चराः । ते उत्तरायणेऽर्गच्छन्ति । दक्षिणायने रात्रिम् । तेन नास्त्यविच्छेदः । अहरविद्यता मुहूर्त्ताः । अहस्तक्रान्ताः । “रोऽसुपि” [१।३।७८] इत्यङ्गो नकारस्य रेफादेशः । रात्र्यारुदाः । रात्रिचक्रान्ताः । मासं प्रमितो मासप्रमितश्चन्द्रमाः । मासं प्रमातुमारब्धः प्रतिपन्नन्द्रमाः । तेन विच्छेदः ।

अविच्छेदे ॥१३।२६॥ क्लान्तेनेति निवृत्तम् । अविच्छेदोऽत्यन्तसंयोगः । कालाः इत्यन्ताः सुबन्तेन सह पसो भवति अविच्छेदे । अविच्छेदश्च कालस्य द्रव्यक्रियागुणैः सम्बन्धिभिर्व्याप्तिः । अत्यन्तं सुखमत्यन्त-

सुखम् । अत्यन्तरमशीयम् । सर्वरात्रकल्याणी । सर्वरात्रशोभना । “कालाध्वन्यविच्छेदे” [१।४।७] इतीप् ।

भा गुणोत्तमार्थेनोऽर्थेनैः ॥१।३।२७॥ भान्तं गुणोक्त्या अर्थशब्देन गुणवाचिभिश्च शब्दैः सह पशो भवति । शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः । “गुणवचनादुप्” [वा० ४।१।२३]” इति मतोरुप् । एवं गिरिणा काणः गिरिकाणः । मदेन पटुर्भदपटुः । कुसुमैः सुसभिः कुसुमसुरभिः । कार्यकारणभावलक्षणमत्र सामर्थ्यं शङ्कुलादिकृतात्वात् खण्डलादीनाम् । उक्तिग्रहणं किमर्थम् ? उच्यते इत्युक्तिः । गुणोक्त्या गुणोक्तिः । गुणद्वारेण द्रव्ये यः शब्दो वर्तते तेन वृत्तिर्यथा स्यात् केवलमेव गुणेन मा भूत् । मदेन पाटवम् । वृत्तेन पाटवम् । अर्थेन-धान्येनार्थो धान्यार्थः । पुण्येनार्थः पुण्यार्थः । अर्थशब्दोऽत्र प्रयोजनवाची । ऊनैः—मापेणोनो मापेणः । मापविकलम् । एतैरिति किम् ? गोभिर्भवावान् । अस्त्यत्र कार्यकारणभावः । गोभिः कृतत्वादपावत्वस्य । इह कस्माच्च भवति ? अक्षणा काणः । अस्माभ्यर्थात् । नात्र काणलमात्रेण कृतमन्वेन केनापि काणः कृतः । केवलमक्षणा काणत्वयुक्तो लक्ष्यते । इह कस्माच्च भवति । दध्ना पटुः । धृतेन पटुः । अनभिधानात् ।

पूर्वावरसदृशकलहनिपुणमिश्रलक्षणसमैः ॥१।३।२८॥ पूर्वं अवर-सदृश-कलह निपुण-मिश्र-लक्षण सम इत्येतैः सह भान्तं पशो भवति । मासेन पूर्वो मासपूर्वः । संवत्सरपूर्वः । मासवरः । संवत्सरवरः । अस्मादेव वचनाद्भा । हेतो वा । पित्रा सदृशः पितृसदृशः । “भाऽनुलोपमाभ्यां तुल्यार्थः” [१।४।७] इति भा । विद्यया सदृशो विद्यासदृशः । अग्निना कलहोऽसिकलहः । वाचा निपुणो वाङ्निपुणः । गुडेन मिश्रा गुडमिश्राः । तिलमिश्रा धानाः । वाचा श्लक्ष्णो वाक्श्लक्ष्णः । जिह्वाश्लक्ष्णः । मात्रा समो मातृ-समः । कुलेन समः कुलसमः ।

साधनं कृता बहुलम् ॥१।३।२९॥ साधनं कारकं तत् कृदन्तेन बहुलं पशो भवति । कर्तुं—अहिना हतोऽहिहतः । करणम्—विषण हतो विषहतः । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ।” (नखैर्निर्मिजः) नखनिर्मिजः । तथा देवदत्तेन नखनिर्मिजः देवदत्तनखनिर्मिजः । कर्म—ग्रामं गमौ ग्रामगमी । आर्दनं बुभुक्षुरोदनबुभुक्षुः । अपादानम्—ग्रामनिर्गतः । अधमंजुपुः । सम्प्रदानम्—शदाभ्यां द्वियते पादहारको भूपः । अधिकरणम्—गले चोपते गलचोपकः । “गुड्या बहुलम्” [२।३।१४] इति बहुलवचनादुभयत्र कर्मणि एव च । काचिन्न भवति । दात्रेण लूनवान् । परशुना छिन्नवान् । व्यान्तेरधिकार्यवचन इष्यते । कुक्कुटैः सम्पात्याः कुक्कुट-सम्पात्या ग्रामाः । अस्यासत्ताकथनम् । काकपेया नदी । श्वलेखः कूपः । कण्टकलंघ्ये आर्दनः । वाष्पच्छेद्यानि तूष्णानि । काचिन्न भवति । काकैः पातव्याः । काकैः पानाया नदी । काचिर्दाधिकार्यभावेऽपि । बुभुक्षेन्ध्यम् । तूष्णोपेन्ध्यम् । पूर्वमुत्तरञ्च कारकविभक्तौ लक्षणं साधनमस्त्वं प्रपञ्चः । साधनामिति किम् ? मिहार्थमवहितः । हेतो भा । कृद्ग्रहणं किम् ? कृदन्तेनैव वृत्तिर्यथा स्यात् सुवन्तेन मा भूत् । अभ्रावलिप्ती । “कृद्ग्रहणे” [३।१।४७] इत्यकारान्तात् आर्वाधेः सिद्धः । सुपुल्लिङ्गयुक्ताद्भवति ।

भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्यञ्जने ॥१।३।३०॥ मिश्रणव्यञ्जनवाचिना सुवन्तेन भक्ष्यान्नवाचिम्यां यथा-संख्यं पशो भवति । गुडेन मिश्रा धाना गुडधानाः । वृत्तो क्रियाया अन्तर्ज्ञावादप्रयोगः । एवं गुडपृथुकाः । तिलपृथुकाः । व्यञ्जनम्—दध्ना उपसिक्त आर्दनां दध्यार्दनः । धृतीर्दनः ।

असदर्थार्थवृत्तिसहितसुखरक्षितैः ॥१।३।३१॥ तस्मै इदं तदर्थम् । अवन्तं तदर्थनार्थशब्देन च बलि-हित-सुख-रक्षित इत्येतैश्च सह पशो भवति । रथाय दार । रथदार । कुण्डलाय हिरण्यम् । कुण्डलाहिर-ण्यम् । बहुलग्रहणानुवृत्तः प्रकृतिविकृतिभावे तदर्थेन वृत्तिः । विकृतिः प्रकृत्या सह इत्यर्थः । इह न भवति । रन्धनाय स्थाली । अवहननायोलूलम् । इदमेव शपकं तादर्थ्यं अब् भवति । कथमश्वघातो हस्तिविद्येति । तासेन सिद्धम् । अर्थशब्देन नित्यं वृत्तिः । मात्रे इदं मात्रर्थम् । त्रिलिङ्गता लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य । आत्रुसार्था

यवागूः । आतुरार्थः रूपः । देवाय बलिः देवबलिः । गृहबलिः । तादर्थ्ये अप् । गोभ्यो हितं गोहितम् । अश्व-
हितम् । हितयोगे इदमेव शापकमपः । गोभ्यः सुखं गोसुखम् । “अप् चाक्षिष्या” [१।४।७७] इत्यादिना
अप् । गोभ्यो रक्षितं गौरक्षितम् । तादर्थ्येऽप् ।

का भीभिः ॥१।३।३२॥ बहुवचनादर्थविज्ञानम् । कान्तं भीवन्तैः सह षसो भवति । वृकेभ्यो मीः
वृकमीः । वृकेभ्यो भीतो वृकभीतः । वृकेभ्यो भयं वृकभयम् । वृकेभ्यो भीतिः वृकभीतिः । सुष्ठुप्रदार्थं
पूर्वस्थायं प्रपञ्चः ।

मुक्तापेतापोढपतितापत्रस्तैः प्रायः ॥१।३।३३॥ मुक्त-अपेत-अपोढ-पतित-अपत्रस्त इत्येतैः सह
कान्तं प्रायः षसो भवति । भवान्मुक्तो भवमुक्तः । पापापेतः । सुखापोढः । स्वर्गपतितः । तरङ्गापत्रस्तः । सर्व-
त्रापादाने का । प्राय इति किम् ? प्रासादात् पतितः । मोक्षलादपत्रस्त इत्येवमादौ न भवति ।

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्लेन ॥१।३।३४॥ स्तोक-अन्तिक-दूर इत्येवमर्थाः शब्दाः कृच्छ्रशब्दश्च
कान्ताः क्लान्तेन सह षसो भवति । स्तोकान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अन्त्यासादागतः । दूरादागतः । विप्रकृष्टा-
दागतः । कृच्छ्रान्मुक्तः । कृच्छ्राल्लब्धः । “स्तोकार्थकृच्छ्रेभ्योऽपादाने का” । दूरान्तिकार्थेभ्य इप्वेति का ।
“कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] इत्यनुप् ।

ईप्छौण्डैः ॥१।३।३५॥ ईवन्तं शौण्डादिभिः सह षसो भवति । शौण्डैः सहचरिताः शौण्डाः ।
अन्त्रेषु प्रसक्तः शौण्डोऽन्त्रशौण्डः । पानशौण्डः । वृत्तौ प्रसक्तिक्रियाया अन्तर्भावादप्रयोगः । सर्वत्र अधिकरणे
ईप् । शौण्ड, धूर्त, क्लिब, व्याड, संवीत, समोरण, अन्तर् वने अन्तर्वनान्तः । अधि रक्षि अधि रक्षाधीनम् ।
“अपडङ्गासितङ्गवधियोः” [४।३।१६] इति खः । यदा पूर्वपदार्थप्राधान्यं विभक्त्यर्थश्च तदा हसः । अन्त-
र्वेषम् । अधिभि । परिडत । कुशल । चपल । निपुण ।

सिद्धशुष्कपक्षबन्धैः ॥१।३।३६॥ सिद्ध-शुष्क-पक्ष-बन्ध इत्येतैरीबन्तं षसो भवति । काम्पिल्ये सिद्धः
काम्पिल्यसिद्धः । सांकात्यसिद्धः । उक्ते शुष्कः । उक्तशुष्कः । छायाशुष्कः । कुम्भीपक्षः । खालीपक्षः । चक्र-
बन्धः । चारकबन्धः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इत्यस्यैव प्रपञ्चः ।

श्रुणे व्यैः ॥१।३।३७॥ ईवन्तं व्याप्तैः सह षसो भवति श्रुणे गम्यमाने । मासे देयमृषां मासदेयम् ।
मासैकदेशे मासशब्दः । अधिकरणे ईप् । एवं संवत्सरदेयम् । नियोगतः कार्यमृषम् । तेनेहापि भवति पूर्वाह्न-
जेयम् । प्रातरध्येयम् । अत्र यत्यान्तेनैवाभिधानादिह न त्यात् । मासे दातव्यम् । मासे दानीयम् । श्रुण इति
किम् ? मासे देया भिक्षा ।

खौ ॥१।३।३८॥ खुंक्वथे ईवन्तं सुवन्तेन सह षसो भवति । अरण्येतिलकाः । वृत्तिपदेन संज्ञा गम्यत
इति नित्यः सविधिः । “ईपोऽदलः” [४।३।१२७] इत्यनुप् । एवमरण्येमाषकाः । वनेकसेरुकाः । वनेवल्ल-
जकाः । पूर्वाह्नेस्तोयकाः । कूपेपिशाचिकाः ।

क्लेनाहोरात्रमेवाः ॥१।३।३९॥ भेदा अवववाः । क्लान्तेन सह अहोरात्रभेदा ईवन्ताः षसो भवति ।
पूर्वाह्नकृतम् । अपराह्नकृतम् । पूर्वात्रभुक्तम् । अपरात्रभुक्तम् । भेदग्रहणं किम् ? “उलूखलेराभरणैः
पिशाची यदभाषत । एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तन्तु द्रक्ष्यासि ।”

तत्र ॥१।३।४०॥ क्लेनेति वर्तते । तत्रेत्यतः क्लान्तेन सह षसो भवति । तत्रकृतम् । तत्रभुक्तम् ।
तत्रपीतम् । ऐकपचं प्रयोजनम् ।

क्षेपे ॥१।३।४१॥ क्षेपः कुत्सा । क्षेपे गम्यमाने ईवन्तं क्लान्तेन सह षसो भवति । “कृद्ग्रहणे तिका-

१.-हृषार्थम् अ० । २. वने अन्तः (वनान्तः) वसति ज०, ब०, स० । ३.-रुकाः ।
वने हरिदृषाः । वने अ० । -रुकाः । वने हस्तिरुकाः । वने ब०, स० ।

रकपूर्वस्यापि ।” अत्रात्रोक्तस्तिष्ठतं त एतात् । कार्येभ्यस्तस्मिन् तत्वेऽप्यर्थः । “वे कृति बहुलम्” [३।३।१३२] इत्यनुप् । एवमुदकेविशोर्णं भस्मनिहुतम् । निष्कलं तवेदमित्यर्थः ।

ध्वाङ्गैः ॥१।३।४२॥ कृतेनेति निवृत्तम् । क्षेप इति वर्तते । बहुवचनादर्शनिर्देशः । ध्वाङ्गवाचिमिः सुवन्तं षसो भवति क्षेपे । तीर्थे ध्वाङ्ग इव तीर्थध्वाङ्गः । वृत्ताविवाशस्यान्तर्भावः । तीर्थकाकः । आद्य-वायसाः । अनवस्थित एवमुच्यते । ध्वाङ्गैरित्यर्थनिर्देशात्तत्सदृशानामपि ग्रहणमिति केचित् । तीर्थश्वा । तीर्थसारमेयः । तीर्थशृगालः । क्षेप इति किम् ? तीर्थे ध्वाङ्गो वात्यते ।

पात्रेसमितादयश्च ॥१।३।४३॥ क्षेप इति वर्तते । पात्रेसमितादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपा-तिताः षसंशा भवन्ति क्षेपे । पात्रे एव समिताः पात्रेसमिताः । पात्रेबहुलाः । न कचित्कार्य इति क्षेपो गम्यते । निपातनादनुप् । उदुम्बरे मशक इव उदुम्बरमशकः । उदुम्बरकृमिः । कूपकच्छपः । अवटकच्छपः । कूप-मण्डकः । उदपानमण्डकः । नगरकाकः । नगरवायसः । एतेष्विवार्थो वृत्तावन्तर्भूतः । मातरिपुरुषः । अयुक्तकारीत्यर्थः । पिण्डीशूरः । निरुसाह इत्यर्थः । गेहेक्ष्वेडी । गेहेनर्दी । गेहेनर्ती । गेहेविजिती । गेहेव्याडः । गर्भेनृत्तः । गर्भेद्वतः । आखनिकवकः । गोष्ठेशूरः । गोष्ठेविजिती । गोष्ठेक्ष्वेडी । गेहेशूरः । गेहेमेडी । गेहेदासः । गोष्ठेपटुः । गोष्ठेपण्डितः । गोष्ठेप्रगल्भः । कर्णेचुरुजुराः । चकारोऽवधारणार्थः । पात्रेसमितादय एव न वृत्त्यन्तरं लभन्ते । परमाः पात्रेसमिताः । अत एव वृत्तान्तेनापीह वृत्तिः सार्धिका अन्यथा ‘क्षेपे’ [१।३।४३] इत्यनेनैव सिद्धा स्यात् ।

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलं यश्चैकाग्रये ॥१।३।४४॥ एकाग्रयः समानाधिकरणम् । पूर्वकालवाचि-एकसर्व-जरत्-पुराण-नव-केवल इत्येते सुबन्ता एकाग्रये सति सुबन्तेन सह यसंशः सो भवति षसं-शश्च । पूर्वः कालो यस्य स पूर्वकालः । सम्यग्निशब्दत्वादपरकालेन तस्य वृत्तिः । पूर्वं स्नाताः पश्चादनु-लिप्ता स्नातानुलिप्ताः । कृष्टसमीकृतम् । छिन्नप्ररुद्धम् । दग्धप्ररुद्धम् । एकशायी । एकचर्या । एकमिक्षा । सर्वदेवाः । सर्वपदार्थाः । जरद्दस्ती । जरद्वजः । पुरा भवं पुराणम् । “सत्यज्विरम्या-ह्वेप्रगेमिन्वस्तनद्” [३।२।१३६] इति तनद् । अत एव निपातनात्तत्त्वम् । पुराणान्तम् । पुराणशास्त्रम् । नवावसथः । केवलमसहायं ज्ञानं केवलज्ञानम् । विशेषणवृत्तेरयं प्रपञ्चः । चशब्दः षसंशसमावेशार्थः । अन्यथा राजपुरुषादौ कृतार्था षसंशा बाध्येत । मोषिका गौः मोषकगवी । “स्थुवन्तपुंस्” [४।३।१४६] आदिना पुंवद्भावः, “न बुद्धल्लोडः” [४।३।१४६] इति प्रतिषिद्धो वसंज्ञायां “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१४६] इति पुनर्भवति । षसंज्ञाश्रयो “गोरद्वदुपि” [४।२।६४] इति टः सान्तः । इत उत्तरमेकाग्रयाधिकारो यावत् “मयूरव्यंसकादयश्च” [१।३।६६] इति । एकाग्रय इति किम् ? एकस्या शायी ।

दिक्संख्यं खौ ॥१।३।४५॥ दिग्वाचि संख्यावाचि च सुबन्तमेकाग्रये सुबन्तेन सह षसो भवति खुविष्ये । पूर्वपुष्कामशमी । अपरेपुष्कामशमी । पूर्वकृष्णमृत्तिका । अपरकृष्णमृत्तिका । दक्षिणपञ्चालाः । उत्तरपञ्चालाः । संख्या—पञ्चाग्राः । पञ्चवटाः । सप्तर्षयः । खाविति किम् ? दक्षिणा ग्रामाः । पञ्च ग्रामाः ।

हृदयंयुसमाहारे ॥१।३।४६॥ दिक्संख्यमिति वर्तते । हृदयंविषये यौ परतः समाहारेऽभिधेये दिक्संख्यमेकाग्रये सुबन्तेन सह षसो भवति । दिक् । हृदये—पूर्वस्थां शालावां भवः षसे कृते समुदायात् “दिगादेरखौ” [३।२।८४] इति एः । पौर्वशालः । आपरशालः । खौ—पूर्वा शाला प्रिया अस्य पूर्वशालाप्रियः । अपरशालाप्रियः । अवयवापेक्षया षसः । पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । दिशां समाहारो नास्ति । क्रियागुणा-पेक्षयाऽपि समाहारे अर्नभिधानम् । संख्या । हृदयं—पञ्चभिः शङ्कुलीभिः क्रीतः पञ्चशङ्कुलः । अनेन

पले कृते तस्य "संज्ञायां रश्च" [१।३।४७] इति संज्ञायां आर्ह्यस्य टणो "गङ्गुवस्त्रौ" [३।४।२९] इत्युप् । "हृदुप्युप्" [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप् । पञ्चानां नापितानामपत्यं पाञ्चनापितिः । "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इति वचनं शापकं हृदर्थेऽपि से हृदुपतिर्भवति । द्यौ-पञ्च गावो धनमस्येति पञ्चगवधनः । अन्यवसापेक्षया 'भीरहृदुपि' [४।२।६४] इति टः सान्तः सिद्धः । द्वेऽहनी जातस्य द्वयह्वानः । "पुण्योऽङ्गोऽङ्गः" [३।१।६०] इत्याह्वदेशः । समाहारे-पञ्च पूलाः समाहृताः पञ्चपूली । अनेन पसः । उत्तरसूत्रेण संज्ञायां "रात्" [३।१।२५] इति ङीविधिः । कथं षण्णगरी ? अत्रापि क्रियागुणापेक्षया समाहारोऽस्ति । लब्धा शोभना चेति गम्यते समाहारस्त्वैकत्वादेकवचनम् । ननु समाहारः समूहः स तु हृदर्थ एव न पृथक् समाहार-निर्देशात् । समूहार्थस्य त्वस्यानुपपत्तिः पञ्चानां कुमारीणां समाहारः पञ्चकुमारि । त्योत्पत्तौ हि "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इत्युप् प्रसज्येत । ततश्च "हृदुप्युप्" [१।१।६] स्त्रीत्यस्योप् स्वान् ।

संख्यादी रश्च ॥३।३।४७॥ हृदर्थेयुसमाहार इत्यत्र संख्यादर्थः स ङकः स रसंशो भवति हृदर्थे । द्वावनुयोगौ वेत्यधीते वा द्वयनुयोगः । "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इत्यस्य उप् । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः । द्यौ-पञ्च गावः प्रिया अस्य पञ्चनावप्रियाः । "नावो रात्" [४।२।१०२] इति टः सान्तः । समाहारे-पञ्चपूली । चशब्दः पसंज्ञासमावेशार्थः । द्वे अंगुली समाहृते द्वयङ्गुली । "वेऽङ्गुलोर्भिः संख्यादेः" [४।२।८८] इति अः सान्तः । "रात्" [३।१।२५] इति ङीविधिश्च सिद्धः ।

कुत्स्यं कुत्सनैः ॥३।३।४८॥ कुत्स्यवाचि सुवन्तं कुत्सनवाचिना पसो भवति । वैयाकरणसूचिः । प्रत्यासत्तः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य कुत्सयागम्यं सार्वविधिः । रूपसिद्धिं पृष्टो निःप्रतिभः सन् यः खं सूचयति वीक्षते स खसूची । खसूचिखं कुत्सनम् । विशेषणस्य परनिपातार्थं आरम्भः । एवं क्षत्रियभीरुः । श्रोत्रियकितवः । भिक्षुविटः । मीमांसकदुर्दुरुटः । कुत्स्यमिति किम् ? वैयाकरणः कितवः । न हि वैयाकरणत्वं कितवत्वेन कुत्स्यते । कुत्सनैरिति किम् ? कुत्सितो ब्राह्मणः ।

पापाणके कुत्स्यैः ॥३।३।४९॥ पापाणकशब्दौ कुत्सनवचनौ कुत्स्यवचनैः पसो भवति । पापकुलालः । आणकनापितः । पूर्वयोगेन कुत्स्यस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते परनिपातार्थं आरम्भः ।

सामान्येनापमानम् ॥३।३।५०॥ उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम् । उपमीयते परिच्छिद्यते अनेन सादृश्येनार्थ इत्युपमानम् । उपमानवाचि सुवन्तं सामान्यवाचिना सुवन्तेन सह पसो भवति । निराधारं सामान्यं न प्रतीयत इति सामान्यधर्मेण विशिष्टं यदुपमेयं तेनात्र वृत्तिः । शस्त्रीव श्यामा शस्त्रीश्यामा देवदत्ता । शस्त्रीशब्दः श्यामगुणमुपादाय देवदत्तायां वर्तत इति एकाग्रया वृत्तिर्न विरुध्यते । मृगीव चपला मृगचपलेति पुं वद्भावश्च भवति । एवं कुमुदस्वेनी हंसगमनी न्यग्रोधपरिमण्डला दुर्वाकाण्डश्यामा सरकाण्डगोरी । सामान्येनेति किम् ? फला इव तण्डुलाः । पर्वता इव बलाहकाः । उपमानमिति किम् ? देवदत्ता श्यामा ।

व्याघ्रैरुपमेयोऽतथोगे ॥३।३।५१॥ तस्य सामान्यस्य योगः प्रतिषिध्यते । उपमेयार्थवाचिव्याघ्रादिभिः सह पसो भवत्यतथोगे । उपमेयशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वादुपमाने न वृत्तिः । साधारणधर्मः सामान्यं हि वृत्तावन्तर्भूतम् । अतथोग इत्यनेन विशिष्टः साधारणधर्मः प्रतिषिध्यते । पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । पुरुषविशेषणस्य परनिपातार्थं आरम्भः । व्याघ्र सिंह ऋषभ चन्दन वृक वृषम वृष वराह दस्तिन् कुक्षर वर पुण्डरीक स्त्री पलाविका । आकृतिगणोऽयम् । तेन मुख्यकमलं करकिशलयं पुरुषचन्द्रादं सिद्धम् । अतथोग इति किम् ? पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः । इदमेव प्रतिषेधवचनं शापकं भवति-प्रधानस्य सापेक्षस्यापि वृत्तिः । तेन राजपुरुषो दर्शनीयः । राजपुरुषः परिहृत इत्येवमादि सिद्धम् ।

विशेषणं विशेष्येणेति ॥१३॥५२॥ एकाश्रय इति वर्तते । यत् सामान्याकारेण प्रवृत्तं सत् अनेक-
प्रकाराधारभूतं वस्तु प्रकारान्तरेभ्यो व्यावर्त्यैकप्रकारे अवस्थापयति तद्विशेषणम् । अनेकप्रकाराधारभूतं
वस्तु विशेष्यम् । विशेषणं विशेष्यवाचिना सह पसो भवति । कृष्णश्च स कम्पलश्च स कृष्णकम्पलः ।
लोहिता च सा शाटी च सा लोहितशाटी । अर्द्धश्च तत् पिप्पली च सा अर्द्धपिप्पली । यदा पिप्पल्यवयवे
पिप्पलीशब्दस्तदर्थं वृत्तिरैकाश्रयाधिकारात् । यदा समुदाये वर्तते तदा पिप्पल्यर्द्धमिति तासः । भिन्नैकदेशे
भिन्नाशब्दः । द्वितीया भिन्ना द्वितीयभिन्ना । तृतीयभिन्ना । चतुर्थभिन्ना । तुर्यभिन्ना । इह भिन्नाद्वितीयमिति
तासो नोपपन्नते । “बहुगुणवृत्तार्थण” [१३।७५] आदिप्रतिषेधस्य वलीयस्त्वत् । कायैकदेशे कायशब्दः । पूर्वः
कायः पूर्वकायः । अपरः कायः अपरकायः । उत्तरकायः । एवं मध्याह्नः । सायाह्नः । पूर्व कायस्तेति अव-
यवसम्बन्धे तास्यनभिधानं पूर्व कायादिति प्राप्नोति । विशेषणविशेष्यवोरन्वयतरस्य ग्रहणेऽपि सम्बन्धिशब्दत्वादु-
भयोः प्रतिपत्तिरिति द्वयनिर्देशो व्यर्थः ? नैवम् ; यत्र पूर्वोत्तरपदयोः प्रत्येकं विशेषणविशेष्यभावस्तत्र यथा स्यादिह
मा भूत् । वृद्धः शिशपा । शिशपा हि वृद्धार्थं न व्यभिचरतीति न तस्या विशेष्यत्वम् । यदा शिशपादिशब्दाः
कलादिष्वपि वर्तन्ते तदोभयोर्विशेष्यत्वे सन्निधिमवत्येव । शिशपावृद्धः । पलाशवृद्धः । उभयोर्विशेषणत्वे कस्य
पूर्वनिपात इति चेत् प्रधानद्रव्यापेक्षान्वयस्य नीचो गुणस्य पूर्वनिपातः । यद्यप्युत्पलादिशब्दो जातिशब्द-
स्तथापि जातिर्द्रव्यस्योत्पत्तेः प्रभृत्याविनाशादात्मभूता प्रतीयत इति जातिनिमित्तः शब्दो द्रव्यशब्दो व्यवस्था-
प्यते । अत एव विशेष्यत्वमुत्तरपदार्थस्य द्रव्यद्वारेण जातेरनीलत्वादनाधेया^१तिशयत्वाच्च, सामानाधिकरस्यं तु
जात्यपेक्षया, जातेर्भेदामेदविवक्षा अनेकताधिकारालम्बते । विशेषणमिति किम् ? तक्षकः सर्पः । संज्ञेया ।
अस्य विशेष्यत्वमेव न विशेषणत्वम् । विशेष्येष्यति किम् ? लोहितस्तक्षकः । तस्य^२ लोहितत्वाव्यभिचारद्वि-
शेष्यत्वम् । इतिशब्दः किमर्थो यत्र लोके विवक्षा तत्र यथा स्यात् । इह न भवति रामो जामदग्न्यः । अर्जुनः
कार्तवीर्यः । इह कृष्णसर्पः लोहिताहिः लोहितशालिलित्वेवमादिषु संज्ञाशब्देषु नित्यः सर्वाधः । वाक्यं तु सट-
श्यमात्रेण । नीलोत्पलादिषूभयम् । नीलमुत्पलं नीलोत्पलम् । इहं ह्येव विशेषणत्वम् । खञ्जकुण्डः ।
कुण्डखञ्जः ।

पूर्वाऽपरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमचोरः ॥१३॥५३॥ पूर्व-अपर-प्रथम-चरम-जघन्य-
समान-मध्य-मध्यम-वीर इत्येते एकाश्रये सुपा सह समस्यस्ते पसो भवति । पूर्वपुरुषः । अपरपुरुषः । प्रथम-
पुरुषः । चरमपुरुषः । जघन्यपुरुषः । समानपुरुषः । मध्यपुरुषः । मध्यमपुरुषः । वीरपुरुषः । एवमाद्यनुक्रमण
पूर्वयोगप्रपञ्चार्थः । उपसर्जनानां परोपसर्जनार्थम्, प्रधानानां पर्यधानार्थञ्च । इह सूत्रे पूर्वशब्दो वीरशब्द-
श्चोपसर्जनं तयोर्वृत्तौ परत्वात् वीरशब्द उपसर्जनम् । वीरपूर्वः । “वृन्दारकनागकुब्जैस्तत्” [१३।५७]
इत्यत्र नागशब्दः प्रधानं “पोढायुवति” [१३।६०] इत्यत्र प्रवक्तृशब्दः प्रधानं तयोर्वृत्तौ परत्वात् प्रवक्ता
प्रधानम् । नागप्रवक्ता ।

श्रेण्यादि कृतैः ॥१३॥५४॥ श्रेण्यादयः कृतादिभिः सह एकाश्रये पसो भवति । वैषम्याद्यासङ्ख्यं
न भवति । श्रेण्यादिषु च्यवर्थग्रहणं कर्तव्यं न कर्त्तव्यमिति शब्दानुवृत्तेस्तत्रैव वृत्तिः । अश्रेणयः श्रेणयः
कृताः श्रेणिकृताः । अनूका ऊकाः कृताः ऊककृताः । च्यवर्थादन्यत्र श्रेणयः कृताः । करोतेरनेकार्थत्वाद्-
रिद्धता पूजिता वेति गम्यते । विकल्पेन त्रिविधास्यते यदा त्रिस्तथा परत्वात् “तिकुप्रादयः” [१३।८०] इति
नित्यं पसः । श्रेणीकृताः । ऊकीकृताः । श्रेणि ऊक पूग कुन्दुम शशि निचय विपथ विशिष्ट निर्धन देव इन्द्र
सुराष्ट्र श्रमण भूत वदान्व अध्यापक ब्राह्मण क्षत्रिय पट्ट परिद्धत कुशल चपल निपुण इति श्रेण्यादिः ।
कृतादिराकृतिगणः । कृत मित मत भूत उक्त समाज्ञात समाख्यात समाभ्यात सम्भावित अवधारित संसेवित
अवकल्पित निराकृत उपकृत इत्येवमादि । क्रियाकारकसम्बन्धोऽत्र न विशेषणविशेष्यभाव इति ।

विसमाप्तौ होऽनञ् ॥१३।१५॥ विगता समाप्तिः विसमाप्तिः । ईषन्निष्पत्तिरित्यर्थः । अनञ्-
कृतान्तं विसमाप्तौ सामर्थ्यात् कृतान्तेन समास्यते षसो भवति । एकस्यां हि क्रियायां विसमाप्तिर्भवति न क्रिया-
भेद इति सामर्थ्यम् । कृतान्तस्यानञिति प्रतिषेधान् पूर्वेष्वपि कृतान्तेन सविधिः । कृतञ्च तदकृतञ्च कृता-
कृतम् । कृतभागसम्बन्धात् कृतम् । अकृतभागसम्बन्धात्तदेवाकृतम् । एवं भुक्ताभुक्तम् । पीतापीतम् ।
अशितानशितम् । क्षिप्राक्षिशितम् । “विलम्बस्तत्त्वोः” [५।१।६८] इति चेद् । मुक्तविमुक्तम् । पीतवि-
पीतम् । कृतापकृतम् । विसमाप्ताविति किम् ? सिद्धं चाभुक्तं च । क्रियाभेदे विसमाप्तिर्नास्ति एकस्याः
समाप्तत्वादपरस्या अननुष्ठानात् । कत इति किम् ? कर्तव्यं तदकर्तव्यं च । अनञिति किम् ? अकृतं च
तत्कृतञ्च । ननु कृद्प्रदृष्टे तिकारकपूर्वस्यैव ग्रहणमनञिति किमर्थम् ? नञ्पूर्वेष्वपि वृत्त्यर्थमिति शेषः । इह
गतप्रत्यागतः यातायुधात इत्येवमदिषु “पूर्वकालौक” [१।३।४४] इत्यादिना षसः ।

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं पूज्येन ॥१३।१६॥ सत्-महत्-परम-उत्तम-उत्कृष्ट इत्येते सुवन्ताः पूज्य-
वचनेन सह समस्यन्ते षसो भवति । संश्च सः पुत्तश्च सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उद्भूततमः
उत्तमः । अत एव निपातनात् “किमेन्मिङ्क्षिभादामद्बन्धे” [४।२।२०] इत्याम् न भवति । उत्तमपुरुषः ।
उत्कृष्टपुरुषः । पूज्येनेति वचनादत्र सदादयः पूजावचना ज्ञातव्याः । पूज्येनेति किम् ? उत्कृष्टो गौः । कर्द-
मादुद्धृत इत्यर्थः ।

वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत् ॥१३।१७॥ पूज्येनेति वर्त्तमानमर्थवशाद्धान्तं संपद्यते । वृन्दारकादिभिः
सह तत् पूज्यवाचिसुवन्तं समस्यते षसो भवति । तदित्यनेन पूज्यवचनेनाभिसम्बन्धात् वृन्दारकादयः पूजा-
वचना गृह्यन्ते । गोश्चासौ वृन्दारकश्च गोवृन्दारकः । पुनानः । गोकुञ्जरः । अररकुञ्जरः । व्याघ्रादिराकृति-
गणत्वात् “व्याघ्रैरुपमेयेऽतद्योगे” [१।३।११] इत्येव सिद्धं सामान्यप्रयोगेऽपि यथा स्यादित्यारम्भः । गोनागो
बलवान् । तदिति किम् ? शोभना शीमा कणा अस्य सुशीमो नागः ।

कतरकतमौ समर्थौ ॥१३।१८॥ किञ्चिद्वात् “किञ्चित्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य उत्तरः” [४।१।१४७]
“वा बहुर्न जातिप्रश्ने उत्तमः” [४।१।१४८] तयोः परतष्टिले कृते कतरकतमशब्दौ सिद्ध्यतः । समर्थौ सङ्ग-
तार्थौ समानार्थावेकार्थवित्वर्थः । तौ सुवन्तेन सह समस्यन्ते षसो भवति । कदा चानवोः समानार्थत्वं यदा
जातिप्रश्ने तौ व्युत्पाद्येते तदा तयोः समानार्थत्वम् । कतरश्च स गार्ग्यश्च कतरगार्ग्यः । कतमगार्ग्यः । कत-
रकठः । कतमकठः । बृद्धं चरथैः सहेति जातिवाचित्वन् । समर्थविति किम् ? कतये भवतीर्देवदत्तः ।
द्रव्यप्रश्नोऽयम् । समर्थग्रहणं हि कतरस्यैव विशेषणं उत्तरस्याविशेषेण विधानान्न कतमस्य । उत्तमस्य
जातिप्रश्न एव तैर्विधानात् । अतः कतमो भवतां देवदत्त इति व्यावृत्त्युदाहरणमत्रानुपपन्नम् । कतरकत-
मयोः प्रश्ने विहितयोः सविधिना न गार्ग्यैर्विशेष्यव्यवस्थेति वचनम् ।

क्षेपे किम् ॥१३।१९॥ क्षेपः कुत्सा । यो हि यदर्थस्तस्य तदर्थाननुष्ठानं क्षेपः । किमेतत् क्षेपे गम्ये
सुवन्तेन समस्यते षसो भवति । को नाम राजा किराजा । यो न रक्षति । “न स्वति किमः” [४।२।६६]
इति सान्तप्रतिषेधः । किंखा । योऽभिद्रुहति । किंगौः । यो न वहति । “गोखदुपि” [४।२।६७] इति
सान्ते टे प्राप्ते “न स्वति किमः” [४।२।६६] इति प्रतिषेधः । सर्वत्र स्वकार्याभावात् क्षेपः । क्षेप इति
किम् ? को राजा पाटलिपुत्रे । किमिति योगविभागः । तेन संज्ञायां शुकादिभिः सह किञ्चन्दः समस्यते षसो
भवति । किंशुकः पलाशः । किंशुकः पर्वतः । किंपुरुषो मनुः । किन्नरः स एव । किञ्जल्कः पुष्परेणुः ।
किङ्किरतः । किन्दन्तीत्यादयः सिद्धाः ।

पोटायुचतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्वष्कयणीप्रचक्षुश्चोत्रियाध्यापकधूर्तजतिः ॥१।
३।६०॥ पोटादीनामितरेतरयोगो द्वन्द्वः । पोटादिभिः सहैकाश्रये जातिः समस्यते षसो भवति । विशेषणस्य
परनिपातार्थ आरम्भः । जातिद्वारेण यः शब्दो द्रव्ये वर्तते स इह जातिशब्दोऽभिप्रेतः । इत्या च सा पोटा

च इभ्यपोटा । इभ्येति जातिशब्दः । स्त्री भूत्वा सख्यपालनार्थं वा पुंवेपेण युज्यते सा पोटा । यापि गर्भ एव दास्यं गता साऽपि पोटा । “स्युक्तपुंस्क” [४।३।१४६] इत्यादिना पुंवद्भावे प्राप्ते “जातिश्च” [४।३।१४३] इति प्रतिषिद्धे “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१४४] इति पुंवद्भावः । एवमार्यपोटा । युवतिस्तृणी । इभ्य-युवतिः । क्षत्रिययुवतिः । अग्निश्च स स्तोकश्च तदग्निस्तोकम् । दधि च तत् कतिपयञ्च दधिकतिपयम् । स्तोककतिपयशब्दवैकार्यं । सकृत्प्रसूता गृष्टिः । गौश्च सा गृष्टिश्च गोगृष्टिः । धेनुरभिन्नयप्रसवा । गोधेनुः । वशा वन्ध्या । गोवशा । वेहत् गर्भधातिनी । गर्भधारिण्येति । गोवेहत् । महता वत्सेन वा दुह्यते सा बष्कयिणी । गोबष्कयिणी । प्रवक्ता उपाध्यायः । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रिवः । अध्यापकोऽध्येता । कटाध्यापकः । कटधूर्तः । बुद्धिमानित्यर्थः । धूर्तग्रहणमिहाकुत्सार्थम् । अथवा आश्रयिषु कुत्सितेषु तद्भवति । आश्रयेषु तु कुत्सेषु इदम् । ब्राह्मणधूर्तः क्षत्रियधूर्त इति यदा हि ब्राह्मणत्वमाश्रयि कुत्स्यते तदा तेनैव सिद्धं सविधानम् । यदा तु तद्युक्तो देवदत्तः कुत्स्यते तदर्थमिदम् । जातिरिति किम् ? देवदत्तः प्रवक्ता । देवदत्तशब्दस्याजातिवचनत्वादवृत्तिः । जातेर्विशेषायाः पूर्वनिपातार्थं आरम्भः ।

चतुष्पाद्गर्भिण्या ॥१।३।६१॥ जातिरिति वर्तते । चत्वारः पादा यस्याः सा चतुष्पाद्गर्भादिजातिः । “सुखं व्यादेः” [४।३।१४०] इत्यकारस्य खम् । चतुष्पाज्जातिर्गर्भिणीशब्देन सहैकाश्रये समस्यते षसो भवति । गौश्च सा गर्भिणी च गोर्गर्भिणी । अजगर्भिणी । “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१४४] इति पुंवद्भावः । चतुष्पादिति किम् ? ब्राह्मणी गर्भिणी । जातिरित्येव । कालाक्षी गर्भिणी । स्वस्तिमती गर्भिणी । चतुष्पदः संशेषा । न तु जातिः । विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं वचनम् ।

प्रशंसोक्त्या ॥१।३।६२॥ जातिरिति वर्तते । उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । प्रशंसाशब्देन सह जातिवाचि सुबन्तं समस्यते षसो भवति । गौश्च स प्रकारश्च तत् गोप्रकाण्डम् । प्रशस्तो गौरित्यर्थः । एवमश्वप्रकाण्डम् । गोमत्तल्लिका^१ । अश्वमत्तल्लिका । गोकुमारी । गोलल्लजकः । अभिधा जातिरित्येव । देवदत्ता कुमारी ।

युवा खलति पलित वलिन जरद्भिः ॥१।३।६३॥ खलति पलित वलिन जरदित्येतैरेकाश्रयैर्युवशब्दः समस्यते षसो भवति । युवा खलति युवखलति । युवतिः खलती युवखलती । युवा पलितः युवपलितः । युवतिः पलिता युवपलिता । वसयोऽस्य सन्ति वलिनः । पाप्मादिलान्नः । युवा वलिनः युववलिनः । युवतिर्वलिना युववलिना । “जृषोऽतु” [३।२।२७] इति अतृत्ये कृते जरदिति भवति । युवा जरन् युवजरन् । युवतिर्जरती युवजरती । “मृद्वग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ।”^२ “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१४४] इति पुंवद्भावात् तिशब्दस्य निवृत्तिः ।

व्यतुल्याख्या अजात्या ॥१।३।६४॥ व्यान्तास्तुल्याख्याश्च अजातिवाचिना सह समस्यन्ते षसो भवति । परनिपातः कलम् । भोज्यश्च तदुष्णश्च भोज्योष्णम् । भोज्यलवणम् । पानीयशीतम् । हरणीयपूर्णो घटः । तुल्याख्याः । तुल्यश्च स श्वेतश्च स तुल्यश्वेतः । सदृशश्वेतः । तुल्यमहान् । सदृशमहान् । अजात्येति किम् ? भोज्य ओदनः । तुल्यो वैश्यः । इह तुल्यसन्निति पुण्यलाभाधात् परत्वाद्दानेन सः । इह कथमेकाश्रया वृत्तिः । कृष्णसारङ्गः । लोहितसारङ्गः । कृष्णशबलः । लोहितशबलः । याद सारङ्गादशब्दा जातवचना जातेः कथञ्चिद्द्रव्यादभिन्नत्वमित्येकाश्रयत्वमस्ति ततो विशेषणलक्षणः सः । अथ पूर्वोत्तरपदयोर्वर्णावशंपवाचत्वं तनापीच्छातो विशेषणविशेष्यभावः । कृष्णश्वेतः । श्वतकृष्णः ।

कुमारः श्रमणादिभिः ॥१।३।६५॥ कुमारशब्दः श्रमणादिभिः सह समस्यते षसो भवति । कुमाराशब्दो मृत् । स्त्रीलिङ्गैरुत्तरपदैः स्त्रीलिङ्गः । अध्यापकादिभिरुभयथा समस्यते । कुमारं श्रमणा कुमारश्रमणा ।

१.-मत्तल्लिका । अश्वमत्तल्लिका । गोमत्तल्लिका । गोकुमा-अ० ।—ल्लिका । अश्वमत्तल्लिका । अश्वम-अ० ।

कुमारी प्रवजिता कुमारप्रवजिता । कुमारश्च स अध्यापकश्च स कुमारध्यापकः । कुमारी अध्यापिका कुमाराध्यापिका । अमरा प्रवजिता कुलटा गर्भिणी तापसी बन्धकी दासी एते स्त्रीलिङ्गाः । अध्यापक अमिरूपक पट्ट मृदु परिष्ठत कुशल चपल निपुण ।

मयूरव्यंसकावयश्च ॥१३॥६६॥ मयूरव्यंसकादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपातिताः व्यंसका भवन्ति । विशिष्टावसावस्य व्यंसः । इधार्थे कः । व्यंसको मयूरो मयूरव्यंसकः । ह्यव्यंसकः । कम्भोजमुण्डः । यवनमुण्डः । एतेषु परनिपातः प्रयोजनम् । “एहीडादयोऽन्यपदार्थे १” एहीडमिति यत्र कर्मणि एहि यवैरिति एहीडम् । “हियर्थं वर्तते । एहिवाणिजेति यस्यां क्रियायां सा एहिवाणिजा । प्रेहिवाणिजा । एहिस्वागता । अपेहिस्वागता । एहिद्वितीया । अपेहिद्वितीया । प्रोहकटमस्यां प्रोहकट । प्रोहकटमा । उद्धमचूडा । आहरनेला । आहरवसना । आहरवितता । भिन्विप्रलवणा । उद्धर उत्सृजेति यस्यां सा उद्धरोत्सृजा । उद्धमविधमा । उद्धरयितृजा । उत्पतनिपता । उपचनिपचा । आख्यातमाख्यातैन सिद्धेऽप्यसातत्यार्थे वचनम् । उद्धच अवावच उच्चावचम् । उच्चैश्च नीचैश्च उच्चनीचम् । आचितञ्चोपचितञ्च आचोपचम् । आचितपराचितस्य आचपराचम् । निश्चितप्रचितस्य निश्चप्रचम् । अकिञ्चनम् । स्नालाकालकः । पीलास्थिरकः । भुक्त्वा सुहितः । प्रोष्यपापीयान् । उत्पत्यपाफला जाता । निपत्यरोहिणी जाता । निपद्यथामा जाता । अपेहिप्रधसा वर्तते । इहपञ्चमी । इहद्वितीया । “जहि कर्णशा बहुलमाभीक्ष्ये कर्तारं चाभिदधाति ।” जहि जोडमित्याह जहिजोडः । उज्जहिजोडः । जहिस्तभ्यः । बहलमिति कियः ? त्वौत्तम् । “ज्जलापमत्स्यालेव सपपते ।” ज्ञासीदपिगता वर्तते । पचतभृञ्जता । खादतमोदता । खादानामाः । आहरविवसा । आहरनिष्किरा । अविहितलक्षणं सविधानमिह द्रष्टव्यम् । तेन शाकप्रधानः पार्थिवः शा पार्थिवः । कुतपसौश्रुतः । अजातौल्बलः । धृतरौद्रीयाः । ओदनपाणिनीया इत्येवमादि सिद्धम् । चकारोऽवधारणार्थः । परमो मयूरव्यंसकः । वृत्पन्तरं न भवति ।

काला मेयैः ॥१३॥६७॥ कालवाचिनः शब्दा मेयैः परिच्छेद्यैः सह समस्यन्ते पसो भवति । मेयैरिति सम्बन्धात् काला मानवचना गृह्यन्ते । यद्यपि मुख्यं मानत्वं व्यवहारकालस्य मासादेन सम्भवति तथापि वचनात् परिच्छेदहेतुत्वमात्रं साधर्म्यभुपादायोपचारात् कालः परिमाणम् । मासादयो जातादेः सम्बन्धिनीमादित्यगतिं परिच्छिन्दन्तीति जातस्यापि परिच्छेदहेतव उच्यन्ते । एकाश्रय इति निवृत्तम् । मासो जातस्य मासजातः । संवत्सरजातः । तासापवादोऽयम् । काला इति बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? द्वे अहनी जातस्य द्वयहजातः । त्रिपदोऽपि पसो यथा स्यात् । “द्वयर्थसमाहारे” [१३॥६६] इत्यत्रयवसे “राजाहःसखिम्यहः” [१३॥६७] इति टः । “एभ्योऽहोऽहः” [१३॥६८] इति अह्लादेशः । यदा द्वयोरहोः समाहार इति विग्रहस्तदा “न समाहारे” [१३॥६९] इत्यह्लादेशप्रतिषेधः सिद्धः । द्वयहो जातस्य द्वयहजातः । व्यहजातः ।

नञ् ॥१३॥६८॥ नञ् सुपा सह समस्यते पसो भवति । अब्राह्मणः । अधर्मः । असर्वज्ञः । अगौः । नैयं पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिरलिङ्गासंख्यत्वप्रसङ्गात् । किञ्च पूर्वपदप्रधानो हस उक्तः । अमक्षिकमिति । अन्यपदार्थप्रधान्ये तु अक्षर्त्त हेमन्त इत्यत्र प्रादेशादि प्राप्नोति । अस्तुत्तरपदार्थप्रधानेयं वृत्तिः । यद्येवमगमानयेत्युक्ते ऽगोमात्रस्यानयनं स्यात् । अथ स्वयमेव निवृत्तिपदार्थको गोशब्दः स नञा केवलं व्योत्यते । एवं सति न कस्याचिदानयनं स्यात् । नायं दोषः । द्वाविह गोशब्दो प्रवृत्तपदार्थको निवृत्तपदार्थकश्च । सारूप्यात्तयोर्भेदापरिज्ञाने निवृत्तपदार्थकस्य व्योतनार्थं नञः प्रवीगः प्रतिषेधे सत्युत्तरपदार्थसदृशो व्युत्पथो जायते । “अभिधयुक्तसम्यक्सङ्गाधिकरयो सधा ध्वार्थगतिः” [परि०] इति वचनात् । अन्यपदार्थे तु परत्वाद्गो भवति । अशालिको देशः । जकारो नञोऽनिव्यञ्ज विशोषणार्थः । वामनपुत्रादिबन्नादेशो मा भूत् ।

गुणोक्त्येषद् ॥१३॥६९॥ उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । गुणशब्देन सह ईषच्छब्दः समस्यते पसो भवति । ईषत्कडारः । ईषत्पिङ्गलः । ईषद्विकटः । ईषदुन्मतः । ईषद्रक्तः । ईषत्पीतः । ह्युत्पत्तिः प्रयो-

जनम् । गुणोक्त्येति किम् ? ईषत्कारकः । ईषद्गार्ग्यः । ज्ञात्येकार्थसमवायिक्रियागुणापेक्षया जातेरपि वृद्धिज्ञासौ ।

ता ॥१३॥७०॥ तान्तं सुव्रन्तेन सह षसो भवति । मोक्षमार्गः । स्वर्गमुखम् । राजपुरुषः ।

कृति ॥१३॥७१॥ कृत्प्रयोगे या ता तदन्तं सुपा सह षसो भवति । “न प्रतिपदम्” [१३॥७३] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तस्यायं पुरस्तान्निरासः । इध्मनां ब्रध्ननः इध्मब्रध्ननः । पलाशसातनः । अविल-
वनः । श्मश्रुकर्तनः । करणे युट् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१३॥६८] इति ता ।

याजकादिभिः ॥१३॥७२॥ याजकादिभिश्च सह तान्तं समस्यते षसो भवति । पूर्वेषां प्राप्तः तृज-
काभ्यां कर्त्तरीति प्रतिषिद्धः पुनरनेन षसः । देवानां याजको देवयाजकः । साधूनां पूजकः साधुपूजकः ।
याजक पूजक परिचारक परिवेषक स्नापक अभ्यापक उद्धर्त्तक उत्सादक होतृ भर्तृ रथगणक पत्तिगणक ।

न प्रतिपदम् ॥१३॥७३॥ प्रतिपदं विहिता या ता तदन्तं न समस्यते । शेषलक्षणां तां मुक्त्वा
सर्वान्ऽन्या ता प्रतिपदविधाना । सर्पिषो ज्ञानम् । पयसो ज्ञानम् । “ज्ञो स्वार्थं करणे” [१३॥६८] इति ता ।
इहापि धर्मानुस्मरणम् । धर्मचिन्तनमिति । “स्मर्यद्वयेशां कर्मणि” [१३॥६६] इत्यनेन शेषलक्षणा तान्-
व्यते । वनस्वामी । वनेश्वरो विधादायाद इत्येवमादिषु “स्वामीस्वर०” [१३॥६७] आदि सूत्रे चकारेण
शेषलक्षणा ता समुचीयते ।

निर्धारणे ॥१३॥७४॥ निर्धारणे या ता तदन्तं न समस्यते । जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य
निष्कृष्य धारणं पृथक्करणं निर्धारणम् । क्षत्रियो मनुष्याणां शूरतमः । श्वामा नारीणां दर्शनीयतमा । कुष्णा
गवां सम्पन्नक्षीरतमा । धावन्तोऽध्वगानां क्षिप्रतमाः । क्षत्रियादिशब्देन सह वृत्तिर्न भवति । “यत्तत्र निर्धा-
रणम्” [१३॥६६] इति चकारेण शेषलक्षणायास्तायाः समुच्चयः । प्रतिपदविधानत्वे हि पूर्वेष्वैव सिद्धः प्रति-
षेध इतीदमनर्थकं स्यात् । इह पुरुषेश्वर इति शेषलक्षणा ता विवक्षिता न निर्धारणलक्षणा ।

डङ् गुणतृतीयसत्तत्त्वैकद्रव्यैः ॥१३॥७५॥ डङ्गुणार्थं तृतीयं सत्तत्त्वं तस्य एकद्रव्य इत्येतैः
सह तान्तं न समस्यते । तस्य पूरणे डङित्यतः प्रभृति तमट्टकारेण डङिति प्रत्याहारः । चक्रधराणां पञ्चमः ।
तीर्थङ्कराणां षोडशः । बलदेवानां नवमः । समुदायसमुदितसम्बन्धे शेषलक्षणा ता । गुणार्थः—बलाकायाः
शौक्ल्यम् । काकस्य काष्ण्यम् । कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् । गुणगुणिसम्बन्धे ता । “एङि पररूपम्” [१३॥८१]
इत्यत्र परस्य रूपं पररूपमिति वृत्तिपदं ज्ञापकं यो गुणद्वारेण पूर्वं द्रव्ये वृत्तो भवत्यन्ते गुणमाह तेन गुण-
शब्देनेह प्रतिषेधः । यस्तु सर्वदा गुणवचनस्तेन वृत्तिर्भवत्येव । इस्तिरूपम् । कपित्थरसः । चन्दनगन्धः । अग्नि-
स्पर्शः । गुणशब्देनेह लोकप्रसिद्धा रूपरसगन्धस्पर्शा गुणा अभिप्रेताः । ततस्तद्विशेषैरर्थं प्रतिषेधः, तेन यत्न-
गौरवं सूत्रलाघवं करणगटवं वचनप्रामाण्यं गोविंशतिरित्येवमादिषु न प्रतिषेधः । वृषलस्य धाष्ट्र्यमित्यत्र
वृत्तेरनभिधानम् । तृतीयः—कलानां तृतः । सकृन्नां पूर्णः । कलानां सुहितः । सकृन्नां प्रीतः । “तृप्त्यर्थे तृ-
संशानम्” [वा०] इति ता । सदिति शतृशानयोः संज्ञा । चोरस्य द्विषन् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१३॥६८]
इति कर्मणि ता प्राप्ता “न क्लित०” [१३॥७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धः । “द्विषः शतृवा वचनम्” [वा०]
इति ता । इह तु शेषलक्षणा ता । देवदत्तस्य कुर्वन् । देवदत्तस्य कुर्वाणः । तस्य—देवदत्तस्य कर्तव्यम् ।
गिनदत्तस्य कर्तव्यम् । अत्रापि “यस्य वा कर्त्तृनि” [१३॥७५] इति शेषलक्षणा ता । तस्येन केचिद्विकल्प-
मिच्छन्ति । देवदत्तकर्तव्यम् । एकं द्रव्यमस्य एकद्रव्यम् । राक्षः पादलिपुत्रकस्य । शुक्स्य मारचिदस्य । आचा-
र्यस्य श्रीदत्तस्य । पूर्वनिपातस्यानियमः प्रसज्येत । विशेषणादिसूत्रे इतिशब्दोऽस्ति तेन नीलस्योत्पलस्य नीलो-

१. पूर्वनिपातस्येत्यादि न भवतीत्यन्तसन्दर्भस्यायमभिप्रायः—

“एक द्रव्ये तासाङ्गीकारे वभयोः पदयोस्तान्तरत्वेन वीकत्वात्पूर्वनिपातस्यानियमः प्रसज्येत । ननु
नीलस्योत्पलस्य नीलोत्पलस्येत्यत्रैकद्रव्यत्वेन तासनिषेधः कुतो न, गुणगुणिभावस्यते एकद्रव्यत्वानङ्गी-

त्यतस्येति । गुणगुणिसम्बन्धे सविधिर्भवति । एकद्रव्येण गुणगुणिविवक्षा नास्तीति विशेषणवृत्तिरपि न भवति ।
मिता प्रतिषेधो वक्तव्यः । देवदत्तस्य साक्षात् । देवदत्तस्योपरि ।

कर्मणि च ॥१३।७६॥ चकारोऽवधारणार्थः । कर्मण्येव या ता विहिता तदन्तं सो न भवति ।
आश्वर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य ओहः । देवदत्तेन । एतु सत्तु एतत्तः गवां त्रिनित्येन ।
“युट्” [१३।१७] इति नन्वावे युट् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१३।६८] इत्युभयत्र तायां प्राप्तायां
“द्विप्राप्तौ परे” [१३।६९] इति कर्मण्येव भवति । कर्तरि तु भा । कर्मण्येवेति किम् । इयमवश्चनः ।

कर्तरि क्तेन ॥१३।७७॥ कर्तरीति तायां विशेषणम् । कर्तरि या ता विहिता तदन्तं क्तान्तेन सो न
भवति । अस्मिन्नास्यते स्म इदमेवामासितम् । इदमेवां यातम् । इदमेवां मुक्तम् । तयोरेव भावकर्मणोः क्ते प्राप्ते
“धिगत्यर्थाच्च” [२।३।१८] “अधिकरणे चाधर्थाच्च” [२।३।१९] इति अधिकरणे क्तः । अधिकरणस्यो-
क्तत्वात् । इदमित्येतस्मादीभ्यस्तु “मिडैकार्थे वा” [१३।१९] इति यैव भवति । “कर्तृकर्मणोः कृति”
[१३।६८] इति ता प्राप्ता “न भित्तलोक” [१३।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा “कस्याधिकरणे” [१३।७०]
इत्यनेन एवामिति कर्तरि ता । एवं राज्ञां मतः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां पूजितः “मतिबुद्धिपूजार्थाच्च” [२।२।१६९]
इत्यनेन वर्तमाने काले क्तो नियम्यते । स चेह कर्मणि कारके निहितः “कर्तृकर्मणोः कृति” [१३।६८] इति
कर्तरि ता प्राप्ता “न भित्तलोक” [१३।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवतीत्यनेन सूत्रेण प्रत्यवस्थाप्यते । अथ यदा
सकर्मकेभ्योऽधिकरणे क्तस्तदा कर्तृकर्मणोरनुक्तत्वात् “कस्याधिकरणे” [१३।७०] इत्यनेन या ता कर्तरि
तस्याः प्रतिषेधः सिद्धः कर्मणि या ता तस्याः कथं वृत्तिप्रतिषेधः । इदमोदनस्य मुक्तमिति । नैव दोषः ।
कर्मणि चेति वर्तते तेनेह कर्तरि कर्मणि च ता क्तान्तेन न समस्यते । इह शेषलक्षणा ता । छात्रइत्तितम् ।

तृजकाभ्यां योने ॥१३।७८॥ कर्तरि या ता तदन्तेन सो न भवति । तृचैव कर्तुं शक्त्वात् । तद्योगे-
कर्तरि ता नास्ति । तृजग्रहणमुत्तरार्थम् । भवत आसिका । भवतः शायिका । भवतोऽधेगामिका । “पर्यायाहो-
त्यत्तौ घुण्” [२।३।१८] इति भावे स्त्रीलिङ्गे घुण् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१३।६८] इति कर्तरि ता ।
कर्तरीत्येव । इच्छुभक्षिकां मे धारयसि । पूर्ववद्घुण् । अत्रेच्छुशब्दात् कर्मणि ता “कृति” [१३।७१] इति
ता सः । म इति सम्प्रदानमेतत् ।

कर्तरि ॥१३।७९॥ कर्तरि यौ तृचकौ ताभ्यां सह तान्तं न सो भवति । अपां स्रष्टा । पुरां भेत्ता । वज्र-
त्य भर्ता । याजकादिषु पतिपर्यायो भर्तृशब्दः । यवानां लावकः । सक्तूनां पायकः । कर्तरीति शक्यमकर्तुं तृचोऽ-
कस्य च कर्तरि विधानात् । नन्वकस्य भावेऽपि विधानमस्ति । सत्यम् । तद्योगे कर्तरि विहितायास्तायाः पूर्वेषु
वृत्त्यभावः सिद्धः सामर्थ्यादिह कर्तरि विहितस्याकस्य ग्रहणम् । तदेतत्कर्तृग्रहणं शापकं पूर्वप्रतिषेधो नित्यः अयम
नित्यस्तेन तीर्थकर्तारमर्हन्तमित्येवमादि सिद्धम् । तृन्तेन वा “साधनं कृता” [१३।१९] इति सः ।

क्रीडाजीविकयोर्नित्यम् ॥१३।८०॥ नेति निवृत्तम् । तृचः क्रीडाजीविकयोरसम्भवाननुवृत्तिः ।
क्रीडायां जीविकायाश्च तान्तमकेन सह नित्यं षतो भवति । क्रीडायाम्—उद्दालकपुष्पमञ्जिका । भावे खुविषये घुण् ।
“कर्तृकर्मणोः कृति” [१३।६८] इति कर्मणि ता । जीविकायाम्—दन्तलेखकः । नखलेखकः । अवस्कर-
युद्धकः । क्रीडायां कृतीति विकल्पः प्राप्तः । जीविकायां कर्तरीति प्रतिषेधः प्राप्तः । क्रीडायां आरम्भादेव नित्यत्वं
सिद्धं नित्यग्रहणं जीविकार्थमुत्तरार्थञ्च ।

तिक्कुमादयः ॥१३।८१॥ तिस्रंशाः कुशब्दः प्रादयश्च समर्थेन नित्यं षतो भवति । ऊरीकृत्य । ऊरी-
कृतम् । पटपटाकृत्य । प्रादिसाहचर्यात् कुशब्दो भित्तलो रह्यते । कुत्सितो ब्राह्मणः कुशाह्वयः । ईषन्मधुरं काम-

कारात् । ननु भेऽत्र सः विशेषणं विशेष्येनेतिहाव्यस्य क्वचिदन्वयापि विवक्षितस्यस्ये समासार्थत्वेनात्रे-
तिशब्दवृत्तेन सः । विशेषणवृत्तिस्तु न गुणगुणिवद्भावे विशेषणवृत्तेरप्यमङ्गीकारात् ।”

धुरम् । “क्रियायोगे नि लि” [१।२।१३०-१३१] इति प्रादयोऽपि क्रियायोगे तिसंज्ञा अक्रियायोगार्थे प्रादि-
ग्रहणम् । स्वती पुजायकम् । शोभनः पुरुषः सुपुरुषः । अतिपुरुषः । अतिशयेन स्तुतं सुस्तुतम् । अतिक्रमेण
स्तुतमतिस्तुतम् । दुः पापाद्यर्थे । पापः पुरुषो दुःपुरुषः । कुन्हेण कृतं दुःकृतम् । आङ्गीषदाद्यर्थे । ईषत्कडार
आकडारः । क्रियायोगे आबद्धमाभरणम् । प्रादय एवमात्मका यत्र क्रियापदं प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः ।
यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुरिति । “प्रादयो गताद्यर्थे च वया” [वा०] प्रगत आचार्यः प्राचार्यः ।
वृत्तिविषये प्रशब्दो गताद्यर्थे सगताद्यर्थे भिन्नेः । पूर्व पशुदो गुरुः पशुः । प्रपितामहः । सङ्गतायः
समर्थः । “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे इया” [वा०] अतिक्रान्तः खट्वामतिखट्वः । उक्क्रान्तो वेलासुद्धेतः ।
“अथादयः क्रुद्धाद्यर्थे मया” [वा०] अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः । परिणद्धो वीर्यद्धः परिवीर्यः । “पर्या-
दयो रत्नानाद्यर्थे अपा” [वा०] परिभ्रान्तोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः । उद्युक्तः संग्रामाय उत्संग्रामः । पर्यादिरकृतिगण
इत्येके । अलं कुमारिः । “निरादयः क्रान्ताद्यर्थे कया” [वा०] निःक्रान्तः कौशाभ्या निष्कौशाभ्यः । अपगतः
शाखाया अपशाखः । लक्ष्मणादिवर्धनभिधानादवृत्तिः । वृत्तं प्रति विद्योतते ।

वागमिड् ॥१।३।८२॥ वाक्संज्ञममिडन्तं समर्थेन नित्यं पसो भवति । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।
शरलावः । अमिडिति किम् ? एधानाहारको व्रजति । “वृषणुमौ क्रियायां तदर्थायाम्” [२।३।८] इति वृण् ।
अमिडिति प्रतिषेधवचनं शापकमन्त्रोर्थयोगोः “सुसुपा” [१।३।३] इति नाभिसंबध्यते । एवञ्च सत्येतल्लब्धम्
“तिवाङ्कारकाणां प्राक् सुबुत्पत्तेः कृद्धिः सविधिः” [परि०] इति । इह मापत्रापिणी । व्रीहियापिणी स्त्री ।
कृदन्तेन वृत्तौ “भृदन्तनुमविभक्त्याम्” [२।४।१] इति एत्वं सिद्धम् । अन्यथा सुबुत्पत्तिः स्त्रीत्येन बाध्येत ।
अश्वक्रीती च प्रयोजनम् । यदि सुबुत्पत्तेः प्राक् तिवाङ्कारकाणां कुला वृत्तिः । अदःकृत्य तमोपहः राजश्रित इत्यत्र
पूर्वस्य पदकार्यं न स्यात् । “कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] इत्येवमादि अनुविविधानं चानर्थकं कचिदेव
जीविषिणत्वादिविषये शापकात् सिद्धिः ।

मिताऽमैघ ॥१।३।८३॥ पूर्वेण सिद्धे नियमोऽयम् । भित्संज्ञकेनामन्तेनैव वागमिड् पसो भवति । स्वादु-
क्कारं मुङ्क्ते । लवणक्कारं मुङ्क्ते । स्वाद्वर्थेषु वाञ्छु “स्वादुभि णम्” [२।४।१२] इति णम् भवति । स्वादु-
मीति निर्देशान्त्वसन्नियोगे मान्तता निपात्यते । अमैवेति किम् ? कालो भोजतुम् । समयो भोजतुम् ।
“कालसमयवेलासु तुम्बा” [२।३।१४३] इति तुम् । आरम्भादेव नियमः सिद्धः । भिन्नैवेति विपरी-
तावधारणे व्यावर्त्यं नास्तीत्येषकारः किमर्थः ? अमैव यत् सह निर्दिष्टं वाक्संज्ञं तस्य वृत्तिर्यथा स्यात् । अमा
चान्येन च यत् सह निर्दिष्टं तस्य मा भूत् । अत्रे भोजं गच्छति । अत्रेभुक्त्या । प्रथमभोजम् । पूर्वभोजम् ।
“वामे प्रथमपूर्वे” [२।४।१०] इति क्वाणमौ निहितौ । भिन्नैति विस्पष्टार्थम् । व्यावर्त्याभावात् ।

चा भादि ॥१।३।८४॥ “उपदंशो भायाम्” [२।४।३३] इत्यतः प्रभृति वाक्संज्ञं भादीत्युच्यते ।
भादीनि वाक्संज्ञानि अमा सह वा समस्यन्ते पसो भवति । मूलकोषदंशं मुङ्क्ते । “उपदंशो भायाम्”
[२।४।३३] इति णम् । पार्श्वोपपीडम् । पार्श्वेनोपपीडं पार्श्वे उपपीडं शेते । “ईपि चोपपीडरूपकर्षः”
[२।४।३४] इति णम् । अमन्तेनेत्येव । पर्याप्तो भोजतुम् । प्रभुभोजतुम् । “पर्यास्त्रिवचने अलमर्थे” [२।४।२१]
इति तुम् । एवकारो नानुवर्तते तेन भादिषु यदमा सह निर्दिष्टं वाक्संज्ञं यदमा चान्येन च सह निर्दिष्टं तदपि
समस्यते । उच्चैःकारमाचष्टे उच्चैःकारं “आवनिष्टोक्तौ कृजः क्वाणमौ” [२।४।४४] इति णम् ।

क्त्वा ॥१।३।८५॥ क्त्वान्तेन सह वा भादि समस्यते पसो भवति । उच्चैःकृत्याचष्टे । उच्चैः कृत्वा ।
भादीत्येव । प्रदेशान्तरवाचो वृत्तिर्न भवति । अलं कृत्वा । अत्रे भुक्त्वा ।

अन्यपदार्थोऽनेकं वम् ॥१।३।८६॥ वानिर्दिष्टं सुवग्रहणमनुवर्तते । वानिर्दिष्टं निवृत्तम् । अन्यस्य
पदस्यार्थे वर्तमानमनेकं सुवन्तं वसंज्ञकः सो भवति । चित्रगुः । लम्बकर्णः । दर्शनीयरूपः । अन्यग्रहणं किम् ?
त्वपदार्थे वसो मा भूत् । लम्बश्च स कर्णश्च स लम्बकर्णः । पदग्रहणं किम् ? अन्यवाक्यार्थे मा भूत् ।

अर्थग्रहणं किमर्थम् ? यावता शब्दे कार्यस्यासम्भवादर्थं कार्यं विज्ञास्यते । अन्यपदार्थस्य ये लिङ्गसंख्ये ते यथा स्यातामित्येवमर्थम् । बहुयत्नं कुलम् । बहुयवा भूमिः । बहुयवौ । बहुयवाः । वाविभक्त्यन्ते अन्य-पदार्थे वृत्तिर्न भवत्यनभिधानात् । अनेकग्रहणं बहुनामपि प्रापणार्थम् । सामानाधिकरण्याभावेऽपि वसो भवति । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उच्चैर्मुखो देवदत्तः । अस्तिहीरा गौः । भीनामसंख्यत्वादसामाना-धिकरण्यम् । इहाभिधानाभावान्न भवति । पञ्चभिर्भुक्तमस्य । सामानाधिकरण्येऽप्यनभिधानम् । पञ्च भुक्त-वन्तोऽस्य । नपा निर्देशः किमर्थः ? उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् । “सावन्यपदार्थे” [१।३।१८] इति हस एव भवति । इह वीरपुरुषको ग्राम इति परत्वाद्बसः बसस्य बाधकः । शस्त्रीश्यामा देवदत्तेत्येवमादिषु “यश्चैकाग्रये” [१।३।१४] इति प्रकृतमस्ति तेन बसस्य बाधः । “प्रादयो गताद्यर्थे वसा” [वा०] इत्येवमादि वार्तिकवचनं प्रमाणम् । तेन निष्कौशाग्निरित्येवमादिषु वसो न भवति । “ईदृशमानपूर्वस्य शुद्धं वक्तव्यम्” [वा०] उदरे स्थितो मणिरस्य उदरेमणैः । “वे कृत्ति बहुलम्” [१।३।१३२] इति ईपोऽनुप् । उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः । उपमानान्यवत्त्वादुष्ट्रोऽप्युपमानम् । इह केशचूडः सुवर्णालङ्कारो देवदत्तः इति केश-सम्भारे केशशब्दः । सुवर्णविकारे सुवर्णशब्दो वर्तते । सङ्गतार्थः समर्थ इति निर्देशादेवजातीयस्य वा युग्मं द्रष्टव्यम् । प्रपतितपर्णः प्रपर्णः । अविद्यमानभार्यः अभार्यः ।

संख्येये संख्यया भ्यासन्नादूरसंख्यम् ॥१।३।२७॥ संख्येये या संख्या वर्तते तथा भि आसन्न-अदूर इत्येतानि संख्या च वसो भवति । अनन्यार्थार्थं वान्तेऽप्यन्यपदार्थं प्रापणार्थञ्च । समीपे दशानामिमे उपदशाः । उपविंशाः । समीपप्राधान्ये तु हसः । आसन्ना दशानामिमे आसन्नदशाः । आसन्नविंशाः । अदूरदशाः । अदूरचत्वारिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा इमे द्वित्राः । त्रयो वा चत्वारो वा इमे त्रिचतुराः । “तन्मूविसुपत्रिभ्यश्चतुरः” [१।२।७२] इति अस्त्यो निपात्यते । त्रिदश इमे त्रिदशाः । वृत्तैवाभ्यावृत्तेरुक्तत्वात् सुन्नोऽप्रयोगः । संख्यासंज्ञाविधानेऽधिकशब्दस्यापि संख्यात्वमुक्तम् । अधिका दशानामिमेऽधिकदशाः । संख्येय इति किम् ? अधिका विंशतिर्गत्वाम् । संख्येयेति किम् ? पञ्च पदार्थाः । भ्यासन्नादूरसंख्यमिति किम् ? पार्थिवाः पञ्च ।

विशोऽन्तराले ॥१।३।८८॥ दिक्छब्दाः सुप्रज्ञा अन्तरालवचने बलशकः सो भवति । अन्तराल एव यथा स्यादिति निवमार्थं आरम्भः । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्बदन्तरालं दक्षिणपूर्वम् । “सर्वनाम्नो वृत्तिमन्त्रे पूर्वपदस्य पुंवद्भावः” [वा०] इति पुंवद्भावः । उत्तरपदस्य “स्त्रीगोमीचः” [१।३।८] इति प्रादेशः । अन्तरालादिशः स्त्रीत्वात् पुनष्टाप् । अनेकमित्यनुवर्तनात् न्यक्संज्ञायां द्वयोः पर्यायेण पूर्वनिपातः । एवं दक्षिण-परा । उत्तरपरा । उत्तरपूर्वा । प्रसिद्धानां दिक्छब्दानां ग्रहणादिह न भवति । वाहण्याश्च कौर्ब्याश्च दिशोर-न्तरालम् ।

तत्रेवमिति सरूपे ॥१।३।८९॥ तत्रेति ईदृशे द्वे सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे वसो भवति । इतिकर-णात् ग्रहणविशिष्टे युद्धे विवक्षा । केशेषु केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तं केशाकेशि । कचाकचि । “अ इच्” [१।३।२८] इति इच् सान्त इजिति तिष्ठद्वादौ वसंज्ञार्थं पठ्यते । “अन्यस्वापि” [१।३।२३२] इति पूर्वपदस्य दीलम् । अत्र सापेक्षत्वात् पूर्वेण वृत्तिर्न प्राप्नोति । सरूपे इति किम् ? केशेषु च कचेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तम् ।

तेन ॥१।३।९०॥ इदमिति सरूपे इति वर्तते । तेनेति भान्ते सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे वसो भवति । इतिकरणानुवृत्तेर्यत्तेनेति निर्दिष्टं प्रहरणं चेत्तद्वति । दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तं दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । सरूपे इत्येव । दण्डैश्च कमण्डलुभिश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

सहेति तुल्ययोगे ॥१।३।९१॥ तुल्ययोगः समानक्रियादियोगः । तेनेति वर्तते । सह इत्येतत् सुवन्तं तुल्ययोगे वर्तमानं तेनेति भान्तेन सह समस्यते वसो भवति । सह छात्रेण सच्छात्र आगतः । शशिष्यः ।

सपुत्रः । “वा नीचः” [४।३।१४०] इति सङ्शब्दस्य सादेशः । तुल्ययोग इति किम् ? प्रत्यहं गृहं शावेन भारं वहति रासभी । विद्यमानताऽत्र सहार्पः । आत्रो नैव सिद्धे हसनिवृत्त्यर्थं कथमाधार्यश्च वचनम् । इति-शब्दो योगविभागायः । तेनातुल्ययोगेऽपि क्वचिद्वसः का च । तेन सकर्मकाचरेदो भवति । सपुत्रको वादी वक्तु इत्यादि सिद्धम् । अत्र हि चरेरेव देन योगो न कर्मणः । तथा वादिन एव च तेन योगो न पक्षस्य ।

चार्थे द्वन्द्वः ॥१।३।६२॥ चकृतोऽर्थश्चार्थः । तस्मिन् वर्तमानमनेकं सुबन्तं द्वन्द्वसंज्ञः सो भवति । चत्वारश्चार्थाः । समुच्चयोऽन्वाचय इतरेतरयोगः समाहारश्चेति । तत्रानियतकर्मयोगपदानां द्वयादिवस्तूनामेक व्याप्यारोपः समुच्चयः । अत्र “गामयन् गुणं नष्टुमन्वर्त्तमानो नैव भवति, सुरया इव दुर्मदी ।” गुणप्रधानभावमात्रविशिष्टः समुच्चय एवान्वाचयः । यथा भिक्षाभट गां चानयेति । इतरेतरयोगसमाहारवपि समुच्चयस्य भेदो । परस्परं सापेक्षाणामवयवभेदानुगत इतरेतरयोगः । अनपेक्षिता अवयवभेदाः संहतिप्रधानाः समाहाराः । आद्योऽन्वयमन्तरेणापि क्वचित् प्रयोगात् । असानर्थ्याच्च नास्ति सविधिः । इतरेतरयोगे । प्लक्ष-न्यग्रोधौ छायां कुरुतः । समाहारे प्लक्षन्यग्रोधं सिध्यति । वाक्त्वचम् । वाग्दण्डम् । छत्रोपानहम् । इह द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशद्विंशतित्येवमादिषु समाहारेऽपि लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति नपुंसकलाभावः । द्वन्द्व-प्रदेशः “द्वन्द्वचुबह्वचो रार्थे” [४।३।१०८] इत्येवमादयः ।

बोद्धं न्यक् ॥१।३।६३॥ सलक्षणपूत्रेषु वानिर्दिष्टं न्यक्त्वं भवति । तस्य प्रयोजनं पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपातः । अधिकि । अधिकुमारि । भौति बोद्धम् । कर्षाश्रतः । इति बोद्धम् । शङ्खलाखण्डः । मेति बोद्धम् । एवं सर्वत्र बोद्धव्यम् । वसेऽनेकं सुबन्तं तस्य पूर्वनिपातनियममुत्तरत्र वक्ष्यति । इह राजः पुरुषं भित्ति इति यत् प्रति यदप्रधानं तत् प्रति तन्न्यक्त्वं भवति । कथमर्थं विभागो लभ्यते । न्यागितीय-मन्वर्थसंज्ञा । नीचैरञ्चतीति न्यागप्रधानमित्यर्थः ।

एकविभक्ति ॥१।३।६४॥ विभक्तिशब्दः पूर्वाचार्येष्टो निर्दिष्टः एका विभक्तिर्यस्य तन्न्यक्त्वं भवति । निष्क्रीशाम्बिः । निर्मथुरः । “परम्” [१।३।६५] इत्यनेन परनिपातार्थमेतत् । प्रादेशस्तु “स्त्री-नीचः” [१।१।६] इत्यत्र अन्वर्थस्य नीचः समाश्रयणात् सिद्धः ।

परम् ॥१।३।६५॥ एकविभक्ति न्यक्त्वं परं प्रयोक्तव्यम् । पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपाते प्राप्तेऽपवादः । इह धर्मं श्रितः । धर्मं श्रितेन धर्मश्रिताय इत्येवमादिषु “बोद्धम्” [४।३।१४०] इत्यनेनैव न्यक्त्वं मन्व-त्यनवकाशत्वात्तस्तदाश्रयः पूर्वनिपातः ।

राजदन्तादौ ॥१।३।६६॥ राजदन्तादिषु न्यक् परं प्रयोक्तव्यम् । उत्तरपूत्रैः प्राप्तस्य पूर्वनिपातस्या-पवादोऽयम् । दन्तानां राजा राजदन्तः । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । गणपाटादनुप । लिप्तवासितं नग्नमुपेतम् अश्विस्तन्नपक्वं सिक्तसंभृष्टं भृष्टलुब्धितम् अप्रितोत्तम् उत्तगाढमेतेषु पूर्वकालस्य परनिपातः । उल्लूखलमुत्तं तन्दुलकिण्वम् । आरग्वानिबन्धकी । चित्ररथबाह्लीकम् । अवन्वशमकम् । शूद्रार्यम् । स्वागकराजानौ । विध्वक्सेनार्जुनौ । अक्षिभुवम् । दारगवम् । शब्दायौ । धर्मार्थौ । कामार्थौ । अक्षु व्यत्ययोऽपि । अर्थशब्दौ । अर्थधर्मौ । अर्थकामौ । वैयाकरणमराम् । भोजनानौ । गोपालधानीप्लासम् । प्लास-करणम् । उक्षीरधीजम् । सिञ्जस्थम् । शिद्धास्त्री । चित्रास्वाती । भार्यापती । जायापती । जपती । दम्पती । जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते । पुत्रपती । पुत्रपशू । केशश्मश्रुः । शिरोबिन्दु । सपिर्मधुनी । मधुसर्पिणी । आद्यन्तो । अन्तादी । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ ।

पूर्वम् ॥१।३।६७॥ न्यागिति वर्तते । न्यक्त्वं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । वाक्यवद् वृत्तावनियमो मा भूदि-त्यारम्भः । उक्तान्युदाहरणानि । वत्र द्वे अपि तान्ते राजः पुरुषस्त्विति तत्र कस्य न्यक्त्वं न्यागि-अन्वर्थमंश-श्रयणाद्राजशब्दस्य ।

द्वन्द्वे सुः ॥१३।६८॥ द्वन्द्वे से स्वन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । मुनिगुप्तौ । यदुगुप्तौ । अनेकप्राप्तावनियमेन मुनिपदगुप्ताः । पट्टमुनिगुप्ताः । पट्टगुप्तमुनयः । न्यायित्वमर्थसंज्ञा । द्वन्द्वे च न कस्यचिदप्राधान्यमित्यप्राप्ते पूर्वनिपात इदं सूत्रम् ।

अजाद्यत् ॥१३।६९॥ अजादि अदन्तं शब्दरूपं द्वन्द्वे से पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । इन्द्रचन्द्रौ । उग्रशरम् । उग्रशशम् । इह इन्द्राग्नी । इन्द्रबायू इति सुलक्षणात् परत्वादानेन पूर्वनिपातः । उभयत्र वायोः प्रतिषेध इति आनङ् न भवति । बहुष्वनियमेन इमरथाश्वम् । अश्वरथेभम् । तपरकरणं किम् ? वृक्षाश्चे । अश्वचुक्षौ ।

अल्पाच्तरम् ॥१३।७०॥ अल्पाच्तरं शब्दरूपं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । धवलदिरौ । धवाश्वकर्णम् । “बहुष्वनियमः” [वा०] । वीणादुन्दुभिरयुक्ताः । गच्छन्तुन्दुभिरुक्ताः । “तत्तुवन्ततताः इत्यानाक्षराणामानुपूर्व्येण वक्तव्यम्” [वा०] । शिशिरवसन्तौ । हेमन्तशिशिरवसन्ताः । अश्विनीभरयः । कृत्तिकारोहिण्यः । समानाक्षराणामिति किम् ? ग्रीष्मवसन्तौ । “द्वयक्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । कुशकाशम् । तृष्काष्ठम् । “वर्णानामानुपूर्व्येण” [वा०] । ब्राह्मणक्षत्रिविद्विशूद्राः । “आतुरश्च ज्ञायसः” [वा०] युधिष्ठिरार्जुनौ । “संख्याया अलपीयसो वाचिकायाः” [वा०] द्वित्राः । एकादश । नवतिशतम् । “अभ्यर्हितस्य च” [वा०] । मातापितरौ । अद्धामेधे । दीक्षातपसी ।

ईग्विशेषणे चे ॥१३।७१॥ ईदन्तं विशेषणं च वसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । वसे अनेकं सुवन्तं न्यक् संज्ञमित्यनियमे प्राप्तेऽयमारम्भः । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उदरेमणिः । वहेगहुः । “अकामेऽर्ध्वमस्तकात् स्वाङ्गम्” [वा०] । इत्यनुप् । चित्रयुः । लम्बकर्णः । “सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । सर्वे श्वेतमस्य सर्वश्वेतः । सर्वगौरः । द्विशुक्लः । द्विकृष्णः । सर्वनामसंख्ययोः परस्पर वृत्तिः । वाक्ये संख्यायाः परत्वात् पूर्वनिपातः । द्वयन्यः । व्यन्यः । “वा प्रियस्य” [वा०] । प्रियदधिः । क्षिप्रियः । कथं गडुकण्ठः । गडुशिरः । आहिताग्न्यादिषु द्रष्टव्यः ।

तः ॥१३।७२॥ तान्तं वसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । कृतकटः । भिज्जितभिज्जः । अवमुक्तोपानत्कः । तान्तस्य विशेषणत्वेनाविबक्षितत्वात् पूर्वेण न सिध्यति । कथं क्वचिज्जातिकालसुखादिभ्यश्च तान्तस्य परप्रयोगः (जातः) । सारङ्गजम्भी । पलायडुभिक्षिती । कालात्-मासजाता । संवत्सरजाता । सुखादिभ्यश्च-सुखं जाते यस्याः सुख-जाता । दुःखजाता । वाऽहिताग्न्यादिषु अवस्थयेद् भविष्यति । प्रहरणार्थेभ्यः परे वेपौ वक्तव्ये । उद्यतोऽसिरनेन अस्युद्यतः । मुसलोद्यतः । असिः पाणावस्य आसिपाणिः । दण्डपाणिः । कथमुद्यतगदः । उद्यतासिः । इदमपि वेति सिद्धावलोकनात् ।

वाऽऽहिताग्न्यादौ ॥१३।७३॥ आहिताग्न्यादिषु वसे तान्तं वा पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । आहिताग्निः । अग्न्याहितः । एवं जातपुत्रः । जातदन्तः । जातश्मश्रुः । तैलपातः । वृतपीतः । मद्यपीतः । ऊदभार्यः । अर्थगतः । आकृतिगणोऽयम् । तेनेष्टयो न वक्तव्याः ।

ये कडाराः ॥१३।७४॥ ये कडारादयो वा पूर्वं प्रयोक्तव्याः । कडारश्च स भद्रश्च स कडारभद्रः । भद्रकडारः । विशेषणस्य “वोक्तं न्यक्” [१३।६३] पूर्वनिपातः प्राप्तो विभाष्यते । कडार गडुल कूट कण खञ्ज कुण्ट खोड खलति गौर वृद्ध भिक्षुक पिङ्गल तनु नट बधिर ।

उत्तरपदं घृ ॥१३।७५॥ से यदुत्तरपदं तद्युसंज्ञं भवति । पञ्चगवधनः । द्यौ परतः “उदये (यं) घृसमादये” [१३।७६] इति पूर्वस्य (स) संज्ञायां टः सान्तः सिद्धः । एवं द्वे अहनी जातस्य द्वयङ्जातः । “काळा मेयैः” इति समुदायस्य षसंज्ञा द्यौ परतः पूर्वस्यापि षसंज्ञायां टः सान्तः ।

इत्यभयनन्दविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पदः समाप्तः ।

अनुक्ते ॥१४१॥ अनुक्त इत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम अनुक्त इत्येषं तद्वेदितव्यम् । स्वार्थद्रव्यलिङ्गानि त्रिकौ मूढर्य इति अस्मिन् दर्शने स्वार्थिकाष्टादयः संख्याकर्मादयो विभक्त्यर्थाः । एवं च “कर्मणीप्” [१४१२] इत्येवमादीनां “साधने स्वार्थे” [१२।१२३] इत्येतस्य च गुणप्रधानभावेनैक्यता । स्वार्थैकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिष्वनुक्तैष्ववादयो भवन्ति । अथवा अनुक्तकर्मायाश्रवेणैकत्वादिविवादयो भवन्ति । इह परिखण्डनमिति केचित् । मिङ्कुद्वृत्तैरनुक्ते कर्मादयः । वक्ष्यति “कर्मणीप्” [१४१२] । कटं करोति । ओदनं भुङ्क्ते । अनुक्ते इति किम् ? क्रियते कटः । मिङोक्तं कर्म । कृतः कटः । कृतोक्तं कर्म । आदिको देवदत्तः । “आहं भुक्त ङोऽनेन” [४।३।१८] इति ङः । हताक्तः कर्ता । शतेन क्रीतः । “शता-वस्वार्थेऽसे ठ्यौ” [३।४।१८] इति यः । हतोक्तं करणमिति । कर्तरि करणे च भा न भवति । प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः । सेन कर्माक्तम् । मिङ्कुद्वृत्तैरिति परिखण्डनं किम् ? कटं करोति भौधममुदारं दर्शनीयम् । अत्र कटशब्दादुत्पन्नमानया इषा उक्ते कर्मणि भीष्मादिभ्य इन्न स्यात् । तदेतत्परिगणनमयुक्तम् । कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि न ह्यसौ कटमात्रे सन्तोषं करोतीत्यनेकं कर्म गृह्यते । समुदायस्य चामृत्वात् प्रत्य-वषवादिभक्त्युत्पत्तिः । इह आसने आस्ते शयने शेते इति अन्यो ह्यधिकरणप्रत्ययः सामान्येन युटाऽभिहितो अन्यश्च विशेषरूपेण विभक्त्योच्यते इति न दोषः ।

कर्मणीप् ॥१४१२॥ कर्मणि कारके अनुक्ते इव विभक्तिर्भवति । कटं करोति । ग्रामं गच्छति । आदित्यं पश्यति । अविशेषेण क्वाभृदः स्वादयो वक्ष्यन्ते । तन्निवमोऽव कर्मादिष्वेव इवादयो भवन्ति । इवादयो नियताः । कर्मादयस्त्वनियताः । तेषु ताऽपि प्राप्नोति । तत इदमुच्यते “ता शेषे” [१४।२०] इति शेषे ता भवति । नोक्ते कर्मादौ ।

अन्तरान्तरेण योगे ॥१४१३॥ प्रतिपदाकत्वाद्विहान्तरान्तरेणशब्दौ निमज्जौ नाम्नां योगे द्विवि-
होर्भवति । अन्तरा गन्धमादनं माल्यवन्तश्च कुरवः । कुक्षिशेषशब्देन तायां प्राप्तायामिविधीयते । कुरु-
शब्दार्थं वर्तमानात् मूढर्थातिरेकाभावात् इन्न भवति । अन्तराशब्दो मध्यमाश्रयप्रधानं व्रूते । अन्तरेणशब्दः
तत्र विनार्थे च । अन्तरेण सौमनसं विद्युधमञ्च देवकुरवः । मोक्षमन्तरेण नालन्तिकं सुखम् । निसंश-
योर्ग्रहणादिह न भवति । अन्तरावां पुरि वसति । किं ने घात्रवाणां सालङ्कायनानां चान्तरेण गतेन । योग इति
किम् ? अन्तरा तद्विशिष्टाश्च पाठलिपुत्रश्च सुधनस्य प्राकारः । ननु पदविभिरयं अन्तराशब्दे सामर्थ्यात्
सुधनशब्दादिनं मविष्यति योगग्रहणमनर्थकम् । क्वचिदप्येवमपि योगे यथा स्यादित्येवमर्थम् । “अभितः परितः
समयानिकषाहाप्रतियोगेषूपसंख्यानम्” [वा०] अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । समया ग्रामम् । निकषा
ग्रामम् । हा रेवदत्तम् । वृणीष्व भद्रे प्रतिभाति चेत्यम् । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् । “उभसर्वतलोः कार्यो
धिगुपर्यादिषु त्रिषु । कृतद्वित्वेऽपि यो गस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते” [वा०] उपयतो ग्रामम् । सर्वतो ग्रामम् ।
धिन्देवदत्तम् । उपर्यादिष्विति सूत्रोपलक्ष्यम् । सामीप्येऽधोऽधुपरि [“उपर्यध्वधसः सामीप्ये”] [२।३।५]
इति द्वित्वे कृते त्रयाणां ग्रहणम् । अधोऽधो ग्रामम् । उपर्युपरि ग्रामम् । अधधि ग्रामम् । “अन्यत्राऽपि
दृश्यते” [वा०] विना धर्मं कुतः सुखम् । अपि शब्दाल च दृश्यते । हा तात हा पुन वत्सल ।

कालाध्वन्यविच्छेदे ॥ १४१४ ॥ अविच्छेदोऽत्यन्तसंयोगः । द्रव्यगुणक्रियाभिः कात्स्न्येन काला-
ध्वनोः सम्बन्ध इत्यर्थः । कालाध्वनोरविच्छेदे वर्तमानयोः सतीरिव भवति । अन्यस्याभ्रतत्वात् कालाध्वना-
विभ्यामेवाधिकरणविनशायामीषि प्राप्तायां तदविवक्षायां सम्बन्धलक्षणायां तायां प्राप्तायामयं विधिः । कालस्य
द्रव्येण योगे—मासं गुडापूपाः । संवत्सरं क्षीरोदनम् । गुणेन—शरदं मथुरा रमणीया । मासं कल्याणी काञ्ची ।
क्रियया—मासमधीते । संवत्सरमधीते । अध्वनो द्रव्येण योगे—क्रोशं सिकताः । योजनं वनराजिः । गुणेन—

क्रोशं कुटिला नदी । योजनं दीर्घः पर्वतः । क्रिया—क्रोशमधीते । योजनमधीते । अविच्छेद इति किम् ? मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ।

सिद्धौ भा ॥१४।५॥ अविच्छेद इति वर्तते । सिद्धिः क्रियाफलनिष्पत्तिः । अविच्छेदे यौ काला-
ध्वानौ तद्वाचिभ्यां भा भवति सिद्धौ गम्यमानायाम् । मासेन प्राप्तमधीतम् । योजनेन प्राप्तमधीतम् ।
सिद्धाविति किम् ? मासमधीतं प्राप्तं न चानेनावधारितम् । नात्र क्रियाफलनिष्पत्तिरस्ति पूर्वेण इवैव भवति ।

क्रियामध्ये केनौ ॥१४।६॥ कालाध्वनीति वर्तते । क्रियोर्मध्ये यौ कालाध्वानौ ताम्यां केनौ विभक्त्यौ
भवतः । अथ भुक्त्वा मुनिद्वयं हान्दोक्ता द्वयदे भोक्ता । इहस्योऽयमिष्यासः क्रोशाद् विध्यति क्रोशे विध्यति
लक्ष्यम् । चापाच्छुरस्य निर्गमनं धानुष्कावस्थानं वा एका क्रिया द्वितीया व्यधनक्रिया तयोर्मध्ये क्रोशशब्दात्ता
प्रसता ।

सुः पूजायां न गिति ॥१४।७॥ सुशब्दः पूजायामर्थे गितिसंज्ञस्तिसंज्ञश्च न भवति । सुस्थिते भवता ।
सुसिक्तं भवता । गितिसंज्ञाश्रयं पदं न भवति । तिसंज्ञाप्रतिषेधे यद्यपि तिसंज्ञाश्रयः सविधानं भवति, तथापि
प्रादिलक्षणे भविष्यति । स्वती पूजायामिति वचनात् । सुसिक्तं गतः । तस्मादुत्तरार्थे तिसंज्ञाप्रतिषेधवचनम् ।
पूजायामिति किम् ? सुसिक्तं किं तवाऽत्र ।

अतिक्रमे चातिः ॥१४।८॥ अतिक्रम आधिक्यम् । अतिक्रमे पूजायाश्चातिशब्दो गितिसंज्ञो न
भवति । अतिसिक्तमेव भवता । अतिलुप्तमेव भवता । गितिसंज्ञाश्रयः प्रादिलक्षणश्च सविधानं भवति ।
अतिसिक्तैव गतः । पूजायाम्—अतिसिक्तमतिलुप्तं भवता । स्वती पूजायामिति प्रादिलक्षणः सविधिः ।
अतिसिक्त्य गतः । “प्यस्तिवाक्से ऋवः” [१।१।३१] इत्यत्र तिग्रहसमुपलक्षणं प्रादिषेऽपि प्यादेशः ।

पदार्थसंभावनाऽनुशागर्हासमुच्चयेऽपिः ॥१४।९॥ अप्रयुज्यमानस्य पदस्यार्थः पदार्थः ।
संभावनं सामर्थ्याविकरणम् । अनुशा अभ्युपगमः । गर्हा निन्दा । एकत्रानेकस्य नियोजनं समुच्चयः ।
एतेष्वर्थेष्वपि गितिसंज्ञो न भवति । पदार्थे—सर्पिणोऽपि स्यात् । पयसोऽपि स्यात् । बिन्दुः स्तोकं मात्रा चेत्य-
स्यार्थेऽपिशब्दः । सम्बन्धे च ता । संभावने—अपि सिञ्चेन्मूलकसहस्रम् । अपि स्तुयाद्राजानम् । अनुशायाम्—
अपि सिद्ध । अपि स्तुहि । अतिसर्गे लोड् । गर्हायाम्—विग् वाङ्मयमपि सिञ्चेत्पलाण्डम् । अपि स्तुयाद्दुपलम् ।
“अनवच्छेदस्यमर्थे” [२।३।१२१] इति लिङ् । समुच्चये—अपि सिद्ध । अपि स्तुहि । सिद्ध च स्तुहि चेत्यर्थः ।
गितिसंज्ञाश्रयं पत्वादिकार्यं न भवति ।

अधिपरी अनर्थको ॥१४।१०॥ अनर्थकावनर्थान्तरवाचिनौ । अधि परि इत्येतौ अनर्थको गिति-
संज्ञौ न भवतः । कुतोऽध्यागतः । कुतः पर्यागतः । गितिसंज्ञाश्रयं सविधानं न भवति । “प्राग्धोस्ते”
[१।२।१४६] इति प्रयोगनियमश्च न भवति । इह च पर्यायान्तमिति एत्वं न भवति ।

वीप्सेत्यम्भूतलक्षणेऽभिनेप् ॥१४।११॥ न गितिरिति वर्तते योग इति च । वीप्सा इत्यम्भूत
लक्षण इत्येतेष्वर्थेषु अभिना योगे इविविभक्ती भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षमभि-
सिञ्चति । इत्यम्भूते—साधुर्देवदत्तो मातरमभिलिखतः । इत्यम्भाधोऽभिना गम्यते । लक्षणे—वृक्षमभिसिञ्चति ।
वृक्षमभिविद्योतते । गितिसंज्ञाप्रतिषेधात् पदं “प्राग्धोस्ते” [१।२।१४६] इति नियमश्च न भवति ।

भागो चानुप्रतिपरिणा ॥१४।१२॥ भागोऽर्थं वीप्सेत्यम्भूतलक्षणे च अनु प्रति परि इत्येतेष्वर्थे
इव भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । भागोऽर्थांशः । यदत्र मामनुस्यात् मां प्रति स्यात् मां परि स्यात् तद्दीय-
ताम् । वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षम् अनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति । इत्यम्भूते—साधुर्देवदत्तः मातरम-

१. सु ४०, सु० १. २. चाति अ०, स० । ३. येऽपि स० । ४. पर्यायान्तमिति अ०, व०, स० ।
५. वृक्षमभिसिञ्चति अ०, व०, स० ।

सुस्थितः मातरं प्रति मातरं परि । लक्षणे—वृत्तमनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति । वृत्तं प्रति विद्यां तते । एतेष्विति किम् ? ओदनं परिषिञ्चति । अनुप्रतिपरिणेतुं किम् ? यदत्र मामभिष्यत् । अभेभागे गितिसंज्ञा भवत्येव सगित्यात् सकर्मकत्वं कर्मणीप् पत्वं च भवति ।

हेतावनुना ॥१४१३॥ हेतावर्थे अनुना योगे इविवभक्ती भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । जिनस्य ज्ञानोत्पत्तिमन्यागमन्सुराः । सुराणामागमनस्य जिनज्ञानोत्पत्तिर्हेतुः । एवं शान्तिवर्तितपट्टकप्रसारणमनु प्राध-
र्पत् पर्जन्यः । यदपि इत्थंभूते लक्षणे धार्थेऽनुना योगे सिद्धेवेप् तथापि येन नाप्राप्तन्यायेन शेषलक्षणाया-
स्तायाः सोऽपवादः । हेत्वर्थे तु परत्वाद्धा प्रसज्येत तद्वाधनार्थमिदम् ।

भार्थे ॥१४१४॥ भार्यः सहशब्दस्यार्थः । भार्येऽनुना योगे इव भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । नदीमन्ववसिता सेना । नदीमन्ववसिता नगरी । नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः । एवं पर्वतमन्व वसिता सेना ।

हीने ॥१४१५॥ अनुनेति वर्तते । हीनार्थे व्योत्ये अनुना योगे इव भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । उत्कृष्टापेक्षया हीनो भवतीति सामर्थ्यादुत्कृष्टादिप् । अनु शालिभद्रमाक्याः । अनु समन्तभद्रं तार्किकाः ।

उपेन ॥१४१६॥ हीनार्थे उपेन योगे इव भवति न गितिसंज्ञा च । अपसिंहनान्दिनं कवयः । उप-
सिद्धसेनं वैवाकरणाः ।

ईवधिक्वे ॥१४१७॥ ईविवभक्ती भवति अधिकांशे व्योत्ये उपेन योगे । उप खार्थो द्रोणः । उप-
निष्के कार्वाणस्यम् । यस्मादधिकं मृदुर्धातिरेकात्तत ईप् ।

ईश्वरेऽधिना ॥ १४१८ ॥ ईश्वरशब्द ईश्वरेशितव्यसंबन्धमुपलब्धवति । ईश्वरे व्योत्ये अधिना
योगे ईविवभक्ती भवति न गितिसंज्ञा च । उत्तरगुणाद्वेति विभाषाऽवलोक्यते । तत ईश्वरादीशितव्यान्च
पर्यायेणोप् । अधि मेनेश्वरे कुरवः । अधि कुरुषु मेनेश्वरः । इह विभक्त्यर्थे हसः कस्मान्न भवति विभ-
क्तीशब्देन तत्र कारकं गृह्यते । ईश्वरेशितव्यसंबन्धश्चात्र न तु कारकम् ।

वा कृजधिः ॥१४१९॥ ईश्वर इति वर्तते । अधिशब्दः करोती वा गितिसंज्ञा भवति ।
तमधिकृत्य तमधिकृत्वा । ईश्वरं कृत्वेत्यर्थः । अत्र कर्मणीप् । पुनरधिग्रहणं गितिसंज्ञाप्रतिषेधार्थमेव
न त्वीयर्थम् ।

फाऽद्धा मर्यादावचने ॥१४२०॥ काविभक्ती भवति आङ्ग योगे मर्यादावचने गितिसंज्ञाप्रति-
षेधश्च । आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः । आ मथुरावाः । मर्यादायामिति सिद्धे वचनप्रदृष्टमभिनिधिप्रसंग-
ार्थम् । आ कुमारेश्यो वशः समन्तमद्रस्य । मर्यादावचन इति किम् ? ईषदर्थे क्रियायोगे च मा भूत् ।
आकडारः । आबद्धमाभरणम् ।

वर्जनेऽपपरिभ्याम् ॥१४२१॥ विनक्षितेनासंबन्धो वर्जनम् । वर्जनेऽर्थे अप परि इत्येताभ्यां
योगे काविभक्ती भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । अप त्रिगतेभ्यो वृष्टो देवः । “परवर्जने” [१३१४] इति वा
द्वित्वम् । परि परि त्रिगतेभ्यः । वर्जन इति किम् ? ओदनं परिषिञ्चति ।

यतः प्रतिदाप्रतिनिधौ प्रतिना ॥१४२२॥ प्रतिदानं प्रतिदा प्रतिनिधीयत इति प्रतिनिधिः
मुख्यस्य सदृशः । प्रतिना योगे यतः प्रतिदा यतश्च प्रतिनिधिस्ततः काविभक्ती भवति न गितिसंज्ञा च ।
प्रतिदायाम्—माषानस्मै तिलेभ्यः प्रतियच्छति । तिलान् गृहीत्वा माषान् ददातीत्यर्थः । एवं सर्पिषोऽस्मै
तैलं प्रतिसिञ्चति । सर्पिषोऽस्मै तैलं प्रतिसिञ्चत्वा वजति—प्रतिनिधौ अर्कक्रोतिर्भरततः प्रति । अभयकुमारः
श्रेणिक्तः प्रति । प्रतियोगे “कायास्तसिः [स्तस्]” [४११७३] इति तसिः ।

संप्रदानेऽपि ॥१४१२३॥ संप्रदाने कारके अन्विभक्ती भवति । त्रिपृष्ठाया स्वयंप्रभामदात् । क्रियायाऽपि कर्मभूतया यदाप्यते तदपि संप्रदानमुक्तम् । देवदत्ताय रोचते । पत्ये शेते । श्वभ्यो वर्पति । भिक्षु-
केभ्यो वर्पति । तदर्थेन सविधिवचनं शापकं तादर्थ्येऽपि भवतीति । रथाय दारु । रुधनाय स्थाली ।
अवहननायोलूखलम् ।

ध्वर्थवाचः कर्मणि स्थानिनः ॥१४१२४॥ ध्वर्थः क्रिया । ध्वर्थो वागस्य स ध्वर्थवाक् । तस्य
स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य धोः कर्मणि कारके अन्विभक्ती भवति । यत्र यस्यार्थः प्रयोगमन्तरेण प्रतीयते स
तत्र स्थानी । एवेभ्यो व्रजति । अत्र आहर्तुमित्येतत्तुमन्तं पदं स्थानि । तदेव च ध्वर्थवाक् । कर्मणीपो-
ऽपवादोऽयम् । तादर्थ्येन सिद्धमिति चेत् स्थानिनो यथा स्यात् प्रयुज्यमानस्य मा भूत् इत्येवमर्थमिदम् ।
ध्वर्थवाच इति किम् ? प्रविश पिण्डीम् । प्रविश तर्पणम् । अस्त्यत्र भक्ष्य सिद्धेति च स्थानी न तु ध्वर्थ-
वाक् । कर्मणीति किम् ? एधेभ्यो व्रजति शक्येन । स्थानिन इति किम् ? एधानाहर्तुं व्रजति ।

तुमर्थाभावे ॥१४१२५॥ तुमा सप्तमोऽर्थस्तुमर्थः । तुमर्थाभावे वर्तमानो यस्त्यस्तदन्तान्मृदोऽपि
भवति । “कुण्टुमौ क्रियार्था तदर्थ्याम्” [२।३।८] इति वर्तमाने भावे “भाववाचिनः” [२।३।९] इति
वक्ष्यति तेषां घञादीनामिह ग्रहणम् । शकाय व्रजति । मतये व्रजति । पुष्टये व्रजति । अत्र तदर्थ्यां क्रियायां
त्यस्य विधानात् तादर्थ्यं तेनैवोक्तमिति तादर्थ्यं अत्र न प्राप्नोति । तुमर्थादिति किम् ? पाकः । त्यागः । भाव
इति किम् ? कारको व्रजति ।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंघ्यग्रहयोगे ॥१४१२६॥ नमम् स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलं कपट् इत्ये-
तैर्योगे अन्विभक्ती भवति । नमो देवेभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः । आशीर्विद्ययां कुशलार्थेयोगे ताऽपौ प्राप्ते
ताभ्यां पूर्वनिर्णयेनायमेव नित्यो विधिः । स्वस्त्यस्तु गोभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात् । स्वाहा इन्द्राय । स्वाहा
अग्नये । स्वधा पितृभ्यः । अलं मल्लो मल्लाय । अलमिति पर्याप्त्यर्थानां ग्रहणम् । “तस्मै प्रभवति”
[३।१।६४] इति निर्देशात् । प्रभुर्मल्लो मल्लाय । समर्थो मल्लो मल्लाय । अन्यत्राऽपि कस्मान्न भवतीति ?
कन्यामलङ्कृते । अलं रोदनेन । “वाग्बिभक्तः कारकविभक्ती बलीयसी” इति कर्मणीप् । कर्णे च मा
भवति । वषट्गमये । वर्षाडिन्द्राय । योगग्रहणं किम् ? नमो जिनानामायतनेभ्यः । ननु छद्याभृदः स्वादयो
विहिताः । तदन्तविषयोऽयं नियमः पदविधिः । ततोऽसामर्थ्यादेव जिनशब्दान्न भविष्यति योगग्रहणमनर्थ-
कम् । अन्यैरपि योगे यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । “हितशब्दयोगे उपसंख्यानम्” [वा०] अरोचकिने हितम् ।
“बल्लुप्यर्थधुप्रयोगेऽवक्तव्या” [वा०] मूत्राय प्रकल्पते यवागूः । मूत्राय संपद्यते । मूत्राय जायते । भिन्न-
विकारापत्तौ चेदं वक्तव्यम् । अभेदे मूत्रं संपद्यते यवागूरिति वैव भवति । विकारग्रहणं किम् ? देवदत्तस्य
संपद्यते यवागूः । मूत्रं संपद्यते यवाग्वाः । “उत्पातेन ह्यप्यमानेऽवक्तव्या” [वा०] ।

“वाताय कपिला विद्युदातपायातिस्रोहिनी ।

पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्मिह्नाय भवेत्सिता ॥”

तेनैतत् सर्वं लब्धम् ।

प्रकृष्यगर्हं मन्यकर्मण्यजीवे वा ॥१४१२७॥ प्रकृष्यगर्होऽतिशयतिरस्कारः । प्रकृष्यगर्हं गम्ये
मन्यतेः कर्मणि जीववर्जिते वा अन्विभक्ती भवति । न त्वा तृणं मन्ये । न त्वा तृणाय मन्ये । न त्वा बुसं
मन्ये । न त्वा बुसाय मन्ये । प्रकृष्येति किम् ? काष्ठं त्वां मन्ये । लोष्ठं त्वां मन्ये । न त्वा नावं मन्ये ।
यावत्तीर्णं नाव्यम् । न त्वा अन्नं मन्ये । यावद् भुक्तं आहम् । गर्ह इति किम् ? इन्द्रनीलात् पद्मरागम-

भिक्षुणं मन्ये । प्रशंसेयम् । उभयग्रहणं किम् ? अश्मानं हवदं मन्ये । स्वरूपकथनमेतत् । मन्यग्रहणं किम् ? न त्वा तृणं चिन्तयामि । विकरणनिर्देशः किम् ? न त्वा तृणं मन्ये । अजीव इति किम् ? न त्वा श्वानं मन्ये । न त्वा शृगालं मन्ये । अगह्वचित्वाद् युष्मदस्मदादेरभिवभक्ती न भवति ।

संज्ञो भा ॥१४।२८॥ कर्मणीति वर्तते । संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि भा भवति । मात्रा संजानीते । मातरं संजानीते । पित्रा संजानीते । पितरं संजानीते । “संप्रतेरस्मृतौ” [१।२।४२] इति दः । वेति व्यवस्थित-विभाषाऽनुवर्तते । तेन दधिष्ये भाविकल्पः । स्मृत्यर्थे मधिधिः । तत्र मातुः संजानाति । मातरं संजानाति । “स्मदर्थव्येषां कर्मणि” [१।४।२९] इत्यत्र ताविकल्पं वक्ष्यति । कृतप्रयोगे परत्वात् “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति तैव भवति । मातुः संजाता ।

कर्तृकरणे भा ॥१४।२९॥ कर्तरि करणे च कारके भाविभक्ती भवति । देवदत्तेन भुक्तम् । जिन-दत्तेन भुक्तम् । करणे—दात्रेण लुनाति । भेति वर्तमाने पुनर्भाग्रहणं किम् ? प्रकृत्यादिभ्यो यथा स्यात् । प्रकृत्याऽभिरूपः । प्रकृत्या दर्शनीयः । प्रायेण वैयाकरणः । काश्यपोऽस्ति गोत्रेण । समेन धावति । विप्रमेण धावति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । पञ्चकेन पशून् क्रीणाति । सहस्रेण अश्वान् क्रीणाति ।

सहार्थेन ॥१४।३०॥ योग इति मण्डूकश्रुत्याऽनुवर्तते । सहशब्दार्थेन योगे भाविभक्ती भवति । प्रधानस्य मृदार्थातिरेकभावादप्रधाने भवति । पुत्रेण सहागतः । पुत्रेण सह पिङ्गलः । पुत्रेण सह धनवान् । अत्र प्रधानाप्रधानयोः क्रियागुणद्रव्यसम्बन्धे सति सहयोगः । अर्थग्रहणं किम् ? पुत्रेण सार्द्धमागतः । पुत्रेण समम् । पुत्रेण साकम् । पुत्रेणामा । “तस्य द्रोणस्य संप्रामः सारणेन गदेन च । युगपत् कोपक्रामाभ्यां मनीषिण्य इवाभवत्” । विनाऽपि सहशब्देन तदर्थसंप्रत्ययमात्रं च भवति । “अन्त्येनेताऽधिः” [१।१।७३] अन्त्येन सह आदिरित्यर्थः । योग इत्येव । शिष्येण सहोपाध्यायस्य गौः । पुत्रेण सह स्थूलो ग्रामे । उपाध्याय-शब्दस्य ग्रामशब्दस्य च नास्ति सहशब्देन योगः ।

येनाङ्गविकारेत्थम्भावौ ॥१४।३१॥ अङ्गविकारः शरीरविकृतत्वम् । अनेन प्रकारेण भवनामि-त्यभावः । कचिदेव छात्रादौ प्रकारे वृत्तिरित्यर्थः । येनाङ्गिनो विकार इत्यभावश्च लक्ष्यते ततो भाविभक्ती भवति । अक्षणा काणः । पाणिना कुणिः । पादेन लज्जः । इत्यम्भावेऽधि-भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् । चूलया परित्राजकमद्राक्षीत् । सहार्थेनेत्यस्याविवक्षाधामिदं द्रष्टव्यम् । अङ्गविकारेत्थम्भावाविति किम् ? अक्षि काणमस्य । वृक्षं प्रति विद्योतते ।

हेतौ ॥१४।३२॥ हेतावित्यर्थनिर्देशः । हेतावर्थे भा [च] भवति तद्वाचिनः । अन्तेन वसति । धनेन कुलम् । विप्रया यशः । इह लौकिकफलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुर्नृणाम् । “तद्योक्तो हेतुः” [१।२।१२९] इत्यस्य पारिभाषिकस्य प्रयोगे सिद्धैव भा । उत्तरशूत्रे त्वविशेषेण हेतोर्मह्यं द्रष्टव्यम् ।

कर्तृऽकर्तरि ॥१४।३३॥ हेताविति वर्तते । कर्तृवर्जिते ऋणे हेतौ काविभक्ती भवति । भाष्य-दोऽयम् । शताद्वयः । सहस्राद्वयः । उत्तमर्णोऽत्र कर्ता । अकर्तरीति किम् ? वदस्त्वया देवदत्तः । नाऽहं वक्ष्यामि । शतं मे धारयति । शतेन वदः । बन्धितस्त्वया देवदत्तः । नाऽहं बन्धयामि । शतं मे धारयति । शतेन बन्धितः । कथं देवदत्तेन शतेन बन्धितः । एकस्य हेतुकर्तृत्वमपरस्य प्रबोध्यकर्तृत्वमित्यदोषः । केति योगविभागः । तेन हेतौ काऽपि भवति । कृतकत्वादित्यः । अनुपलब्धेर्नास्तीति ।

गुरो श्रीदत्तस्याऽस्त्वियाम् ॥१४।३४॥ हेताविति वर्तते । अस्त्रीलिङ्गे गुरो हेतौ श्रीदत्तस्याच्चा-र्वस्य भतेन काविभक्ती भवति । अन्येषां भतेन हेताविति भा । जाड्याद्वयः । जाड्येन वदः । पारिख्यात्यान्मुक्तः ।

पारिस्वात्येन मुक्तः । गुण इति किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रिमिति किम् ? बुद्ध्या मुक्तः ।

ता हेतौ ॥१।४।३५॥ हेताविति शब्दनिर्देशोऽयं हेतुर्षस्य तु प्रकृतत्वात् । हेतुशब्दे प्रयुक्ते हेत्वर्था ता भवति । अन्तस्य हेतोर्वसति । अध्ययनस्य हेतोर्वसति । भिक्षाया हेतोर्वसति । हेतुशब्दोऽपि हेत्वर्थे वर्तते । तस्मादपि ता । सामानाधिकरण्याद्वा ।

सर्वनाम्नो भावः ॥१।४।३६॥ हेतुशब्दे प्रयुक्ते सर्वनाम्नो भाविभक्ती ता च । केन हेतुना वसति । कस्य हेतोर्वसति । येन हेतुना वसति । यस्य हेतोर्वसति । पूर्वेण ताथामेव प्राप्तायामयमारम्भः । अथवा वक्ष्यतेऽनुस्तस्युक्तार्थः । तेन निमित्तकारणयोरेकहेतुः प्रयुक्तेषु सर्वासां प्रायो दर्शनमित्येतत्सम्बन्धम् । किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन वसति । कस्मै निमित्ताय वसति । कस्मान्निमित्तात् । कस्य निमित्तस्य । कस्मिन्निमित्ते वसति । एवं कारणयोजनहेतुपूदाहार्यम् । प्रायोप्रहणादिभ्यः भवति ।

काऽयादाने ॥१।४।३७॥ अयादाने कारके काविभक्ती भवति । आयादागच्छति । आचार्यादधीते । रथात् पतितः । केति योगविभागादन्यत्राऽपि भवतीति । तेनेदं बहु वक्तव्यं न भवति । “प्यस्ते कर्मणि का-वक्तव्या” [वा०] प्रासादमारुह्य प्रेक्षते । प्रासादात् प्रेक्षते । प्रासादाच्छृणोति । “अधिकरणे प्यस्ते का-वक्तव्या” [वा०] आसने उपविश्य प्रेक्षते । आसनात् प्रेक्षते । शयनात् प्रेक्षते । “प्रसक्त्यानयोश्च का वक्तव्या” [वा०] किं देवदत्तो व्याकरणात् कथयति ? आख्यानं—व्याकरणात् कथयति । “यत्तत्राध्वकासपरिच्छेदस्ततः का वक्तव्या” [वा०] गवेधुमतः साक्षात् चत्वारि योजनानि । कार्तिक्या आमहायणी मासे । “अध्वकास पराध्वनो वा चेप् च वक्तव्ये” [वा०] गवेधुमतः साक्षात् चत्वारि योजनानि, चतुर्थं योजनेषु ।

दिक्छब्दाऽन्याऽरादितरसंज्ञाहियुक्ते ॥१।४।३८॥ दिक्छब्दः अन्य आरात् इतर श्रुते अञ्चु वु आ आहि इत्येतैर्युक्ते काविभक्ती भवति । दिक्छब्द—इयमस्याः पूर्वा । इयमस्या उत्तरा । शब्दप्रहणं किम् ? दिशि दृष्टे यः शब्दो देशकालवृत्तिनाऽपि तेन योगे यथा स्यात् । पूर्वो ग्रामात् । उत्तरो ग्रामात् । पूर्वो ग्रीष्मादुत्तरः । अन्वदित्यर्थप्रहणम् । अन्यो देवदत्तात् । व्यतिरिक्तो देवदत्तात् । भिन्नो देवदत्तात् । अर्थान्तरं देवदत्तात् विनदत्तः । देवदत्ते मृदर्यातिरेकात् तायां प्राप्तायां का विधीयते । आराच्छब्दो भिन्नको दूरेऽन्तिके च वर्तते तद्योगे “दूरान्तिकार्थेस्ता च [१।४।४२] इति अस्मिन् प्राप्ते काविधिः । आराद् गृहत् क्षेत्रम् । आरादेव-दत्तात् पीठम् । इतरो निर्दिश्यमानप्रतियोग्यर्थः । इतरो देवदत्तात् । श्रुते इति भिन्नञ्च पदम् । श्रुते भर्मात् कुतः सुखम् । अञ्चु वु । प्राग्रामात् । प्राची दिग्गमणीया । इत्येवभाष्यार्थे आगतस्य अस्तातः “अञ्चुवु” [१।१।३६] इत्युप् । अस्य दिक्छब्दत्वेऽपि “ताऽतसर्थे स्येन” [१।४।३६] इति ता प्राप्ता तदपवादोऽयम् । आ दक्षिणा ग्रामात् । उत्तरा ग्रामात् । आहि । दक्षिणाहि ग्रामात् । उत्तराहि ग्रामात् । अस्तादर्थे “दक्षिणादा [४।१।१००] ‘आहि च दूरे’ [४।१।१०१] ‘उत्तराञ्च’ [४।१।१०२] इति आचार्यादौ । अत्रापि “ताऽतसर्थे स्येन [१।४।३६] इति ता प्राप्ता । “अवयवयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] पूर्वोञ्छात्राणामा-मन्त्रयस्य ।

ताऽतसर्थे स्येन ॥१।४।३६॥ वद्वति दक्षिणोत्तरान्यामतव् । तत्समानार्थेन स्येन युक्ते ता विभक्ती भवति । दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्ठाद् ग्रामस्य । उपर्युपरिष्ठात्वादिति अतसर्थे निपातितौ । पुरो ग्रामस्य । पुरस्ताद् ग्रामस्य । “पूर्वावराधराणां पुरवधोऽसि” [४।१।१०३] “अस्ताति” [४।१।१०४] इति च पुरादेशः ।

१. “गवेधुमतः” इत्याख्य “गवेधुमतः” इत्यतः पूर्वम् अ० पुस्तके नास्ति । २. पूर्व ग्रामात् अ० । ३. उत्तरे ग्रामात् अ० ।

इवेनेन ॥१४४०॥ ईद्विभक्ती भवति एनेन योगे । इक्षिणेन विजयार्धं वसति । “दक्षिणोत्तरा धरादाव” [४११२८] इत्यधिकृत्य । “दैनोऽदूरेऽकायाः” [४११२९] इति अस्तादर्थे एन इत्ययं त्यः । पूर्वसूत्रे नेति योगविभागादनेन योगे तापि भवति इति केचित् । इक्षिणेन ग्रामस्य । उत्तरेण ग्रामस्य ।

पृथग्विनानानाभिर्भा वा ॥१४४१॥ पृथग्विना नाना इत्येतैर्युक्ते वा भाविभक्ती भवति । पृथग्देवदत्तेन । पृथग्देवदत्तात् । विना देवदत्तेन । विना देवदत्तात् । नाना देवदत्तेन । नाना देवदत्तात् । पक्षे अन्यार्थत्वात् कापि भवति । अथ पृथगादयोऽसहायार्थं वर्तन्ते नान्वार्थे । एवं तर्ह्यधिकारात् वा ऐष्टव्या । त्रयाणां ग्रहणं पर्यायनिवृत्त्यर्थम् । द्विरुदेवदत्तस्य । “करणे स्तोकारूपकृच्छ्रकतिपयेभ्योऽसत्त्वचनेभ्यो भक्ते वक्तव्ये” [वा०] स्तोत्रेण मुक्तः । स्तोत्रान्मुक्तः । अल्पेन मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । कृच्छ्रेण मुक्तः । कृच्छ्रान्मुक्तः । कतिपयेन मुक्तः । कतिपयान्मुक्तः । अस्त्वचनेभ्य इति किम् ? स्तोत्रेण विदेशे हतः । नेदं वक्तव्यम् । विवक्षातः कारकाणि भवन्ति इत्युभयं सिद्धम् । “क्रियाविशेषणविवक्षायां भक्ते न भवतः” [वा०] स्तोत्रे चलति । अल्पं जल्पति ।

दूरान्तिकार्थेस्ता च ॥१४४२॥ केति वर्तते । दूरान्तिकार्थेभ्यश्च युक्ते ताविभक्ती भवति का च । दूरं ग्रामस्य । दूरं ग्रामात् । विप्रकृष्टं ग्रामस्य । विप्रकृष्टेन ग्रामात् । अन्तिकं ग्रामस्य । अन्तिकं ग्रामात् । अभ्यासं ग्रामस्य । अभ्यासं ग्रामात् ।

तेभ्य इप् च ॥१४४३॥ तेभ्यो दूरान्तिकार्थेभ्य इद्विभक्ती भवति का च । दूरं ग्रामस्य । दूराद् ग्रामस्य । विप्रकृष्टं ग्रामस्य । विप्रकृष्टाद् ग्रामस्य । अन्तिकं ग्रामस्य । अन्तिकाद् ग्रामस्य । समीपं ग्रामस्य । समीपाद् ग्रामस्य । काऽनुवर्तनादेव सिद्धा । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन मापि भवति । दूरेण ग्रामस्य । अन्तिकेन ग्रामस्य । असत्त्वचनेभ्य इति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । दूरात् पथ आगतः । दूरस्य पथः सम्भ्रलम् । अन्तिका ग्रामाः । यद्यसत्त्वचनेभ्य इत्युच्यते इद्विधानमनर्थकम् । लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् । नपुंसके होरम्भावेन सिद्धम् । इदं प्रयोजनं “सपूर्वाया वायाः” [५३१२३] इत्येष विकल्पो मा भूत् । ग्रामो दूरं त्या पश्यति । ग्रामो दूरं मा पश्यति ।

ईवधिकरणे च ॥१४४४॥ ईद्विभक्ती भवति अधिकरणे कारके दूरान्तिकार्थेभ्यश्च । कटे आस्ते । शयने शेते । दूरान्तिकार्थेभ्यः । दूरे ग्रामस्य । विप्रकृष्टे ग्रामस्य । अन्तिके ग्रामस्य । समीपे ग्रामस्य । “कृत्वेनृविषयस्य कर्मणीब् वक्तव्या” [वा०] अधीती व्याकरणे । अधीतमनेन व्याकरणमित्यस्मिन्नर्थे “इष्टावे” [४११२२] इतीन् । एवमाप्नाती लुन्दसि । परिगण्यती ज्योतिषि । “निमित्तात् कर्मसंबन्धो ईब् वक्तव्या” [वा०] “चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुशरम् । वेशेषु चमरी हन्ति सीम्नि पुष्कलाको हतः ॥” नेदं बहु वक्तव्यम् । ईजिति योगविभागात् सिद्धम् ।

यद्वावाङ्मावगतिः ॥१४४५॥ मावः क्रिया । ईजिति वर्तते । यस्य भावाद्वावान्तरगतिर्भवति तत्र ईव भवति । गोषु दुष्टमानासु गतः । दुग्धास्वागतः । अत्र प्रसिद्धेन गोशोहनभावेन गमनक्रिया लक्ष्यते । एवं देवाचन्यायां क्रियमाणायां गतः । कृतायामागतः । इदं बदरमानेष्वाम्रेषु गतः पद्मज्वागतः । तामर्थ्याज्जातेभ्य इति प्रतीयते । यद्वावादिति किम् ? यो जटाभिः स मुङ्क्ते । जटा द्रव्यम् । पुनर्भावग्रहणं किम् ? यो मुक्तवान् स देवदत्तः ।

ता चाऽनादरे ॥१४४६॥ अनादरोऽवशा । यद्वावाद् भावान्तरगतिर्भवति तत्र ताविभवती भवति ईप् चानादरे गम्यमाने । देवदत्तस्य क्रोशतः प्राजाजीत् । देवदत्ते क्रोशति प्राजाजीत् । रुदतः प्राजाजीत् । रुदति प्राजाजीत् । अत्रावशनेन क्रोशनेन प्रवजनभावो लक्ष्यते ।

स्वामोश्चराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥१॥४॥४७॥ स्वामिन् ईश्वर अधिपति दायाद साक्षिन् प्रतिभू प्रसूत इत्येतैर्युक्ते तेषौ विभक्त्यौ भवतः । गवां स्वामी । गोषु स्वामी । गवामीश्वरः । गोष्वीश्वरः । गवामधिपतिः । गोष्वधिपतिः । दायमादत्तं दायादः । “मे” [१॥२॥४] इति नियमादन्यास्मिन् गात्र प्राप्ते के अत एव निपातनात् कः । गवां दायादः । गोषु दायादः । गवां साक्षी । गोषु साक्षी । गवां प्रतिभूः । गोषु प्रतिभूः । गवां प्रसूतः । गोषु प्रसूतः । अकारः किमर्थः ? तेषोरनुवर्तनार्थः । अन्वया पूर्वत्र चानुकृष्टाया ईपोऽनुवृत्तिर्न स्यात् । उत्तरसूत्रयोरपि चकारस्येदमेव फलम् । प्रसूतयोगे ईवेव प्राप्ता इतरव्योमे ता प्राप्ता ।

कुशलायुक्तेन चासेवायाम् ॥१॥४॥४८॥ आसेवा मुहुर्महुः सेवा तात्पर्यं च^१ । कुशल आयुक्त इत्येताभ्यां युक्ते असेवायां गम्यमानायां तेषौ विभक्त्यौ भवतः । कुशलो विद्याग्रहणस्य । कुशलो विद्याग्रहणे । आयुक्तस्तपश्चरणस्य आयुक्तस्तपश्चरणे । आसेवायामिति किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । आकृष्य युक्त इत्यर्थः । अधिकरणलक्षणेयमीप् ।

यतश्च निर्धारणम् ॥१॥४॥४९॥ जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । यतश्च निर्धारणं ततस्तेषौ विभक्त्यौ भवतः । मनुष्याणां क्षत्रियः शूद्रतमः । मनुष्येषु क्षत्रियः शूद्रतमः । नारीणां श्यामा दर्शनीयतमा । नारीषु श्यामा दर्शनीयतमा । अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः । अध्वगेषु धावन्तः शीघ्रतमाः । प्रपञ्चार्थमिदं समुदाये अवयवोऽन्तर्भूतः । अधिकरणविवक्षायामीप् सिद्धा अवयव-सम्बन्धविवक्षायां तापि सिद्धा अत एवापादाने कापि भवति । गोभ्यः कृष्णा निर्धार्यन्ते इति ।

विभक्ते का ॥१॥४॥५०॥ यतश्च निर्धारणमिति वर्तते । भिन्नजातीयात् समुदायाद्गणादिना पृथक्करणं विभक्त्यनिर्धारणं तत्र का विभक्ती भवति । पूर्वेषु तेषोः प्राप्तयोरयमपवादः । माधुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्य-तराः । दर्शनीयतराः । अयमस्मादधिकः । अयमस्माद्विलक्षणः । इदमपि प्रपञ्चार्थम् । पाटलिपुत्रकाणामव-विभागेन बुद्धिं प्राप्तानामपादानलमस्ति ।

साधुनिपुणेनाचार्यामीवप्रतेः ॥१॥४॥५१॥ साधु निपुण इत्येताभ्यां युक्ते अर्चायां गम्यमानायामी-विभक्ती भवति प्रतिशब्दस्याप्रयोगे । मातरि साधुः । पितरि साधुः । भ्रातरि निपुणः । पितरि निपुणः । तापना-दोऽयम् । अर्चायामिति किम् ? साधुर्निपुणो वाऽमात्यो राज्ञः । अर्पतेत्येति किम् ? साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । प्रतिग्रहणमपितिसंज्ञानामभिपर्यन्तानामुपलक्षणम् । मातरमभि । मातरं परि । मातरमनु । कथमसाधुः पितरि । अनिपुणो मातरि । पूजाप्रयुक्तसाधुनिपुणप्रतिषेधोऽयम् । असमर्थस्यापि नञः सविधिरस्ति ।

प्रसितोत्सुकाभ्यां मा च ॥१॥४॥५२॥ प्रसित उत्सुक इत्येताभ्यां युक्ते भाविभक्ती भवति । ईप् च । केशैः प्रसितः । केशेषु प्रसितः । प्रसक्त इत्यर्थः । केशैरुत्सुकः । केशैरुत्सुकः । पक्षे भावार्थमिदम् । ईवधिकरण-त्वादेव सिद्धा ।

वसि मे ॥१॥४॥५३॥ ईवनुवर्तते मा च । उत्पिषये भवाचिनि मेपौ विभक्त्यौ भवतः । “भाद्युक्तः काकः” [३॥२॥४] इत्यागतस्याणः “उसमेदे” [३॥२॥५] इत्युसि कृते यदा भवाची शब्दः काले वर्तते तदा तस्माद्भा च ईप् च भवत इत्यर्थः । पुण्येण पायसमश्रीयात् । पुण्ये पायसमश्रीयात् । मघाभिः पललोदनम् । मघासु पललोदनम् । उसीति किम् ? मघासु ग्रहः । नात्र मघाशब्दः काले वर्तते । म इति किम् ? पञ्चालेषु वसति । पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः तेषां निवासः पञ्चालः । निवासार्थे आगतस्याणः “जनपद उस्” [३॥२॥६१] इत्युस् । इह कस्माच्च भवति ? अद्य पुण्यः । मिथैकार्थत्वात् । चानुकृष्टाया ईपः कथमनुवृत्तिः ? ईवधिकारे सूत्रारम्भसामर्थ्यात् । अत्रायधिकरणत्वादीप् सिद्धा पक्षे भावार्थं वचनम् । यदधिकरणस्यापि करणविवक्षा यया स्थाल्या पचति तदेदं प्रपञ्चार्थम् ।

मिडैकार्यं वा ॥१४।५४॥ मिडन्तेन पदेन एकस्यै वर्तमानान्मृदो वा विभक्ती भवति । गौश्वरति । कुमारी तिष्ठति । ओदनः पच्यते । खारी मीयते । एकः । द्वौ । बहवः । इत्यश्रोक्तेष्वप्येकत्वादेषु वा भवतीत्युक्तप्रारम्भम् । च वा ह उच्चैरित्येवमादिषु अनर्थकेषु च प्रादिषु मिडन्तेनैकार्थत्वाभावेऽपि “सुपो केः” [१।४।१२०] इति शापकाद्भवति । भावे वर्तमानेन मिडन्तेन स्वभावादन्त्येनैकार्थत्वं नास्ति । आस्यते देवदत्तेन । नन्वेकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिषु कर्मादिविशिष्टेषु वा एकत्वादेषु इवादिनां नियमात् परिशेषात् वृत्तः अन्त इत्येवमादिषु वादिषु च “कचाम्मृदः” [१।१।१] इत्यनेनैव वाक्यः सिद्धत्वादनेनैकार्थकमिदम् ? नानर्थकम् । एकद्विबहुवचनानां व्यतिकरनिवृत्त्यर्थं वाक्यास्तायाश्च विषयभेदार्थं चेदम् । विसर्जनीयो विभाषा सन्देहनिवृत्त्यर्थम् ।

सम्बोधने बोध्यम् ॥१४।५५॥ सम्बोधनमभिमुखीकरणम् । सम्बोधने वा वा तस्या बोध्यमित्येषा संज्ञा । सम्बोधनेऽपि मिडैकार्यत्वमास्त इति पूर्वेषां वाविधानम् । हे देवदत्त आगच्छ । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । हे पचन् । हे पचमान । “सम्बोधने” [२।२।१०३] इति शत्रुशानौ । बोध्यसंज्ञाप्रयोजनम् “बोध्यमसद्वत्” [२।३।२४] इत्येवमादि ।

एकः किः ॥१४।५६॥ बोध्यसंज्ञायां वाया एकवचनं कितञ्च भवति । हे कन्वे । हे वटो । किप्रदेशाः “केरेकः” [४।३।२७] इत्येवमादयः ।

ता शेषे ॥१४।५७॥ कर्मादिकारकाणां अविबद्धा कर्मादिभ्योऽन्यो वा मृदार्थातिरेकः स्वस्वामिसंज्ञादिः शेषः । ता विभक्ती भवति शेषे अर्थविशेषे । नष्ट्य शृणोति । ग्रन्थिक्त्व शृणोति । स्वस्वामिसम्बन्धसमीप-समूहविकारावयवस्थानादयस्तार्थाः । राज्ञः स्वम् । मद्राणां राजा । देवदत्तस्य समीपम् । यवानां राशिः । यवानां धानाः । देवदत्तस्य दस्तः । गोः स्थानम् । शेषग्रहणं किम् ? इवादयो नियताः कर्मादयस्त्वनियतास्तेभ्यस्ता मा भूत् ।

ज्ञोऽस्वार्थं करणे ॥१४।५८॥ स्वार्थोऽवबोधनं तत्पर्युदस्यतो जानातेरस्वार्थे वर्तमानस्य करणे ताविभक्ती भवति । सर्पिषो जानीते । पयसो जानीते । सर्पिषा करणभूतेन अवेक्षते प्रवर्तते वा इत्यर्थः । “ज्ञोऽपद्धवेः” [१।२।४०] इति द्विविधिः । करणस्य शेषत्वविबद्धायामधिकक्षायां च तैव भवति । अस्वार्थ इति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति ।

स्मर्यव्येषां कर्मणि ॥१४।५९॥ शेष इति वर्तते । स्मृ इत्यनेन समानार्थानां धूनां दय ईश इत्येतयोश्च कर्मणि शेषत्वेन विबद्ध्येते ता विभक्ती भवति । मातुः स्मरति । पितुरप्येति । सर्पिषो दयते । सर्पिष ईष्टे । कर्मणीति किम् ? मातुर्गुणैः स्मरति । शेष इत्येव । मातरं स्मरति । यद्येवं नार्थोऽनेन “ता शेषे” [१।४।२७] इत्येव सिद्धम् । तादेशे “न कि” [१।४।७२] इति प्रतिषेधोऽपि “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इत्येतस्याः प्राप्तेरनन्तरत्वात् । नापि “प्रतिपदम्” इति सविधिप्रतिषेधार्थम् । नेपं प्रतिपदविधाना ता । वृत्तिरपि दृश्यते । अर्थानुस्मरणं धर्मानुचिन्तनम् । एवं तर्हि कर्मणः शेषत्वेन विवक्षितत्वादकर्मकत्वोपपत्तेर्लज्जस्तत्तार्थाः भावे सिद्धा भवन्ति । मातुः स्मर्यते । मातुः स्मर्तव्यम् । सकर्मकविबद्धायां कर्मणि भवन्ति । माता स्मर्यते । माता स्मर्तव्या ।

प्रतियत्ने कृञः ॥१४।६०॥ करोति कर्मणि ताविभक्ती भवति प्रतियत्ने गम्यमाने । असतोऽर्थस्य प्रादुर्भावाय सतो गुणान्तराधानाय समीहा प्रतियत्नः । एधो दकस्योपस्कुरुते । कारडं गुणस्योपस्कुरुते । “गन्धनायक्षेपः” [१।२।२७] आदिना दः । प्रतियत्न इति किम् ? कर्द करोति बुद्ध्या । शेष इत्येव । एधो दकमुपस्कुरुते ।

रजर्थस्य भाववाचिनोऽज्वरिसन्ताप्योः ॥१४।६१॥ रजर्थानां धूनां भावकर्तृकाणां कर्मणि ता विभक्ती भवति ज्वरिसन्तापी वर्जयित्वा । चोरस्य रजति रोगः^१ । रजर्थस्येति किम् ? एति जीवन्तमानन्दः ।

१. रोगः । वृषकस्यामयति रोगः । रज—अ०, य०, स०

गत्यर्थोऽसौ । भाववाचिन इति किम् ? श्लेष्मा मधुराशिनं रजति । अज्वरिसन्ताप्योरिति किम् ? आचून् ज्वर्यति ज्वरः । वटादित्वात् प्रादेशः । अत्याशिनं सन्तापयति ज्वरः । शेष इत्येव । चोरं रजति रोगः ।

आशिषि नाथः ॥१४।६२॥ आशीःक्रियस्य नाथः कर्मणि ता विभक्ती भवति । सर्पियो नाथते । पयसो नाथते । सर्पिर्मे भूयात् इत्यर्थः । “आशिषि नाथः” इत्युपसंख्यानानेन द्विविधः । आशिषीति किम् ? माणवकमुपनाथति अङ्ग पुत्राभीष्वेति । शेष इत्येव । सर्पिर्नाथते ।

जासनिग्रहणनाटकाथपिषां हिंसायाम् ॥१४।६३॥ जास निग्रहण नाट काथ पिष इत्येतेषां हिंसा-क्रियाणां कर्मणि ता विभक्ती भवति । “जस ताडने” इति चौरादिकः । चोरस्योज्जासयति । वृषलस्योज्जासयति । ‘जसु मोक्षण’ इत्येतस्य दैवादिकस्याहिंसार्थत्वादग्रहणम् । जास इति कृतदीत्वोच्चारणं किम् ? प्रादेशो मा भूत् । दस्युमजीजसम् । निग्रहण इति निग्रयोः समुदितयोः स्वस्तयोर्बिपर्यस्तयोर्ग्रहणम् । चोरस्य निग्रहन्ति । चोरस्य निहन्ति । चोरस्य प्रहन्ति । चोरस्य प्रणिहन्ति । नट अवस्थन्दने सुरादिः । चोरस्योजाटयति । दीत्वोच्चारणं किम् ? दस्युमनोनटत् । “अथ क्रथ कथ हिंसार्थाः” “हेतुमति” [२।१।२४] इति शिञ् । चोरस्योत्-क्राथयति । दीत्वं हि किम् ? दस्युमांवेकथत् । घटादित्वेऽपि निपातनादुडः प्रादेशकाधनार्थं च । चोरस्य पिनष्टि । वृषलस्य पिनष्टि । हिंसायामिति किम् ? धानाः पिनष्टि । शेष इत्येव । चौरं निहन्ति । रजयत्वादेतेषामपीति चेदभावकर्तृकार्यं वचनम् । चोरस्योज्जासयति राजा ।

व्यवहृपणोः सामर्थ्ये ॥१४।६४॥ सामर्थ्यं समानार्थत्वं व्यकट् पण इत्येतयोः सामर्थ्यं स्तुतिकर्मणि ता भवति कर्षविक्रये द्यूते च सामर्थ्यम् । शतस्य व्यवहरते । सहस्रस्य व्यवहरते । सहस्रस्य पणते । आयः कस्मान्न भवति गुपादिभिः साहचर्यात् भौवादिकस्य स्तुत्यर्थस्य तत्र ग्रहणम् । इह तु तौदादिकस्यानुदात्तेतः । सामर्थ्यं इति किम् ? शलाकां व्यवहरति । गणयतीत्यर्थः । देवान् पणयति । शेष इत्येव । शतं व्यवहरति । सहस्रं पणते ।

दिवश्च ॥१४।६५॥ “व्यवहृपणोः सामर्थ्ये” [१।४।६४] इति वर्तते । दिवश्च व्यवहृपणिसमानार्थस्य कर्मणि ता भवति । शतस्य दीव्यते । सहस्रस्य दीव्यति । चकारः किमर्थः ? सामर्थ्यानुकर्षणार्थः । ननु विकारादेव सामर्थ्यग्रहणमनुवर्ततेऽन्यथा चानुवृत्त्युत्तरत्र च नानुवर्तते “वा गौ” इत्यत्र सामर्थ्यानुवृत्तिर्न स्यात्, अनुक्तसमुच्चयार्थस्तर्हि कचिदन्यस्यापि प्रयोगे यथा स्यात् । सक्तूनां पूर्णः । ओदनस्य तृप्तः । सामर्थ्यं इत्येव । साचून् दीव्यति ।

वा गौ ॥१४।६६॥ सामर्थ्यं इति वर्तते । गिपूर्वस्य दिवः कर्मणि वा ता विभक्ती भवति । शतस्य प्रदेो व्यात । शत प्रदेो व्यात । सहस्रस्य प्रदेो व्यात । सहस्र प्रदेो व्यात । “प्रदेो व्यात” इति शेषाव-क्षया तापि भविष्यति इति व्यर्थमिदम् । एवं तर्हि इदमेव शापकर्मगिपूर्वस्य शेषविकल्पा नास्ति इति । शतस्य दीव्यति । सामर्थ्यं इत्येव । शलाकां प्रतिदीव्यति ।

कालेऽधिकरणे सुजर्थे ॥१४।६७॥ कालेऽधिकरणे ता विभक्ती भवति सुजर्थे त्वे प्रयुक्ते । द्विरहोऽधीते । त्रिरहोऽधीते । पञ्चकृत्योऽहो भुङ्क्ते । “रुस्याया स्वभ्यावृत्तौ कृत्वस्” [४।२।२४] इति कृत्वत् । “द्वित्रिचतुर्थ्यः सुच्” [४।२।२५] इति सुच् । काल इति किम् ? द्विः कालपात्र्यां भुक्ते । अधिकरण इति किम् ? द्विरहो भुङ्क्ते । सुजर्थ इति किम् ? अहनि भुङ्क्ते । रात्रौ भुङ्क्ते । नन्वत्रापि द्विः त्रिवेति सुख्यो गम्यते ? प्रयुक्तग्रहणं दूरादनुवर्तते तेन गम्यमाने सुजर्थे न भवति । शेष इत्येव । द्विरह्यधीते ।

कर्तृकर्मणोः कृति ॥१४।६८॥ कृति प्रयुक्ते कर्तरि कर्मणि च ता विभक्ती भवति । अनुक्त इति वर्तते । भवत आसिका । भवतः शायिका । स्त्रीलिङ्गे भावे “पर्यायाहर्णोत्पत्तौ पुण्” [२।६।१२] इति पुण् ।

१. चोरस्य निग्रहन्ति इति ब० पुस्तके नास्ति । २. व्यवहृपणेः समा-अ० । ३. प्रतिदीव्यति ब० ।

४. इह अ० ।

यवानां लावकः । ओदनस्य भोजकः । विश्वस्य ज्ञाता । तीर्थस्य कर्ता । इतीति किम् ? ओदनं पचति । ननु “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिनाऽत्र प्रतिषेधो भविष्यति । एवं तर्हि हति मा भूत् । कृतपूर्वो कटम् । कृतं पूर्वमनेन “हन्” [४।१।१६] “पूर्वात्” [४।१।२०] “सपूर्वात्” [४।१।२१] इतीन् । पुनः कर्मग्रहणादिह शेषस्य ग्रहणं नाभिषेधव्यते ।

द्विप्राप्तौ परे ॥१।४।६६॥ पूर्वसूत्रविन्यासापेक्षया परशब्देन कर्माऽभिप्रेतम् । द्विप्राप्तौ कृति पर एव कर्माणि ता विभक्ती भवति न कर्तरि । आश्चर्यं गवां दोहोऽगोपालकन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन । द्वयोः प्राभिर्यस्मिन् कृताति व्याधकरणस्य वसत्याश्रयणाद् भिन्ने कृति नियमो न भवति । आश्चर्यमिदमतिथीनां प्रादुर्भावः ओदनस्य च नाम पाकः । “अकाकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्” [वा०] मेदिका देयदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षा जिनदत्तस्य काव्यानाम् । अकारग्रहणेन निरनुग्रहस्य “अस्त्यात्” [२।३।८४] इत्यस्यैव ग्रहणम् । “शेषे विभाषा” [वा०] अकाकारापेक्षया शेषस्य स्त्रीत्वस्य ग्रहणम् । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्य आचार्येण वा । केचिद्विशेषेणोच्छ्रुति । विचित्रं शब्दानुशासनमाचार्यस्य आचार्येण वा ।

क्रस्याधिकरणे ॥१।४।७०॥ अधिकरणे यः कृतस्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । “अधिकरणे चाद्य-पाञ्च” [२।४।६२] इति अर्थेभ्यो धिभ्यो गत्यर्थेभ्यश्च क्तो वक्ष्यते तस्य प्रयोगे “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति ता प्राप्ता “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा पुनः प्रसूयते । इदमेषामासितम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषामासितम् । इदमेषां शवितम् । इदमेषां नृतम् । इदमेषां पराकृतम् । एवमिति कर्तरि ता । अधिकरणस्य कतेनोक्तत्वादिदं शब्दादीनां भवति । “अधिकरणे च” [२।४।५६] इत्यत्र चकारेण यथा प्राप्तः समुच्चो-यते । कर्तरि-इहेमे आसिताः । भावे-इह एभिरासितम् । शेषविधत्तामिह पञ्चमासितम् । एवं सर्वत्र योज्यम् ।

भवति ॥१।४।७१॥ भवति काले विहितस्य क्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । अयमपि प्रतिषेधाप-बावः । राजां मतः । राजां बुद्धः । सतां पूजितः । “मतिबुद्धिपूजापाञ्च” [२।२।१६६] इति सम्प्रतिकाले क्तः । शेषविधत्तायां यद्यपि ता सिद्धा तथापि कर्तृविधत्तायां भावाधनार्थमिदम् । सम्प्रतिकाले चकारेण लब्धेषु शीलि-तादिषु प्रयुक्तेषु ता नेष्यते । देवदत्तेन शीलितः । कथं मयूरस्य नृत्तं छात्रस्य हसितमिह ? शेषविधत्तावेदम् । कर्तरि तु मयूरेण नृत्तम् । छात्रेण हसितम् ।

न क्ति लोकाव्यतिनाम् ॥१।४।७२॥ किं त ल उ उक्कार्यं तुन् इत्येतेषां प्रयोगे ता विभक्ती न भवति । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति तायाः प्राप्तायाः प्रतिषेधोऽयम् । क्ति-कटं कृत्वा । कटं कर्तुम् । तसंज्ञा-देवदत्तेन कृतम् । देवदत्तः कटं कृतवान् । ल-कटं कुर्वन् । कटं कुर्वन् । अनूपिमान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । कटं कारयामास । धर्मे दधिश्चतम् । “सद्विष-हवच्छिपतीनामिदं” इत्याधृत्य धाञ्कृतजनितनि-म्यो लिङ्बदिलुपसंख्यानान् शीलादिष्वर्थेषु इत्यर्थं त्यो भवति । कटं चिकीर्षुः । ओदनं वुमुत्तुः । कत्यामलकरिणुः । उक्-आगामुको वाराणसीम् । उक्प्रतिषेधे कमेप्रतिषेधः । दास्याः कामुकः । सार्यः-सुकरः कटो भवता । सुपानं पयो भवता । तृप्तिरिति प्रत्याहारः शत्रुशानावित्यत्र आरम्भ तुनो नकारेण । धान्यं पचमानः । अधीयन् जैने-त्रम् । “पूङ्गवोः शानः” [२।२।१०६] इति शानः । “धारीकः शत्रुकच्छिपि” [२।२।१०८] इति शत्रुत्वः । कर्त्ता कटान् । वदिता जनापवादान् । शीलायर्थे तृप्तिरिति तुन् । “द्विषः शत्रुर्वा वचनम्” [वा०] चोरं द्विषन् । चोरस्य द्विषन् । “द्विषोऽरौ” [२।२।१०६] इति शत्रुत्वः ।

वत्स्यत्यकस्य ॥१।४।७३॥ वत्स्यति काले विहितस्याकस्य वोगे ता विभक्ती न भवति । कटं कारको भवति । ओदनं भोजको गच्छति । “वुण्णुमौ क्रियायाम्” [२।३।८] इति वुण् । वत्स्यतीति किम् ? ओद-नस्य भोजकः । वत्स्यतीति विहितस्याकस्य ग्रहणादिह न भवति । वर्षशतस्य पूरकः । पुत्रपौत्राणां दर्शकः ।

आधमर्त्ये चेनः ॥१।४।७४॥ आधमर्त्ये वत्स्यति च काले विहितस्येनः प्रयोगे ता विभक्ती न

भवति । शतं दायी । सङ्ख्यं दायी । “आवश्यकप्रसङ्गयोर्हिम्” [२।३।१४६] इति शिन् । वत्स्यति । गमी ग्रामम् । आगामी नगरम् । “गम्यादिवत्स्यति” [२।३।१] इति वत्स्यतिकाले साधुत्वम् । आधमर्ष्ये चेन इति किम् ? आवश्यकारी कटस्य । आवश्यकेऽर्थे कालसामान्ये शिन् ।

व्यस्य वा कर्त्तरि ॥१।४।७५॥ व्यसञ्जस्य प्रयोगे कर्त्तरि वा ता विभक्ती भवति । भवतः कटः कर्त्तव्यः । भवता कटः कर्त्तव्यः । कर्त्तृकर्मणोः कृतोति ता प्राप्ता विभाष्यते । कर्त्तरीति किम् ? गेयो माणवको गायानाम् । “मन्मथेय०” [२।४।२२] आदि सूत्रे कर्त्तरि गेयशब्दो निपातित । अत्र कर्मणि नित्यं ता भवति । इह कस्मात्ता न भवति कष्टव्या ग्रामं शाखा देवदत्तेन । नेतव्या ग्राममजा देवदत्तेन । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन “द्विप्राप्तौ परे” [१।४।२६] इत्यस्यास्ताया व्यप्रयोगे प्रतिषेध एव ।

भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः ॥१।४।७६॥ वेति वर्तते । तुलोपमाशब्दाभ्यामन्यैस्तुल्यार्थैः शब्दैर्बुद्धे वा भाविभक्ती भवति । तुल्यो देवदत्तेन । तुल्यो देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । अतुलोपमाभ्यामिति किम् ? नास्ति तुला देवदत्तस्य । उपमा नास्ति सनत्कुमारस्य ।

अप् चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखद्वितार्थैः ॥१।४।७७॥ वेति वर्तते । वा अन्विभक्ती भवति-आशिषि गम्यमानायाम् । आयुषो निमित्तं संयोगः । “निमित्तं संयोगोत्पादौ” [१।४।२७] “योऽसंख्या परिभाषाशब्दादेः” [१।४।२८] शते यः । आयुष्य मद्र भद्र कुशल सुख हित इत्यवमर्थैर्बुद्धे । आयुष्यमिदमस्तु देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । चिरमस्तु जीवितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । मद्रं भवतु जिनशासनाय जिनशासनस्य वा । भद्रं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । कुशलं साधुभ्यः । कुशलं साधूनाम् । निरामयं साधुभ्यः । निरामयं साधूनाम् । सुखं साधुभ्यः । सुखं साधूनाम् । शमस्तु साधुभ्यः । शमस्तु साधूनाम् । हितं देवदत्ताय । हितं देवदत्तस्य । पथ्यं देवदत्ताय । पथ्यं देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । चकारः किमर्थः ? अर्थार्थैरपि योगे यथा स्यात् । अर्थो देवदत्ताय । अर्थो देवदत्तस्य । प्रयोजनं देवदत्ताय । प्रयोजनं देवदत्तस्य । तापक्षे वृत्तिर्न भवति अगमकत्वात् । न हि वृत्त्याऽऽशीर्गम्यते । आशिषोति किम् ? आयुष्यं देवदत्तस्य । अत्र नाप् ।

प्राणितूर्यसेनाङ्गानां द्वन्द्व एकवत् ॥१।४।७८॥ प्राणयङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्व एकवद्भवति । एकवद्भवतीति अर्थनिर्देशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता । प्राणो च पादौ च प्राणिपादम् । दन्तौष्ठम् । शिरोध्रीवम् । यदि प्राणयङ्गं प्राणिग्रहणेन गृह्यते “अप्रमाण्यजातेः” [१।४।८२] इति प्रतिषेधे प्राप्ते अथ न गृह्यते तदा “अप्राणिजातेः” इत्येव सिद्धे व्यतिकरनिवृत्त्यर्थे वचनं प्राणयङ्गानामन्येन द्वन्द्वो मा भूत् । तूर्यम्—मार्दङ्गिकाश्च पाणविकाश्च मार्दङ्गिकपाणविकम् । सेना—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च रथिकाश्वारोहम् । रथिकपादातम् । “सेनाङ्गेषु बहुल्ये” [वा०] इति तेन रथिकाश्वारोहो । इत्यश्वादिषु परत्वात् पशु विभाषा । यद्यप्यभिधानवशादिह समाहारे द्वन्द्वः, दधिपयश्चादिषु हतरेतरयोगे, तरुमृगादिषु उभयत्र, तथापि तद्विषयविभाषाशपनार्थमिदं प्रकरणम् ।

चरणानामनूक्तौ ॥१।४।७९॥ चरणं कडादिप्रोक्तोऽध्ययनविशेषः । तद्यदा पुरुषेध्वज्येतृषु वर्तते तदेह गृह्यते । अनूक्तिरनुवादः । चरणानां द्वन्द्व एकवद्भवति अनूक्तौ । स्थेणोर्लुङन्तयोः प्रयोगे चेदमिष्यते । उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौशुमम् । अनूक्ताविति किम् ? उदगुः कठकालापाः । प्रथमोपदेशोऽयम् । कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः । प्रोक्तार्थं “शौनकादिभ्यश्छन्दसि शिन्” [१।३।७७] इति शिन् । तस्य “कठचरणा (का कुप्)” इत्युप् । अध्येतृविषयत्वात् : “उप् प्रोक्तात्” [१।२।२४] इत्युप् । कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः । प्रोक्तार्थं “कलापिनोऽण्” । टिक्म् । परत्वात् : “उप्प्रोक्तात्” [१।२।२४] इत्युप् । “छन्दो माहायानि चात्रैव” [३।२।२६] इत्यध्येतृविषयता ।

अन्वयुक्ततुरजम् ॥१।४।८०॥ अध्वर्यमिच्छन्ति अध्वर्यवो यजुर्वेदविदः । अतएव निपातनात् क्यव्य-

कारस्य सप्तम् । क्यञन्तस्य उक्ष त्यः । अध्वर्युकनुरनपुंसकलिङ्गो द्वन्द्वमेकवद्भवति । येषां कनूनां यजुर्वेदशाखासु लक्षणं प्रयोगश्च शिष्यते प्राधान्येन तेषामध्वर्युकनूनामनपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवद्भवति इत्यर्थः । अर्कश्च अश्वमेधश्च अर्काश्वमेधम् । सायाहातिरात्रम् । पौण्डरीकातिरात्रम् । अध्वर्युकनुरिति किम् ? पञ्चौदनदशीदनाः । हपुवत्रौ । उद्भिद्वलमिदौ । एते सामवेदविहिताः । अनात्रिति किम् ? राजसूयं च वाणपेयं च राजसूयवाणपेये । इह कस्मात्तत्र भवति दर्शपौर्णमासी । दधिपयआदिषु वृष्टयः ।

अधीत्याऽदूराख्यानाम् ॥१॥४८२॥ आख्या नामधेयम् । अधीत्या निमित्तभूतया अदूराख्यानां द्वन्द्व एकवद्भवति । पदमधीते पदकः । क्रममधीते क्रमकः । पदकक्रमकम् । क्रमकवार्तिकम् । पदाध्ययनस्यासन्नं क्रमाध्ययनम् । अधीत्येति किम् ? आह्यदर्शद्वौ । अदूराख्यानामिति किम् । वार्तिकवैयाकरणौ । यशमधीते वार्तिकः ।

अप्राणिजातेः ॥१॥४८२॥ अप्राणिजातिवार्तिनां द्वन्द्व एकवद्भवति । आगरान्ध्र । धानाशधुर्ल । युगवरत्रम् । अप्राणिग्रहणं किम् ? गौपालिशालङ्कायनाः । गोत्रं चरणं सहेति जातिः । जातिरिति किम् ? हिमवद्विन्ध्यौ । नन्दकपाञ्चजन्यौ । संज्ञाशब्दा एते । नवसदृशसम्प्रत्ययहेतुः । तेन द्रव्यजातीनामेकवद्भावादिह न भवति । रूपरसगन्धस्पर्शाः । गमनागमने । जातेरविधक्षायां न भवति । यदरामलकानि तिष्ठन्ति ।

भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम् ॥१॥४८३॥ भिन्नलिङ्गानां नदीदेशवार्तिनामग्रामाणामपुराणां द्वन्द्व एकवद्भवति । नदी-उद्धयश्चरावती च उद्धवेरावति । विषाट्चक्रभिदम् । गङ्गाशोणम् । देशाः-कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम् । दार्वाश्च अभिसारं च दार्वाभिसारम् । कर्णाम्बुमिधरम् । भिन्नलिङ्ग इति किम् ? गङ्गायमुने । मन्त्रकेकया । नदीदेश इति किम् ? कुवकुटमयूर्यौ । अग्राम इति किम् ? जाम्बवश्च शालूकिनी च जायवश्चालूकिन्यौ । ननु नद्यापि देश इति पृथगग्रहणं किमर्थम् ? शापकार्थं जनपदो देशोऽभिप्रतो न नदीपर्वतादिः । तेनेह नैकवद्भावः । कैलासश्च गन्धमादनं च कैलासगन्धमादने । अपुरमिति किम् ? लोके ग्रामग्रहणेन पुरमपि रक्ष्यते ततोऽपुरमिति प्रतिषेधः । मथुरापाटलिपुत्रम् । अग्राम इति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेन यत्र पुरग्रामयोर्द्वन्द्वस्त्वपि नैकत्वम् । नासौयकैतवो पुरग्रामौ ।

क्षुद्रजीवाः ॥१॥४८४॥ इहाल्पशरीरः क्षुद्रः । क्षुद्रजीवानां द्वन्द्व एकवद्भवति । क्षुद्रजीवाश्वयो द्वन्द्व उपचारात् क्षुद्रजीवा इति निर्देशः । यूकालिङ्गम् । शतस्वश्च उत्पादकाश्च शतयूगपदकम् । दंशमशकम् ।

“क्षुद्रजीवा अकङ्काला येषां स्वं नास्ति शोणितम् । नाजलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ॥”

केचित् शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । क्षुद्रजीवा इति बहुवचननिर्देशात् द्वित्वविषये नैकमिति यूकालिङ्गौ । दंशमशकौ ।

येषाञ्च द्वेयः शाश्वतिकः ॥१॥४८५॥ द्वेयोऽपीति । येषां च द्वेयः शाश्वतिकस्तद्वार्तिनां द्वन्द्व एकवद्भवति । शाश्वतः शाश्वतिकः । “कालाट्टज्” [१।२।१३१] इति टञ् । निपातनादिकादेशः । “केर्ममात्रे दिखम्” इति खं च न भवति । अहिनकुलम् । श्ववराहम् । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । शाश्वतिक इति किम् ? गौपालिशालङ्कायनाः । केनचिन्निमित्तेन कलहायन्ते । चकारोऽवधारणार्थः । अयमेव नित्य एकवद्भावो यथा स्यात् पञ्चादिविभाषा भा भूत् । अश्वमहिषम् । काफोलूकम् ।

१. पा० महाभाष्ये-“क्षुद्रजन्तुरनस्थिः स्यादथ वा क्षुद्र गुह्यः । नाजलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ।” २/४८५ । २. श्ववराहम् अ० ।

वर्णेनाहर्द्रूपायोग्यानाम् ॥१॥४॥८६॥ वर्णेनाहर्द्रूपस्वायोग्यास्तैषां द्वन्द्व एकवद्भवति । येन रूपे-
णाहर्न्त्यमवाप्यते, तदिह नैर्घन्त्यमहर्द्रूपमभिप्रेतम् । अतिशयोपेतस्याहर्द्रूपस्य प्रातिहार्यसमन्वितस्य बहुत-
रमवाप्यमिति नेह तद् गृह्यते । तत्तायस्कारम् । कुलालवदम् । रजकतन्तुवायम् । नन्वेतेष्वप्येकवद्भावः
प्राप्नोति । चण्डालमृतपाः । न दधिपयआदिष्वन्तर्भूतो द्वन्द्वो द्रष्टव्यः । वर्णेनेति किम् ? मूकवधिराः । एते
करणदोषेणायोग्याः । अहर्द्रूपायोग्यानामिति किम् ? ब्राह्मणक्षत्रियौ ।

गवाश्वादीनि च ॥१॥४॥८७॥ गवाश्वादीनि च गणपाठे द्वन्द्वरूपाणि च एकवद्भवन्ति । गवा-
श्चम् । गवैडकम् । गवाविकम् । अजाविकम् । पशुविभाषा प्राप्ता । कुब्जवामनम् । कुब्जकैराकतम् । पुत्र-
पौत्रम् । श्वचाण्डालम् । अद्वेपे-खीकुमारम् । दासीमाणवकम् । शाटीपिच्छिकम् । इदं जाल्यविवक्षायां ।
उष्ट्रखरम् । उष्ट्रशशम् । पशु विभाषा प्राप्ता । मूत्रशकृत् । मूत्रपुरीषम् । यकृन्मेदः । मांसशोणितम् । इमानि
जाल्यविवक्षायां । दर्मशम् । दर्ममूलीकम् । अर्जुनपुरुषम् । तृणोपलम् । एतेषां तृणविकल्पः प्रातः ।
दासीदासम् । कुधीकुटम् । मागवतोमागवतम् । एषां सरूपाणां लिङ्गमात्रकृतविशेषाणां निपातनाद् द्वन्द्वः ।
चकारोऽवधारणार्थः । गवाश्वादीनि पठितान्वेधैकवद्भवन्ति नान्यथा । गोऽश्वौ । गोऽश्वम् ।

वा तरुमृगतृणधान्यव्यञ्जनपरवश्ववडवपूर्वापराधरोत्तरपक्षिणः ॥१॥४॥८८॥ तदभृग-तृण-
धान्यव्यञ्जनपशुप्रेयोऽनसावेनामश्न-वडन-पूर्वापर-अधरोत्तर इत्येषां पक्षिविशेषाणां च द्वन्द्वो वा एकवद्भवति ।
प्लक्षन्त्यग्रोधम् । प्लक्षन्त्यग्रोधाः । आरण्या मृगाः । रुद्रपृषतम् । रुद्रपृषताः । कुशकाशम् । कुशकाशाः ।
म्रीहियवम् । म्रीहेववाः । दधिघृतम् । दधिघृते । ग्राम्याः पशवः । वृष्णिस्तभम् । वृष्णिस्तभाः । अश्ववडवम् ।
अश्ववडवौ । पर्यायनिवृत्त्यर्थं च अश्ववडवग्रहणम् । पूर्वापरम् । पूर्वापरे । अधरोत्तरम् । अधरोत्तरे । तित्ति-
रिकापिच्छलम् । तित्तिरिकापिच्छलाः । अत्रेष्टिः । “सेनाङ्गफलक्षुद्रजीवतरुमृगतृणधान्यपक्षिण्य प्रकृत्यर्थबहुत्वे
एकवद्भावः” [वा०] तेन रथकाश्वारोहौ । चदरामलके । इदमेव ज्ञापकम् “अग्राणिजातेः” [१॥४॥८२] इत्यत्र
न बहुवचनान्त एव विग्रहोऽभिप्रेतः । मूकालिङ्गे । प्लक्षन्त्यग्रोधौ । रुद्रपृषतौ । कुशकाशौ । म्रीहियवौ ।
हंसचक्रवाकौ । वेति योगविभागोऽयम् । द्वन्द्वमात्रे कृतो भवेत् । पूर्वो विधितु नित्यार्थः तुल्यज्ञात्यर्थ उत्तरः ।
शह मा भूत्—प्लक्षयवाः । हंसपृषताः ।

विरोधि चानाश्रये ॥१॥४॥८९॥ वेति वर्तते । आश्रयो द्वयं विरोधो येषामस्ति तद्वाचिनामनाश्रया-
भिधायिनां द्वन्द्व एकवद् भवति । विरोधीत्यामः खे कृते सौत्रो निर्देशः । सुखदुःखम् । सुखदुःखे । जननमर-
णम् । जननमरणे । शीतोष्णम् । शीतोष्णे । विरोधीति किम् ? कामक्रोधौ । अनाश्रय इति किम् ? सुखदुःखौ
आमौ । शीतोष्णे उदके । चकारादविरोधेऽपि । बधूवरम् । बधूवरौ । स्थावरजङ्गमम् । स्थावरजङ्गमे ।

न दधिपयआदीनि ॥१॥४॥९०॥ दधिपयआदीनि द्वन्द्वरूपाणि नैकवद्भवन्ति । येन केनचित्
प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । दधिपयसी । सर्पर्मधुनी । मधुसर्पिणी । व्यञ्जनत्वात् प्राप्तिः । ब्रह्मप्रजापती । शिववैश्र-
वण्यौ । स्कन्दविशाखौ । परित्राजकक्रौशिकौ । प्रवर्ग्योपसदौ । वेतिप्राप्तिः । शुक्लकृष्णौ । इध्मावर्हिणी ।
निपातनात् पूर्वस्य दीप्तम् । योगानुवके । दीक्षातपसी । श्रद्धातपसी । अध्ययनतपसी । उलूखलामूसले ।
आद्यावसाने । श्रद्धानेधे । श्रद्धास्वामे । वाङ्मनसे । वेति योगविभागात् प्राप्तिः । चण्डालमृतपादवध ।

अर्थैतावत्त्वे च ॥१॥४॥९१॥ एतावत्त्वमित्यत्र । वृत्त्यवयवार्थानामेतावत्त्वे च द्वन्द्वो नैकवद्भवति ।
द्वादश मे मार्दङ्गिकपाणविकः । चकारः प्रतिषेधानुकर्यणार्थः ।

वा समीपे ॥१॥४॥९२॥ नेति निवृत्तम् । अर्थानामेतावत्त्वस्य समीपे वा द्वन्द्व एकवद्भवति । उपदशं
दन्तोष्ठम् । उपदशा दन्तोष्ठाः । एकवद्भावपक्षे हसोऽनुप्रयुज्यते अन्यत्र वसः । हसे “अनः” [४॥२॥११०]
इति अः सान्तः । वसे तु डः ।

स जप् ॥१॥४॥६३॥ यस्यायमुक्त एकवद्भावः स नम्भवति । तथा चैवोदाहृतम् । समाहारे रसो नप् भवतीति वक्तव्यम् । पञ्चाग्निः । पञ्चवायुः । अकारान्तप्रकरणं “रात्” [३॥१॥२५] इति ङीविधानं शापकम् । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रियां वर्तते इति । पञ्चपूली । पण्यगरी । “वावन्त इति षक्रयम्” [४॥०] पञ्चखट्वी । पञ्चखट्वम् । “स्त्रीगोर्नीचः” [१॥१॥८] इति प्रादेशः । “अन्तस्य नखं स्त्रियां वा वृत्तिः” [४॥०] पञ्चतत्तम् । पञ्चतत्ती । “पात्रान्निभ्यश्च प्रतिषेधः” [४॥०] पञ्चपञ्चम् । षिभ्यन्तम् । चतुर्गम् । पञ्चगवम् । दशगवम् । “गोरहृदुषि” [३॥२॥६४] इति टः सान्तः ।

हृश्च ॥१॥४॥६४॥ हसंश्च नम्भवति । अधिलि । उन्मत्तगङ्गम् । द्विमुनीदम् । “प्रो नपि” [१॥१॥७] इति प्रादेशार्थमनुप्रयोगार्थं च वचनम् । पूर्वपदार्थप्रधानस्यालिङ्गत्वं प्राप्तम् । अन्यवार्थभेदयत्तिङ्गं प्राप्तम् । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन क्रियाविशेषणानां नपुंसकत्वं सिद्धम् । शोभनं पचति ।

षोऽनग्रयः ॥१॥४॥६५॥ नञ्सं यसञ्च वर्जयित्वा नम्भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । ष इति पुंलिङ्गेन निर्देशः सौत्रः । वाच्यप्रकरणादन्यत्र कामचारी वा वक्ष्यति । सेनासुराब्ध्यावाशालानिशा वेति । क्षत्रियसेना । क्षत्रियसेनम् । ष इति किम् ? महीती सेनाऽस्य महासेनः । अनजिति किम् ? असेना । अय इति किम् ? परमसेना ।

सौ कन्योशीनरेषु ॥१॥४॥६६॥ खुविषये कन्यान्तः पसो नम्भवति उशीनरेषु चेत् सा कन्या । सौसमीनां कन्या सौसमिकन्थम् । आह्वरकन्थम् । आसमिकन्थम् । चर्मकन्थम् । एते उशीनरेषु भ्रमाः । विग्रहवाक्यं सादृश्यमात्रेण । खाविति किम् ? वीर्यकन्था । उशीनरेष्विति किम् ? दक्षिकन्था । अन्यत्र भ्रामसञ्ज्ञेयम् ।

उपज्ञापकम् तदाद्युक्ती ॥१॥४॥६७॥ उपज्ञायत इति उपज्ञा उपदेशः । उपक्रम्यत इति उपक्रमः प्रारम्भः । उपज्ञोपक्रम इत्येवमन्तः पसो नम्भवति तथोपज्ञापक्रमयोराद्युक्तौ गम्यमानाधाम् । स्वायम्भुवस्योपज्ञा स्वायम्भुवोपज्ञाकालिकाचाराध्ययनम् । द्वापयसमनकशेषव्याकरणम् । कुरुसजस्योपक्रमः कुरुसजोपक्रमं दानम् । अकम्पनपक्रमं स्वयंवरविधानम् । उपज्ञापक्रममिति किम् ? आदिद्वतपस्या तीव्रा । तदाद्युक्ताविति किम् ? देवदत्तोपज्ञा । देवदत्तोपक्रमो गणितम् । उत्तरपदस्य प्राधान्यवर्तिङ्गम् । ष इत्येव । सभ्यगुपक्षो भगवान् स्वायम्भुवो यस्येदमाकालिकाचाराध्ययनम् । वाक्येन तदाद्युक्ती गम्यमानाधामदं प्रत्युदाहरणम् ।

छाया बहुनाम् ॥१॥४॥६८॥ बहुनां या छाया तदन्तः पसो नम्भवति । इदूणां छाया इच्छुच्छायम् । सलभच्छायम् । बहुनामिति किम् ? कुड्यत्वं छाया कुड्यच्छायम् । कुड्यच्छाया । “सेनासुरा” [१॥४॥१०१] इत्यादिना विकल्पः । ष इत्येव । बहुवश्छाया अस्मिन्बहुच्छायो वनखण्डः ।

सभाऽराजामनुष्यात् ॥१॥४॥६९॥ अराजः अमनुष्याच्च परा या सभा तदन्तः पसो नप् भवति । अराजः । इनस्य सभा इनसभम् । ईश्वरसभम् । इन्द्रसभम् । पार्थिवसभम् । राजशब्दपर्युदासात् तदर्थो-याणामत्र ग्रहणं न विशेषाणाम् । तेनेह न भवति । सातवाहनसभा । चन्द्रगुप्तसभा । अमनुष्यात्-रक्षसां सभा रक्षःसभम् । पिशाचसभम् । अमनुष्यशब्दस्य च रक्षःशब्दात्तत्त्वेव रुद्धत्वादिह न भवति । काष्ठसभा । पाषाणसभा । पक्षेष्टकासभा । यथेवं “उगमनुष्ये” [२॥२॥२०] इत्यत्र कथम् । जायान्तिस्तिलकः । पित्तघ्नं घृतम् । “युद्ध्या बहुलम्” [२॥३॥६४] इति बहुलवचनात्तत्रान्यस्यापि ग्रहणम् । “अराजामनुष्यात्” इति किम् ? राजसभा । देवदत्तसभा । ष इत्येव । ईश्वरा सभाऽस्य ईश्वरसभः ।

अशाला ॥१॥४॥१००॥ अशाला च या सभा तदन्तः पसो नम्भवति । गोपालसभम् । दासीसभम् । स्त्रीसभम् । अत्र समुदाये सभाशब्दः । अशालेति किम् ? देशिकसभा ।

सेनासुरच्छायाशालानिशा वा ॥१४१०१॥ सेना सुर छाया शाला निशा इत्येवमन्तः पो वा नन्भवति । देवानां सेना देवसेनम् । देवसेना । पिष्टसुरम् । पिष्टसुरा । कुड्यच्छायम् । कुड्यच्छाया । गोशालम् । गोशाला । श्वनिशम् । श्वनिशा । चोरनिशम् । चौरनिशा । प इत्येव । सूरसेनो राजा । अनव्य इत्येव । असेना । परमसेना ।

द्वन्द्वे ध्रुवलिङ्गम् ॥१४१०२॥ द्वन्द्वे सेयोरिव लिङ्गं भवति । इतरेतरयोगद्वन्द्वस्येह ग्रहणम् । तत्र सर्वेषामवयवानां प्राधान्यात् पर्यायेण समुदायलिङ्गे प्राप्ते वचनम् । कुक्कुटमयूराविमे रमणीये । मयूरी-कुक्कुटाविमौ । यथा “दृश्च” [१४१०३] इति नपुंसकलिङ्गातिदेशः संघातस्य भवति न चावयवस्य निवर्तकः । अधिस्त्रि । अधिकुमारीति । एवामद्यापि समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थं क्रियमाणो नावयवस्य स्त्रीत्यस्य निवर्तकः । वसस्य ध्रुवलिङ्गातिदेशो न वक्तव्यः । विशेष्यलिङ्गवचनानि भवन्ति विशेषणानामित्यनेन सिद्धत्वात् । द्युवर्धस्य तु विशेष्यत्वात् प्राधान्यम् । अर्द्धपिप्पली । अर्द्धकौशातकी शोभना । यत्र पूर्वपदार्थः प्रधानं तत्र पूर्ववलिङ्गमेव । यथा “ग्राहापन्माहूर्ध्वतिसकक्षगेषु” । ग्राहो जीविकां प्रातर्जीविकः । आपन्नजीविकः । अस्तं जीविकायै अलङ्गीविकः । “निरादयः क्रान्ताद्यर्थे कया” [वा०] निष्क्रान्ता कौशाभ्या निष्कौशाभिः । हृदये रसस्य अन्वपदार्थप्राधान्यादभिधेयवलिङ्गम् । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडासः ।

अश्ववडवौ पूर्ववत् ॥१४१०३॥ अश्ववडवोरितरेतरयोगे पूर्ववलिङ्गं भवति । अश्वश्च वडवा च अश्ववडवौ । समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थं पूर्ववलिङ्गनिवृत्तिर्नास्तीत्युक्तम् । कथं दाधौ निवृत्तिः । अश्ववडव इति निपातनात् । पूर्ववदिति किमयम् ? अर्थातिदेशार्थम् । अश्ववडवावित्युच्यमाने वचनान्तरे न स्यात् । अश्ववडवान् पश्य । अश्ववडवैः कृतम् ।

रात्राह्नौ पुंसि ॥१४१०४॥ रात्राह्नशब्दौ कृतसन्तौ निर्दिष्टौ एतौ पुंसि भवतः । द्वयो रव्योः समाहारः त्रिरात्रः । “अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः” [४२।८६] इत्यः सन्तः । पूर्वमहः पूर्वाह्नः । अपराह्नः । “पूर्वापरप्रथम” [१३।५३] इत्यादिना वसः । “रात्राहःसस्त्रिभ्यष्टः” [४।१।६३] इति टे कृते “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।१०] इत्याहदेशः । उत्तरपदप्राधान्यात् स्त्रीनपुंसके प्राप्ते ।

अहः ॥१४१०५॥ अह इत्ययं शब्दः पुंसि भवति । द्वयोर्हो समाहारः द्वयहः । त्रयहः । “न समाहारे” [४।२।११] इत्याहदेशप्रतिषेधः । टिलम् । “अनुवाकादयश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] अनुवाकः । सम्प्रवाकः । सूक्तवाकः ।

पुण्यसुदिनाभ्यां तप् ॥१४१०६॥ पुण्यसुदिनाभ्यां परः अहशब्दो नन्भवति । पुण्यमहः पुण्याहम् । पुण्यग्रहणं सूत्र उपलब्धम् । एकाहमिति च भवति । विशेषणसंविधिः । “पुण्यैकाभ्याम्” [४।२।१२] इति अहदेशप्रतिषेधः । सुदिनमहः सुदिनाहम् ।

अपथम् ॥१४१०७॥ अपथं शब्दो नन्भवति । न पन्थाः अपथम् । “पथो वा” [४।२।१८] इति प्रतिषेध विकल्पः । “अक्पूर्वभू पथोऽनश्चे” [४।२।७०] इति असान्तः । ष इत्येव । न विद्यते पन्था असिन् अरयो देशः । अपथा अटवी । “क्रिसंज्ञादेरिति वक्तव्यम्” [वा०] उत्पथम् । “तिङ्प्रपादयः” [१।३।८१] इति वसः । त्रिपथञ्चतुःपथमिति तासः ।

पुंसि चाधर्चाः ॥१४१०८॥ अधर्चादयः शब्दाः पुंसि नपि च वेदितव्याः । अधर्चं च तत् शृक् च सार्द्धर्चः । अर्द्धर्चम् । गोमयकषावकार्पापयुक्तपकवाटशङ्खादिपाठादवगमः कर्तव्यः ।

“शब्दरूपाश्रया चेयं प्रणीतोभयान्निङ्गता । कर्वाचदप्यर्थभेदेन शब्देषु व्यवतिष्ठते ॥”

पञ्चशब्दशब्दौ निधिवचनौ पुल्लिङ्गौ । जलजे द्विलिङ्गौ । भूतशब्दः प्राणिनि द्विलिङ्गः । क्रियाशब्दस्याभिधेयवलिङ्गम् । सैन्धवशब्दो लवणे द्विलिङ्गोऽन्यत्राभिधेयवलिङ्गः । सारशब्दोऽन्याव्येऽर्थे नपुंसकलिङ्गः । उत्कर्षेऽर्थे पुल्लिङ्गः । धर्मशब्दोऽपूर्वे पुल्लिङ्गः । तत्साधने नपुंसकलिङ्गः ।

अगे ॥१॥४॥१०६॥ अगे इत्ययमधिकारो वक्ष्यते । “हनो वध किञ्चि” [१॥४॥११४] इति । वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । “अतः क्षम्” [४॥४॥५०] इत्यकारस्य खम् । अग इति किम् ? हन्यात् । अग इति विपर्ययनिर्देशः । आदेशो कृते यो यतः प्राप्नोति स ततो यथा स्यादित्येवमर्थः । आख्ये-
यम् । भव्यम् । प्रवेयम् । परनिर्देशो हि ययः प्रसज्येत ।

लिकित्येऽदो जग्धिः ॥१॥४॥११०॥ तकारादौ किति प्ये चागे परतोऽदेर्जग्धिरादेशो भवति । जग्धा । जग्धिः । जग्धवान् । इकार उच्चारणार्थः । “तथोर्भोऽधः” [१॥४॥५६] इति तकारस्य घत्वम् । “भृक्षो जश् भृक्षि” [५॥४॥११८] इति धकारस्य दत्वम् । “भृक्षो भृक्षि स्वे” [१॥४॥१३६] इति दस्त्वम् । कथमन्नम् ? “अदोऽनग्ने” [१॥२॥६०] इति निपातनात् । प्ये—प्रजग्ध्य । “अनल्लुविधौ” [१॥१॥२९] इति स्थानिवद्भावो नास्ति । इदमेव शापकम् “एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गानपि जग्ध्यादिविधौ बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते” [५०] तेन प्रधायेत्यत्र द्वित्वं न भवति । प्रखन्येति “जनसनसनाम्” [४॥४॥४३] इति नित्यमात्वं न भवति । प्रदायेति “दो ददुभोः” [५॥२॥१४८] इति दत्त्वं नास्ति । प्रस्थयेति “यतिस्थसि-
मास्था” [१॥२॥१४४] इत्यादिनेत्वं नास्ति । प्रशाम्येति “क्षस्य किञ्छोः” [४॥४॥१३] इति दीत्वं नास्ति । प्रपृच्छ्य प्रदीव्येति शूठौ न भवतः । प्रपठ्येति इडभावः ।

घस्त्व लुङ्घञ्सनसु ॥१॥४॥१११॥ अदेर्वस्त्व इत्ययमादेशो भवति लुङि वधि सनि अचि च परतः । लुङि—अघसत् । अघसताम् । अघसन् । वधि—घासः । सनि । विघत्सति । अजिति पञ्चाश्वः [२॥१॥१०६] “गाश्वः” [२॥१॥१३] इत्यस्य च सामान्येन ग्रहणम् । प्राप्तिः प्रादनं वा प्रधसः ।

लिटि वा ॥१॥४॥११२॥ लिटि परतः अदेर्वस्त्वादेशो भवति वा । जघास । जघत्तुः । अलुः । आद । आदतुः । आदुः ।

वेजो वयिः ॥१॥४॥११३॥ वेजो वयिरादेशो लिटि वा भवति । इकार उच्चारणार्थः । उवाय । ऊयतुः । ऊयुः । गलि “चस्यैषा लिटि” [४॥३॥१३] इति वकारस्य जिः । “लिटि वेजो यः” [४॥३॥३२] इति यकारस्य जिप्रतिषेधे “इक्षोऽभादेः” [५॥२॥१६१] इति खम् । अतुसि उसि च “वचिस्वपियजादीर्णा किञ्चि” [४॥३॥११] इति जिः प्राप्तः । “प्ये च” [४॥३॥३४] इति प्रतिषिद्धिः । “यो वा किति” [४॥३॥३३] इति विभाषया प्राप्तः । “अहिज्यावयि” [४॥३॥१२] इति नित्यो विभ्रवति । यदा न वयिस्तदा “प्ये च” [४॥३॥३४] इति जिप्रतिषेधे—ववौ । द्विवहोः “यो वा किति” [४॥३॥३३] इति जिपदे—ऊयतुः । ऊयुः । जौ कृते द्वित्वे च “वाय्वाङ्गायं वकीयः” [५०] इति उवादेशो कृते “स्वेऽको” [४॥३॥८८] दीत्वम् । अजिपदे—ववतुः । वयुः ।

हनो वध लिङि ॥१॥४॥११४॥ हन्तेर्वध इत्ययमादेशो भवति लिङ्यगे परतः । वध इत्यदन्तः उदात्तश्चादेशः । वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । अखस्य स्थानिवद्भावादवधीरित्यत्र इलन्तलङ्घणः “अतोऽनादेर्धेः” [१॥१॥८३] इत्यैप् न भवति । इह वेति न स्मर्यते । वधक इति प्रकृत्यन्तरस्य ।

लुङि ॥१॥४॥११५॥ लुङि परतो हन्तेर्वध इत्ययमादेशो भवति । अवधीत् । अवधिष्टाम् । अवधिषुः । उत्तरत्र वानिर्देशादिह नित्यो विधिः ।

वेङ्कि ॥१॥४॥११६॥ इङि लुङि परतो हन्तेर्वधादेशो वा भवति । आवधिष्ट । आवधिषाताम् । आवधिषत । आहत । आहसाताम् । आहसत । “आको यमहनः” [१॥२॥२३] इति दविधिः । “हनः सिः” [१॥१॥८८] इति सेः कित्वम् । कर्मणि—अवधि । अवधिषाताम् । अवधिषत । विवद्भावे अघानि । अघानिषाताम् । अघानिषत ।

लुङ् येत्योर्गाः ॥११४११७॥ लुङि परतः एत्योर्गा इत्ययमादेशो भवति । अगात् । अगाताम् । अगुः । अध्यगात् । अध्यगाताम् । अध्यगुः । “स्थेष्पिब” [११४११७] इत्यादिना “इण्वधिकः” इति च सेरुप् । “आतः” [२१४१६०] इति मेरुप् । पुनर्लुङ्ग्रहणमित्यपि नित्यार्थम् । अगायि भवता । अध्यगायि भवता । गात्रमिति गायते ।

णौ गमज्ज्ञाने ॥११४११८॥ णौ परत एत्योर्गमित्ययमादेशो भवत्यज्ञानेऽर्थे । गमयति । गमयतः । गमयन्ति । अनेकार्थत्वादिकोऽप्यज्ञाने वृत्तिः । अधिगमयति । अधिगमयतः । अधिगमयन्ति । “उङोऽतः” [५१२१४] इत्यैप् । “जनीजुषक्मसुरज्जोऽमन्ताश्च” इति मित्वम् । “जिगमोर्दीर्घिताम्” [११४१८६] “जः” [११४१८७] इति प्रादेशः । अज्ञान इति किम् । अर्थान् संप्रत्याययति ।

सनि ॥११४११९॥ सनि च परत एत्योर्ज्ञानेऽर्थे गमित्ययमादेशो भवति । जिगमिषति । अधिजिगमिषति । “गमेरिप्मे” [५१११०६] इतीद् । अज्ञान इत्येव । अर्थान् प्रतीषिषति । अच इति वर्तमाने “सन्त्यङोः” [११११८] इति द्वितीयस्यैकचो द्वित्वम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

इङ् ॥११४१२०॥ सनि परत इङो गमित्ययमादेशो भवति । अधिजिगांस्ते । इङिकावधिगि न व्यभिचरतः । “हनिङ्गम्यचो सनि” [११४११७] इति दीत्वम् ।

गाङ् लिटि ॥११४१२१॥ इङो गाङित्ययमादेशो भवति लिटि परतः । अधिङो । अधिङगाते । अधिङगिरे । “स्तेष्पिब” [२१४१७४] इति शापकादादेशस्य ङित्त्वे गाङो ङित्कारणं किमर्थम् । “गाङ्कुटा-देरङ्गिण्डित्” [११११७५] इत्यत्र विशेषणार्थः । गायतेग्रहणं मा भूत् । अगासीद्वाचकः इति ईत्वं प्रसज्येत ।

लुङ्लुङोर्वा ॥११४१२२॥ लुङ्लुङोः परत इङो वा गाङादेशो भवति । लुङि-अध्यगीष्ट । अध्यगीषाताम् । अध्यगीषत । “गाङ् कुटादेः” [११११७५] इति ङित्वं “मुमत्स्थागा” [११४१६५] इत्यादि-नेत्वम् । पदे अध्यष्ट । अध्यषाताम् । अध्यषत । लुङि-अध्यगीष्यत । अध्यगीष्येताम् । अध्यगीष्यन्त । पदे अध्यष्यत । अध्यष्येताम् । अध्यष्यन्त ।

णौ सन्कचोः ॥११४१२३॥ णौ सन्परे कन्परे च परतः इङो वा गाङादेशो भवति । अध्यापयितु-मिच्छति अधिजिगापयिषति । “प्रकृष्ट्यापवादविषयं तत् वरसर्गोऽभिनिविशते” [५०] इति गाङादेशपदे “स्त्रीङ्जेर्वा” [११११७१] इत्यात्वं न भवति । अन्यत्र अध्यापिपयिषति । “अचः” [११११२] इति द्वितीयस्यैकचो द्वित्वम् । कन्परे-अध्यजीगपत् । अन्यत्र अध्यापिपत् । माङ्योगे - मा भवानध्यापिपदिति भवति । “णौ कच्युङः” [११२११५] इति प्रादेशे कृते द्वित्वम् । कथं ज्ञायते ? ओणतेः श्रुदित्कारणं शापकं यदि द्वित्वं प्राप्तेव स्यात् ओण उकारस्यानुङ्भूतत्वात् प्रादेशप्रतिषेधार्थं श्रुदित्कारणमनर्थकं स्यात् ।

अस्तिब्रूओर्भूवच्ची ॥११४१२४॥ अस्तिब्रूजित्येतयोर्थासंख्यं भूवचि इत्येतावादेशो भवतः । भविता । भवितुम् । भवितव्यम् । अस्तीति तिपा निर्देशः किमर्थः ? यस्य केवलस्य अस्तीति रूपं तस्य यथा स्यात् अनुप्रयोगस्य लिट्परस्य मा भूत् । ईशमास । ब्रू - वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । वचैरिकार उच्चार-णार्थः । स्थानिवद्भावाद् । ऊचे ।

चक्षः खशाञ् ॥११४१२५॥ चक्षः खशाजित्ययमादेशो भवति अगे । आख्याता । आख्याता । “खशाःखो यो वा” [११४११७] इति वा यकारादेशः । पर्याख्यानमित्यत्र यकारादेशस्यासिद्धत्वात् शप्कारेण व्यभिहितत्वात् “कृत्वचः” [५१४१०८] इति शतृत्वं न भवति । स्थानिवद्भावेन “कनुदाक्षेतो वः” [११२१६] इति नित्यं दो मा भूत् इति जित् क्रियते ।

न वर्जने ॥१४॥१२६॥ वर्जनेऽर्थे चक्षः खशाजदेशो न भवति । गां संचक्ष । वर्ज्यत्वेत्यर्थः ।
कण्टकाः संचक्षः । नेति योगविभागादसि युचि च प्रतिषेधः । नृचक्षाः राक्षसः । विचक्ष्णः ।

वा क्षिति ॥१४॥१२७॥ क्षिति परतो वा चक्षः खशाजदेशो भवति । आचक्ष्यौ । आचक्ष्ये ।
आचक्ष्ते । पूर्वेण नित्ये प्राप्तेऽयमास्मभः ।

व्यजोऽवजचोः ॥१४॥१२८॥ अजेषोः वी इत्ययमादेशो भवति अवजचोः परतः । अनुदासोऽ
यमादेशः । प्रवेता । प्रवात्यकः । अवजचोरिति किम् ? समाजः । उदाजः । समजः । उदबः । “पशुध्वजः
समुदोः” [२।३।५६] इति पशुविषयेऽच् । अन्यत्र घञ् । अजिति सामान्यग्रहणं तेन पचादिलक्षणेऽप्यचि
प्रतिषेधः । अजतीत्यजः ।

बहुलं खौ ॥१४॥१२९॥ खुविषये बहुलमजेषीभावः । प्रवयणो दयद्वः (प्राजनः ।) बहुलमद्वया-
धुनलादौ च विकल्पः । प्रवेता । प्राविता । प्रवेतुम् । प्रावितुम् । प्रवयणम् । प्राजनम् । अक्षिरमित्यौ-
णादिकः शब्दः । समञ्चा । “समजनिषत्” [२।३।८१] इत्यादिना क्यप् । अत्र बहुलवचनान्न भवत्येव ।

जिण्यराजार्थाद्यन्युवणिजोः ॥१४॥१३०॥ भिदन्तात् एयन्तात् राजविशेषकाच्चिद्वदात् शृष्यण-
न्ताच्च पर्योरणिजोः धूनि उच् भवति । जितः-तिकस्यापत्यं वृद्धं तैकायनिः । तैकायनेरपत्यं प्राग्दोरण उपि-
तैकायनिः पिता तैकायनिः पुत्रः । विदस्यापत्यं वैदः । वैदस्यापत्यं युवा इज उपि वैदः पिता वैदः पुत्रः । एयः ।
कुरोरपत्यं कौरव्यः । “कुर्वादेश्यः” [३।१।१३६] इति एयः । कौरव्यस्यापत्यं इज उपि कौरव्यः पुत्रोऽपि ।
इहोन्वचनसामर्थ्यात् कौरव्यशब्दादिज् । तिकादौ पाठात् भिजपि भवति । कौरव्यावणिरिति । राजः स्वफलकस्या-
पत्यं स्वफलकः । “कुर्व्व्यन्धकृष्योः” [३।१।१०३] इत्यण् । तदन्तादिज उपि स्वाफलकः पिता । स्वाफलकः
पुत्रः । एवं कलिङ्गस्यापत्यं कालिङ्गः । “इध्वज्मगावकलिङ्गसूरमसादय” [३।१।१५२] इत्यण् । तदन्तादिज
उपि कालिङ्गो युवाऽपि । इह पाञ्चालः पिता पाञ्चालः पुत्रः इति । “जितः” इति वा “राजः” इति वा उप् ।
आर्षात् । वशिष्ठस्यापत्यं “कुर्व्व्यन्धकृष्योः” [३।१।१०३] इत्यण् । वशिष्ठः । तदन्तादिज उपि वशिष्ठः
पुत्रोऽपि । जिण्यराजार्थादिति किम् ? कुहडस्यापत्यं कौहडः । “क्षिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यण् ।
सस्याप्यपत्यं कौहडिः । धूनीति किम् ? वामरथस्यापत्यं वामरथ्यः । “कुर्वादेश्यः” [३।१।१३६] । तस्य
शिष्या वामरथाः । वामरथ्यस्य “शकलादिवत्” इत्यतिदेशात् “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८०] इति
शैविङोऽण् “क्यन्धना” [४।४।१४१] इत्यादिना यस्त्वम् । अणिजोरिति किम् ? दक्षस्यापत्यं दाक्षिः ।
दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः ।

पैलादेः ॥१४॥१३१॥ पैलादेः परस्य युक्त्यस्योच् भवति । पीलाया अपत्यं पैलः । “पीलावा वा”
[३।१।१०७] इत्यण् । पैलस्यापत्यं “द्वयचोऽणः” [३।१।१४३] इति फिज् । तस्योप् । पैलः पुत्रोऽपि ।
अन्य इवन्तास्तेभ्यः परस्य फणः “प्राचामिजोऽतौत्वलिभ्यः” [१।४।१३२] इति प्राप्ते उपि अप्रागर्थमिदम् ।
पैलः । सालङ्घिः । सात्यकिः पिता । सात्यकिः पुत्रः । सात्यकामिः । औदञ्जिः । बाह्यादिषु उदञ्जुशब्दः सनकारः
पठ्यते । औदमञ्जिः । औदमजिः । औदमेचिः । औदशुद्धिः । देवस्थानिः । पैङ्गलायनिः । राणायनिः ।
रौहन्तिः । भौलिङ्गिः । राजाऽयं शाहवाक्यवः । सौमिनिः । औद्वाहमानिः । औज्जिहानिः । औज्ज्हा-
यिनिः । त्रिसंज्ञाचाणः परस्य युक्त्यस्योप् । आङ्गः । “द्वयचोऽणः” इति फिज् । तस्योप् । आकृतिगणोऽ
यम् । तेन वीविबावलिऔदम्बरि एतेभ्यः साल्वावयवत्वादिज् । भाडीप्रल्विः इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

प्राचामिजोऽतौत्वलिभ्यः ॥१४॥१३२॥ प्राचां वृद्धे य इज् तदन्ताद्युक्त्यस्योच् भवति तौत्वलि-
प्रभृतीन् वर्जयित्वा । पाजागारिः पिता । पाजागारिः पुत्रः । मान्धरेषणिः पिता । मान्धरेषणिः पुत्रः ।

क्षैरकलम्भिः पिता । क्षैरकलम्भिः पुत्रः । “यजिजोः” [३।१।६०] इत्यस्य कण उप् । प्राचाभिति किम् । दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः । अतौल्वलिम्भ इति किम् । तौल्वलिः पिता । तौल्वलायनः पुत्रः । तौल्वलिः । धारणिः । स्वातिमिः । दैलीपिः । दैवतिः । दैवमिनिः । दैवमतिः । दैवयशिः । प्राडाहनिः । मोघातकिः । आनुराहतिः । बाह्यादिरयम् । आनुतिः । आहिंसिः । आसुरिः । नैमपिः । आसिन्वकिः । वैद्विपौषिः । पौष्करसादिः । अयं बाह्यादौ वैरकिः । वैलकिः (वैल्वकिः) । वैदतिः । वैकणिः । कारैरुपालिः ।

प्रेर्वहुषु तेनैवास्त्रियात् ॥१।४।१३३॥ त्रिसञ्ज्ञकस्य तस्य बहुषु वर्तमानस्य उच् भवति तेनैव त्रिसञ्ज्ञकेन कृतं बहुत्वं भवति अस्त्रियाम् । आङ्गः । आङ्गौ । अङ्गाः । ऐद्वाकः । ऐद्वाकौ । इद्वाकवः । अणः । अणश्च द्विरित्यधिकारेण त्रिसञ्ज्ञा स्वार्थिकनामपि “ते द्वयः” [४।२।६] इति त्रिसञ्ज्ञा । लौहस्वज्यः । लौहस्वज्यौ । लौहस्वजाः । त्रैहिमत्यः । त्रैहिमत्यौ । त्रैहिमताः । “पूगाज्योऽग्रामणीपूर्वात् [४।२।१] इति ज्यः । द्वन्द्वेऽपि सामान्येन त्रिसञ्ज्ञा कृते बहुत्वे भवति अङ्गवङ्गसुद्धाः । द्वेरिति किम् । औपगवाः । बहुष्विति किम् । आङ्गः । आङ्गौ । तेनैवेति किम् । प्रियो वाङ्ग एयामिति प्रियवाङ्गाः । अत्र इत्या बहुत्वं गम्यते । अतोऽनुवर्तमानानामन्येषां च द्वन्द्वे तेनैव कृतं न बहुत्वमित्युम्न भवति । गार्ग्यवात्स्यौपगवाः । शपकावुवायत्र भवतीति केचित् । गर्गवत्सोपगवाः । किं शपकमिति चेत् “सरहृष्टुनकदर्भाद् शृगुवत्सामायणेषु” [३।१।६१] इति वचनम् । मार्गवत्सयाप्रायणेष्विति निर्देशः स्यात् । उभययोऽपि सधुः प्रयोगः । अस्त्रियामिति किम् । आङ्गयः वाङ्गयः स्त्रियः ।

यस्कादिभ्यो वुद्धे ॥१।४।१३४॥ यस्क इत्येवमादिभ्यः परस्य वृद्धत्यस्य बहुषु वर्तमानस्योच् भवति अस्त्रियां तेनैव चेत् कृतं बहुत्वम् । उभयगतिरिह शास्त्रे लौकिकमपि वृद्धं गृह्यते तेनानन्तरापत्येऽप्युच् भवति । यास्कः । यास्कौ । यस्काः । “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यागतस्याण उप् । यस्क लुङ् द्रुङ् अयस्थूण तृणकर्ण भलन्दन एतेषां शिवादिषु पाठः । कम्बलहार बहिर्योग कर्णाटक पर्णाटक सदाभक्त पिण्डीबङ्ग वक्त्रवथ स्तोमुख सङ्कारथ उत्कास कटुक मन्थक पुष्करसत् । अस्य “न गोपवनादेः” [१।४।३१८] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । विषपुट उपरिमेखल पदक भटक भडिल भण्डिल एतेभ्यः “अरवादेः कञ्” [३।१।१६] इति कञ् । कुट्रि अबवस्ति विभि भिन्नयु एतेभ्यः “गृच्छादेः” [३।१।१२४] इति ढष् । वृद्ध इति किम् । यस्को देवता एषां यास्काः । बहुष्वित्येव । यास्कौ । तेनैव चेत्येव । प्रिययास्काः । अस्त्रियामित्येव । यास्क्यः ।

यजजोः ॥१।४।१३५॥ यजश्च अजश्च वृद्धे बहुषु वर्तमानस्योच् भवति तेनैव चेद्बहुत्वमस्त्रियाम् । गर्गाः । कसाः । अजः । विदाः । ऊर्वाः । “विवादिभ्योऽनृचानभ्ययञ्” [३।१।६३] इति अज् । बहुष्वित्येष । गार्ग्यः । वैदः । तेनैवेत्येव । प्रियगार्ग्याः । वृत्त्याऽत्र बहुत्वं गम्यते । यत्र वृत्त्यैकत्वं गम्यते यत्र बहुत्वं तथापि भवति । गर्गानतिक्रान्तः अतिगर्गः । अस्त्रियामित्येव । गार्ग्यः स्त्रियः । “यजः” [३।१।१८] इति डीविधिः । “यस्य ह-यञ्” [४।४।१३६] इति खम् । “इलो हलो कयाम्” [४।४।१४०] इति ककारस्य खम् । “यजादीनामेकवद्वित्वयोर्वा तासे इति वक्तव्यम्” [अ०] गार्ग्यस्य कुलं गार्ग्यकुलम् । गर्गकुलम् । गार्ग्ययोः कुलं गार्ग्यकुलम् । गर्गकुलम् । वैदस्य कुलं वैदकुलम् । विदकुलम् । वैदयोः कुलं वैदकुलम् । विदकुलम् । न वक्तव्यं यदा यजादयो न भूयन्ते तदा मूलप्रकृतेस्तासः निवृत्तविषयत्वात् शब्दानां तत उभयं सिध्यति ।

भृग्वधिकुस्तवशिष्टगौतमाङ्गिरोभ्यः ॥१।४।१३६॥ वृद्ध इति वर्तते । भृग्वदिभ्यः परस्य वृद्ध-
त्यस्य बहुषु भवति । भार्गवः । भार्गवौ । भृगवः । आग्नेयः । आग्नेयौ । अत्रयः । एवं कुत्साः वशिष्ठाः गौतमाः

अङ्गिरसः । अत्रिशब्दात् “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति दृष्टम् । अन्येभ्य ऋष्यश् । बहुष्वित्येव । भार्गवः । आङ्गिरसः । तेनैवेत्येव प्रियभार्गवाः । अस्त्रियामित्येव । भार्गव्यः स्त्रियः । वृद्ध इत्येव । भृगुर्देवता एवामिति भार्गवाः ।

इओ बह्वचः प्राच्यभरतेषु ॥१।४।१३७॥ बह्वचो मृदो य इज् तस्य प्राच्यभरतेषु वृद्धे बहुभू-
वति । प्राजागारिः । पाजागारी । पत्रागारः । एवं मान्थरेषणिः । मान्थरेषणी । मन्थरेषणाः । बह्वच इति
किम् ? पौष्ययः । प्राच्यभरतेष्विति किम् ? वाङ्माकयः । हास्तिदासयः । ननु भरतः प्राच्य एव तेषां पृथग्ग्रहणं
किमर्थम् ? ज्ञापकार्यमन्यत्र प्राच्यग्रहणे भरतग्रहणं न भवतीति । तेन “प्राचामिजोऽतौस्वलिभ्यः” [१।४।१३२]
इति अत्र भरतानां युवत्यस्योभ्य भवति । यौधिष्ठिरिः पिता यौधिष्ठिराण्यः पुत्रः । ननु युधिष्ठिरादिभ्य इमे व
नास्ति “कुर्वन्धकृद्वृजोः” [३।१।१०३] इत्यणा भवितव्यम् । इह तर्हि उभन भवति औदालकिः
पिता औदालकायनः पुत्रः । अत्र “प्राचामिजोऽतौस्वलिभ्यः” इति युवत्यस्योभ्यस्येति । एतद्वि
प्राच्यभरतगोत्रम् ।

न गोपवनादेः ॥१।४।१३८॥ विदालान्तर्गणो गोपवनादिः । गोपवन इत्येवमादेः परस्य वृद्धत्यस्योभ्य
न भवति । गोपवनस्यापत्यानि गोपवनाः । “यजजोः” [१।४।१३५] इत्युप्रासः । गोपवन शिशुविन्दु भाजन
अश्वावतान श्यामक श्यामक श्यापर्ण एते गोपवनादयः । प्राच्यरितशब्दात् परत उन्भवति । हरिताः ।
किंदायाः । तौल्वलिप्रभृतयोऽत्र पञ्चन्त इति केचित् । तौल्वलायः । अनन्तरेण उप्रासः ।

वोपकादिभ्यः ॥१।४।१३९॥ उपक इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य वृद्धत्यस्य वा बहुभूभवति । उपकस्या-
पत्यानि उपकाः । औपकायनाः । लमकाः । लामकायनाः । एतौ नडादी । अपकाः । अपकयः । कपिष्ठलाः ।
कपिष्ठलयः । कृष्णाजिनाः । काष्ण्याजिनयः । कृष्णसुन्दराः । काष्ण्यासुन्दरयः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनै-
वामद्वन्द्वे विकल्पः । परिशिष्टानां द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च । सुपिष्ठ मधुरकर्ण कर्णक पर्णक पिङ्गलक अटिलक अधिरक
एतेषां शिवादिषु पाठः । अनुलोमप्रतिलोम एतौ बाह्यादी । वटारक आडारक अभुक्तक [अवन्धक] उदक
सुपर्चक सुवर्चक सुवर्मक खरीजङ्घ शलाजङ्घ शलायल पतञ्जल कमन्दक कण्ठेरणि कुशीतक काशकृत्स्न
निदाश कलशीकष्ट दामकण्ठ कृष्णपिङ्गल जनुक अविरग्ध कपिञ्जलक प्रतान अनभिहित ।

तिक्कितवादिभ्यो द्वन्द्वे ॥१।४।१४०॥ वेति नानुवर्तते । कर्तिकितव इत्येवमादिभ्यो द्वन्द्वे वृद्धस्य
बहुभू भवति । तैकायनवश्च कैतवायनयश्च तिक्कितवाः । तिक्कदिलक्ष्यस्य फिज उप् । वाङ्मलयश्च भाण्णी-
रथयश्च इत्र उपि वङ्मलमण्डोरयाः । पाटकयश्च नारकयश्च पटकरकाः । वाकनखयश्च आगुदपरिणद्धयश्च
वकनखश्चगुदपरिणद्धाः । औन्जयश्च काकुमाश्च ककुमशब्दः शिवादिषु विदालेषु वास्ति उन्वककुमाः ।
लाङ्गयश्च शान्तमुखयश्च लङ्गशान्तमुखाः । उरसशब्दस्तिकादौ । औरसायनयश्च लाङ्गयश्च उरसलङ्गयः ।
अग्निवेशशब्दो गर्गादौ । अग्निवेशश्च दाशेरकयश्च अग्निवेशदाशेरकाः । औपकायनाश्च लामकायनाश्च
कण्ठ उपि उपकस्तमकाः । अपकयश्च कपिष्ठलयश्च अपककपिष्ठलाः । काष्ण्याजिनयश्च काष्ण्यासुन्दरयश्च
कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः ।

कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती ॥१।४।१४१॥ कौण्डिन्य आगस्त्य इत्येतयोर्वृद्धत्यस्य बहुभू
भवति कुण्डिन अगस्ति इत्येतौ चादशौ यथासङ्ख्यं भवतः । अगस्त्यशब्दात् ऋष्यश् । कुण्डिमस्यास्तीति
कुण्डिनी नाम काचित् गर्गादौ पाठ्यते । कौण्डिन्यः । कौण्डिन्यौ । कुण्डिनाः । आगस्त्यः । आगस्त्यौ । अग-
स्तयः । यद्यपि “यजजोः” [१।४।१३५] इति यज उप् सिद्धस्तथापि कुण्डिनशब्दोऽकारान्त आदेशो विधीयमानो
बाधकः स्यादिति पुनर्वचनम् । अगस्तीनां छात्रा आगस्तीया इत्यत्र अगस्तिरादेशो भवति । प्राच्यवैविषये
“वृद्धेऽन्यनुप्” [३।१।०३] इति अनुपि सति “वोरङ्गः” [३।२।१०] इति छः सिद्धः । कौण्डिन्यशब्दा-
च्छस्य बाधकः “शकलादिभ्यो षुद्धे” [३।२।५७] इति अण् भवति । कौण्डिनाङ्गनाः ।

सुपो धुमृदोः ॥१४१४२॥ धुमृदोरन्तस्यावयवस्य सुप उन्भवति । पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रीयति । पटीयति । मृदः—यज्ञः पुरुषः यज्ञपुरुषः । धर्मे श्रितो धर्मश्रितः । “पदन्ता धवः” [१११२६] इति धुमृ-
शयां “कृदृष्टाः” [१११६] मृत्संज्ञायां च सुप उप् । एवं तस्मात्ततः । तस्मिन् तत्र । धुमृदोरिति किम् ।
वृद्धः । अत्र “कृदृष्टाः” इति नियमात् विभक्त्या मृत्संज्ञा नास्ति ।

शपोऽदादिभ्यः ॥१४१४३॥ अदादिभ्यो धुम्यः परस्य शप उन्भवति । अति । हन्ति । दोग्धि ।

यङोऽचि ॥१४१४४॥ यङ उन्भवति अचि परतः । लोलूय पोपूय मरीमृज्य इत्येतेभ्यः पचायचि
लोलुक् । पोपुवः मरीमृजः । “न धुल्लेजो” [११११८] इति एवैपोः प्रतिषेधः । “यङो वा” [५११६२]
इत्यत्र वक्ष्यस्थविशेषेण यङ उन् भवति । तेन वावदीति इत्येवमादि सिध्यति ।

घञ्जुहोत्यादिभ्यः ॥१४१४५॥ शप इति वर्तते । जुहोत्यादिभ्यः परस्य शप उन्भवति ।
जुहोति । नेनेहि । विभर्ति । उचिति वर्तमाने उद्ग्रहणं द्वित्वाद्यर्थम् ।

स्थेणिवभुभूभ्यः सेमै ॥१४१४६॥ स्था इण् पिव भुसंज्ञक भू इत्येवमादिभ्यः परस्य से-
उन्भवति मे परतः । अस्थात् । अस्थाताम् । अस्थुः । “आतः” [२१४१६०] इति मेलुँस् । अगात् । इ इणिति
प्रश्लेषनिर्देशात् इकोऽपि ग्रहणम् । अध्यगात् । अपात् । पिव इति विकृतनिर्देशात् शोषणार्थस्य निवृत्तिः ।
प्रतिपदोक्तपरिभाषा चानित्या । तेन “भामादाग्रहणेऽत्रविशेषः” [५०] इतीदं लब्धम् । भु इति संज्ञा-
निर्देशः “दाधा भवपित्” [१११२७] इति । अदात् । अदाताम् । अदुः । सु इति भवतेरस्यादेशस्य च
ग्रहणम् । अभूत् । “सुभवत्योसिङि” [५१२८६] इत्येवमितिषेधः । म इति किम् । उपास्थिषाताम् । उपा-
स्थिषत । “उपान्मन्त्रकरणे” [११२१२०] “वेः” [११२१२१] हाते द्विविधः । “मुस्थोरिः” [११११११]
इत्याकारस्येत्वं सेः क्लृप्तम् ।

वा घ्राघेद्छाशासः ॥१४१४७॥ घ्रा घेद् छा शा सा इत्येतेभ्यः परस्य सेर्वा उन्भवति मे परतः ।
अघ्रात् । अनुप् पक्षे “यमरमनमातः सकृ च [५१११३२] इति सगितौ भवतः । “हृत्थस्तेः” [५१२१३३]
इतीद् । “हृदीडः” [४१४१२०] इति सेः खम् । अघ्रात् । अघ्रासीत् । अघात् । अघासीत् । अदधत् ।
अच्छात् । अच्छासीत् । न्यशात् । न्यशासीत् । असात् । असासीत् । घेरो भुसंज्ञत्वात् पूर्वेषु प्राप्ते
इतरेषामप्राप्ते विकल्पः । म इत्येव । अघ्रासाताम् । अघ्रासत । “सुसुधुओ मे” [२१११३१] इत्यधिकारपदे
सगितौ न भवतः ।

तनादिभ्यस्तथासोः ॥१४१४८॥ तनादिभ्य उत्तरस्य सेर्वा उन्भवति तथासोः परतः । थासा
सहचरितो दसंज्ञस्तो यव्यते । अतत । अतनिष्ठ । उपपक्षे “अनुदाचोपदेश” [४१४३७] इत्यादिना क्तम् ।
अतथाः । अतनिष्ठाः । षण् । असात । असनिष्ठ । उपपक्षे “जमसनकनाम्” [४१४४३] इत्यात्मम् ।
असाथाः । असनिष्ठाः ।

आमः ॥१४१४९॥ आम उत्तरस्य संभवात्कारस्योद्भवति । ईहांचके । ईक्षाचके । लकारस्य
कृत्वात् मृत्वे सति स्वाद्युत्पत्तिः । “सुपो केः” [१४११५०] इति सुप उप् । आमन्तस्य पदसंज्ञा । “वा
पदास्तस्य” [२१४१३३] इत्येतत् प्रयोजनम् ।

सुपो केः ॥१४१५०॥ भित्तंशदुत्तरस्य सुप उन्भवति । च वा अह कृत्वा कर्तुम् । इदमेव शप-
कम् । असंख्यादपि सुपो भवन्ति । यदि वा “कर्मणीप्” [१४१२] इत्येवमादिषु अर्थनियमपदे विभक्तीनाम-
नियतत्वात् भित्तंशेभ्योऽप्युत्पत्तिः ।

हात् ॥१४१५१॥ हसादुत्तरस्य सुप उन्भवति । अधिस्त्रि । अधिकुमारि । इसस्य भित्तंश नास्ती-
त्युक्तं तेनायमारम्भः ।

नातोऽम् त्वकायाः ॥१४१५२॥ हसस्य संख्यायोगात् कर्मादियोगाच्च सर्वासां विभक्तीनां सम्भवः ।

हादकारान्तात् परस्य सुप उभन भवति । अमादेशस्तु भवति सुपः कां विभक्तौ वर्जयित्वा । उपकुम्भं तिष्ठति । उपकुम्भं पश्य । उपकुम्भं देहि । अत इति किम् ? उपाग्नि । अकाया इति किम् । उपकुम्भादानय ।

ईचमयोर्विभाषा ॥११४॥१५३॥ ईप् भा इत्येतयोर्विभाषा अमादेशो भवति । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भेन कृतम् । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भाभ्यां कृतम् । उपकुम्भं निधेहि । उपकुम्भे निधेहि । ध्ववस्थितविभाषेयम् । तेन आदिनदीसंख्यावयवेभ्यो नित्यममादेशः । अद्भौ । सुमद्रं कृतम् । सुमगधं कृतम् । नदीसे—“नदीभिश्च” [११३।१७] इति हसः । उन्मत्तगजम् । द्वियमुनम् । संख्यावयवः—“संख्या वंशयेन” [११३।१६] इति हसः । द्विकौशलम् । त्रिकौशलम् । एकविंशति भारद्वाजम् ।

लुटोऽन्यस्य ङारौहसः ॥११४।१५४॥ लुटोऽन्यसंज्ञस्य त्रिकस्य ङा रौ रस् इत्येते आदेशा भवन्ति । अर्थद्वारकमत्र यथासंख्यम् । ओता । ओतारौ । ओतारः । अध्येता । अध्येतारौ । अध्येतारः । ङा इत्यन्तादेशः । ङा आ इति प्रश्लेषनिर्देशाद्वाङ्मनेकात् सर्वादेशः । इत्यभस्यापि द्वित्करणसामर्थ्याद्विलम्बम् । रौरसोः परतः “रि” [५।२।१५३] इति सखम् ।

इत्यभयनन्दिमुनिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

अध्यायश्च समाप्तः ।

द्वितीयोऽध्यायः

त्यः ॥२।१।१॥ अधिकारेण संज्ञेयमा कपः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः अपूर्वं शब्दोपजननं प्रकृतिवारिविशेषणविकारागमवर्जं यत् त्यसंज्ञं तद् वेदितव्यम् । प्रकृतिगुणादिः । वाक् “कर्मण्यण्” [२।१।१] इत्येवमादावीपा निर्दिष्टम् । विशेषणं “इतिनाथयोः पशौ ङुजः” [२।१।३०] इत्येवमादौ पश्वादि । विकारः सतो भावान्तरावाप्तिः । “ङुहो घश्च” [२।१।६] इत्येवमादिषु मकारादिः । आगमः परतन्त्रः । “अपुञ्जतुनोः पुक्” [३।३।१०६] इत्येवमादिः । युक्तिरुच्यते निर्मिति कार्यस्य निर्मित्तिस्येति प्रकृतिवागुपाधीनामग्रहणम् । अथवा भाव्यमानविभक्तौनिर्दिष्टं सजादि प्रधानं भूतविभक्तौनिर्दिष्टं प्रकृत्याद्यप्रधानं प्रधाने च कार्यसम्प्रत्ययः । विकारागमयोस्तु “परः” [२।१।२] इत्यनेन निरासः; नहि तयोः परत्वसम्भवः । वक्ष्यति तद्व्यानीयौ । कर्तव्यः । करणीयः । प्रतीयन्ति तेनार्थमिति प्रत्ययः । “पुंस्त्रौघः प्रायेण” [२।३।१००] इति घः । एवं यद्यन्वर्था संज्ञा क्रियेत तदा प्रकृतेः सविभक्तिकस्य वा पदस्य त्यसंज्ञा स्यात् । त्यप्रदेशाः “यस्ये सदादि गुः” [१।२।१०२] इत्येवमादयः ।

परः ॥२।१।२॥ परिभाषेयं नियमार्थः । पर एव भवति धोमृदो वा यस्यसंज्ञः । कर्तव्यः । करणीयः । औपगवः । धोरित्येवमादौ दिव्योगलक्षणकानिर्देशेऽपि पूर्वशब्दस्याध्याहारः स्यादिति परत्वं न लभ्यते “ईच्छेत्यभ्यवाये पूर्वपरयोः” [१।१।६०] इत्यत्र यदि कार्यं परमुच्यते तत्तानिर्दिष्टस्येति । न च सनादयस्तानिर्दिष्टाः । अथासतः प्रादुर्भावः पर उच्यते एवं सति नियमार्थमिदं त्यपरैव प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवला ।

गुत्तिज्किङ्भ्यः सन् ॥२।१।३॥ त्य इति वर्तते । गुप् तिङ् कित् इत्येतेभ्यः परः सन् भवति । जुगुप्सते । तित्तिक्षते । चिकित्सति । धुसंशब्दनेनाविधानात् अगसंज्ञा नास्ति । तेन^२ नेङागमः । “निन्दाङ्गमारो-गापनयेषु यथाक्रमं सम्निष्यते” [वा०] । गोपननिशाननिवासादिषु न भवति । गोपनं गोपायति । तेज्जनं तेजयति । निकेतनं निकेतयति । भुवादेषु पाठः किमर्थः ? “अस्त्यान्” [२।३।८७] इत्यकारो यथा स्यात्^३ ।

१. भिद्विर-अ०, ब०, ख० । २.-स्तीति ने-अ० । ३. जुगुप्स तितिक्ष चिकित्सेत्यादीनां भवतिषु घृणक् पाठाकरणात् अस्त्यादित्यर्थमित्याशयः कथञ्चिदुन्नेयः ।

शुश्रूषा । तितिक्षा । चिकित्सा । सनोऽकारोपदेशः प्रतीषिषतीत्यादौ अवगार्थः ।

“एकदेशकृतं छिद्रं समुदायविशेषणम् । अनुदात्तेष्वमाद्याभ्यां तेनार्थं दो विधीयते ।”

मान्यधदानशान्भ्यो दीश्चस्य ॥२।१।४॥ मान् वध दान शान् इत्येतेभ्यः सन् भवति दीश्च चस्ये-
कारस्य । मीमांसते । जीभस्यते । दीदांसते । शीशांसति । शीशांसते । आद्यावनुदात्तेतौ । परौ स्वरितेतौ ।
“चविकारेष्वपवादा उरसर्गाच्च बाधन्ते” [प०] इति कृतैकारस्य चस्य दीत्वम् । अत्रापि “विज्ञासावैरूप्याजव-
निशानेषु अथाक्रमं सन्निध्यते” [वा०] । पूजावधनावलण्डनतेजनेषु न भवति । मानयति । बाधयति । दानयति ।
निशानयति । दान उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषा । तदवलोकनादयं विभागः ।

तुमीच्छायां धोर्योप् ॥२।१।५॥ इच्छायां तुमि यो धुस्तस्मात् सन् वा भवति तुमश्चोन्भवति यदा
सन् । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति । बुभुक्षते । अथ “हीच्छायां तुम् विहितः । हेतुफलयोरित्यधिकृत्य “इच्छार्थे
छिद्रलोदौ” [२।१।११३] “तुमेककर्तृके” [२।३।१३४] इति वचनात् । इहापि सामान्यविशेषभावेन हेतुफल-
भावोऽस्ति । एषितुमिच्छति एषिषिषति । तुमिति किम् ? इच्छायामित्युच्यमाने इच्छार्थानामिषिवाच्छायादीनां
ग्रहणं स्यात् । तुमग्रहणे सति इच्छायामित्येतत्तुमो विशेषणम् । इच्छायामुपलक्षिते तुमोति । तेन यत्र तुमो
निमित्तं हेतुफलभावो नास्ति तत्र न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । मित्रकर्तृकत्वे च न भवति । इच्छति
देवदत्तः कटं कुर्याज्जिनदत्तः । यत्र तुम् नास्ति तत्र च न भवति । इच्छायामिति किम् ? कर्तुं गच्छति । अत्र
“तुम्यतुमौ क्रियादौ तद्वर्थायाम्” [२।३।८] इति तुम् । धोरिति किम् ? प्रकर्तुमैच्छत् प्राचिकीर्षत् । ठगेत्य-
त्तिर्मा भूत् । अगसंज्ञार्थं च धुग्रहणम् । धाग्रहणाद्व्यक्यस्यापि साधुत्वम् । इहोपचारात् सिद्धम् । पिपतिषतीव
पिपतिषति कूलम् । मुमूर्षतीव मुमूर्षति श्वा । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेच्छासन्नतात् सन्न भवति । चिकी-
र्षितुमिच्छति । अनिच्छासन्नताद्भवति । जुजुगुप्सिषते ।

“संस्वार्थोच्चैषिकाच्चापि मत्वर्थः शैषिकस्तथा । सरूपस्यविधिर्नेष्टः सन्नन्तास्र सनिष्यते ॥”

स्वेपः क्यच् ॥२।१।६॥ स्वस्य यदिबन्तं तस्मादिच्छायां वा क्यञ् भवति । आत्मनः पुत्रमिच्छति
पुत्रीयति । पटीयति । ककारो “गः क्ये” [१।२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः । चकारः सामान्यग्रहणाविचा-
तार्थः । तेन “एकानुबन्धग्रहणे न द्वयानुबन्धकस्य” [प०] इत्ययं विधातो नास्ति । स्वग्रहणं किम् ? पुत्रमिच्छति
नक्षत्रचारी मरणमिच्छति दुर्जनः । अत्र परस्येति गम्यते । इन्निति किम् ? पुत्र इच्छति । पुत्राय इच्छति ।
वाक्यात् कस्मान्न भवति । महान्तं पुत्रमिच्छति वाक्यस्यानिबन्तत्वात् । अथवा दसामर्थ्यान्न भवति । कर्मोक्त-
मत्र क्यच्चा तेन कर्तरि भावे च प्रयोगः । पुत्रीयति । पुत्रीयते अनेन । वेत्यनुवृत्तेर्भिन्नन्तेभ्यो न भवति ।
उच्चैरिच्छति । इदमिच्छति । किमिच्छति ।

काम्यः ॥२।१।७॥ स्वस्य यदिबन्तं तस्माद्वा काम्यो भवतीच्छायाम् । पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रकाम्यति ।
पटकाम्यति । ककारस्य प्रयोगार्हत्वादित्संज्ञा नास्ति । योगविभागादुत्तरत्र क्यच् एवानुवृत्तिर्न काम्यस्य ।

गौणादाचारे ॥२।१।८॥ गौणममुख्यमाचरणक्रियात्रासुपमानमित्यर्थः । गौणादिबन्तादाचारेऽर्थे वा
क्यञ् भवति । पुत्रमित्राचरति पुत्रीयति छात्रम् । प्रावारीयति कम्बलम् । व्यवस्थितविभाषात्रिकारादीप्यपि
भवति । प्रासादीयति कुट्ये ।

कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा ॥२।१।९॥ कर्तुं गौणादाचारेऽर्थे वा क्यङ् भवति यद्यन्ते सकार-
स्तस्य च खं विभाषया । इह कर्तुं ग्रहणादिभ्यः सम्भवति सुबन्तात् क्यङ् । श्येन इव छाचरति काकः श्येना-
यते । कुमुदं पुष्करायते । व्यवस्थितविभाषेयम् । “सोजोऽध्वरसोर्निष्यं एयसस्तु विभाषया सखम्” [वा०] ।

१. यदीच्छा—अ० । २. पा० भाष्ये—“शैषिकान्तुबर्ध्याच्छैषिको मतुबर्धिकः । सरूपः प्रत्ययो
नेष्टः सन्नन्तास्र सनिष्यते ॥” इत्येवंकपः ।

ओजस्वीवाचरति ओजायते । वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यङोक्तः । अप्सरायते । मथितं पयायते पयस्यते । अस्-
क्षपत्ते 'नः क्ये' [१।२।१०४] इति निबन्धात् पदत्वाभावे रित्वादिविधिर्न भवति । कर्तुरिति स्त्रोतापेक्षया
तथा विपरिणाम्यते तैनात्यस्य खम् । इह न भवति । सरसायते । 'आचारे सर्वसृष्ट्यः किंवा मयतीत्येके'
[वा०] अश्च इवाचरति अश्चति । अश्चायते ।

भृशवेश्चवौ हलौ भुवि ॥२।१।१०॥ कर्तुरिति वर्तते । भृश इत्येवमादिभ्यः क्यर्थे कर्तमा-
नेभ्यो भृशयर्थे क क्यङ् भवति यदन्ते हल् तस्य च नित्यं खम् । च्विर्विकल्पेन विधीयते । यत्र नोत्पद्यते
तत्रायं क्यङ् । अमृशो भृशो भवति भृशायते । भृश शीघ्र चपल परिडव उत्सुक । नात्र गेर्वहिर्भावः । उन्म-
नस् सुमनस् दुर्मनस् अभिमनस् । संग्राम युद्ध इति ज्ञापकादुदादीनामङ्गागमादिषु यद्विर्भावः । रेहत् वेहत्
शश्वत् तृपत् कर्चस् ओजस् आण्डर शुचि मन्द नील मद्र फेन हरित ।

डाजलोहितात् क्यङ् ॥२।१।११॥ डाजन्तालोहितशब्दाच्च क्यर्थोऽन्यत्रत्यर्थे वा क्यङ् भवति ।
क्यर्थग्रहणं लोहितस्य विशेषणं न डाजन्तस्याव्यभिचारात् । पठयत्यति । पठयत्यते । यदा न क्यङ् तदा
पठयामयतीति प्रयोगः । अलोहितो लोहितो भवति लोहितायति । लोहितायते । एवं हि 'नः क्ये'
[१।२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः ककारः शोभेत यदि चर्मादिभ्योऽपि स्यात् । चर्मायति । चर्मायते ।
निद्रायति । निद्रायते । कषणायति । कषणायते । कृपायति । कृपायते । वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यङोऽभिहितः ।

कषाय ॥२।१।१२॥ क्यङ् अनुवर्तते । कषायेति तादर्थ्यं अप् । कषाय ये शब्दा वर्तन्ते तैभ्यः क्यङ्
भवति । कषार्थादिति वक्तव्यम् । अन्तर्निर्देशः समर्थविभक्त्युपादानार्थः । अभिधानवशात् क्रमणोऽनार्जवे
क्यङ् द्रष्टव्यः । यथा 'नमोविरिषश्चिब्रह्मः क्यङ्' [२।१।१६] इत्यत्र पूजावार्थनियमः । कषाय कर्मणे क्रामति
कषायते । अनार्जवं पापं करोतीत्यर्थः । सत्राय कर्मणे क्रामति सत्रायते । कक्षायते । गहनायते । अनार्जवं इति
किम् ? अत्रः कर्षं क्रामति । नात्र पापं गम्यते ।

वाष्पोष्मफेनादुच्छमे ॥२।१।१३॥ ह्य इति वर्तते । वाष्प ऊष्मन् फेन इत्येतैभ्यः उद्धम इत्यर्थे क्यङ्
भवति । वाष्पमुद्धमति वाष्पायते । ऊष्माणमुद्धमति ऊष्मायते । फेनायते ।

रोमन्थतपःशब्दवैरकलहाभ्रक'पधमेघात् कृञि ॥२।१।१४॥ रोमन्थ तपस् शब्द वैर कलह
अभ्र कण्व' मेघ इत्येतैभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् भवति । रोमन्थं करोति रोमन्थायते गौः । अत्र करोतिः क्रिया-
सामान्ये वर्तमानोऽपि अभ्यवहृत्यर्थेऽप्यक्रियायां गृह्यते । तेनेह न भवति । कीटको रोमन्थं वर्तयति । 'तपसो
मन्नेति वक्तव्यम्' [वा०] तपः करोति तपस्यति । तपश्चरतीत्यर्थः । शब्दं करोति शब्दायते । वैरायते । कल-
हायते । अभ्रायते । कण्वायते । पापं करोतीत्यर्थः । मेघायते । उत्करोतीत्यस्मिन्नर्थे णिबपि भवति । शब्दयति ।
वैरयति । 'सुविनष्टुर्दिनन्तीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्' [वा०] सुविनायते । तुर्दिनायते । नीहारायते । 'अट्टाहासी-
काकोटापोटासोटापुष्टाभ्योऽपीति केचित् ।' [वा०] अट्टायते । अट्टायते । शीकायते । कोटायते । पोटायते ।
सोरायते । पुष्टायते ।

सुखादेः स्वभोगे ॥२।१।१५॥ भोगोऽनुभवो वेदना वा । सुख इत्येवमादिभ्यः इवन्तेभ्यः स्वभोगे
क्यङ् भवति । सुखमात्मनः करोति सुखायते । सुखं भुङ्क्ते अनुभवति वेदयतीत्यनर्थान्तरम् । एवं दुःखायते ।
सुख दुःख तृप्त कृच्छ्र अस्र अलोक कषण कृपण सोढ प्रतीप । स्वभोग इति किम् ? सुखं करोति प्रसाधको
देवदत्तस्य ।

१. तस्य नित्यं खम् अ०, ख०, सु० । २. कण्ठ अ०, ब०, ख० । ३. कण्ठ अ०, ब०, ख० ।

४. कण्ठायते अ०, ब०, ख० ।

नमोऽपरिचिञ्चः क्यञ् ॥२।१।१६॥ कृञोति वर्तते । नमस् वरिवस् चिञ् इत्येतेभ्यः क्यञ् भवति करोत्यर्थे । पूजापरिचर्याश्चर्वविशेषे । नमः करोति नमस्यति देवान् । अत्र नमःशब्दस्यानर्थकत्वात्तद्योगे नाब् भवति । वरिवः करोति वरिवस्यति गुरुन् । चिञ् करोति चिञीयते । छित्वाद्दः । पूजादिभ्योऽन्यत्र नमः करोतीति भवति ।

पुच्छभाण्डचीवरण्शिङ् ॥२।१।१७॥ पुच्छ भाण्ड चीवर इत्येतेभ्य इधन्तेभ्यो शिङ् भवति करोत्यर्थविशेषे । कोऽसौ विशेषः । “पुच्छादुदसने पयंसने वा” [वा०] उत्पुच्छयते । परिपुच्छयते । “भाण्ड-स्त्रयने परिचयने वा” [वा०] संभाण्डयते परिभाण्डयते । “चीवरादर्जने परिधाने वा” [वा०] संचीवरयते भिज्जुः । शकारः “शाविष्ठवम्बुदः” [४।४।१४४] इत्यत्र सामान्यग्रहणाविधातार्थः । अर्थविशेषा-दन्यत्र शिजेव भवति ।

मुण्डमिधश्लक्षलवणजतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो शित् ॥२।१।१८॥ मुण्ड इत्येवमादिभ्य इधन्तेभ्यो शित् भवति करोत्यर्थे । तुरादिषु “भृशो ध्वर्थे” इति शित् सिद्धे अर्थविशेषपरिग्रहार्थमिदम् । व्यर्थं वार्यमिति केचित् । अमुण्डं मुण्डं करोति मुण्डयति । मिभवति । श्लक्षयति । लवणयति । “प्रवा-श्लोषने तन्निवृत्तौ च” [वा०] पयो व्रतयति । पयो भुङ्क्ते इत्यर्थः । सावयं व्रतयति । सावयं न भुङ्क्ते इत्यर्थः । “वस्त्रात् समाच्छादने” [वा०] वस्त्रेण संच्छादयति संवस्त्रयति । हलिं गृह्णाति हलयति । कलिं गृह्णाति कलयति । “हलिकवयोरकारान्तता शिञ्चा योगे निपात्यते” [वा०] “घो कृष्यनक्खे सन्वस्” [१।२।१८६] इति सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम् । कलिं गृहीतवानचकलत् । अजहलत् । अन्यथा परत्वादपि कृते टिक्त्वात् ततः सन्वद्भावः प्रसज्येत । यथा अलीलवत् अपीपटत् इति । कृतं गृह्णाति कृतयति । तूस्तानि केशजटाः विहन्ति वितूस्तयति ।

घोर्यङ् क्रियासमभिहारे ॥२।१।१९॥ पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः । घोर्यङ् भवति क्रियासमभिहारे । पुनः पुनः पचति भृशं वा पापयते । बोभुज्यते । क्रियान्तरैरव्यवहितायाः प्रधानभूतविकले-दनक्रियायाः पुनः पुनरारम्भः पौनःपुन्यम् । गुणभूताधिभ्रयक्षादक्रियाणां क्रियान्तरैरव्यवहितानां साकल्येन करणं भृशार्थता । सूचिसूत्रिभूत्यव्यत्यर्थशृङ्खलातीनां ग्रहणं नियमार्थं कर्त्तव्यम् । सोसूच्यते । सोसूच्यते । मोमू-च्यते । अनेकाज्भ्य एव नान्यस्मात् । अत्यर्थं जागर्तीति । अराध्यते । अराध्यते । “यकि” [१।२।१३३] इत्येप् । अत्यर्थमश्नुते अशाश्यते । प्रोक्षीनूयते । अद्यादिग्रहणं किमर्थम् ? अन्यस्मादजादेर्मा भूत् । भृशमीक्षते । पुनः पुनरीहते । क्रियासमभिहारे सर्वस्य द्वित्वे वेति विभाषानुवर्तते । तेन यङन्तस्य द्वित्वं न भवति । तत एव क्रियासमभिहारे यो लोट् तदन्तस्य भवति । लोलूयस्व लोलूयस्व इत्येनायं लोलूयते । घोरिति किम् ? सगेक्ष्यत्तिर्मा भूत् । अगसंज्ञार्थं च धुग्रहणम् । पेपीयते । “शुभिदचिभ्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । अत्यर्थं शोभते । अत्यर्थं रोचते ।

नित्यं गतिविशेषे ॥२।१।२०॥ नित्यं यङ् भवति गतिविशेषे गम्यमाने । चङ्क्रम्यते । दन्द्म्यते । आवनीकच्यते । गतिविशेषो हि यङन्तवाच्यः । तेनास्वपदेनार्थमात्रकथनमिदं कुटिलं क्रामतीति । नित्यग्रहणं तु विषयनियमार्थम् । एतयोर्योगयोगतिविशेष एव गह्वं एव च यङ् यथा स्यात् क्रियासमभिहारे मा भूत् । भृशं क्रामति । भृशं लुम्पति ।

लुपसदचरजपजमदहृदशो गह्वं ॥२।१।२१॥ लुपादिभ्यो गह्वं गम्यमाने नित्यं यङ् भवति । प्रत्यासत्तेर्ध्वर्थस्य गह्वं गृह्यते न साधनस्य । अनर्थकं लुम्पति लोलुम्पते । सासद्यते । चञ्चूर्यते । चञ्च्र्यते । दन्द्म्यते । दन्द्म्यते । निजेगित्यते । दन्द्म्यते । दशोः कृतनस्य निर्देशादङ्प्यपि खं भवतीति केचित् । दंद्म्यतीति । तदङ्गुलं चोत्रस्नानिर्देशस्य । गह्वं इति किम् ? सुखं सीदति स्वगृहे ।

पाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यश्च ॥२१॥२२॥ पाशरूपवीणा-
तूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यश्च णिञ् भवति । चुरादौ “सृदो ध्वर्थे” इति सिद्धेऽपि अर्थ-
विशेषपरिग्रहार्थं पाशादेः पृथग्ग्रहणम् । “पाशादिमोचने” [वा०] पाशं विमोचयति विपाशयति । “रूपादर्शने
[वा०] रूपं दर्शयति रूपयति । वीणया उपगारयति उपवीणयति । तूलैरनुकुण्ठयति अनुतूलयति । श्लोकै-
रुपस्तौति उपश्लोकयति । सेनया अभियति अभिषेक्षयति । लोमान्यनुमाष्टिं अनुलोमयति । त्वचं गृह्णाति
त्वचयति । त्वच इति अकारान्तनिपातनात् “धरेऽचः पूर्वविधौ” [१११।२७] इत्यखस्व स्यानिबद्धावात्
“उङोऽतः” [१।१।४] इत्यैभ्यः भवति । वर्मणा सन्नद्धति संवर्मयति । वर्णान् गृह्णाति वर्णयति । चूर्णैरव-
किरति अवच्यंसयति वा अवचूर्णयति । चुरादिभ्यः चोरयति । मन्त्रयते ।

आ चार्थवेदसत्यानाम् ॥२१॥२३॥ अर्थ वेद सत्य इत्येतेषां आकारश्चान्तादेशो भवति णिञ् ।
अर्थमाचष्टे अर्थापयति । वेदापयति । सत्यापयति ।

हेतुमति ॥२१॥२४॥ हेतुस्तद्वोजकः । हेतुमति ध्वर्थेऽभिधेवे णिञ् भवति अन्येषां दर्शनं प्रयोज-
कत्वापारः प्रेषणाध्वेषणरूपो हेतुमान् तस्मिन्नभिधेये णिञ् भवति । कटं कारयति । ओदनं पाचयति ।
अत्र वाविषसर्गो हेतुत्वापारः । क्वचित् समर्थाचरणम् । यया भिक्षा वासयति । काशीषोऽग्निगम्यापयति ।
“आख्यानात् कृतस्तदाचष्टे इति कृदुप्प्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति” [वा०] आख्यापते यत्तदाख्यातं
तस्मात् कृदन्तात् आचष्टे इत्यस्मिन्नर्थे णिञ् वक्तव्यः कृदुप्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः, प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्त-
व्यम् । कस्तवधमाचष्टे कंसं व्यातयति । बलिबन्धमाचष्टे बलिं बन्धयति । राजागममाचष्टे राजानमागमयति ।
“आख्यानशब्दप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] आख्यानमाचष्टे इति वाक्यमेव भवति । मृगरमणमाचष्टे मृगान्
रमयति । यदा ग्रामे मृगरमणमाचष्टे तदा नेष्यते । “आङ्निवृत्तिश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्” [वा०]
कृदन्तात् णिञ् तदाचष्टे इति कृदुप्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति वर्तते । आरात्रिविवासमाचष्टे रात्रिं
विवासयति । “चित्रीकरणे च प्राप्स्यर्थे णिञ् वक्तव्यः” [वा०] उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं
सम्भावयति सूर्यमुद्गमयति । “नक्षत्रयोगे जार्थे” [वा०] पुष्येण योगं जानाति पुष्येण योजयति । चन्द्रमसा
मघाभिर्योगं जानाति मघाभिर्योजयति । नेदं बहु वक्तव्यमत्रापि कथञ्चिद्धेतुत्वापारोऽस्ति बहुलग्रहणाद्वा सिद्धम् ।

कण्डूबादेर्यक् ॥२१॥२५॥ कण्डून् इत्येवमादिभ्यो यक् भवति । यकः किल्बिषं एव प्रतिषेधार्थं
शापकमिह कण्डूवादयो धवो गृह्यन्ते न मृदूपाणि (मृदूपाः) । कण्डूजङ्घादीषु दीत्वोच्चारणं शापकं विकल्पेन
धुर्यतैवामन्यथा “दोरकृद्गे” [१।२।१३४] इति दीत्वेनाप्येतत्सिद्धयेत । तेन मृत्पद्मे कण्डूः मन्दुः वल्गुः
इत्यादिप्रयोगा ज्ञातव्याः । कण्डूयति । कण्डूयते । कण्डूतिः । मन्दूयति । कण्डून् मन्दु वल्गु असङ्गुणीक
महीङ् वेत्लीङ् । ङकारो दावध्वर्थः । इयस् इरस् तिरस् मगधस् पप्पस् कुबुभ उधस् तन्तस् सुल दुःख
भिधन् मिधुण् अरर चुरण् तुरण् तरण् सरण् (चरण्) सपर इषुध इषुभ गद्गद एला वेला केला खेला
लोद् लोद् उरस् । अकारान्तानाम् अतः सम् ।

गुपूधूपविच्छिन्नपणिपनेरायः ॥२१॥२६॥ गुपू धूप विच्छि पणि पणि इत्येतेभ्यो धुम्य आयो भवति ।
गोपायति । धूपायति । विच्छेदन्तरङ्गत्वात्तुकि कृते आयः । विच्छादयति । अनुदात्तेत्वं केवले चरितार्थमिति दो
न भवति । गुपादिभिर्मावादिभ्यः साहचर्यात्पयोर्मावादिभ्यः प्रहणं न तौदादिभ्यः । शतस्य पण्यते । “ध्ववङ्पयोः
सामर्थ्ये” [१।३।६३] इति कर्मणि ता । पनिरिद्वैव पणिना समानार्थः उपदिश्यते । पनायति ।

घाऽगे ॥२१॥२७॥ अगविषये गुपादिभ्यो वा आयो भवति । गोपायिता । गोप्ता । गोपायाचकार ।
गुगोप । गोपाया । गुप्तिः । इत्येवमादि योज्यम् ।

कमृत्योर्णिङोऽयङ् ॥२।१।२८॥ सूत्रत्वात्कायाः स्थाने ता कृता । कमृ ऋति इत्येताभ्यां सिङ् ईयङ् इत्येतौ त्र्यौ भवतः । कामयते । शकारः ऐवर्थः । “न कम्यमिचमाम्” इत्यत्र कमेर्मित्संज्ञाप्रतिषेधः किमर्थः ? “जिणमोर्द्धिमिताम्” [४।४।८६] इति वा प्रादेशो मा भूदित्येवमर्थः । अकामि । कामं कामम् । “वाओ” [२।१।२७] इति णिङोऽनुत्पत्तौ णिङ्निमित्तस्यैषः प्रादेशनिवृत्त्यर्थश्च । डकारो दविध्यर्थः । किङ्कतीत्येवप्रतिषेधार्थं न भवति इकस्तत्रानुवृत्तेः । ऋतिरिहैव घृणार्थमुपदिश्यते ऋतीयते । वाऽग इति च धर्तते । तेन कमिता । कामयिता । अर्तिता । ऋतीयिता ।

तवन्ता घवः ॥२।१।२९॥ येऽनुकान्ताः सनादयस्ते अन्ता येषां ते धुसञ्चका भवन्ति । तथा चैवो-दाहृतम् । पदसंज्ञायामन्तग्रहणं नियमार्यमुक्तम् । अन्यथ “संज्ञविधौ त्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” [५०] इति एष प्रतिषेधो मा भूदित्यन्तग्रहणम् ।

स्यतासी लृलुटोः ॥२।१।३०॥ लृ इति लृङ्लुटोः सामान्येन ग्रहणम् । धोः स्यतासी इत्येतौ ऋष्ये त्र्यौ भवतः लृलुटोः परतः । शब्दापेक्षमत्र यथासंख्यम् । धोरधिकारात् पूर्वभक्तानिवृत्तिः । अगा संज्ञा च । भाषकर्मकर्तृषु लो विहितः । तत्र यक्षपावुःसर्गौ स्यादयस्तदपवादाः । करिष्यति । अकरिष्यत् । कर्ता । तासे-रिदित्करणं किम् ? “हलुङ्कः किङ्कत्यनिहितः” [४।४।१२] इति नसप्रतिषेधार्थम् । इन्ता । मन्ता ।

कास्यनेकाच्यल्लिङ्याम् ॥२।१।३१॥ कासेरनेकाचस्त्यान्ताश्च लिङि परतः आम्भवति । कासाञ्चके । अनेकाच्यः—चकासाञ्चकार । चुलुम्प इति सौत्रो धुः । लुलुभ्याञ्चकार । दरिद्राञ्चकार । त्यान्तात्—लोलूयाञ्चके । कारयाञ्चके । गवाञ्चकार । “आचाराथे सर्वसृङ्भ्यः” इति क्तिप् । अनेकाच्यग्रहणमत्यान्तार्थम् । आमिति नाय-मागमः । कासेर्विधानात् ।

सरोरिञ्जादेः ॥२।१।३२॥ सह स्याा वर्तते इति सहः । सरोरिञ्जादेर्घोः लिङ्याम्भवति । ईहाञ्चके । इन्दाञ्चकार । उपदेशावस्थायां नुम् । ऊहाञ्चके । उञ्छाञ्चकार । उदभाञ्चकार । सरोरिति किम् ? इयेष । उवोष । एषि कृते सहरिति चेत् ; “सक्तिपातलक्षणां विधिनिमित्तं सद्भिधातस्य” [५०] इति न भवति । इजा-देरिति किम् ? ततश्च । “अञ्छत्पूताम्” [५।२।१२६] इति लिट्ये-वचनं शापकं ऋच्छेराम्न भवति । आनच्छत् । आनच्छतुः । आनच्छुः । कथं प्रोणुं ताव ? “वाच्य ऊर्णोर्लुञ्जलो यङ्प्रसिद्धिः प्रभोजनम् । आनश्च प्रति-षेधार्थमेकाच्यश्चेतिनवृत्तये” । प्रोणुं नृषति । “सनिग्रहरच” [२।१।११८] इतीट्प्रतिषेधः ।

दयायासः ॥२।१।३३॥ दय अय आस इत्येतेभ्यश्च लिङि आम्भवति । दयाञ्चके । पलायाञ्चके । “नेरयसी” [२।३।३७] इति लत्वम् । आसाञ्चके ।

वोषजागृधिदात् ॥२।१।३४॥ उष जागृ विद् इत्येतेभ्यश्च लिङि परतो वा आम् भवति । ओषाञ्च-कार । उवोष । जागराञ्चकार । जजागार । धिदाञ्चकार । विवेद । विदेराभ्यकारान्तत्वनिपातनात् एम्न भवति । जागृसाहचर्यादादादिकस्य ग्रहणम् ।

भ्रीहोभृहुवामुञ्चत् ॥२।१।३५॥ भ्री ह्री भृ हु इत्येतेभ्यो लिङि आम् भवति उवोष कार्यं भवत्ये-षाम्, उषि कार्यं द्वित्वमित्येव । तदतिदिश्यते । लिङपेक्षं द्वित्वमामा व्यवधानात् प्राप्नोति । विभयाञ्चकार । विभाय । बिह्याञ्चकार । जिहाय । विभराञ्चकार । बमार । “भृर्भा त्रयाणाम्” [५।२।१०५] इति वस्ये-त्वम् । जुहकाञ्चकार । जुहाव ।

लिङ्घत् कृञि ॥२।१।३६॥ कृञिति प्रत्याहारेण कृभ्वदीनां त्रयाणां ग्रहणम् । मण्डूकश्रुत्या वेति विभाषाऽपेक्षणीया । तेन सम्पदो बहिर्भावः । य उक्त आम् स लिङ्घत्कृञि प्रयुक्ते साधुर्भवति । लिङ्घत् कृञीतीमिर्देशात् आमन्तस्याभ्यवहितस्य पूर्वं प्रयोगः । ईहाञ्चके । “आम्घत् तत्कृञः” [१।२।२६] इति दः । ईहाम्भूव । ईहामास । “अस्तिभूजोर्भूवची” [१।४।१२४] इत्यत्रोक्तमस्तेरनुप्रयोगस्य भूभावो न भवति । कृञि प्रत्याहारग्रहणसामर्थ्यात् ।

विदाङ्कुर्वन्तु वा ॥२१॥३७॥ विदाङ्कुर्वन्ति एतद्वा निपात्यते । किमत्र निपात्यते ? लोटि वा आम् एवभावो लोटन्तस्य करोतिरनुप्रयोगश्च निपात्यते । विदाङ्कुर्वन्तु । विदन्तु । सर्वेषु लोटवचनेषु निपातममिदं प्रायेण । ल्यन्तस्य प्रयोगान्ते निर्देशः । विदाङ्कुराणि । देशानि । विदाङ्कुराणां । देशानां । विदाङ्कुराणां । वेदाम् । विशाङ्कुर । विद्धि । विदाङ्कुरतम् । वित्तम् । विदाङ्कुरत । वित्त । विदाङ्कुरोदु । वेत्तु । विदाङ्कुरताम् । वित्ताम् । (विदाङ्कुर्वन्तु । विदन्तु ।)

सिर्लुङि ॥२१॥३८॥ धोः सिर्भवति लुङि परतः । अकार्षीत् । अभैत्सीत् । अकृषातां कटौ देव-
दत्तेन । इदित्करणं किम् ? अमंस्त । “अनिदितः” [४।१।२३] इति प्रतिषेधात् नोङः खं न भवति ।

स्पृशमृशकृषत्पटपो वा ॥२१॥३९॥ स्पृश मृश कृष तृप ह्य इत्येतेभ्यो लुङि वा सिर्भवति ।
तृपिह्योः पुषादित्वाच्चित्यमङ् प्राप्तः । अन्यत्र “शृङः” [२।१।४०] इति कसः । अत्पाक्षीत् । अस्पा-
क्षीत् । “वाऽनुवात्तस्यहुङः” [४।१।२२] इति वामागमः । यणादेशे कृते “वद्वज्जहङ्” [५।१।७६]
इत्येप् । पक्षे-अस्पृक्षत् । अमृक्षीत् । अमृक्षीत् । अमृक्षत् । अकाक्षीत् । अकाक्षीत् । अकृक्षत् । अत्राप्सीत् ।
अत्राप्सीत् । अतृपत् । अत्राप्सीत् । अकाप्सीत् । अहपत् ।

इगुङः शलोऽनिटोऽदृशः कसः ॥२१॥४०॥ इगुङ् शलन्तो यो धुः अनिट् तस्माद् इशिर्जतात्
मे क्सो भवति । दिह-अधिदत् । तुह-अधुदत् । लिह-अलिदत् । इगुङ् इति किम् ? दह-अधाक्षीत् ।
शल इति किम् ? अभैत्सीत् । अनिट् इति किम् ? अकोपीत् । “नेटि” [२।१।८०] इत्यैप्रतिषेधः । अदृश
इति किम् ? अदर्शत् । अद्राक्षीत् । “वेरितः” [२।१।४६] इत्यङ् ।

श्लिषः ॥२१॥४१॥ अनिट् इत्यधिकारात् श्लिष दाहे इत्यस्य ग्रहणं न भवति । श्लिषः क्सो भवति
लुङि परतः । आश्लिषत् । पूर्वेषां प्राप्तस्य बाधके पुषादित्वादङि प्राप्ते अयमारम्भः । “पुरस्तादपवादः सन-
स्तान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इत्यङ् एव बाधा न ज्ञेयः । आश्लेषि ।

स्वार्थे ॥२१॥४२॥ स्वार्थः आलिङ्गनम् । श्लिषः स्वार्थ एव क्सो भवति । आश्लिषत् कन्यां देवदत्तः ।
स्वार्थ इति किम् ? समाश्लिषत् जतु च काष्ठं च (जतुकाष्ठम्) । द्विष्ये सिले समाश्लिषत्स्वं धवलदिरेण ।
“कलो कळि” [५।३।४४] इति सेः खम् ।

गिञ्चिद्रुभुकमेः कर्त्तरि कच् ॥२१॥४३॥ गिञ्चन्तेभ्यः चिद्रुभुकमि इत्येतेभ्यः कर्त्तृवाचिनि
लुङि कञ्भवति । ककार क्रियाकार्थः । चकारः “लुङि कचि धोः” [लिङ्कचि धोः] [४।१।७] इति
विशेषणार्थः । अचीकयत् । अपीपयत् । “ओनयत्यादेः कञ्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] औनयीत् । अशिञ्चि-
यत् । अदुद्रुवत् । कमिग्रहणं “वाऽगे” [२।१।२७] इति यदा णिङ् न भवति तदा प्रयोजयति । अचिकमत् ।
अकः खं यस्मिन् णाविति तत्र विग्रहात् सन्वद्धावो न भवति । गिङ्पन्ते सन्वद्धावः । अचीकमत् । आत्मक-
र्मणापि चङ् भवति । अचीकरत् कटः स्वयमेव । “गिञ्चिञ्चिन्धिग्रन्थिग्रन्थां द्विषी धीनाञ्च” [वा०] इति
जियकोः प्रतिषेधं वक्ष्यति ।

वा घेड्श्च्योः ॥२१॥४४॥ घेड् शिव इत्येताभ्यां वा कञ्भवति कर्त्तरि लुङि परतः । अदधत् ।
“द्वित्वेऽचि” [१।१।२६] इत्यात्वस्य स्थानिवद्भावाद् द्वित्वं यदा सिक्तदा “वा घाघेड्च्चाशासः” [१।४।१४७]
इति वा सेहम् । अधात् । अधासीत् । अनुपि “यमरमनभातः सञ्च” [२।१।१३२] इति सगिटी । अशिश्चि-
वत् । “न औ जिः” [४।३।३१] इत्यत्रेकारप्रश्लेषात् जिप्रतिषेधः । कवा मुक्ते पक्षे “जृश्चि” [२।१।२०]
इत्यादिना विकल्पेनाङ् । अश्चत् । अश्चयीत् । “ह्ययक्षय” [२।१।८१] इत्यादिना सवैप्रतिषेधः ।
कर्त्तरीत्येव । अधिवातां वत्तेन ।

वत्तयसुख्यातेरङ् ॥२११४५॥ वक्ति असु ख्याति इत्येतेभ्यो लुङि परतः अङ् भवति । इदमेव वक्तिवचनं ज्ञापकं गेऽपि ब्रजो वचिसदेशो भवतीति । अघोचत् । अघोचत । “इव्यस्वद्वचोऽधुक् पुमुमोऽङि” [११११२८] इत्युमागमः । अस् । उदास्थत् । उदास्थेताम् । उदास्थन्त । “अगोस्त्यस्यङ्गोर्वचनम्” [वा०] इति दः । मविषये पुष्पादित्वादेवाङ् सिद्धः । ख्यातिरिति ख्या प्रकथन इत्यस्य चक्षादेशस्य च कृत्यकारस्या-विशेषेण ग्रहणम् । आख्यत् । आख्यताम् । आख्यन् ।

हाशिपिचः ॥२११४६॥ हा लिप् सिच् इत्येतेभ्यो लुङि मे परतः । आहत् । अलिपत् । अलिचत् । पृथगारम्भ उत्तरार्थः ।

दे वा ॥२११४७॥ हा लिप सिच् इत्येतेभ्यो लुङि दे वा अङ् भवति । आहत् । आहास्त । अलिपत् । अलिप्त । अलिचत् । अलिक्त । “सिलिङ् दे” [१११८२] इति कित्वादेप्रतिषेधः । पूर्वेषु नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

द्युपुषादिलिस्सतिशास्त्यन्तेर्मे ॥ २११४८ ॥ द्युतादिभ्यः पुषादिभ्यः लृकारेद्भ्यः सति शास्ति अर्ति शा इत्येतेभ्यश्च लुङि मे परतः अङ् भवति । वेति नानुवर्तते । द्युतादयः कृपूपर्यन्ताः । व्यद्युत् । व्यलुट् । अश्वित् । “द्युद्भ्यो लुङि” [१११८७] इति वा मम् । पुषादयः आ गणपरिसमाप्तेः । अपुषत् । अशुषत् । वसः प्राप्तः लृकारेद्भ्यः । आपत् । अगमत् । अशक्त् । असरत् । अशिपत् । आरत् । म इति किम् । व्यद्योतिष्ठ । व्यत्यपुनत् । अतरेपि द्विषये — मा समृषातां मा समृषत् ।

वेरितः ॥२११४९॥ म इति वर्तते । इरशब्देतो धोर्वाऽङ् भवति लुङि मे परतः । अरुषत् । अरौसीत् । अभिदत् । अभैसीत् । म इत्येव । अरुद्ध । अभित् ।

जृश्विस्तम्भुमुचम्लुचम्मुचम्लुचः ॥२११५०॥ वेति वर्तते । जृ श्वि स्तम्भु मुच् म्लुच् मुच् म्लुच् इत्येतेभ्यः कर्त्तरि लुङि वाङ् भवति । जृप् । अजरत् । आजारीत् । अङि “इयुरेप्” [५१११२६] अश्वत् । अश्वयीत् । कजपि विभाषितः । अशिश्चिन् । स्तम्भुरिहैवोपदिष्टः । अस्तम् । अस्तम्भीत् । न्यमुचत् । न्यमुचीत् । न्यम्लुचत् । न्यम्लोचीत् । अमुचत् । अमुचीत् । अग्लुचत् । अग्लोचीत् । म्लुच्चेर्नोङो ग्रहणमनर्थकम् । अङ्गस्ते विशेषाभावात् नोङ्ग्रहणसामर्थ्याभ्रवं न भवति इत्यपि न युक्तं न्यम्लुञ्चदिति लङा सिद्ध्यति ।

जिस्ते पदः ॥२११५१॥ वेति निवृत्तमुत्तरत्र वाग्रहणात् । कर्त्तरीति वर्तते । पदेर्धोर्लुङि ते परतः जिर्भवति । उदपादि मैत्रम् । समपादि शस्यम् । त इति किम् ? उदफस्ताताम् । उदपस्तत् ।

दीपजनबुधपूरितायिप्ययो वा ॥२११५२॥ दीपादिभ्यः लुङि ते परतः वा जिर्भवति । अदीपि । अदीपिष्ट । अजनि । अजनिष्ट । औ “अनिबध्योः” [५१११४०] इत्येप्रतिषेधः । साहचर्याद् बुधेरनुदात्तेतो ग्रहणम् । अगोधि । अबुद्ध । अपूरि । अपूर्षिष्ट । अतापि । अतापिष्ट । अय्यपि । अय्यापिष्ट । अयं कर्त्तरि विकल्पः । अन्यत्र “जिर्लो” [२११६२] इत्यनेन नित्यो जिः ।

कर्मण्यात्मनि ॥२११५३॥ आत्मशब्देन कर्त्ताऽभिप्रेतः । यदा सौकर्यात् कर्म कर्तृत्वेन विवक्ष्यते तदा कर्मणि आत्मनि विहिते तशब्दे परतः वा जिर्भवति । अकारि कटः स्वयमेव । अकृत कटः स्वयमेव । “उः” [१११५६] इति तेः क्त्वम् । अलावि केदारः स्वयमेव । अलविष्ट केदारः स्वयमेव । “जिर्लो” [२११६२] इति नित्ये औ प्राप्ते विकल्पोऽयम् । आत्मकर्मणीति किम् ? अकारि कटो देवदत्तेन ।

दुहश्च ॥२११५४॥ चशब्दो विकल्पानुकर्षणार्थः । दुहेर्वा जिर्भवति तशब्दे परतः कर्मण्यात्मनि । निवमोऽयं हलन्तेषु दुहेरेव विकल्पः, तेन पूर्वसूत्रेऽनन्तेषु विकल्पो द्रष्टव्यः । अदोहि गौः स्वयमेव । अदुग्ध गाः स्वयमेव । “वोप् दुहदिहलिहगुहो दे दस्ये” [१११७०] इति कस्योप् । आत्मकर्मणीत्येव । अदोहि गौर्गौपालकेन ।

न दधः ॥ २११५५ ॥ त्रिर्द्विवृति प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । भावे कर्मण्यात्मनि विनं भवति । अन्व-
वारुद्ध गौः स्वयमेव ।

तपोऽनुतापे च ॥ २११५६ ॥ तपतेरनुतापे च कर्मण्यात्मनि च विनं भवति । अनुतापः
पश्चात्तापः तत्र तावत् भावकर्मणोरनुपि प्रतिषेधः । अन्ववातप्त पापेन कर्मणा । कर्मण्यात्मनि । अतस्त तपः
स्वयमेव । साधुस्तावदुपवासादिलक्षणां तपस्तप्यते । तद्यदा तीव्रत्वात् कर्तृत्वेन विवक्षितं तदाऽयं प्रयोगः ।

यग् दुहः ॥ २११५७ ॥ नेति वर्तते । दुहेः कर्मण्यात्मनि यद् न भवति । दुग्धे गौः स्वयमेव ।
लङि-अदुग्ध गौः स्वयमेव ।

नमः शप्त्तु ॥ २११५८ ॥ नमः कर्मण्यात्मनि यद् न भवति शप्त्तु भवति । नमते दण्डः स्वय-
मेव । अनमत दण्डः स्वयमेव । कर्त्राश्रयः शप्त्तु स्यात् ।

स्नोश्च झिञ्च ॥ २११५९ ॥ स्नोश्च नमश्च कर्मण्यात्मनि त्रिविधं च न भवतः । प्रास्नोष्ट गौः स्वय-
मेव । प्रस्तुते गौः स्वयमेव । लङि प्रास्तुत गौः स्वयमेव । विप्रतिषेधार्थे नमोऽनुकर्षणम् । यक् तु पूर्वैर्णैव
प्रतिषिद्धः । अनस्त दण्डः स्वयमेव । “जियकोः प्रतिषेधे णिअन्धिअन्धिअन्धिअन्धि दविधौ धीनां चोपसंख्यानं
कर्तव्यम्” [१०] णिरिति हेतुमणिर्योऽन्यस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । अचीकरत् कटः स्वयमेव । कारयते
कटः स्वयमेव । अअन्धिष्ट मेखला स्वयमेव । अन्धीते माला स्वयमेव । अअन्धिष्ट मेखला स्वयमेव । अन्धीते मेखला
स्वयमेव । अवोचत् वाक् स्वयमेव । ब्रूते वाक् स्वयमेव । दविधौ धीनाम् व्यकुर्वत् सैन्धवाः स्वयमेव । व्यकुर्वत्
सैन्धवाः स्वयमेव । विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव । जियकोः प्रतिषेधे कयं कर्त्राश्रयाः कजादयः । “नमः शप्त्तु”
[२११५९] इत्यतस्तु शब्दोऽनुवर्तते तेन कर्त्राश्रयविकरणसिद्धिः । अत इदमपि सिद्धम् । आरोहन्ति हस्तिनं
हस्तिपकाः । आरोहयते हस्ती स्वयमेव । सिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः । सेचयते हस्ती स्वयमेव । “ङौ” [१२१७]
इति दविधिः । यदान्यत्कर्म प्रति स्वातन्त्र्येण विवक्षा तदा कर्त्राश्रया विधयो भवन्ति । आरोहयमाणो हस्ती
स्थलमारोहयति मनुष्यान् । यथा भिद्यमानः कुशलः पात्राणि भिनत्ति । इह कस्मादो न भवति । स्मरति वन-
गुल्मस्य कोकिलः । स्मरत्येनं वनगुल्मः स्वयमेव । कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां चात्मकर्म विवक्षा । कर्तृ-
स्वभावकं चाऽप्यतन्मिति दो न भवति ।

कुपिरङ्गीत्येतस्यां श्यो मे वा ॥ २११६० ॥ कुपिरङ्गीत्येतस्यां कर्मण्यात्मनि वा श्यो भवति मे परतः ।
कथं मविधिः बृद्धकुमारीधरवाक्यन्यायेन यथा बहुङ्गीरपृतमोदनं मम पुत्रा भुङ्क्षीरजित्यत्र वरादिलङ्घिः ।
कुप्यति पादः स्वयमेव । रज्यति वस्त्रं स्वयमेव । यदा श्यो न भवति तदा यग्दविधौ भवतः । कुप्यते पादः
स्वयमेव । रज्यते वस्त्रं स्वयमेव । यगनुवर्तते तदपवादोऽयं तेन लिङ्लिङ्गोः स्यादविधौ च नायं विधौ ।

तपस्तपःकर्मकस्य कर्मवत् ॥ २११६१ ॥ तपतेस्तपःकर्मकस्य कर्त्ता कर्मवद्भवति । कर्मातिदेशस्य
यद्दविधौ प्रयोजनम् । तप्यते तपः साधुः । अर्जयतीत्यर्थः । अतप्यत तपः साधुः । अतस्त तपः साधुः ।
तपःकर्मकस्येति किम् ? उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः ।

विङ्ङौ ॥ २११६२ ॥ मण्डूकप्लुत्याते इति वर्तते लुङीति च । निरित्ययं त्यो भवति छावर्णे लुङि ते
परतः । भावे-आसि भवता । अशापि भवता । कर्मणि-अकारि कटो भवता । अलावि केदारो भवता ।
पुनर्निग्रहणं किम् ? निरेव यथा स्यात् । यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूत् । उपाश्लोष कन्या । “रिङ्ङः”
[२११६१] इति क्यो न भवति ।

गे यक् ॥ २११६३ ॥ छाकिति वर्तते । डिधाचिनि गे यक् भवति । आख्यातवाच्यस्य भावस्यैकत्वात्

अस्मद्भुभत्सञ्ज्ञाऽभावाच्च अन्यसञ्ज्ञक एक एव च भवति । आस्यते भवता । सुस्यते भवता । कर्मणि—क्रियते कटः । भुस्यते ओदनः । ऋकारस्य दीर्घे प्राप्ते “रिङ्यग्लिङ्गो” [१।२।१३७] इति रिङ् । कर्मवामान्यात् आत्मकर्मण्यपि यम् भवति । क्रियते कटः स्वयमेव । भियते कुशूलः स्वयमेव । कथं भियते कुशूलेन स्वयमेवेत्यत्र कर्तरि भा । अत्राकर्मकत्वनिस्ता । तेन भावे लकारः । लान्तस्यो (तस्यो) भयविशङ्गा । व्यङ्ग्यार्थेऽप्यकर्म-कविवक्षैव (क्षवैव) । भेतव्यं कुशूलेन स्वयमेव । भित्तं कुशूलेन स्वयमेव । ईषद्दं कुशूलेन स्वयमेव ।

कर्तरि शप् ॥२।१।६४॥ कर्तृवाचिनि गे परतो धोः शब्भवति । जयति । भवति । तरति । शकारः “भिङ्शिङ्गः” [१।४।१३] इति विशेषणार्थः । पकारः “गोऽपित्” [१।१।७८] इति विशेषणार्थः ।

विधादेः श्यः ॥२।१।६५॥ दिव इत्येवमादिभ्यः श्यो भवति गे परतः । दीव्यति । सीव्यति । धीव्यति । “दृश्यभङ्ग्युहः” [५।३।८६] इति उहो दीत्वम् । इमे श्यादय शपोऽपवादाः ।

वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्मुञ्चत्तिवृटिलघः ॥२।१।६६॥ भ्राश भ्लाश भ्रम् कम् चसि वृटि लघ इत्येतेभ्यो धुभ्यो वा श्यो भवति । उभयत्र विभाषेयम् । भ्राशते । भ्राश्यते । भ्लाशते । भ्लाश्यते । भ्रमति । भ्रम्यति । श्ये (शिति) भौवादिकस्याशमादित्वाद्दीर्घं नास्ति । दैवादिकस्य दीत्वम् । भ्रमति । भ्राम्यति । क्रमति । क्राम्यति । “क्रमो मे” [१।२।७४] इति दीत्वम् । चसति । चस्यति । वृटति । वृध्यति । लघति । लघ्यति । कृमिग्रहणं न कर्तव्यम् । दिवादिपाठात् श्ये सति “श्रमित्यामदो दीः” [१।२।७२] इति दीत्वं सिद्धम् । “ष्टिबुक्कम्भाच-मां शिति” [१।२।७६] पुनर्दीत्ववचनं ज्ञापकं शवपि भवतीति ।

यसः ॥२।१।६७॥ यसु प्रयत्न इत्यस्माद्वा श्यो भवति । यसति । यस्यति ।

समः ॥२।१।६८॥ संपूर्वाच्च यसः वा श्यो भवति । संयस्यति । संयसति । नियमोऽर्थं सम एव च गेर्विकल्पो नान्यस्मात् । आयस्यति । प्रयस्यति । दिवादिपाठान्नित्यः श्यः ।

स्वत्वेः श्नुः ॥२।१।६९॥ पुञ् इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्नुरित्यर्थं त्यो भवति । सुनोति । तिनोति ।

श्रुवः श् ॥२।१।७०॥ श्रु इत्येतस्मात् श्रुर्भवति श्रु इत्यर्थं चादेशः । श्रु इति सुवादौ स्वादौ च पठ्यते । श्रुणुतः । श्रुण्वन्ति ।

वाऽक्षः ॥२।१।७१॥ अक्ष इत्येतस्मादोः वा श्रुर्भवति । अक्ष्णोति । अक्षति । भौवादिकोऽयम् ।

तक्षः स्वार्थे ॥२।१।७२॥ स्वार्थस्नूकरणम् । तक्षु इत्यस्मात् स्वार्थे वा श्रुर्भवति । तक्ष्णोति काष्ठम् । तक्षति काष्ठम् । स्वार्थे इति किम् ? सन्तक्षति वाग्भिर्बुर्जेनः ।

रुधितुदादिभ्यां रनम्शौ ॥२।१।७३॥ रुधादिभ्यस्तुदादिभ्यः रनम्शौ त्यौ भवतः । शक्करः “रनाञ्ज-सम्” [४।४।२२] इति विशेषणार्थः । मकारः “परोऽचो मित्” [१।१।२५] इति विशेषणार्थः । रुधादि । भिनत्ति । तुदादिभ्यः शः । रुदति । क्षिपति ।

कुञ्चतनादेरुः ॥ २।१।७४ ॥ कुञ् इत्येतस्मात्तनादिभ्यश्च उरित्यर्थं त्यो भवति । करोति । कुरुतः । कुर्वन्ति । तनादिभ्यः—तनोति । सनोति । क्ष्णोति । तनादित्वादेव सिद्धे पृथक् कुञ्चो ग्रहणं किम् ? अन्यत्तनादिकार्यं करोतेर्मा भूत् । “तनादिभ्यस्तथासोः” [१।४।१४८] इति विभाषया तेरन् भवति । अकुरु । अकुराः । न चानुप्यक्षे “प्राप् गोः” [१।३।४५] इति खं सम्भवति । तस्मिन् प्राप्ते उप आरम्भस्यैः भवणं प्रसज्येत ।

धिम्विकृण्ण्योर च ॥२११७५॥ 'धिवि प्रीणने', 'कृवि हिंसाकरणयोः' इत्येताभ्यां ङरित्ययं ल्यो भवति अकारश्चान्तदेशः । धिनोति । कृणोति । अतः खम् । "न धुखेऽनो" [११११८] इति प्रतिषेधान् "परेऽङ्कः पूर्वविधौ" [११११७] इति स्थानिवद्भावाद्वा (एप्) न भवति । सनुम्कोच्चारणं शापकं ल्योत्पत्तेः प्रागेव नुम्भ-यतीति । तेन कुण्डा हुण्डेति सिद्धम् ।

क्रयादेः शना ॥२११७६॥ क्री इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्रा इत्ययं ल्यो भवति । क्रीणाति । प्रीणाति ।

स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कम्भुस्कञ्भ्यः श्नुश्च ॥२११७७॥ स्तम्भ्वादिभ्यः श्नुर्भवति आ च । स्तम्भोति । स्तम्भाति । स्तुम्भोति । स्तुम्भाति । स्कम्भोति । स्कम्भाति । स्कुम्भोति । स्कुम्भाति । स्कुनोति । स्कुनाति । स्कुञ्भ्वादिषु पञ्चते । इतरेषामिहैवोपदेशः । उदित्करणान्यत्रापि प्रयोगः ।

ह्री हलः शनः शानः ॥२११७८॥ हल उत्तरस्य श्रा इत्येतस्य शान इत्ययमादेशो भवति ह्री परतः । अशान । पुषाण । द्वाविति किम् ? अश्नाति । हल इति किम् ? क्रोशीहि । श्र इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः ? सभ्मादीनां यदा भुस्तदा मा भूत् । स्तम्भुहि । तान्तरं वा सर्वेभ्यः सम्भाव्यते । शानस्य शित्करणं शापकम्-अनित्योऽनुबन्धस्य स्थानिवद्भाव इति । तेन लङादीनां मिवादिषु स्थानिवद्भावाद्विस्वं द्वित्वं च न भवति । पञ्चमाना स्त्री । अचिनवम् । असुनवम् ।

ईपाऽत्र वाक् ॥२११७९॥ धोरिति वर्तते । अत्र धोरधिकारे ईपा निर्दिष्टं वाक्संज्ञं भवति । गम्यमानक्रियापेक्षया ईपेत्यस्य करणत्वम् । वक्ष्यति "कर्तृकर्मण्यौ" [२१२१] कुम्भकारः । शरलावः । मृदूप-स्येयं वाक्संज्ञा तेन "कर्तृकर्मण्योः कृति" [१११६८] इति कर्मणि ता भवति । तासां वाक्सः परत्वेन । अत्र-प्रद्वयं विस्पष्टार्थम् । वागितीयमन्वर्थं संज्ञा । व्रूतेऽर्थे वारिति तेनासामर्थ्ये वाक्संज्ञा नास्ति । पश्य कुम्भं करोति कटम् । मृत्पिण्डं कुम्भं करोति । महान्तं कुम्भं करोति । सविशेषणानां च न भवति । ह्रतेः "इतिनाययोः पशौ" [२१२१०] इति पशुशब्दस्य न भवति । यत्र वाचकत्वं तत्र भवति । काशकटकारः ।

ऊर्ध्वमिङ् ॥२११८०॥ अत्र धोरधिकारे मिङ्बर्जितास्वाः कृतसंज्ञा भवन्ति । अत ऊर्ध्वं ये वक्ष्यन्ते तेषामधिकारेणैव संज्ञा । वक्ष्यति "तव्यानीयौ" [२११८१] । कर्तव्यः । करणीयः । अत्र सृत्सञ्ज्ञाप्रयोजनम् । इत्यः । स्तुत्यः । "दिति कृति" [१११२६] इति तुक् । अमिडिति किम् ? चीयात् । स्यात् । अकृत्रकारादीत्वं सिद्धम् ।

प्राक्तेर्वाऽसमः ॥२११८१॥ त्रियां क्लिरिति वक्ष्यते । प्रागेतस्मादसमो यस्त्यः कृत् स वा भवती-त्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । सरूपरूपवादी बाधक एवेति भावः । विक्षेपकः । विक्षेपा । विक्षिपः । शृगुडस्तृण-कविषये शत्रुतृचावपि भवतः । प्राक्तेरिति किम् ? चिकीर्षः । "अस्त्यात्" [२११८२] इत्यकारः स्तेर्बाधकः । व्याक्रोशी । व्याकृष्टिरित्येवमादिषु यज्ञो विधेयः । असम इति किम् ? गोदः । कम्बलदः । "आतः कः" [२१२१] इति को भवति । अणोऽपवादः । अनुबन्धापाये रूपगतं समत्वमत्र ।

ण्योव्यर्थः ॥२११८२॥ प्रागिति वर्तते "ण्युवृचौ" [२१११०६] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्मात् त्वास्ते व्यसंज्ञा वेदितव्याः । देवदत्तस्य कर्तव्यम् । देवदत्तेन कर्तव्यम् । व्यप्रदेशः "व्यस्य वा कर्तरि" [१११७२] इत्येवमादयः ।

तव्यानीयौ ॥२११८३॥ तव्य अनीव इत्येतौ ल्यौ भवतः । कर्तव्यः । करणीयः । कथं वास्तव्यः ? वास्तु क्षेत्रं तस्माद्भवाद्यर्थे दिगादित्वाद्यः । एवं वस्तुनि भवो वस्तव्यः ।

योऽचोऽरासुयुषः ॥२११८४॥ य इत्ययं ल्यो भवत्यजन्ताद्धोः श्रुवर्णान्त आसु यु इत्येतान् वर्जयित्वा । देयम् । गेयम् । "ईर्ष" [११११७] इति ईत्वम् । "गागयोः" [२१२१८] इति पुनरेप् । "देयमृणे" [१११२२] इति निर्देशादीन्ते गुकार्ये निवृत्ते पुनरेप् । दित्स्यं धित्स्यमित्यत्र अग्रे ये परतोऽतः खम् । अच इति किम् ? पाक्यम् । अरासुयुष इति किम् । कार्यम् ? दार्यम् । आराव्यम् । याव्यम् ।

पोरदुङ्गेऽत्रविधपिरपिलपिचमः ॥२॥१॥८५॥ पवर्गान्ताद्धोरदुङ्गे य इत्ययं लो भवति त्रिपिपि-
रपिलपिचमीन् वर्जयित्वा । रभ्यम् । लभ्यम् । समत्वेन एवापवादोऽयम् । पोरिति किम् ? वाच्यम् । अदुङ्ग इति
किम् ? डेयम् । कुट्टादिस्त्रादिभ्यः स्यात् । तपरकरणमसन्देहार्थम् । अत्रविधपिरपिलपिचम इति किम् ? वाच्यम् ।
नभ्यम् । राभ्यम् । लभ्यम् । आत्त्राभ्यम् ।

शक्तिसहस्र ॥२॥१॥८६॥ शक्ति सह इत्येताभ्यां यो भवति । शक्यम् । सहम् । चकारोऽनुक्तसमुच्च-
यार्थः । तेन ससितकिचित्पितृयजिज्जनौनां संग्रहः । सस्यम् । सक्यम् । चत्यम् । यत्यम् । वज्यम् । जन्त्यम् ।
“हलो वा वक्ष इति च वक्तव्यम्” [वा०] वक्ष्यम् । भक्ष्यम् ।

गदमदचरयमोऽगो ॥२॥१॥८७॥ गद गद चर यम इत्येतेभ्योऽर्गिपूर्वेभ्यः वस्यो भवति । गयम् ।
मयम् । चर्यम् । यभ्यम् । अगेरिति किम् ? निगाथम् । प्रमायम् । अभिचार्यम् । प्रवाभ्यम् । यमः “पोर-
दुङ्गः” [२॥१॥८५] इति सिद्धे नियमार्थमिदम् । अगेरेव वथा स्यात् । इतरेषामप्राप्ते निधिः । “चरेरिति चागु-
रविति वक्तव्यम्” [वा०] आचर्य्य मतम् । अगुरविति किम् ? आचार्यो गुरुः ।

परायाऽवद्यवर्थावहाऽयोऽपसर्गाऽजर्याणि ॥२॥१॥८८॥ पश्य अवद्य वर्था वहा अर्थ उपसर्गा अजर्या
इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । पश्यमिति निपात्यते व्यवहर्तव्यं चेद्भवति । पश्यः कम्बलः । परया गौः ।
पार्यामित्यन्यत्र । अवद्यं गवति गह्वं चेत् । अवद्यं धृतम् । अवद्यं पापम् । न उद्यते इत्यनुपपन्नम् । वर्थेति
वृद्धो यो भक्त्यनिरोधोऽर्थः । शतेन वर्था । सहस्रेणा वर्था । स्त्रीलिङ्गादन्वय एव भवति । वर्था ऋषयः धन-
संधिभागरूपोऽत्राथनिरोधोऽस्ति । अनिरोध इति किम् ? वर्था गौः शत्येव । वक्ष्यमिति निपात्यते कर्षणं चेद्भ-
वति । वहति तेन वहा शक्यम् । बाह्यमन्यत् । अर्य इति निपात्यते स्वामिनि वैश्ये च । अर्यः स्वामी । अर्यो
वैश्यः । अन्यत्र एव एव । आर्य साधु । उपसर्गेति निपात्यते काल्या प्रजने चेत् । प्रजनो गर्भमहणकालः
प्रानोऽस्याः काल्या । “सदृश शास्त्र” [३॥४॥१०] इति वर्तमाने “कालाद्यः” [३॥४॥१०] इति यः ।
उपसर्गा गौः । उपसर्गा वधवा । उपसर्गा शरदि मधुरा अन्यत्र । अजर्यामिति नञपूर्वाङ्गः कर्तरि कौ निपात्यते
सङ्गतेऽर्थे । न जीयत इत्यजर्यमर्थसङ्गतम् । अजरिता कम्बल इत्यन्यत्र ।

वदः सुपि क्यप् च ॥२॥१॥८९॥ अगेरिति वर्तते । वदतेः वयम्भवति यश्च गिर्वर्जिते सुपि वाचि ।
सत्यमुद्यत इति सत्योद्यम् । सत्यवयम् । मिथ्योद्यम् । मिथ्या वयम् । “वागमिङ्” [१॥३॥८२] इति पसः । सुपीति
किम् ? वाच्यम् । अगेरित्येव । अनुवाच्यम् ।

भूयहस्ये ॥२॥१॥९०॥ सुप्यगेरिति वर्तते । भूय इत्य इत्येते शब्दरूपे निपात्येते गिर्वर्जिते सुपि वाचि ।
देवभूयं गतः । देवार्थं गत इत्यर्थः । साधुभूयं गतः । क्यपत्र निपात्यते । दरिद्रहननं दरिद्रहत्या । चोरहत्या ।
हनोः स्त्रीलिङ्ग भावे क्यप्निपात्यते । सुपीत्येव । गम्यम् । वातो वर्तते । अगेरित्येव । प्रभक्ष्यमुपधातः ।

स्तुशसिण्डुसजुषः क्यप् ॥२॥१॥९१॥ सुप्यगेरिति निवृत्तम् । सामान्येनार्थं निधिः । स्तु शास्त्र इण
वृणोति इ लुष इत्येतेभ्यः क्यप्भवति । स्तुत्यः । शिष्यः । इत्यः । आहृत्यः । आहृत्यः । पुनः क्यप्प्रदृश्यं
किमर्थम् ? “ओरावश्यके” [२॥१॥१०२] इत्यास्यापि धाधनार्थम् । अवश्यस्तुत्यः । “शंसिदुडिगुहिय्यो वेनि
वक्तव्यम्” [वा०] शस्यम् । दुध्यम् । शंस्यम् । दीक्ष्यम् । गुह्यम् । गोह्यम् । “आहृपूर्वाङ्गः सञ्ज्ञार्था क्यप्
वक्तव्यः” [वा०] आह्यम् । न वक्तव्यम् । पुनः क्यप्प्रदृश्याद्योगविभागान्नाविष्यति । उपेयमिति ईडो रूपम् ।

अदुङ्गेऽकलृपिचृतेः ॥२॥१॥९२॥ कृत्कारोऽलोः क्यप्भवति कृपिचृसी वर्जयित्वा । कृत्यम् ।
कृत्यम् । एवापवादोऽयम् । अकृपिचृतेरिति किम् ? कल्यम् । चर्यम् । “पाणी समवशब्दे च सृजेय्यो
वक्तव्यः” [वा०] पाणिस्सर्गा रज्जुः । समवशर्गः कटः ।

भृजोऽसौ ॥२१॥६३॥ भृजः क्यञ्भवति अखुविषये । भृत्याः कर्मकराः । भृत्याः शिशवः । भर्तव्या इत्यर्थः । अस्माविति किम् ? भार्या नाम क्षत्रियाः केचित् । देवदत्तस्य भार्या । स्त्रियां “समजनिषद्” [२१॥६१] इत्यादिना भावे क्यप् । कर्मणि चार्थं भार्याशब्दः । “संपूर्वाद्देति वक्तव्यम्” [वा०] सम्भृत्या सभार्याः कर्मकराः ।

खेयराजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्यव्यय्याः ॥२१॥६४॥ खेयादयः शब्दा निपात्यन्ते । खेयमिति खनतैर्यो निपात्यतै इकारश्चान्तादेशः । आदेप् । ‘ये वा’ [४॥४॥४५] इत्यात्वं नाशङ्कनीयं निपातनादेव । राजसूयमिति राजशब्दे वान्ते भान्ते सुनोतैः क्यप् दीत्वं च निपात्यते । राजा सूयते राजा वा अस्मिन् सूयते इति राजसूयम् । सरति कर्माणि सुवतीति वा सूर्यः । सत्तेत्यं सूपतैर्वा रुडागमः क्यञ्च निपात्यते । मृषापूर्वस्य षदतेर्नित्यं क्यञ्च निपात्यते । मृषोद्यम् । रुच्यमिति कर्तरि क्यप् निपात्यते । कुप्यमिति संशयां गुपेरादौ कथं क्यञ्च निपात्यते । कुप्यं फल्गु भाण्डमित्यर्थः । गोप्यमन्यत् । कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव कृष्टपच्यौ ब्रौह्मः । आत्म-कर्मणि क्यप् । न व्यथतेऽसावव्यथः । नभ्यूर्वाद्व्यथतेः कर्तरि क्यप् निपात्यते ।

भिद्योद्ध्यौ नदे ॥२१॥६५॥ भिद्य उद्ध्य इत्येतौ निपात्येते नदेऽभिधेये । भिनति कूलानि भिद्यः । उज्ज्वल्युदकमिति उद्ध्यः । कर्तरि कारके क्यप् उज्ज्वेर्धत्वं च निपात्यते । नद इति किम् ? भिदः । उज्ज्वलः । इगुञ्जल्लक्षणाः कः पचाद्यथ यथाक्रमम् ।

पुष्यसिद्ध्यौ भे ॥२१॥६६॥ पुष्य सिध्य इत्येतौ निपात्येते भेऽभिधेये । पुष्यस्यस्मिन्नर्था आरभमा-णानामिति पुष्यः । सिध्यस्यस्मिन्नर्था इति सिद्ध्यः । अधिकरणे क्यञ्च निपात्यते नक्षत्रे वाच्ये । अन्यत्र पोषणः सेधन इति च भवति ।

विपूयविनीयजित्या मुञ्जकलकहलिषु ॥२१॥६७॥ विपूय विनीय जित्या इत्येते शब्दा निपा-त्यन्ते यथासंख्यं मुञ्ज कलक हलि इत्येतेषु वाच्येषु । विपूयते इति विपूयो मुञ्जः । पवतेः क्यञ्च निपात्यते । विपव्यम-न्यत् । विनीयतेऽसौ घृतादिना विनीयः । भिफलादिकलकः । विनैवमन्यत् । जित्यो हलिः । जेयमन्यत् ।

पदास्वैरिवाहापद्येषु ग्रहः ॥२१॥६८॥ पदे अस्वैरिणि वाङ्मयां पद्ये चार्थे ग्रहेर्धोः क्यञ्च भवति । प्रग्रहाते इति प्रग्रहं पदम् । अवग्रहं पदम् । अस्वैरी परवशः । गृहका इमे । अनुकम्पायां कः । परतन्त्रा इत्यर्थः । बहिर्भूता वाङ्मया । गृह्यते इति गृह्याः । ग्रामस्य ग्रह्या ग्रामग्रह्या नगरग्रह्या सेना । ताम्यां बहिर्भूता इत्यर्थः । क्लीलिङ्गादन्यत्र न भवति । पद्ये भवः पद्यः । भरतग्रहः । भुजबलिग्रहः । तत्पद्य इत्यर्थः ।

कृष्टुषिमृजं यशोभद्रस्थ ॥२१॥६९॥ कार्ये ता । कृष्टुषि मृज् इत्येतेभ्यः कथञ् भवति यशो-भद्रस्याचार्यस्य मतैव । कृत्यम् । कार्यम् । नित्यं ययः प्राप्तः । वृध्यम् । वर्ष्यम् । परिगृज्यम् । परिभाष्यम् । “ऋदुङ्” [२१॥६२] इति नित्यं क्यप् प्राप्तः ।

युग्यं पत्रे ॥२१॥१००॥ पतति अनेनेति पत्रं वाहनम् ; तस्मिन्नर्थे युग्यमिति निपात्यते । युज्यते इति युग्योऽश्वः । युग्यो गौः । क्यप् कुत्वं च निपात्यते । पत्रादन्यत्र योभ्यमिति ।

णयः ॥२१॥१०१॥ यय इत्यर्थं त्यो भवति शोः । अयमुत्सर्गः । अजन्ताद्यः क्यप् चास्यापवादौ । कार्यम् । हार्यम् । पाक्यम् । पाठ्यम् ।

ओरावश्यके ॥२१॥१०२॥ उवाणान्ताद्दोषेण भवत्यावश्यके द्योत्वे । अवश्यमित्यस्य भवः आवश्य-कम् । मनोकादित्याद् कुञ् । लाव्यम् । पाव्यम् । यदावश्यकेऽर्थेऽवश्यताव्यमिति कथं सविधिः ? ममूर-व्यंसकादित्याद्विभाषया । आवश्यक इति किम् ? लव्यम् । पव्यम् ।

अमावस्या वा ॥२१॥१०३॥ अमावस्य इति वा प्रादेशो निपात्यते । अमा वसतः सूर्याचन्द्रमसावस्यां

अमावस्या । अमात्रास्या । अमाराब्दे सहाय्ये वाचि वसेरधिकरणेऽर्थे एयो विभाषया उक्तः प्रादेशश्च निपात्यते । प्रदेशेषु एकदेशविकृतस्य ग्रहणार्थम् ।

पाय्यसाध्यायनिकायध्याय्याऽऽनाय्यप्रणाय्या मानहविर्निवाससामिधेन्यनित्याऽसम्पत्तिषु ॥२।१।१०४॥ पाय्य सात्राय्य निकाय्य धाय्य आनाय्य प्रणाय्य इत्येते शब्दा निपात्यन्ते यथासंख्यं मान हविर्निवास सामिधेनी अनित्य असम्पत्ति इत्येतेष्वर्थेषु । भीयतेऽनेनेति पाय्यं मानम् । माङ्गः करणे एयः । आदिपत्वञ्च निपात्यते । मानमन्यत् । सञ्जीयते इति सात्राय्यं हविः । सम्पूर्वाग्रयतेः एयः आयादेशो गेदीत्वं च निपात्यते । सञ्जेयमन्यत् । निचीयते इति निकाय्यो निवासश्चेत् । निपूर्वाच्चित्रः एयावादेशावादिक्त्वं च निपात्यते । निचेयमन्यत् । धोयते इति धाय्या सामिधेनी । दधातेर्यो निपात्यते । निशिष्टा श्रुचः सामिधेन्यः । तत्र रुदिवशात्काचिदेवोच्यते । धेयमन्यत् । आनाय्य इति नयतेराङ्पूर्वाग्रयायादेशो निपात्यावनित्येऽर्थः । आनाय्यो दक्षिणाग्निः । रुदिरेश दक्षिणाग्निविशेषश्च । आनेयोऽन्यः । अविद्यमानसम्पत्तिरसम्पत्तिः प्रपूर्वाग्रयतेर्योयादेशो निपात्यो । प्रणाय्यश्चौरः । प्रणेयोऽन्यः ।

कुण्डपाय्यसञ्चाय्यपरिचाय्योपचाय्यचित्याग्निचित्याः ॥२।१।१०५॥ कुण्डपाय्य सञ्चाय्य परिचाय्य उपचाय्य चित्य अग्निचित्या इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुण्डेन पीयतेऽस्मिन्सोम इति कुण्डपाय्यः कतुः । कुण्डशब्दे भान्ते एयोऽधिकरणे निपात्यते । कुण्डपानमन्यत् । सञ्जीयते इति सञ्चाय्यः कतुः । सञ्जेयमन्यत् । परिचाय्योपचाय्यौ निपात्येते अग्नावमिधेये । परिचेय उपचेय इत्यन्यत् । चित्याग्निचित्याशब्दौ निपात्येते अग्नावमिधेये । चीयतेऽसौ चित्योऽग्निः । अग्निध्वनमग्निचित्या । अन्त्ये स्त्रीलिङ्गे भावे क्यञ्चिपात्यः ।

पुतुत्तौ ॥२।१।१०६॥ एतु एत् इत्येते लौ भवतः । लकारः । कर्ता । भोजकः । भोक्ता ।

नन्दिग्रहिपचिभ्यो ल्युणिन्यचः ॥२।१।१०७॥ नन्दादिभ्यो ग्रहादिभ्यः पचादिभ्यश्च यथासंख्यं ल्यु णिन् अच् इत्येते ल्या भवन्ति । नन्दयतीति नन्दनः । लकारः “युधोरनाकौ” [१।१।१] इति सामान्यग्रहणाविधातार्थः । नन्दिवाशिपदिनर्दिभूषिताभिरोभिर्वर्दिभ्यो एयन्तेभ्यः संज्ञायां सहितपिदमिन्बलिर्नचिञ्चल्लिपिपरिसिद्धकृन्दिसङ्कर्षिभ्यः संज्ञायामयन्तेभ्यः । जनार्दनः । मधुसूदनः । लवण इति निपातनाएकत्वम् । विभीषणः । पवनः । वित्तनाशनः । कुलदमन एतावणोऽपवादी इति नन्द्यादिः । ग्रह उत्सह उद्गास स्था उद्गास मंत्र संमर्द निरक्षी निश्रावी निवापी निवेशी एतेभ्यः निपूर्वेभ्यः । अयाची अव्याहारी असंव्याहारी अवादी अवाची अवासी एतेभ्यः प्रतिषिद्धेभ्यः । अचामचित्तकर्तृकाणां प्रतिषिद्धनामिति वर्तते । अकारो अहारी अविनायी विशयी विषयीशब्दौ देशे निपातनात् अद्रिभावी प्रविभायी भूते भवतः । अपराधी उपरोधी परिभवी परिभावी इति ग्रहादिः । पच पठ वप वद चल पत तथा चरिचलिर्पतवदीनामन्याक्चस्येति वक्ष्यते । नदद् लवद् सरद् चरद् चारद् चेलद् गा इद् देवद् दित्करणं स्त्रिवां ङघर्थम् । जर मर चर सेच मेघ कोष दर्भ सर्प नर्त प्रण डर । अर्ण्य विषयेऽपि । अपच चक्रधर । पचादिराकृतिगणः ।

साकृमीगुङः कः ॥२।१।१०८॥ सा कृ मी इत्येतेभ्यः इगुङश्च धोः को भवति । जानातीति कः । आकारान्तलक्षणेणो गः प्राप्तः । इह अर्थे जानातीति अर्थकः । परत्वादातः के सति नित्यः सविधिः । उत्किरतीति उत्किरः । विकिरः । प्रीणातीति प्रियः । इगुङः । विक्षिपः । विबुधः । विवृतः । इह काष्ठभेदः इति परत्वादण् ।

आतो गो ॥२।१।१०९॥ आकारान्ताद्धोः को भवति गो वाचि । णापवादोऽयम् । प्रस्थः । सुस्तः । इह बडवासन्दाय इति परत्वादण् ।

पाप्माभ्याघेदृच्छः शः ॥२।१।११०॥ पाप्मिति वर्तते । पाप्मिभ्यः शो भवति । पा इति साहचर्यादलाक्षणिक्त्वाच्च पिबतेर्ग्रहणम् । उत्पिबः । विपिबः । उत्पिब्रः । विजिब्रः । संज्ञायां तु “भ्याघैरुपमेयेऽष्टमोने”

[१।३।११] इति निर्देशात् कः । व्याघ्रः । उद्धमः । विधमः । उद्धयः । विधयः । उत्पश्यः । विपश्यः ।
गाविति केचिदिह नाभिसम्बन्धन्ति । तेन पश्यतीति पश्यः । जिघ्रः ।

लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेसिसातिसाहिभ्योऽङोः ॥२।१।१११॥ लिम्प विन्द धारि
पारि वेदि उदेजि चेति साहि इत्येतेभ्यः अगिपूर्वेभ्यः शो भवति । लिम्पतीति लिम्पः । कथं कुम्पल्लेप इति ?
“मध्येऽपवादाः पूर्वान्वर्तन् वाधन्तं वात्तरान्” [प०] इति इगुङ् कस्यायं शो वाधको नाणः । विन्दतीति
विन्दः । लिम्पविन्द इति सानुबन्धनिर्देशादन्यत्राप्ययं विधिर्भवति । संज्ञायां गावपि । निलिम्पा नाम देवाः । अरविन्दं
गोविन्द इत्यण्विषयेऽपि शः सिद्धः । धारयतीति धारयः । पारयः । वेदयः । उदेजयः । निर्देशादेव गिपूर्वस्य
ग्रहणम् । चेतयः । सातं करोतीति णिच् । सातयः । साहयः । आन्धाभ्यां के इतरेभ्योऽचि प्राप्तं वचनम् ।

दान्धाजोर्चा ॥२।१।११२॥ कार्ये ताविभल्ली । दान् धाञ् इत्येताभ्यां अगिपूर्वाभ्यां च शो
भवति । ददः । दधः । दायः । धायः । अगावित्येव । प्रदः । प्रधः । अनुबन्धनिर्देशो यदुबन्तयोः शो
मा भूदित्येवमर्थः ।

ज्वलितिकसन्ताणूः ॥२।१।११३॥ इतिः आद्यर्थे अविभक्तिकश्च निर्देशः । ज्वलादिभ्यः कश्च
गतौ इत्येवमन्तेभ्यो वा शो भवति । ज्वालः । ज्वलः । कासः । कसः । चालः । चलः । अगावित्येव ।
प्रज्वलः ।

20382

स्याव्यधासुसंजुलिहश्लिषश्वसतीणः ॥२।१।११४॥ श्वैङ् आकारान्त व्यध आसु संजु
लिह श्लिष श्वस् अतीण् इत्येतेभ्यो शो भवति । वेति निवृत्तं अगाविति च । अवश्यायः । आदिति सिद्धे पुनः
स्याग्रहणम् “आतो गो” [१।१।१०६] इत्यस्य बाधनार्थः । आत् । दायः । धायः । व्याधः । आस्तावः ।
संस्तावः । लेहः । श्लेधः । श्वासः । अस्थायः । “अवादिभ्यस्तनेरिति वक्तव्यम्” [पा०] अवतनोतीत्यवतानः ।

हसोऽवे ॥२।१।११५॥ ह सा इत्येताभ्यामवपूर्वाभ्यां शो भवति । अवहारः । अवसायः ।

दुम्योरगौ ॥२।१।११६॥ दुनौ इत्येताभ्यां शो भवति । दुनोतीति दायः । नायः । अगाविति किम् !
प्रद्वः । प्रणयः ।

विभाषा ग्रहः ॥२।१।११७॥ ग्रहेर्विभाषया शो भवति । ग्राहः । ग्रहः । व्यवस्थितविभाषेक्षम् ।
जलचरे ग्राह एव । ज्योतिषि ग्रह एव । विभाषेति योगविभागाद् भवतीति भावः ।

गेहे कः ॥२।१।११८॥ गेहेर्गेहेऽभिधेये को भवति । गेहं सन्न । तात्स्थ्यादारा अपि । गृहं गृहाः ।

शिल्पिनि द्युः ॥२।१।११९॥ शिल्पिन्यभिधेये द्युर्भवति धोः । नर्त्तकः । लनकः । रणकः । रजकः ।
रजनरजसां नखं वक्ष्यति । एत एव धवः प्रयोजयन्तीति केचित् ।

गो ण्युधकौ ॥२।१।१२०॥ गायतेण्युधक इत्येतौ त्वौ भवतः । शिल्पिनौति कर्त्ते । गायनः ।
गायकः ।

हायनः ॥२।१।१२१॥ हायन इति निपात्वते व्रीहिकालयोः कर्त्रोः । जह्यत्युदकमिति हायना नाम
व्रीहयः । जहति सहवृताः क्रियाः हायनः संवत्सरः ।

प्रसृल्लः साधुकारिणि वुन् ॥२।१।१२२॥ पु स्र लू इत्येतेभ्यः धुम्यः साधुकारिणि कर्त्तरि वुन्
भवति । साधु प्रवर्तते यः स प्रवक्कः । एवं सरकः । लवकः । साधुकारिणीति किम् ! प्रवः ।

आशिपि ॥२।१।१२३॥ आशिपि चार्थे वुन् भवति धोः । जीवतादिति य उच्यते स जीवकः । एवं
मन्दकः । वर्धकः ।

इत्यभयनान्दविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः



कर्मण्यण् ॥२।२।१॥ कर्मणि कारके वाचि धोरणित्यर्थं ल्यो भवति । कुम्भकारः । शरलावः । चर्चापारः । कुम्भदिशब्दात् “कर्तृकर्मणोः कञि” [१।४।६५] इति ता । “वागमिङ्” [१।३।८२] इति षतः । “शीलिकामिनक्षयाचरीक्षिदमिभ्यो णो वक्तव्यः” [वा०] धर्मशीलः । धर्मशीला । धर्मकामः । कायुभक्षः । धर्माचारः । धर्मापेक्षः । क्लेशक्षमः । नेदं वक्तव्यम् । वजन्तेन वक्षे सति सिद्धम् । धर्म शीलमस्य धर्मशीलः । धर्मे कामोऽस्य धर्मकामः । धर्म शीलकृतीत्येवमादिविग्रहे अनभिधानादण् न भवति यथा आदित्यं पश्यति हिमवन्तं शृणोतीत्येवमादौ न भवति । कुम्भकारादिभ्यण् वजन्तेन च षस इत्युभयं भवति ।

ह्लादामः ॥२।२।२॥ ह्ला वा मा इत्येतेभ्यश्चाण् भवति कर्मणि वाचि । के प्राप्ते इदं वचनम् । स्वर्गहायः । तत्पुत्रायः । वातिवायत्योर्मतिश्चाकर्मकत्वादग्रहणम् । धान्यं भिमीते भवते वा धान्यमायः । मीनातिमिनोत्योः कम्पान्तेरभावात् पूर्वैणैवाण् ।

आतः कः ॥२।२।३॥ आकारान्ताद्धोः कर्मणि वाचि क इत्यर्थं ल्यो भवति । गोदः । अर्थजः । पाष्णित्रम् । अङ्गुलित्रम् । ज्या वयोदानावित्यस्य ब्रह्म जिनातीति ब्रह्मज्यः । के कृते परत्वादातः खं पश्चाजिः । “असिद्धवदत्राभात्” [४।४।२१] इत्यात्स्वस्यासिद्धत्वादिवारेशो न भवति । यणादेशः सिद्धः । जुहुवतुः जुहु-
वुरित्यत्र ह्येज आत्स्मकृत्या जिः क्रियते इत्यात्वं नास्तीत्युवादेशः सिद्धः । आहः । प्रहः । इत्याकारान्तात् “जातो गौ” [२।३।८८] इति कः । प्रागाल् पश्चाजिः ।

प्रे ॥२।२।४॥ प्रपूर्वादातः को भवति कर्मणि वाचि । तत्त्वप्रहः । मोक्षप्रहः । नियमाथोऽवधारम्भः । प्र एव गौ नान्यस्मिन्नातः को भवति । गोसंदायः । वडवासंदायः ।

दाक्षः ॥२।२।५॥ अयमपि नियमः । दा शा इत्येताभ्यामेव प्रपूर्वाभ्यां कर्मणि को भवति । धर्म-
प्रदः । धर्मप्रज्ञः । नियमादिह न भवति । पाष्णित्रत्रायः । अङ्गुलिप्रत्रायः । कथं भाष्ये प्रयोगः “अभिज्ञश्च
पुनरेकत्वादीनामर्थानाम्” इति । अत्राभिधानवशात् “जातो गौ” [२।३।८८] इति को भविष्यति ।

संख्यः ॥२।२।६॥ प्र इति नियमेन निवर्तिते के पुनराभ्यः । सम्पूर्वात् ख्या इत्येवस्मात्कर्मणि वाचि
को भवति । पशून् सञ्चष्टे पशुसंख्यः । अश्वसंख्यः ।

सुपि ॥२।२।७॥ सुवन्तौ वाचि धोरतः को भवति । पादैः पिबति पादयः । कच्छेन पिबति कच्छयः ।
द्वाभ्यां पिबति द्वीपः । समस्थः । विप्रमस्थः । धर्माय प्रददाति धर्मप्रदः । शास्त्रेण प्रजानाति शास्त्रप्रज्ञः ।
अकर्मण्यपि वाचि यथा स्वादिति सुव्ग्रहणम् । इह केचिदात इति नानुवर्तयन्ति । तेन भूलविमुजादिभ्यमिधा-
नवशात् कः सिद्धः । मूक्षान् विमुजति मूलविमुजो रयः । जलरहम् । नखमुक्षानि धन्पि । काकगुहास्तित्वाः ।

स्थः ॥२।२।८॥ सुपि वाचि तिष्ठतेः को भवति । कर्तरि पूर्वो योगः । अनिर्दिष्टार्थत्वात् भावेऽपि यथा
स्वादित्यारम्भः । आबुलामुत्थानमाखूयः । शलभोत्थः । “स्थास्तभोः पूर्वस्योदः” [२।४।१३५] इति सका-
रस्य पूर्वस्त्वम् ।

दुहो घश्च ॥२।२।९॥ इतः प्रभृति कर्मणीति सुपीति च द्वयमनुवर्तते । कर्मणि वाचि दुहोः को
भवति वक्ष्यध्वदेशः । कामान्दोषिध कामदुहो धर्मः । कामदुहा धेनुः ।

तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः ॥२।२।१०॥ तुन्द शोक इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः परिमृज अपनुद
इत्येताभ्यां को भवति । अविशेषेण “सुपि” [२।२।७] इत्येतेनैव के सिद्धे आलस्यसुखाहरणयोर्ययोर्यथा
स्वादित्यारम्भः । तुन्दपरिमृजः अलसश्चेत् । शोकापनुदः पुत्रो जातः । पूर्व “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति
षतः पश्चाद्वातसः । आलस्यसुखाहरणयोरिति किम् ? तुन्दपरिमार्ज आतुरः । शोकापनोदो धर्माचार्यः ।

गण्डक् ॥२।२।११॥ गा इत्येतस्माद्वोः कर्मणि वाचि ढगित्ययं ल्यो भवति । वक्त्रगः । वक्त्रगी । ‘प्रे’ [२।२।४] ‘धाङ्’ [२।२।२] इति निष्ठादगिपूर्वादातः कर्मणि को विहितस्तस्मिन्नेव विषये ढक् । अन्यत्राप्येव भवति । वक्त्रसंगायः ।

सुराशीध्वोः पिबः ॥२।२।१२॥ सुरा शीधु इत्येतयोः कर्मणोः पिबतेः ढम्भवति । सुरापः । सुरपी । शीधुपः । शीधुपी । अयमपि कापवादः । सुराशीध्वोरिति किम् ? क्षीरं पिबतीति क्षीरपा कन्या । पिब इति विकृतनिर्देशः किम् ? सुरां पातीति सुरापा ।

प्रहेरः ॥२।२।१३॥ प्रहेर्धोः कर्मणि वाचि अ इत्ययं ल्यो भवति । शक्लिताङ्गजाङ्कुशयष्टितोमरषट्पदी धनुःपु वाक्तु प्रायेणामिधानम् । शक्तिग्रहः । लाङ्गलग्रहः । अङ्कुशग्रहः । यष्टिग्रहः । तोमरग्रहः । षट्ग्रहः । घटीग्रहः । धनुर्ग्रहः । सूत्रग्रहो भवति धारयति चेत् । सूत्रग्राहोऽन्यः ।

ह्रजोऽनुत्सेधे ॥२।२।१४॥ उत्सेध उत्क्षेपणम् । ह्रजोऽनुत्सेधे वर्तमानात् कर्मणि वाचि अत्यो भवति । अंशं हरति अंशहरः । भागहरः । रिक्थहरः । अनुत्सेधे इति किम् ? भारहारः । न केवलमुच्छ्राये उत्क्षेपणेऽप्युत्सेध इति शब्दो वर्तते तद्यथा नानाजातीया अनियता (तद्वृत्तवः) उत्सेधजीविन इति ।

वयसि ॥२।२।१५॥ शरीरिणां कासकृतावस्था वयः, तत्र अत्यो भवति वयसि गम्ये । अयमुत्सेधार्थे आरम्भः । कवचहरः क्षत्रियकुमारः । अस्थिहरः श्वशशुः । दृशोर (दृश्यमानेन) संभाव्यमानेन वा भारोत्क्षेपणेन वयो गम्यते ।

आङ्गि शीले ॥२।२।१६॥ शीलं स्वाभाविकी प्रवृत्तिः । आङ्गि च वाचि ह्रजोऽत्यो भवति शीले गम्यमाने । पुष्पाहरः । कलाहरः । सुखाहरः । उत्सेधानुत्सेधयोरयं विधिरिष्यते । अनुत्सेधे पूर्वेषु कस्मान्न भवति ? शीले परत्वात्तृन् स्यात् । शील इति किम् ? भारमाहरति भारहारः ।

अर्हः ॥२।२।१७॥ अर्हतेः कर्मणि वाचि अत्यो भवति । पूजार्शं प्रतिमा ।

स्तम्बेरमकर्णेज्जपो ॥२।२।१८॥ स्तम्बेरम कर्णेजा इत्येतौ शब्दौ हस्तिपृथक्कयोरर्थयोर्निपात्येते । स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णेज्जपः सूचकः । स्तम्बकर्णयो रमिजपोरिति सूत्रं कर्तव्यं सुपीति वर्तते । “वे कृति बहुकम्” [४।३।१३२] इत्यनुपा सिद्धम् । अर्थविशेषपरिग्रहार्थं निपातनम् । इह मा भूत् । स्तम्बे तृयास्तवके रन्ता गौः । कर्णे जपिता वैद्यः ।

शमि धोः खौ ॥२।२।१९॥ शमि वाचि धोः खुविषये अत्यो भवति । शम्भवः । शब्दः । शङ्करः । धुम्रहणेऽनुवर्तमाने पुनर्धुम्रहणं बाधकवाघनार्थम् । शङ्करा नाम परिव्राजिका । खुविषये कृजो देवादिषु परत्वाद्गो मा भूत् । खविति किम् ? शङ्करी जिनविद्या ।

शीङोऽधिकरणे ॥२।२।२०॥ शीतेरधिकरणे सुधन्ते वाचि अत्यो भवति । खे शीते खशयः । खेशयः । गर्तशयः । गतेशयः । “वे कृति बहुकम्” [४।३।१३२] इति पक्षेऽनुप । शीङ इति योगविभाग्यत् पार्श्वदिषु सुधन्तेषु वाक्तु अत्यो भवति । पार्श्वम्यां शीते पार्श्वशयः । पृष्ठशयः । उदरशयः । “उत्तानाविषु च कर्तृषु” [वा०] उत्तानः शीते उत्तानशयः । अयमूर्द्धशयः । “दिग्धसहपूर्वाच्च अत्यो भवति” [वा०] दिग्धेन सह शीते दिग्धसहशयः । कथं गिरिशः । लोमादिपाठान्मत्वर्थीयः शः । यो हि गिरी शीते गिरिस्तस्यास्ति ।

चरेष्टः ॥२।२।२१॥ चरेर्धोरधिकरणे वाचि टो भवति । कुक्षु चरति कुरुचरः । मद्रचरः । मद्रचरी । अधिकरण इत्येव । कुलेश्वरति कुरुचारा ।

भिक्षासेनादाये ॥२१२२॥ अनधिकरणार्थमेतत् । भिक्षा सेना आदाय इत्येतेषु वाच्ये चरेष्टो भवति । भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायशब्दः प्थान्तः । आदाय चरति आदायचरः ।

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सुः ॥२१२३॥ पुरस् अग्रतस् अग्रे इत्येतेषु सुप्रत्यये वाच्ये सरतेष्टो भवति । पुरःसरः । “अग्रतस् आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इत्येवन्तात्तसिः । अग्रतःसरः । अग्रेसरः । अग्रेसरी । अनीयन्तत्वेऽप्येकारो निपातनात् ।

पूर्वे कर्त्तरि ॥२१२४॥ कर्तृग्रहणं कर्मनिवृत्त्यर्थं पूर्वशब्दे कर्तृवाचिणि सुप्रत्यये वाचि सरतेष्टो भवति । पूर्वः सरति पूर्वसरः । क्रियाया विशेषण्येऽपीष्यते । पूर्वं प्रथमं सरति पूर्वसरः । कर्त्तरीति किम् ? पूर्व देशं सरति पूर्वसारः ।

कृत्रो हेतुशीलानुलोम्येऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदे ॥२१२५॥ शब्द-
श्लोकादिवर्जिते कर्मणि वाचि कृत्रः ट इत्ययं ल्यो भवति हेतौ शीले आनुलोम्ये च गम्यमाने । हेतुशब्दोपादा-
नात् इह हेतुः प्रकृष्टं कारणम् । विद्या वयस्करी । धनं कुलकरम् । शीलं स्वभावः । समासकरः । अर्थवरः ।
आनुलोम्यमनुकूलता । प्रेषकरः । वचनकरः । एतेष्विति किम् ? कुम्भकारः । अशब्दादिष्विति किम् ? शब्द-
कारः । श्लोककारः । कलहकारः । गाथाकारः । वैरकारः । चाटुकारः । सूत्रकारः । मन्त्रकारः । पदकारः ।

दिवाविभानिशाप्रभाभास्कुरान्तानन्तादिनान्दोलिपिलिविलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसंख्या-
जङ्गवाङ्महानुरसः ॥२१२६॥ अहेत्वार्थं आरम्भः । दिवाशब्दे सुप्रत्यये वाचि विभादिषु कर्मसु वाच्ये
करोतेष्ट इत्ययं ल्यो भवति । दिव्येति क्लृप्तं ल्यम् । दिव्यं करोतीति दिवाकरः । त्वेभां करोतीति विभाकरः ।
निशाकरः । प्रभाकरः । भासनं भाः । भागं करोति भास्करः । सूत्रे भास्कुरान्तीति सकारस्य निपातनात् जिह्वा-
मूलोपविसर्जनीयौ न भवतः । कारं करोतीति कारकरः । अन्तकरः । अगन्तकरः । अन्तकरस्य नञ्ते अन्योऽर्थः
प्रतीयते इत्यनन्तग्रहणम् । आदिकरः । नान्दीकरः । लिपिकरः । लिपिकरः । विलिकरः । भक्तिकरः । कर्तृकरः ।
चित्रकरः । क्षेत्रकरः । संख्या एकत्वद्वित्वादिक । एककरः । बहुशब्देऽपि नानाधिकरणवाची संख्याशब्दः ।
बहुकरः । जंघाकरः । बाहुकरः । अहस्करः । “रोऽसुपि” [१३।७८] इति रेफः । तस्य “कृकमि”
[१।४।३४] आदि सूत्रेण सत्वम् । धनुष्करः । अश्वकरः । “सस्सेऽण्युस्थस्य” [१।४।३३] इति सत्वम् ।
“इणः वः” [१।४।२७] इति प्रत्वम् ।

कर्मणि भृतौ ॥२१२७॥ कर्मशब्दे वाचि कृत्रो भवति भृतौ गम्यमानायां । भृतेर्नियतं
कर्मपूज्यम् । कर्म करोति कर्मकरः । भृताविति किम् ? कर्मकारः ।

किङ्करः ॥२१२८॥ किम् यद् तद् बहु इत्येतेषु वाच्ये कृत्रः अ इत्ययं ल्यो भवति । किङ्करः
किङ्करा । यत्करः । यत्करा । तत्करः । तत्करा । चौर्ये तत्करः । बहुकरा । इह बहुशब्दो वैपुल्यवाची । हेत्वादिषु
ट एव भवति । किङ्कराशीला किङ्करी ।

सकृत्साम्बे वत्सवीहोरिः ॥२१२९॥ सकृत् साम्ब इत्येतयोः कर्मणोः कृत्र इत्ययं ल्यो भवति
वत्सवीहोः कर्त्री । सकृत्करिवत्सः । साम्बकरिः वीहिः । वत्सवीहोरिति किम् ? सकृत्कारः । साम्बकारः ।

दतिनाथयोः पशौ हजः ॥२१३०॥ दति नाथ इत्येतयोर्वाचोः पशौ कर्त्तरि हज इत्ययं ल्यो
भवति । दतिहरिः । नाथहरिः पशुः । पशाविति किम् ? दतिहारः । नाथहारः ।

फलेग्रहात्मम्भरिकुक्षिम्भरयः ॥२१३१॥ फलेग्रहि आत्मम्भरि कुक्षिम्भरि इत्येते शब्दा निपा-
त्यन्ते । फलानि ग्रह्णाति फलेग्रहिः । वाच्यं एत्वमिश्रं निपात्यते । आत्मानं विभर्ति आत्मम्भरिः । कुक्षिम्भरिः ।
वाच्यो मन्तव्यमिश्रं निपात्यते ।

एजेः खश् ॥२॥३२॥ एजतेर्यन्तात्खशित्यवं त्यो भवति कर्मणि वाचि । खकारः “खित्यभेः” [४।३।१०६] इति विशेषणार्थः । शकारो गमंशार्थः । अङ्गान्वेजयति अङ्गमेजयः । जनमेजयः । “वातविक-
सार्धेषु अजतुवज्जहातिभ्यः खश्चकभ्यः” [वा०] वातमजाः मृगाः । तिलन्तुदः काकः । सार्धं जहा मृगाः ।

नासिकादौ घेट्ध्मः ॥२॥३३॥ नासिकादिषु कर्मसु घेट् ध्मा इत्येताभ्यां खश् भवति । नासि-
कान्वयति नासिकान्वयः । नासिकान्वमः । स्वरिन्धवः । स्वरिन्धमः । नाडिन्धवः । नाडिन्धमः । मुष्टिन्धवः ।
मुष्टिन्धमः । घटिन्धवः । घटिन्धमः । वातन्धवः । वातन्धमः । शुनीस्तनयोर्धेट एव । शुनिन्धवः । स्तनन्धवः ।
आदिशब्दः प्रकारवाची ।

उदि कूले रुजिचहोः ॥२॥३४॥ उदीति कास्याने ईप् । ऊर्वाभ्यां रुधि वहि इत्येताभ्यां कूले
कर्मणि खश् । कूलमुद्गुजः । कूलमुद्गुहः ।

वहाभ्रे लिहः ॥२॥३५॥ वह अभ्र इत्येतयोः कर्मणोः लिहेर्धोः खश् भवति । वहं खेदि वहंलिहो
गौः । अभ्रं लिहः प्रासादः ।

मितनखपरिमाणे पचः ॥२॥३६॥ मितशब्दस्य पृथग्निर्देशात् परिमाणं प्रत्यादि गृह्यते । मित
नख परिमाण इत्येतेषु कर्मसु पचेर्धोः खश् भवति । मितं पचते मितम्पचा कन्या । नखम्पचा यवागूः । प्रख-
म्पचा । आढकम्पचा । द्रोणम्पचा ।

विध्वरुषोस्तुवः खलम् ॥२॥३७॥ विधु अरुष् इत्येतयोः कर्मणोः तुदेर्धोः खश् भवति ।
खकारस्य च खम् । विधुन्तुदः । अरुन्तुदः ।

वाचंयमासूर्यपश्योग्रम्पश्यललाटन्तपपरन्तपद्विषन्तपेरस्मदपुरन्दरसर्वं खहाः ॥२॥३८॥
एते शब्दा निपात्यन्ते । वाक्कुण्डे कर्मणि वगेर्धोः खो निपात्यते व्रते । वाचं यच्छति वाचंयमस्तपस्वी । वाग्या-
मोऽन्यः । सूर्यं न पश्यति असूर्यपश्यं मुखम् । असूर्यं पश्या राजदायाः । निपातनादसामर्थ्येऽपि नञ्चः द्वयोः
खश् । उग्रं पश्यति उग्रम्पश्यः । उग्रे कर्मणि द्वयोः खश् निपात्यते । ललाटन्तपति ललाटन्तपो मास्वान् ।
खश् निपात्यः । परांस्तापयति परन्तपः । द्विषतस्तापयति द्विषंस्तपः । परद्विषतोः कर्मणोस्तापोः खग्निपात्यते ।
तकारस्य च खम् । “खचि” [४।४।८८] इति प्रादेशः । स्त्रियामनभिधानम् । द्विषतीतापः । इरया माद्यति
इरम्भदम् । खग्निपात्यः । पुरो दास्यति पुरन्दरः । खच् वाचो मन्तता च निपात्यते । सर्वं सहते इति
सर्वं सहः । खश् निपात्यः । कथं पाणयो ध्यायन्ते एषु पाणिन्धमा पन्थान इति ? नासिकादौ पाणिशब्दः ; तत्र
पाणिन्धमाः पथिकाः तात्स्थ्यात्पन्थानोऽपीत्यधिकरणे खश् न वक्तव्यः ।

प्रियवशे वदः खच् ॥२॥३९॥ प्रिय वश् इत्येतयोः कर्मणोः वदतेः खचित्यवं त्यो भवति ।
प्रियंवदः । वशंवदः । खकारो वागर्थः (मुमर्थः) । चकारः “खचि” [४।४।८८] इति विशेषणार्थः ।
त्यान्तरकरणं किमर्थम् ? खशि सति उत्तरत्र करोतेर्भिर्भर्तेश्च विकरणाः स्यात् । धोरिहोडः प्रादेशश्च
न स्यात् ।

सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः ॥२॥४०॥ सर्वं कूल अभ्र करीष इत्येतेषु वाङ्मु कषतेः खज् भवति ।
सर्वं कषो विप्रः । कूलङ्गवा नदी । अभ्रङ्गयो वायुः । करीषङ्गवा वात्या । “भयो वारेः खज् वक्तव्यः” [वा०]
भगन्दरः ।

मेघतिभयेषु कृजः ॥२॥४१॥ मेघ ऋति भय इत्येतेषु कर्मसु करोतेः खज् भवति । मेघङ्करः ।
ऋतिङ्करा । भयङ्करः । “अभयाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] अभयङ्करो जिनः । नञ्से अन्योऽर्थः प्रतीयते ।
अणोऽपवादोऽयम् । परत्वेन हेत्वादिदस्य च बाधकः ।

क्षेमप्रियमद्रेऽण् च ॥२॥२॥४२॥ क्षेम प्रिय मद्रे इत्येतेषु कर्मसु करोतेरणित्यर्थं लो भवति खच्च ।
वेति सिद्धे कृशो द्वेत्वादिष्वपि व्यतिषेधार्थमण्प्रहरणम् । क्षेमकारः । क्षेमङ्करः । प्रियकारः । प्रियङ्करः । मद्रे-
कारः । मद्रेङ्करः ।

आशितम्भवः ॥२॥२॥४३॥ आशितम्भव इति निपात्यते । आशितशब्दे सुबन्ते वाचि भवतेर्भाव-
करणयोः खञ् निपात्यते । आसित इति कर्तरि क्तो दीत्वं चात एव निपातनात् । आशितस्य भवनमाशितम्भवो
वर्त्तते । आशितो भवत्यनेनात्ममग्न शितम्भव ओपसः । प्रत्ययान्तविहितो दुर्द्धि भवति । भावे घञः समत्वा-
दयं बाधकः ।

भुतवृजिधारिसहितपिबमः खौ ॥२॥२॥४४॥ भू तृ वृ जि धारि सहि तपि दमि इत्येतेभ्यः खुविष्ये
खञ् भवति । कर्मणि सुपि वाचि यथासम्भवभयं विधिः । विश्वम्मरा । वसुन्धरा । रथन्तरो नाम राधा ।
वृडावृजोः-पतिवरा कन्या । अरिञ्जयः । युगं धारयति इति युगन्धरः । “खच्चि” [२॥४॥८८] इत्युक्तः प्रादेशः ।
शत्रुंषहः । शत्रुन्तपः । दभिरन्तर्गतययर्थः । अरिन्दमः । खाविति किम् ? कुटुम्बभारः ।

गमः ॥२॥२॥४५॥ खाविति वर्त्तते । सुबन्तवाचि गमेर्धोः खञ् भवति । सुतङ्गमो नाम कश्चित् ।
कश्चिदस्त्रावपीड्यते । मितगमोऽश्वः । अमितङ्गमा इस्तिनी । “विहायसो विहादेशः खच्च वा द्विकृत्यः”
[वा०] विहायसा गच्छति विहङ्गः । विहङ्गमः । “तुरमुजयोश्च” [वा०] तुरङ्गः । तुरङ्गमः । सुबङ्गः ।
सुबङ्गमः ।

डः ॥२॥२॥४६॥ खाविति निवृत्तं गम इति वर्त्तते । गमेर्धो भवति सुबन्ते वाचि । अन्तादिषु वाङ्मु प्राये-
णामिधानम् । अन्तगः । अत्यन्तगः । अन्वगः । दूरगः । पारगः । अनन्तगः । सुस्तल्पगः । स्रथागारगः ।
ग्रामगः । सर्वत्र गच्छति सर्वत्रगः । पन्नं गच्छति पन्नगः । “उरसः सखञ्चेति वक्तव्यम्” [वा०] “विहायसो
विहं च” [वा०] उरसा गच्छति उरगः । विहायसा गच्छति विहगः । “सुषुरोरधिक्करयो डो वक्तव्यः” [वा०]
सुखेन गच्छति अस्मिन् सुगः । दुर्गः । “निसो देशे” [वा०] निगो देशः । द्वित्यभस्यापि द्विकरणसामर्थ्यादेः
लम् ।

आशिषि हनः ॥२॥२॥४७॥ आशिष्यर्थे हन्तेर्धो भवति कर्मणि वाचि । तिमि हन्ति तिमिहः ।
शापहः ।

अपे क्लेशतमसोः ॥२॥२॥४८॥ अप इति कास्थाने ईप् । अपपूर्वात् हन्तेः क्लेशतमसोः कर्मणो-
र्वाचोर्धो भवति । अनाशोरर्थोऽयमारम्भः । क्लेशापहः । तमोपहः ।

कुमारशीर्षयोर्णिन् ॥२॥२॥४९॥ कुमार शीर्ष इत्येतयोः कर्मणोर्हन्तेर्णिन् भवति । अशीलावोऽ-
यमारम्भः । कुमारघातो । शीर्षघातो । शीर्षशब्दोऽकारान्तः शिरःपर्यायोऽस्ति ।

टगमनुष्ये ॥२॥२॥५०॥ हन इति वर्त्तते । हन्तेः कर्मणि वाचि टम् भवति अमनुष्ये कर्तरि । पितृ
हन्ति पितृघ्नं वृत्तम् । श्लेष्मघ्नमौषधम् । आवाघ्नस्तिलकः । पतिघ्नी रेखा । अमनुष्य इति किम् ? पापघात-
स्तपस्वी । चौरघातो हस्तीत्यत्र “युद्ध्या बहुलम्” [२॥२॥५४] इति बहुलवचनादण् ।

आयापत्योर्लक्षणे ॥२॥२॥५१॥ लक्षणं चिह्नं तदस्यास्तीति लक्षणम् । अर्शआदिपाठादः । आया पति
इत्येतयोः कर्मणोर्हन्तेर्लक्षणाति कर्तरि टम्भवति । आवाघ्नो ब्राह्मणः । लक्षणमस्य तद्विधमस्ति । पतिघ्नी
कन्या ।

शकि हस्तिकवाटे ॥२॥२॥५२॥ शकनं शक् शक्तिरित्यर्थः । हस्ति कवाट इति एतयोः कर्मणोः
हन्तेष्टम् भवति शकि गन्धमानायाम् । अयं पूर्वश्च मनुष्यकर्तृकार्य आरम्भः । हस्तिनं हन्ति हस्तिघ्नो मनुष्यः ।
हस्तिनं हन्तुं शक्त इत्यर्थः । कवाटघ्नो मनुष्यः । शकीति किम् ? हस्तिघातो व्याघ्रः उपायेन ।

द्विषा सहचरितः आदादिकः । प्रसूते प्रसूः । अण्डं सते अण्डसूः । शतसूः । गभेसूः । विद्वेष्टीति विद्विट् । मिश्रद्विट् । प्रद्रुहतीति प्रद्रुक् । मित्राय द्रुहति मिश्रद्रुक् । प्रदोग्धि प्रद्रुक् । युजिर् योगे युज समाधाविति चाविशेषेण ग्रहणम् । प्रयुनक्ति प्रद्रुक् । अश्वयुक् । सुजेर्यन्तस्याऽपि युज इति निरातनात् गोवप् । प्रयोजयतीति प्रयुक् । अश्वान् योजयति-अश्वयुक् । विदेशविशेषेण ग्रहणम् । प्रवित् । धर्मवित् । अभित् । बलभित् । प्रच्छित् । रजुच्छित् । प्रजित् । कर्मजित् । प्रणीः । ग्रामणीः । विराजते विराट् । सम्राट् । “मन्वन्कनि-
ज्विचः कचित्” [२।२।६२] “किप्” [२।२।६३] इति किपि सिद्धे नियोगार्थमिदम् । सुपीति वर्तमाने गिर-
हणं किमर्थम् ? अन्यत्र सुव्रह्मे गिरहणं नास्तीति शपनार्थम् । तेन “वदः सुपि क्यप् च” [२।१।८६]
इति गे क्यप् भवति । प्रवाच्यमनुवाचम् ।

अदोऽनन्ने ॥२।२।६०॥ अदेर्भोः क्रिड्भवति अनन्ने सुवन्ते वाचि । आगमसि आमाल् । वृक्षात् । अनज इति किम् ? अजादः ।

कव्ये ॥२।२।६१॥ कव्यमन्तरगतम् । कव्यपदे वाचि अदेः कव्यभवति । कव्यमांसं कव्यात् । पूर्व-
णैव सिद्धे पुनरारम्भः असरूपस्याणो बाधकः । कथं तर्हि कव्यादः ? पृषोदरादिषु कृत्तधिकृतादः कव्याद इति
द्रष्टव्यम् ।

मन्वन्कनिज्विचः कचित् ॥२।२।६२॥ मन् वन् कनिप् विच् इत्येते त्याः कचित् दृश्यन्ते ।
गावपीत्यनुवर्तते । सुशर्मा । सुवर्मा । कचिदिति वचनात् केवलादपि । दामा । पामा । वामा । हेमा । वन् ।
विजाया । अमेगावा । “चन्याः” [४।४।४२] इत्याख्यम् । कनिप् । प्रार्ताख्या । प्रार्ताख्यानो । केवलादपि ।
कृत्वा । कृलानौ । धीवा । पीवा । विच् । विशतीति वेट् । रेट् । वकारः कुत्कारार्थः । इकार उच्चारणार्थः ।
चकारः एवार्थः । जागर्ति जागः । विरित्युच्यमाने “जागुरविजिगृहसिद्धि” [५।२।८२] इति प्रप्रतिषेधः
शङ्क्येत ।

किप् ॥२।२।६३॥ किप् धोः कचिद् दृश्यते गावपि । उखेन (उखायाः) शंसते ‘उखाभत् ।
वाहंत् अशयति वाहाभट् । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीलम् । कचिदधिकारात्केवलादपि । याति
याः । वाति वाः ।

स्थः कः ॥२।२।६४॥ गावपीति वर्तते । तिष्ठतेः को भवति । शन्तिष्ठति शंस्थः । सुस्थः । ननु “सुपि”
[२।२।७] “स्थः” [२।२।८] इत्येतेनैव कः सिद्धः । न सिध्यति । “इमि धोः स्तौ” [२।२।१६] इत्यत्र
धुम्रहयस्य प्रयोजनमुक्तं समत्वेन पूर्वस्य कस्य बाधनमिति । यथा शङ्करा परिवाजिकेत्यत्र हेत्यादिलक्षणास्य यस्य
बाधात्कस्याकारस्य बाधनार्थं पुनः कविधानं किपोऽसमत्वादस्यो न बाधक इति पूर्वेषु किमिद्धः । शंस्थाः ।

भजो णिवः ॥२।२।६५॥ भजतेष्विर्भवति सुपि गावपि । अङ्भाक् । प्रभाक् । शकार एवार्थः ।
वकारः सति साम्ये बाधार्थः । इकारः उच्चारणार्थः । समत्वेन किंविचोर्बाधकोऽस्ति णिवः ।

सुपि शीलेऽजातौ णिन् ॥२।२।६६॥ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरित्यस्मिन् दर्शने जातिप्रतिषेधोऽ-
यम् । अजातिवाचिनि सुवन्ते वाचि शीले गम्यमाने धीणिन्भवति । सुपीति वर्तमाने पुनः सुव्रह्मेण सुप्मा-
थार्थम् । अन्यथा अजाताविति सत्त्ववाचिनः प्रतिषेधादन्यस्यापि सत्त्ववाचिनो ग्रहणं न स्यात् । उष्णं भुङ्क्ते

१. “पिठरस्थात्सुखाकुण्डम्” इत्यमरादिप्रामाण्यादुष्णशब्दस्य नित्यस्त्रीत्वात् “उखायाः शंसते”
इति वक्तुमुचितम् । मूले “उखेन शंसते” इति कथातृतीयाऽस्तीति च चिन्त्यम् । २. वाहात् अ०, व० ।
३. वाहाभट्-अ०, व० ।

इत्येवंशीलः उष्णभोजी । उदासारिण्यः । प्रत्यासारिण्यः । अजाताविति किम् ? शालीन् मुङ्क्ते इत्येवं शीलः शालिभोजः । साधूनामन्त्रयिता । शील इति किम् ? उष्णभोजः आपुरः । कचिदित्यनुवृत्तेः साधुकारिण्य-
ध्वये णिन् । साधुकारी । साधुदायी । “ब्रह्मणि यदेणिन् वक्तव्यः” [वा०] असमस्याणो वाचकः । ब्रह्म-
वादिनो वदन्ति ।

कर्त्तरीवे ॥२।२।६७॥ कर्त्तरि वाचि इवार्थे धोरिण् भवति । उपमानभूते कर्त्तरीत्यर्थः । जाल्यर्थम-
शीलार्थं चेदम् । उष्ट्र इव कोशते उष्ट्रकोशी । ध्वाङ्कुराणी । खरनादी । सिंहनदी । वृत्त्यैवार्थस्योक्त्यादिवशब्द-
स्याप्रयोगः । कर्त्तरीति किम् ? तिलानिव मुङ्क्ते कोदवान् । इव इति किम् ? उष्ट्रः कोशति ।

वते ॥२।२।६८॥ सुवन्ते वाचि धोरिण् भवति । समुदायेन चेद् वतं गम्यते । शास्त्रार्थको नियमो
व्रतम् । पार्श्वशायो । स्वरिडलशायी । वृद्धभूलवासी । आङ् न मुङ्क्ते मतमस्य अश्राद्धभोजी । अलक्षण-
भोजी । सापेक्षस्यास्यापि नञो वृत्तिर्व्याख्याता । वत इति किम् ? स्वरिडले शेते कामचारेण ।

प्रायो (य आ) ऽभोक्ष्ये ॥२।२।६९॥ सुवन्ते वाचि धोराभीक्ष्ये गम्ये प्रायो णिन् भवति । शीलं
गुणान्तरे द्वेषः । ततोऽन्यन्मुहुर्मुहुः सेवनमाभीक्ष्यम् । कपायपायिणो गान्धारयः । सौवीरपायिणो इपिजाः ।
तक्रपायिणो अन्त्राः । क्षीरपायिण उशीनराः । “मृदन्तनुम्विभक्त्याम्” [१।४।१२] इति शतम् । प्रायो-
प्रहणादिह न भवति । कुल्माषलादाश्चोलाः ।

मनः ॥२।२।७०॥ मन्यतेः सुपि वाचि णिन् भवति । अशीलाद्यर्थनेतृ । शोभनं मन्यते परं शोभ-
नमानी । दर्शनीयमानी । मन इति श्यविकरणस्य प्रहणं व्याख्यानानात् । उत्तरत्र खशि विशेषो भविष्यति ।

खरचात्मनः ॥२।२।७१॥ आत्मनो यत्सुवन्तं तस्मिन् वाचि मन्यतेः खरा भवति शिश्च । शोभ-
नमात्मानं मन्यते शोभनभ्रम्यः । शोभनमानी । परिडतभ्रम्यः । परिडतमानी ।

भूते ॥२।२।७२॥ भूत इत्यधिकारो वेदितव्यः । धोरिति कर्त्तने । अर्थवशाद् भूते ध्वये वक्ष्यमाणा
विषयो भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति ह्योः कनिप् । मेरुं दृष्टवान् मेरुदृष्टा । भूत इति किम् ? मेरुं द्रक्ष्यति । न
च भूतशब्दस्तेतरेतराश्रयत्वेनासिद्धिः, अनादित्वाच्चब्दव्यवहारस्य । भूत इति निसंशको वा शब्दः । “इयन्त
इति संख्यां निसंज्ञानां न विद्यते । प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ॥”

करणे यजः ॥२।२।७३॥ णिन्निति कर्त्तते । करणे सुवन्ते वाचि यजेर्धोर्भूते णिन् भवति । अग्नि-
ष्टोमेनेष्टवान् अग्निष्टोमयाजी । वाजपेययाजी । विशेषस्य करणत्वम् । यजनसामान्यं यजेरर्थः ।

कर्मणि हनः ॥२।२।७४॥ कर्मणि वाचि हन्तेर्णिन् भवति भूते । पितृव्यं हतवान् पितृव्यघाती ।
मातुलघाती । कुत्साविशेष इति वक्तव्यमिह मा भूत् । देवदत्तं हतवान् देवदत्तघातः ।

ब्रह्मभूणवृत्रेषु किल् ॥२।२।७५॥ ब्रह्म भूण वृत्र इत्येतेषु कर्मसु हन्तेः किल्भवति । ब्रह्माणं
हतवान् । ब्रह्महा । भूणहा । वृत्रहा । सामान्येन किल्पि सिद्धं नियमार्थमिदम् । ब्रह्मादिष्वेव कर्मसु हन्तेः
क्लिप्तान्यस्मिन् । भिन्नं हतवान् मित्रघातः । उभयया नियमश्चायम् । ब्रह्मादिषु कर्मसु भूते किल्पेव नान्यस्त्यः ।
उभयया शिष्यैः प्रतिदन्तवान् उभयया नियमो लभ्यते । कथं मधुरा ? चिन्त्यमेतत् । हन इत्येव । ब्रह्माणं
कृतवान् । भूत इत्येव । ब्रह्माणं हन्ति हनिष्यति वा ।

सुकर्मपापमन्त्रपुण्ये कजः ॥२।२।७६॥ किविति कर्त्तते । सुशब्दे वाचि कर्मदिषु च करोतेः
क्लिभवति भूते । सुष्ठु कृतवान् सुकृत् । कर्मकृत् । पापकृत् । मन्त्रकृत् । पुण्यकृत् । एतेऽप्युभयया नियमः ।

स्वादिष्वेव वाचु कृञः किम्भवति नान्यस्मिन् । सूत्रं कृतवान् सूत्रकारः । स्वादिषु च भूते किमेव नान्यस्यः । कृञ इति किम् ? पापं चितवान् । भूत इत्येव । कर्म करोतीति कर्मकारः । स्वादिष्वेव भूते किम्भवतीति नायमिह नियम इत्येके । तेन भाष्यकृत शास्त्रकृत तीर्थकृदित्येवमादि सिद्धम् । वर्तमानकालविकल्पा वा तेनानियमः ।

सोमे सुञः ॥२।२।७७॥ सोमे कर्मणि सुनोतेः किम्भवति भूते । सोमं सुतवान् सोमसुतः । सोम-सुतौ । सोमसुतः । एषोऽप्युभयथा नियमः । सोम एव वाचि सुनोतेः किम्नान्यस्मिन् । सुरां सुतवान् सुरसावः । सोमे वाचि भूते किमेव नान्यस्यः । सुञ इति किम् ? सोमं कृतवान् । भूत इत्येव । सोमं सुनोति सोमसावः ।

अग्नौ चेः ॥२।२।७८॥ अग्नौ कर्मणि चिनोतेः किम्भवति भूते । अग्निं चितवान् अग्निचित् । अग्निचितो । अग्निचितः । अयमप्युभयथा नियमः । अग्नावेव वाचि नान्यस्मिन् । कुक्ष्यं चितवान् कुक्ष्यचायः । अग्नौ वाचि भूते किमेव नान्यस्यः । चेरिति किम् ? अग्निं कृतवान् । भूत इत्येव । अग्निं चिनोति अग्निचायः ।

कर्मण्यन्याख्यायाम् ॥२।२।७९॥ कर्मणीति प्रकृतं वर्त्तते । कर्मणि वाचि चिनोतेः कर्मणि कारके किम्भवति समुदायेन चेदन्याख्या गम्यते । इयेन इव चितः इयेनचित् । काक इव चितः काकचित् । रथचकचित् । आख्याग्रहणं किमर्थम् ? रुद्धेः परिग्रहार्थम् । अग्न्यर्थं इष्टकाचयः इयेनचिदुच्यते ।

कर्मणोन्विक्रियः ॥२।२।८०॥ कर्मणि वाचि इदित्ययं त्यो भवति । विपूर्वात् क्रीणातेः । कर्मणीति वर्तमाने पुनः कर्मण्यद्वयमभिधेयनिवृत्त्यर्थम् । कर्मणि वाचि कर्त्तरि कारके यथा स्यात् । तैलं विक्रीतवान् तैलविक्रयी । व्रतविक्रयी । “कुक्ष्यायामिति वक्तव्यम्” [वा०] इह न भवति । धान्याविक्रायः ।

दृशोः कनिष् ॥२।२।८१॥ भूते कर्मणीति च वर्त्तते । कर्मणि वाचि दृशेधांः कनिष्भवति । मेघं दृष्टवान् मेघदृष्टा । विश्वदृष्टा । पितृकरणमुत्तरार्थम् । सामान्येन कनिषि सिद्धे पुनर्वचनं भूते मन्वन्विषां निवर्तकम् ।

राशि युधिकृञः ॥२।२।८२॥ राजशब्दे कर्मणि युधि कृञ् इत्येताभ्यां कनिष्भवति । युधिरस्त-भाषितव्यर्थः सकर्मकः । राजयुध्वा । राजकृत्वा । अयमपि योगः मन्वन्विषां निवृत्त्यर्थः । कर्मणीत्येव । राजा युद्धवान् ।

सह ॥२।२।८३॥ सहशब्दे वाचि युधिकृमित्येताभ्यां कनिष्भवति भूते । सह युद्धवान् सहयुध्वा । सहकृत्वा । “वा नोचः” [४।३।१६०] इत्यत्र न्यगवयवस्य वसस्य ग्रहणात् सहशब्दस्य समाखो न भवति । योगविभागो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।

जनेर्जः ॥२।२।८४॥ सुपि शील इत्यतः सुपीति संबध्यते । जनेर्धोः सुपि वाचि ङ इत्ययं त्यो भवति । उपसरे जातः उपसरजः । मन्वुरायां जातः मन्दुरजः । “त्वे ह्यापोः कचित् सौ च” [४।३।१७१] इति प्रादेशः । बलभीजः । “काशामजातावभिधानम्” [वा०] जाड्याजातं जाड्यजं दुःखम् । सन्तोषजं सुखम् । सङ्कल्पजः कामः । बुद्धिजः संस्कारः । अजाताविति किम् ? मृगाज्जातः । हस्तिनो जातः । गो वाचि सुविषये प्रजाताः प्रजाः । “अनौ कर्मणि वाच्यभिधानम्” [वा०] पुमांसमनुजातः पुमनुजः । स्त्र्यनुजः । “अन्यस्मिन्नपि वाचि दृश्यते कारकास्थरेऽपि” [वा०] किञ्जातेन किञ्जः । अलं जातेन अलज्जः । द्विर्जातो द्विजः । न जातः अजः । “काशामजातौ” इत्युक्तम् । जातावपि दृश्यते ब्राह्मणजः पशुजः । क्षत्रियजं युद्धम् । गो वाचि स्थावि-त्युक्तः अस्मावपि दृश्यते । अधिजातः । अधिजः । अमिजः । परिजः । अनौ कर्मणीत्युक्तम् । अकर्मण्यपि दृश्यते । अनुजातः अनुजः । यद्यपि विशेषेण सुरीत्युच्यते इहापि प्रानोति सर्वोद्धारिपूर्णो जातः गृहस्थो जातः । अनभिधानान्न भवति । “युद्धा बहुलम्” [२।३।१६३] इति बहुजनवचनात् । कर्मणि कारके अन्यस्मादपि भवति । परिखाता परिखा । पुंस अनुजातः पुंसानुप्रकरणे पुंसानुजो जनुषान्व इत्यनुबन्धव्यते ।

तः ॥२।२।८५॥ तसंज्ञरूपो भवति धोर्गते । इह वाग्विशेषपरिग्रहो नास्ति । कृतः । कृतवान् ।
युक्तः । युक्तवान् । कृत्वावत्त्वोर्भावितोः तसंज्ञाश्रिता तेन संज्ञया त्यविधाने इतरेतराश्रयं नास्ति । आदिकर्मण्यपि
कथञ्चित् भूतत्वमस्ति । प्रकृतः कर्तृ देवदत्तः । प्रकृतवान् कर्तृ देवदत्तः ।

सुयजोर्वनिप् ॥२।२।८६॥ सुपीति निवृत्तम् । सु यजि इत्येताभ्यां वनिप् भवति भूते । सुतवान् ।
सुत्वा । इष्टवानिति यण्वा ।

जृषोऽनृ ॥२।२।८७॥ जीर्यतेरतु इष्यं त्यो भवति भूते । जरन् । जरन्तौ । जरन्तः । कृत्वावत्त्वो-
रसमत्वादत्राधकोऽयम् ।

वसुसदिणो वसुर्लिङ्गमम् ॥२।२।८८॥ वस् सद् इण् इत्येतेभ्यः भूते वसुर्भवति लिङ्गवन्मसंज्ञश्च ।
अनूषिवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । उपसेदिवान् उपाध्यायं शिष्यः । ईयिवान् उपेयिवान् उपाध्यायं शिष्यः । इणः
कादिनियमादिटि द्वित्वम् । धुरुपस्य “यणेत्योः” [४।४।७७] इति यणादेशः । चस्य “कितीयो वीः”
[१।२।१३६] इति दीत्वम् । अथ कादिनियमलक्षणस्येष्टः “वशि” [१।१।११४] इति प्रतिषेधः कस्माच्च
भवति ! उत्तरत्र “श्रुवोऽनिट्” [२।२।८६] इत्यनिङ्गवचनं शापकं “वशि” [१।१।११४] इति प्रतिषेधो
न भवति । उदात्तस्य वा स प्रतिषेधः । लिङ्गवदतिदेशाद्विद्वत्त्वम् । “न क्तिष्ठोक्” [१।१।७२] इत्यादिना
कर्मणि ताप्रतिषेधश्च भवति । मसंज्ञायाः किं प्रयोजनं कर्मव्यतिहारे मा भूत् । व्यत्यये जनपद इति ।
“प्राक्तेर्वाऽसमः” [२।१।८१] इति लुङादयोऽपि भवन्ति । अन्ववासीत् । अन्ववसत् । अनूवास । उपासदत् ।
उपासीदत् । उपससाद् । उपागात् । उपैत् । उपेयाय । कसुकानौ लिङादेशौ सर्वधुभ्य इत्येके । “कसुखो मम्”
इति मसंज्ञकः । कानस्य “इङ्गानं वः” [१।२।१२१] इति दसंज्ञा । भावकर्मकर्तृषु च सम्भवः । लिङ्देशात्वादेव
क्त्वै सिद्धे स्फात्तार्थे क्तिङ्करणमनयोः । अङ्गेः आशिवान् । स्वञ्जेः सस्वञ्चान् इति कित्वावत्त्वं सिद्धम् ।
श्रुकारान्तस्यैवप्रतिषेधार्थं च कित्करणां तृतीर्चनः । “अच्छृत्वाताम्” [१।२।१२३] इत्येभ्यो भवति । कर्मणि
ततिराणः । “क्वत् इङ्गोः” [५।१।७४] इति इत्यस्य “क्वित्वेऽचि” [१।१।२६] इति स्थानिवद्भावे नृ इति
द्वित्वम् । “उरः” [१।२।१३६] इति अत्वम् । तैरेवाचार्यैः “वस्वेकाज्ञादधसामिङ्” इति वसौ परतः
एकाचामाकारान्तानां घसेश्चेङ्ग्विहितः । पेचिवान् । पपिवान् । जक्षिवान् । इह कस्माच्च भवति ! विभिद्धान्
चिञ्छिद्धान् । “हल्मध्ये लिङ्गवत्तः” इत्यनेन एत्वचस्योः कृतयोर्वमो य एकाच तत्रैवेङ् भवति । यद्येवं
ययिवामित्यत्रापि “इटि चात् खम्” [४।४।६३] इति खे कृते एकाचत्वमस्तीति आद्यग्रहणमनर्थकम् । नियमार्थ-
मेतत् । यथा इतिनिमित्तमेकाचत्वं तेषामाकारान्तानामेव [इङ्गभवति] नान्येषां च खन्वानिति । अत्रापीटि कृते
उङ्गः खे क्रियमाणे एकाचत्वसम्भवोऽस्ति । अत एव नियमात् घसेरिद्व्यप्राप्ते ग्रहणम् । तथा वा दृशिगमहन-
विद्विशाम् । ददृशिवान् । ददृश्वान् । जग्मिवान् । जगन्वान् । जन्मिवान् । जन्म्वान् । “मो नः” [१।३।८३]
“ज्योः” [१।३।८४] इति मकारस्य नत्वम् । दृशेरेकाचत्वात् गमहनोरात इति नियमात् इत्यप्राप्ते विभाषा ।
वसौ परतो विदेः शत्रिकरणस्य ग्रहणम् । विविदिवान् । विविद्धान् । ज्ञानार्थस्य ग्रहणे ते “यस्य वा”
[१।१।१२१] इति प्रतिषेधः स्यात् । विविशिवान् । विविश्वान् ।

श्रुवोऽनिट् ॥२।२।८९॥ श्रु इत्येतस्मादश्रुर्भवत्यनिट् । उपशुश्रुवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । असमत्वा-
लुङादयोऽपि । उपाश्रुणोत् । उपशुश्राव ।

अनाश्वाननूचानौ ॥२।२।९०॥ अनाश्वान अनूचान इत्येतां शब्दौ निपात्यते । नञ्पूर्वादभातेः
वसुर्लिङ्गवदिङ्भावश्च निपात्यते । अनाश्वान्तपञ्चकार । असमत्वात् नाश्वान् नाश इत्यपि भवति । वचेरनुपूर्वात्
कर्तरि कानो निपात्यते । अनूचानो व्रतोपपन्नः । असमत्वात् अनूक्तवान् अन्ववीचत् अनूचान इति च भवति ।

लुङ् ॥२।२।९१॥ लुङ् इत्ययं त्यो भवति भूते धोः । अकार्षीत् । अहार्षीत् । क भवानुधितः । अमुत्रा-
वात्समिति । अत्र भूतमात्रस्य विवक्षा, अतएव लङ् न भवति ।

अनद्यतने लङ् ॥२।२।९२॥ भूत इति वर्तते । अविद्यमानाद्यतने भूते घोर्लङ् भवति । अतीताया रात्रेः आ पश्चिमयामात् आगामिन्याश्च रात्रेराप्रथमयामात् अद्यतनकालः । तत्प्रतिषेधादनद्यतनः । अकरोत् । अहरत् । अनद्यतनभूतविवक्षायाः सम्बन्धाल्लुङो बाधको लङ् । अनद्यतन इति वसनिर्देशाद्यत्राद्यतनगन्धोऽप्यस्ति तत्र लङ् न भवति । अद्य ह्यश्वासुञ्जमहि । यदि वसः अद्यतनेऽप्यद्यतनो नास्तीति लङ् प्राप्नोति । नायं दोषः । विशेषाद्यतने सामान्याद्यतनस्य विद्यमानत्वात् । इह भूतमात्रं विवक्षितम् । आगच्छाम घोषात् अपिज्ञाम पय इति । 'परोक्षे लोकाविज्ञाने प्रयोक्तुः शक्यदर्शनमत्वेन दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः' [वा०] अक्षयान्महेन्द्रो मधुराम् । अक्षयवचनः साकेतम् । परोक्षे इति किम् ? उदगादादेत्यः । लोकविज्ञात इति किम् ? जगाम ग्रामं देवदत्तः । प्रयोक्तुः दर्शनविषय इति किम् ? अयान कंसं किल वासुदेवः ।

अयद्यभिज्ञोक्तौ लृट् ॥२।२।९३॥ अभिज्ञोक्तिः स्मृतिवचनम् । अविद्यमाने यच्छब्दे अभिज्ञावचने वाचि अनद्यतने लृट् भवति । अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः । मन्त्रेषु वत्स्यामः । उक्तिग्रहणं पर्यायार्थम् । स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा कश्मीरेषु वत्स्यामः । लङोऽपवादोऽयम् । अयदोति किम् ? अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेष्ववसामः ।

न वा साकाङ्क्षे ॥२।२।९४॥ आकाङ्क्षा सम्बन्धः । अनद्यतन इत्येव । साकाङ्क्षे अभिज्ञावचने वाचि घोर्न वा लृट् भवति । अयमभिज्ञावचने पूर्वैरेव प्राप्नोति लृट् नैति प्रतिषिद्धो । ततः केवले यच्छब्दसहिते चाभिज्ञावचने साकाङ्क्षे वाचि । वेति सर्वत्र विभाषा । अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः कश्मीरेष्ववसाम तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे तत्रौदनानभुञ्जमहि । यच्छब्दसहिते अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः यत्तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे यत्तत्रौदनानभुञ्जमहि ।

परोक्षे लिट् ॥२।२।९५॥ भूते अनद्यतने इति च वर्तते । परोक्षोऽक्षेभ्यः परोक्षः इन्द्रियागोचर इत्यर्थः । परोक्षशब्दस्य चेदमेव निपातनम् । भूतानद्यतनपरोक्षे ध्वये लिट् भवति । यद्यपि सर्वो ध्वयः साध्यत्वेनानुमेयत्वेन वा परोक्षस्तथापि यत्राश्रयद्वारेण प्रत्यक्षाभिमानो नास्ति लोकस्य स परोक्ष उक्तः । पपाच । चकार । आत्मनानुष्ठिता हि क्रिया सर्वस्य प्रत्यात्मं प्रत्यक्षेति सुप्तमत्तयोरस्मदः प्रयोगः । सुप्तोऽहं किल विलम्बाप । मत्तोऽहं किल जयान । "अत्यम्नापह्नवे लिट् वक्तव्यः" [वा०] नाहं कलिङ्कं जगाम । कलिङ्गगमनस्य प्रत्यक्षत्वाल्लिट्प्राप्तः ।

शश्वतोर्लङ् च ॥२।२।९६॥ शश्वदित्येतयोर्वाचोर्लङ् भवति लिट् च भूतानद्यतनपरोक्षे । इति हाकरोत् । इति ह चकार । शश्वदकरोत् । शश्वचकार ।

प्रश्ने चान्तर्युगे ॥२।२।९७॥ प्रष्टव्य इति प्रश्नः । पञ्चवर्षं युगम् । युगाभ्यन्तरे प्रश्ने भूतानद्यतने परोक्षे लङ्लिटौ भवतः । चकारः किमर्थः ? पूर्वसूत्रे चानुकुष्टस्य लिटोऽनुकर्षणार्थः । किमगच्छस्त्वं पाटलिपुत्रम् । अददादसौ दानम् । ददावसौ दानम् । प्रश्न इति किम् ? देवदत्तो जगाम । अन्तर्युग इति किम् ? अहं त्वां पृच्छामि । अयान कंसं किल वासुदेवः ।

पुरि लुङ् वा ॥२।२।९८॥ पुराशब्दो भूतानद्यतने वर्तते न भूतमात्रे । पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतने वा लुङ् भवति पक्षे यथाप्राप्तं च । अवास्तुरिह पुरा छात्राः । अवसन्निह पुरा छात्राः ।

लट् ॥२।२।९९॥ वेति निवृत्तम् । लङ् भवति पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतने । वसन्तीह पुरा छात्राः । योगविभाग उत्तरत्र लट् एवानुवर्तनार्थः ।

सो ॥२।२।१००॥ सशब्दोऽप्यनद्यतने परोक्षे च वर्तते न भूतमात्रे । सशब्दे वाचि अनद्यतने लङ् भवति । इति सोपाध्यायः कथयति स्वयंप्रभायै युध्यन्ते स्म विद्याधराः । लङ्लिटोरपवादोऽयम् । सपुराशब्दोऽर्थगच्छप्रयोगे परत्वात् सलक्षणी लट् । सुलोचनार्थं पुरा युध्यन्ते स्म पार्थिवाः । इराशब्दश्चापि विधिः

परत्वेन सलक्षणः । इति हाधीयते स्म । शश्वदधीयते स्म । तथा इशश्चलक्षणात् परत्वेन पुरालक्षणे विधिः । इति ह पुरा अध्यगीषत । शश्वत्पुरा अध्यगीषत । “जनौ वृष्टप्रतिवचने भूतमात्रे छट् वक्तव्यः” [वा०] अकार्षीः कटं देवदत्त ! ननु करोमि भोः । तथा “महच्छे जुह्वच्छे च वाचि पुष्टप्रतिवचने भूते वा छट् वक्तव्यः” [वा०] अकार्षीः कटं देवदत्त ! न करोमि भोः नाकार्षे भोः । अहं नु करोमि अहं न्वकार्षम् । नेदं द्वयं वक्तव्यम् । पूर्वत्र क्रियाया अपरिसमाप्तेर्वर्तमानत्वम् । उत्तरत्रासमाप्तिः समाप्तिश्च क्रियाया विवक्षिता ।

सम्प्रति ॥२॥२॥१०१॥ सम्प्रति ध्वये लट् भवति । आरम्भात्प्रभृत्याऽनुपरमाद्वर्तमानः कालः सम्प्रति ह्युच्यते । उक्तं च—“आरम्भाय प्रसृता यस्मिन् काले भवन्ति कर्तारः । कार्यस्यानिष्ठातस्तन्मध्यं काल-
मिच्छन्ति ॥” तरति । नयति । याति ।

तस्य शतृशानाववैकार्ये ॥२॥२॥१०२॥ तस्य सम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने शतृ शान इत्येतावादेशौ भवतः न चेद्वास्तेनैकार्यं भवति । पचन्तं पश्य । पचता कृतम् । पचमानेन कृतम् । तस्य ग्रहणं किम् । असम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने मा भूत् । उच्यते इह पुरा छात्रैः । अधीयते स्म नटैः । अवैकार्यं इति किम् ? पचति देवदत्तः । अत्र तस्य शतृशानाविति योगविभागः कर्त्तव्यः । “न वा साक्यक्षे” [१॥२॥१०३॥] इत्यतो मण्डूकश्रुत्या नवग्रहणं चाभिसम्बन्धनीयम् । ततो नेत्यनेन इतिशब्दयोगे प्रतिषेध एव भवति । वर्धतीति धावति । हन्तीति पलायते । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन इवादिभिर्योगे यौ भिन्नाधिकरणेषु च हस्तु नित्यो विधिः । कुर्वती भक्तिः । कुर्वद्भक्तिः । कौर्वतः । पाचमानः । भक्तिशब्दः प्रियादौ पठ्यते । तेन “पुंनञ्जालीयदेशीये” [४॥२॥१०४॥] इति पुंनञ्जावः । समानाधिकरणेषु हस्तु विकल्पः । कुर्वत्तरः । कुर्वद्रूपः । कुर्वाणरूपः । करोवितराम् । करोतिरूपम् । तस्मात् श्रुत्ययोरुपसंख्यानं न कर्त्तव्यम् । पुनरवैकार्यं इति द्वितीयो योगः । अत्रापि नवेत्यधिकारात् कचिद्वास्तेन सामानाधिकरण्येऽपि शतृशानौ भवतः । सन् घटः । अस्ति घटः । विद्यमानो घटः । विद्यते घटः । जुहन् जुहोति वा देवदत्तः । अधीयानो मुनिः । अधीते मुनिः । व्यवस्थितविभाषाबलात् माकथाकोशे लुङ्पि । मा पचन् । मा पचमानः । मा पादौत् ।

संयोजने ॥२॥२॥१०३॥ संयोजनमभिमुखीकरणम् । तद्विषये लटः शतृशानौ भक्तः वैकार्यत्वे । नित्यार्थमिदम् । हे पचमान । उभयोर्द्यौतयं संयोजनमिति वाविभक्तयपि भवति ।

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ॥२॥२॥१०४॥ लक्षणं शापकं चिह्नम् । हेतुर्जनकः । लक्षणं च या क्रिया क्रियाया हेतुश्च या क्रिया तत्र वर्तमानाद्धोः परस्य लटः शतृशानौ भवतः । शयाना भुञ्जते यवनाः । तिष्ठन्तो-
ऽनुशासति गणकाः । व्यभिचार्यपि लक्षणां दृश्यते यथा यत्रासौ काकस्तद्देवदत्तग्रहमिति । अन्यथेदेव स्यात् शयाना वर्द्धते पूर्वा । आसीनं वर्द्धते विसम् । हेतौ । अधीयान आस्ते । अर्जयन् वसति । नवेत्यनुवृत्तेरिह न भवति । वर्धतीति धावति । हन्तीति पलायते । लक्षणहेत्वोरिति किम् ? यो वेपते सोऽश्वत्थः । शङ्कुत्वते तल्लघु । द्रव्यस्य गुणस्य च लक्षणे न भवतः । इह शास्त्रे अन्यत्र हेतुग्रहणे कारकग्रहणमिति लक्षणग्रहणे च शापकग्रहणमिति अन्यतरनिर्देशेनोभयप्रतिपत्तेर्द्वयोपपादानं द्वन्द्वेषु अल्पाक्षरमिति पूर्वनिपातव्यभि-
चारार्थं [च] ।

तौ सत् ॥२॥२॥१०५॥ तौ शतृशानौ सत्संज्ञौ भवतः । शतृशानयोः प्रकृतत्वात् तौग्रहणं शतृशान-
रूपपरिग्रहार्थम् । तेन लुडादेशयोरपि सत्संज्ञा सिद्धा । देवदत्तस्य कुर्वन् करिष्यन् । “इहग्रहण” [१॥३॥१०६॥] इत्यादिना साप्तप्रतिषेधः ।

पूङ्गवजोः शानः ॥२॥२॥१०६॥ सम्प्रतीति वर्तते । पूङ्ग्वयञ् इत्येताभ्यां शानस्त्यो भवति । अतीदे-
शोऽयं कर्त्तर्येव भवति । मभाभ्योऽपि ध्रुव्यो विधास्यते । सोमं पचमानः । यजमानः । “न किञ्च” [१॥३॥१०७॥] आदिसूत्रे शतृ इत्यतः प्रभृति आ तृनो नकारात् लुङिति प्रत्याहार उक्तः । तेन कर्मणि ताप्रतिषेधः ।

वयःशक्तिशीले ॥२।२।१०७॥ वयस् शक्ति शील इत्येतेषु गम्यमानेषु धोः शानो भवति । शरीरावस्था वयः । कतीह शिखण्डं वहमानाः । कतीह कवचं पर्यस्यमानाः । शक्तिः सामर्थ्यम् । कतीह भटं निष्मानाः । कतीह भुञ्जानाः । शीलं गुणान्तस्त्रेधः । कतीह मण्डयमानाः । कतीह मण्डयमानाः ।

धारीकः शक्नुहि ॥२।२।१०८॥ अकृच्छ्रमनायासो यस्यास्ति सोऽकृच्छी । धारि इह इत्येतस्य शत्रुत्यो भवति अकृच्छिणि कर्तरि । धारयन् धर्मशास्त्रम् । अधीयन् जैनेन्द्रम् । अकृच्छिणीति किम् ? कृच्छ्रेण धारयति । कृच्छ्रेणाधीते ।

द्विषोऽरौ ॥२।२।१०९॥ द्विषः शत्रुत्यो भवत्यरौ कर्तरि । चौरस्य द्विषन् । चौरं द्विषन् । “द्विषः शत्रुर्वा वचनम्” [वा०] इति कर्मणि वा ता । अराविति किम् । द्वेष्टि पतिं भार्या । अस्य एते त्या लटं न बाधन्ते ।

सुप्रो यज्ञसंयोगे ॥२।२।११०॥ संयुज्यते इति संयोगः संयुक्त इत्यर्थः । सुनोतेयज्ञसंयोगे कर्तरि शत्रुत्यो भवति । सर्वे सुन्वन्तः । यज्ञस्वामिन इत्यर्थः । यज्ञसंयोग इति किम् ? सुनोति सुराम् ।

प्रशंसेऽहं ॥२।२।१११॥ अर्हतेः प्रशंसेऽर्थे शत्रुत्यो भवति । अर्हन्निह भवान् पूर्वम् । अर्हन्निह भवान् विद्याम् । प्रशंस इति किम् ? अर्हति चोरो वधम् ।

आकेः शीलधर्मसाधुत्वे ॥२।२।११२॥ आर्कमिविधौ ब्रह्मण्यः । वक्ष्यति प्रावस्तुवः क्तिप् । आ एतस्मात् क्तिप्संशब्दनात् यानित ऊर्ध्वं वक्ष्यामः शीलधर्मसाधुत्वेषु वेदितव्याः । शीलं व्याख्यातम् । धर्म आचारः । धर्मस्य साधु करणं साधुत्वम् ।

तृन् ॥२।२।११३॥ तृजित्वयं त्यो भवति सर्वधुम्यः शीलादिषु । शीले-कर्ता कटान् । वदिता जनाप वादान् । धर्मे-मण्डितारः आविष्टायना भवन्ति । धूममुद्गाम् अन्नमपहर्तार आह्वय भवन्ति अर्द्धे सिद्धे । साधुत्वे । कर्ता कटम् । गन्ताऽखेटम् । ममेवकज्वक्ष्यते । अधिकारात्तृत्वि भवति ।

अलङ्कृच्चनिराकृत्यप्रजनोत्पत्तोन्मदरुच्य-पत्रपवृतधृधूसहचर इष्णुः ॥२।२।११४॥ अलङ्कृत्येवमादिभ्य इष्णुर्भवति शीलादिषु । अलङ्कृरिष्णुः । मण्डनार्थे पूर्वविप्रतिषेधेन युचोऽर्थ बाधकः । निराकरिष्णुः । प्रजनिष्णुः । उत्पत्तिष्णुः । उत्पत्तिष्णुः । उन्मदिष्णुः । रोचिष्णुः । अपत्रपिष्णुः । वर्तिष्णुः । सहिष्णुः । चरिष्णुः ।

ग्लाभूजिस्थः क्स्तुः ॥२।२।११५॥ ग्ला भू जि स्था इत्येतेभ्यो धुम्यः क्स्तुर्भवति शीलादिषु । ग्लास्तुः । भूष्णुः । जिष्णुः । स्थास्तुः । “क्स्तोर्गिवाच्च रथ ईकारः किङ्क्षोरीत्वस्य शासनात् । एवभाव-स्त्रिषु स्मार्यः श्रुफोऽनिट्त्वङ्कोरितोः ॥”

प्रसिगृधिधृजिपिः क्तुः ॥२।२।११६॥ प्रसि गृधि धृषि क्षिप इत्येतेभ्यः क्तुर्भवति शीलादिषु । प्रस्तुः । गृस्तुः । धृष्णुः । क्षिप्तुः । श्रुङः ए-प्रतिषेधार्थं कित्करणमिदं ज्ञापकं त्यादिहलपेक्षया हसंशयामपि “व्युङः” [१।१।८३] एवभवतीति । वेत्ता । बोद्धा ।

शमित्यामदेर्धिणिन् ॥२।२।११७॥ इति आद्यर्थे आर्कमिविधौ । शमादिभ्य आ मदेर्धिनिष् भवति । अष्टौ च शमादयः-शमी । तमी । दमी । अमी । भमी । क्षमी । प्रमादी । उन्मादी । “उङोऽतः” [१।२।१७] इत्येप्प्राप्तः “न सेट्स्तासि सोऽवमिकमिचमः” [१।२।३३] इति प्रतिषिद्धः । मदेस्तु भवति । घञारः उत्तरत्र कुत्वार्थः । ईकारः उच्चारणार्थः । अन्ये उकारमितं कुर्वन्ति तेषामिह शमितितरा इति “वर्गितम्” [४।३।१२७] इति वा प्रादेशः प्राप्नोति । आमदेरिति किम् ? यस्मिन् ।

दुहानुदधदुषद्विषद्रुहयुजत्यजरजभुजाभ्याहन ॥२।२।११८॥ दुहादिभ्यो घिनिष् भवति शीलादिषु । दोशी । अनुरोधी । दोषी । द्वेषी । द्रोही । योगी । त्यागी । रज इति सूत्रे निपातनाक्षरम् । रागी । भोगी । अभ्याधाती । अकर्मकाणांमिति वक्तव्यमिह मा मन् । गां दोग्यः । शत्रूनभ्याहन्ता ।

परेः सृदेविच्छिपरटवद्वहमुहः ॥२१२११६॥ परिपूर्वेभ्यः सृप्रभृतिभ्यो धुभ्यः चिनिष् भवति । परिहारी । देव देवन इत्यस्य परिदेवी । क्षिपेरविशेषेण ग्रहणम् । परिक्षेपी । परिपारी । परिवादी । परिदाही । परिमोही ।

घो कषच्चिलसकत्थस्त्रम्भः ॥२१२१२०॥ विपूर्वेभ्यः कषादिभ्यो धुभ्यो चिनिष् भवति । विकषी । चिक्की । विलापी । विक्रथी । विलम्भी ।

अपे च लपः ॥२१२१२१॥ अपे च वो वाचि लपेर्चिनिष् भवति । अपलापी । विलापी ।

चरेः ॥२१२१२२॥ अप इति वर्तते । अपपूर्वाचरेः चिनिष् भवति । अपचारी ।

अतेः ॥२१२१२३॥ अतिपूर्वाचरेर्चिनिष् भवति । अतिचारी ।

समि पृचिसृजिज्वरः ॥२१२१२४॥ सम्पूर्वेभ्यः पृचि सृजि ज्वरि इत्येतेभ्यो चिनिष् भवति । सम्पर्की । संसर्गी । संज्वरी । अकर्मकाणामित्येव । संपृणक्ति साकम् ।

आछि यमियसिक्कीडिमुषः ॥२१२१२५॥ आङ्पूर्वेभ्यः यमि यसि क्रीडि मुषि इत्येतेभ्यो चिनिष् भवति । आचामी । तासाव'निङ्भावनादैरतिषेधो न भवति । आचासी । आक्रोडी । आमोषी ।

प्रे क्षपस्त्रु मथवद्वसः ॥२१२१२६॥ प्रशब्दे वाचि लप सृद्रु मथ वद वस इत्येतेभ्यो चिनिष् भवति । प्रलापी । प्रसारी । प्रद्रावी । प्रमाथी । प्रवादी । वसेरनुविकरणस्य प्रवासी ।

निन्दर्हिसक्तशस्त्राद्विनाशव्याभाषासूयो बुञ् ॥२१२१२७॥ निन्दादिभ्यो बुञ् भवति शीलादिषु । निन्दकः । हिसकः । किलशेरविशेषेण ग्रहणे बुजेऽति वागः । हरे शकः । आदः । विनाशेऽर्थेऽन्तस्य विनाशकः । असूय इति कण्ठ्वादिर्यगन्तः । असूयकः । यदुना सिद्धे बुज्ग्रहणं शापकमन्येभ्यः शीलादिषु एवादेशो न भवन्तीति ।

परौ वादिच्छिपरटः ॥२१२१२८॥ परिपूर्वेभ्यः वादि क्षिप रट् इत्येतेभ्यो बुञ् भवति । परिवादकः । परिक्षेपकः । परिवादकः ।

देविक्रुशो गौ ॥२१२१२९॥ देवि क्रुश इत्येताभ्यां गौ वाचि बुञ् भवति । देवीति देवतेऽर्थेऽन्तस्य । परिदेवकः । आदेवकः । परिक्रुशकः । आक्रुशकः । गाविति किम् ? देवयिता ।

रुचलार्थाङ्ग्युञ् ॥२१२१३०॥ रौत्यर्थेभ्यश्चलत्यर्थे/यश्च चिस्तङ्केभ्यो युञ् भवति । रवणः । शब्दनः । कयनः । चलत्यर्थेभ्यः-चलनः । चोपनः । कम्पनः । घेरिति किम् ? पठिता शास्त्रम् ।

अनुदात्ते सोऽयसूददीपदीक्षो हलादेः ॥२१२१३१॥ अनुदात्तेतो हलादेशोयुञ्भवति यस्मिन्नन्त-सूद-दीप दीक्ष इत्येतान्वर्धयित्वा । योतनः । रोदनः । अनुदात्तेत इति किम् ? यथा । अयसूददीपदीक्ष इति किम् ? क्रूयिता । क्षमायिता । सूदेः सकर्मकस्यापि सूदिता । कथं मधुसूदनः । नन्यादिपाठाण्युः । दीपिता । दीपेर्विशेषेण रो विधास्यते युचः प्राप्तिर्नास्ति । इदं प्रतिषेधवचनं शापकं शीलादिषु असमविधिर्न भवतीत्यनित्यमेतत् । तेन कम्पनः । कम्पनः । कम्पनः । विक्रथी विक्रथनः इति च भवति । दीक्षिता । हलादेरिति किम् ? पद्ये इत्येवं शील पठिता । आदिग्रहणं किम् ? हला उदन्तविधिर्मा भूत् । इह न स्यात् । युगुप्शनः । मौमासनः । घेरेव । वसिता वस्त्रम् ।

सृजुज्वलगृधशुचलपतपदः ॥२१२१३२॥ सृप्रभृतिभ्यो युञ्भवति । शरणः । जवनः । व्यलनः । गद्गनः । शोचनः । लपणः । पतनः । पदनः । चल्यर्थानां पदेश्च ग्रहणं सकर्मकार्यम् । पदिग्रहणं

शपनार्थमित्यन्ये । शीलादिकेषु चासमविधिर्न भवतीति । पदेरुक्त्वा विशेषविहितेन सामान्यविहितस्य युचो वाचि-
तत्वात् पुनस्तेन प्रत्यापत्तिः ।

कुधमण्डार्थात् ॥२।२।१३३॥ कुध्वर्थेभ्यो मण्डार्थेभ्यश्च धुभ्यो युज्भवति । कोधनः । कोपनः ।
रोषणः । मण्डार्थेभ्यः—मण्डनः । रचनः । भूषणः ।

कमिद्रमो यङ् ॥२।२।१३४॥ कमिद्रमिभ्यां यङन्ताभ्यां युज्भवति । चङ्कमणः । दन्द्रमणः ।

यञिञपिवदशाम्बुकः ॥२।२।१३५॥ यङ् इति वर्तते । यज्यादेभ्यो यङन्तेभ्यः ऊको भवति ।
वायजूकः । जञ्जजूकः । वायदूकः । दन्दशूकः । अपिर्दशिभ्यां “क्षुपसवचरजपञ्चभद्वहगुद्वहो शर्ह”
[१।१।२१] इति यङ् । “अपञ्चभद्वहदशमञ्जपञ्चाम्” [१।२।१८४] इति चस्य नुमागमः ।

जागुः ॥२।२।१३६॥ जागुल्लो भवति । जागरुक् ।

लषपतपवस्थाभूवृषहन्शुकमगम उकञ् ॥२।२।१३७॥ लषादिभ्यः उकञ् भवति । अपलायुक्
नीचसङ्गतम् । “अपे च लषः” [२।२।१२१] इति वचनात् धिनिष्पि भवति । प्रपातुका गर्भाः । उपपातुकाः
देवाः । उपस्थायुको गुरुन् । प्रमातुकः । प्रवर्षुकः । आघातुकः । धृणोतेः शासकः । कामुका वन्यस्य स्त्रियो
भवन्ति । “न कित्” [१।३।७९] इत्यादिना कर्मणि तायाः प्रतिषेधे प्राप्ते उक्प्रतिषेधे कमेरप्रतिषेधे इत्यु-
क्तम् । आशासुकः स्वयदम् ।

जल्पभिन्नकुट्टलुण्टवृड्छाकः ॥२।२।१३८॥ जल्पादिभ्यो धुम्यछाको भवति । जल्पाकः । जल्पाक्षी ।
अकर्मकविवक्षायां “क्षकायां ह्युच्” [२।२।१३०] इति युच् प्राप्तः । भिक्षाकः । अनुदात्तेतो युच् प्राप्तः ।
कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः ।

प्रे सूजोरिन् ॥२।२।१३९॥ प्रपूर्वाभ्यां सूजुभ्यां इन् भवति । प्रसवी । प्रजवी ।

परिभूजिहसिबिर्धीण्यमाव्यथाभ्यमः ॥२।२।१४०॥ इति वर्तते । परिभू जि ह सि विभो इत्य-
वम अव्यय अभ्यम इत्येतेभ्य इन् भवति । परिभावी । जयी । आदरी । क्षयी । विभयी । अत्ययी । वमी ।
अव्ययी । अभ्यमी ।

स्पृह्युहिपतिवयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुः ॥२।२।१४१॥ स्पृह्यभ्यतिभ्यो धुम्यः आलुर्भवति ।
स्पृह्यालुः । सह्यालुः । पतयालुः । एते तुरादिष्वदन्ताः । दयालुः । निद्रालुः । तन्द्रालुः । तन्निति निपातनमालु-
विषये भवति । श्रद्धालुः । इह शीङो ग्रह्या कर्तव्यम् । शयालुः ।

वाघेद्रसिशदसदो रुः ॥२।२।१४२॥ दा घेद्रसि शद सद इत्येभ्यो रुर्भवति । दा इत्यविशेषेण
ग्रहणम् । दासः । घासः वस्तो मातरम् । “न कित्” [१।३।७९] इत्यत्र उकारप्रश्लेषात् तदन्तविधिना तायाः
प्रतिषेधः । सेरुः । शद्रुः । सद्रुः । यत्वात्मकर्मणि अतेर्दास काष्ठं तदुयादिषु द्रष्टव्यम् ।

सृञस्थद् कसरः ॥२।२।१४३॥ सृ वसि अद् इत्येतेभ्यः कसरो भवति । सृमरः । कसरः ।
अद्मरः । अनेनैवादेः घट्भावो निपात्यते ।

भञ्जभास्तमिदो घुरः ॥२।२।१४४॥ भञ्जादिभ्यो घुरो भवति । भञ्जेरात्मकर्मण्यभिधानम् । भङ्गुरं
काष्ठम् । भासुरं ज्योतिः । मेदुरं मुखम् ।

विञ्चिच्छिद् कुरः ॥२।२।१४५॥ विद् मिद् छिद् इत्येतेभ्यः कुरो भवति । विदुरः इति शनार्थस्यैव ।
मिच्छिदोरात्मकर्मणि कुर इष्यते । मिदुरं काष्ठम् । छिदुरा रज्जुः ।

सृजीण्णशः करप् ॥२।२।१४६॥ सृ जि ण् नश् इत्येतेभ्यः करप् भवति । सृत्वरः । कित्तरः ।
इत्तरः । नश्वरः । नश्चरी ।

गत्वरः ॥२।२।१४७॥ गत्वर इति निपात्यते गमेः करप्, मकारस्य खं निपात्यते । गत्वरः । गत्वरी ।

नमिकम्पिस्स्यजस्कमहिंसदीपो रः ॥२।२।१४८॥ नमि कम्पि सि अजस्त कम हिंस दीप इत्येतेभ्यो शे भवति । नमैरात्मकर्मण्यपि । नम्रं काष्ठम् । नम्रो देवदत्तः । कम्पा शाला । स्मेरं मुखम् । अस्यतेर्नञ्-पूर्वात् अजस्तं ज्ञानं भावयामः । कम्पा युवतिः । हिंसः पापमेति । दीपो मणिः । कम्पेक्ष एवयत्नात् कमदीप्योरनुदाचेत्वादुच् प्राप्तः ।

सनाशंसभिन्न उः ॥२।२।१४९॥ सन्नन्त आशंस भिन्न इत्येतेभ्य उत्यो भवति । चिकीर्षुः । आङः शति इच्छायामित्यस्य आशंसुः । भिन्नुः ।

विन्दिच्छ २।२।१५०॥ विन्दु इच्छु इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । वेत्तेरुक्कारः नुमागमश्च निपात्यते । विन्दुः । इच्छतीत्येवंशील इच्छुः । वश्छत्वं च निपात्यते ।

स्वपितृवोर्मजिङ् ॥२।२।१५१॥ स्वपितृषिभ्यां नञिङ् भवति शीलादिषु । स्वमक् । स्वप्नञौ । तृष्णाक् । तृष्णाञौ ।

शृवन्द्योराङ् ॥२।२।१५२॥ शृ वन्दि इत्येताभ्यामाङ् इत्ययं त्यो भवति । शराङ् । वन्दाङ् जिनाम् ।

मियः कुक्लुको ॥२।२।१५३॥ विमेतेः कु कुक् इत्येतौ भवतः । भीरुः । भीलुकः । कुक्लोऽपि वक्तव्यः । भीरुकः ।

स्थेशभासपिसकस्तो वरः ॥२।२।१५४॥ स्था ईश भास पिस कस्त इत्येतेभ्यो वरो भवति । स्थावरः । ईश्वरः । भास्वरः । पेश्वरः । कस्वरः ।

यो यङ् ॥२।२।१५५॥ यातेर्यङन्तादरो भवति । यायावरः । वरे अतः लम्, तस्य यत्नविधिं प्रति न स्थानिवद्भाव इति “वलि ष्योः खम्” [४।३।१५] इति यल्लम् । यले कृते अतः खस्य स्थानिवद्भावात् “इटि आत्मम्” [४।४।१६] इति आत्स्वं प्राप्तम् । वरे पूर्वादेशस्य न स्थानिवद्भाव इति न भवति । “शीलादि-प्रकरणे धाङ्कुसुजविजमिभ्य इकिट् वक्तव्यः” [वा०] धानशीलो दधिः । करणशीलः चक्रिः । सरणशीलः सखिः । जननशीलः जहिः । नमनशीलः नेमिः । “इक्ष्मभ्ये क्तिञ्यतः” इति एत्वचले ।

प्रावस्तुवः किप् ॥२।२।१५६॥ प्रावपूर्वात् स्तौतेः किप् भवति शीलादिषु । प्रावाणं स्तौतीत्येवंशीलः प्रावस्तुत् । शीलादिषु वाऽसमविधिर्नास्तौति सामान्यलक्षणः किप् न प्राप्नोति पुनर्विधीयते ।

अन्येभ्योऽपि ॥ २।२।१५७ ॥ अन्येभ्योऽपि धुभ्यः शीलादिषु क्तिब् भवति । अपिप्रहणं विस्तृप्तार्थम् । अन्येभ्योऽपि धुभ्यः शीलादिष्वपि भवत्यशीलादिष्वपि तत्रामिधानवशात् । प्रावभासधुर्विद्युतेर्जि-पृजुभ्यः शीलादिषु क्तिब् भवति । अन्येभ्योऽन्यत्र । विघ्नजनशीले विघ्नाट् । विघ्नाञौ । माः । भासौ । धूर्वणाशीलः धूः । धूरो । विद्युत् । विद्युतौ । ऊर्क् । ऊर्जौ । पूः । पुरौ । जूः । जुबौ । जुवः । “क्तिवपिचकिप्र-चक्षायत्तस्तुक्कट्प्रुक्षुभीणां दीरजिश्च” [वा०] इति दीलम् । अन्येभ्योऽशीलादिषु । पक् । पचौ । भित् । मिक्षौ । क्षित् । क्षिदौ । वाक् । प्रच्छेः प्राट् । आवतस्तुः । कटम् ।

भुवः खवन्तरे ॥२।२।१५८॥ भवतेः क्तिब् भवति खावन्तरे च गम्यमाने । मित्रभूः । मित्रभुवौ । मित्रभुवः । अन्तरे । प्रतिभूः । प्रतिभुवौ । प्रतिभुवः । पूर्वैश्चैव सिद्धे नियमार्थमेतत् खवन्तरयोरेव भुवः शीला-दिषु नान्यत्र । सविता । भावुकः ।

विप्रसमोऽस्तौ ङुः ॥२।२।१५९॥ शीलादिष्विति निवृत्तम् । सम्प्रतीत्यनुवर्तते एव । विप्रसपूर्वाद्दो-

भुवो ह्रस्वत्वत् । विभुः । प्रभुः । शम्भुः । अत्राविति किम् ? विभुर्नाम कश्चित् । “बुप्रकरणे मितद्रुप्रभृतीना-
मुपसंख्यामम्” [वा०] मितं द्रवति मितद्रुः । शम्भुः ।

वाघ्रीशसयुजस्तुतुदसिखिमिहपतदशनहः करणे ऋट् ॥२।२।१६०॥ दाप् लवन इत्ये-
वमादिभ्यः करणे कारके ऋट् भवति । दान्ति तेन दात्रम् । नेत्रम् । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् ।
तोत्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेद्रम् । पत्रम् । ढंष्ट्रा । अत्रादिषु पाठाद्दाप् । नध्री । दंशेः कृतनखस्य निर्देशो
शापकः कचिदन्यत्रापि नखम् । दशनः ।

धात्रपोत्रे ॥२।२।१६१॥ धात्र पोत्र इत्येते शब्दरूपे निपात्येते । धेटः कर्मणि ऋट् निपात्यते । धयन्ति
तामिति धात्री । पोत्रमिति पुनतेः पवतेर्वा करणे ऋट् निपात्यते । हलस्य सूकरस्य वा सुखं चेन्नवति हलस्य
पोत्रम् । सूकरस्य पोत्रम् ।

लूधूसूखनर्तिसहृषर इत्रः ॥२।२।१६२॥ करण इति वर्तते । ल्वादिभ्यो धुभ्यः करणे इत्रो भवति ।
लुनाति तेन लवित्रम् । धुवति तेन धावेत्रम् । सुवति तेन सवित्रम् । खनित्रम् । अरित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।

पुवः खौ ॥२।२।१६३॥ करण इति वर्तते । पवतेः पुनातेर्वा करणे इत्रो भवति खुविषये । पूयतेऽनेन
पवित्रम् । पवित्रा नाम नदी ।

कर्तरि सविदेवतयोः ॥२।२।१६४॥ पुव इत्रो भवति कर्तरि करणे च कारके अपिदेवतयोरभिधे-
ययोः । मित्रयोगनिर्दिष्टत्वाद्यथासंख्यं न भवति । पूयतेऽनेन पुनाति वा पवित्रोऽयमृषिः । देवतायां पवित्रोऽईन्
स मा पुनातु ।

जीतः क्लृः ॥२।२।१६५॥ संप्रतीति वर्तते । जिहन्देतो धोः संप्रति क्लो भवति । जिमिदा मित्रः ।
जिभृषा । घृष्टः । जिद्विदा । द्विषणः ।

मतिबुद्धिपूजार्थाच्च ॥२।२।१६६॥ मतिस्तुमतिः । बुद्धिर्ज्ञानम् । पूजा अर्चा । मत्यर्थेभ्यो
बुद्धयर्थेभ्यः पूजार्थेभ्यश्च धुभ्यः संप्रति क्लो भवति । राज्ञां मतः । राज्ञामिष्टः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां शतः । राज्ञां
पूजितः । राज्ञामर्चितः । क्लृयोगे कर्तरि ता प्राप्ता “न क्लृत्” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवतीत्यनेन
पुनर्विधीयते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ।

जीकितो रक्षितः क्षान्त आकुष्टो जुष्ट इत्यपि । रुष्टश्च रुषितरबोभौ अभिव्याहृत इत्यपि ॥

हृष्टगुष्टौ तथा कान्तः दयितोऽन्यः संयतोद्यतौ । कष्टं अविध्यतीत्याहुरमृताः पूर्वकस्मृताः ॥

अमृतशब्दः संप्रति बहुत्वनिर्देशात् । सुप्तः शयितः स्थितः आश्रित इत्येवमादयोऽपि संप्रति बोद्धव्याः ।

वशादयो बहुलम् ॥२।२।१६७॥ “पुवः खौ” [२।२।१६३] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या स्वाविति
वर्तते । उण् इत्येवमादयस्तथाः संप्रति ध्वर्थे बहुलं भवन्ति । खुविषये कचित्यसंज्ञा भवति । “कृवापाजिमिस्वदि-
साभ्यश्च उण् १” कारः । वायुः । पायुः । ज्ञायुः । मायुः । स्वादुः । सायुः । आशुः । कचित्यसंज्ञा न
भवति । कृधूर्भ्यां कसरः । कसरः । धूसरः । त्यसंज्ञाविरहात् “त्यादेशयोः” [१।४।३६] इति पत्वं न भवति ।
इह च शङ्खः शयत इण् न भवति । कचिदुभयथा । “वृत्तवद्विहानिकमिकाधिभ्यः सः १” वर्धम् । तर्धम् ।
एषमिति त्यसंज्ञा पत्वं प्रति नास्ति । इह च षण्ड इति प्रकृतिकार्ये ध्वादिसत्त्वं न भवति उक्तं च -

“क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।

विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुल्यं वदन्ति ॥”

तथा अनुक्राम्योऽपि प्रकृतिभ्यस्तथा भवन्ति । अण्डः । जृक्सृक्कृक्-जण्डः । कण्डः । सरण्डः । वरण्डः । आङ् इतरेपीध्यते । एरण्डः । अनुक्राम्य अपि त्या भवन्ति आङ्कः श्रुफण्डः इत्येवमादिषु । तथा सप्रतिकाले उणादयो विहिताः क्वचिद्भूतेऽपि दृश्यन्ते । कषितोऽसौ कषिः । ततोऽसौ तन्तिः । भसितं भस्म । चरितं चर्म । धृतं तदिति वर्त्म । तदुक्तं-“बाहुल्यं प्रकृतेस्तदुदष्टेः प्रायसमुच्चयनादाप तेषाम् । कार्यसरोषावधेश्च तदुक्तं नैगमरूढभवं हि सुसाधु ॥” जात्यपेक्षवैकल्यं तदुदष्टेरिति प्यत्वे कर्मणि का । तनुदाष्ट वीक्ष्य तनुदष्टः प्रकृतेस्तनोर्युगस्य दर्शनादित्यर्थः । तद्बाहुल्यकमुक्तम् । एवं हि नैगमाः गौरित्येवमादयः कर्तृभवाः पलाश इत्येवमादयः शब्दा सुसाधवो भवन्ति ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जेनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

गम्यादिवर्त्येति ॥२॥३॥१॥ उणादयो अन्यत्र च ये साधिता गम्यादयः शब्दास्ते च वर्त्यन्ति काले साधवो भवन्ति । वर्त्यन्तीत्यनागतस्य कालस्य सामान्येन ग्रहणम् । संप्रत्यादिकाले तेषां साधुत्वव्यवच्छेदार्थं आरम्भः । गमिष्यति गमी ग्रामम् । आगमिष्यति आगमी नगरम् । “आधमण्यं चैनः” ; [१४१७७] इति कर्मणि तायाः प्रतिषेधात् “कर्मण्यीप्” [१४१२] इतीवेव भवति । एवं भविष्यति भावी । प्रस्थास्यते प्रस्थायी । प्रतिभोत्स्यते प्रतिबोधी । प्रतियोक्ष्यते प्रतियोगी । प्रयास्यति प्रयायी । “गमेरिन्” इति इन् । स एव “आङ् णिन्” इति णिन् । “सुखश्च” इति भवतेरपि णिन् । अन्येभ्यः “सुपि झीलेऽञ्जातो णिन्” [१२१६९] इति णिन् । कथं श्वो गमी ग्रामम् । “अनद्यतने लुङ्” इति लुङ्प्राप्तिः । तदसत् । यतो वर्त्यन्तीत्यनेन सामान्य-शब्देनानद्यतनविशेषोऽप्यत्र गृहीतो यथा गौरित्यनेन खण्डमुण्डोऽपि । अतो वर्त्यन्तीत्यविशेषेण वृत्तावप्यर्थकरणा-देर्विशेषप्रतिपत्तिः । अथवा “अनद्यतने लुङ्” [२१३१७] इत्यत्र “गम्यादिवर्त्येति” इत्येतदनुवर्तिष्यते । तेनान-द्यतनविषयेऽपि गम्यादयः सिद्धा भवन्ति । असमाद्धा अनद्यतने भवन्ति । लुङ्लुटावपि भवतो गमिष्यति गन्तेति ।

पुरायावतोर्लट् ॥२॥३॥२॥ पुरा च यावच्च पुरायावती । तयोः पुराया च्छब्दयोर्वाचोर्वर्त्येति धोर्लट् भवति । पुरा भुङ्क्ते । पुराधीते । यावद्भुङ्क्ते । यावदधीते । भविष्यदनद्यतने लृटोऽयमपवादो लट् । लुङ्पि लृङ्पवादाः, तत्रापवादयोः स्पर्शं परत्वाल्लुङ् प्रातः पूर्वनिर्णयेन लङ् भवति । श्वः पुराऽधीते । श्वो यावदधीते । लङ्प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं न तु लाक्षणीकरणेत्याभिधानात् । तेनेह न भवति । यावदास्यति तावद्भोक्ष्यते । महत्वा पुरा जेष्यति ।

वा कदाकर्होः ॥२॥३॥३॥ कदा कर्हि इत्येतयोर्वाचोर्वर्त्येति धोर्वा लङ् भवति । कदा भुङ्क्ते । कदा भोक्ष्यते । कदा भोक्ता । कर्हि भुङ्क्ते । कर्हि भोक्ता ।

किंवृत्ते लिप्सायाम् ॥२॥३॥४॥ किमो वर्तनं किंवृत्तं तस्मिन् वाचि लिप्सायां गम्यमानायां वर्त्येति वा लङ् भवति । लुटि लृटि च प्राप्ते अयमारम्भः । लब्धुमिच्छा लिप्सा प्रार्थनाभिलाषः । को भवद्भ्यो भिक्षां ददाति । को भवद्भ्यो भिक्षां दास्यति । को भवद्भ्यो भिक्षां दाता । इह कस्मान्न भवति । कदा भो भविष्यसि भोजयितासि वा । किमो हि विभक्त्यन्तस्य उत्तरद्वयान्तस्य च वर्तनं किंवृत्तमिति वैयाकरणानामभिप्रायः । तच्चेह नास्ति ततोऽत्र लृटोऽभावात् लृङ्लुटावेव भजताः । लिप्सायामिति किम् ? कः पाटलिपुत्रं यास्यति ?

लिप्स्यसिद्धिः ॥२॥३॥३॥ वत्स्यतीत्यनुवर्तते । लिप्सति हि लिप्स्यो दाता ओदनादिश्च । तत्र दातरि तासः । लिप्स्यस्य सिद्धिः लिप्स्यसिद्धिः । वाचकेन हि यो लिप्स्यते दाता तस्य सिद्धौ स्वर्गादिफलप्राप्तिः । ओदनादौ तु भासः । वाचकेन हि यो लिप्स्यते ओदनादिना करणभूतेन सिद्धिः दातुः स्वर्गादिफलप्राप्तिः तस्यां गम्यमानायां वत्स्यति वा लङ् भवति । यो मवद्भ्यो भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा स स्वर्गलोकं गच्छति गमिष्यति गन्ता वा । दानादातुः स्वर्गसिद्धिं ब्रुवाणो दातारमेवमुत्साहयति । ननु चात्र उभयत्रापि लिप्सायां गम्यमानत्वात् "किञ्चुते लिप्सायाम्" [२॥३॥४] इत्येव लङ्विकल्पसिद्धेर्व्यर्थोऽयमारम्भः । न व्यर्थोऽकिञ्चुतार्थश्रदेतदारम्भस्य । पूर्वेषां हि किञ्चुते वाचि लङ्विकल्पो विहितः ।

लोडर्थलक्षणे ॥२॥३॥५॥ वत्स्यतीति वेति च वर्तते । लोडर्थः प्रेषादिः, स लक्ष्यतेऽनेन लोडर्थ-लक्षणम्, तस्मिन् लोडर्थलक्षणे ध्वर्थे वर्तमानात् धोर्वत्स्यति वा लङ् भवति । उपाध्यायश्चेदागच्छति । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति । उपाध्यायश्चेदागन्ता । अथ त्वं तर्कमधीष्व अथ गणितमधीष्व । अत्रोपाध्यायागमनेन प्रेषो लक्ष्यते ।

लिङ् ऊर्ध्वमौहूर्तिके ॥२॥३॥६॥ वेति वर्तते । लोडर्थलक्षण इति । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवः काल ऊर्ध्वमौहूर्तिकः । निपातनात्सविधिरुत्तरपदस्यैप् । ऊर्ध्वमौहूर्तिके वत्स्यति काले लोडर्थलक्षणे वर्तमानादोलिङ् भवति लङ् वा । ऊर्ध्वं मुहूर्तादुपाध्यायश्चेदागच्छेत् उपाध्यायश्चेदागच्छति उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागन्ता अथ त्वं तर्कमधीष्व अथ त्वं गणितमधीष्व ।

बुण्त्तुमौ क्रियायां तदर्थायाम् ॥२॥३॥७॥ वत्स्यतीत्येव वर्तते । यस्मादोस्त्योत्पत्तिः प्रार्थ्यते तद्वाच्य-क्रिया तच्छब्देनाभिप्रेता सा क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्या वचनादिक्रियायाः सा तदर्था, तस्यां वाचि वत्स्यति-काले बुण्त्तुमौ भवतः । कारको व्रजति । कर्तुं व्रजति । भोजको व्रजति । भोक्तुं व्रजति । क्रियायामिति किम् ? मिद्विष्ये इत्यस्य जटाः । अध्येष्ये इत्यस्य कमण्डलुः । ब्रव्यमत्र तदर्थम् । तदर्थायामिति किम् ? धावतस्ते पति-ष्यति दण्डः । नात्र धावनं दण्डपतनार्थम् । ननु सामान्यविहितेन एवना सिद्धं किमर्थं बुण्त्वधीयते मिकृतो माये भवन्तीति भिन्नविषयत्वाच्चतुमपि न बाधकः । क्रियायां तदर्थायां वाचि लृङ् वक्ष्यते स बाधकः स्यात् । वाऽसमविधिना एवमधिष्यतीति चेत्, पदं तर्हि नियमार्थं बुण्त्वचनम् । वत्स्यति क्रियायां तदर्थायां वाचि बुणोव यथा स्यात् तृणादयो मा भूवन् इति । कर्ता व्रजति विक्रिये व्रजति इत्येवमादि न भवति ।

भाववाचिनः ॥२॥३॥८॥ भाववाचिनो घनादयस्ते वत्स्यति काले क्रियायां तदर्थायां वाचि भवन्ति । यद्यपि सामान्येन विहिता घनादयस्तथापि बुण्प्रदणं शापकमुक्तम् सामान्यविहितास्त्या वत्स्यति काले क्रियायां तदर्थायां न भवन्तीति तुमा च बाध्येरन् । तेनायं यजः । पाकाय व्रजति । त्यागाय व्रजति । मृतये व्रजति । पुष्टये व्रजति । "तुमर्थाद् भावे" [३॥४॥१२] इत्यप् । भाव इति विशेषणेन । वाचि प्रदणं किमर्थम् ? यज्ञभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन त्या विहितास्ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तेन विशेषणेन क्रियायां तदर्थायां वाचि यथा स्तुरित्येवमर्थम् ।

कर्मणि घाण् ॥२॥३॥९॥ कर्मणि वाचि तदर्थायां च क्रियायामण् भवति । पूर्वेषां बुण्प्राप्तः । वाऽसमविधिश्च नास्तीत्युक्तम् । अण् न स्यात् तेनायमारम्भः । कुम्भकारो व्रजति । काण्डलावो व्रजति । वाचिप्रदणानुवृत्तेर्यथाविहितमण् भवति इति कर्मण्येव वाचि भविष्यति । कर्मप्रदणं किमर्थम् ? अपवादविषयेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् । गोदायो व्रजति । दुग्पायो व्रजति । क्रियायां तदर्थायामनुवर्तते । चकारः किमर्थः ? केवले कर्मणि केवलायां च क्रियायां वाचि मा भूत् । प्रत्येकमीषा निर्देशात् वाक्सः ।

लृट् ॥२॥३॥१०॥ लृट् भवति क्रियायां तदर्थायां वाचि । करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति । उदाहरणे इतिशब्दो हेतुहेतुमन्नावयोनार्थः ।

शेषे ॥२३॥१२॥ उक्तादन्यः शेषः; शुद्धं वर्त्यत् कालमात्रम्, शेषे वर्त्यति लृट् भवति । करिष्यति । हरिष्यति ।

विभाषा लृटः सत् ॥२३॥१३॥ वर्त्यति लृट् तस्य स्थाने सत्संज्ञौ शतृशानौ विभाषया भवतः । पद्यन्ते पश्य । पद्यमाणं पश्य । पद्यता कृतम् । पद्यमाणेन कृतम् । हे पद्यन् । हे पद्यमाण । अर्जयिष्यन् वसति । अर्जयेयमाण आस्ते । देवदत्तः पद्यन् पद्यति वा पद्यमाणः पद्यते वा । व्यक्स्थितविभाषेयम् । तेन इयादिभिर्योगे सम्बोधने लक्षणहेत्वोः क्रियायामित्यत्र नित्यो विधिः । वान्तैवार्थत्वे विषयः । इतिराब्दयोरो तु न भवति । करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति । लङ्ग्रहणं किम् ? त्वान्तरत्वं मा विज्ञायि ।

अनद्यतने लृट् ॥२३॥१४॥ वर्त्यतीति वर्तते । वर्त्यत्यनद्यतने ध्वये वर्तमानाद्गोलुङ् भवति । श्वः कर्ता । श्वोऽप्येता । अनद्यतन इति वसनिर्देशादत्र श्वो भोक्ष्यामहे इत्यत्र न भवति । विभाषानुवर्तनात् परिदेवने लृट् विषयेऽपि लृट् भवति । इयन्तु कदा गन्ता एवं निदधती पादौ । अवं तु कदाप्येता एवमनभियुक्तः ।

पदस्रजविशस्पृशो घञ् ॥२३॥१५॥ पद स्रज विश स्पृश इत्येतेभ्यो घञ् भवति । पद्यतेऽसौ पादः । एषुनृचोरयमपवादो न पचायचः “सुम्भिकृत् पदम्” [१।२।१०३] इति पदनिर्देशात् । स्रजत्वसौ रोगः । विशत्यसौ वेशः । इगुङ्लक्षणस्यापवादः । स्पृश उपतप्तेऽभिधातम् । स्पृशतीति स्पर्शो रोगः । उपतापादन्यत्र स्मृत्य । स्पर्शकः ।

सृ स्थिरे ॥२३॥१६॥ सरतेः स्थिरे कर्तरि घञ् भवति । कालान्तरं सरतीति सारः । मधूकसारः । विभाषानुवर्तनात् स्थिरव्याधिमत्स्यबलेध्वमिधानम् । अतीसारो व्याधिः । विसारो मत्स्यः । सारो बलम् । एतेष्विति किम् ? सर्ता । सारकः ।

भावे ॥२३॥१७॥ भावे धोर्घञ् भवति । भाव इति क्रियासामान्यं ध्वयः । तद्यद्यपि पूर्वापरीभूतमपरिनिध्यन्नमलिङ्गसंख्यं प्रकृत्यैवोच्यते, तथापि यस्तस्यासिद्धताधर्मः स लिङ्गसंख्यावानिति तत्र घञादयः । पाकः । त्यागः । रागः ।

अकतरि ॥२३॥१८॥ कर्तुरन्यस्मिन् कारके घञ् भवति ।

“नङ्युक्तमिवयुक्तं वा यत्कार्यं संप्रतीयते । तुलयाधिकरणेऽन्यस्मिन् लोकेऽप्यर्थगतिस्तथा ॥”

प्रास्यन्ति तं प्रासः । प्रसीद्वन्ति तं प्रसेवः । आहरन्ति तस्मादाहारः । संज्ञायामसंज्ञायामपि दृश्यते । को भवता दायो दत्तः । को भवता लाभो लब्धः । कर्तव्यः कटः इत्येवमादिषु अनभिधानात् भवति ।

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ॥२३॥१९॥ आख्याग्रहणात्परिमाणमिह संख्यादिकं गृह्यते । परिमाणस्याख्यायां गण्यमानायां सर्वेभ्यो घञ् भवति । एकस्तंशुलनिचायः । एकस्तंशुलावचायः । द्वौ केदारलावौ । द्वौ बीजकारौ । “यद्ग्रहणं बाधकवाधनार्थम्” [२।३।१२] इति अत्रि प्राप्ते इदम् । परिमाणाख्यायामिति किम् ? निश्चयः । सर्वग्रहणं बाधकवाधनार्थम् । एकस्तुष्टनिघासः । अन्यथा पुरस्तादपवादोऽयमिति अनन्तरमेवाचं बाध्येत न व्यवहितम् । नौ एश्चेति एम् । धञि घस्तुभावः सिद्धः । इहाकर्तरीत्येवामिसंयध्यते । लोलिङ्गे भावे घञमा भवेत् । एका तिलोच्छ्रितः । द्वे ध्रुवौ । सर्वग्रहणं बाधकवाधनार्थमुक्तं क्लिरपि बाध्येत ।

इङ् ॥२३॥२०॥ इत उत्तरं भावे अकर्तरीति च वर्तते । इङ्श्च धोर्घञ् भवति । अधीयते इत्यध्यायः । उपेत्याधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः । अपादाने यो घञ् तदन्ताद्वा ङीर्वक्तव्यः । उपाध्यायी । उपा-

ध्याय । वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेनास्मिन्विषये किमपि घञ् बाधते । “ऋणालेर्वायुवर्णयोर्घञ् धक्तव्यः” [वा०] शारो वायुः । शारो वर्णः ।

गौ रुवः ॥२१३२१॥ गिसंज्ञे वाचि रौतेर्घञ् भवति । विरावः । संरावः । अचोऽपवादोऽयम् । ग्राविति किम् ? रवः ।

समि युद् युवः ॥२१३२२॥ संपूर्वेभ्यः यु ड् ड् इत्येतेभ्यो घञ् भवति । संयाव । संद्रावः । संदावः । समीति किम् ? यवः ।

यज्ञे स्तुवः ॥२१३२३॥ समीति वर्तते । सम्पूर्वात् स्तौतेर्घञ् भवति यज्ञविषये । समेत्य स्तुवन्ति अस्मिन्निति संस्तावः छन्दोगानम् । यज्ञ इति किम् ? सतां संस्तवः ।

अग्निभुवोऽगौ ॥२१३२४॥ अग्निपूर्वेभ्यः श्री णी भू इत्येतेभ्यो घञ् भवति । आयः । नायः । भावः । अग्राविति किम् ? प्रभयः । प्रभवः । कथं प्रभावो धर्मस्य । प्रकृष्टो भावः प्रभावः इति प्रादिसः । कथं षाङ्गुण्यस्य वयावत्प्रयोगो यथावत्प्रयोगो नयः “पुंस्त्रौचः प्रायेण” [२१३१००] इति करणे षो द्रष्टव्यः ।

नियोऽवोदोः ॥२१३२५॥ अव उद् इत्येतयोर्वाचोर्नयतेर्घञ् भवति । अवनायः । उन्नायः । कथमुन्नयः । शब्दानां पूर्ववत्करणे षो विधेयः ।

निरभ्योः पूल्योः ॥२१३२६॥ निस् अमि इत्येत्पूर्वाभ्यां पू लू इत्येताभ्यां यथासंख्यं घञ् भवति । पू इति सामान्येन ग्रहणम् । निष्पावः । अमिलावः । निरभ्योरिति किम् ? पवः । लवः ।

उन्न्योर्गः ॥२१३२७॥ उद् नि इत्येत्पूर्वात् गृ इत्येतस्मात् घञ् भवति । गृ इति सामान्येन ग्रहणम् । उद्गारः । निगारः ।

कृ धान्ये ॥२१३२८॥ उन्न्योरिति वर्तते । कृ इत्येतस्माद्वोऽनुपूर्वात् घञ् भवति धान्यविषये । उक्तारो धान्यस्य । निकारो धान्यस्य । धान्य इति किम् ? पुष्पोत्करः । पुष्पनिकरः ।

प्रे द्रुस्तुभ्रुवः ॥२१३२९॥ प्रशब्दे वाचि द्रु स्तु भ्रु इत्येतेभ्यो घञ् भवति । प्रद्रावः । प्रस्तावः । प्रश्रावः । प्र इति किम् ? द्रवः ।

स्तोऽयज्ञे ॥२१३३०॥ प्र इति वर्तते । प्रपूर्वात् स्तृ इत्येतस्मात् घञ् भवति अयज्ञविषये । शङ्ख-प्रस्तारः । मणिप्रस्तारः । ऋणारन्तत्वादभि (चि) प्राप्ते इदम् । अयज्ञ इति किम् ? बहिष्प्रस्तरः । “इदुदुहोऽथपुमुहुसः” [११३१२८] इति धत्वम् ।

प्रथने वाचशब्दे ॥२१३३१॥ प्रथनं विस्तीर्णता । विपूर्वास्तृ इत्येतस्मात् घञ् भवति अशब्दविषये प्रथने । पठस्य विस्तारः । गृहस्य विस्तारः । प्रथन इति किम् ? तृणविस्तरः । अशब्द इति किम् ? वाक्यविस्तरः ।

छन्दः खौ ॥२१३३२॥ छन्दः पञ्चे वर्णविन्यासः । छन्दःसंज्ञायां च विपूर्वात् स्तृणातेः घञ् भवति । विष्टारः पंक्तिच्छन्दः । विष्टारो वृहतीछन्दः । धत्वप्रकरणे विष्टार इति निपातनादेव सिद्धं छन्दःसंज्ञा-शासनार्थमिदम् ।

क्षुश्रुवः ॥२१३३३॥ वाविति वर्तते । क्षु श्रु इत्येताभ्यां विपूर्वाभ्यां घञ् भवति । विक्षावः । विश्रावः । वावित्येव । क्षवः । श्रवः ।

उद् ग्रहः ॥२१३३४॥ उत्पूर्वाद् ग्रहेर्घञ् भवति । उद्ग्राहः । अचोऽपवादोऽयम् ।

समि मुष्टौ ॥२१३३५॥ संपूर्वाद् ग्रहेर्घञ् भवति मुष्टिविषये । शाकमुष्ट्यादौ परिमाणवचनो मुष्टिशब्दः । तत्र परिमाणाख्यायामित्येव सिद्धं ततोऽन्यदुदाहरणम् । अहो मल्लस्य संग्राहः । अहो मौष्टिकस्य संग्राहः । मुष्टेर्दाढ्यमित्यर्थः । मुष्टाविति किम् ? संग्रहः शास्त्रस्य ।

न्यायपरिणायपर्यायः ॥२॥३॥३६॥ न्यायादयः शब्दाः निपात्यन्ते । निपूर्वादिणः अन्नेने घञ् निपात्यते । अन्नेषो युक्तकरणमकुत्सा वा । एषोऽत्र न्यायः । अन्नेष इति किम् ? न्ययं गतश्चौरः । परिपूर्वात् नयतेर्द्युतविषये घञ् निपात्यते । परिणयेन सारान् इन्ति । वृत्तविषयादन्यत्र परिणयः परिपूर्वादिणः अनुपात्यये गम्यमाने घञ् निपात्यते । अनुपात्ययः क्रमप्राप्तस्यानतिवृत्तिः । तव पर्यायो भोक्तुम् । मम पर्यायो भोक्तुम् । अनुपात्यय इति किम् ? स्वाध्यायकालस्य पर्ययः । अतिक्रम इत्यर्थः ।

व्युपे शीङोऽन्त्ये ॥२॥३॥३७॥ अन्त्य इति पूर्वसूत्रे विन्यासपेक्षया पर्यायोऽभिप्रेतः । वि उप इत्येतयोर्वाचोः शीङो घञ् भवति पर्याये गम्ये । तव विशायो मम विशायः । तव राज्ञोपशायः । मम राज्ञोपशायः । राजानमुपशायधितुमवसर इत्यर्थः । अन्त्य इति किम् ? विशयः । उपशयः ।

हस्तादाने चेरस्तेये ॥२॥३॥३८॥ हस्तादाने गम्यमाने चिनोतेर्घञ् भवति न चेत्स्तेयं भवति । पुष्पप्रचायः । फलप्रचायः । हस्तादानशब्देन निकटस्य गुच्छादेर्मह्यं लक्ष्यते । हस्तादान इति किम् ? पुष्पप्रचयः । अस्तेय इति किम् ? पुष्पप्रचयं करोति चौर्येण ।

निवासचितिशरीरोपसमाधाने चः कः ॥२॥३॥३९॥ चेरिति वर्तते । निवास चिति शरीर उपसमाधान इत्येतेष्वर्थेषु चिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च ककारः । निवासे-साधुनिकायः । उत्कृष्टनिकायः । अधिकरणे घञ् । चीयतेऽसौ चितिः । यज्ञे अग्निविशेषः । अकायमग्निं चिन्वीत । शरीरे-चीयते इति कायः । उपसमाधानमुपर्युपरि राशीकरणम् । महान् गोमयनिकायः । उपर्युपरीति निरोपणादि न भवति । महान् काष्ठनिकायः । एतेष्विति किम् ? चेतः ।

संघेऽनूर्ध्वे ॥२॥३॥४०॥ संघः प्राणिविशेषसमुदायः । अनूर्ध्वे संघे वाच्येचिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च कत्वम् । निचीयते इति निकायः । साधुनिकायः । पण्डितनिकायः । प्राणिविशेषस्य सङ्घस्य ग्रहणादिह न भवति । काष्ठचयः । पदसमुच्चयः । विशेषग्रहणं किम् ? प्राणिसमुच्चयः । सामान्येन समुदायोऽयम् । अनूर्ध्व इति किम् ? उपर्युपरि सूकरनिकायः ।

आक्रोशेऽवन्योर्महः ॥२॥३॥४१॥ आक्रोशः शपनम् । अव नि इत्येतयोर्वाचोर्महोर्घञ् भवति आक्रोशे गम्ये । अवग्रहो ह ते वृषल भूयात् । निग्रहो ह ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अवग्रहः पदस्य । निग्रहो वृष्टस्य ।

प्रे लिप्सायाम् ॥२॥३॥४२॥ प्रशब्दे वाचि लिप्सायां गम्यमानायां ग्रहेर्घञ् भवति । प्रग्राहेण चरति भिक्षुः । पात्रं प्रग्रह्य अन्नं लिप्सुर्भ्रमतीत्यर्थः । लिप्सायामिति किम् ? प्रग्रहो देवदत्तस्य राज्ञा ।

परौ यज्ञे ॥२॥३॥४३॥ परिपूर्वाद्वग्रहेर्घञ् भवति यज्ञविषये । उत्तरः परिग्राहः । यज्ञ इति किम् ? परिग्रहो देवदत्तस्य ।

नौ बुधान्ये ॥२॥३॥४४॥ निशब्दे वाचि नृ इत्येतास्मात् घञ् भवति धान्यविशेषे वाच्ये । नृ इति वृद्धवृद्धोर्महणम् । नीवारा नाम जीह्वो भवन्ति । धान्य इति किम् ? नित्रियत इति निवरा कन्या ।

उवि पूङ्गुयौतिभिचः ॥२॥३॥४५॥ उत्पूर्वेभ्यः पू ङ् यौति भिञ् इत्येतेभ्यो घञ् भवति । उत्पावः । उव्द्रावः । उव्यावः । उव्झावः ।

वाङ्गि रुण्णुयोः ॥२॥३॥४६॥ आङ्पूर्वभ्यां ङ् णु इत्येतभ्यां वा घञ् भवति । आरावः । आरावः । “गौरवः” [२॥३॥२॥] इति नित्यं घञ् प्राप्तः । आलावः । आलवः ।

ग्रहोऽवे वर्षप्रतिबन्धे ॥२॥३॥४७॥ वेति वर्तते । अवशब्दे वाचि ग्रहेर्घञ् भवति वर्षप्रतिबन्धे वाच्ये । अवग्रहो देवस्य । अवग्रहो देवस्य । वर्षप्रतिबन्ध इति किम् ? अवग्रहः पदस्य ।

मे धणिजात् ॥२।३।४८॥ वेति वर्तते । प्रशब्दे वाचि गदेर्वा धञ् भवति समुदायेनाभिधेयं वणिजां सम्बन्धि चेद्भवति । तुलाप्रमाहेण चरति । तुलाप्रमहेण चरति । तुलासूत्रं गृहीत्वा वणिक् चेष्टते इत्यर्थः । वणिजामिति किम् ? प्रमहो देवदत्तस्य ।

रश्मौ ॥२।३।४९॥ प्र इति वेति च वर्तते । इह रश्मिशब्देन अश्वादिसंयमनरज्जुरेव गृह्यते । प्रशब्दे वाचि गदेर्वा धञ् भवति समुदायेन रश्मावभिधेयाम् । प्रगृह्यते इति प्रमाहः । प्रमहः ।

आच्छादने वृजः ॥२।३।५०॥ वेति वर्तते प्र इति च । प्रपूर्वाद्गुणोतेर्वा धञ् भवति आच्छादन-विशेषे वाच्ये । प्रवृणोति तं प्रावारः । प्रवरः । आच्छादन इति किम् ? प्रवरः ।

परौ भुवोऽवज्ञाने ॥२।३।५१॥ वेति वर्तते । अवज्ञानमवदोषः परिपूर्वाद्भू इत्येतस्माद्वा धञ् भवति अवज्ञाने वाच्ये । परिभावः । परिभवः । अवज्ञान इति किम् ? सर्वतो भवः परिभवः ।

रथग्रहवृद्धगमोऽच् ॥२।३।५२॥ भावे अकर्तरीत्येवानुवर्तते । इवर्णान्तात् उवर्णान्तात् ऋवर्णान्तात् ग्रह वृद्ध गमि इत्येतेभ्यः वाजित्यर्थं त्यो भवति । वजोऽपवादोऽयम् । चयः । जयः । रयः । रवः । सवः । करः । गरः । शरः । ग्रहः । वरः । आदरः । गमः । चकारः । “वज्रोऽवजचोः [१।४।१२८] इत्यत्र विशेषणार्थः । “अजिबधौ भवार्दनामुपसंख्यानं नपुंसके क्वाङिनिवृत्त्यर्थम्” [वा०] भयम् । वर्धम् । “रखिब-क्षिभ्यामवक्तव्यः” [वा०] रणः । वशः । “वज्रर्थे कविज्ञानं स्थास्नापाभ्यधिहिनियुध्यर्थं कर्तव्यम्” [वा०] प्रतिष्ठतेऽस्मिन् प्रस्थः । प्रस्ताप्यस्मिन् प्रस्तनः । प्रपिबन्त्यस्यो प्रपा । आविधन्त्यनेन आविधम् । निहन्त्यते ऽनेनास्मिन्वा विध्नः । आयुधन्त्येनेनेति आयुधम् ।

गावदः ॥२।३।५३॥ गिपूर्वाद् अदेरञ् भवति । प्रादनं प्रघसः । विघसः । संघसः । “घस्त्रसुद्धञ्-सनधु” [१।४।१११] इति अदेर्घञादेशः । गाविति किम् ? घासः । अस्मिन् प्रकरणे यत्रेपा निर्निर्दिश्यते तत्र वागसङ्घः प्रादिलक्षणे वा सर्वाधिः ।

नौ राश्च ॥२।३।५४॥ निपूर्वाददेशेण भवति अच् । न्यादः । निघसः ।

पणः परिमाणे ॥२।३।५५॥ पणोर्घञि खे वा नास्ति विशेषः इत्यारम्भसामर्थ्यादच एवानुवृत्तिः । पणः परिमाणे गम्यमाने अञ् भवति । पण्यत इति पणः मूलरूपणः । शाकपणः । ‘परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः’ [२।३।१६] इति घञ् प्राप्तः । परिमाण इति किम् ? पाणः ।

पशुष्वजः समुदोः ॥२।३।५६॥ सम उद् इत्येतयोर्वाचोर्जघोर्ज भवति पशुविषये । समजः । पशूनां समुदाय इत्यर्थः । उदजः । पशुनाममुद्यालनमित्यर्थः । पशुध्विति किम् ? समाज साधूनाम् । उदाजः शकुनीनाम् । “अजोः कुधिण्यतोस्तेऽनिष्टः” [५।२।२६] कुत्वं विधीयते अजेस्तु वीभावैर्न भवितव्यमित्यसत्त्वाद् विशेषणं नास्तीति कुत्वं न भवति ।

ग्लहोऽस्ते ॥२।३।५७॥ ग्लह ग्रहणे इत्यस्मादञ् भवति अक्षविषये । अक्षेषु ग्लहः । अक्ष इति किम् ? ग्लहः ।

प्रजने सुः ॥२।३।५८॥ प्रजनो गर्भाधानम् । प्रजनविषये सु इत्येतस्मादञ् भवति । गवामुपसरः । गर्भाधानाय स्त्रीगवीषु घृषाणामुपसरणमित्यर्थः । एवं पशूनामुपसरः । प्रजन इति किम् ? उपसारी भृत्यै राज्ञाम् ।

हो जिश्च न्यभ्युपविषु ॥२।३।५९॥ नि अभि उप वि इत्येतेषु वाङ्मु ह्यतौजर्भवत्यश्च । निहवः । अभिहवः । उपहवः । विहवः । दुरादेशो वक्तव्य इति चेत् इह निजोहवः इति यङुबन्तस्य सचस्य प्रसज्येत । पतेष्विति किम् ? संहावः ।

आङ्ग्याजौ ॥२३६०॥ आत्रिः संग्रामः । आङ्पूर्वात् ह्रयते आजावभिधेयायां निर्भवत्यच्च । आङ्ग्रयन्तेऽस्मिन्निति आङ्गः । आजाविति किम् ? आङ्गायः ।

निपानमाहावः ॥२३६१॥ निपिबन्त्यस्मिन्निति निपानं जलस्थानम् । आहाव इति निपात्यते निपानं चेद्भवति । आङ्पूर्वस्य ह्रयतेरधिकरणे घञ् निपात्यते । आङ्ग्रयन्तेऽस्मिन्निति आहावः शकुनीनाम् । निपानमिति किम् ? आङ्गायः ।

भावेऽगौ ॥२३६२॥ अगिपूर्वस्य ह्रयतेर्भावे निर्भवत्यच्च । हानं हवः । अगाविति किम् ? आङ्गायो वर्तते । कर्तरीत्यस्यानुप्रवेशो मा भूदिति पुनर्भावग्रहणम् ।

हनश्च वधः ॥२३६३॥ हन्तेरगिपूर्वस्य भावे वधादेशो भवत्यच्च । हननं वधः । चकारो घञ् समुच्चयार्थः । घातो वर्तते ।

व्यधमदजपोऽगौ ॥२३६४॥ अगाविति वर्तमाने पुनरगिग्रहणं भावनिवृत्त्यर्थम् । तेन भावे अकर्तरीति द्वयं संवध्यते । अगिपूर्वस्यो व्यध मद् अप इत्येतेभ्यः अञ् भवति । व्यधः । मद् । अगाविति किम् ? प्रव्याधः । उन्माद् । उपजापः ।

स्वनहसोर्धा ॥२३६५॥ अगाविति वर्तते । अगिपूर्वाभ्यां स्वन हस इत्येताभ्यामञ् भवति वा । स्वनः । हसनः । हसः । हासः । अगावित्येव । प्रस्वानः । प्रहासः ।

यमः सन्निव्युपे च ॥२३६६॥ यमेधोः सम् नि वि उप इत्येतेषु वाङ् अगौ च अञ् भवति । वेति वर्तते । संयमः । संग्रामः । निग्रमः । निग्रामः । विग्रमः । विग्रामः । उपग्रमः । उपग्रामः । अगौ-यमः । यामः ।

नौ गदनश्पठस्वनः ॥२३६७॥ वेति वर्तते । निपूर्वेभ्यः गद नद पठ स्वन इत्येतेभ्यो वा अञ् भवति । निगदः । निगादः । निनदः । निनादः । निपठः । निपाठः । निस्वनः । निस्वानः ।

कणो वीणायां च ॥२३६८॥ नौ वा अगाविति त्रयं वर्तते । कयोर्धोः निपूर्वादगिपूर्वाच्च अशीणायां वीणायां च विषये अञ् भवति । निकणः । निकाणः । अगौ-कणः । काणः । वीणाग्रहणं गावपि प्रापणार्थम् । कल्याणप्रकणा वीणा । कल्याणप्रकाणा वीणा । एतेष्विति किम् ? अतिकारणः ।

**घनान्तर्घणप्रघणप्रघाणोद्धनापघनायोधमविघनद्रुघणस्तम्बघनस्तम्बघनपरिघोपघनसंघो-
ज्जनिघप्रमदसम्मदाः ॥२३६९॥** घनादयः शब्दा निपात्यन्ते । हन्तेरच् घनभावश्च मूर्तावभिधेयायां निपात्यते । मूर्तिः काठिन्यम् । अभ्रघनः । दधिघनः । कर्मणि घनं दधीति भवति । अन्तःशब्दपूर्वस्य हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते देशाभिधाने । अन्तर्हन्त्यतेऽस्मिन्निति अन्तर्घणो वाहीकेषु देशविशेषः । केचिन्नकारं पठन्ति । अन्तर्घातोऽन्यः । प्रपूर्वस्य हन्तेः अचि घञि च घनभावो निपात्यते अगारैकदेशेऽभिधेये । प्रघणः । प्रघाणः । गृहद्वारदेश इत्यर्थः । प्रघातोऽन्यः । उपूर्वस्य हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते अत्याधानं चेद्भवति । अत्याधोयतेऽस्मिन्नित्याधानम् । यत्र काष्ठानि लोहानि चाहस्यन्ते तदुच्यते । ऊर्ध्वं हन्यतेऽस्मितुद्धनः । उद्धातोऽन्यः । अपघन इति निपात्यते अङ्गं चेद्भवति । अपघातोऽन्यः । अयोधनः । दुघणः स्तम्बघ्नः स्तम्बघनः परिघ इत्येते करणे कारके अजन्ता निपात्यन्ते । दुघणे केचिन्नकारं पठन्ति । स्तम्बघ्ने कमात्रं निपात्यते । परिपूर्वस्य हन्तेर्घभावश्च निपात्यः । उपपूर्वात् हन्तेराश्रयेऽभिधेये को निपात्यते । गुरुपन्नः । पर्वतोपध्नः । उपघातोऽन्यः । सम्पूर्वस्य हन्तेर्घभावोऽच्च निपात्यते गणश्चेद्भवति । गणः प्राशि-
समुदाय एव । पशूनां संघः । अन्यत्र संघातः । उपूर्वस्य हन्तेर्घादेशोऽच्च निपात्यते प्रशंसाराम् । उद्धो मनुष्यः । उद्धातोऽन्यः । निघ इति निपात्यते निमित्तेऽर्थे । संमतादारीहपरिणाहभ्यां मित्तुल्यनिमित्तम् । निघाः शालयः । निघातोऽन्यः । प्रमदसंमदौ हर्षेऽभिधेये । अन्यत्र प्रमादः । सम्मादः ।

ड्वितः क्तिन् ॥२॥३॥७०॥ दुशब्देतो धोः क्तिन्त्यो भवति । भावे अकर्तरीति वर्तते । डुपचप्-
पक्विमम् । “भावादिभ्यः” [३॥३॥१४३], “अः” [३॥३॥१४४] इति इमः । व्यन्तस्य केवलस्य प्रयोगो
नास्तीत्यस्वपदेनार्थकथनम् । पाकेन निर्द्वितमिति । एवं डुवप् उप्त्रिमम् । डुयाचु याचित्रिमम् ।

ट्वितोऽथुः ॥२॥३॥७१॥ दुशब्देतो धोरथुस्त्यो भवति । डुवेष्ट-वेपथुः । दुओरिव-श्वयथुः । उल्लु-
क्वथुः ।

यजयाचयतक्किञ्चप्रचञ्चरत्तस्थपो नञ् ॥२॥३॥७२॥ यज्वादिभ्यो नञ् भवति । भावे अकर्तरीति
वर्तते । यजः । “स्तो रचुना रचुः” [५॥४॥११६] इति चुत्वम् । याच्या लिङ्गं लोकावशात् । यत्नः । विश्नः ।
नङो डिक्करणमेवप्रतिषेधार्थं शापकं प्रागेव तुकः । “ङ्घ्रोः शूङ् (ङे) च” [३॥४॥१७] इति शत्वम् । प्रश्नः ।
“प्रश्ने चान्तयुगे” [२॥२॥६७] इति निर्देशाजिर्न भवति । रक्ष्णः । “एना एः” [२॥४॥१२०] इति
दुत्वम् । स्वप्नः ।

गौ भोः क्तिः ॥२॥३॥७३॥ गौ वाचि भुसंज्ञकेभ्यो भुभ्यः क्तिर्भवति । भावे अकर्तरीति वर्तते ।
प्रादीयते ^१ अस्मात् प्रादिः । निधीयतेऽसौ निधिः । संधानं संधिः ।

कारणव्यधिकरण्यो ॥२॥३॥७४॥ कारणि वृत्ति वृत्तिपर्यन्ते कारके भुसंज्ञकेभ्यः क्तिर्भवति । जलं
धीयते अस्मिन् जलधिः । बालधिः । अधिकरणग्रहणं कारकान्तरनिवृत्त्यर्थम् ।

स्त्रियां क्तिः ॥२॥३॥७५॥ भावे अकर्तरीति वर्तते । स्त्रीलिङ्गे धोः क्तिर्भवति । वज्रचोरपवादोऽयम् ।
दुतिः । सृष्टिः । संपत्तिः । “संपदादिभ्यः क्तिवपि वक्तव्यः” [वा०] संपत् । विपत् । “गलाज्याहाभ्यो निः
स्त्रियां वक्तव्यः” [वा०] ग्लानिः । व्यानिः । हानिः । “ऋकारान्तपवादिभ्यः क्तिस्त्वद्धवतीति वक्तव्यम्”
[वा०] कीर्तिः । गीर्तिः । लूनिः । पूनिः । इत उत्तरः स्त्रियामित्यधिकारः ।

कर्मव्यतिहारे नः ॥२॥३॥७६॥ इह कर्मव्यतिहारः क्रियाव्यतिहारो गृह्यते धोरधिकारान् । कर्म-
व्यतिहारे गम्यमाने धोर्न इत्यर्थं त्यो भवति स्त्रियाम् । परस्परस्य व्याकोशनं व्याकोशी “आत् स्त्रियाम्”
[३॥२॥२२] इति स्वार्थिकोऽयम् । “कृद्ग्रहणे तिक्कारकपूर्वस्थापि” [परि०] सतिकाद्भवति । एवं व्यावलेली
व्यावहारी वर्तते । स्त्रियामित्येव । व्यतिपाको वर्तते । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन्वाधन्ते नोत्तरान्”
[परि०] इति “स्त्रियां क्तिः” [३॥३॥७५] इत्यस्यैव वाचको न “सरोर्हङः” [२॥३॥८५] इति अत्यस्य ।
व्यतीक्षा व्यतीहा वर्तते । कथं व्यात्युक्ती । “युङ् व्या बहुलम्” [२॥३॥१४] इति बहुलवचनात् । व्याकुष्ठिरित्येव-
मादिषु क्तिरपि ।

रोः ॥२॥३॥७७॥ अयन्ताच्च कर्मव्यतिहारे ओ भवति । अस्य वाधके युचि प्राप्तेऽवमारम्भः । व्याव-
चोरी व्यावचर्ची वर्तते ।

यूतिजुतिसातिहेतिकीर्तयः ॥२॥३॥७८॥ यूत्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । यौतिजवत्योर्दीत्वं निपात्य-
ते । यूतिः । जूतिः । स्वतेः सुनोतेर्वा सातिः । इत्वाभावः आत्वं च निपात्यते । दिनोतेर्हन्तेर्वा हेतः । कीर्तयतेः
युचि प्राप्ते कीर्तिः ।

स्थागापापचो भावे ॥२॥३॥७९॥ स्था गा पा पच् इत्येतेभ्यः स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिर्भवति । भावप्रश-
मकर्तरीत्यस्य निरासार्थम् । प्रस्थितिः । संस्थितिः । गा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । उपगीतिः । उद्गीतिः । पिबतेः

१. आदीयतेऽस्मादादिः अ०, स० । २. सृष्टिः अ० । ३. व्यापलेखी अ०, ब०, स० ।

४. व्यापहारी अ०, ब०, स० । ५. व्यापचोरी अ०, ब०, स० । ६. व्यापचर्ची अ०, ब०, स० ।

प्रपीतिः । निपीतिः । पक्तिः । “आतो गौ” [२।१।१०६] इति “विद्” [२।३।८६] इति च अङ् प्राप्तः तद्वाधनार्थमिदम् । गणे “व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” इति निर्देशादङ्गपि भवति । संस्था । “श्रुयजोषिस्तुभ्यः स्त्रियां करणे युद्धाधनार्थं किवृत्तयः” [वा०] श्रूयतेऽनयेति श्रुतिः । इष्टिः । स्तुतिः ।

व्रजधजः कथप् ॥२।३।८०॥ भाव इति वर्तते । यज यज इत्येताभ्यां स्त्रीलिङ्गे भावे क्यप् । प्रज्या । प्रज्या । इज्या । पितृकरणमुत्तरार्थम् ।

समजनिपदनिपदमनविदुशोङ् सृजिणः स्त्री ॥२।३।८१॥ भाव एवेति निवृत्तम् । द्वयमनुवर्तते । समजादिभ्यः स्त्रियां कथप् भवति लुविषये । समजन्ति अस्यां समज्या । कथपि बीभावः कस्मान्न भवति । “बहुलं स्त्री” [१।४।१२६] इति तत्रापेक्ष्यते । निषीदन्ति अस्यां निषद्या । निषद्यन्ते अस्यां निषद्या । केचित्पदिस्थाने पतिं पठन्ति । मन्यते अनया मन्या । विद्यते अनया विद्या । सुनोति तस्यां सुत्या । शैते अस्यां शय्या । भरणं भृत्या । भाव प्रवामिधानं करणे वा । इत्या । कथं भार्या कर्मणि भविष्यति ? अथवा “तृज्याच्चाङ्” [२।३।१४६] इत्येवमादिषु विशेषेण विधानात् । व्यसजानामिमे स्त्रीत्या न बाधकाः । “मातृवृद्धिपूर्वाच्चाङ्” [२।२।१६६] “कर्मणि भृतौ” [२।२।२७] “रजःकृष्यासुतिपरिषदो वल” [४।१।३८] इति शापकात् कचित् किरपि भवति । मतिः । वित्तिः । आसुतिः । भृतिः ।

कृजः श च ॥२।३।८२॥ करोतेः स्त्रियां शो भवति क्यप् च । यदा भावकर्मणोः शस्तदा मध्ये यक् “रिङ्यभिङङ्यौ” [१।२।१३७] इति रिङादेशः । यदापादानादिविवक्षा तदा यनास्तीति रिङादेशोपादेशी । क्रिया । कृत्या । “गेरसेऽपि विकृतेः” [५।४।१८] इति शापकात् किरपि भवति । कृतिः ।

इच्छा ॥२।३।८३॥ इच्छेति निपात्यते । इष इच्छायाभित्यस्माद्भावे शः यगभावश्च निपात्यते । क्लेरपवादोऽयम् । “परिषर्थापरिषर्थासृगयाणां निपातनं वक्तव्यम्” [वा०] परिपूर्वाच्चाङ् शः सरतेरप् च निपात्यते । सृगयतेः शप् शो यगभावश्च निपात्यते । “जागर्तेश्चौ वक्तव्यौ” [वा०] जागरा । जागयो । शे यक् । “जागुरविजिण्विङिति” [१।२।८२] इत्येप् ।

अस्त्यात् ॥२।३।८४॥ अ इत्ययं ल्यो भवति त्यान्तेभ्यो लुभ्यः स्त्रियाम् । चिकीर्षा । लोलूया । अदाय्या । पुत्रीया । पुत्रकाम्या । करङ्ग्या ।

सरोर्हलः ॥२।३।८५॥ सह ण्यो वर्तत सः । सरोर्हलन्तो यो ध्रुस्ततः स्त्रियामस्त्यो भवति । कुण्डा । चुण्डा । मेघा । ईहा । “पर्याप्तिवचनेऽलमर्थे” [२।४।५१] इति निर्देशाद् ये सट्स्तेषामिह ग्रहणम् । तेनेह न भवति । आसिः । दीप्तिः । राक्षिः । अस्तिः । प्रध्वस्तिः । प्रशस्तिः । “प्रशंसार्था रूपः” [४।१।१२६] इति निर्देशात् । शंसरस्त्योऽपि भवति । सरोरिति किम् ? निषर्ठातः । हल इत्येव । नीतिः ।

विद्धिदाविभ्योऽङ् ॥२।३।८६॥ पिद्धयो धुभ्यो भिदादिषु च गणपठितेषु याः प्रकृतयस्ताभ्यश्चाङ् भवति स्त्रियाम् । जृष्-जरा । जपुप्-जपा । घटादयः पितः । घटा । व्यथा । “युङ् व्या बहुलम्” [२।३।१४] इति बहुलवचनात् लब्धिर्लभेति च भवति । भिदादिभ्यः खत्वपि । भिदा विदारणे । भित्तिरन्या । छिदा द्वैधीकरणे । छित्तिरन्या । विदा विचारणे । वित्तिरन्या । क्षिपा प्रेरणे । क्षित्तिरन्या । गुहा गिर्व्योषण्योः । गूढिरन्या । कुहा । नद्याम् । कुहना अन्या । आरा शस्त्र्याम् । आर्तिरन्या । आङि वाचि (अङि) कृते “अशुरेप्” [५।२।१२६] । क्तौ कृते “धावृत्ति रोः” [४।३।७६] इत्येप् । क्करा बन्धने । कृतिरन्या । तारा

ज्योतिषि । तार्क्षिरन्या । एपि कृते दोलमनयोर्निपातनात् । वषा मेदोविशेषे । उप्तिरन्या । वशा शरीरगतस्नेहे । उष्टिरन्या । मृजा शरीरसंस्कारे । मृष्टिरन्या । धारा वर्षप्रपाते । धृतिरन्या । निपातनादात्मम् । “कपेजिह्व” [वा०] कृपा । गोधा । हारा । रेखा । लेखा । निपातनादेप् । चूडा । पीडा ।

चिन्तिपूजिकथिकुम्भिचर्चः ॥२।३।८७॥ चिन्त्यादिभ्यो धुभ्यः स्त्रियामङ् भवति । युचोऽपवादोऽयम् । चिन्ता । पूजा । कथा । कुम्भा । चर्चा ।

आतो गो ॥२।३।८८॥ आकारान्तेभ्यो धुभ्यो गौवाचि अङ् भवति । क्लेशपवाद । प्रदा । प्रघा । प्रपिबस्वस्यां प्रपा । पिबतेर्भावे क्तिर्विहितः । “प्रज्ञाश्रद्धार्चवृत्तिभ्यो णः” [१।१।२८] “तिरोऽन्तर्द्धौ” [१।२।१४०] इति प्रयोगात् अदन्तरोर्गिवद्धृत्तिः । श्रद्धा । अन्तर्धा ।

ण्यासअन्धघट्टिवन्दिषिदो युच् ॥२।३।८९॥ एयन्तेभ्यः आस अन्धि घट्टि वन्दि षिद् इत्येतेभ्यो धुभ्यः स्त्रियां युच् भवति । एयन्तात् “अस्त्यात्” [२।३।८४] इति इतरेभ्यः “सरोर्हक” [२।३।८१] इत्यकारः प्रातः । विदेः क्तिः प्रातः । कारणा । गणना । कामता । आसता । अन्धना । घट्टना । वन्दिना । वेदना । अनुभवे वेदनद्रष्टव्या । “इषोऽनिच्छायां युच् वक्तव्यः” [वा०] अन्वेषणा । “परेषां” [वा०] पर्येषणा । परीष्टिः । “युद्ध्या बहुकष” [२।३।१४] इति वा भविष्यति । व्यानां स्त्रोत्याः अशोधका इत्युक्तम् । तेन आस्या उपास्या ।

स्त्री विभाषा युष् ॥२।३।९०॥ खुषिये विभाषया युष् भवति धोः । क्यादीनामपवादाः । प्रस्कन्दिका । प्रच्छदिका । प्रवादिका । विचर्चिका । एतत् रोगसंज्ञाः । उद्दालकपुष्पभक्षिका । चारणपुष्पप्रचायिका । अम्योषलादिका । शालभक्षिका । एताः क्रीडासंज्ञाकाः । कृष्णदण्डा कर्मणि ता । “क्राडाजीविकयोर्नित्यम्” [१।३।८०] इति नित्यः सविधिः । उद्दालकपुष्पाणि भक्ष्यन्ते यस्यां क्रीडायां इत्येवमादिरस्वपदविग्रहो बोद्धव्यः । विभाषाप्रहणादिह न भवति शीर्षसिः शीर्षाभिततिः । शिरोऽर्तिः । “धावृत्ति मेः” [४।३।७६] इत्यैषा भवितव्यामिति चेत् ; न; अर्द्धं हि सावामित्यस्य प्रयोगः । चन्दनतक्षिका । क्रीडेयम् । विभाषाप्रहणाद्व्यर्थनिर्देशोऽपि युष् भवति । आसिका । शायिका वर्तते ।

षेञ्च प्रश्नाख्याने ॥२।३।९१॥ प्रश्ने आख्याने च अभ्यमाने धोरिञ् भवति युष् च वा । कां त्वं कारिमकार्षीः कां कारिकां वा । क्वचनद्यथाप्राप्तं च भवति । कां क्रियां कां कृत्यां कां कृतिम् । आख्याने सर्वां कारिमकार्षीं सर्वां कारिकां सर्वां क्रियां सर्वां कृत्यां सर्वां कृतिम् । कां त्वं गणिमगौरणः कां गणिकां कां गणनाम् । सर्वां गणिमया गणिता । सर्वां गणिका सर्वां गणना । कां त्वं पाठिमपाठीः कां पाठिकां कां पठितिम् । सर्वां मया पाठिः पठिता सर्वां पाठिका सर्वां पठितिः । प्रश्नाख्यान इति किम् । कृतिः ।

पर्यायाहर्णोत्पत्तो युष् ॥२।३।९२॥ पर्याय अर्हं श्रुण उत्पत्ति इत्येतेऽवर्थेणु गम्यमानेषु धोरिण् भवति स्त्रियाम् । पर्यायोऽनुक्रमः तस्मिन् । भवतः शायिका । भवतोऽग्रगामिका । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।३।९८] इति कर्तरि ता । “तृजकाम्याम्” [१।३।७८] इति तासप्रतिषेधः । अर्हणमर्हयोग्यता । तत्र अर्हति भवानिच्छुभक्षिकाम् । ओदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् । “तृजकाम्याम्” [१।३।७८] इत्यत्र कर्तरीत्यनुवर्तनात् कर्मणि वा ता तत्र “कृति” [१।३।७१] इत्यनेन तासः । श्रुण यत्परस्य धार्यते । तत्र इच्छुभक्षिकां मे धारयसि । ओदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् । उत्पत्ता-इच्छुभक्षिका मे उदपादि । ओदनभोजिका । पयःपायिका । विभाषानुवर्तनात् क्वचिन्न भवति । अर्द्धाक्षीर्षा मे उदपादि । ओदनबुध्वा मे उदपादि ।

आक्रोशे नञ्यन्ति ॥२।३।६३॥ आक्रोशे गम्यमाने नञि वाचि घोरनिस्त्यो भवति । कृत्यदीनाम-
पवादः । अकरणिस्ते वृषल भूयात् । अप्रयाणिस्ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अकृतिस्तस्य पठस्य ।
नञीति किम् ? मृतिस्ते वृषल भूयात् ।

युङ्ख्या बहुलम् ॥२।३।६४॥ भावे अकर्तरि क्रियामिति च निवृत्तम् । युङ्ख्यसंज्ञश्च बहुलं भवति ।
भावकरणाधिकरणेषु युङ् विहितोऽन्यत्रापि भवति । निरदान्त इति निरदनम् । अवचेचनम् । अवस्मावणम् ।
राज्ञा भुज्यन्ते राजभोजनाः शालयः । क्षत्रियपानं मधु । राजाच्छादनानि वस्त्राणि । प्रयतते तस्मात् प्रयतनम् ।
प्रस्कन्दनम् । प्रच्छर्दनम् । भावकर्मणोर्व्या उक्तास्ततोऽन्यत्रापि भवन्ति । स्नान्ति तेन स्नानीयं चूर्णम् ।
दीयतेऽस्मै दानीयोऽतिथिः । ज्ञानमावृणोति आविद्यते वानेन ज्ञानावरणीयम् । दर्शनावरणीयम् । वेदनीयम् ।
मोहनीयम् । बहुलवचनादन्येऽपि कृतः उक्तदन्यत्र भवन्ति । गले चोप्यते गलचोपकः । पादाम्बां ह्रियते
पादहारकः ।

नप् भावे क्तः ॥२।३।६५॥ नयितुं क्त्वं कृत्वा निर्देशः । नपि नपुंसकलिङ्गे भावे क्तो भवति ।
घञचोरपवादः । इक्षितं छात्रस्य शोभनम् । जल्पितम् । आसितम् । शयितम् । नपुंसकलिङ्गे भावे क्तादि-
निवृत्त्यर्थं भयादीनामञ् वक्तव्य इत्युक्तम् । तेन भावं वर्धयित्वादौ क्तो युर्न भवति । येषां घञजन्तानां नपुंसक-
त्वमिष्टं तैऽर्द्धादिषु द्रष्टव्याः ।

विभ्रमिविधौ ॥२।३।६६॥ नञ्भावे इति वर्तते । अभिविधिः क्रियागुणान्यां कार्त्स्न्येन व्याप्तिः ।
नपि भावे धोर्जित् भवति अभिविधौ गम्यमाने । कृत्स्नावमपवादः । साङ्कौटिनं संमार्जितं संराविणं सान्द्रा-
विणं वर्तते । “जिनोऽण्” [४।२।२१] इति स्वार्थिकोऽण् “नो पुंसोऽङ्गति” [४।३।१२०] इति टिक् प्राप्तं
“प्रायोऽनपत्येऽणीनः” [४।३।१२२] इति न भवति । मध्येऽपवादोऽयं युटं न बाधते । संकुटं संमार्जनम् ।
अभिविधाभिति किम् ? संरावः ।

युट् ॥२।३।६७॥ नञ्भाव इति वर्तते । नपि भावे युट् भवति धोः । हसनं छात्रस्य शोभनम् ।
जल्पनम् । आसनम् । शयनम् ।

कर्मणि यत्स्पर्शाकर्त्रङ्गसुखम् ॥२।३।६८॥ युट् नञ्भाव इति च वर्तते । येन संस्पर्शात्
कर्त्रङ्गस्य सुखं भवति तस्मिन् कर्मणि वाचि नपुंसकलिङ्गे भावे युट् भवति । श्रीदनभोजनं सुखम् । पयः-
पानम् । चन्दनानुलेपनम् । पूर्वेण सिद्धेऽपि नित्यसर्वविध्यं आरम्भः । कर्मणीति किम् ? तूलिकाया उत्थानम् ।
युडत्र पूर्वेण सिद्धः । सविधिस्तु न भवति । यत्स्पर्शादिति किम् ? अग्निकुरण्डस्योपासनं सुखम् । युट् पूर्वेण ।
पाक्षिकः सविधिः । कर्तरीति किम् ? गुरोः स्नापनं सुखम् । नात्र स्नापयतेः कर्तुः शरीरसुखं किं तर्हि गुरोः
कर्मणः । अङ्गग्रहणं किम् ? पुत्रस्य परिष्वङ्गनं सुखम् । मानसमिदम् । अन्यथा परपुत्रपरिष्वङ्गनेऽपि स्यात् ।
सुखमिति किम् ? कण्ठस्नानं मर्दनम् ।

करणाधिकरणयोः ॥२।३।६९॥ करणेऽधिकरणे च कारकेऽभिधेये युट् भवति । अत्रापवादः ।
करणे-इध्मवश्चनः । पलाशशातनः । अविलवनः । कर्मणि ता । कृतीति तासः । अधिकरणे गोदोहनी ।
शङ्खुधानी । तिलपीडनी । परत्वात् तथादिकं स्त्रीत्वं बाधते ।

पुंस्त्रौ घः प्रायेण ॥२।३।१००॥ करणाधिकरणयोरिति वर्तते । पुंलिङ्गसंज्ञायां गम्यमानायां धोर्धो
भवति प्रायेण । घकारः “ङादेर्घे” [४।३।६०] इत्यत्र विशेषणार्थः । प्रच्छदः । उरच्छदः । लघः ।
आल्लनः । अधिकरणे-एत्य कुर्वन्स्वस्मिन्नाकरः । आलवः । आपवः । पुंग्रहणं किम् ? प्रधानम् । विचयनी ।

नपुंसकलिङ्गा स्त्रीलिङ्गा चैवं संज्ञा । खाविति किम् ? इरणो दण्डः । प्रायेणेति किम् ? कचिन्न भवति । प्रसाधनः । दोहनः ।

तृस्तोऽथे घञ् ॥२।३।१०१॥ तृ स्तृ इत्येताभ्यामवशब्दे वाचि घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुंस्त्री । अवतारः । अवस्तारः । कथमसंज्ञायामवतारो नद्या इति ! चिन्त्यमेतत् ।

हृल्लः ॥२।३।१०२॥ हलन्ताद्धोर्घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुंस्त्री । यापवादोऽयम् । वेदः । नेगः । वेशः^१ । गन्धः । सङ्गः । विषङ्गः । तैलोदकम् । घृतोदकम् । नास्त्यत्र घञि घे वा विशेषः । इमानि तर्ह्युदाहरणानि । खेलः । निमार्गः । अपामार्गः । प्रासादः । आखानः । प्रायेणेत्यनुवर्तनात् हलन्तेभ्यः केभ्यश्चित् घञ् न भवति घ एव भवति । अधिकरणे-कषः । निकषः । निगमः । गोचरः । आपणः । करणे-संचरः । वहः । प्रजः । इह व्यञ्जन्यसिन्निति व्यञ्जः । घे कृते “बहुलं स्त्री” [१।४।१२३] इति बहुलवचनादत्रेवोभावो न भवति । इह उदकोदञ्चनः । दोहनः । प्रसाधन इति घघञौ न भवतः । आखनः आखानः इत्यत्रोभयं भवति ।

संहारोद्यावनायावहारावायाः ॥२।३।१०३॥ संहारादयः शब्दा घञि निपात्यन्ते पुंस्त्री । अहलन्तत्वात् पूर्वेषाम्प्राप्तिः । संहरति तेन संहारः । करणेऽधिकरणे वा उद्यावः । आनयन्ति तेन आनायो जालं चेत् । अवहरन्ति तेन अवहारः । एत्य तस्मिन् वयन्ति आवायः । “अभ्यायानुवाक्योर्घोप्” [४।१।६४] “आधारोऽधिकरणः” [१।२।११६] इति शापकात् उञ्छादिषु न्यायशब्दस्य निर्देशात् अधीयते अनेनाध्यायः । आधियते अस्मिन् आधारः । नीयतेऽनेन न्यायः । एतेऽपि शब्दाः साधवः ।

स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे खः ॥२।३।१०४॥ सु ईषत् दुष् इत्येतेषु वाञ्छु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे खो भवति धोः । कृच्छ्राकृच्छ्रग्रहणं स्वादिविशेषणम् । सुकरः कटो भवता । ईषत्करः कटो भवता । दुष्करः कटो भवता । “तयोर्ध्वकस्त्रार्थाः” [१।४।२२] इति कर्मणि खः । “न भित्ति” [१।४।७२] इत्यादिना ताप्रतिषेधः । भित्त्वात्पूर्वपदस्य मुम्न भवति । कृच्छ्राकृच्छ्र इति किम् ? ईषत्कार्यः । मनाकार्य इत्यर्थः ।

कर्तृकर्मणोर्भू कृञ्भ्याम् ॥२।३।१०५॥ स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे ख इति वर्तते । कृञ्ग्रहणात्-मर्थ्यात् कर्तृकर्मग्रहणं वाग्विशेषणम् । कर्तरि कर्मणि च वाचि भू कृञ् इत्येताभ्यां यथासंख्यं खो भवति सु ईषत् दुष् इत्येतेषु वाञ्छु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे । तस्य खित्करणं मुमर्थमिति पूर्वं कर्तृकर्मभ्यां योगः पश्चात्स्वादिभिः । प्रायेणेत्यनुवर्तनात् कर्तृकर्मणोश्च्यर्थयोर्ग्रहणम् । अनाद्येन सुखमाद्येन भूयते स्वाद्यंभवं भवता । ईषदाद्यंभवं भवता । दुराद्यंभवं भवता । सुखमनाद्यमाद्यङ्कियते । स्वाद्यं करो देवदत्तो भवता । ईषदाद्यङ्करः । सूत्रन्यासे परस्मात्कर्तृकर्मणोः वाक्सं कृत्वा पश्चात्पूर्वस्य क्रियते । च्यर्थयोरिति किम् ? स्वाद्येन भूयते । स्वाद्येन क्रियते । यदा करोतिर्विकारार्थः तदा सुकटंकराणि वीरणानि । यदा निष्पत्तिवचना तदा सुकरः कटो वीर्यैरिति ।

युञ्जातः ॥२।३।१०६॥ स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे इति वर्तते । आकारान्तेभ्यो धुभ्यो युञ् भवति स्वादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु वाञ्छु । सुपानं पयो भवता । ईषत्पानम् । दुष्पानम् । सुखानम् । ईषदुखानम् । दुर्खानम् । लापवादोऽयम् । प्रायेणेति वर्तते । तेन “दुःशब्दे वाचि शासिषुषिषि-छविमृषिभ्यः युञ् भवति” [४।०] । दुःशासनः । दुर्योधनः । दुर्दर्शनः । दुर्धर्षणः । दुर्मर्षणः । सुदर्शनादिषु बसो ब्रह्मण्यः ।

भवद्द्वया तत्सामीप्ये ॥२।३।१०७॥ भवच्छब्दो वर्तमानपर्यायः । समीपमेव सामीप्यम् । भवतीव व्यवधिर्भवति वा तत्समीपे भूते मविष्यति च ध्वये वर्तमानाद्धोः । संप्रतीत्यारभ्य आ पादपरिसमाप्तेर्विहितारत्या अतिदिश्यते । कदा देवदत्त आगतोऽस्ति । एष आगच्छामि । आगच्छन्तमेव मां विद्धि । एष आगामुकोऽस्ति । वावचनाद्यथाप्राप्तम् । एष आगतोऽस्ति । कदा देवदत्त गमिष्यसि । एष गच्छामि । गच्छन्तमेव मां विद्धि । गन्तारमेव मां विद्धि । पक्षे एष गमिष्यामि । एषोऽस्ति गन्ता । ककरणं किमर्थम् ? प्रकृतिविशेषादिपरिग्रहार्थम् । तत्सामीप्यग्रहणं व्यवहितनिरासार्थम् । कदा ग्राममगच्छत् । श्वः करिष्यति । इह मा भूत् । नन्वत्र लुटा भवितव्यं कथं लृट् ? पदसंस्कारवेलायां श्वःप्रभृतिपदानामसंनिधानाददोषः ।

भूतवच्चाशंसायाम् ॥२।३।१०८॥ आशंसनमाशंसा भविष्यत्कालविषया; तस्यां गम्यमानायां भूतवच्यविधिर्भवति भवद्द्वयं वा । भूतग्रहणेन भूतसामान्ये विहितस्य तस्य परिग्रहः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागमत् उपाध्यायश्चेदागतः तदा तर्कमधीमहे अभ्येष्ट्यामहे अभ्यगीष्महि एषोऽधीतस्तर्कः । आशंसायामिति किम् ? उपाध्याय आगमिष्यति ।

क्षिप्रवचने लृट् ॥२।३।१०९॥ आशंसामिति वर्तते । क्षिप्रार्थे शब्दे वाचि लृट् भवत्याशंसायां गम्यमानायाम् । भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति क्षिप्रमध्येष्ट्यामहे शीघ्रमध्येष्ट्यामहे । नेति वक्तव्ये लृट्ग्रहणं लृट्विषयेऽपि यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । श्वः क्षिप्रमध्येष्ट्यामहे ।

लिङ्गाशंसोक्तौ ॥२।३।११०॥ आशंसा उच्यते येन शब्देन तस्मिन् वाचि लिङ् भवत्याशंसायां गम्यमानायाम् । अयमपि भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशंसे युक्तोऽधीयीय । अवकल्पये युक्तोऽधीयीय । परस्मैल्लृटो वाचकोऽयम् । आशंसे क्षिप्रमधीयीय ।

न लङ्लुट् सामीप्याव्युच्छित्योः ॥२।३।१११॥ सामीप्यं तुल्यजातीयेनाव्यवधानम् । अव्युच्छितिः क्रियाप्रबन्धः । लङ्लुटौ न भवतः सामीप्याव्युच्छित्योः गम्यमानयोः । अनद्यतनविहितयोर्लङ्लुटोरयं प्रतिषेधः । सामीप्ये-वेयं पौर्णमास्यतिक्रान्ता एतस्यां देवानपूजामः । अतिथीनबुभुजामः । येयममावास्यागामिनी एतस्यां देवान् पूजयिष्यामः अतिथीन् भोजयिष्यामः । अव्युच्छित्तौ-यावदजीवीत् भृशमन्नमदात् । यावज्जीविष्यति भृशमन्नं दास्यति ।

वत्स्यत्यवरेऽवधेः ॥२।३।११२॥ यद्यपि लङ्लुङिति प्रकृतम्; तथापीह वत्स्यद्ग्रहणाल्लुट एव प्रतिषेधः । वत्स्यतिकाले अवरस्मिन् भागे लुण्न् भवति । अस्मीप्याव्युच्छित्यर्थोऽयमारम्भः । कालविभाग उत्तरत्र वक्ष्यते । देशविभागेऽयं प्रतिषेधः । योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायाः तत्र द्विरोदनं भोजयामहे द्विःसक्त्यास्यामः । वत्स्यतीति किम् ? योऽयमध्वागत आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वैमहि । अवर इति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यमरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वेतास्महे । अवधेरिति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्यो निरवधिकः तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वेतास्महे ।

कालविभागेऽनहोरात्राणाम् ॥२।३।११३॥ वत्स्यत्यवरेऽवधेरिति वर्तते । वत्स्यतिकाले अवरस्मिन्कालविभागेऽहोरात्रसंबन्धविषयित्वे लुण्न् भवति । पूर्वेण प्रतिषेधे सिद्धेऽप्यहोरात्रसंबन्धविभागप्रतिषेधार्थं वचनम् । कालविभागग्रहणमिहार्थमुक्तार्थं च । योऽयं संवत्सर आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्रार्हस्पृजां करिष्यामहे अतिथिभ्यो दानं दास्यामहे । वत्स्यतीत्येव । योऽयं संवत्सरोऽतीतस्तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्वैमहि । अवर इति किम् ? “वा परे” [२।३।११३] इति वक्ष्यति । अवधेरित्येव । योऽयं निरवधिकः काल आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्वेतास्महे । अनहोरात्राणामिति किम् ? योऽयं त्रिंशद्वात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता द्विरध्वेतास्महे । योऽयं त्रिंशद्वात्र अमौल्यागत

योऽवरोऽर्द्धमासस्तत्र द्विरध्येतास्महे । योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र द्विरध्येतास्महे । प्रसव्य [इति] प्रतिषेधात् त्रिविधमुदाहरणम् ।

वा परे ॥२।३।११४॥ कालविभाग इति वर्तते । परस्मिन्नवधेः कालविभागो वर्त्येति लुण् भवति न चेदहोरात्राणां विभागः । योऽयं संवत्सरः आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येष्यामहे अध्येतास्महे वा । सामीप्याव्युच्छित्तिविवक्षायां परत्वादयं विकल्पः । अमहोरात्राणामित्येव । योऽयं त्रिशदात्र आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्रः तत्र द्विरध्येतास्महे । सामीप्याव्युच्छित्त्योर्लुटः प्रतिषेध एव । वार्त्येतीत्येव । योऽयं संवत्सरोऽतीतः तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येमहि । अवधेरित्येव । योऽयं निरवधिः काष्ठ आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येतास्महे । कालविभाग इत्येव । योऽयमध्वा गन्तव्यः आ चित्रकूटात् तस्य यत्परं मधुरायास्तत्र द्विरध्येतास्महे । सर्वत्र लुङ् भवति न चेदव्युच्छित्तिविवक्षा ।

लिङ्हेतौ लृङ् क्रियाऽवृत्तौ ॥२।३।११५॥ वर्त्येतीति वर्तते । हेतुर्निमित्तम् । लिङ्हेतौ वर्त्येति काले लृङ् भवति क्रियाया अवृत्तौ सत्याम् “हेतुफल्योर्लिङ्” [२।३।११२] इत्येवमादि लिङ्निमित्तं वक्ष्यति । अतिथीश्चेदलिप्स्यत मृशमच्चमदास्यत् । अत्रात्रदानं कलं तद्धेतुभूतोऽतिथिलाभः तदनभिनिर्वृत्तिं प्रमाणाद-
वगम्येदं नाक्यं प्रयुक्तम् । एवमुपाध्यायं चेदुपासिष्यत शास्त्रान्तमगमिष्यत् । अभोक्ष्यत भवान् दध्ना यदि मत्समीपे आसिष्यत । इह वक्षिणेन चैदयस्यत् न पथ्यामविष्यदिति धानमनिष्यन्नं पर्याभवनं तु निष्पन्नमिति कथमवृत्तिः क्रियायाः । एवं तर्हि प्रत्यासत्तेर्हेतुभूतायाः क्रियाया अवृत्ताविति द्रष्टव्यम् । क्रियायाः अवृत्ता-
वपि शक्तिरूपेण क्रियामध्यारोप्य कर्तृत्वेनाभिसंबन्धः क्रियते यथा भूतगविष्यत्कालविषयावाः कर्तृत्वे-
नाभिसंबन्धः ।

भूते ॥२।३।११६॥ भूते च काले लिङ्हेतौ क्रियाया अवृत्तौ सत्यां लृङ् भवति । “उताप्सोः पृष्ठेकौ लिङ्” [२।३।१२८] इत्यतः प्रभृति कालसामान्ये यल्लिङ्निमित्तं विधानं तत्रानेन भूते लृङ् । ततः पूर्वं तु “वाऽशेषात्” [२।३।११७] इत्येतेनैव विकल्पः सिद्धः । दृष्टो मया भवतः पुत्रोऽनार्थी च इक्ष्म्यमाशः । इत-
रश्चातिथ्ययी यदि तेन दृष्टोऽभविष्यत् उताभोक्ष्यत । अथभोक्ष्यत अन्येन यथा स गतः नापि सुकृवान् । इदं
सर्वं प्रतिबचनम् ।

वाऽशेषात् २।३।११७॥ वक्ष्यति “शेषेऽप्यङ्गौ लृट्” [२।३।१२७] इति आ एतस्मात्सुभावधेः यदित्
कर्ध्वमनुकमिष्यामः भूते काले लिङ्हेतौ क्रियायाः अवृत्तौ लृङ् वा भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । पास्तु लृङो
विधिर्नित्य इति तत्रैवोदाहरिष्यामः ।

लङ् गर्होऽपिजातयोः ॥२।३।११८॥ अपि जातु इत्येतयोर्वाचोः लङ् भवति गर्हं गम्यमाने । अयं
कालसामान्ये विहितौ लट् कालविशेषे विहितान् लकारान् परत्वाद्वाधने । अपि तत्रभवान् प्राणिनो
हन्ति । जातु तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति । गर्हामहे । अन्याय्यमेतत् । लिङ्हेत्वभावात् भूते क्रियाऽवृत्तौ लृङ्
न भवति ।

वा कथमि लिङ् च ॥२।३।११९॥ गर्ह इति वर्तते । कथंशब्दे नाचि लिङ् भवति लङ्वा ।
कथं नाम तत्र भवान् मां मत्तयेत् । मां मत्तवति । गर्हामहे । अन्याय्यमेतत् । वाच्यनाथथाप्राप्तम् ।
अवमच्चत् । अभक्ष्यत् । मत्तयच्छकार । मत्तयिष्यति । मत्तयिता । अत्र लिङ्हेतुस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ
वा लृङ् भवति । अभक्ष्यिष्यत् । वर्त्येति नित्यं लृङ् ।

किंवृत्ते लिङ् लृटौ ॥२।३।१२०॥ गर्ह इति वर्तते । वेति नाधिकृतम् । विभक्त्यन्तस्य उत्तरङतमान्तस्य
च किमो वर्तनं किंवृत्तम् । किंवृत्ते वाचि गर्हं गम्यमाने लिङ् लृटौ भवतः । सर्वलकाराणामयमपवादः । किं
तत्रभवान् अरुतं ब्रूयात् । अरुतं वक्ष्यति । लिङ्हेतुस्तीति भूते वा लृङ् भवति । वर्त्येति तु नित्यः ।

अनवकलृप्त्यमर्थे ॥२३॥१२१॥ गहं इति निवृत्तम् । लिङ्लुटविति वर्तते । अनवकलृप्त्यर्थे अव-
मर्थे च गम्यमाने लिङ्लुट् इत्येतौ ल्यौ भवतः । अयमपि सर्वलकाराणामपवादः । अनवकलृप्तौ नावकल्पयामि
न संभावयामि न वा श्रद्धे किं तत्र भवानदत्तं गृहीयात् अदत्तं ग्रहीष्यति । अमर्षे । षिङ् मिथ्या नैतदस्त्यमर्षो
मे किं 'तत्रभवानदत्तं गृहीयात् अदत्तं ग्रहीष्यति । किञ्चिद्विचित्रे च वाचि सामान्येनायं विधिः । लिङ्हेतु-
रस्तीति भूते क्रियावृत्तौ वा लृङ् । वत्स्यति तु नित्यः ।

किंकिलास्त्यमर्थे लृट् ॥२३॥१२२॥ अनवकलृप्त्यमर्थे इति वर्तते । किंकिलशब्दे अस्त्यर्थेषु च
शब्देषु वाञ्छु अनवकलृप्त्यमर्थयोर्लृट् भवति । लिङोऽपवादः । नावकल्पयामि किंकिल तत्र भवान् परदारान्
प्रकरिष्यते । गंधनादिसुखेणान्याये दः । अस्त्यर्था अस्तिभवतिविद्यतयः । अस्ति नाम भवति नाम विद्यते नाम
तत्रभवान् परदारान् प्रकरिष्यते ।

जातुयद्यदायदौ लिङ् ॥२३॥१२३॥ अनवकलृप्त्यमर्थे इति वर्तते । जातुयद्यदायदीत्येतेषु वाञ्छु
अनवकलृप्त्यमर्थयोर्लिङ् भवति । लृटोऽपवादः । नावकल्पयामि जातु तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यत्तत्रभवान्
सुरां पिबेत्, यदा तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यदि तत्रभवान् सुरां पिबेत् । न मृष्यामि जातु तत्रभवान् सुरां
पिबेत् इत्येवमादि योग्यम् । लिङ्हेतुरस्तीति भूते वा लृङ् । वत्स्यति तु नित्यः ।

यच्चयत्रयोः ॥२३॥१२४॥ अनवकलृप्त्यमर्थे इति वर्तते । यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचोरनवकलृप्त्यमर्थ-
योर्लिङ् भवति । लृटोऽपवादः । उत्तरार्थे योषविभाग । न संभावयामि यच्च तत्रभवान् परिवादं कथ-
येत् । न मृष्यामि यच्च तत्रभवान् परिवादं कथयेत् । यत्र तत्रभवान् परिवादं कथयेत् । क्रियाऽवृत्तौ भूते
वा लृङ् । वत्स्यति तु नित्यः ।

गहं ॥२३॥१२५॥ अनवकलृप्त्यमर्थे इति निवृत्तम् । अर्थान्तरोपाशानात् । यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचो-
गहं गम्यमाने लिङ् भवति । सर्वलकाराणामपवादः । यच्च तत्रभवान् अस्मानाक्रोशेत् विद्वान् वृद्धः सन्नु-
त्कृष्टः । गर्हामहे । अन्याव्यमेतत् । लिङ्हेतुरस्तीति यथासंभवं लृङ् वेदितव्यः ।

चित्रार्थे ॥२३॥१२६॥ चित्रशब्दल्यार्थे गम्यमाने यच्चयत्रयोर्वाचोर्लिङ् भवति । सर्वलकारापवादः ।
यच्च तत्रभवान् लोभं कुर्यात् यत्र तत्रभवान् लोभं कुर्यात् विद्वान् वृद्धः सन्नुत्कृष्टः । चित्रमाश्चर्यमद्भुतं
विस्मयमित्येषामन्यतमप्रयोगः । लिङ्हेतुरस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ वा । वत्स्यति तु नित्यः ।

शेषेऽयदौ लृट् ॥२३॥१२७॥ यच्चयत्राभ्यामन्वश्चित्रार्थः शेषः । शेषे चित्रार्थे गम्यमाने लृट्
भवति यदिशब्दश्चेद्वाङ् न भवति । अयमपि सर्वलकारापवादः । चित्रमाश्चर्यमद्भुतं विस्मयमित्ययमन्वो
नाम पुस्तकं वाच्यमिति मूको नाम जैनेन्द्रमध्येष्यते । लिङ्हेत्वभावात् लृङ् वा न भवति । अयदाविति
किम् ? आक्षेपे यदि स भुञ्जीत । अत्रानवकलृप्तिश्चित्रार्थश्च प्रतीयते । "जातुयद्यदायदौ लिङ्"
[१२॥१२३] इति लिङ्भूते "चाऽस्तेषाद्" [२३॥११०] इति लृङ्भिकारो निवृत्तः ।

उताप्योः पृष्टोक्तौ लिङ् ॥२३॥१२८॥ उत अपि इत्येतयोर्वाचोः पृष्टस्योक्तौ गम्यमानायां लिङ्
भवति । सर्वलकारापवादः । किमुकार्थः कटं देवदत्त । इति पृष्टः प्रत्याह उत कुर्यात् । अपि कुर्यात् । कटं
कृतवानित्यर्थः । इतः प्रभृति यत्र लिङ्हेतुरस्ति तत्र वत्स्यति भूते च नित्यो लृङ् । उताकरिष्यत् । अप्याकरि-
ष्यत् । पृष्टोक्ताविति किम् ? उत दण्डः पतिष्यति । अपि घास्यति द्वारम् । अत्र प्रश्नोद्धरणं च प्रतीयते ।

इच्छोद्बोधेऽकञ्चिति ॥२३॥१२९॥ इच्छोद्बोधः स्वामिप्रायनिवेदनम् । इच्छोद्बोधे गम्यमाने लिङ्
भवति कञ्चिच्छब्दाप्रयोगे । सर्वलकारापवादः । कामो मे अधीयीत भवान् । अभिलाषो मे भुञ्जीत भवान् ।

अकचितीति किम् ? कचिजीवति मे माता । कचिजीवति मे पिता । माराविदं त्वां पृच्छामि कचिजीवति पार्वती ।

संभावनेऽलमि स्थानिनि ॥२।३।१३०॥ लिङ्गितं वर्तते । संभावनं क्रियायां सामर्थ्यभेदानम् । अलंशब्दश्चेह पर्याप्तवचनः । यस्य यत्रार्थो गम्यते न चाशौ प्रयुज्यते स तत्र स्थानीशब्दः । अलमर्थविशिष्टे संभावने लिङ् भवति अलंशब्दे स्थानिनि । सर्वलकारापवादः । शक्यसंभावने-अपि हस्तिनं हन्यात् । अपि स्तुयाद्वाजानम् । अशक्यसंभावने - अपि पर्वतं शिरसा भिन्ध्यात् । अपि श्वारीयकं भुञ्जीत । अपि समुद्रं दोर्भ्यां तरेत् । अलमीति किम् ? विदेशस्थायी मे देवदत्तो मन्ये गमिष्यति मामम् । अत्राहमिति स्थानी । स्थानिनीति किम् ? वसति चेत् सुराष्ट्रेषु वन्दिष्यते अलमूर्जवन्तम् । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्यति भूते लृङ् भवति ।

तद्वाचि धौ वाऽध्वि ॥२।३।१३१॥ अलमीति वर्तते । तच्छब्देन संभावनं परामृश्यते अलमर्थ-विशिष्टे सम्भावनवाचिनि धौ वाचि वा लिङ् भवति । यच्छब्दाप्रयोगे पूर्वण् नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सम्भावयामि भुञ्जीत भवान् । अदधे भुञ्जीत भवान् । पदे यो यतः प्राप्नोति स ततो भवति । अलमीति किम् ? सम्भावयामि यत्स भुञ्जीत । अत्रालमर्थे पूर्वण् नित्यो लिङ् ।

हेतुफलयोर्लिङ् ॥२।३।१३२॥ हेतुः कारणम् ; फलं कार्यम् । हेतौ तत्कार्यं च ध्वये वर्तमानाद्धोः लिङ् भवति । अतिथीश्चेज्जमेत भृशमन्नं ददीत । यदि गुहपूजां कुर्वीत स्वर्गमाप्नोहेत् । वेत्यनुवर्तनात्पदे लृट् । अतिथीश्चेज्जप्ल्यते भृशमन्नं दास्यते । लिङ्गिति वर्तमाने पुनर्लिङ्प्रवृत्त्यं वर्त्यति यथा स्यादिह मा भूत् । वर्पतीति धावति । हन्तीति पलायते । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्यति भूते च नित्यो लृङ् ।

इच्छार्थे लिङ् लोटौ ॥२।३।१३३॥ इच्छार्थे धौ वाचि लिङ् लोटौ ल्यौ भवतः । सर्वलकारापवादी । नेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तते । तेन कामप्रकाशने इदं विधानम् । इच्छामि भुञ्जीत भवान् । भुङ्क्तां भवान् । प्रार्थये अधीयीत भवान् । अधीतां भवान् । कामप्रकाशन इति किम् ? इह मा भूत् । इच्छन् करोति । नात्र प्रयोक्तुः कामप्रवेदनम् । “उक्तप्योः पृष्ठोक्तौ” [२।१।१२८] इत्यत आरभ्य यत्र केवलो लिङ् हेतुः शिष्यते तत्र क्रियाऽवृत्तौ लृङ् नान्यत्रेति केचित् ।

तुमेककर्तृके ॥२।३।१३४॥ इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि तुम्भवति यस्मात्तुम् विधीयते प्रत्यासत्तेस्त-दपेक्षयैककर्तृकत्वम् । लिङ् लोटोरपवादोऽयम् । इच्छति भोक्तुम् । वाञ्छति कर्तुम् । कामयते कर्तुम् । एककर्तृक इति किम् ? देवदत्तं भुञ्जानमिच्छति परः । इह कस्मान्न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । नात्र करोति प्रतीच्छतेः सामर्थ्यं किन्तु कटं प्रति तेनान्वयवाच्यं शाबिरहातुम् न भवति ।

लिङ् ॥२।३।१३५॥ इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि लिङ् भवति । पूर्वं तुमा लिङ् लोटौ अधितौ पुनर्लिङ्प्रसवार्थमेतत् । योगावभागे उत्तरार्थः । अधीधीवेति इच्छति । भुञ्जीयेति वाञ्छति । इतिशब्दः क्रियाशब्दसंबन्धघातनार्थः ।

तेभ्यो भवति वा ॥२।३।१३६॥ तेभ्य इच्छार्थभ्यो धुभ्यः भवति काले वा लिङ् भवति । इच्छेत् । इच्छति । कामयेत । कामयते । उभ्यात् । वष्टि ।

विधिनिमन्त्रणमन्त्रणाद्योपसंभरणप्राधाने लिङ् ॥२।३।१३७॥ विधिराज्ञापनम् । निमन्त्रणं नियमेन करणम् । यदकरणे प्रत्यवाव इत्यर्थः । आगन्त्रणं स्वेच्छया करणम् । अधीष्टः सत्कारपूर्विका व्यापारणा । संभरणः संभारणा । प्रार्थनं याच्ना । विध्यादिध्वर्थेषु लिङ् भवति । सर्वत्यापवादः । विध्यादिविशि-ष्टेषु कर्त्तादिषु त्थार्थेषु लिङ् भवतीत्यर्थः । कटं भवान् कुर्यात् । प्राणिनो भवान्न हिंस्यात् । निमन्त्रणे-संस्थासु भवान् आक्षयकं कुर्यात् । आचारं भवानधीयीत । आगन्त्रणे-इह भवानासीत् । इह भवान्

शयीत । अधीष्टे-अधीच्छामो भवान् व्रतं रक्षेत् । तत्त्वं भवान् गृह्णीयात् । संप्रश्ने-किन्तु खलु भोः जैनेन्द्रमधीयीथ । प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीथ । तर्कशास्त्रमधीयीथ । यदि विद्यादिषु प्रकृत्युपाधिषु लिङ् विधीवेत; इह विदध्यात् निमन्त्रयेत् आमन्त्रयेत् अधीच्छेत् । प्रकृत्यैव विद्यादयोऽमधीयन्ते इति (इहैव) लिङ् प्राप्नोति । तस्माद्विधादयः कर्तृकर्मभावानां विशेषणानि । तदभावादिह लिङ् न भवति । विदधाति । निमन्त्रयते । आमन्त्रयते । अधीच्छति । अत्र क्रियाया अच्युतौ परत्वाल्लदा लृङ् बाध्यते ।

लोट् ॥२।३।१३८॥ लोट् भवति विद्यादिविशिष्टेषु कर्त्रादिषु विधौ । ग्रामं भवान्नागच्छतु । प्राणिनो भवान्न हिनस्तु । निमन्त्रणे-संख्यासु भवानावश्यकं करोतु । आचारमधीताम् । आमन्त्रणे-इह भवान्नास्ताम् । इह शेताम् । अधीष्टे-अधीच्छामो भवान् व्रतं रक्षतु । तत्त्वं भवान् गृह्णीयात् । संप्रश्ने-किन्तु खलु भो काव्यमध्ययै । प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना चर्मशास्त्रमध्ययै । योगविभाग उत्तरार्थः ।

प्रेषातिसर्गप्राप्तकाले व्याश्व ॥२।३।१३९॥ प्रेषणं प्रेषः । अतिसर्गः क्रमचासनुज्ञा । प्राप्तकालः प्राप्तकालता, विशिष्टस्य कालस्यावसर इत्यर्थः । प्रेषादिष्वर्थेषु कर्त्रादिविशेषणत्वेन गम्यमानेषु व्यसंज्ञकास्तथा भवन्ति लोट् च । भवता खलु दानं दातव्यं दानीयं देयम् । करोतु कटो भवानिह प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः । यद्यपि व्यसंज्ञा सामान्येन भावकर्मणोर्विहितास्तथापि सर्वापवादेषु प्रेषादिषु लोटा बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते ।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥२।३।१४०॥ प्रेषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवः ऊर्ध्वमौहूर्तिकः । निपातात्सविधिस्तरपदस्यैवैष । ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे वर्तमानाद्भोः प्रेषादौ गम्यमाने लिङ् भवति चकाराद्व्याश्व च । उपरि मुहूर्तस्य भवान् खलु दानं दद्यात् । भवता खलु दानं दातव्यं दानीयं देयम् । केचिच्चकारेण यथाप्राप्तं समुच्चिन्वन्ति । तेषां लोटपि भवति । भवान् खलु दानं ददातु । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

स्मे लोट् ॥२।३।१४१॥ प्रेषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति च । स्मशब्दे वाचि प्रेषादिषु गम्यमानेषु ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे लोट् भवति । व्यानां लिङ्श्चापवादः । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवान् दानं ददातु स्म । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

अधीष्टे ॥२।३।१४२॥ ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति निवृत्तम् । अधीष्टे गम्यमाने स्मशब्दे वाचि लोट् भवति । लिङो बाधकः । अङ्ग स्म राबन् दानं देहि व्रतं रक्ष ।

कालसमयवेलासु तुम् वा ॥२।३।१४३॥ काल समय वेला इत्येतेषु वाच्य भोः तुम् भवति वा । कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् । वेला भोक्तुम् वा । वाच्यनाद्यथाप्राप्तं च भवति । कालो भोक्तव्यस्व । प्रेषादिग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न भवति ।

“कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥”

लिङ् यदि ॥२।३।१४४॥ यच्छब्दप्रयोगे कालादिषु वाच्य धोर्लिङ् भवति । तुमोऽपवादः । कालो यत्प्रजां कुर्वीत भवान् । समयो यद्भुञ्जीत भवान् । वेला यच्छयीत भवान् । केचिद्वेत्यनुवर्तयन्ति तेषां यथाप्राप्तमपि ।

तृज् व्याश्वार्ह ॥२।३।१४५॥ अर्हतीत्यर्हः । अर्हं कर्तरि गम्यमाने तृज् व्याश्व भवन्ति लिङ् च । भवान् खलु कन्यायाः वोढा । भवता कन्या वोढव्या वहनीया वाह्या । भवान् खलु कन्या वहेत् । भवान् योग्य इत्यर्थः । अर्हेऽर्थे लिङ् विधीयमानेन तृचो व्यानां च बाधा मा भूत् इति पुनर्विधानम् ।

आवश्यकोधमण्ययोर्णिन् ॥२।३।१४६॥ अवश्यं भाव आवश्यकम् । मनोनादिपाठाद्भुज् । अधमम्
अधमस्य अधमण्यः; तद्भावे अधमण्यम् । आवश्यकोधमण्यविशिष्टे त्वार्थे कर्तरि णिन् भवति । अवश्यंशरी
मयूरण्यकादित्वात्सविधिः । शतंदायी । सहस्रंदायी । निष्कदायी "आधमण्यं चेनः" [१।४।७४] इति
कर्मणि त्रयाः प्रतिषेधः ।

व्याः ॥२।३।१४७॥ आवश्यकोधमण्ययोरिति वर्तते । आवश्यकोधमण्ययोर्व्यासंज्ञा भवन्ति । सर्व-
स्वापवादेन णिना व्यसंज्ञा बाधिता इति पुनर्विधीयन्ते । भवता खलु अवश्यं धर्मः कर्तव्यः । करणीयः । कृत्यः ।
कार्यः । अधमण्यं भवता खलु निष्को दातव्यः । देयः । योगविभाग उत्तरार्थः ।

शक्लिङ् च ॥२।३।१४८॥ शक्तीत्यर्थनिर्देशः । शक्तीत्यर्थविशिष्टे ध्वये लिङ् भवति चकाराद्
व्याश्च । भवता खलु विद्या अध्येतव्या । अध्यनीया । अध्येया । भवान् खलु विद्यामधीयीत । भवान् हि समर्थः ।
लिङ् सर्वापवाद इति (चकारेण) व्यानामनुकर्षणं क्रियते । यदि शक्तीति प्रकृत्यर्थविशेषणम् । शक्त्यादि-
त्यत्र लिङ् न प्राप्नोति प्रकृत्यैवाभिहितत्वात् शक्यर्थत्व । नैप दोषः । सामान्यविशेषभावेन भेदाभ्युपगमात् ।
यथा पशितुमिच्छति पशिषिपति ।

आशिषि लिङ् लोटौ ॥२।३।१४९॥ इष्टस्याशंसनमाशीः । अतएव निपातनादिह इकारः । आशी-
र्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद्धोल्लिङ्लोटौ भवतः । जीव्यात् । जीव्यास्ताम् । जीव्यासुः । जीवतु । आशिषीति किम् ?
जीवति यदि पथ्याशी ।

क्लिचक्लौ स्त्री ॥२।३।१५०॥ आशिषीति वर्तते । आशिष्यर्थे क्लिचक्लौ स्त्री भवतः खुविष्ये । चकारः
"न क्लिचि दीश्च" [४।४।१०] इति विशेषणार्थः । तनुतात् तन्तिः । सनुतात् सतिः । भवताद्भूतिः ।
कृतः क्लिचा विशेषविहितेन बाधेरस्ति पुनर्विधीयन्ते । देवा एनं देवासुरिति देवदत्तः । देवा एनं-
शृण्वन्तु देवभुतः ।

माङ् लिङ् ॥२।३।१५१॥ माङ् वाचि लिङ् भवति । सर्वलकारापवादः । मा कार्त्तरधर्मम् । मा
हार्षोत्पस्वम् । ङकारः प्रतिषेधवाचिनो माङ्शब्दस्य ग्रहणं यथा स्वादित्वेवमर्थः ।

सस्मे लङ् च ॥२।३।१५२॥ सह स्मशब्देन वर्तते सस्मः । तस्मिन् माङ् वाचि लङ् भवति लुङ्
च । मा स्म कुप्यत् । मा स्म हसत् । मा स्म हार्षीत् ।

इत्यमयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

धुयोगे त्याः ॥२।४।१॥ धुशब्देन ध्वयोऽत्र निर्दिष्टः । अभिधेये अभिधानस्योपचारात् । धूनां योगे सति अथवाकालोक्ता अपि त्याः साधवो भवन्ति । विश्वदृष्ट्वाऽस्य पुत्रो जनिता । कृतः कटः श्वो भाविता । भाविकृत्यमासीत् । विश्वदृष्टेति भूतकालः जनितेत्यनेन भवि यत्कालेन (अभिसम्भूयमानः) साधुर्भवति । इहोसर्जनभूतं सुकृतं प्रानभूतस्य मिडन्तस्य कालमनुवर्तते । भोरिति वर्तमाने पुनर्धुर्ग्रहणं अस्तिभूजनिपरिग्रहार्थम् । त्य इति वर्तमाने पुनस्त्यग्रहणं त्यमात्रपरिग्रहार्थम् । गोमान् भवितेति मत्कन्तस्य वर्तमानकालस्य अथवाकालत्वेन साधुत्वम् ।

क्रियासमभिहारे लोट् तस्य हिस्वौ वा तध्वमोः ॥२।४।२॥ क्रियासमभिहारविशिष्टे ध्वये वर्तमानाद्धोलोङ् भवति । सर्वलकारापवादः । तस्य लोटो हि स्व इत्येतावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा भवतः । क्रियासमभिहारे लोटिति योगविभागः कर्तव्यः । ततस्तस्य हिस्वो भवतः । किमेवं सति लब्धम् ? अन्यत्र यौ लोडादेशौ हिस्वौ प्रसिद्धौ ताविह भवतः । तेन मविधिदिविधिव्यतिकरो न भवति । वा तध्वमोरित्यत्र ध्वमा सह निर्देशात्तशब्दस्य थादेशस्य बहोर्ग्रहणम् । लुनीहि लुनीहि इत्येवाहं लुनामि । आवां लुनीवः । वयं लुनीमः । लुनीहि लुनीहि इत्येव त्वं लुनासि । युवां लुनीयः । यूयं लुनीथ । तशब्दस्य तु वा भवति । लुनीत लुनीत इत्येव यूयं लुनीय । लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति । इमौ लुनीतः । इमे लुनन्ति । भूते लुनीहि लुनीहि इत्येवाहमलाविष्म । आवामलाविष्म । वयमलाविष्म । एवं युष्मदन्ययोरपि । वत्स्यति-लुनीहि लुनीहीत्येव-हं लविष्यामि । आवां लविष्यावः । वयं लविष्यामः । एवं युष्मदन्ययोरपि । अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमधीष्ये । आवामधीष्वहे । वयमधीष्वहे । एवं युष्मदन्ययोरपि योज्यम् । ध्वमस्तु पक्षे भवणम् । अधीष्वमधीष्यमित्येवं यूयमधीष्वे । भूते-अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमधीष्ये । आशमधीष्वहि । वयमधीष्वहि । एवं सर्वत्र । वत्स्यति-अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमधीष्ये । आवामधीष्यावहे । वयमधीष्यामहे । एवं युष्मदन्ययोरपि । एवं शेषेष्वपि लकारेषु योज्यम् । द्वित्वमपेक्ष्य लोट् क्रियासमभिहारस्य शीतकः । धुयोग इति वर्तते । प्रत्यासत्तेर्यत् एव लोट् विधीयते तस्यैवानुप्रयोगः कालास्मदाद्यकत्वादोतामभिव्यक्तये क्रियते ।

प्रचये वा ॥२।४।३॥ प्रचयः समुच्चयः । स चैकस्मिन् द्विप्रभृतेऽभ्यावायः । प्रचये उपाधौ वा लोट् भवति तस्य हिस्वावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा । अर्थं सर्वलकाराप्राप्तौ विकल्पः । कर्मप्रचयो ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवाहमटामि । आवामटावः । वयमटामः । ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवं त्वमटसि । युवामटथः । यूयमटथ । तशब्दस्य तु वा-ग्राममटत नगरमटत गिरिमटत इत्येव यूयमटथ । ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवायमटति । इमौ अटतः । इमे अटन्ति । वाचचनात् ग्राममटामि नगरमटामि गिरिमटामि इत्येवाहमटामि । आवामटावः । वयमटावः । एवं युष्मदन्ययोरपि । एवं भूते वत्स्यति सर्वलकारेषु योज्यम् । दभाग्यः । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येवाहमधीष्ये । आवामधीष्वहे । वयमधीष्वहे । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येव त्वमधीष्वे । युवामधीष्याथे । यूयमधीष्वे । ध्वमस्तु वा-जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येव यूयमधीष्वे । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येवायमधीष्ये । इमौ अधीयाते । इमे अधीयते । वाचचनात् जैनेन्द्रमधीष्व गणितमधीष्व तर्कमधीष्व इत्येवाहमधीष्वे । आवामधीष्वहे । वयमधीष्वहे । एवं भूते वत्स्यति सर्वलकारेषु योज्यम् । कर्तृसमुच्चये देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव वयमोदनमन्नः । देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव यूयमोदनमत्थ । देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव इमे ओदनमदन्ति । कर्तृसमुच्चये द्विवचनं बहुवचनं वा भवति एकस्य समुच्चयमावात् । क्रियासमुच्चये । ओदनं भुङ्क्व सङ्गून् पिव घानाः खाद इत्येवाहमभ्यवहरामि । आवामभ्यवहरावः । वयमभ्यवहरामः । बहूनां क्रियाणां समुच्चये सामान्यप्रयोगोऽभिधानवशात् । एवं सङ्करसमुच्चयोऽप्युक्तः ।

निषेधेऽलंखण्योः त्वा ॥२॥४॥४॥ वेति वर्तते । अलं खलु इत्येतयोर्निषेधवाचिनेर्वाचोर्चोः त्वात्यो भवति । अलं कृत्वा । अलं बाले ददित्वा । “किनामैव” [१॥३॥८३] इति नियमात् वाक्छो न भवति । निषेध इति किम् ? अलंकारः । अलंखल्वोरिति किम् ? मा कार्शः । वेत्येव । अलं रोदनेन । “प्रकृत्यादिभ्य ञपसंख्यानम्” [वा०] इति भा ।

माङ्गो व्यतिहारे ॥२॥४॥५॥ माङ्गो व्यतिहारेऽर्थे त्वा भवति वा । परकालत्वादप्राप्तः त्वा विभाष्यते । अप्रमित्य याचते । अवमित्य हरति । “वेर्मैकः” [१॥४॥६६] इतीत्वम् । वेत्यधिकारात् याचित्वा अप्रमयते । हत्वा अप्रमयते । मैकः कृतात्स्य निर्देशो शापकः — “नानुबन्धकृतं हलन्तत्वम्” [परि०] ।

परावरयोगे ॥२॥४॥६॥ परावराम्भो योगे गम्यमाने घोः त्वा भवति । वेति वर्तते । संबन्धिशब्द-त्वात् परेण पूर्वस्य योगे । अप्राप्य नदीं पर्वतः । परया नद्या युक्तः पर्वतः प्रतीयते । अत्रेण योगे परस्य त्वा । अतिक्रम्य पर्वतं नदी । अवरपर्वतयोगविशिष्टा परा नदी प्रतीयते । वाचचनाहङादयो भवन्ति । न प्राप्नोति नदीं पर्वतः । अतिक्रामति पर्वतं नदी ।

परकालैककर्तृकात् ॥२॥४॥७॥ परः कालो यस्याः सेथं परकाला क्रिया, तथा एककर्ता यस्य सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनः स तथोक्तः । तस्माद्वोः त्वा भवति । स्नात्वा भुङ्क्ते । स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति । एककर्तृकादिति किम् ? भुङ्क्वति दधदत्त गच्छति जिनदत्तः । परकालग्रहणं किम् ? सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनो यथा स्यादिह मा भूत् । भुङ्क्ते च पिबति च आस्ते च जल्पति च इहापि कथञ्चित् पूर्वकालत्वविवक्षास्ति । व्यादाय स्वपिति । संमील्य हसांत इति । वेत्यधिकारात् । भुङ्क्ते शेते च ।

शम् आभीक्ष्ये ॥२॥४॥८॥ परकालैककर्तृकादिति वर्तते । मुहुर्मुहुर्वृत्तिरामीक्ष्यम् । एतच्च प्रकृत्यर्थविशेषणम् । परकालैककर्तृकात् शमित्यर्थं ल्यो भवति त्वात्वश्च । आभीक्ष्ये—भोजंभोजं व्रजति । सुक्त्वा सुक्त्वा व्रजति । पायं पायं गच्छति । पीत्वा पीत्वा गच्छति । त्वाण्णमौ द्वित्वमपेक्ष्यामीक्ष्य द्योतयतः । पूर्वेषु त्वात्ये सिद्धे शमर्थं वचनम् । इह वेति निवृत्तम् । उत्तरत्र धामहण्यात् ।

न यदनाकाङ्क्षे ॥२॥४॥९॥ यच्छब्दे वाचि त्वाण्णमौ न भवतोऽनाकाङ्क्षे सति वाक्ये । अनन्तर-व्यवहितभेदाभावात् पूर्वसूत्रविहितो अनन्तरश्च त्वा निषिध्यते शम् च । यदयं भुङ्क्ते ततो गच्छति । यदयं शेते ततोऽधीते । अनाकाङ्क्ष इति किम् ? यदयं भुक्त्वा व्रजति । अभीत एव ततः परम् । अत्र पूर्वोत्तर-क्रियाभ्यां अतिरिक्तमध्यवर्तनं काङ्क्षते ।

वाऽग्रे प्रथमपूर्वे ॥२॥४॥१०॥ आभीक्ष्य इति निवृत्तम् । “परकालैककर्तृकात्” [१॥४॥७] इत्यनेन त्वात्ये प्राप्ते विभाषेयम् । अग्रे प्रथमं पूर्वं इत्येतेषु वाच्यु त्वाण्णमौ वा भवतः । अग्रे भोजं ततो ददाति । अग्रे भुक्त्वा ततो ददाति । प्रथमं भोजं ततो ददाति । प्रथमं भुक्त्वा ततो ददाति । पूर्वं भोजं ततो ददाति । पूर्वं भुक्त्वा ततो ददाति । “किनामैव” [१॥३॥८३] इत्यत्रैवकारोपादानात् केवलेनैवामा विहितेन वाक्छो भवति नान्यसहितेन । वाचचनाहङादयोऽपि भवन्ति । अग्रे भुङ्क्ते ततो ददाति । प्रथमं भुङ्क्ते ततो ददाति । पूर्वं भुङ्क्ते ततो ददाति ।

कर्मण्याक्रोशे कृजः खमुञ् ॥२॥४॥११॥ कर्मणि वाचि आक्रोशे गम्यमाने कृजः खमुञ् भवति । चोरोऽसौत्येवमाक्रोशति चोरङ्कारमाक्रोशति । दस्युङ्कारमाक्रोशति । क्त्वाऽपवादोऽयम् । आक्रोश इति किम् ? चोरं कृत्वाङ् गच्छति । नात्राऽक्रोशसंपादनार्थं चोराहणम् ।

स्वादुमि णम् ॥२॥४॥१२॥ स्वादुमीत्यर्थनिर्देशः । स्वाद्वर्थेषु वाच्यु कुञ्चो णम् भवति । परकालैककर्तृ-का दिति वर्तते । स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते । लवणङ्कारं भुङ्क्ते । स्वादुमीति ण्मुसन्नियोगे

मकारान्ता निपात्यते । खमुञि प्रकृते । “खित्यके” [४।३।१७६] “धुमचः” [४।३।१७७] इति मुमा सिद्धमिति चेत् च्यन्तविवक्षायां अक्षेरिति प्रतिषेधः प्रसज्येत । खमुञ्येव मान्तनिपातनं कर्तव्यमिति चेन्न च्यन्तार्थमेव तत्संभाव्येत । यमि पुनर्निपातनं क्षीनिवृत्त्यर्थं “ज्वौ” [५।२।१३५] दीर्घनिवृत्त्यर्थं च । स्वादीकृत्वा यवागू भुङ्क्ते । स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । च्विविवक्षायां मस्यादुं स्वादुं कृत्वा भुङ्क्ते स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । “ज्वौ” [५।२।१३५] इति दीर्घं प्रसज्येत । उत्तरार्थं च इह यममृदयम् । विभाषाधिकारात् क्त्वापि भवति । क्त्वादय आनुमो विधीयमाना मावे भवन्ति । ननु स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते देवदत्त इति यामा कर्तुमनुकृत्वात् कर्तरि ता प्राप्ता “स क्ति” [१।४।७२] इत्यादिना ता कर्तरि न भवति ।

अन्यथैव कथमित्यस्वनर्थात् ॥२।४।१३॥ अन्यथा एवं कथमित्यमित्येतैषु वाच्ये धुभ्यो यम् भवति अनर्थात् । येन विनापि यदर्थः प्रतीयते स तत्रानर्थस्तस्मिन्प्रयुज्यमाने ल्यो भवति । तथाहि यावानेवार्थोऽन्यथा भुङ्क्ते इति तावानेव कृष्णप्रयोगेऽपि अन्यथाकारं भुङ्क्ते । एवंकारं भुङ्क्ते । कथंकारं भुङ्क्ते । इत्यङ्कारं भुङ्क्ते । अनर्थादिति किम् ? अन्यथा कृत्वा शिरो भुङ्क्ते ।

यथासथयोरसूयाप्रत्युक्तौ ॥२।४।१४॥ कृजोऽनर्थादिति वर्तते । यथा तथा इत्येतयोर्वाचोः कृजोऽनर्थात् यम् भवति अस्वाकृतायां प्रत्युक्तौ गम्यमानायाम् । कथं कृत्वा भवान् भुङ्क्ते इत्येवं पृष्ठोऽस्य कस्तं प्रत्याह यथाकारमहं मोक्ष्ये तथाकारमहं मोक्ष्ये किं तवानेन । अनर्थादिति किम् ? यथा कृत्वाहं बलिं मोक्ष्ये किं तवानेन । अस्यापत्युक्ताविति किम् ? यथाकृत्वाहं मोक्ष्ये तथा ब्रह्मसि त्वम् । तथाकृत्वाहं मोक्ष्ये यदा ब्रह्मन् भवता ।

कर्मण्यशेषे दृशि वेदः ॥२।४।१५॥ अशेषः कः ? साकल्यम् । इदं कर्मणो विशेषणम् । अशेषविशिष्टे कर्मणि वाचि दृशिविदोर्ध्वोर्णम् भवति । साधुदर्शं प्रणमति । सर्वं साधुं प्रणमतीत्यर्थः । अतिथिवेदं भोजयति । यं यं विन्दति विन्दते वा तं सर्वं भोजयतीत्यर्थः । अशेष इति किम् ? अतिथिं दृष्ट्वा भोजयति ।

यावति विन्दजीवः ॥२।४।१६॥ यावच्छब्दे वाचि विन्दतिजीवत्योर्णम् भवति । यत्र पूर्वकालत्वं सम्भवति तत्र क्त्वाऽपवाधः । यत्र न सम्भवति तत्रापूर्वं एव विधिः । धुयोग इति वर्तते । यावद्वेदं भुङ्क्ते । यावत्तमे तावद्भुङ्क्ते इत्यर्थः । यावजीवमधीते । यावजीवति तावदधीते इत्यर्थः ।

चर्मोदरयोः पूरेः ॥२।४।१७॥ कर्मणीति वर्तते । चर्म उदर इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः पूरयतेर्णम् भवति । चर्मपूरं शेते । उदरपूरं भुङ्क्ते ।

वर्षप्रमाणे ॥२।४।१८॥ कर्मणीति वर्तते । कर्मणि वाचि पूरयतेर्णम् भवति समुदायेन वर्षप्रमाणे गम्यमाने । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः । सीतापूरं वृष्टो देवः । कथं गोष्पदप्रं वृष्टो देवः ? प्रातेरातः के कृते क्रियाविशेषणत्वेन नपुंसकलिङ्गम् । एतस्य कान्तत्वेन विभक्त्यन्तच्छयादिषु च प्रयोगः साधुः । गोष्पदप्रेण गोष्पदप्री भवति । गोष्पदप्रतरम् गोष्पदपूरं वृष्टो देव इत्येवमादाबुभयया प्रयोग इष्यते । यमन्तस्य घञन्तस्य च क्रियाविशेषणभावेन इति विभक्त्यन्तरे च विशेषः । यमन्तस्य हि देश्यादिषु गोष्पदपूरं भवति गोष्पदपूरदेश्यम् गोष्पदपूरदेशीयं गोष्पदपूरकल्पं गोष्पदपूरंतराम् । घञन्तस्य गोष्पदपूरीभवति गोष्पदपूरदेश्यं गोष्पदपूरदेशीयम् गोष्पदपूरकल्पम् । गोष्पदपूरंतराम् ।

चेलेषु क्लोपेः ॥२।४।१९॥ कर्मणीति वर्तते । चेलार्येषु कर्मसु वाच्ये क्लोपयतेर्णम् भवति वर्षप्रमाणे गम्ये । चेलक्लोपं वृष्टो देवः । एवं वस्त्रक्लोपं वसनक्लोपम् ।

शुष्कचूर्णभक्षेण पिबः ॥२१४१२०॥ कर्मणीति वर्तते । शुष्क चूर्णं भक्ष इत्येतेषु कर्मसु वाच्यु पिबेर्धोर्णम् भवति । शुष्कपेयं पिनष्टि तगरम् । शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः । एवं चूर्णपेयं पिनष्टि । भक्षपेयं पिनष्टि । वधि सति क्रियाविशेषण्ये शुष्कस्य पेयं पिनाष्टि इत्येवमादयः प्रयोगाः साधवः । इतः प्रभृति “उपदंष्टो भायाम्” [२१४१३६] इत्यतः प्राक्यत एव धोर्णम् भवति तस्यैवानुप्रयोगोऽपि भवत्यभिधानवशात् ।

जीवाकृते अहिकव्यः ॥२१४१२१॥ कर्मणीति वर्तते । जीव अकृत इत्येतयोः कर्मवाचिनो-
र्वाचोर्ध्यासंध्यं ग्रहि कृम इत्येताभ्यां णम् भवति । जीवग्राहं गृहीतः । अकृतकारं करोति ।

निमूले कषः ॥२१४१२२॥ कर्मणीति वर्तते । निमूले कर्मणि वाचि कषेर्णम् भवति । निमूलकषं कषति । वधि सति क्रियाविशेषण्ये निमूलस्य कषं कषति इत्यपि भवति ।

समूले हसश्च ॥२१४१२३॥ कर्मणीति वर्तते । समूले कर्मणि वाचि हन्तेः कषेश्च णम् भवति । समूलघातं हन्ति । समूलकापं कषति ।

करणे ॥२१४१२४॥ हन इति वर्तते । करणे वाचि हन्तेर्णम् भवति । पाणिघातं कुडधं हन्ति । पाणिना हन्तीत्यर्थः । पादघातं शिलां हन्ति । यदा हिंसार्थं “हन्तेर्विचक्षितः तदा “हिंसार्थादेककर्मकात्” [२१४१३४] इतीममपि विधिं पूर्वविप्रतिषेधेन बाधित्वाऽयमेव णम् । अस्तिघातं हन्ति चौरान् । कोऽत्र विशेषः । अनेन नित्यः सविधिः तस्यैव धोरुप्रयोगश्च भवति ।

हस्ते चतिग्रहः ॥२१४१२५॥ करण इति वर्तते । हस्त इति अर्थनिर्देशः । हस्तवाचिनि करणे वाचि वर्तयतिगृह्णातिभ्यां णम् भवति । हस्तवर्तं वर्तयति । हस्तेन वर्तयतीत्यर्थः । एवं पाणिवर्तम् । करवर्तम् । हस्तग्राहं गृह्णाति । हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः । एवं पाणिग्राहं करग्राहम् ।

स्थेषु पुषः ॥२१४१२६॥ करण इति वर्तते । स्व इति स्वरूपस्य तद्विशेषाणां च ग्रहणम् । बहुत्व-
निर्देशात् । स्ववाचिकरणवाचिनि पुषेर्धोर्णम् भवति । आत्मात्मीयशक्तिधनानि स्वग्रन्थेनेष्यन्ते । स्वपोषं पुषः । विद्यापाषं गोपोषं मातृपोषं पितृपोषं रैपोषं पुष्पाति । सर्वत्र वञ्चनेन णमन्तस्यार्थकथनं द्रष्टव्यम् । स्तेन पोषं पुष्ट इति स एव पुषिः कालसाधनभेदादन्वत्वं गतः पुषिणा युज्यते । यथा एषिभूमिच्छति एषिषिषति । एषिरिषिणा युज्यते ।

स्नेहने पिबः ॥२१४१२७॥ करण इति वर्तते । स्निह्यतेऽनेनेति स्नेहनम् । स्नेहनवाचिनि करणे वाचि पिबेर्धोर्णम् भवति । घृतपेयं पिनष्टि । घृतेन पिनष्टीत्यर्थः । एवं तैलपेयम् । उदपेयम् । “पेयमि” [४१३११०] इत्युदकस्योदादेशः ।

बन्धोऽधिकरण्ये ॥२१४१२८॥ अधिकरण्ये वाचि वञ्चातेर्णम् भवति । चक्रबन्धं बद्धः । चक्रे बद्ध इत्यर्थः । एवं चारकबन्धम् । दृष्टिबन्धम् । गुप्तिबन्धम् । मध्यमानाधारे वाचि णम् भवति न बन्धाधारे । हस्ते वञ्चातीति वेत्यधिकाराद्वा न भवति ।

खौ ॥२१४१२९॥ खुविष्ये च वञ्चातेर्णम् भवति । चण्डालिकाबन्धं बद्धः । अट्टालिकाबन्धं बद्धः । महिषिकाबन्धं मयूरिकाबन्धं कौञ्चबन्धं बद्धाः । खमन्ताः बन्धविशेषाणां संज्ञा एताः । अर्थप्रदर्शनं तु यथाकथाविकल्पाण्येन वाचा अन्यथा वा दर्शनीयम् । अन्वं तु व्याचक्षते खुभूतो यो बन्धः तस्मिन् करणवाचिनि वाचि वञ्चातेर्णम् भवति ।

कप्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिग्रहाः ॥२१४१३०॥ जीव पुरुष इत्येतयोः कर्तृवाचिनोर्वाचोर्ध्याकर्मं नशि-

वह्निभ्यां यम् भवति । जीवनाशं नश्यति । जीवो नश्यतीत्यर्थः । पुरुषवाहं वहति । पुरुषो भूत्वा वहतीत्यर्थः । कर्त्रोरिति किम् ? जीवेन नष्टः । पुरुषं वहन्ति । अत्र करणं कर्म च वाक् ।

ऊर्ध्वं शुचिपुरोः ॥२॥४॥३१॥ कर्त्रोरिति वर्तते । ऊर्ध्वशब्दे कर्तृवाचिनि वाचि शुचि पूरि इत्येताभ्यां यम् भवति । ऊर्ध्वशेषं शुष्कः । ऊर्ध्वः इत्यर्थः । ऊर्ध्वपूर्वं पूर्यते । ऊर्ध्वं पूर्यत इत्यर्थः ।

कर्मणि धेवे ॥२॥४॥३२॥ शब्दे कार्यस्यासम्भवादिवार्थं उपमानं गृह्यते । इवशब्दार्थे वर्तमाने कर्मणि कर्तरि भूवादियोग्यम् भवति कर्मणि । घृतनिधायं निहितः । घृतमिव निहित इत्यर्थः । एवं जीवितरत्नं रक्षितः । कर्तरि—अकूरनाशं नष्टः । अकूर इव नष्ट इत्यर्थः । एवमजकनाशं नष्टः । चूडकनाशं नष्टः । पिषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगो न वक्तव्यः । धुयोग इति वर्तते तत्र प्रत्यासत्तेरभिधानवशाद्वा यत् एव धोर्यम् तस्यैवानुप्रयोगः ।

उपदर्शो भायाम् ॥२॥४॥३३॥ उपपूर्वाद्दर्शोर्भान्ते वाचि यम् भवति । धुयोग इति च वर्तते । एककर्तृकादिति च पूर्वकालत्वं संभवतः संबन्धनीयम् । मूलकोपदर्शं मुहूर्त्ते । मूलकेनोपदर्शं मुहूर्त्ते । “वा मादि” [१।३।८४] इति विभाषया वाक्सः । इत ऊर्ध्वं यानि वाक्संशकानि वक्ष्यन्ते तानि भादिग्रहणं गृह्यन्ते । सर्वत्रास्मिन् प्रकरणे वेत्यनुवर्तते । तेन तत्रापि भवति । मूलकेनोपदर्शं मुहूर्त्ते । कर्मणः साधकतमत्त्वविषयायां भा भवति । अथवा उपदर्शिशुण्यस्य मुञ्जेरेतत्करणम् ।

हिसार्थादेककर्मकात् ॥२॥४॥३४॥ भायामिति वर्तते । हिसार्थेभ्यो धुभ्योऽनुप्रयोगेणैककर्मकेभ्यो भान्ते वाचि यम् भवति । दण्डाघातं गाः सादयति । दण्डेनाघातम् । “कर्मणे” [२।४।१४] इत्यनेन हन्तेर्यः पूर्वनिर्णयेन यम् विहितस्तस्यैवानुप्रयोगो द्रष्टव्यः । हन्तेरन्यदपीहोदाहरणम् । दण्डाघातं गाः कालयति । दण्डेनाघातम् । सङ्गप्रहारं शत्रून् विजयते । सङ्गेन प्रहारम् । एककर्मकादिति किम् ? दण्डेनाहत्य भूमिं गोपालक्रे गाः सादयति ।

ईपि चोपपोडरुधकर्षः ॥२॥४॥३५॥ उपपूर्वेभ्यः पीडरुधकर्षेभ्य ईपि वाचि चकाराद्भान्ते वाचि यम् भवति । उपशब्दः प्रत्येकमसिम्बध्यते । वज्रोपरोधम् । वजे उपरोधम् । वजेनोपरोधम् । पार्श्वोपपीडं रोते । पार्श्वोभ्यामुपपीडम् । पार्श्वयोरुपपीडम् । पाशुपकर्षं धानाः पिनष्टि । पाशादुपकर्षम् । पाशिनोपकर्षम् ।

प्रमाणासत्त्योः ॥२॥४॥३६॥ ईपि भायां चेति वर्तते । प्रमाणाभावात्प्रमानम् । आसत्तिः सन्निकर्षः । ईबन्ते भान्ते वाचि धोर्यम् भवति प्रमाणासत्त्योर्गम्यमानयोः । द्रव्यकुलोत्कर्षं गण्डकाश्चिन्नन्ति । व्यङ्गलोत्कर्षम् । व्यङ्गलेनोत्कर्षम् । व्यङ्गले उत्कर्षम् । आसत्तौ । केशग्राहं युध्यन्ते । केशेषु ग्राहं केशीर्ग्राहम् । सन्निकृष्टं युध्यन्ते इत्यर्थः । एवमस्यपनोदं युध्यन्ते । असिष्वपनोदम् । असिभिरपनोदम् । हस्तग्राहम् । हस्तेषु ग्राहम् । हस्तीर्ग्राहम् ।

त्वर्यपादाने ॥२॥४॥३७॥ त्वर्यां त्वरा त्वरीति सौत्रमात्रम् । त्वरायां गम्यमानायां पादाने वाचि धोर्यम् भवति । शय्योत्थायं धावति । शय्याया उत्थाय । मुखप्रक्षालनाद्यवश्यकार्यमकृत्वा त्वरत इत्यर्थः । एवं स्तनरन्ध्रापकर्षं पथः पिबति । स्तनरन्ध्रादपकर्षम् । आष्टापकर्षमपूपान् भक्षयति । आष्टापकर्षम् । वेत्यनुवर्तनात् शय्याया उत्थाय धावति । त्वरीति किम् ? आसनादुत्थाय गच्छति ।

इपि ॥२॥४॥३८॥ त्वरीति वर्तते । इबन्ते वाचि त्वरायां गम्यमानायां धोर्यम् भवति । यष्टिग्राहं युध्यन्ते । यष्टिं ग्राहम् । त्वरया युद्धप्रहरणमनपेक्ष्य यष्टिमादाय युध्यते इत्यर्थः । एवं पटापकर्षं धावन्ति पटमपकर्षम् । त्वरीत्येव । खड्गं गृहीत्वा युध्यन्ते ।

भवतः । तिर्यक्कृत्य गतः । तिर्यक्कृत्वा । तिर्यक्कारम् । समाप्य गत इत्यर्थः । अपवर्ग इति किम् ? तिर्यक् कृत्वा काष्ठं गतः । तिरश्चीति तिर्यक्छन्दानुकरणनिर्देशः । “प्रकृतिवदनुकरणं भवति” [परि०] इति रूपसिद्धिः ।

स्वाङ्गे तस्ये कृभुवः ॥२॥४॥४६॥ तस्यो यस्मात्तत्तथोक्तम् । तस्ये स्वाङ्गे वाचि कृ भू इत्येताभ्यां क्त्वाणमौ भवतः । भिन्नयोगनिर्दिष्टत्वाद्यथासंख्यमत्र न भवति । मुखतःकृत्य गतः । मुखतः कृत्वा । मुखतः-कारम् । पृष्ठतःकृत्य । पृष्ठतः कृत्वा । पृष्ठतःकारम् । मुखतोभूय । मुखतोभूत्वा । मुखतोभावम् । पृष्ठतोभूय । पृष्ठतोभूत्वा । पृष्ठतोभावम् । “अपादानेऽङ्गीयस्त्वोः” [४॥१॥५०] इति “आदिभ्य उपसंख्यारम्” [वा०] इति वा तसिः । स्वाङ्ग इति किम् ? सर्वतःकृत्वा । तस्यग्रहणं किम् ? मुखीकृत्य गतः । त्यग्रहणं किम् ? मुखे तस्यति मुखतः । अमुखतसं मुखतसं कृत्वा मुखतःकृत्य ।

नार्थार्थे क्यर्थे ॥२॥४॥४७॥ नार्थो धार्थ्यं त्यो यस्मात् तथोक्तः । नार्थत्वे धार्थ्यत्वे च शब्दे व्यर्थे वाचि कृ भू इत्येताभ्यां क्त्वाणमौ भवतः । नार्थत्वे-विनाकृत्य गतः । विनाकृत्वा । विनाकारम् । विनाभूय । विना भूत्वा । विनाभावम् । अनाना नाना कृत्य गतः । नानाकृत्वा । नानाकारम् । नानाभूय । नानाभूत्वा । नानाभावम् । “विनञ्भ्यां नानाञौ न सङ्” [३॥४॥१४७] इति नानाञौ भवतः । धार्थ्ये ले-अदिधा द्विधा कृत्य गतः । द्विधाकृत्वा । द्विधाकारम् । द्विधाभूय । द्विधाभूत्वा । द्विधाभावम् । अद्वैधं द्वैधं कृत्य गतः । द्वैधं कृत्वा । द्वैधंकारम् । द्वैधं भूय । द्वैधं भूत्वा । द्वैधं भावम् । अद्वेधा द्वेधा कृत्य गतः । द्वेधाकृत्वा । द्वेधाकारम् । द्वेधाभूय । द्वेधाभूत्वा । द्वेधाभावम् । “संख्याया विधार्थे धा” [४॥१॥१०१] “द्वित्रेचमुण्” [४॥१॥१०२] एकधा । ऐक्यम् । “वैकादयमुण्” [४॥१॥१०३] । अर्थग्रहणं स्वरूपमात्रनिरासार्थम् । त्यग्रहणं किम् ? नार्थार्थे धार्थ्यत्वेत्युच्यमाने इहापि स्यात् । अहिदक् द्विदक्कृत्वा पृथक्कृत्वा च्चिर्विकल्पेन विधास्यते । व्यर्थमात्रमत्र विवक्षितं न च्चिः । अर्थ इति किम् ? नाना कृत्वा काष्ठानि गतः ।

तूष्णीमि भुवः ॥२॥४॥४८॥ तूष्णीमशब्दे वाचि भू इत्येतस्मात् क्त्वाणमौ भवतः । तूष्णीभूयास्ते । तूष्णी भूत्वा । तूष्णीभावम् ।

अन्वचयानुलोम्ये ॥२॥४॥४९॥ आनुलोम्यमनुकूलता । अन्वच्छब्दे वाचि आनुलोम्ये गम्यमाने भुवः क्त्वाणमौ भवतः । अन्वग्भूत्वा । अन्वग्भावम् । आनुलोम्य इति किम् ? अन्वग्भूत्वा आस्ते । पश्चाद्भूत्वेत्यर्थः । अन्वचीति निर्देशः प्रकृतिवदनुकरणमिति न्यायात् ।

शकधुषणाग्लाघटरभलभक्रमसहाह्रीत्यर्थे तुम् ॥२॥४॥५०॥ शकादिषु अस्त्यर्थेषु च धुषु वाङ्मु धोस्तुम् भवति । शक्नोति भोक्तुम् । धृष्णोति भोक्तुम् । जानाति भोक्तुम् । ग्लायति भोक्तुम् । घटते भोक्तुम् । आरभते भोक्तुम् । लभते भोक्तुम् । प्रक्रमते भोक्तुम् । सहते भोक्तुम् । अहति भोक्तुम् । अस्त्यर्थेषु-अस्ति भोक्तुम् । भवति भोक्तुम् । विद्यते भोक्तुम् । क्रियायां तदर्थ्यां वाचि तुम् विहितः । अतदर्थ्यामपि यथा स्यादित्यारम्भः ।

पर्याप्तिवचनेऽलमर्थे ॥२॥४॥५१॥ पर्याप्तिः प्रभूतत्वं सामर्थ्यं च अलमर्थेन विशेष्यमाश्रित्वात्ता-मर्थमेवावलिष्ठते । पर्याप्तिवचनेध्वलमर्थविशिष्टेषु वाङ्मु धोस्तुम् भवति । पर्याप्तो भोक्तुम् । समर्थो भोक्तुम् । प्रभुभोक्तुम् । अलं भोक्तुम् । पारयति भोक्तुम् । इदमप्यस्योदाहरणम् । युक्तं पुनरिदं विचारयितुम् । “वा भादि” [३॥३॥८७] इति पतो न भवति । अमैवेति तत्र वर्तते । पर्याप्तिवचन इति किम् ? अलङ्घ्यते कन्याम् । अलं रुदित्वा । समर्थेष्वाति वक्तव्ये गुह्यकरणं किम् ? सामर्थ्यमात्रे मा भूत् । शक्त्या भुङ्क्ते । बलैः भुङ्क्ते । अलमर्थे इति किम् ? पर्याप्तं भुङ्क्ते । प्रभूतं भुङ्क्ते । अन्यूनं भुङ्क्ते । पूर्वसूत्रे शक्तिः सौकर्यं वर्तते नाशमर्थे ।

कर्तरि कृत् ॥२॥४॥२२॥ कर्तरि कारके कृत्वंशास्त्या भवन्ति । अनिर्दिष्टार्थास्त्याः स्वार्थे भावे प्राप्ताः । कारकः । कर्ता । ये कृतः कर्तरि नेष्टाः तेषां गुरुणिङ्करणयोर्लुङ्निवेनमाश्रित्यत्वं कृतः ।

भव्यगोयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याल्लाव्यापात्या वा ॥२॥४॥२३॥ भव्य इत्येवमादयः शब्दाः कर्तरि वा निपात्यन्ते । “तयोर्भ्यक्तस्तार्थः” [२॥४॥२४] इत्यस्मिन् प्राप्ते पक्षे कर्तरि विधानम् । भवत्यसौ भव्यः । भव्यमनेनेति वा । गोयो माणवकः षडङ्गस्य । गोयो माणवकेन षडङ्गः । प्रवचनीयो गुरुः शास्त्रस्य । प्रवचनीयं शास्त्रं गुरुणा । उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः । उपस्थानीयो गुरुः शिष्येण । जायते असौ कन्यः । जन्त्यमनेन । “जनिष्योः” [२॥४॥२५] इत्यैप्प्रतिषेधः । अथवा “शक्तिहरश्च” [२॥४॥२६] इति चकारेण जनेर्यः । आज्जयतेऽसौ आज्जाव्यः । आज्जाव्यमनेन । आपततीत्यापात्यः । आपात्यमनेन ।

लः कर्मणि च भावे च धेः ॥२॥४॥२४॥ ल इति लडादीनां नवानामुत्पष्टानुबन्धानां सामान्येन ग्रहणं जसा च निर्देशः । लकारः सकर्मकेभ्यो ध्रुव्यः कर्मणि कर्तरि च कारके भवन्ति, भावे कर्तरि च धिसंज्ञेभ्यः । कर्मणि—क्रियते कटः । गम्यते ग्रामः । कर्तरि—करोति कटम् । गच्छति ग्रामम् । धेर्भावे—आस्यते भवता । सुप्यते । कर्तरि—आस्ते भवान् । स्वपिति भवान् । लो लौ चेति वक्तव्ये प्रपञ्चेन निर्देशः किमर्थः । सकर्मकेभ्यो लो भावे मा भूवन् ।

तयोर्भ्यक्तस्तार्थः ॥२॥४॥२५॥ तयोर्भावकर्मणोः व्यतंशश्च कृश्च लौर्थाश्च भवन्ति । “कर्तरि कृत्” [२॥४॥२२] इत्यस्याथमपवादः । कर्मणि—कर्तव्यः कटो भवता । भोक्तव्य ओदनो भवता । भावे—आसितव्यं भवता । शयितव्यं भवता । कृः कर्मणि । कृतः कटो भवता । भुक्त ओदनो भवता । भावे—आसितं भवता । शयितं भवता । लौर्थाः कर्मणि—ईषत्करः कटो भवता । सुकरः कटो भवता । सुपानं पयो भवता । दुष्पानं पयो भवता । भावे—स्वाप्तं भवता । दुराप्तं भवता । सुलानं भवता । दुर्लानं भवता । आत्मकर्मविवक्षायां व्यक्तस्तार्थप्रयोगविषये सकर्मका अप्यविवक्षितकर्मकत्वेनाकर्मकाः । तेन भावे व्यादयः । भोक्तव्यं कुशलेन स्वयमेव । भावकर्मग्रहणे तु वर्तमाने तयोरिति ग्रहणं यथाविधिप्रतिपादनार्थं सकर्मकेभ्यः कर्मण्यकर्मकेभ्यो भाव इति ।

कर्तरि चारम्भे कृः ॥२॥४॥२६॥ आरम्भः आद्यः क्रियादृश्यः । आरम्भे यो धुर्वर्तते तस्मात्तः कृः स कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः । प्रकृतो भवान् कटम् । प्रकृतः कटो भवता । प्रकृतं भवता । प्रभुक्तो भवानोदनम् । प्रभुक्तः ओदनो भवता । प्रभुक्तं भवता । धिभ्यस्तु “धिनात्यर्थाच्च” [२॥४॥२७] इति वक्ष्यति । आद्यक्रियादृश्यकाले । कटो नाभिनिर्धृतः तस्योपचारात् भूतकालेन प्रकृतशब्देन सामानाधिकरण्यम् ।

शिलषशीकृस्थासवसजनरुहजृषश्च ॥२॥४॥२७॥ शिलषादिभ्यः कर्तरि क्तो भवति यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः । “धिनात्यर्थाच्च” [२॥४॥२७] इति सिद्धे इह सकर्मकार्थमुपादानम् । इदमेव शपकम् । अकर्मका (सकर्मका) अपि भवन्ति । आशिलषः कन्या देवदत्तः । आशिलषा कन्या देवदत्तेन । आशिलषं देवदत्तस्य । अतिशयितो गुरुं भवान् । अतिशयितो भवता गुरुः । अतिशयितं भवतः । उपस्थितो गुरुं भवान् । उपस्थितो भवता गुरुः । उपस्थितं भवतः । उपासितो गुरुं भवान् । उपासितो भवता गुरुः । उपासितं भवतः । अनुषितो गुरुं भवान् । अनुषितो भवता गुरुः । अनुषितं भवतः । अनुजातो माणवको माणविकाम् । अनुजाता माणविका माणवकेण । अनुजातं माणवकस्य । आरूढो बृद्धं देवदत्तः । आरूढ वृद्धो

१. षडङ्गस्य ष०, स० । २. षडङ्गः ष०, स० । ३. चाधेः सु० । ४. लार्थो च अ०, ष०, ल० ।

५. लार्थो अ०, ष०, स० ।

देवदत्तेन । आरुढं देवदत्तस्य । अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः । अनुबीर्णो वृषलीं देवदत्तेन । अनुबीर्णो देवदत्तस्य । वहेरगत्यर्थत्वादन्वदपि गत्यर्थकार्यं न भवति । आरोहयति वृद्धं देवदत्तेन । कर्मसंज्ञा न भवति ।

चिगत्यर्थोच्य ॥२॥४॥२८॥ धित्तज्ञेभ्यः गत्यर्थेभ्यश्च धुभ्यः कृत्यः कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च । आसितो भवान् । आसितं भवता । शयितो भवान् । शयितं भवता । गत्यर्थेभ्यः-गतो भवान् ग्रामम् । गतो भवता ग्रामः । गतं भवता । यातो भवान् । यातो भवता ग्रामः । यातं भवता । “काष्ठभावाष्वाभिः कर्मभिः सकर्मकवद्भवति” [वा०] वत्करणत्वात् स्वाश्रयमपि भवति । अतस्त्रैरूप्यम् । सुप्तो भवान् ग्रामम् । सुप्तो भवता ग्रामः । सुप्तं भवता । ओदनपाकं सुप्तो भवान् । ओदनपाकः सुप्तो भवता । ओदनपाकं सुप्तं भवता । क्रोशं सुप्तो भवान् । क्रोशः सुप्तो भवता । क्रोशं सुप्तं भवता ।

अधिकरणे चाद्यर्थोच्य ॥२॥४॥२९॥ कृ इति वर्तते । अद्यर्थो अभ्यवहारार्थः । अद्यर्थेभ्यो चिगत्यर्थेभ्यश्च कृत्योऽधिकरणो भवति कर्तरि भावे कर्मणि च । यथाप्राप्तं कर्तृकर्मभावेषु । अद्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्मभावेषु कृतः । अधिकरणे अस्मिन्निति सुञ्जते स इदमेवां भुक्तम् । इदमेवां पीतम् । “कस्याधिकरणे” [१॥४॥३०] इति कर्तरि सा । कर्मणि-एभिर्भुक्तं ओदनः । एभिः पीतं मधु । भावे-भुक्तमेभिः । पीतमेभिः । चिभ्योऽधिकरणकर्तृभावेषु कृतः । अधिकरणे-इदमेवामासितम् । आसितो भवान् । आसितं भवता । गत्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्तृकर्मभावेषु कृतः । अधिकरणे-इदमेवां यातम् । यातो देवदत्तेन ग्रामम् । यातो देवदत्तेन ग्रामः । यातं देवदत्तेन । इह विभुक्ताः आतरः पीता गावः इति मत्वर्थोऽङ्कारः ।

दासगोष्ठी संप्रदाने ॥२॥४॥३०॥ दास गोष्ठ इत्येतौ शब्दौ निपात्येते संप्रदाने कारके । दासैः ऽस्मै पचाद्यचि दासः । गां हन्ति अस्मै आगताय गोष्ठोऽतिथिः । दात्र निपात्यः । त्रियां गोष्ठी देवदत्ता ।

भीमादयोऽपादाने ॥२॥४॥३१॥ भीमादयः शब्दा अपादाने कारके शतव्याः । भीमादयः शब्दा अन्यत्र साधिताः कारकनियमार्यमिह तेषां पाठः । विभेत्यस्मादिति मीमः । मीष्मः । भवानकः । चरुः । प्रस्कन्दनम् । प्रयतनम् । समुद्रवन्त्यस्मात् समुद्रः । लुवः । लुक् । भृष्टिः । रक्षा । संकसन्ति तस्मात् संकसुकः । खलिनः ।

कृणादयोऽन्यत्राभ्याम् ॥२॥४॥३२॥ कृणादयस्त्या आभ्यां संप्रदानापादानाभ्यामन्येषु कारकेषु भवन्ति । करोतीति कारुः । कृश्चति तं वृद्धः । कषितोऽसौ कविः । ततोऽसौ तन्तुः । कृतं तत्र कर्म । चरितं तत्रेति चर्म । मसितं तत्रेति भस्म । कृचन्ति तथा कृक् ।

लस्य ॥२॥४॥३३॥ अकार उच्चारणार्थः । लस्येत्ययमधिकारः । यदित् ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामी लस्य स्थाने तद्वेदितव्यम् । नव लकाराः पञ्च द्वितश्चत्वारो द्वितः-लट् लिट् लुट् लृट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ् । एषामनुबन्धापायेन लकारमात्रं स्थानित्येनाधिक्रियते । त्य इति वर्तते धोरिति च । धोर्विहितस्य त्यस्य लकारस्य ग्रहणात् लभते चूडाल इत्येवमादि परिहृतम् ।

मिध्वश्मस्त्रिष्यस्थितितस्मोर्ध्वहिमहिथासाथां ध्वतातां भक्त ॥२॥४॥३४॥ लस्य स्थाने मिनादयः आदेशा भवन्ति । पकारः “मोऽपि” [१॥१॥३८] इति विशेषणार्थः । इट्ठकारो “रक्षजकेटः” [१॥४॥३९] इति विशेषणार्थः । कडो डकारः प्रत्याहारार्थः । पचामि । पचावः । पचामः । पचसि । पचथः । पचथ । पचति । पचतः । पचन्ति । टितां द्विषये आदेशान्तराणि वक्ष्यन्ते । लिटो मानां शलादयः आदेशाः वक्ष्यन्ते । लुट् । पक्षास्मि । पक्षास्वः । पक्षास्सः । इत्येकमादि शेषम् । लृट् । पक्ष्यामि । पक्ष्यावः । पक्ष्यामः । लोट् आदेशाः वक्ष्यन्ते । द्वितां लकाराणां मविषये च इह तानुदाहरिष्यामः ।

लङ् । अपचे । अपचावहि । अपचामहि । वक्ष्यते लिङ् । लुङ् । अपन्ति । अपक्ष्वहि । अपक्ष्महि । लृङ् । अपक्ष्ये । अपक्ष्यावहि । अपक्ष्यामहि ।

टिहटेरे ॥२।४।६५॥ टिता लकाराणां ये दास्तेषां टेरेत्वं भवति । यत्र एक एवाच् तत्र अपदे-
शिवद्भावादन्तत्वमुक्तम् । यत्र च तदादिरन्यो नास्ति तथापि व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । पचे । पचावहे ।
पचामहे । “थासः से” [१।४।६६] इति वक्ष्यति । पचसे । पच्येये । पचस्वे । पचते । पचेते । पचन्ते ।
लिट् । पेचे । पेचिवहे । पेचिमहे । लुट् । पक्काहे । पक्कास्वहे । पक्कास्महे । लृट् । पक्ष्ये । पक्ष्यावहे । पक्ष्या-
महे । लोटो वक्ष्यति । प्रकृतानां मिहं दस्य टेरेत्त्वम् । तेनेह न भवति । पचमान इति ।

थासः से ॥२।४।६६॥ टिद्ग्रहणमनुवर्तते । टितो लकारस्य थासः स इत्ययमादेशो भवति । पचसे ।
पेचिये । पक्कासे । पक्ष्यसे ।

“पक्षिरेसेविधानेषु किं स्यादेत्वे प्रयोजनम् । अदेशे तु कृते भा भूद् इति पक्षे पक्षित्वेऽपि ।”

लिटस्तमयोरेशिरे ॥२।४।६७॥ लिङादेशयोस्त भ इत्येतयोः एश् इरे इत्येतावादेशौ भवतः ।
शकारः सर्वादेशार्थः । परस्यादिर्मा भूत् । पेचे । पेचिरे । नेमे । नेमिरे ।

मानां एतद्यमथाथुसणलतुसुसः ॥२।४।६८॥ लिट इति वर्तते । लिटो मानां स्थाने यथासंख्यं
एलादयो न च आदेशा भवन्ति । शकारः ऐवर्थः । लकारः सर्वादेशार्थः । अ इति द्वयोरकारयोः प्रश्लेष-
निर्देशः सर्वादेशार्थः । अन्यस्याकारस्याकारवचने प्रयोजनाभावात् सर्वादेश इति चेत् समसंख्यत्वं प्रयोजनं
संभाव्येत । अथवा घोरिति कानिर्देशात् परस्यादेशकारस्याकारः । पपाच । पेचिव । पेचिम । पपक्ष्य । पेचिथ ।
पेचथुः । पेच । पपाच । पेचतुः । पेचुः । “घोपदेशे” [५।१।१०८] इत्यादिना वेट् । “सेटि”
[४।१।१११] इति एत्वं च । वमयोः क्वादिनियमादिद् ।

विदो लटो वा ॥२।४।६९॥ मानामिति वर्तते । वेत्तेरुत्तरेषां लटो मानां स्थाने वा एलादयो
भवन्ति । वेद् । विद् । विद्म । वेत्थ । विदथुः । विद् । वेद् । विदतुः । विदुः । न च भवन्ति । वेधि । विद्मः ।
विद्मः । वेत्ति । वित्थः । वित्थ । वेत्ति । वित्तः । विदन्ति । विद् इति कानिर्देशात् ज्ञानार्थस्य ग्रहणम् । लाभा-
र्थस्य शेष व्यवधानात् ।

ब्रुव आह्वन् ॥२।४।७०॥ मानामिति वर्तते । लटो वेति वर्तते । ब्रुव उत्तरस्य लटो मानां वा
एलादयो भवन्ति । तत्सन्नियोगे ब्रुव आह्वदेशः । अकार उच्चारणार्थः । “न थास्मदः” [१।४।७१] इत्यु-
त्तरत्र प्रतिषेधादत्र पञ्चग्रहणम् । आत्य । आह्वथुः । आह्व । आह्वतुः । आह्वुः । सिपस्थे कृते “जगहस्थः”
[५।१।५२] इति हकारस्य थकारः । “खरि” [१।४।१३०] इति चर्त्तम् । यद्यत्र स्थानिवद्भावात् “ब्रुव ईट्”
[५।१।११] इति ईट् स्यात् भलादिप्रकरणे “आह्वस्थः” [१।४।१२२] इति वचनमनर्थकं स्यात् । न च
भवति । ब्रवीथि । ब्रूथः । ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति ।

न थास्मदः ॥२।४।७१॥ ब्रूः परस्य थस्यासदश्च पूर्वोक्ता आदेशा न भवन्ति । ब्रूथ । ब्रवीमि ।
ब्रूवः । ब्रूमः ।

लोटो लङ् घट् ॥२।४।७२॥ लोटो लङ् इव कार्ये भवति । लोडादेशानां लङादेशानामिव कार्य-
मतिदिश्यते इत्यर्थः । पचाव । पचाम । छितः सखं सिद्धम् । पचतम् । पचत । पचताम् । “मिथ्यस्याक्सो-
ऽमूर्ततवास्” [१।४।८२] इत्येतत् सिद्धम् । “एकः” [१।४।७३] इति उकारः पुरस्तादपवादस्यायेन
“एमे” [१।४।८१] इति इक्षमेव बाधते न जुसादेशम् । एवं च यथा अहुः अपुरिति भवति तथा यान्तु
पान्तु इत्यत्रापि जुसादेशः प्राप्नोति । नैष दोषः । वक्ष्यते “आवः” [१।४।९०] “कको वा”

[२।४।३१] इत्यत्र लङ् ग्रहणस्य प्रयोजनं लङ्गेव यो लङ् तस्य जुष् भवति अतिदेशेन यो लङ् तस्य मा भूत् । लङ् इति तांतादत् (अमृतताम्बत्) तेनाडागमो न भवति ।

एरुः ॥२।४।३३॥ लोट इति वर्तते मानामिति च । लोट्ये मानामिकारस्य उकारादेशो भवति । इल्लस्यापवादः । पचतु । पचन्तु । करोतु । कुर्वन्तु । मिप्सिपोरादेशान्तरमुत्स्य वाचकं वच्यते ।

सेर्हापिञ्च ॥२।४।३४॥ लोट इति वर्तते । सेर्हरादेशो भवति अपिञ्च । छुनीहि । पुनीहि । आप्नुहि । राप्नुहि ।

मेर्निः ॥२।४।३५॥ लोट्ये मेर्निरित्ययमादेशो भवति । पचानि । करवाणि ।

आमेतः ॥२।४।३६॥ लोट इति वर्तते । लोटादेशस्य य एकारस्तस्य आमित्ययमादेशो भवति । निर्दिश्यमानस्यादेशो भवति । पचेयाम् । पचताम् । पचेताम् । पचन्ताम् ।

स्वो घामौ ॥२।४।३७॥ लोट इति वर्तते एत इति च । सकारवकारभ्यां परस्य एतो व अम् इत्येता-
वादेशौ भवतः । पचस्व । पचध्वम् । ववस्व । वयध्वम् ।

पिञ्चाडस्मद् ॥२।४।३८॥ लोट इति वर्तते । लोट्योऽस्मदः आडागमो भवति पिञ्च । करवाणि । करवाव । करवाम । करवै । करवावहै । करवामहै ।

एत पे ॥२।४।३९॥ लोट्योऽस्मद् इति वर्तते । लोट्योऽस्मदः एकारस्यैकारादेशो भवति । निर्दिश्य-
मानस्यादेशोऽयमामोऽपवादः । करवै । करवावहै । करवामहै । चिनवै । चिनवावहै । चिनवामहै ।

ङितः सखम् ॥२।४।४०॥ अस्मद् इत्येव । ङितो लङ्कारस्य योऽस्मत्तस्य लङ् भवति । लङ्-
अपचाव । अपचाम । लिङ्-पचेव । लुङ्-अपाद्व । अपादम् । लृङ्-अपक्ष्याव । अपक्ष्याम ।

एर्मे ॥२।४।४१॥ ङित इति वर्तते । ङित्कारसम्बन्धिन एकारस्य खं भवति मविषये । लङ्-
अपचः । अपचत् । अपचन् । लिङ्-पचेरन् । पचेत् । लुङ्-अपाक्षीः । अपाक्षीत् । लृङ्-अपक्ष्यः ।
अपक्ष्यत् । अपक्ष्यन् । म इति क्रिम् । अपचावहि । अपचामहि ।

मिप्यस्यत्तसोऽमृतंतताम् ॥२।४।४२॥ ङितां लकाराणां मिप् थम् थ तस् इत्येतेषां यथासंख्यं
अम् तं त ताम् इत्येते आदेशा भवन्ति । अपचम् । अपचतम् । अपचत । अपचताम् । लिङ्-पचेयम् ।
पचेतम् । पचेत । पचेताम् । लुङ्-अपादम् । अपादम् । अपाद । अपादाम् । “वदमज्ज (वज्रवद्)”
[२।१।३१] इत्यादिनैव । “भ्रष्टो भ्रष्टि” [५।१।४४] इति सखम् । लृङ्-अपक्ष्यम् । अपक्ष्यतम् ।
अपक्ष्यत् । अपक्ष्यताम् ।

लिङ्गः सीयुट् ॥२।४।४३॥ लिङादेशानां सीयुडागमो भवति । मे यासुट्यो विधानाद्दे सीयुट् द्रष्टव्यः ।
टकारः “टिदादिः” [१।१।५३] इति विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । पचेय । पचेवहि । पचेमहि ।
पचेयाः । पचेयायाम् । पचेय्वम् । पचेत । पचेयाताम् । पचेरन् । “रुदादेर्ने” [२।१।१३५] इति वर्तमाने
“ङितोऽनन्त्यसखम्” [२।१।१३८] इति सीयुट्सकारस्य “सुट्त्वथोः” [२।४।८०] इति सुट्सकारस्य च
खम् । आशिषि लिङ्-पक्षीय । पक्षीवहि । पक्षीमहि । पक्षीष्ठाः । पक्षीयास्थाम् । पक्षीध्वम् । पक्षीष्ट ।
पक्षीयास्ताम् । पक्षीरन् ।

यासुण् मो ङित् ॥२।४।४४॥ लिङ्ग इति वर्तते । लिङ्गे मविषयस्य यासुडागमो भवति ङिञ्च ।
सीयुट्योऽपवादोऽयम् । अत्र “किदाशिषि” [२।४।८२] इति वचनात् दिव्यादिलक्षणास्य लिङ्ग इहोदाहरणम् ।

कुर्याम् । कुर्याव । कुर्याम । कुर्याः । कुर्यात् । कुर्यात् । कुर्यात् । कुर्याताम् । कुर्युः । “कृजो वे च” [४।१।१६] इति विकरणस्य लङ् । “केजुस्” [५।१।८५] इति डुप् । “उसि” [५।२।८३] इति परस्मै । स्थानिषद्भावादेव लिङ्गदेशस्य ङित्वे सिद्धे यासुटो ङित्त्वचनं शापकं लकाराश्रयमादेशानां ङित्वं च न भवति । तेन अचिनवमित्येप् सिद्धः । पचमाना स्त्री । ङित इति ङीत्यो न भवति ।

किञ्चाशिषि ॥२।४।८५॥ आशिषि लिङो यासुट् किञ्चवति । ङित्वे प्राप्ते कित्त्वं विधीयते । अयं जागर्तेरेवर्त्य च । उह्यासम् । उह्यास्व । उह्यास्म । उह्याः । उह्यात् । उह्यास्तम् । उह्यास्त । उह्यात् । उह्यास्ताम् । उह्यासुः । जागर्यासम् । जागर्यास्व । जागर्यास्म । “जागुराचिषिणालङिति” [१।२।८२] इत्येप् ।

रञ्जज्जेङ् ॥२।४।८६॥ लिङ्गदेशयोर्हं इट् इत्येतयोर्थयासंख्यं रन् अत् इत्येतावादेशौ भवतः । पचेरन् । पचीरन् । “ओऽन्तः” [१।१।३] इत्यस्यापवादोऽयम् । पचेय । पचीय । “स्त्रीयास्त्रीःप्रैषेणु मिङाभ्रकृष्णम्” [१।३।१०३] इत्येवमादिना प्राप्तस्य पस्य निवृत्त्यर्थं तपरकरणम् ।

सुट् तथोः ॥२।४।८७॥ लिङो यौ तकारश्चकारौ तथोः सुडागमो भवति । अगविषये लिङ् प्रयोज्यति । ने सत्वेन भवितव्यम् । पत्नीष्ठाः । पत्नीयास्याम् । पत्नीष्ट । पत्नीयास्ताम् ।

भेर्जुस् ॥२।४।८८॥ लिङ्गदेशस्य भेर्जुसित्ययमादेशो भवति । अन्तादेशापवादः । कुर्युः । क्रियासुः । निर्दिश्यमानस्यादेशो न यासुटः ।

थवित्सेः ॥२।४।८९॥ थसंज्ञक वेत्ति सि इत्येतैर्म्यः परस्य भेर्जुसादेशो भवति । ङित इति वर्तते । तत्र लिङ् आदेश उक्तः । लृङ् स्तेन व्यवधानमस्ति । लुङोऽपि सेरिति भविष्यति । पारिशेष्यात्थविद्-ग्रहणं लङर्थम् । अविमरुः । अजागरुः । “उसि” (जुसि) [५।२।८०] इत्येप् । विदेः । अविदुः । अकार्षुः । अहार्षुः ।

आतः ॥२।४।९०॥ सेरिति वर्तते । आकारान्तात्सेः परस्य भेर्जुस् भवति । श्रुतिकृतं भेरातः परत्वं सेरपि कृते त्याज्यलक्षणेन सेः परत्वम् । अत उभयगतमानन्तर्यं भेरस्ति । अत्थुः । अगुः । अयुः । अदुः । अपुः । त्याज्यलक्षणेन भेरिति पूर्वेष्वैव सिद्धे नियमार्थमेतत् । आत एव सेरपि कृते नान्य स्मात् अभूवन्निति ।

लङो वा ॥२।४।९१॥ आत् इति वर्तते । आकारान्तात्परस्य लङ्गदेशस्य भेर्वा जुष् भवति । अयुः । अयान् । अपुः । अपान् । ननु लङ्ग्रहणमनर्थकम् । ङित इति वर्तते । पारिशेष्यात् लङ् एव संप्रत्ययः । नानर्थकम् । इह लङ्गेष यो लङ् तस्य भेर्जुस् भवति । अतिदेशे मा भूत् । यान्त् । वान्त् । “थवित्सेः” [१।४।८६] इत्यनेनापि मुख्यस्य लङो ग्रहणादिह न भवति । बिभ्यन्तु । जाग्रन्तु । चिदन्तु ।

द्विषः ॥२।४।९२॥ लङो वेत्ति वर्तते । द्विषः परस्य लङो भेर्वा जुष् भवति । अद्विषुः । अद्विषन् । अनिगन्तत्वात् “जुसि” [५।२।८०] इत्येन्न भवति ।

मिङ्शिङ् ॥२।४।९३॥ मिङः शितश्च त्या धोर्विहिताः गसंज्ञा भवन्ति । भूयते । नयति । रोदिति । शित् । पचमानः । यजमानः । गसंज्ञाश्रयो विकरण एव भवति ।

शेषोऽग एव ॥२।४।९४॥ मिङ्शिङ्भ्यामन्यः शेषः । धोरित्येवं विहितस्यः शेषोऽगसंज्ञ एव भवति । लविता । लवितुम् । लवितव्यम् । अगसंज्ञाकार्यमिडागम एप् च । धोरिति विशेषणं किम् ? जुगुप्सते । श्रीकाम्यति । लूभ्याम् । आमितम् । पवकार उत्तरार्थः । अगप्रदेशाः—“वृक्षागस्येड्” [५।१।८४] “जागयोः” [५।२।८१] इत्येवमादयः ।

सिद्ध ॥२॥४॥६५॥ एवमशब्दोऽनुवर्तते । सिद्धादेशो मिद्ध अगसंज्ञ एव भवति । पेचिथ । शोकिथ । “वोषदेश” [५॥१॥१०८] इत्यादिनेट् । “सेदि” [४॥४॥१११] इत्येत्वचले । गसंज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थमेवकारोऽभिर्लब्धते । तेरिम इत्यत्र गसंज्ञायामसत्यां तदाशयः शम्न भवति ।

सिद्धाशिषि ॥२॥४॥६६॥ एवेति वर्तते । आशिषि यो सिद्ध तदादेशश्चागसंज्ञ एव भवति । भावे—जागरिषीष्ट । कर्मणि—सविषीष्ट । अगसंज्ञायां गाभयं “किञोऽनन्वसञ्जम्” [२॥१॥१३८] इति सखं न भवति । एवकाराधिकारात् गसंज्ञासमावेशो न भवति । यदि स्याद्यक् प्रसज्येत । आशिषीति किम् ? जाययात् । जाययाताम् । जाययुः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः समाप्तः । समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः ।

—:०:—

पत्किञ्चिद्वाङ्मर्थं लोके सान्वर्थं संप्रतीयते ।

तत् सर्वं धातुभिर्ध्वान्तं शरीरमिव धातुभिः ॥

तृतीयोऽध्यायः

ऊ-यान्मृदः ॥३॥१॥२॥ ऊ इति स्वरूपग्रहणम् । आनिति टाब्बापोः सामान्येन ग्रहणम् । मृदिति-संज्ञानिर्देशः “अधु मृत्” [१॥१॥५] “कृद्धृत्साः” [१॥१॥६] इति । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आ कपो विधानात् ऊधन्तादाधन्तान्मृद्रूपाच्च तद्भवतीत्येवं वेदितव्यम् । ननु वक्ष्यमाणस्याः “परः” [२॥१॥२] इति नियमेन परे प्रयुज्यन्ते । धोः परत्वञ्च तत्त्वादिभिराक्रान्तम् । मिद्धन्तं च क्रियावाचि सुब्रन्तमपि पर्द क्रियासापेक्षं क्रियात्वभूतमित्यतः पारिशेष्यान्ऊध्यान्मृद एव भविष्यन्ति । एवं तर्हि वाक्यान्मा भूवन् । वृद्धस्य उपगोरपत्यमिति । गुपदभसंशाश्च प्रत्येकनम् । द्वद्वकारद्वयवादिग्रहणानि च व्यामृदो विशेषणानि न समर्थविभक्त्यन्तस्येत्यधिकारः क्रियते । दु इति मृद्रूपम् । दु—ज्ञानामपत्यमित्यत्र मृद्रूपापेक्षया “वाञ्छुद्धाद्वोः” [३॥१॥१४४] इति दुलक्षणाः किम् न भवति । अदुलक्षणा एव “फिरदोः” [३॥१॥१४७] इति किर्भवति । दक्षणापत्यमिति मृद्रूपापेक्षया अदन्तलक्षणाः इज् भवति । घटेन तरतीत्यत्र मृदपेक्षया “नीद्बच्चडः” [३॥१॥१५१] इति “द्व्यज्जलक्षणाः सिद्धाः” वाचा तरतीत्यत्र न भवति । मृद्ग्रहणे किङ्कविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सिद्धे ऊध्यान्ग्रहणं किम् ? कालितरा । मालितरा । एनिका । हरणिका । परमपि हृतं बाधित्वा लीत्यो यथा स्यात् । अथ “स्रुपकवपचेकड्मुवगीप्रमरहते प्रोऽनेकायः” [४॥१॥१५५] [करणे] इति प्रादेशवचनसामर्थ्यादेतत्प्रत्ययते । एवं तर्हि मृद्ग्रहणे सिङ्गविशिष्टस्यापि परिमार्थेयमनित्येति शङ्क्यते । तेन गोमतीति उगिल्लक्षणां नुम्न भवति । धुवलीः पश्येति जिर्न् भवति । सख्यौ । सख्यः । इति च शिन्न भवति । हे भवति भगवति अघवति इत्यत्र “भवद्भगववघवतो वा रिः काववस्यौः” [२॥४॥३] इत्येष विधिर्न भवति । इह त्यग्रहणं न कर्तव्यम् । कथं युवतितरा वामोरुतरा ? हृदन्तत्वाद्युवतितशब्दस्य मृत्संज्ञा, वामोद-शब्दस्यापि मृदमृदोरेकादेशो मृद्ग्रहणेन पृच्छते । अजादिषु हलन्ताद्यापि विधास्यति चापि च टिखेन भावित-व्यमिति एकादेशो नास्ति तस्मात् ऊध्यान्ग्रहणं कर्तव्यम् ।

स्वौजसमौद्गुष्टाभ्यांभिस्त्रेभ्यांभ्यस्डसिभ्यांभ्यस्डसोसामूढ्योस्तुप् ॥ ३॥१॥२ ॥ ऊध्या-मृदः स्वादयो भवन्ति । उकाराद्यनुबन्धनाशः । अनेन विहितानां स्वादोनां “ऊमर्णाप्” [१॥४॥२] इत्येव-मादिना विभक्तिनियमः “साधने स्वार्थे” [१॥२॥१२३] इति वचननियमश्च ज्ञातव्यः । ह्यन्तात्तु कुमारो ।

कुमार्यौ । कुमार्यः । कुमारीम् । कुमार्यौ । कुमारीः । कुमार्या । कुमारीभ्याम् । कुमारीभिः । कुमार्यै ।
कुमारीभ्याम् । कुमारीभ्यः । कुमार्याः । कुमारीभ्याम् । कुमारीभ्यः । कुमार्यौ । कुमार्योः । कुमारीणाम् ।
कुमार्याम् । कुमार्योः । कुमारीषु । आवन्तात्—माला । माले । मालाः । मालाम् । माले । मालाः ।
मालया । मालाभ्याम् । मालाभिः । मालायै । मालाभ्याम् । मालाभ्यः । मालायाः । मालाभ्याम् । मालाभ्यः ।
मालायाः । मालयोः । मालानाम् । मालायाम् । मालयोः । मालासु । एवं जावन्तात् । दामावहुरावादयो
नेयाः । मृदः—दृषद् । दृषदौ । दृषदः । दृषदम् । दृषदौ । दृषदः । दृषदा । दृषद्भ्याम् । दृषद्भिः ।
दृषदे । दृषद्भ्याम् । दृषद्भ्यः । दृषदः । दृषद्भ्याम् । दृषद्भ्यः । दृषदः । दृषदोः । दृषदाम् । दृषदि ।
दृषदोः । दृषत्सु ।

स्त्रियाम् ॥३११३॥ स्त्रियामिति प्रकृतिविशेषणम् । यदित् ऊर्ध्वमनुकमिध्यामः स्त्रियां वर्तमानान्मृदः
स्वार्थे तदेदितव्यम् । यदि स्त्रियामभिधेयायामिति स्यात् द्विवहू न स्याताम् । कुमार्यौ कुमार्य इति । एकत्वात्
स्त्रीत्वस्य अनेकत्वोत्पत्तिश्च न स्यात् । कालितरा । भावप्रधानत्वात् स्त्रियामिति निर्देशस्य कुमारी देवदत्तेति
सामानाधिकरण्यं च न स्यात् । अथापि स्त्रीसमानाधिकरणान्मृद इत्यनुपगम्येत प्रथमपि भूतमियं नारी ।
कारणमियं कन्या । आवपनमियमुर्ध्वेति । भूतशब्दादिषु स्त्रीत्याः प्रसज्येरन् । तस्मात् स्त्रियां वर्तमानान् मृद
इत्येवाधिकृतम् । वक्ष्यति “अजाद्यष्टष्टति” । अजा : देवदत्ताः । स्त्रियामिति किम् ? अजो देवदत्तः । शब्दजनित-
प्रत्ययवर्गाः स्त्रीत्वादेव इदामभिप्रेता न वस्तुवर्गाः । अव्याप्तेः । शब्दो हि श्रोत्रपथं गतो लिङ्गसंख्याकतं स्वप्रत्ययं
जनयति स प्रत्ययः । खट्वादिषु रसादिषु अमावादिषु च शब्देषु संभवति ।

अजाद्यष्टष्टप् ॥३११४॥ अजादिभ्यः अकारान्तेभ्यश्च मृदः स्त्रियां वर्तमानेभ्यश्चात्रित्ययं ल्यो भवति ।
एकारः टाप्डापोः सामान्यग्रहणार्थः । एकारः सामान्यग्रहणाविधातार्थः । अन्यथा एकानुबन्धकग्रहणे न
द्वयानुबन्धकस्येति विधातः स्यात् । बाधकवाधनार्थमनकारान्तार्थं चाजादिग्रहणम् । अजा । एडका । अश्वा ।
चटका । मूषिका । “जातेरबोक्तः” [३११२३] इत्यस्यापवादः । बाला । होदा । पाका । वरुषा । मन्दा ।
विलाता । “वयस्वनन्त्ये” [३११२४] इत्यस्य प्राप्तिः । पूर्वापहाणा । अपरापहाणा । टिल्लज्जस्यस्यापवादः ।
निपातनाण्यत्वम् । “संभस्त्राजिनशयपिण्डेभ्यः फल्हाट्” [वा०] संफला । भन्नाफला । अविनफला ।
शयफला । पिण्डफला । “सप्तप्राक्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्वाट्” [वा०] सप्तपुष्वा । प्राक्पुष्वा । काण्डपुष्वा ।
प्रान्तपुष्वा । शतपुष्वा । एकपुष्वा । “पाककर्णपर्यापुष्कफल्मूलवाक्योः” [३११२४] इत्यस्यापवादः ।
“शूद्रान्चामहत्पूर्वात् जातिश्चेत्” [वा०] शूद्रा नाम जातिः । अमहत्पूर्वादिति किम् ? महाशूद्रा । आभीर-
जातिरियम् । अमहत्पूर्वादिति शब्दपरस्य महतः आत्वं न भवति । जातिरिति किम् ? शूद्रस्य भार्या शूद्रा ।
पुंयोगादीकारः । अमहत्पूर्वादिति प्रतिषेधवचनं शपकं भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति । तेन महाजा ।
वीवानमतिक्रान्ता अतिधीवरी । अतिभवती । अतिमहतीति सिद्धम् । कुञ्जा । उष्णिहा । देवविशा । “हन्तृता-
ट्” [वा०] ज्येष्ठा । कनिष्ठा । मध्यमा । पुंयोगलक्षणा प्राप्तिः । कोकिला जातिः । “मूलान्ताश्च टाप्” [वा०]
अमूला । वकाराद्यष्टष्टप् । शार्कराक्ष्या । पौतिमाण्या । गौकक्ष्या । अतः खल्वपि खट्वा । देवदत्ता । तपरकरणं
किम् ? क्षीरपाः स्त्री ।

आवट्स्यात् ॥३११५॥ आवट्शब्दादाप् भवति । आवट्स्यापत्वं स्त्री आवट्या । यज इति स्त्रीवि-
धेरपवादः । पुरस्तादपवादोऽयं फट् न बाधकः । आवट्यावनी ।

उगिह्रान्तो ॥३११६॥ उक् इत् यस्य त्यस्य मृदो कर्णस्य वा तदन्तात् श्रुकारान्तेभ्यो नका-
रान्तेभ्यश्च मृदः स्त्रियां वर्तमानेभ्यो स्त्रीत्यो भवति । ऊकारो “हज्ज्-याप्” [३११२६] इत्यत्र विशेषणार्थः ।

गोमती । तत्रभवती । पचन्ती । उगिदिति यदीदं त्यग्रहणेमेव स्यात् त्यग्रहणे यस्मात् तदादेरिति इह न स्यात् । अतिभवती । निर्गोमती । अथ मृद्विशेषणमेव स्यात् मृद्वग्रहणेन तदन्तविधिरिति तथापीह न स्यात् । अति-महतीति । तस्मान्नेदं त्यग्रहणेमेव; नापि मृद्वग्रहणेमेव; अपि त्वेकदेशग्रहणमिदम् । उक् इत् यस्यैकदेशस्य तदन्तान्मृद इति । स चैकदेशः त्यो मृद्वर्णश्च संभवति । त्यः । श्रेयसीत्यादि । मृद-तत्रभवतीत्यादि । वर्णः । पुमासभक्तिः अतिपुंसात् । “पुमासमुपिपुर्कः प्ररञ्जः” इति सकारो वर्ण उगित् । ययागमेपु वर्ण उगिदिति^१ ङीविधिर्विधीयते तुक्यपि प्राप्नोति अग्निचित् कर्म्येति । उभयोऽकारयोर्ग्रहणसामर्थ्यदिदैव भवति नान्यत्र । अञ्चतेरुपसंख्यानं नियमार्थं कर्तव्यम् । प्राची । प्रतीची । उदोची । घोऽगितः नान्यस्मात् । उखाङ्गकन्या । शृङ्गारान्तात् कर्त्री । हर्त्री । नकारान्तात् । दण्डिनी । छत्रिणी ।

वनोऽहसो रश्च ॥३१।७॥ वन इति वनः कनिपश्च ग्रहणम् । अदशन्ताच्चो विहितो वन् तदन्तात् स्त्रियां वर्तमानान्मृदो रेफश्चान्तादेशो भवति ङीश्च । पूर्वस्य सिद्धे रेफार्थमिदम् । धवतिपिबतिभ्यां कनिप् । धीवरी । पीवरी । मेरुद्वरी । कथं शर्वरी ? शृणातेरन्ताद् वन् । कथमवावरी ! अत्र ओण-तेराविषय आत्वे कृते वन् । “अनीचः” [३।१।७] इत्यत्र वक्ष्यति । पूर्वो विधिर्नोऽपि भवति । बहु-धीवरी । अतिधीवरी । अथवा अमृदपूर्वादित्यत्र तदन्तविधिर्नापितः । अदश इति किम् ? अहस्रुद्ध्या स्त्री “राशि युधि कृजः” [२।२।८२] “सहे” [२।२।८३] इति कनिप् । “सक्तियोगशिष्टानामन्यतरामावे वभवीरव्यभावः” [परि०] इति रेफादेशाभावे पूर्वेणाप्यत्र ङीत्यो न भवति । एवमर्थश्चकारः कियते ।

नेल्ल्यस्त्रादेः ॥३१।८॥ स्त्रियामिति वर्तते । इत्संज्ञकेभ्यः स्वल्हादिभ्यश्च मृदभ्यः स्त्रियां यदुक्तं तत्र भवति । पञ्च कुमार्यः । सप्त रोहियः । अथात्रानेन ङीप्रतिषेधे कृते नल्ले सति अत इति टाप् कस्माच्च भवति । सुब्बिधौ नल्लस्यासिद्धत्वात्तदन्तत्वाभावाच्च टाप् । कथमयं सुब्बिधिः ? तत्र टाप् पकारेण सुपो ग्रहणात् । यद्येवं बहुचर्मिकेत्यत्र नल्लस्यासिद्धत्वात् “स्थस्थे क्यापी” [२।१।२०] इति कात्पूर्वस्यात् इत्वं न स्यात् । एवं तर्हि इहोमौ ङीटापौ प्रतिषिध्येते । उक्तं च—

“इत्संज्ञानामन्ते महे बाबुस्पतिः कस्माच्च स्यात् ? प्रत्याहाराद्वापि सिद्धं शेषस्त्वित्त्वे तस्माच्चोभौ ।”

स्वल्हादिभ्यः—स्वल्हा । दुहिता । स्वल्ह दुहितृ ननान्द यावृ मातृ तिस्र चतस्र ।

मनो डाप् च ॥३१।९॥ ङी इति वर्तते नेति च । मन्तान्ताम्मृदः स्त्रियां वर्तमानाद्वा भवति ङी-प्रतिषेधश्च । डकारः टिस्वार्थः । पकारः सामान्यग्रहणार्थः । पामे । पामाः । पामानौ । पामानः । “अग्नि-नरमन्ग्रहणवर्धयता आनर्थकेन च तदन्तविधिः” [परि०] सीमे । सीमानौ । सुप्रथिमे । सुप्रथिमानौ । अतिमहिमे । अतिमहिमानौ ।

अनश्च वात् ॥३१।१०॥ अन्नन्ताद् वसात् स्त्रियां वर्तमानाद्वा भवति ङीप्रतिषेधश्च । चकारो ङीप्रतिषेधानुकर्षणार्थः । अर्थवतोऽनर्थकस्य चानो ग्रहणम् । अनुङ्गवतो वसत्येहोदाहरणम् । उङ्गवतस्त्रैरुप्यं वक्ष्यति । सुपर्वे । सुपर्वाः । सुपर्वाणौ । सुपर्वाण्यः । नकारान्तत्वान्ङी प्रसज्येव । वादिति किम् ? अतिक्रान्ता पर्वणि अतिपर्वणी ।

योङ्गे ॥३१।११॥ अन्नन्ताद् वसात् ङङः खे वर्तमानात् डाङ्गीप्रतिषेधौ वा भवतः । वावचनायथा-प्राप्ताः । नकारान्तान्ङीविधिः “वनोऽहसो रश्च” [३।१।७] इत्यन्यनुज्ञायते । बहुराजे । बहुराजाः । बहु-राजानो । बहुराजानः । बहुराज्यौ । बहुराज्यः । बहुतद्धे । बहुतद्धाः । बहुतद्धाणौ । बहुतद्धाण्यः । बहुतद्ध्यौ ।

१. उगिदृच्चा षेऽङ्गोः [२।१।४३] इति सूत्र इति शेषः ।

बहुवचनः । बहुधीवे । बहुधीवाः । बहुधीवानौ । बहुधीवानः । बहुधीवर्यौ । बहुधीवर्यः । उक्त्वा इति किम् ? सुपूर्वा । सुपूर्वाण्यौ । पूर्वेषु द्वैरूप्यम् । अन इत्येव सुमत्स्या नदी ।

की की ॥३१११२॥ खुविषयेऽन्नताद् बसान्डी भवति । अचिराद्गी नाम ग्रामः । पुनर्ही-
महणं नित्यार्थम् ।

ऊधसः ॥३१११३॥ वादिति वर्तते । ऊधःशब्दान्ताद्बसान्डी भवति । कुण्डमिवोधो यस्याः
कुण्डोधी । द्वे ऊधसौ यस्या दूधूधी । निर्गतमूषोऽस्या निरुधी “ऊधसोज्ज्व” [३१११३२] इति अनङ्-
सान्तः । “वोङ्गे” [३१११११] इति त्रैलुप्यं प्राप्तम् । स्त्रियामेवानङ् । सान्त इत्येव । इह मा भूत् । महोषाः ।
पर्जन्यः । वादित्येव । प्राप्ता ऊधः प्राप्तोषा गौः । “इषा च प्राप्तापन्ने” [३१११२०] इति षसः । तत्रैव
पूर्ववर्तिनं आशङ्क्यते ।

दामहायनात्संख्यादेः ॥३१११४॥ संख्यादेर्वसात् दामान्तात् हायनान्ताच्च की भवति । द्विदाम्नी ।
त्रिदाम्नी । “वोङ्गे” [३१११११] इति त्रैलुप्यं प्राप्तम् । “हायनाद्वयसि स्मृतः” [वा०] द्विहायनी ।
त्रिहायणी । चतुर्हायणी वत्सा । “त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य शावसपि षयसीष्यते” [वा०] तेनेह कीविधिर्यत्वं
च न भवति । द्विहायना । त्रिहायना । चतुर्हायना शाला । संख्यादेरिति किम् ? उदाहा वदवा । “वोङ्गे”
[३१११११] इत्यनेन त्रैलुप्यं भवति ।

पावो वा ॥३१११५॥ पाञ्चद्व्यान्तान्मृदः स्त्रियां वर्तमानाद्वा की भवति । द्विपात् । द्विपदी ।
त्रिपात् । त्रिपदी । “सुसंख्यादेः” [३१२११४०] इति पादशब्दस्य खम् । पादयतेः क्तिवन्तस्य
प्रयोगो नास्ति ।

टाष्टुचि ॥३१११६॥ पाद इति वर्तते । पाञ्चद्व्यान्तान् मृदश्चाब् भवति ऋच्यभिधेयवाम् । त्रिपदा
ऋक् । त्रिपदा ऋक् । ऋचीति किम् ? द्विपदी देवदत्ता ।

अनीचः ॥३१११७॥ न्यक्छन्दोऽत्राप्रधानवचनो नञ्पूर्वः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽनीच
इत्येवं तत्रेदितव्यम् । नीचो ह्यादयो न भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति “टिङ्काणञ्” [३११११८] इति । कुरुचरी ।
मद्रचरी । “जातेस्योङः” [३१११२३] । कुक्कुटी । शूकरी । अनीच इति किम् ? बहुकुक्कुचरा । बहुकुक्कुटा
मधुरा । ननु पूर्वत्र समुदायः स्त्रियां वर्तते नावयवः । अवयव एव च टिङ्ग समुदायः । द्वितीयेऽपि वृत्ते न समुदायो
जातिवाचीः किं स्ववयवः, तत्कथं प्राप्तिः ? इदमेव शापकं भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति । तथाहि
प्रधानभूतेन तदन्तविधिः कुम्भकारी देवदत्तकुक्कुटी । यत्वेवं पूर्वमेवेदं सर्वं वक्तव्यम् । इह करणात् पूर्वोक्त-
विधिर्नीचोऽपि भवतीति शङ्क्यते । बहुधीवरी बहुधीवरीति ।

टिङ्काणञ्ठण्डञ्करपः ॥३१११८॥ अत इति वर्तते । टिङ् ट अण् अञ् टण् ठञ् करप्
इत्येवमन्तेभ्यः स्त्रियां की भवति । टापोपवाहः । “अनीचः” [३११११७] इत्यधिकारात् प्रधानेन तदन्तविधि-
वक्तुः । कुरुचरी । मद्रचरी । “कृद्ग्रहणं टिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [परि०] न मन्तव्यम् । इह कृदकृतो-
ग्रहणात् । ट-सौपर्ण्येयी । वैनेतेयी । “टिङ्काणा ङः” [३१११२६] इत्यस्य निरनुबन्धकस्य स्त्रियामभिधानं
नास्ति । अण्-कुम्भकारी । औपगवी । कथं चुराशीला चौरी । तपःशीला तपसी ? योऽप्यण्कृतं भवतीति
वक्ष्यति । अञ्-औत्सी । वैदी । ठण्-लाङ्गिकी । शैचनिष्ठी । ठञ्-पारायणं वर्तयति पारयणिक्की ।
प्राग्वतेष्टञ् । करप्-इत्तरी । नरचरी । अनीच इत्येव । बहुकुक्कुचरा । खुट्प्रभृतीनां ह्यनुबन्धकत्वेऽपि
टिङ्करण्यासमर्थ्याद् ग्रहणम् । लकाराणां स्थानिवद्भावाद्द्वित्वं डित्वं च न भवतीत्युक्तम् । पञ्चमाना की ।
अचिनवम् । त्पसाहचर्यादागमस्य न ग्रहणम् । शिखिता विद्येति ।

यञः ॥३॥१॥१६॥ यञन्तान्मृदः स्त्रियां ङी भवति । गार्गी । वात्सी । “ह्रस्वो ह्रस्वो कदाच” [४।४।१४०] इति यकारस्य खम् । “द्वीपावतुसमुदेष्यञ्” [३।२।१३०] इति अयञ् । द्वयनुबन्धकः । तस्येदाग्रद्वयम् । द्वीपे मवा द्वैप्या । योगविभाग उत्तरार्थः ।

फट् ॥३॥१॥२०॥ यञ इति वर्तते । यञन्तान्मृदः स्त्रियां फडित्ययं त्यो भवति । टकारो ङ्यर्थः । अथ गार्ग्यायणी इति स्थिते फटो ह्रस्वसंज्ञाविरहात् “कृद्धृत्स्वाः” [१।१।६] इति मृत्संज्ञा नास्ति । कथं ङीविधिः ? टित्करणसामर्थ्यात् भविष्यति । गार्ग्यायणी । वात्स्यायनी । श्रावल्यायनी । वचनात्पूर्वोऽपि विधिर्भवति । गार्गी । वात्सी ।

लोहितादिसकलान्तात् ॥३॥१॥२१॥ यञ इति वर्तते । लोहितादिर्गर्गादिष्वन्तर्गणः । लोहितादिभ्यः सकलशब्दपर्यन्तेभ्यो यञन्तेभ्यः स्त्रियां फट् त्यो भवति । पुनरास्मिन् नित्यार्थः । तेन फट् एव भवति । “यञः” [३।१।१६] इत्यनेन ङीः प्राप्ते निवर्त्यते । लौहित्यायनी । सांखित्यायनी । बाह्व्यायणी । सौक्ष्म्यायणी । सांचव्यायनी । लान्तव्यायनी । जैगीषव्यायणी । मानव्यायनी । मातव्यायनी । मनायीशब्दस्य पाठसामर्थ्यात् “भस्य ह्रस्वहे” [वा०] इति पुंवद्भावो न भवति । मानाव्यायनी । काव्यव्यायनी । रौक्ष्यायणी । तारुक्ष्यायणी । तालुक्ष्यायणी । तारुड्यायनी । वातरुड्यायनी । आङ्गिरसे तु वतरुडीत्येव भवति । काप्यायनी । कात्यायनी । शाकल्यायनी ।

कौरव्यासुरिमाण्डकात् ॥३॥१॥२२॥ कौरव्य आसुरि माण्डक इत्येतेभ्यः फट् भवति । कौरव्यायणी । टप्प्राप्तः । अ आसुरीति प्रसङ्गेनिर्देशात् अकारश्चान्तादेश आयनादेशो (शे) न स्वेको दीत्यर्थः । अण्डत्वाद् “यस्य कर्था च” [४।४।१३६] इति इत्वं प्राप्नोति । आसुरायणी । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति ङीत्यः प्राप्ते । माण्डकस्यापत्यं स्त्री माण्डकायनी । “अण्य मण्डकात्” [३।१।१०८] इत्यण् । ङी प्रसज्येत । “तस्येवम्” [३।३।८८] इत्यणि विवक्षिते कौरवीति भवति । शैषिकार्यविवक्षायां “इणः” [३।१।८८] इत्यणि प्राप्ते “दोश्चः” [३।१।१०] इध्यते । आसुरिणा प्रोक्ता आसुरीया शिक्षा ।

गौरादेः ॥३॥१॥२३॥ गौरादिभ्यः स्त्रियां ङी भवति । गौरी । वर्णत्वे बहुलं ङीप्राप्तेः संज्ञायामप्राप्तेः । गौर मत्स्य मनुष्य शृङ्ग गवय इव मुकय ऋष्यः “अयोक्तः” [३।१।५३] इति ङीप्रतिषेधः प्राप्तेः । शृङ्गाद्याप् प्राप्तेः । एवमुत्तरत्रायूढम् । पुट पटं कुण द्रोण हरिण ककण अरीहण वरट उर्कण आमलक कुबल चदर बिम्ब (बल्लक) बिम्ब कर्कर सर्कार शर्कार शष्कण्ड शधल सुपव पाण्डशौ केषाञ्चित् । सालन्द (सलद) गडुल पडुश आढक आनन्द सृपाट शष्कुल सूर्य पूष मूष धातक सल्लक मालक मालत साल्वक वेतस वृत् (वृष) अतस उमा (उभय) भृङ्ग मह मठ छेद स्वन् तच्चन् अनडुहो अनडुवाही । एषणात्करणे कणके । देहमेघकाकादनगवादनादयः । यान मेघ गौतम (गोतम) अयस्थूण भौरिकि भौलिकि भौलिङ्गि औद्गाहमानि आलम्बि आंयामक आलम्बि आपाच्योक्त (आपन्चिक) उपस्तश्च (१) आरट टोट नट मूलाट आसूर्य (आस्तरण) अधिकार प्रत्यवारोहिणी आग्रहायणी^१ । आग्रहायनस्य स्वार्थे अण् यात्वं च निपात्यते । सेचनी । सुमंगलात्संज्ञायाम् । सुन्दर मण्डल मन्थर मन्दुल पेट (पट) पिट (विट) पिण्ड उर्द गूर्द रूर्द । केषाञ्चित् रेफात्परो मकारः । सूर्म हर्द भाण्ड लोहाण्ड कदर कन्दर वदल कन्दल तण्य तलुन सौधर्म । रोहिणी रेवती च नक्षत्रे । विकल मिष्कल पुष्कल । कटाञ्छोरयाम् । पिप्पल्यादयश्च । पिप्पली हरीतकी कोशातकी शमी कौरी

१. सांख्य्यायनी सु० । २. कुरय अ० । ३. आऽप्यभ्युद्गम अ०, व०, स० । ४. पद सु० । ५. उण्यक सु० । ६. पण्डुश अ० । पटुल व० । ७. आपामक व० । आपामक स० । ८. उपस्तश्च व० । ९. प्रत्यवारोहिन् सु० । १०. आग्रहायण सु० ।

पृथिवी क्रोष्ठ मातामह पितामहो एहो पयँही आश्वमेध्यात्कट् प्रातः । काव्या शैव्या एहौ व्यान्तो । आरोह चण्ड । “भूतयोरेष च” [३१०] नारी । येऽत्रानहुहीप्रभृतय ईकारान्ताः पठ्यन्ते तेषां से पुंवद्भावो न भवति । अनहुहीभार्यः । प्रत्ववरोहिणीभार्यः । आप्रहायणीभार्यः । इति ।

वयस्यनन्त्ये ॥३१॥२४॥ प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था वयः । वयस्यनन्त्ये वर्तमानान्मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । कुमारी । किशोरी । वर्करी । वधूटी । चिखटी । तरुणी । तल्लुनी । अनन्त्य इति किम् । स्थविश । वृद्धा । “कन्याया कनीच च” [३११०५] इति निपातनात् कन्या । अत इत्येव । शिशुः । उत्तान-शया । लोहितपादिका । द्विवर्षा । नैते साक्षादथोवाचिनः शब्दाः । अथवा द्विवर्षादिषु “परिमाणाद्दुपि” [३११२६] इत्येतस्माद्वियमात्रं भविष्यतीति ।

रात् ॥३१॥२५॥ रसंशकान्मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । अकारान्तोचरपदो रः स्त्रियां भाष्यते । पञ्चानां पूलानां समाहारः पञ्चपूली । दशपूली । अत्रन्तस्य रसस्य खं स्त्रियां चेति पञ्चपत्नी दशतल्ली । पञ्चावी । अजादिष्वजशब्दो जातिवचनोऽभिप्रेतः । कथं त्रिकला ? अजादिषु पाठात् ।

परिमाणाद्दुपि ॥३१॥२६॥ सर्वतो मानं परिमाणम् परिमाणान्ताद् रात् ह्रदुपि सति ङीत्यो भवति । द्वाभ्यां कुडवाभ्यां क्रीता आर्हीयस्य त्यस्य “रादुबखौ” [३१३२६] इत्युप् । द्विकुडवी । द्व्यादकी । “रात्” [३११२५] इति सिद्धे नियमार्थोऽयम् । यतः परिमाणादेव ह्रदुपि नान्यतः । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा । दशाश्वा । मुख्यजातीयस्य नियमातिवृत्तिः । समाहारे भवत्येव । पञ्चाश्वी । परिमाणादिति योगवियोगः कर्तव्यः । तत इष्टतोऽवधारणं लभ्यते परिमाणशब्देनेह रुदिवशात् प्रस्थादिर्गृह्यते । कालसंख्ययोरग्रहणम् । तेन द्विवर्षा । त्रिवर्षा । द्विशता । त्रिशता । द्वे वर्षे प्रमाणमस्याः “प्रमाणे ध्वंसनं राश्च” इति द्वयसडादीनामुप् । उक्तं च— “ऊर्ध्वमानं किङ्कोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आत्मास्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः” ।

न विस्ताचितकम्बल्यात् ॥३१॥२७॥ विस्त आचित कम्बल्य इत्येवमन्ताद् रात् ह्रदुपि ङीत्यो न भवति । विस्तादीनां परिमाणत्वात् सर्वेषां प्राप्तिः—द्वाभ्यां विस्ताभ्यां क्रीता द्विविस्ता । त्रिविस्ता । द्व्याचिता । व्याचिता । द्विकम्बल्या । त्रिकम्बल्या ।

कारणत्वे ॥३१॥२८॥ कारणशब्दान्तात् रात् ह्रदुपि सति क्षेत्रेऽभिधेये ङीत्यो न भवति । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । “प्रमाणेण्वयसङ्ख्यं मात्रतः” [३१३५८] इत्यागतानां द्वयसडादीनां प्रमाणे ध्वंसनं राश्चेति वक्ष्यमाणथा इष्टया उप । काण्डं धनुः । तस्य परिमाणशब्देनासंग्रहीतमतः “परिमाणाद्दुपि” [३११२६] इत्यनेन नियमेन प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थमिदम् । क्षेत्र एव प्रतिषेधो भवति नान्यत्र । द्विकाण्डा । त्रिकाण्डा रज्जुः । “रात्” [३११०५] इति ङीविधिः ।

पुरुषात्प्रमाणे वा ॥३१॥२९॥ ह्रदुपीति वर्तते । प्रमाणे यो वर्तते पुरुषशब्दस्तदन्ताद्वा ह्रदुपि वा ङीत्यो भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः खालायाः द्वयसडादीनां “प्रमाणे ध्वंसनं राश्च” इति उप । द्विपुरुषा । त्रिपुरुषा । अपरिमाणत्वात्पुरुषस्य “परिमाणाद्दुपि” [३११२६] इति नियमा-न्निवर्तितो ङीत्यो विकल्पते । प्रमाण इति किम् ? द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां क्रीता द्विपुरुषा । ह्रदुपीत्येव । समा-हारे पञ्चपुरुषी ।

गुणोक्तेरुतोऽखरुस्कोडः ॥३१॥३०॥ वेति वर्तते । गुणोक्तेर्मृद उकारान्ताद् वा ङीत्यो भवति खरशब्दं स्कोडं च वर्जयित्वा । यः शब्दो गुणे वर्तित्वा द्रव्ये वर्तते स गुणोक्तिरित्युच्यते । पटुः । पट्वी । मृदुः । मृद्वी । गुणोक्तेरिति किम् ? आलुः । जातिशब्दोऽयम् । उत इति किम् ? शुचिरियं कन्या । अखरुस्कोड इति किम् ? खरियं कन्या । पाण्डुरियं कन्या । “सत्त्वे निविकृतेऽप्येत पृथग्जातिषु द्रव्ये ।

आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिगुणः ।" सत्त्वं द्रव्यं तत्र निविशते उत्पद्यते आश्रयति वा स गुण इति संबंधः । द्रव्यादपैति अपगच्छति यथाप्रात् हरितता पीततायां उत्पन्नयाम् । पृथग्जातिषु दृश्यते, यथा सैव हरितता तदणुतुल्येषु । आधेयः उत्पाद्यः, यथा कुसुमयोगात् गन्धो वस्त्रे, यथा घा घटे रक्तता । अक्रियाजश्च क्रियाजश्च क्रियातो नोत्पद्यते यथाऽऽकाशादिषु महत्त्वादि । चकारात् क्रियाजश्च यथा संयोगो विभागो वा असत्त्वप्रकृतिर्द्रव्यस्वभावरहितो निर्गुण इत्यर्थः ।

बह्वादेः ॥३१॥३१॥ वेति वर्तते । बहु इत्येवमादिभ्यश्च मृदम्यः स्त्रियां वा ङीत्यो भवति । बहुः । बह्वी । पद्धतिः । पद्धती । बहु पद्धति अञ्जति अङ्कति अंहति शकटि शक्ति । केचिच्छ्रुतेऽर्थे शक्तिं पठन्ति । सामर्थ्यं शक्तिरेव तेषाम् । शक्ति शारि राति राधि शाधि अहि कपि मुनि यष्टि । किमर्थमिकारान्ताः पठ्यन्ते । यावता कृदिकारादङ्केरित्येव सिद्धे पद्धतिशब्दान्न स्यात् इतरेभ्यश्चाव्युत्पत्तिपक्षः "इतः प्राण्यङ्गात्" [ग०] श्रोणिः श्रोणी । धमनिः । धमनी । इत इति किम् ? ग्रीवा । प्राण्यङ्गादिति किम् ? कौण्डि । साणिः । "कृदिकारादङ्केः" [ग०] भूमिः । भूमी । अङ्केरिति किम् ? कृतिः । इति । अत्यर्थोवि(दि)त्येके । इहापि मा भूत् । अकरणिर्हन्त ते वृषल । कृदिकारादिति किम् ? सुगन्धिः । सुरभिगन्धिः । स्त्रीद्वतो न भवति । व्युत्पत्तिपक्षे कृदिकारस्यैव पूर्वः प्रपञ्चः । चण्ड अगल कमल कृपण विकट विशाल विशङ्कट मरुज । चन्द्रभागात्रयाम् । कल्याण उदार पुराण । अहःशब्दस्येह पाठोऽनर्थकः । केवलस्य स्त्रियामवृत्तेः । सविधौ तु उत्तरपदभूतस्य "वोच्छे" [३१॥३१॥] इत्यनेनैव त्रैलोक्यं विद्धम् । बहुशब्दस्य गुणवाचित्वात्पूर्वैरेव विकल्पे सिद्धे द्विवचं सुबद्धं भवतीति पुनर्ग्रहणम् । तेन सकृदुक्तो अणन्तान्ङीविधिः । कचिन्न भवति । कामिकेति ।

पतिवत्स्यस्तर्धत्न्यो ॥३१॥३२॥ पतिवत्नी अन्तर्वत्नी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । पतिमशब्दस्य ङीत्ये परतः मतोर्वत्वं नुमागमश्च निपात्यते । जीवति मर्तारि पतिवत्नी । जीवत्पतिरित्यर्थः । अन्यत्र पतिमतो प्रथिवी । अन्तःशब्दादधिकरणप्रधानात् अस्तिसामानाधिकरण्यभावात् विहितो मतुर्नुक् च निपात्यते गर्भिण्याम् । अन्तर्वत्नी गर्भिणी । अन्यत्र अन्तस्स्यामस्ति शालायाम् । उक्तं च—“पतिवत्न्यां नुका पतिवत्तर्वत्न्यां मतुर्नुका । जीवत्पत्यां च गर्भिण्यां यथासङ्ग्यं निपात्यते ॥”

पत्नी ॥३१॥३३॥ पत्नीति निपात्यते । पतिशब्दस्य स्त्रियां नकारोऽन्तादेशः पुंयोगे निपात्यते ङीत्यो नकारान्तत्वादेव भवति । इयमस्य पत्नी । अस्य पुंसः वित्तस्य स्वामिनोत्यर्थः । पुंयोगादन्यत्र पतिरियमस्य ग्रामस्य ।

सपत्न्यादौ ॥३१॥३४॥ सपत्न्यादिषु पत्नीशब्दो निपात्यते "वा से" [३१॥३४] इति विभक्त्या पत्नीशब्दस्य निपातने प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । समानः पतिरस्याः सपत्नी । यद्येवं पत्नीति वर्तते समानादिभ्य इति वक्तव्ये सनकारेकारस्य समुदायस्योच्चारणं किमर्थम् ? समानशब्दस्य सभावार्थम् । इकारापायेऽपि नकार-अवधारणं च । सपत्न्याः अयं सपत्न्यः । कृतेकारस्योच्चारणं पुंवद्भावप्रतिषेधार्थमित्येके । सपत्नीभार्यः । एवं एकपत्नी । वीरपत्नी । पिण्डपत्नी । पुत्रपत्नी । भ्रातृपत्नी ।

वा से ॥३१॥३५॥ से पत्नी वा निपात्यते । पतिशब्दान्तस्य मृदः स्त्रियां वा नकारोऽन्तादेशो निपात्यते । वसे वसे चेद् निपातनम् । अनीच इति नाभिसम्बध्यते । गृध्रमायस्य शब्दस्याभावात् । वसे-इदः पतिरस्या इदपतिः । इदपत्नी । स्थिरपतिः । स्थिरपत्नी । वृद्धपतिः । वृद्धपत्नी । स्थूलपतिः । स्थूलपत्नी । वसे ग्रामस्य पतिः ग्रामपतिः । ग्रामपत्नी । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् । पुंसा योगे पत्नीति नित्यं निपातनम् । तेन पत्नीशब्देन तासे राजपत्नीत्येव भवति । स इति किम् ? पतिरियमस्य ग्रामस्य ।

वर्णादिबहुलं तो नस्तु ॥३१॥३६॥ वर्णादिबहुलं तो नस्तु मृदः स्त्रियां बहुलं ङीत्यो भवति तत्कारस्य तु नकार-देशः । तुशब्दः किमर्थः ? बहुलं ङीविधिर्भवति तत्कारः ? तु नकारो नित्यं यथा स्यादित्येवमर्थः । यथा ।

एनी । स्येता । स्पेनी । रोहिता । रोहिणी । हरिता । हरिणी । शक्ती । पिशङ्गी । कल्माषी । सारङ्गी । काली संज्ञायां वर्णे च । काला अन्या । कचिदप्रवृत्तिरेव श्वेता । अस्मिता । पलिता । कृष्णा । कपिला । कचिदुभयथा । शोणी । शोणा । वडवा । नीली औषधिः । प्राणिनि च नीली वडवा । नीली गौः । संज्ञायामुभयम् । नीली । नीला । आञ्छादने न भवत्येव । नीला शाटी । नीला मेषसंहतिः । वर्णादिति किम् । कृता । हुता । अत इत्येव । सितिः कन्या ।

कुरङ्गगोणस्थलभाजनागकुशकामुककवरादशम।वपनाकृत्रिमाधाणास्यौल्यायोविकारमै-
थुनेच्छाकेशवेशेषु ॥३१।३७॥ कुरङ्गादिभ्यः कवरशब्दपर्यन्तेभ्योऽमत्रादिभ्यश्चेष्टु यथासंख्यं स्त्रियां ङीत्यो
भवति । कुरङ्गी भवति अमत्रं चेत् । कुरङ्गा अन्या । दाह इत्यर्थः । गोणी भवति आवपनं चेत् । गोणा
अन्या । संज्ञैषा । स्थली भवति अकृत्रिमा चेत् । स्थला अन्या । भाजी भवति आस्था चेत् । भाजा अन्या ।
भाजयतेः स्त्रियां युचि प्राप्ते अत एव निपातनादकारः । नागी भवति स्थौल्यं चेत् । नागा अन्या ।
तन्वी दीर्घा वा । संज्ञायां वा । जातिविबद्धायां तु नित्यं ङो । कुशी भवति अयोविकारश्चेत् । कुरा अन्या ।
काष्ठादिमयो तदाकृतिः । कामुकी भवति मैथुनेच्छा चेत् । कामुका अन्या । कवरी भवति केशवेशश्चेत् ।
कवरा अन्या ।

पुंयोगात् खोरगोपालकादेः ॥३१।३८॥ अत इति वर्तते । पुंयोगाद्धेतोर्यः शब्दः स्त्रियां वर्तते
खुभूतस्तस्मान्ङीत्यो भवति गोपालकादीन् वर्जयित्वा । उपाध्यायस्य स्त्री उपाध्यायी । गणकी । प्रष्टी । महा-
मात्री । एते संज्ञाशब्दा पुंयोगात् स्त्रियां वर्तन्ते । पुंयोगादिति किम् । देवदत्ता । खोरिति किम् । प्रसूता ।
प्रजाता । परिभ्रष्टा । पुंयोगादिते शब्दाः स्त्रिया वर्तन्ते; न तु पुंसि संज्ञाभूताः । अगोपालकादेरिति किम् ।
गोपालिका । पशुपालिका । आदिशब्दः प्रकारवाची । तेन दूर्यादेस्तायां ङीर्न भवति । सूर्यस्य भार्या सूर्य ।
देवतायामिति किम् । सूर्यो नाम मनुष्यः तस्य सूरिति ।

पूतकस्तोरै च ॥३१।३९॥ पुंयोगादिति वर्तते । पूतकनुशब्दाङ्गीत्यो' भवत्यैकारश्चान्तादेशः ।
पूतकतोः स्त्री पूतकतायी । पुंयोगादित्येव । पूताः ऋतवो यस्याः सा पूतकतुः ।

वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदात् ॥३१।४०॥ ऐ चेति वर्तते पुंयोगादिति च । वृषाकपि अग्नि
कुसित कुसीद इत्येतेभ्यः स्त्रियां ङीत्यो भवति ऐकारश्चान्तादेशः । वृषाकपायी । अग्नयायी । कुसितायी ।
कुसीदायी । कुसितकुसीदयोः संज्ञाशब्दत्वात् पूर्वेष्वेव सिद्धेऽप्यैकारार्थं वचनम् । पुंयोगादित्येव । वृषाक-
पिर्नाम कश्चित् ।

मनोरौ च ॥३१।४१॥ पुंयोगादिति वर्तते । औकारश्चान्तादेश ऐकारश्च । मनोः स्त्री मनावी ।
मनायी । केषाञ्चिन्मनुरित्यपि ।

यस्त्रयभयशर्वरुद्रेन्द्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ॥३१।४२॥ वक्ष्यादिभ्यो
मृडयो स्त्रियां ङीत्यो भवति अनुगागमः । अत्र केषाञ्चिच्छब्दानां पुंयोगादिति सिद्धेऽप्यानुगर्थं ग्रहणम् । वद-
यान्ती । भवन्ती । यवन्ती । अयान्ती । मृडयान्ती । "हिमारण्ययवोर्महत्त्वे" [वा०] मृडयिर्भ हिमानी ।
महदरण्यमरण्यानी । "यवाद्दोषे" [वा०] सदोषो यवः यवानी । "यवनाह्लिप्याम्" [वा०] यवनानां लिपिः
यवनानी । उपाध्यायमातुलाभ्यां वा । आनुक एवायं विकल्पाः उपाध्यायी । उपाध्यायानी । मातुली । मातुलानी ।
"आचार्यादिणाम्" [वा०] आचार्यानी । आचार्या । "आर्यक्षत्रियाभ्यामपुंयोगो वेति वक्तव्यम्" [वा०]

आर्याणी । आर्या । क्षत्रियाणी । क्षत्रिया । अपुंयोग इति किम् ? आर्यस्य भार्या आर्या । क्षत्रियस्य भार्या क्षत्रियो । आनुगति द्विमात्रोच्चारणमिष्टिसंग्रहार्थम् ।

क्रीतात्करणादेः ॥३१॥४३॥ क्रीतशब्दान्तान्मृदः करणादेः क्षियां ङीत्यो भवति । वक्ष्येण क्रीयते या वक्षक्रीती । वसनक्रीती । “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२३] इत्यत्र बहुलवचनान्मृदम् । “विधाङ्गाङ्गानां कृद्भिः सविधिः प्राक्सुबुत्पत्तेः” [परि०] इति करणवाचिशब्दस्य क्रीतशब्देन सविधिः । पश्चादकारान्तलक्षणे ङीविधिः । करणादेरिति किम् ? सुक्रीता । दुष्क्रीता । “इदुबुङोऽयपुस्सुबुत्पत्तेः” [१।३।२८] इति सत्वपत्वे । कथं “सा हि सस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी” बहुलवचनान् । सुवन्तेन वृत्तिर्न कृदन्तेन । सुबुत्पत्तिश्च बहिरङ्गा अन्तरङ्गे टापि कृते भवतीति सिद्धम् । क्रीतान्तान्मृद इति विशेषणात् वाक्ये न भवति, वत्येन (वित्तेन) क्रीता ।

क्तादल्पे ॥३१॥४४॥ करणादेरिति वर्तते । करणादेर्मृदः क्तान्तादल्पे ङीत्यो भवति । अत्रापि प्राक् सुबुत्पत्तेः सविधिः । अत्राविलिप्ती यौः । अल्पान्यस्यामभ्राणीत्यर्थः । रुषविलिप्ती पात्री । अल्प इति किम् ? चन्दनानुलिप्ता ।

जातेर्वात् ॥३१॥४५॥ क्तादिति वर्तते । जातिशब्दपूर्वः क्तान्तो यो वसस्तस्मान्ङीत्यो भवति । अस्वाङ्गादेरुत्तरत्र विकल्पो वक्ष्यते । स्वाङ्गे पूर्वपदमिहोदाहरणम् । शङ्खौ भिजौ यस्याः सा शङ्खभिनी । उक्षिक्छली । गलकोत्कृती । केशलूनी । जातेरिति किम् ? मासजाता । बहुजाता । अजाता । सुखजाता । दुःखजाता । नादिति किम् ? सव्यजानुप्रतिष्ठिता । “जातान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] दन्तजाता । स्तनजाता । “पाणिगृहीत्याङ्गीर्णां सुवर्णुजालेन ही क्लृप्त्यः” [वा०] पाणिगृहीती भार्या । यस्यास्तु यथाकथञ्चित् पाणिगृहीतः सा पाणिगृहीता । त इति दत्तोक्तं (त इत्यत्रोक्तं) जातिक्तालसुखादिभ्यः परनिपातस्तान्तस्यैत जातिरत्र सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या ।

वाऽस्वाङ्गादेः ॥३१॥४६॥ क्तादिति वर्तते । नादिति च । अस्वाङ्गादेः क्तान्तादसाद् वा ङीत्यो भवति । सारङ्गं जग्धमनया सारङ्गजग्धी । सारङ्गजग्धा । पलायडुभक्षिती । पलायडुभक्षिता । सुरापीती । सुरापीता । अस्वाङ्गादेरिति किम् ? शङ्खभिनी । स्वाङ्गादेः पूर्वेण नित्यो विधिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेह न भवति । वक्षं छुन्नमस्याः वक्षच्छुजा । वसनच्छुजा । षतेऽपि संज्ञायां विकल्पः । प्रवद्धविलुनी । प्रवद्धविलुना ।

स्वाङ्गशोचोऽस्फोटः ॥३१॥४७॥ वेति वर्तते । स्वाङ्गं न्यङ् अस्फोट् यद् तदन्तान्मृदो वा ङीत्यो भवति । दीर्घकेशी । दीर्घकेशा । गौरमुखी । गौरमुखा । स्वाङ्गादिति किम् ? बहुयवा । अस्फोट इति किम् ? कल्याणगुल्फा । कल्याणपार्श्वौ । वेति व्यवस्थितविभाषा व्याख्याता । तेन ‘अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वा प्रतिषेधः’ [वा०] मृदङ्गी । मृदङ्गा । मृदुगात्री । मृदुगात्रा । स्निग्धकण्ठी । स्निग्धकण्ठा । वसाधिकारे पुनर्न्यगप्र- हणं धार्थम् । अतिकेशी । अतिकेशा । निष्केशी । निष्केशा माला । इह कस्मान्न भवति ? कल्याणं पाणिपा- दमस्याः कल्याणपाणिपादा । स्वाङ्गसमुदायः स्वाङ्गग्रहणेन न गृह्यते । किं स्वाङ्गम् ? “अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् । अतस्थं तत्र दृष्टं चेत् तस्य चेत् तत् तथायुतम् ।” स्वाङ्गं मुखादि । अद्रवमिति किम् ? बहुकफा । मूर्तिमदिति किम् ? बहुशान्ता । प्राणिस्थमिति किम् ? श्लक्ष्णमुखा शाला । अविकारजमिति किम् ? बहुशोफा । अतस्थं तत्र दृष्टं च प्राक् प्राणिनि दृष्टं संप्रत्यप्राणिस्थमपि स्वाङ्गम् । दीर्घकेशी । दीर्घकेशा रघ्या । तस्य चेत् तत् तथायुतम् येन प्रक्षरेण प्राणिनो युतं दृष्टं तस्याप्राणिनोऽपि यदि तत्तथायुतं दृश्यते एवमपि स्वाङ्गम् । दीर्घमुखी दीर्घमुखा अर्चा ।

नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णभृङ्गात् ॥३॥१४८॥ स्वाङ्गाजीच इति वर्तते वेति च । नासिका-
दयो ये न्यञ्चस्तदन्तान्मृदो वा ङीत्यो भवति । दीर्घनासिकी । दीर्घनासिका । तनूदरी । तनूदरा । विम्बोष्ठी ।
विम्बोष्ठा । “ओष्ठोष्ठयोर्वा से पररूपमुपसंख्यास्यते” [वा०] समजङ्गी । समजङ्गा । समदन्ती । समदन्ता ।
चारुकर्णी । चारुकर्णा । तीक्ष्णशृङ्गी । तीक्ष्णशृङ्गा । नासिकोदरयोः ‘बद्धचः’ [३॥१४९] इत्यनन्तरे
प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम् । सहनञ्चविद्यमानलक्षणस्तु प्रतिषेधो भवत्येव । शेषाणामस्कोष्ठ इति पूर्वस्मिन् प्रतिषेधे
प्राप्ते उपादानम् । सहादिप्रतिषेधस्तु भवत्येव । ‘पुच्छाञ्चेति वक्तव्यम्’ [वा०] दीर्घपुच्छी । दीर्घपुच्छा ।
‘कषरमणिशरविषेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम्’ [वा०] कषरं पुच्छमस्याः कषरपुच्छी । मणिः पुच्छेऽस्याः
मणिपुच्छी । विषं पुच्छेऽस्याः विषपुच्छो । ‘ईद्विशेषणे वे’ [१३॥१०१] इत्यत्र खङ्गादिभ्यः ईद्वन्तस्य
परवचनमुक्तम् । ‘उपमानात् पञ्चपुच्छाभ्यामिति वक्तव्यम्’ [वा०] उलूक इव पञ्चावस्याः उलूकपञ्चौ शाला ।
उलूक इव पुच्छमस्या उलूकपुच्छी सेना ।

न कोडादिबद्धचः ॥३॥१४९॥ कोडादिर्गणः । कोडाद्यन्तात् बद्धजन्ताच्च मृदो ङीत्यो न भवति ।
“स्वाङ्गाजीचः” [३॥१४७] इति प्राप्तिः । कोडाशब्दः क्लोषिजः । कल्याणी कोडा अस्याः कल्याणकोडा ।
कल्याणगोत्रा । कल्याणशाला । कल्याणखुरा । कल्याणशका । कल्याणगुदा । कोडादिराकृतिगणः । सुमगा ।
सुगता । बद्धचः खल्वपि । पृथुजघना । दृढहृदया । महाललाटा ।

सहनञ्चविद्यमानात् ॥३॥१५०॥ सह नञ् विद्यमान इत्येतेभ्य उत्तरं यस्वाङ्गं तदन्तात्
ङीत्यो न भवति । सकेशा । अकेशा । विद्यमानकेशा । सनासिका । अनासिका । विद्यमाननासिका । सुदन्ता ।
अदन्ता । विद्यमानदन्ता ।

नखमुखास्त्री ॥३॥१५१॥ नख मुख इत्येवमन्तान्मृदः खुविषये ङीत्यो न भवति । शर्पशला ।
व्याघ्रशला । वज्रशला । “पूर्वपदात् सावगाः” [१॥४८०] इति शत्वम् । गौरमुखा । शलच्छमुखा ।
कालमुखा । संज्ञाशब्दा षटे । साविति किम् ? शर्पमिव नखा अस्या शर्पशली । शर्पशला ।
चन्द्रमुखा । चन्द्रमुखा ।

सख्यशिश्वी ॥३॥१५२॥ सखी अशिश्वी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । ङीविधिर्निपात्यते । सखीयं
कुमारी । नास्याः शिशुरस्ति अशिश्वी ।

जातिरयोकः ॥३॥१५३॥ अत इति वर्तते । जातिवाचिनः अयकारोऽङो मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति ।
“आकृतिग्रहणा जातिलिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्माह्या गोत्रं च चरणैः सह ।” आकृतिः
संस्थानम् । आकृतिग्रहणमस्याः आकृतिग्रहणा । ब्राह्मणत्वादीनां जातिविशेषाणां संस्थानविशेषाभावात् कथं
संग्रहः ? लिङ्गानां च न सर्वभाक् । एकलिङ्गो द्विलिङ्गो वा भावो जातिः । ब्राह्मणत्वादिषु केवलमुपदेशमात्रं
जातिव्यवहारस्य निर्बन्धनम् । जात्यभावेऽपि द्विलिङ्गतास्ति देवदत्तः देवदत्ता इति । अथ कथं त्रिलिङ्गेषु तदस्तदी
तदमित्येवमादिषु जातिवाचित्वम् ? सकृदाख्यातनिर्माह्या । अभिधानप्रत्यययोरनाकस्मिकत्वात्तन्निमित्तं जातिरि-
ति । एवं सकृदाख्याता निश्चयेन ग्राह्या । ननु सर्वे शब्दा जातिवाचिनः इत्यस्मिन् दर्शने यदञ्छाशब्दानां
क्रियागुणशब्दानां च जातिशब्दत्वं देवदत्तादयोऽपि संज्ञाशब्दा काल्यकौमारयोवनार्दिष्वन्वाधिनोमाकृतिमवल-
म्बन्ते । एवं च देवदत्ता कारणा शुक्लत्वत्र ङीवेधिः प्रसज्येत । यदीदं दर्शनमाश्रीयेत व्यावर्त्य नास्तीति
ग्रहणमनर्थकं स्यात् । तस्माद्येषां जातिरेव प्रवृत्तिर्निमित्तं त इह जातिशब्दाः । गोत्रं च लौकिकमपत्यमात्रं

जातिः । नाशकृतिः प्रतीयते नापि किञ्चिद्विज्ञमस्ति येन सकृदाख्यायेत । लिङ्गानां च न सर्वभागित्यस्मिन् दर्शने
गोत्रं चेति न वक्तव्यम् । चरणैः सहेति चरणमध्यवनदशात् क्रिया तदात्मकं जातिः । कुक्कुटी । ब्राह्मणी ।
तथै । नादायनी । बह्वची । कठी । कठेन प्रोक्तमधीते या “शौनकादिभ्यश्चन्द्रसि धिन्” [३।१।५७] इति
णिन् । परस्याणः “वप्प्रोक्तात्” [३।१।५७] इत्युप् । शौनकादिभ्येव । “कठचरकात्” इति इन ठप् ।
जातेरिति किम् ? सुयडा । अयोङ् इति किम् ? आर्या । छत्रिया ।

पाककर्णपर्यपुष्पफलमूलवालद्योः ॥३।१।५४॥ पाकादयो युभूता यस्य तस्माज्जातिवाचिनो मृदः
स्त्रियां ङीत्यो भवति । ओदनपाको । क्षणपाको । भूषिकर्णो । शङ्कुकर्णो । पृष्ठिपर्णो । शालिपर्णो ।
शङ्खपुष्पी । हिरण्यपुष्पी । दासीफली । पूगफली । दर्भमूली । शीर्यमूली । गोवाली । अश्ववाली ।
पुष्पफलमूलोत्तरपदाद्यतो ङीविधिर्नेष्यते तदजादिषु पठनीयम् । पूर्वेषु सिद्धे नियमार्थमेतत् । स्त्रियामेव ये
जातिवाचिनः शब्दास्तेषु प्रत्येभ्य एव ङीविधिर्नान्यस्मात् । बलाका । मक्षिका ।

इतो मनुष्यजातेः ॥३।१।५५॥ इकारान्तान्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । कुन्ती ।
अवन्ती । अपत्यार्थं “द्वित्कुरनाद्यजादकौशकाञ्च्यः” [३।१।५३] इति ज्यः । तस्य “कुन्त्यवन्तिकुरभ्यः
स्त्रियाम्” [३।१।५४] इत्युप् । एवं दाक्षी । जाक्षी । इत इति किम् ? विट् । दस्त । यथःसंख्यमजस्योः
“अतोऽप्राच्यभगादिः” [३।१।५२] इत्युप् । मनुष्यग्रहणं किम् ? तित्तिरिः । जातेरिति वर्तमाने पुनर्जातिग्रहणं
योङोऽपि यथा स्यात् । औदमेयी । “अयोङ्” [३।१।५३] इति प्रतिषेधः उत्तरत्र त्रिसूत्र्यां च वर्तते ।
“इण उपसंख्यममजात्यर्थं कर्तव्यम्” [वा०] सुतङ्गमेन निवृत्ता नगरी सौतङ्गमी । “वृञ्चक्के”
[३।१।६०] इत्यादिना सुतङ्गमादिभ्य इञ् ।

ऊरुतः ॥३।१।५६॥ मनुष्यजातेरिति वर्तते । उकारान्तान्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रियां ऊकार-
स्त्यो भवति । कुरुः । इक्ष्वाकुः । पर्शुः । अस्य “कुन्त्यवन्तिकुरभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।५४] इति अजस्योः
“अतोऽप्राच्यभगादिः” [३।१।५२] इत्युप् । द्विमात्रोच्चारणं “शेषाद्वा” [३।२।३४] इति परस्यापि कपो
वाचनार्थम् । तथाहि ब्रह्मा बन्धुर्यस्याः सा ब्रह्मबन्धुः । वीरबन्धुः । अत्र च समुदायो ब्राह्मणविशेषजातिः ।
यद्भावेन मृदमृदोरेकादेशो मृद्वद्भवतीति मृत्सजायां स्वाद्युत्पत्तिः । मनुष्यजातेरित्येव । रुहः । कुक्ष्वाकुः ।
आलुः । अयोङ् इत्येव । अघ्ययुः स्त्री । अलाबुः । कर्कन्धूरित्येवमादय औण्यादिकाः । कथं अलाबुर्कन्धूद-
न्धुकलमिति ? “इकः प्रोऽङ्गाः” [३।१।७२] इति प्रादेशेन सिद्धम् ।

पङ्कोः ॥३।१।५७॥ पङ्कशब्दात् स्त्रियामूल्यो भवति । पङ्गूः । अशुरशब्दस्योकाराकारयोः समूहस्य ल्यो
वक्तव्यः । श्वभूः ।

ऊरुघोरिवे ॥३।१।५८॥ ऊरुशब्दो घुर्यस्य तस्मान्मृद इवार्थे गम्ये स्त्रियामूल्यो भवति । कर्मोरुः ।
कदलीसौम्योरुः । नागनासोरुः । इव इति किम् ? वृत्तोरुः कन्या ।

संहितशफलक्षणवामादेः ॥३।१।५९॥ संहितायादेर्मृदः ऊरुयोः स्त्रियामूल्यो भवति । अनिवार्यो-
ऽयमारम्भः । संहितोरुः । शफोरुः । लक्षणोरुः । वामोरुः । “संहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्” [वा०]
संहितोरुः । सहोरुः ।

बाहुन्तकद्रकमण्डलुभ्यः ॥३।१।६०॥ बाहुशब्दान्तान्मृदः कद्रकमण्डलुशब्दाभ्यां खुविषये ऊर्यो
भवति । मद्रबाहुः । मद्रवाहुः । कद्रुः । कमण्डलुः । कासाञ्चिदेताः संज्ञाः । खाविति किम् ? वृत्तौ बाहु अस्याः
वृत्तबाहुः । कद्रुः । कमण्डलुः ।

वृत्तः ॥३१॥६१॥ अधिकारेणोयं संज्ञा । यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिध्याम आकपो ह्रस्वसंज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति । “यूनस्तिः” [३१॥६२] युवतिः । “वृद्धस्तिः” [३१॥६३] इति मृत्संज्ञाया स्वाधुत्यतिः । बहुत्वनिर्देशोऽनुक्तपरिग्रहार्थः । मध्यान्म उक्तोऽन्वतोऽपि भवति । अन्तमः । आदिमः । धर्माद्विहितः । अधर्मादपि । आधर्मिकः । वृत्तामिह बहुत्वेन निर्देशे किं प्रयोजनम् ? अनुक्ताच्च ह्रस्वस्तिर्यथा स्यादन्तमादिषु । तथा अनुक्ता अपि वृत्तो भवन्ति “अग्रपरचाङ्गिमः” [पा०] इत्येवमादयः ।

यूनस्तिः ॥३१॥६२॥ युवतिवेतस्नातितर्भवति स्त्रियाम् । युवतिः । यूनः स्त्रीवेवज्ञायां कुत्साद्यर्थ-विवक्षायां च परत्वात् कादयः प्राप्नुवन्ति तस्माद्यून इति योगविभागः । यूनो ह्रस्वसङ्गे लीत्य एव भवति ततः कादयः । युवतिकाः ।

उद्योऽनु रूपान्त्ययोर्वृद्धेऽनार्थेऽणिवोः ॥३१॥६३॥ स्त्रियामिति वर्तते । अणिवो यो वृद्धेऽनार्थे विहितावच्छु रूपान्त्यौ तदन्तस्य मृदः प्य इत्ययमादेशो भवति । निर्देश्यमानयोरणिवोरेव व्यादेशः । “पौत्रादि वृद्धम्” [३१॥६४] इति अपत्यविशेषस्य वृद्धसंज्ञा । ऋषेदिदमार्थं तद्वहिते वृद्ध इति । “स्के रुः” [३१॥६५] “वोः” [३१॥६६] इति अर्चा रुसंज्ञोक्ता । रुः उपात्त्यं सन्निहितं ययोरणिवोस्तयोः व्यादेशः । षकारः “वे प्यस्य पुत्रयस्योर्जिः” [३१॥६७] इत्यत्र विशेषणार्थः । करीषस्येव गन्धोऽस्य करीषगन्धिः । “उपमानात्” [३१॥६८] इति वा इकारः सान्तः । करीषगन्धेरपत्यं स्त्री करीषगन्ध्या । कौमुदगन्ध्या । वराहस्यापत्यं स्त्री वाराह्या । बालादया । बालिलक्ष्यस्य “अयोः” [३१॥६९] इति प्रतिषेधः । अनल्लिखाविति दृष्टानिवन्नावप्रतिषेधादणिलक्षणाऽपि लीत्यो न भवति । ततः ध्यान्तादृष्टम् । अद्विवति हलामविवक्षार्थमर्चो निर्दोषां क्रियतेऽनु रूपान्त्ययोरिति । अन्यथा येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपीति एकेन वर्णेन व्यवधाने वाराह्यादिषु स्यात् । वर्णसङ्घाते व्यवधाने करीषगन्ध्यादिषु न स्यात् । अद्विवति बहुत्वनिर्देशः प्रधानभूते यत्राचां बहुत्वमस्ति तत्रादेशः । तेनेह न भवति । दाक्षी । प्लात्री । रूपान्त्ययोरिति किम् ? औपगवी । वृद्ध इति किम् ? अहिच्छत्रे जाता अहिच्छत्री । अनार्थ इति किम् ? वाशिष्ठी । वैश्वामित्री । अणिवोरिति किम् ? आर्तभागी । अतभागद्विदादिलक्षणाऽम् । इह उद्धलोभोऽपत्यं स्त्री औद्धलोभ्या । बाह्यादित्वादित् दित्ते कृते रूपान्त्यत्वं ततः व्यादेश इति आनुपूर्वम्^१ ।

गोत्राययवात् ॥३१॥६४॥ अणिवोरिति वर्तते । गोत्रमिति पूर्वाचार्याणां वृद्धस्य संज्ञा । गोत्राययवाः गोत्राभिमतः कुलाख्याः । गोत्राययवाचिनो मृदः वृद्धे विहितयोरणिवोः स्त्रियां ष्यो भवति । अरूपा-न्त्यार्थोऽयमारम्भः । पुंणिकस्यापत्यं स्त्री पौणिक्या । मुणिकस्य मौणिक्या । मुखरस्य मोखर्या । यत्रानन्तरा-पत्येऽपि ष्यो दृश्यते कौल्यादिषु तत्प्रठनीयम् । यथा अन्तकाम्या देवदत्ता ।

कौल्यादेः ॥३१॥६५॥ कौलीत्येवमादिभ्यश्च स्त्रियां ष्यो भवति यथासम्भवं कौटपोः प्राप्तयोः कचि-दनन्तरापत्यार्थः । कचिदवच्छब्धार्थः । कचिदरूपात्त्वार्थः आरम्भः । कचिदणिवोरसन्तोरेपि । त्य एवायं ष्य इष्यते । कौलि । कौल्या । “वृत्तो मनुष्यजातेः” [३१॥६६] इति कौषिचिः प्राप्तः । कौलि लादि व्यादि आपिशलि आपदिति एते इजन्ताः । चौपयत चैटयत सैकयत एते तकारान्ता अणन्ताः । सौवातकिरिजन्तः । “सूतशब्दाद्युधत्वा ष्यः” [ग० सू०] सूत्या । सूता अन्यत्र । “भोजात् क्षत्रियजातौ” [ग० सू०] भोज्या । भोज्या अन्या । भौरिकि शालात्थलि कापिष्ठलि एते इजन्ताः । गौक्या । यवन्तोच्चारणं कित्तिनिवृत्त्यर्थम् । गौक्यापुत्रः ।

दैवयज्ञिशौचवृत्तिसास्यभुमिकाण्डेविद्धिभ्यो वा ॥३११६६॥ दैवयज्ञि शौचवृत्ति सास्यभुमि
काण्डेविद्धि इत्येतेभ्यः वा ष्यो भवति । उभयत्र विभाषेयम् । वृद्धे प्राप्तेऽनन्तरापत्ये चाप्राप्ते । दैवयज्ञ्या ।
दैवयज्ञी । शौचवृत्त्या । शौचवृत्ती । सास्यभुम्या । सास्यभुमी । काण्डेविद्ध्या । काण्डेविद्धी । अनन्तरापत्ये
“इष्ट उपसर्गस्यानमज्जात्यर्थम्” [वा०] इति छी । वृद्धापत्ये “इतो मनुष्यजातेः” [३११६६] इति ।

समर्थात्प्रथमाद्वा ॥३११६७॥ समर्थादिति प्रथमादिति वेति च पदत्रितयमधिकृतं वेदितव्यम् ।
“किं बहु खर्वनाम्नोऽद्वयादेः” [३११६८] इत्यतः प्रा . वक्ष्यति “तस्यापत्यम्” [३११७०] उपगोरपत्यं
श्रौपगवः । तस्येत्येतत् तान्तं सूत्रे प्रथमं सन्निविष्टम् तस्मादपत्याभिधाने त्यः । समर्थादित्युच्यते सामर्थ्यं च
सुबन्तस्येति सुबन्तात्योत्पत्तिः । द्ववर्णादिति विशेषणार्थं तु ङ्याभ्युद्गमदृष्टमधिक्रियते । वृद्धस्य उपगोरपत्य-
मिति वाक्यस्यासुबन्तत्वात् वाक्यावयवस्य चासामर्थ्यात् त्यानुत्पत्तिः । समर्थादिति किम् ? कम्बल उपगोरपत्यं
दैवदत्तस्य । वधेवं समर्थः पदविधिरिति समर्थादेव भविष्यति किमनेन ? कृतवर्णानुपूर्वकात् पदात् त्यो यथा
स्यादित्येवमर्थम् । सुस्थितस्यापत्यं सौत्थितिः । वैदमाणिरिति । “नेन्द्रस्य” [३१२१०] इत्यत्र वक्ष्यति समु-
दायकार्वं तावद्भवति पञ्चादेकादेशः । एवं वा (चा) संहितात्योत्पत्तौ निष्ठं रूपं स्यात् । प्रथमादिति किम् ?
तान्ताद्यथा स्यादपत्यशब्दश्च भूत् । वाग्रहणं किम् ? उपगोरपत्यमिति वाक्यमपि साधु यथा स्यात् । अनन्त-
राद्वाग्रहणात् सविधिरपि । उपग्वपत्यम् ।

प्राग्द्रोरण् ॥३११६८॥ “द्रोः” [३११११] “माने वयः” [३१३१२०] इति वक्ष्यति । प्रागे-
तस्मात्तेऽर्था वक्ष्यन्ते तेष्वण भवतीति वेदितव्यम् । अधिकृतो विधिर्वाऽयम् । अधिकारपक्षे “पीकान्वा वा”
[३१११००], “वोदश्वितः” [३१२१४] इत्येवमादौ वाचचनादपवादविषये नास्ति वृत्तिः । विधिपक्षेऽपि “परि-
हृत्वापवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिधिविशते । वक्ष्यति तस्यापत्यम् श्रौपगवः । कापटवः । अपवादेन बाधितोऽप्युत्तर-
वानुवर्ततामिति प्राग्वचनम् ।

अश्वपत्यादेः ॥३११६९॥ अश्वपति इत्येवमादिभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः अण् भवति प्राग् द्रोर-
शेषु । “पतिव्योः” [३११७०] इति एवो वक्ष्यते । तस्यायमपवादः । अश्वपतेरपत्यं आश्वपतः । अश्व-
पति गणपति वनपति गजपति राधूपति कुलपति पशुपति धान्यपति बन्धुपति सभापति प्राश्वपति क्षेत्रपति
येऽत्र कुतश्चास्तेभ्यो “द्वोरङ्गः” [३१२१०] इति ङ्ङ् बाधित्वा पूर्वनिर्णयेनायमेवाण् ।

दित्यदित्यादित्यपत्तिद्योर्ण्यः ॥३११७०॥ प्राग् द्रोरिति वर्तते । दिति अदिति आदित्य पत्तियु
इत्येतेभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः प्राग् द्रोरशेषु एवो भवति । अण्डोऽपवादः । दितेरपत्यं दैत्यः । “इवचः”, “इवो-
निजः” [३११११०, १११] इतीमं द्वयं पूर्वनिर्णयेनायं बाधते । सर्वतो “अकथ्यार्थाद्” [३११११ ग० सू०]
इति छीविधौ कृते परत्वाद्गुण् च भवति । दैतयः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषा वा नित्या अदितेरपत्यं आदित्यः । आदि-
त्यस्यापत्यमादित्यः । प्राकृतेस्य यकारस्य “क्यच्चाणावृष्ट्याःपत्यस्य” [३१११४१] इति “इको यमी यमि
खम्” [३१४१३८] इति वा खम् । पतिव्योः खल्वपि । बार्हस्पत्यः । सैनापत्यः । प्राजापत्यः । एयादयोऽ-
यंविशेषलक्षणादण (णोऽ) पवादात् पूर्वनिर्णयेन (इति) एव एव भवति । वनस्पतीनां समूहः वानस्पत्यम् ।
“यमाञ्चेति अकथ्यम्” [वा०] यमस्यापत्यं याम्यः । “पृथिव्या जन्मौ” [वा०] । पार्थिवः । पार्थिवौ ।
“देवस्य यजत्रौ” [वा०] । दैवम् । दैवम् । “बहिषष्टिर्लं यजत्रौ” [वा०] । बाह्यम् । “ईकण् ष” [वा०]
बाहीकः । भेर्ममात्रदिक्कमनित्यमारातीय इत्यादौ । स्थान्नोऽकारः । अश्वत्थान्नोऽपत्यम् अश्वत्थामः । “कोम्न-
श्चापत्येषु बहुषु” [वा०] उड्डलोमाः । शरलोमाः । बहुष्विति किम् ? औड्डलोमिः । शारलोमिः । “सर्वत्र
गोस्त्रादिप्रसङ्गे यः” [वा०] गव्यः । अत्रादिप्रसङ्ग इति किम् ? गोरूपम् । गोमयम् ।

१. अकथ्य चापवादविषयं “इति परिभाषेन्दुशेखरे । २. बन्धुपति अ०, ब०, छ० ।

उत्सादेरञ् ॥३॥१७१॥ प्राग्द्वोरिति वर्तते । उत्स इत्येवमादिभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः प्राग्द्वोरर्थेष्वञ् भवति । अस्यास्तदपवादानां च बाधकः । अत्रि सति “यजजोः” [१॥४॥१३२] इति बहुत्वे उन्भवति । उत्स-स्यापत्यं औत्सः । उदपानस्यापत्यमौदपानः । उत्स उदपान विकर विनद महानद महानस महाप्राण तरण तलुन । ध्वज्यशब्दादसे । असमास इत्यर्थः । घेनु पङ्क्तिं जगतीं त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर पीलु-कुण । उदस्थानशब्दाद्देशे । पृषदंश मङ्गकीय रथन्तर मध्यन्दिन बृहत् महत् । सत्त्वतशब्दो सत्त्वन्तुशब्दो मत्त्वन्तः आगतनुष्टुको गृह्यते । कुक्षपञ्चाज इन्द्रावधान उध्याह् ककुम् सुवर्ण । ग्रीष्मादच्छन्दसीति वक्तव्यम् । छन्दश्चेह वृत्तजातिः । तरुणशब्दस्य लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम् । तद्वया अपत्यं तारुणः । एयादयोऽर्थविशेषलक्षणादण- (योऽ)पवादात् पूर्वनिर्णयेन भवन्तीति ।

स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात् ॥३॥१७२॥ वक्ष्यति “ब्रह्मजस्त्वः” [१॥४॥१२६] एतस्मात्त्वसंशब्दनात् प्राग्योऽर्थो वक्ष्यते तेषु स्त्रीशब्दात् पुंशब्दाच्च अञ् भवति तुगागमः । स्त्रीषु भवं स्त्रीणां समूहः स्त्रीभ्यः आगतम् स्त्रीभ्यो हितं स्त्रीणां भावो वा स्वैरणम् । एवं पौंसम् । “जोऽपुंसो हति” [४॥४॥१३०] इति प्रतिपेधात् पुंसिष्ठत्वं न भवति । स्त्रीशब्दस्य तु नुवचनसामर्थ्यात् । स्वैर्याः पौंस्ना इत्यत्र “यजजोः” [१॥४॥१३५] इत्युप् प्राप्नोति । इह च स्वैर्यानां संघ इति “संघाज्जलक्ष्य” [१॥३॥१३५] इत्युप् प्राप्नोति चेत् नैती दोषो । अपत्याधिकारात् प्रागूर्ध्वं च वृद्धग्रहणेषु लौकिकगोत्रग्रहणमिति वक्ष्यते । न च स्वैर्यां पौंसमिति वा लौकिकं गोत्रं तस्मादुपगौ न भवतः । “पुंष्यज्जातीयवेणीये” [४॥३॥१२४] इति वचनं योगापेक्षं आपकम् । चतोऽर्थे नायं विधिरिति । स्त्रीवत् । पुंश्वत् ।

वृद्धेऽप्यनुप् ॥३॥१७३॥ प्राग्द्वोरिति वर्तते । “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [१॥४॥१३४] इत्यत्र प्रकरणे वृद्धे यस्य त्यस्य उबुद्धः तस्यानुभवति प्राग्द्वीयेऽजादावुत्पत्त्यमाने । गर्गाणां छात्राः गार्गायाः । “यजजोः” [१॥४॥१३२] इति बहुत्वे उप् प्रातः । ईयविषये प्रतिषिध्यते । “यस्य क्त्वा च” [४॥४॥१२६] इत्यत्रम् “क्यप्यभाद्दृष्ट्यापत्यस्य” [४॥४॥१४१] इति यत्तम् । त्याश्रयलक्षणे ऐवभवति । यास्कीयाः । शिवादिलक्षणा-स्याणः “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [१॥४॥१३४] इत्युप् प्रातः । आत्रेयीयाः । “द्वयचः” [३॥१॥११०] “इतोऽ-निजः” [३॥१॥१११] इति दृग् तस्य “भृग्वन्निक्कुञ्जवृद्धिगोत्रमाङ्गिरोभ्यः” [१॥४॥१३५] इत्युप् प्रातः । खारपायणीयाः । “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [१॥४॥१३४] इत्यनेन नडादिफण उप् प्रातः । वृद्ध इति किम् ? कुवलस्येदं कौवलम् । बादरम् । अवयवार्थे आगतस्याणः “उप्फले” [३॥३॥१२१] इति उभेव भवति । अचीति किम् ? गर्गेभ्यः गर्गैरुप्यम् । गर्गमयम् । प्राग्द्वोरित्येव गर्गेभ्यो हितं गार्गीयम् । वृद्धाद्वृद्धतात् एकस्मिन् यूनि द्वयोर्वा यूनोर्यत्थः तस्मिन्नष्टेऽप्यनुभवति । विदानामपत्यं युवा वैदः । वैदौ । अजन्तादत इञ् । तस्य “जिण्यराज्जार्वाण्युवणिजोः” [१॥४॥१३०] इत्युप् । “त्यस्ते त्याश्रयम्” [१॥१॥१३३] इत्यन्तदित्त्व-मस्ति । वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयमिति न मन्तव्यम् । अचीति विषयनिर्देशः । एकद्वयन्ताच्च वृद्धात् युवबहुत्व-विवक्षायां उपच वक्तव्यः । वैदस्य वैदयोरपत्यानि युवानः विदाः ।

रस्योद्यनपत्ये ॥३॥१७४॥ प्राग्द्वोरिति वर्तते । रस्य निमित्तत्वेन संबन्धी यो हत् अपत्यवर्जिते प्राग्द्वोरर्थे विहितस्तस्योभवति । पञ्चसु गुरुषु भवः पञ्चगुरुर्नमस्कारः । दशसु धर्मेषु भवः दशधर्मः । द्वावनुयोगावचीते द्वयनुयोगः । त्र्यनुयोगः । हृदये षतः । संख्यादीरसंज्ञः । भवार्थे आगतस्याण उप् । रस्येति निमित्तविशेषणं किम् ? उवन्ताद्यो हत् तस्योभ्या भूत् । पञ्चगुरोर्नमस्कारस्येदं पाञ्चगुरवम् । यदि रस्य निमित्तं यो हत् तस्योप्

इह तर्हि न प्राप्नोति पञ्चानां कपालानां समाहारः पञ्चकपाली । पञ्चकपाल्यां संस्कृतः पञ्चकपालः । नैष दोषः । अव्यविकन्यायेन पञ्चःपालशब्दात् त्योत्यतिः । यथा अवेर्मासं आविकमिति अविकशब्दादेव त्यो नाविकशब्दात् । अनपत्य इति किम् ? द्वयोर्देवदत्तयोरेपत्यं द्वैदेवदत्तिः । अजग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न भवति । पञ्चम्यो गर्गेभ्य आगतं पञ्चगर्गस्यम् । प्राग्द्रोरित्येव । द्वाभ्यामक्षाभ्यां दीव्यति द्वैयक्षिकः । त्रैयक्षिकः ।

यूनि ॥३१॥७५॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते अर्चीति च । यूनि यस्यस्तस्योन् भवति प्राग्द्रवीयेऽबादौ त्य उत्पत्त्यमाने । फण्टादृतस्यापत्यं फण्टादृतिः । तस्यापत्यं युवा “फण्टादृतेषां” [३१११३८] इति णः । फण्टादृतः । तस्य यूनश्छात्रा बुद्धिस्थ एवानुत्पन्नेऽबादौ त्वे रास्योपि कृते इजन्तमिदं जातम् । “इजः” [३१११८८] इत्यण् भवति । फण्टादृताः । भागवित्तस्यापत्यं भागवित्तिः । तस्यापत्यं युवा “दोष्ट्यं सौबीरेषु प्रायः” [३१११३६] इति ठण् । भागवित्तिकः । तस्य यूनश्छात्राः ठण् उपि कृते “इजः” [३१२१८८] इत्यण् । भागवित्ताः । तिकस्यापत्यं तैकायनिः । तस्यापत्यं युवा “फेरुः” [३१११३०] इति छः । तैकायनीयः । तस्य यूनश्छात्राः छस्योपि कृते “दोरुः” [३१२१३०] इति छः । तैकायनीयाः । ग्लुचुकस्यापत्यं “फिरदोः” [३१११३७] इति फिः । ग्लुचुकायनिः । तस्यापत्यं युवा “प्राग्द्रोर्य” [३१११३८] ग्लौचुकायनः । तस्य यूनश्छात्रा अण् उपि तस्येदमित्यण् । ग्लौचुकायनाः । कापिञ्जलादस्यापत्यं कापिञ्जलादिः तस्यापत्यं युवा “कुवादेर्भ्यः” [३१११३९] इति ण्यः । कापिञ्जलाद्यः । तस्य यूनश्छात्रा एयस्योपि कृते “इजः” [३१२१८८] इत्यण् कापिञ्जलादाः । अर्चीत्येव । फण्टादृतस्यम् । फण्टादृतमयम् । प्राग्द्रोरित्येव । भागवित्तिकाय हितं भागवित्तिकीयम् ।

फण्फिष्योर्षा ॥३१॥७६॥ यूनोति वर्तते । यूनि यौ फण्फिष्यौ तयोर्षा उन्भवति प्राग्द्रवीयेऽबादौ त्वे विवक्षिते । पूर्वेण नित्ये उपि प्राप्ते विभाषेयम् । गार्ग्यस्यापत्यं युवा “यजिजोः” [३१११३०] इति फण् । गार्ग्यायणः । तस्य यूनश्छात्राः गार्गीया गार्ग्या वा । फिजः खल्वपि । यस्कस्यापत्यं “शिवादिभ्योऽण्” [३१११०१] यास्कः । यास्कस्यापत्यं युवा “द्वयचोऽण्यः” [३१११३३] इति फिज् । यास्कायनिः । तस्य यूनश्छात्राः यास्कीयाः । यास्कायनीयाः ।

तस्यापत्यम् ॥३१॥७७॥ तस्येति तासमर्थात् अपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । हृदर्थनिर्देशे लिङ्गवचनादिकमविवक्षितमप्राधान्यात् । उपगोरपत्यं औपगवः । तान्तादण् । उक्तापत्यस्यापत्यशब्दस्य निवृत्तिः । “सुपो वुष्टदोः” [११७१३२] इति सुप् उप् । ऐप् । आश्वपतः । दैत्यः । सैनापत्यः । औत्तः । स्त्रैणः । पौत्तः । वृत्तौ स्वभावत एकार्योभाषः । प्रकृत्यर्थो विशेषणभूतोऽप्रधानम् । त्यार्थस्य सामान्येन प्रवृत्तस्य विशेषेऽवस्थापनात्त्यार्थः प्रधानम् । गुणप्रधानभावेन प्रकृतिस्त्यश्च त्यार्थं सह ब्रूत इति । ननु च तस्येदं विशेषणं (सामान्यम्) एते अपत्यं समूहो निवासो विकार इति । तस्येदमित्येव सिद्धं किमर्थमिदमुच्यते ? बाधकशब्दार्थम् । भानोरपत्यं भानवः । श्यामगवः । दुलक्ष्णश्छो बाधितः । “तस्यापत्यम्” “अदृबाद्धादेरिज्” [३१११८५] इत्येव वक्तव्ये इह करणं पूर्वोत्तरैश्च त्वैरभिधुंक्नो यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

पौत्रादि वृद्धम् ॥३१॥७८॥ पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । विदादिच्चादण् । प्रथमादिति वर्तमानमर्थवशात्तथा विपरिणम्यते । प्रथमस्य पौत्रादि यदपत्यं तत् वृद्धसंज्ञं भवति । संज्ञाविषयस्य प्रथमस्य गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः । “वृद्धे कुञ्जदिभ्यो ञ्कः” [३१११८०] इति वर्तमाने “गर्गादिभ्यो ञ्” [३१११६४] इति यन् । पौत्रादीति किम् ? गार्गिः । अनन्तरमपत्यं वृद्धं मा भूत् ।

एकः ॥३१॥७९॥ वृद्धमिति वर्तते । वृद्धेऽपत्ये विवक्षिते एक एव त्यो भवति । त्वस्याः स्वस्याः प्रकृतैरपत्यभेदविवक्षायामनेकं त्यं बुद्ध्या समुदायोक्त्य नियमः क्रियते । यदिदं गर्गादिपितृकमपत्यञ्चत वृद्धं

तस्मिन्नेक एव ल्यो भवति । स च परमप्रकृतेर्भवति । यदपि व्यवहितेन जनितमपत्यं तदपि परमप्रकृतेः सामान्येनापत्यं भवत्येव । यदपि सर्वेऽप्यपत्येन युज्यन्ते तथापि प्रथमादित्यनुवर्तनात् परमप्रकृतेरेव भविष्यति गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः । तत्सुतोऽपि गार्ग्यः । एवं व्यवहितेऽपि वृद्धापत्ये विवक्षिते गर्गशब्दाद् यथेव भवति । अथवा प्रकृतिनियमोऽयं वृद्धापत्ये विवक्षिते एक एव शब्दः प्रथमा प्रकृतिः त्यमुत्पादयति नान्येति प्रकृतिर्नियम्यते । एवं नष्टस्यापत्यं नाडायनः ।

ततो यूनि ॥३१॥८०॥ ततो वृद्धत्यान्ताद् यून्पत्ये विवक्षिते एक एव ल्यो भवति । गार्ग्यस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः । दाक्षायणः । औपगविः । नाडायनिः ।

जीवति तु वंश्ये युवाऽस्त्री ॥३१॥८१॥ वंशः पितृपितामहादिप्रबन्धः, तत्र भवो वंश्यः पित्रादिः । पौत्रादीति वर्तते । तच्चार्यवशात् तान्ते संवध्यते । पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादिकं तदंशे जीवति युवसंज्ञं भवति स्त्रियं अर्जयित्वा । गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः । दाक्षेर्दाक्षायणः । अस्त्रियामिति किम् ? गार्ग्यस्यापत्यं स्त्री गार्गी । दाक्षी । तु शब्दो वृद्धसंज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थम् । इह दोषः स्यात् । साक्षेरेपत्यं युवा “यजिजोः” [३१॥८०] इति कण् । पैलस्यापत्यं युवा “द्वयोऽणः” [३१॥८३] इति फिष् । तयोर्मुनि “पैलादेः” [३१॥८१] इत्युच् भवति । वृद्धसंज्ञासमावेशे तु “वृद्धेऽण्यनुप्” [३१॥८३] इति प्राप्द्रवीये अजादावनुप् प्रसज्येत । अस्तु “यूनि” [३१॥८३] इति भविष्यति । इह तर्हि दोषः । “कस्फिजोर्वा” [३१॥८६] इति लङिभाष्यते । उपपदेऽपि वृद्धसंज्ञासमावेशे “वृद्धेऽण्यनुप्” [३१॥८३] इति अनुपपत्त्यात् । अथासमावेशे कथं वृद्धलक्षणो युच् गार्ग्यायणानां समूहः गार्ग्यायणकम् । वक्ष्यति “वृद्धोक्षोष्ट्रो” [३१॥८४] आदिमुत्रे वृद्धग्रहणेनैव सिद्धे राजन्यमनुष्यग्रहणं आपकमपत्याधिकारादन्यत्र वृद्धग्रहणे लौकिकं गोत्रग्रहणम् । तेन वृद्धयूनोः समावेशः ।

भ्रातरि च ज्यायसि ॥३१॥८२॥ पौत्रादिरपत्यमिति वर्तते । भ्रातरि च ज्यायसि जीवति कनीयान् भ्राता युवसंज्ञो भवति । मृतेऽपि वंश्ये यथा स्यादित्यारम्भः । भ्राता वंश्यो न भवति साक्षात् परम्परया वा । अकारणत्वाद्गार्ग्यस्य द्वौ पुत्रौ ज्यायसि जीवति कनीयान् गार्ग्यायणः । एवं दाक्षायणः । ज्यायांस्तु भ्राता गार्ग्यो दाक्षिरिति ।

धान्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरस्तरे जीवति ॥३१॥८३॥ पौत्रादेरपत्यमिति वर्तते । येषां सप्तमः पुरुष एकस्ते सपिण्डाः परस्परम् । वसे यसे वा सपिण्डशब्दः । समानस्य सभाव इदं निपातितः । प्रकृते जीवतीति शत्रुत्वं स्थविरतरस्य विशेषणम् । इदं तु जीवतीति पदं तिङ्गन्तं संज्ञिनो विशेषणम् । भ्रातुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरस्तरे जीवति पौत्रादेरपत्यं यज्जीवति तदा युवसंज्ञं भवति । गार्ग्यायणो गार्ग्यः । दाक्षायणो दाक्षिः । अन्यग्रहणं किम् ? भ्रातरि इति वर्तते । तस्मिन्नेव सपिण्डे पितृद्वयपुत्रे जीवति स्यात् । सपिण्डग्रहणमसम्बन्धान्यसम्बन्धनिरासार्थम् । ज्यायसीति वर्तमाने स्थविरतरग्रहणं किम् ? स्थानवयोभ्यां ज्येष्ठे सपिण्डे यथा स्यात् भ्रातुव्ये वयोज्येष्ठे पितृव्यः कनीयान् युवसंज्ञो न भवति । जीवतीति किम् ? मृते गार्ग्य एव ।

पूजाकुत्सयोर्व्यत्ययः ॥३१॥८४॥ वेति वर्तते । परस्परविषयगमनं व्यत्ययः । वृद्धस्य युवसंज्ञा यूनश्च वृद्धसंज्ञेत्यर्थः । पूजायां कुत्सायां च गम्यमानायां वथासंख्यं वृद्धयूनोर्वा व्यत्ययो भवति । पूजायाम्-तत्रभवान् गार्ग्यायणः, तत्रभवान् गार्ग्यो वा । युवसंज्ञासामर्थ्यात् वृद्धत्यस्य युक्त्येन योगः । कुत्सायां गार्ग्यस्त्वं जाह्नव । गार्ग्यायणस्त्वं जाह्नव । वृद्धसंज्ञासामर्थ्यात् युवत्यस्य निवृत्तिः ।

अस्वाहादेरिच् ॥३१॥८५॥ तस्यापत्यमिति वर्तते । अकारान्तेभ्यो मृद्भ्यः नाहु इत्येवमादिभ्यश्च अनन्तरे वृद्धे युवसंज्ञके वाऽपत्ये इच् भवत्यणोऽपवादः । आकम्पनिः । दाक्षिः । औपगविः । अनकार-

न्तार्थं बाधकबाधनार्थं च बाह्यादिग्रहणम् । बाह्विः । औपवाकविः । बाहु उपवाकु निवाकु वसकु उपविन्दु
एभ्योऽण् प्रातः । बला “ब-यच्” [३।१।११०] इति टण् प्रातः । वृकला बलाका मूषिका मगला लगहा
भ्रुवका सुमित्रा दुर्मित्रा एभ्यः “स्त्रीभ्यो ङण्” [३।१।१०१] इति टण् । मानुषीलक्षणे वा टण् स्यात् ।
पुष्करसत् अनुरदत् अनुशक्तिकादिस्वादनयोः पदद्वयस्यैव । देवशर्म्मन् अग्निशर्म्मन् इन्द्रशर्म्मन् कुनामन्
पञ्चन् सप्तम् । “अमितौजसः सखं च” [वा०] सुधावत् उदङ् अञ्जेनिपातनात् नलाभावः । शिरस्-शिरोमात्र-
स्यापत्यं नास्ति इति तदन्तविधिः । हातिशीर्षिः । पैलुशीर्षिः । शिरसः शीर्षादेशो वक्ष्यते । माषशराविन्
क्षेमवृत्विन् शृङ्खलतोदिन् खरनादिन् निपातनादणत्वम् । नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् लोम्ना तदन्तविधिः
इत उत्तरं प्रागुदङ्कशब्दात् “कुर्वन्ध्वक्” [३।१।१०३] आदिनाऽण् प्रातः । अजीगर्तं कृष्ण युधिष्ठिर
अर्जुन साम्भ गद प्रद्युम्न राम संकर्षण मध्यन्दिन सत्यक उदक । “संभूयोऽम्भसोः सखं च” [वा०] स्यातास्या-
तयोः ख्याते संप्रत्यय इति । तेन बाह्यादिप्रभृतिषु येषां लौकिकगोत्रभावं प्रति प्रवर्तकत्वमस्ति तैभ्य एव इत्यादयः ।
इह माभूत् बाहुर्नाम कश्चित् तस्यापत्यं बाहवः । आकृतिगणत्वादस्वाजयन्धविः । आजवेनविरिति ।

सुधातुरकङ् च ॥३।१।८६॥ सुधातुरशब्ददिङ् भवति तत्सन्नियोगेन अकङ्कादेशश्च । सुधातुर-
पत्यं सौधातकिः । “व्यासवेरुडनिषादचण्डाकचिन्वादीनामिति वक्तव्यम्” [वा०] । न वक्तव्यम् । अव्यक्कि-
न्यायेन कान्तैभ्य एव त्यविधिः । वैयासकिः । वारुङ्किः । नैवादकिः । चारुङ्गलकिः । दैम्नकिः । कार्मारुकिः ।

वृद्धे कुञ्जविभ्यो ङफः ॥३।१।८७॥ वृद्धसंज्ञके अपत्ये विवक्षिते कुञ्ज इत्येवमादिभ्यो ङफो भवति ।
इजोऽपवादः । आदौ वकारः “घातङ्कादस्त्रियाम्” [४।२।१] इति विशेषणार्थः । कुञ्जस्यापत्यं पौत्रादि
कौञ्जापत्यः । कौञ्जायन्यौ । कौञ्जायनाः । “घातङ्कादस्त्रियाम्” [४।२।२] इति स्वार्थे ङ्यो भवति द्विसंज्ञः ।
कुञ्ज ब्रह्म शङ्ख गण लोमन् लोमशब्देन तदन्तविधिरिति केचित् । भस्म शट् । अयं गर्गादिष्वपि । शाक
शौण्ड शुभ विपास् । अयं शिवादिष्वपि । स्कन्द स्कम्भ । वृद्ध इति किम् ? कुञ्जस्यापत्यमनन्तरं कौञ्जः ।
वृद्ध इत्ययमधिकारश्च “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०३] इत्यतः प्राक् ।

नडादेः फण् ॥३।१।८८॥ नड इत्येवमादिभ्यो वृद्धेऽपत्ये फण् भवति । नडस्यापत्यं वृद्धं नाडायनः ।
वृद्ध इत्येष । अनन्तरो नाडिः । नड चर वक मुञ्ज इतिक इतिश उपक लमक शलङ्कु शलङ्क्यादेशं
लभते । शालङ्कायनः । कथं शालङ्कायनः ? कथं शालङ्किः पिता शालङ्किः पुत्रः [सञ्जङ्क] शालङ्क
इति प्रकृत्यन्तरमस्ति । अथवा पैलादिषु पाठसामर्थ्यात् इजपि भवति । पञ्चपूल बाणव्य तिक अग्निशर्म्मन्
वृषगणे । गोत्रे अग्निशर्म्मायणो भवति वार्षगणश्चेत् । अग्निशर्म्मिरन्यः । प्राण नर सायक दास मित्र
द्वीप तगर पिङ्गल किङ्कर कथन कतर कतल काश्य काव्य सैव्य ब्रह्मवाच्य सगम्भ शिशपा अमुष्य निपातनात्
साधुः । कृष्णरणौ ब्राह्मणवाशिष्ठयोः । यथाक्रमं ब्राह्मणवाशिष्ठेऽर्थे । अजमित्र सिगु चित्र कुमार । क्रोष्टु-
रपत्यं क्रोष्ट्यं च । लोह दुर्ग अम्र तृण शकट सुमत मिमत ब्राह्मण चटक । ऐरोपैष्यते । चाटकैर बदर अश्वत्थ
अस्तर कामुक ब्रह्मदत्त उदङ्घर अलोह दण्डया । अन्ये इमानपि पठन्ति वक्ष्यमाणान् । इन् अत् इत्त
जनत्वत् हिंसक दण्डिन् इस्तिन् पञ्चाल चमसिन् । लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । नडो नाम कश्चित्तस्यापत्यं नाडिः ।

हरितायजः ॥३।१।८९॥ हरितादिर्विदाद्यन्तर्गणः । हरितादिभ्योऽजन्तेभ्यः फण् भवति । इजोऽ-
पवादः । इह वृद्धग्रहणमनुवर्तमानमत्रो विशेषणम् । वृद्धे योऽङ् विहितस्तदन्तात् फण् एक इति निष्-
माद्यूनं द्रष्टव्यः । हरितस्यापत्यं पुत्रा हरितायनः । कैन्दायायनः ।

यजिजोः ॥३१।६०॥ अत्रापि वृद्धग्रहणं यजिजोर्विशेषणम् । वृद्धे विहितौ यौ यजिजौ तदन्तात्फण् भवति । सामर्थ्याद्यनूति शतव्यम् । गार्ग्यायणः । दाक्षायणः । इह गार्ग्य अपत्यं गार्गेय इति लिङ्ग-विशिष्टस्य ग्रहणेऽपि परत्वादहण् भवति ।

शरद्वत्शुनकवर्माद् भृगुवत्साम्रायणेषु ॥३१।६१॥ वृद्ध इति वर्तते । शरद्वत् शुनक इर्म इत्येतेभ्यः फण् भवति यथासंख्यं भार्गवे वात्स्ये आत्रायणे चापत्येऽभिधेये । शारद्वतायनो भवति भार्गवश्चेत् । शारद्वतोऽन्यः । शौनकायनो भवति वात्स्यश्चेत् । शौनतेऽन्यः । तर्भावाणे भवति आत्रायणश्चेत् । दार्भिरन्यः । शरद्वत्शुनकशब्दौ विदादिषु पठ्येते ।

द्रोणपर्वतजीवन्ताद्या ॥३१।६२॥ द्रोण पर्वत जीवन्त इत्येतेभ्यो वृद्धापत्ये फण् च भवति । द्रोणायणः । द्रोणिः । पर्वतायनः । पार्वतिः । जीवन्तायनः । जीवन्तिः । वृद्ध इत्येव । द्रोणिः ।

विदादिभ्योऽनृध्यानन्तर्येऽज् ॥३१।६३॥ वृद्ध इति वर्तते । विद इत्येवमादिभ्यः अनृषीणामानन्तर्ये अज् भवति । विदस्यापत्यं वैदः । विद उर्व कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात किन्दर्भ विश्वानर ऋषिषेण ऋतभाग हर्यश्च प्रियक आपस्तम्ब कूचवारं शरद्वत् शुनक धेनु गोपवन शिशु किन्दु भाजन ताम्रञ्च अश्ववतान श्यामाक श्यापर्ण गोपवनादिप्रतिषेधः प्राग्धरितादेः इत ऊर्ध्वं बहुत्वेऽज् उभेव भवति । हरित किन्दास वहास्क अकलूष वध्योग विष्णु वृद्ध प्रतिषेध रथन्तर गविष्ठिर निषाद निषादशब्दस्य “सुष्मातुरकञ्च” [३१।६३] इत्यत्र नैषादकिरुक्लोऽनन्तरे वृद्धे परत्वादवमञ् । मठर । अयं गोपवनादिष्वपि मठराद्यजि । एते हरितादय इत्याचार्यस्मृतिः । पृदाक सृदाक पुनर्ध्वादिष्वनन्तरेऽपत्ये पुनर्भू पुत्र दुहितृ ननान्द परस्त्री परशु च या तु सवर्णा परस्य स्त्री परस्त्री सा कल्याणयादिषु पठ्यते पारस्त्रियेणः । वृद्ध इत्येव । अनन्तरो वैदिः । बाह्वादेराकृतिगणत्वाद् ऋष्यण् न भवति लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । वैदो नाम कश्चित् तस्य वैदिः । अनृध्यानन्तर्य इति किमर्थम् ? पुनर्भूऽनृषीणामनृषीणामानन्तर्ये अनन्तरेऽपत्ये अज्वेदितव्यः । ये तु ऋष्यपत्यानां नैरन्तर्ये प्रतिषेधमाचक्षते । तेषां कौशिको विश्वामित्र इति न स्यात् । ऋध्यानन्तर्ये प्रतिषेधो नास्ति । इन्द्रभूः सप्तमः काश्यपानाम् । भारद्वाजानां कृतमोऽसीति “तरयेदम्” [३१।६३] इत्यत्रा भविष्यतीति ।

गर्गादिर्द्यज् ॥३१।६४॥ वृद्ध इति वर्तते । गर्ग इत्येवमादिभ्यः वृद्धापत्ये यज् भवति । गर्गस्यापत्यं पौत्रादि गार्ग्यः । गर्ग वत्स “वाजादसे” [सू० ३०] । अस इति किम् ? सौवाभिः । संकृति अत्र व्यापत्वात् विदभृत् पुलस्ति प्राचीनयोग पुलस्त्यशब्दात् ऋष्यणि पौलस्त्यः । त्रिषामणि पौलस्त्यी । यजि पौलस्त्यायनीति विशेषः । रेभ अग्निवेश शङ्ख शठ धूम अवट मनस् धनञ्जय वृद्ध विश्वावसु अरमाण्य लोहित संशित वभ्रु मण्डु मङ्गु सङ्कु शङ्कुलि गुगुलु जिगीषु मनु मन्दु तन्दु मनायी दण् प्राप्तः । “भस्य हत्यडे” [वा०] इति पुंवद्भावः कस्मात् भवति । कौडिन्वागस्ती इति निर्देशात् । यदि यजि पुंवद्भावः स्यात्, कुम्बिनी-शब्दस्य पुंवद्भावे टिले च कृते कौडिन्व इति न स्यात् । सुनु कथक वत्त तलुत्त तरु वतण्ड कपि कत सकल कुरुकत । अयमनुशतिकादौ । अनडुह कण्ठ गोकच्छ अगस्त्य कुण्डनी यशवत्क अमयकात विरोहित वृषगण रडूगण शशिडल सुदगल मुसल पराशर जतूकर्ण मन्त्रित अशमरथ शर्करात् पूतिमाष स्थूरा अरराक वामरथ पिङ्गल कुष्ण गोलुन्द उलूक तितम्भ तितव भिषब तिलब भविडत चेकित देवहू इन्द्रहू एकहू पकलू पिप्पलु वृहदशि सुलाभिन् कुटीगु उकथ । वृद्ध इत्येव । आनन्तरो गार्गिः । कथमनन्तरो वामदग्न्यो रामः पाराशर्यो व्यास इति ? गोत्राध्यायीषेण । अनन्तरापत्ये ऋष्यणा भवितव्यम् । लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । यो गोत्रस्याप्रवर्तको गर्गस्तस्यापत्यं वृद्धं गार्गिः ।

मधुवभ्रोर्गार्हाणकौशिकयोः ॥३१।६५॥ वृद्ध इति वर्तते । मधु वभ्रु इत्येताभ्यां यज् भवति यथासंख्यं ब्राह्मणे कौशिकेऽत्राभिधेये । माधव्यो ब्राह्मणश्चेत् । माधवोऽन्यः । बाभ्रव्यः कौशिकश्चेत् । बाभ्र-

वोऽन्यः । बभ्रुशब्दो गर्गादिषु पठ्यते । तस्येह नियमार्थं वचनम् । कौशिक एव यथा स्यात् । गर्गादिषु पाठो लोहितादिकार्यार्थः । आभ्रव्यायणी । अथ गणे एव कौशिकग्रहणं कर्तव्यम् । इह करणं वृद्धार्थम् । ननु गणेऽपि वृद्धे यद्विहितः । इदमेव तर्हि शापकं गणपाठे क्वचिदनन्तरापत्येऽपि यज् भवति । आमदन्यो रामः । पाराशर्यो व्यास इति ।

कपिशोधादाङ्गिरसे ॥३११६६॥ वृद्ध इति वर्तते । कपिशोचशब्दाभ्यां यज् भवति आङ्गिरसेऽपत्यपिठे । काप्यः आङ्गिरसश्चेत् । अन्यत्र “इतोऽनिजः” [३१११११] इति दृष्टिं कापेयः । औष्य आङ्गिरसश्चेत् । औधिरन्यः । इति कपिशब्दस्य गर्गादिषु पाठः । तस्य नियमार्थं वचनम् । आङ्गिरस एव यज् । गर्गादिषु पाठो लोहिताद्यर्थः । काप्यायनी । मधुबोधयोस्तु वत्स (यजि) तथोक्तम् । माधवी माधव्यायनी । औधी औध्यायनी ।

वतण्डात् ॥३११६७॥ आङ्गिरस इति वर्तते । वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे वृद्धे यज् भवति । वातण्ड्यः । आङ्गिरस इत्येव । अनाङ्गिरसे शिवादिपाठादण् वातण्ड इति । गर्गादिषु पाठादनाङ्गिरसे यज् लोहितादिकार्यार्थः । वातण्ड्यायनी ।

स्त्रियासुप् ॥३११६८॥ आङ्गिरस इति वर्तते । वतण्डशब्दादाङ्गिरस्यां स्त्रियां यज् उच्यते । वतण्डस्यापत्यं वृद्धा स्त्री वतण्डी । यज् उपि “जातेरयोक्तः” [३११५३] इति ङीविधिः । आङ्गिरस इत्येव । वातण्ड्यायनी । शिवाद्यणि वातण्डा । वृद्धादन्यत्र वातण्डी ।

अश्वदेः फज् ॥३११६९॥ वृद्ध इति वर्तते । आङ्गिरस इति निवृत्तम् । अश्व इत्येवमादिभ्यो वृद्धे फज् भवति । अश्वस्यापत्यं आश्वायनः । अश्व अश्मन् शङ्ख शङ्खक कुजादिषु गर्गादिषु च पठ्यते । विद पुट रोहिण खड्ग खज्जर खज्जूर वटिल भण्डिल भटल भडित भण्डित प्रहृत रामोद क्षत्र मीना काश काण वात गोलाङ्क अर्क स्वन ध्वन पत पाद चक्र कुल अविष्ट पविन्द पवित्र गोमिन् श्याम धूमवाग्मिन् विश्वानर लुट कुट कुटि शपादात्रेये । शापिरन्यः । जनक सनक सनक ग्रीष्म अर्ह वीज रीक्ष^२ विशम्भ विशाल गिरि चपल चुप दासक । येऽत्र वृद्धत्यान्तास्तेभ्यः सामर्थ्यात् यूनि फज् द्रष्टव्यः । वैश्य वैश्य वाद्य आनबुध्य धाप्य जात शब्दात् पुंसि । जातेयोऽन्यः । अर्जुन । अस्य वृद्धादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । शङ्ख सुमनस् दुर्मनस् । आत्रेयाद्भारद्वाजे । आत्रेयिरन्यः । भारद्वाजादात्रेये । विदाद्यणि भारद्वाकोऽन्यः । उत्स उत्सादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । आतव कितय किं शिव खदिर वृद्ध इत्येव । आश्विः । लौकिक गोत्र इत्येव । गोत्रस्याप्रवर्तको योऽश्वः तस्यापत्यमेकान्तरितमाश्विः ।

भर्गात् त्रैगर्ते ॥३११७०॥ वृद्ध इति वर्तते । भर्गशब्दात् फज् भवति त्रैगर्तेऽपत्यविशेषे । भार्गायणी भवति त्रैगर्तश्चेद् । भार्गिरन्यः ।

शिवाविभ्योऽण् ॥३११७१॥ वृद्ध इति निवृत्तम् । इत उद्धर्ष सामान्येनापत्ये त्वविधानम् । शिव इत्येवमादिभ्योऽण् भवत्यपत्यमात्रे । इत्यादीनामपवादः । शिवस्यापत्यं शैवः । शिव प्रोष्ठ प्रोष्ठिक चण्ड अम्भ भूरि । अस्मात् “इतोऽनिजः” [३१११११] इति दृष्ट्वा प्राप्तः । कुठार अम्भ^३ भिग्लान सन्नि मुनि ककुत्स्थ कोहड कट्टय रोवाविरल (रोध विरल) वतण्ड । स्त्रियां वातण्ड्या । तृण कर्ण क्षीर हृदय परिषिक् गोपिलक्क कपिलक्क जटिलका वधिरका मञ्जीरक वृष्णिक खज्जर खज्जल रेभ आलोखन विशवण रवण । विशवसोऽपत्यमिति विशङ्ख विशवणरवणादेशौ । प्रकृत्यन्तरे वा । अव्यविकन्यायेन ताम्यामेवाण् । वर्तनात् विकट पिटक वृक्षक विभाग नभाक तटाक ऊर्णनाभ जरत्कारु उत्कोयस्तु रोहितिका आर्यश्चेता । आभ्यां “शम्भो वज्”

[३।१।१०३] प्राप्तः । सुपिष्ट भयूरकर्णं खर्जूरकर्णं तद्धन् । अत्र कारिलक्षणास्य ह्यो बाधा । ययस्त्वित्यत एव । तात्तस्य इति । श्रुष्टिषेण । विदादिष्वस्य पाठो वृद्धार्यः । गङ्गा । अत्र नदीलक्षणास्याथो “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् बाधकः तमपि बाधित्वा “द्वयचो नद्याः” इत्यण् प्राप्तः । तस्यापि ठिकादिषु पाठात् फिञ् बाधकः स्यात् । अयं गङ्गाशब्दः शुभ्रादिषु च पठ्यते । तेन वैरूप्यम् । गाङ्गः । गाङ्गायनिः । गाङ्गेयः । विपाश । अत्रापि नदीमानुषीलक्षणास्याथः “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् बाधकः । तमपि “द्वयचो नद्याः” इत्यण् बाधते । तमपि बाधित्वा कुञ्जादिलक्षणां ऽफ एव स्यात् । द्वैरूप्यं चेभ्यते । वैपाशः वैपाशायन्य इति । यस्क लह्य दुह्य अयस्थूय भलन्दन विरुपाक्ष विरुपा मूमि हला सपत्नी । “द्वयचो नद्याः” इति गणसूत्रम् । अन्यथा “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् प्रसज्येत । त्रिवेणी त्रिवेणं च ।

नदीमानुषीभ्योऽदुभ्यस्तदाख्याभ्यः ॥३।१।१०२॥ नदीमानुषीभ्य इत्यर्थनिर्देशः । नदीमानुषीवाचिप्रकृतिभ्योऽदुसंज्ञाभ्यस्तदाख्याभ्योऽण् भवति । ढणोऽपवादः । यमुनाया अपत्यं यामुनः प्रयेता । इरावत्या अपत्यम् ऐरावतः । उद्भयः । वितस्तायाः पलालशिराः नैतस्तः । नर्मदाया नीतो नार्मदः । मानुषीभ्यः चिन्तितायाः चैन्तितः । सुदर्शनायाः सौदर्शनः । स्वयंप्रभायाः स्वायंप्रभः । नदीमानुषीभ्य इति किम् । सौपर्णीयः । नैनेतेयः । सुपर्णा विनता च देव्यौ । अन्येषां पक्षिण्यौ । अदुभ्य इति किम् । चान्द्रभागायाः चान्द्रभागेयः । वायुवेगेयः । तदाख्याभ्य शतं किम् । या (म्यः), काम्यः । प्रकृतिभ्योऽण् प्राप्येते ता एवाख्या नामधेयानि नदीमानुषीणां यदि भवति । तेनेह न भवति । शोभनाया अपत्यं शौभनेयः । पुरस्तादपवादोऽयमिति अनन्तरमणं बाधते न व्यवहितं “क्षुद्राभ्यो वा” [३।१।१२०] इति ढणम् । पुलिकायाः पौलिकेरः ।

कुर्षुष्यन्धकवृष्णोः ॥३।१।१०३॥ कुरवः अन्धकाः वृष्णायश्च क्षत्रियवंशाख्याः । ऋषयश्चेह माभ्या मठपतयो वशिष्ठाद्या रक्षन्ते । मध्वर्ष्यामहिंसादिब्रतोपपन्नानामपत्यापत्यवत्सम्बन्धो नास्ति । कुरु-ऋषि-अन्धकवृष्णिवाचिभ्यो मृद्भ्यः सामान्येनापत्येऽण् भवति । ह्योऽपवादः । कुरुभ्यः-नाकुलः । साहदेवः । दौर्योधनः । ऋषिभ्यः-वाशिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः-आफल्कः । सन्धतः । श्वेचकः । वृष्णिभ्यः-अदारः प्रातिवाहः । वासुदेवः । आनिवद्धः । इह आग्नेयः इति परत्वाद्धृण् । यद्यपि भीमसेनः कुरुः, जालसेन ऋषिः । उग्रसेनोऽन्धकः, विष्वक्सेनो वृष्णिस्तथापि परत्वात्तेनान्तलक्षणा एव इच्च भवति । मध्येऽपवादोऽयं पूर्वं भित्तं बाधते ।

मातृशब्दसंख्यासंभद्रादेः ॥३।१।१०४॥ मातृशब्दस्य संख्यासंभद्रादेः उकारश्चान्तादेशो भवति अण् चाधिकारात् । द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरो भरतः । शातमातुरः । सांमातुरः । माद्रमातुरः । अभिधान-वशात् जननीपर्यायस्य मातृशब्दस्य ग्रहणम् । संख्यासंभद्रादेरिति किम् । सौमात्रः । वैमात्रेयः । विमातृशब्दः शुभ्रादिषु पठ्यते ।

कन्यायाः कनीन च ॥३।१।१०५॥ कन्यायाः कनीन इत्ययमादेशो भवति । अण् च तस्मात् । ढणोऽपवादः । कनीनः कर्णः । कनीनो हि नारकः ।

विकर्णशुक्ललग्नाद्वत्सभरद्वाजात्रिषु ॥३।१।१०६॥ विकर्णं शुक्लं लग्नं इत्येभ्यः अण् भवति यथासंख्यं वात्स्ये भारद्वाज आत्रेये चापत्यविशेषे । वत्सभरद्वाजात्रिष्वित्यत्र वत्सादयः शब्दा उपचारात् वृद्धत्वा-न्तेषु वर्तमाना गृह्यन्ते । वैकर्णो भवति वात्स्यश्चेत् । वैकर्णिरन्यः । काश्यपे वैकर्ण्यः । शौक्लो भवति भारद्वाजश्चेत् । शौक्लिरन्यः । निज्जविशिष्टस्य ग्रहो शुक्लाया अपत्यं सौक्लो भवति भारद्वाजश्चेत् । अन्यत्र सौक्लेयः । लग्नलो भवति आत्रेयश्चेत् । लग्नलिरन्यः ।

पीलाया वा ॥३॥१॥१०७॥ पीला तदाख्या मानुषी । पीलाया अपत्ये वाऽण् भवति ।
पैलः । पैलेयः ।

दण् च मण्डूकात् ॥३॥१॥१०८॥ मण्डूकशब्दादण् भवति चकारदण् च वा । तेन त्रैलोक्यम् ।
माण्डूकेयः । माण्डूकः । मण्डूकिः । स्त्रियां माण्डूकेयी । अणन्तस्य “कौरव्यासुरिमाण्डूकात्” [३॥१॥१११]
इति फटि कृते माण्डूकायनी । अणन्तस्य माण्डूक्या ।

स्त्रीभ्यो ढण् ॥३॥१॥१०९॥ इह स्त्रीग्रहणेन स्त्रियामित्येवं विहिताष्टादायः स्त्रीत्या गृह्यन्ते । स्त्र्यर्थ-
प्रहणं तु न भवति । शुभ्रादिषु मातृशब्दस्य पाठाश्रयते । स्त्रीत्यान्तेभ्यो ढण् भवत्यपत्ये । सौपर्ण्यः ।
वैनतेयः । वायुवेगेयः । स्त्रीत्यग्रहणमिति विशेषणं किम् ? स्त्र्यर्थे मा भूत् । इडविडः स्त्रिया अपत्यम् ; दरदः
अपत्यम् ऐडविडः, दारदः । “पीलाया वा” [३॥१॥१०७] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या वेति व्यवस्थितविभाषा वर्तते ।
तेन बडवायाः वृषे वाच्ये ढण् भवति । वाडवेयो वृषः । अपत्ये वाडव इति । कृञ्कोकिलाम्यामण् भवति ।
कुञ्चाया अपत्यं क्रौञ्चः । कोकिलाया अपत्यं कौकिलः ।

द्वयचः ॥३॥१॥११०॥ द्वयचश्च स्त्रीत्यान्तादपत्ये ढण् भवति । मानुषीलक्षणात्पाण्डोऽपवादः ।
दत्ताया वालेयः । गुताया गोप्तेयः ।

इतोऽनिजः ॥३॥१॥१११॥ स्त्रीभ्य इति निवृत्तम् । अविशेषेण स्त्रियाश्च विधानाद् द्वयच इति
वर्तते । इकारान्तान्मूढोऽनिजन्ताडढण् भवति । बलेरपत्यं बालेयः । नाभेयः । आभ्रेयः । दौलेयः । इत इति
किम् ? दाद्विः । अनिज इति किम् ? दात्तायणः । द्वयच इत्येव । मरीचैरपत्यं मारीचः ।

शुभ्रादेः ॥३॥१॥११२॥ शुभ्र इत्येवमादिभ्यो ढण् भवति । इत्यादीनामपवादः । शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः ।
शुभ्र विष्टपुर पिष्टपुर ब्रह्मकृत शतद्वार शतहार शलाघल शलाकाभू लेखाभू विषवा कृकषा रोहिणी रुक्मिणी
विक्रवा विवसा हलिका दिशा शालूका अजवस्ति शकन्धि । लक्ष्मणश्यामयोर्वाशिष्ठे । लक्ष्मणिरन्यः ।
स्यामायनोऽन्यः । “अश्ववादेः” [३॥१॥११६] इति फञ् । गोधा । कुकलास । प्राणि विकणाचि प्रवाहण
भरत भागरे मष्ट्र मकुष्ट सुकण्डु मृषण्डु कर्पूर इतर अन्यतर आलीढ सुदत्त सुदत्त सुतामन् सुदामन् कट्ट वृद्ध
अकशाप कुमारिका कुवण्डिका (किशोरिका) जिह्वाशिन् परिधि वायुदत्त शलाका सक्का खड्ग्वर अम्बिका
अथोक गन्धपिङ्गला खरोन्मत्ता कुदत्ता कुसम्बा शुक्र वलीवर्दिन् विस्त वीजधन् अश्व अभिर विमातृ ।
आकृतिगणश्चायम् । तेन गाङ्गेयः पाण्डवेय इत्यादि सिद्धम् ।

विकर्णकुषीतकात्काश्यपे ॥३॥१॥११३॥ विकर्णकुषीतकशब्दाभ्यां ढण् भवति काश्यपेऽपत्यवि-
शेषे । वैकर्ण्यः काश्यपश्चेत् । वैकर्ण्यिरन्यः । कौषीतकेयः काश्यपश्चेत् । कौषीतकिरन्यः ।

भ्रूवो वुक् ॥३॥१॥११४॥ भ्रूशब्दादपत्ये ढण् भवति वुक् चागमः । भ्रौवेयः ।

कल्याण्यादीनामिन् ॥३॥१॥११५॥ कल्याणी इत्येवमादीनां ढण् भवति इनकादेशश्च । येऽत्र
स्त्रीत्यान्ताः शब्दास्तेषामादेशार्थं वचनम् । ढण् पूर्वेण सिद्धः । अन्येषामुभयार्थं वचनम् । कल्याण्या अपत्यं
कल्याण्यिनेयः । सौभाग्यिनेयः । कल्याणी सुभगा दुर्भगा बन्धकी अनुकृष्टि करती वलीवर्दी ज्येष्ठा कनिष्ठा
मध्यमा परस्त्री जारस्त्री ।

कुलटाया वा ॥३॥१॥११६॥ कुलान्यटतीति कुलटा । अत एव निपातनात् पररूपम् । कुलटाया
वा इनकादेशो भवति । ढण् स्त्रीभ्य इत्येव सिद्धः । कौलटिनेयः । कौलटेयः । अनियतपुंस्त्वविकल्पायां पर-
त्वात् छुद्राशङ्कयो दूण् । कौलटेयः ।

चटकाण्शौरः ॥३११११७॥ चटकशब्दाण्शौरो भवति । चटकस्यापत्यं चाटकैरः । लिङ्गविशिष्ट-
स्यापि ग्रहणम् । चटकाया अपत्यं चाटकैरः । स्त्रीदणः परत्वात् शौरः । “स्त्रियामण्ये उच्चकभ्यः” [४००]
चटकस्य चटकाया वा अपत्यं स्त्री चटका । “द्वयुप्” [११११६] इति स्त्रीत्यस्योप् । पुनश्चाप् ।

गोधाया शारः ॥३११११८॥ गोधाशब्दादपत्ये शारो भवति । गौधारः । रणा सिद्धे शारवचनं
शपकम्, अन्येभ्योऽपि भवतीति । बडस्यापत्यं जाडारः । परबडस्यापत्यं पाण्डारः । पद्मस्य पादारः ।

ढण् ॥३११११९॥ दृष् च भवति गोधाशब्दात् । गौधेरः । शुभादिषु पाठात् गौधेय इति
च भवति ।

क्षुद्राभ्यो वा ॥३१११२०॥ अनियतपुंस्का अङ्गहीना वा क्षुद्राः । क्षुद्राभ्य इत्यर्थनिर्देशः । क्षुद्रा-
वाचिप्रकृतिभ्यः स्त्रीलिङ्गाभ्यः वा दृष् भवति । दास्या अपत्यं दासेरः । दासेयः । नट्या नाटेरः । नाटेयः ।
कागायाः काणोरः । काणेयः । “द्वयचः” [३११११०] इत्ययं ढण् मध्येऽपवादः पूर्वस्य नदीमातुषीलक्षण-
स्याणो बाधकः ।

ध्वसुश्चणुः ॥३१११२१॥ ध्वसुशब्दाद् अकारान्तपूर्वान्तादपत्ये ङण् भवति । अणोऽपवादः ।
मातृध्वस्त्रीयः । पैतृध्वस्त्रीयः । स्वसुरिति कृतपत्वग्रहणं किम् ? भ्रातृस्वसुरपत्यं भ्रातृस्वस्रः । उरिति किम् ?
मातुःस्वसुरपत्यं मातुःध्वस्रः । “वा स्वसृपस्योः” [४१३१३०] इत्यनुप् ।

ढणि खम् ॥३१११२२॥ ढणि परतः ध्वसुर्ध्ववर्णपूर्वस्य खं भवति । अनेनैव ढण् निपात्यते । मातृ-
ध्वस्तेयः । पैतृध्वस्तेयः ।

चतुष्पाद्भ्यो ढञ् ॥३१११२३॥ चत्वारः पादाः यासां तश्चतुष्पादः । चतुष्पाद्वाचिप्रकृतिभ्यः
स्त्रीलिङ्गाभ्यो ढञ् भवति । अणादीनामपवादः । कामण्डलेयः । सैतवाहेयः । माद्रवाहेयः । आम्बेयः । ढञि
सति तस्मादुत्पन्नस्य युक्त्यस्योद्भवति न ढणि ।

गृष्ट्यादेः ॥३१११२४॥ गृष्टि इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो ढञ् भवति । अणादीणामपवादः । गृष्टेर-
पत्यं गार्ष्टेयः । अचतुष्पाद्वचनमिह गृष्टिशब्दो गृह्यते । गृष्टि दृष्टि इति बालि विद्वकादि विभक्तौ कुट्टि अत्रवस्ति
मित्रशु मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः । “मौण्डल्य” [४१४१६६] आदिना यकारादेः खं निपात्यते । बहुषु “यस्का-
दिभ्यो ढृजे” [११४१६४] इति उप् । मित्रयवः ।

क्षत्राद् घः ॥३१११२५॥ क्षत्रशब्दादपत्ये वा भवति । क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः । ज्ञातावभिधानम् ।
अन्यत्र क्षत्रियः ।

राजश्वशुराद्यः ॥३१११२६॥ राजश्वशुरशब्दाभ्यामपत्ये यो भवति । राज्ञोऽपत्यं राजन्यः ।
इहापि ज्ञातावभिधानम् । राजनोऽन्यः । श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः । ख्यातस्य सम्बन्धवचनस्य प्रेक्षणात् संज्ञायां
श्वशुरिः ।

कुलाह्वकञ्च ॥३१११२७॥ कुलशब्दादपत्ये ढकञ् भवति यश्च । कुलस्यापत्यं कुलेयकः ।
कुल्यः । इहापि भवति ईषदसिद्धं कुलं बहुकुलं “वा सुपो बहुप्राकु” [३१११२७] इति बहुल्यः । बहुकुल-
स्यापत्यं बाहुकुलेयकः । बहुकुल्यः ।

खः ॥३१११२८॥ कुलशब्दात् खश्च भवति । कुलीनः । उत्तरत्र ज्ञस्यानुवृत्तिर्यथा स्यादिति
योगविभागः ।

सादेः ॥३१११२९॥ सह आदिना वर्तते इति सादिः । सादेः कुलशब्दात् खो भवति । आख्य-
कुलीनः । राजकुलीनः । क्षत्रियकुलीनः । सत्यविधौ न तदन्तविधिरिति पूर्वेषु न सिद्ध्यति ।

महतोऽग्रखण्डौ ॥३१॥३०॥ महच्छब्दपूर्वात् कुलशब्दात् अग्रखण्डौ इत्येते भवतः । महतः आत्वविषये अभिधानं माहाकुलः । माहाकुलीनः । केचित् खस्यानुवृत्तिमिच्छन्ति । मराकुलीनः । आत्वविषये इति किम् ? महतां कुलं महत्कुलं तस्मात् "सादेः" [३१॥१२३] इति खः । महत्कुलीनः ।

दुसो ढण् ॥३१॥३१॥ दुःशब्दपूर्वात् कुलादपत्ये ढण् भवति । पापं कुलं दुष्कुलम् "इदुदुकोऽव्य-
पुम्मुदुसः" [५॥४॥२८] इति सलषत्वे । दुष्कुलस्यापत्यं दौष्कुलेयः । केचित् खमप्यनुवर्तयन्ति । दुष्कुलीनः ।

स्वसुष्ठुः ॥३१॥३२॥ स्वसुशब्दादपत्ये स्त्री भवति । अणोऽपवादः । स्वस्त्रीयः ।

भ्रातुर्व्यश्च ॥३१॥३३॥ भ्रातृशब्दादपत्ये व्यो भवति छुश्च । अणोऽपवादः । भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः । भ्रात्रीयः । कथं लोके भ्रातृव्यशब्देन सप्तमोऽभिधीयते ? उपचारात् । एकद्रव्याभिलाषश्च उपचारान-
भिचम् । सप्तमी इव सप्तनः शक्तः । पृथोदरादिपाठादकारो निपात्यते ।

रेवत्यादेष्टण् ॥३१॥३४॥ रेवती इत्येवमादिभ्योऽपत्ये ढण् भवति । अणादीनामपवादः । रेवत्या अपत्यं रैवतिकः । रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकवज्रिन् वृकग्राह कर्णग्राह दण्डग्राह कुक्कुटाक्ष ।

वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णश्च ॥३१॥३५॥ पौत्राद्यपत्यं वृद्धं क्षेपः कुत्सा । वृद्धस्त्रीवाचिशब्दादपत्ये णो भवति ढण् च क्षेपे गम्यमाने । गार्ग्या अपत्यं युवा गार्गो जालमः । गार्गिको जालमः । ग्लौचुकायन्था अपत्यं युवा ग्लौचुकायनो जालमः । ग्लौचुकायनिको जालमः । क्षेपश्चात्र प्रतिविद्धाचरणेन पितुरज्ञानाद्वा गम्यते । वृद्ध इति किम् ? करिकेत्यो जालमः । स्त्रिया इति किम् ? औपगधिर्जालमः । क्षेप इति किम् ? गार्गेयो माणवकः ।

दोष्टण् सौवीरेषु प्रायः ॥३१॥३६॥ वृद्धग्रहणं चानुवर्तते । सौवीरेष्विति वृद्धविशेषणम् । सौवी-
रेषु वृद्धवाचि दुर्बलं तस्मादपत्ये प्रायः ढण् भवति क्षेपे गम्यमाने । वेति वक्तव्ये प्रायोग्रहणं परिगणनायम् ।

"भागपूर्वपदो वित्तिर्द्वितीयस्तार्थविद्वः । सुतीयस्वाकशापेयो वृद्धादृण् बहुलं ततः ।"

भागवित्तेरपत्यं युवा भागवित्तिकः । भागवित्तायनः । तार्थविद्वस्यापत्यं युवा तार्थविन्दवित्तिकः । तार्थ-
विन्दविः । अकशाप इति शुभ्रादिषु । आकशापेयस्यापत्यं युवा आकशापेयिकः । आकशापेयिः । दुर्ग्रहणं
स्त्रीनिवृत्त्यर्थमविशेषेणेष्यते । सौवीरेष्विति किम् ? औपगधिर्जालमः । क्षेप इत्येव । भागवित्तायनो माणवकः ।

फेरुच्च ॥३१॥३७॥ वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च वर्तते । फिअन्तात् सौवीरेषु वृद्धादपत्ये स्त्री भवति ढण् च क्षेपे गम्यमाने । दोरित्यधिकारात् फेरित्यत्र फिअ एव संप्रत्ययः । यमुन्द तिकादिः । यामुन्दा-
यनीयः । यामुन्दयनिकः । प्राय इत्यनुवर्तनादणपि भवति । तस्य फिअन्तात्परस्य "अण्यराजार्थादयूष्मद-
ण्यिभ्योः" [१॥४॥१३०] इत्युप् । यामुन्दायनिर्जालमः । सुयामन्—सौयामायनिः । तस्यापत्यं युवा सौयामायनीयः । सौयामायनिकः । अणि । सौयामायनिः । वृषस्य वार्षायणिः । फिअः संनियोगे वृद्धपभावे
वक्ष्यते वार्षायणेरपत्यं वार्षायणीयः । वार्षायणिकः । अणि वार्षायणिः । क्षेप इत्येव । यामुन्दायनिर्मा-
णवकः । अणोव भवति । सौवीरेष्वित्येव । तैकायनेरपत्यं युवा अण् तस्योप् । तैकायनिर्जालमः ।

"यमुन्द्श्च सुयामा च वार्षायणिः फिअः स्मृताः ।

सौवीरेषु च कुत्सायां द्वौ योगौ शब्दवित्स्मरेत् ॥"

फाराटाहृतेर्णः ॥३१॥३८॥ क्षेप इति निवृत्तम् । वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च "अण्यराजार्थात्" [१॥४॥१३०] इत्यत्र "अण्यिरूप्यप्राज्ञाणोभ्रमाप्राज्ञु चत्यस्योपसंख्यानम्" [वा०] इति उक्त्वा भूदिति
यित्करणम् । "फिअप्यत्र भवतीति वक्तव्यम् ।" [वा०] फाराटाहृतायनिर्माणवकः । सौवीरेष्वित्येव । फाराटा
हृतायनः । "सौवीरेषु भिमवशब्दाण्यण्फिअौ वक्तव्यौ" [वा०] मैमतः । मैमतायनिः । सौवीरेष्वित्येव ।
मैमतिः ।

कुर्वावेत्यर्थः ॥३१११३६॥ सौदीरेष्विति निवृत्तम् । कुरु इत्येवमादिभ्योऽपत्ये एयो भवति । आदौ
 क्यकारः “जिग्यसाकार्वात्” [१।४।१३०] इत्यत्र विशेषणार्थः । कुरोरपत्यं कौरव्यः । राजार्वात्
 कुरुशब्दाभ्यो वक्ष्यते । तस्य द्विसंज्ञकत्वाद्बहुव्रीहम् । तिकादिषु कौरव्यायणिः । कुरु गर्गं संज्ञय अतिमारुह ।
 रथकाराज्जातौ च । पट्टक । सम्राजः क्षत्रिये । कवि पितुमत् । ऐन्द्रजालि घातुजि पेजि दामोध्यतोषि । मन्थकारि
 कैशोरि कापिञ्जलादि ऐन्द्रजाल्यादिभ्यः ततो “यूनि” [३।१।४५] इति यूनि एयः । क्रोड कुट शलाका
 मुर स्वण्डाक पद्भुक शुद्धरसी केशिनी । स्त्रोलिङ्गनिर्देशसामर्थ्यात् पुंवद्भावो न भवति । शर्पणाय श्यावनाय
 श्यावरथ श्यावपुत्र सत्यङ्कार वडभीकार पथिकारिन् मूढ सीद्ध भूद्वेष्ट शकशालीन इनपिण्डी वामरथ ।
 वामरथस्य सकलादिकार्यं भवति । सकलादयो गर्गाद्यन्तःपातिनः । बहुत्वे उन्भवति वामरथाः । स्त्री
 वामरथी । वामरथ्यायनी । वामरथ्यायनः । वामरथ्यस्य छात्राः वामरथाः “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।१।८०]
 इत्यण् भवतीति । वामरथ्यानां संवः वामरथः । “संघाक्” [३।३।१५] आदिनाऽण् ।

सेनान्तलक्षणकारिभ्य इञ् ॥३१११४०॥ कारिशब्दः कारवाचि । सेनान्तान्मृदो लक्षणशब्दात्
 कारिवाचिभ्यश्चापत्ये इञ् भवति एयश्च । हारिषेयः । हारिषेयिः । भैमसेन्यः । भैमसेनिः । जातसेन्यः ।
 जातसेनिः । लाक्षयः । लाक्षयिः । कारिभ्यः—कौम्भकार्यः । कौम्भकारिः । तान्नुवाच्यः । तान्नुवाचिः ।
 सत्तन्शब्दात् शिवादिस्तत्त्वणोऽण् । स इजो बाधको न तु एयस्य । तेन द्वैक्यम् । ताक्षणः ।
 ताक्षण्यः ।

तिकादेः फिञ् ॥३१११४१॥ तिक इत्येवमादिभ्योऽपत्ये फिजित्ययं त्यो भवति । तिकस्यापत्यं
 तैकायनिः । तिक कितव संज्ञा बाल शिखा उरस् शाक्य सैन्धव यमुन्द रूप्य नाडी । सुमित्रा कुरु देवर देवरथ
 तितिलिन् सिलालिन् उरस । कौरव्य । द्विसंज्ञकत्वेद् ग्रहणम् । औत्सशब्देन राष्ट्रसमानशब्देन साहचर्यात् ।
 कथं कौरव्यः पिता कौरव्यः पुत्रः ? अनु (अत्र) एयान्तादिभ्यो तस्योप् । लाङ्क्व गौकक्ष्य भौरिक चोपयत
 चैटयत सैकयत दौञ्जयत त्वजवत् चन्द्रमस् शुभ गङ्गा वरेण्य बन्ध आरुह बाह्यका खल्यका लोयका सुयामन्
 उदन्वा यज्ञ । यदिहाष्टदं दुसंज्ञं पश्यते तस्य नित्यार्थं वचनम् ।

कौशल्येभ्यः ॥३१११४२॥ कौशल्यादिभ्योऽपत्ये फिञ् भवति । बहुवचनेन कर्मारङ्गागृथा
 गृह्यन्ते । कौशलस्यापत्यं कौशल्यायनिः । सर्वत्र मूलप्रकृतेः फिञ् । तस्यायनादेशे कृते कौशल्य इति ।
 विकृतिनिर्देशात् युट् निपात्यते । एवं दागव्यायनिः । कामार्थायणिः । छात्र्यायनिः । वार्ध्यायणिः ।
 राष्ट्रसमानशब्दात् कौशलात् ज्यो वक्ष्यते । कर्मारशब्दात् कारिलक्षणो एयोऽपि भवति । इजः प्रयोगो
 नोपलभ्यते ।

द्वयचोऽणः ॥३१११४३॥ अणान्ताद् द्वयचो मृदोऽपत्ये फिञ् भवति । इजोऽपवादः । कर्तुर-
 रपत्यं कार्त्तायणिः । पोटुरपत्यं पौत्रः ; तस्यापत्यं पौत्रायणिः । एवं शैवायनिः । द्वयच इति किम् ? औपगविः ।
 अण इति किम् ? दाक्षिः ।

वा वृद्धादोः ॥३१११४४॥ पौत्रायपत्यं वृद्धम् अवृद्धं यद्दुसंज्ञं तस्मादपत्ये वा फिञ् भवति ।
 वायुरयायनिः । वायुरथिः । आदित्यगतायनिः । आदित्यगतिः । कारिशब्दात्परत्वाद्नेन भवितव्यम् । नापिता-
 यनिः । एयोऽपि भवति । नापित्यः । इजोऽभिधानं नास्ति । अवृद्धादिति किम् ? आकम्पनायनः । औपगविः ।
 दोषिति किम् ? आरवग्रीविः ।

वाकिनादेः कुरु ॥३१११४५॥ वेति वर्तते । वाकिन इत्येवमादिभ्योऽपत्ये वा फिञ् भवति ।
 यदा फिञ् तदा कुगागमः । वाकिनस्यापत्यं वाकिनकायनिः । वाकिनिः । गारेवस्यापत्यं गारेवकायनिः ।

गारेविः । वाकिन गारेव कर्कच काक लङ् । वर्म्मचर्मिणोर्नखं च । यदिहावृद्धं वृत्तं तस्य कुगर्भं वचनम् । अन्यस्योभयार्थम् ।

पुत्रान्ताद्या ॥३१॥१४६॥ वा वृद्धादोरिति वर्तते । पुत्रान्तान्मृदो वृत्तंकाद् वा कुगागमो भवति फिजि परतः । प्रकृतेन वाग्रहणेन फिज् विकल्प्यते अनेन कुक् । तेन त्रैरूप्यम् । वासवदत्तापुत्रस्यापत्यं वासव-
दत्तापुत्रकायणिः । वासवदत्तापुत्रायणिः । वासवदत्तापुत्रिः । गार्गीपुत्रकायणिः । गार्गीपुत्रायणिः । गार्गीपुत्रिः ।

फिरवोः ॥३१॥१४७॥ त्यान्तरोपादानात् फिजि निवृत्ते तत्संबद्धः कुगपि निवृत्तः । वेति वर्तते । अदोर्मृदोऽपत्ये फिर्मवति वा । त्रिपृष्ठायनिः । त्रैपृष्टिः । श्रीविजयायनिः । श्रीविजयिः । ग्लुचुकायनिः । ग्लौचुकिः । ग्लौचुकाचनिः । ग्लौचुकिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेह न भवत्येव । दाक्षिः । प्लाक्षिः । अदोरिति किम् ? रामदक्षिः ।

मनोजातौ युक्त्वाऽज्यौ ॥३१॥१४८॥ मनुशब्दात् अज् य इत्येतौ त्र्यौ भवतः पुक् चागमः समुदायेन जातौ गम्यमानायाम् । मानुषः । मनुष्यः । अपत्यापत्यवत्संबन्धद्वारेण व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । परमार्थतस्तु रुदिशब्दावेतौ । अत एव “यज्जोः” [१।४।१३५] इति बहुषून् भवति । मानुषा इति । जाताविति किम् ? अपत्यमात्रेऽण् (श्रीत्सर्गिकोऽणोष) भवति । लोहितादिपाठात् पौत्रादौ यञि तूच्चवति । मानव्यः । मानव्यौ । मनवः । स्त्री मनव्यायनी । [जाताविति किम् ? अपत्यमात्रे श्रीत्सर्गिकोऽणोषेव भवति ।]

“पुरुषेणस्य पौत्राद्या(श्रीऽस्त्रा)वर्ककीर्तिर्जिता हतः । पाळयामास छक्ष्मीयाम् मानवो मानवोः प्रजाः॥”
वृद्धापत्यविवक्षायां तु गर्गादित्वाद्यभा भवितव्यम् ।

“अपत्ये कुत्सिते मृदे मनोरीत्यगिक्ः स्मृतः । नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिद्ध्यति मायवः ॥”

नेदं शत्वार्थं बहु वक्तव्यम् । “भायवचरकाश्च अज्” [३।४।१०] इति निपातनात् सिद्धम् ।

द्विः ॥३१॥१४९॥ यानित ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्तेस्त्यान्वक्ष्यामो द्विसंज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति “राष्ट्रशब्दाद्वाशोऽण्” [३।४।१५०] पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । सत्यां द्विसंज्ञायां “द्वेर्बहुषु तेनैवा-
ख्यास्य” [१।४।१३३] इत्युप् सिद्धः ।

राष्ट्रशब्दाद्वाशोऽण् ॥३१॥१५०॥ राष्ट्रं जनपदः । राजशब्दश्चेह क्षत्रियपर्यायः । राष्ट्रशब्दाद्वावा-
यिनोऽपत्येऽण् भवति । स्वभावतः पञ्चालादिशब्देन राष्ट्रं राजा चाभिधीयते । अथवा पञ्चालानां निवासो
जनपद इति निवासार्थं आगतस्याणो “अजपव वस्” [३।१।३३] इति उप् कृते अवरकालेनापि पञ्चालशब्देन
क्षत्रियशब्दो लक्ष्यते । यथा देवदत्तस्य पितेति । पञ्चालस्यापत्यं पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । ऐक्ष्वाकः ।
ऐक्ष्वाकौ । ऐक्ष्वाकवः । ऐक्ष्वाकशब्दस्य अञि “औयहृत्” [३।४।१५६] इत्यादिना उल्लं निपात्यते । राष्ट्र-
शब्दादिति किम् ? श्रीविजयिः । हृष्योः द्वौहृष्यः । राज इति किम् ? पञ्चालो नाम वाक्ष्यस्तस्यापत्यं पाञ्चालिः ।

साल्वेयगान्धारिभ्याम् ॥३१॥१५१॥ साल्वा नाम क्षत्रिया तस्माद्द्वयच इति दणि साल्वेयः ।
साल्वेय गान्धारि इत्येताभ्यां राजशब्दाभ्यामण् भवति । अणोऽपवादे “द्विकुरुनाञ्जादकोऽण्काण्यः”
[३।१।१५३] इति ज्ये प्राप्ते वचनम् । साल्वेयस्यापत्यं साल्वेयः । गान्धारेऽपत्यं गान्धारः । गान्धारौ ।
बहुषूपि गान्धारवः ।

इयञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण ॥३१॥१५२॥ राष्ट्रशब्दाद्वाश इति वर्तते । इयञो मृदः मगध
कलिङ्ग सूरमस इत्येतेभ्यश्च अण् भवति । अणोऽपवादः । आङ्गः । वाङ्गः । लोङ्गः । पौण्ड्रः । मागधः ।
कलिङ्गः । सौरमसः । सर्वत्र बहुषूप । अत्रैव सिद्धे किमर्थमण् विधीयते ? “इयञोऽण्” [३।१।१५३]

इति फिञ् यथा स्यात् । नास्त्यत्र विशेषः सर्वस्यैव युक्त्यस्य द्वे स्तरस्योच्यते । इह तर्हि विशेषः राजसमान-
शब्दराष्ट्रात् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्ष्यते । अङ्गानां राजा आङ्ग इति अणि सति आङ्गस्यापत्यं आङ्गा-
यनिः । “द्वयचोऽयः” [३.१.१४३] इति फिञ् । युक्त्योऽयं न भवतीति उप नास्ति । आप च अणि सति
संवाच्यविवक्षायां प्रसज्येत । अणि सति “वृद्धचरणाम्जित्” [३.३.६४] इति युन् भवति । आङ्गकः ।
वाङ्गकः । माराधकः । कालिङ्गकः । सौरमसकः ।

द्वित्कुरुनाद्यजादकोशलञ्च्यः ॥३.१.१४३॥ दुसंज्ञान्मृद इकारान्तात् कुरुशब्दात् नकारादेः
अजादकोशलशब्दाभ्यां च ङ्यो भवति । अत्रोपवादः । दोः—आम्बुदस्यापत्यं आम्बुञ्च्यः । सौवीरस्य सौवीर्यः ।
काम्बुचस्य काम्बुञ्च्यः । दार्षस्य दार्ष्यः । द्वयजलदण्डोऽपि फिञ् परत्वादेतेन बाध्यते । इकारान्तात् अवन्तेराञ्-
न्यः । कुन्तेः कौन्त्यः । वसन्तेर्वासन्त्यः । तपरकरणं किम् ? कुमारी नाम जनपदः क्षत्रियश्चास्ति । तस्यापत्यं
कौमारः । कुरोः—कौरव्यः । नादेः—निचकस्य नैचक्यः । निषधस्य नैषध्यः । नीपस्य नैप्यः । अजादस्य
आजाद्यः । कोशलस्य कौशल्यः । सर्वत्र बहुषूप ।

साल्वावयवप्रत्ययकलकूटाशकादिभ्यः ॥३.१.१४४॥ साल्वा नाम मानुषी क्षत्रिया तस्या
अपत्यं “द्वयचः” [३.१.११०] इति ङिण साल्वेय इत्युचि कृते निपातनादपि भवति । साल्वः क्षत्रियः
तस्य निवासो जनपदः साल्वः । तदवयवाः ।

“उदुम्बरास्तिलकलङ्का मङ्गका युगन्धराः । सुलिङ्गाः शरद्वङ्कारश्च साल्वावयवसंज्ञिताः ।”
साल्वावयवेभ्यो राजजाचिभ्यः प्रत्यग्रथिः । कालकूटेः । आश्मकिः । सर्वत्र बहुषूप योज्यः ।

पाण्डोर्द्वयः ॥३.१.१४५॥ राष्ट्रशब्दाद्वाङ् इति वर्तते । पाण्डुशब्दाङ्ङ्यप् भवत्यपत्येऽर्थे । पाण्डो-
रपत्यं पाण्ड्यः । इकारो टिलकार्थः । एकारः “अिद्दृष्टदरक्तविकारे” [३.१.१५१] इति पुंबद्धावप्रतिषेधार्थः ।
पाण्ड्या भार्या अस्य पाण्ड्यभार्यः । कथमयं प्रयोगः असिद्धितीयो न सत्तार पाण्डवः ? पाण्डवा यस्य दासाः
इति ? येन जनपदेन समानशब्दो राजा तस्य जनपदस्य स्वामी यदि विवक्षितस्तदायं विधिर्वेदितव्यः । अन्य-
श्रोतसर्ग एव भवति । “इह प्रकरणे राजसमानशब्दान् राष्ट्रात् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्तव्यम्” [३.०]
राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्येति तासमर्थात् राजन्यभिधेये अपत्य इव व्यवधिर्भवति । पञ्चालानां राजा
पाञ्चाल । साल्वेयानां राजा साल्वेयः । एवं आङ्गः । आम्बुञ्च्यः । औदुम्बरिः । पाण्डवानां राजा पाण्ड्यः ।
सर्वत्र बहुषूप । अस्मादपत्यविवक्षायां “अ वृद्धादोः” [३.१.१४४] इति फिञ् । पाञ्चालायनिः ।

उप् चोलादेः ॥३.१.१४६॥ राष्ट्रशब्दाद्वाङ् इति वर्तते । चोलादेः परस्योच् भवति । कस्य ? सम्भवा-
दण्डोः । चोलस्यापत्यं चोलः । केरलः । कम्बोजः । शकः । यवनः । आदिशब्दः प्रकारवाची तस्य राजनीति
वर्तते । चोलानां राजा चोलः ।

कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम् ॥३.१.१४७॥ कुन्ति अवन्ति कुरु इत्येतेभ्यः उत्पन्नस्य द्वे स्त्र् भवति
स्त्रियामभिधेयाम् । कुन्ती । अवन्ती । कुरुः । “द्वित्कुरुनाद्यजादकोशलञ्च्यः” [३.१.१४३] इत्यस्य उपि
कृते “इतो मनुष्यजातेः” [३.१.१५५] इति ङीविधिः । कुरुशब्दात् “कुरुतः” [३.१.१५६] इति कृत्यः ।
स्त्रियामिति किम् ? कौन्त्यः ।

अतोऽप्राच्यभर्गादेः ॥३.१.१४८॥ स्त्रियामिति वर्तते । अतस्तस्य उच्यते स्त्रियामभिधेयायां
प्राच्यान् भर्गादीश्च वर्जयित्वा । कुन्त्यादिभ्य उच्यचनं ज्ञापकम् — इह अत इति तदन्तविधिर्न भवति । साम-
र्थ्यादणजोरुच्यतेति वेदितव्यम् । अप्राच्यो नाम राष्ट्रसमानशब्दो राजा तस्यापत्यं स्त्री अप्राच्या अज उपि
छापू । एवं सूरसेनी । मद्रस्यापत्यं स्त्री मद्रो । अण उपि जातिलक्षणो ङीविधिः । दरदोऽपत्यं स्त्री दरद् ।
अत इति किम् ? औदुम्बरी । साल्वावयवत्वादित् । “इतो मनुष्यजातेः” [३.१.१५५] इति ङीविधिः । अप्राच्य-

भर्गादिरिति किम् ? प्राच्या ये राष्ट्राभिधाना राजानस्तैभ्य उप् प्रतिविध्यते । पाञ्चाली । वैदेही । पैपली । आङ्गी । मद्राः । ऐक्षी । पौण्ड्रि । चामर्यः । अश्विङ्गी । भर्गादेरप्राचार्य उप् प्रतिषेधः । भर्गस्यापत्यं क्षी भार्गो । करुषस्य कारुषी । भर्गं करुष केकय कश्मीर सेल्व (सुल्वा) सुस्थाल उरस कौरव्य । वचनाद्यर्थेण उपि कुरुः । अनेनानुपि कौरव्येति । यौधेयः । शौक्रेय शौभ्रे व घातये प्रावाणेय नृगर्त भरत । उशीनर । अस्य पुनरकारस्य यौधेयादिभ्यः द्रुसंज्ञकेभ्यः परस्योप् प्राप्तः प्रतिविध्यते । उच्यते । 'पश्वदेरण्' [४।२।६] इति द्विसंशकोऽण् स्वार्थिको वक्ष्यते । तस्यायं प्रतिविधिः न तु राष्ट्रसमानशब्दात् । आपत्यस्य उच्यमानः कथं स्वार्थिकस्य भिन्नप्रकरणस्य द्वे सम्भवति । इदमेव यौधेयादिभ्यः प्रतिषेधवचनं शापकं भिन्नप्रकरणस्यापि द्वे सम्भवति । आपत्यग्रहणेन गृह्यते इति किमेतस्य शापने प्रयोजनम् । इह स्त्रियामुप् । पशुः रक्षाः असुरी इति पशु रक्षस् असुर इति राष्ट्रशब्दा राजानः पशामपत्यं संघः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षित इति अण्यत्रोरागतयोः "उप् चाकादेः" [३।१।१२६] इति उपि कृते पुनः "पश्वदेरण्" [४।२।६] इति स्वार्थिकोऽण् । तस्यापि स्त्रियामनेनोप् सिद्धः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

तेन रक्तं रागात् ॥३।२।१॥ रज्यतेऽनेन शुक्लं वस्तिवति रागः; कुसुम्भादि द्रव्यम् । तेनेति भासमर्थात् रागविशेषवाचिनो मृदो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् । शच्छिद्रम् । कौसुम्भम् । माञ्जिष्ठम् । रागादिति किम् ? देवदत्तेन रक्तम् । "पुंस्त्री घः ऋयेण" [२।२।१००] इत्येतद् घञ्विधानेऽपेक्ष्यते । तेन वर्णविशेषस्य रागस्य ग्रहणादिह न भवति । पाणिना रक्तमिति । इहोपमानाद्भवति । काषायौ गर्दभस्य कर्णौ । हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादाविति ।

नीलपीताब्जौ ॥३।२।२॥ नील पीत इत्येताभ्यां भान्ताभ्यां रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथासंख्यम् अ क इत्येतौ त्यौ भवतः । नीलेन रक्तं नीलम् । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् । नीलया रक्तं नीलम् । पीतेन रक्तं पीतकम् ।

लाक्षारोचनाशकलकर्दमादृण् ॥३।२।३॥ लाक्षादिभ्यो भासमर्थेभ्यो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । अणोऽपवादः । लाक्षया रक्तं लाक्षिभम् । शकलिकम् । शकलकर्दमाभ्यामणपीभ्यते ।

भाद्युक्तः कालः ॥३।२।४॥ तेनेति वर्तते । भविशेषवाचिनो मृदो भासमर्थाद् युक्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । योऽसौ युक्तः कालश्चेत् स भवति । नित्ययुक्तौ हि भकालौ न तयोः सन्निकर्षविप्रकर्षौ स्तः । तत्कथं पुष्यादिना 'मेन युक्तः काल' इत्युच्यते ? व्यभिचारामावात् । नैष दोषः । इह पुष्यादिसमीपस्थे चन्द्रमसि पुष्यादयः शब्दाः वर्तमाना गृह्यन्ते । पुष्येण युक्तः कालः पुष्यसमीपगतेन चन्द्रमसा युक्त इत्यर्थः । पौषी रात्रिः । पौषमहः । "सिध्यपुष्ययोर्भाणि" [४।४।१३६] इति यकारस्य लम् । माघी रात्रिः । माघमहः । भादिति किम् ? चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः । काल इति किम् ? पुष्येण युक्तरचन्द्रमाः ।

वसभेदे ॥३।२।५॥ अभेदो नामाविशेषः । पूर्वेण विहितस्योप् भवति न चन्नेण युक्तस्य कालस्य भेदो रात्र्यादिविशेषोऽभिधीयते । अत्र पुष्यः । अत्र कृत्तिकः । अत्र रोहिण्यः । "युक्तवदुसि किङ्कसंख्ये" [१।१।१८] इति युक्तवद्भावः । अत्र यावान् कालः त्रिशन्मुहूर्तमात्रो मेन युक्तो न तस्य भेदोऽभिधीयते । अभेद इति किम् ? पौषी रात्रिः । पौषमहः । अभेद इति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेनेहापि न भवति । पौषोऽहोरात्रः ।

पौषः कालः इति । अथेह कथमुत् न भवति अथ दिवा पुष्यः । अथ रात्रौ पुष्य इति । पूर्वमष्टप्रहरात्मकस्य समुदायस्याभेद उक्तं विधाय पश्चाद्विवाराभिप्राययोः प्रयोगः कृतः ।

खौ अवणारवत्थभ्याम् ॥३१२।६॥ खौ भेदेऽपि उत् यथा स्यादित्यारम्भः । अवणारवत्थ इत्येताभ्यामुत्पन्नस्य त्यस्योत् भवति खुविषये । अवणेन युक्ता अवणा रात्रिः । अरवत्येन युक्ता अवन्त्या रात्रिः । अरवत्यो मुहूर्तः । “कास्तुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः” [३१२।१८] इति अवणाशब्दनिर्देशो शापक इह सूत्रे उक्ते युक्तवद्भावो न भवति । खविति किम् ? अवणी रात्रिः । आश्वत्या रात्रिः ।

द्वन्द्वच्छ्रुः ॥३१२।७॥ भद्वन्द्वाद्भासमर्थात् युक्तः काल इत्येतस्मिन्नर्थे छौ भवति भेदे चाभेदे च । अणोऽपवादः । राधानुराधीयम् । राधानुराधीयं तिष्यपुनर्वसवीयमहः । अथ तिष्यपुनर्वसवीयम् । अयं परत्वावुक्तो वाचकः ।

परिवृतो रथः ॥३१२।८॥ तेनेति कर्तते । तेन परिवृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति; यः परिवृतो रथश्चेत् स भवति । वस्त्रेण परिवृतो रथो वाहनः । काम्बलः । चार्मेणः । “अणः” [३१३।१२८] इति अणि टिळाभावः । रथ इति किम् ? वस्त्रेण परिवृता शय्या । स इह कस्मान्न भवति छात्रैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । अथवा समन्ताद्वृतः परिवृत इत्याशयणात् । रथैकदेशस्त्यमुत्पादयति न छात्रादिः । इह कस्मादण् न भवति । पाण्डुकम्बलैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । कथं पाण्डुकम्बली रथ इति पाण्डुकम्बला अस्य संबन्धः (सन्ति दीक्षादि) पाठात् यस्मै कृते इन्द्रष्टव्यः । तस्याभिधानं नास्ति । “तीथान्वात् स्वार्थे वा ईकण् वक्तव्यः” [वा०] द्वितीयिकम् । द्वितीयम् । तार्तीयिकम् । तृतीयम् । “विद्यत्या अभिधाने भेष्यते” [वा०] द्वितीया विद्या । तृतीया विद्या । इह कथमण् भवति ? न विद्यते पूर्वः पतिर्यस्याः सा अपूर्वा कुमारी । तादृशी कुमारीमुपपन्नः कौमारः पतिरिति “सत्र भवः” [३१३।२८] इत्यण् भविष्यति । कुमार्या भवः पतिः कौमारः पतिः । पुंयोगात् कौमारी भार्या इत्यपि सिद्धम् ।

सत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ॥३१२।९॥ युक्तावशिष्टमुद्धृतमुच्यते इति केचित् । तत्तु नातिश्लिष्टम् अन्यत्रापि प्रयोगात् । उद्धृतं ब्राह्मणेन लब्धमिति । तत्रेति ईप्समर्थादमत्रवाचिनो सृदः उद्धृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सरावेषु उद्धृत ओदनः सारावः । माल्लवः (माल्लिकः) । अमत्रेभ्य इति किम् ? पाण्यादुद्धृत ओदनः ।

स्थण्डिलः ॥३१२।१०॥ स्थण्डिल इति निपात्यते । स्थण्डिलशब्दादीबन्ताच्छ्रित्यर्थभिधेयेऽण् निपात्यते समुदायेन व्रते गम्ये । स्थण्डिले शेते स्थण्डिलो ब्रह्मचारी । व्रतादन्यत्र स्थण्डिले शेते देवदत्त इति ।

संस्कृतं भक्षाः ॥३१२।११॥ सतो गुह्यान्तराधानं संस्कारः । खरविष्ठ (श) दमम्यवहार्यं भक्षः । तत्रेति ईप्समर्थात् संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तत् संस्कृतं भक्षाश्चेत्तद् भवति । भाष्टे संस्कृताः आष्टाः । एवं कैलासाः (कालशाः) पात्राः । भक्षा इति किम् ? फलके संस्कृतो मालागुणः ।

शूलोखाद्यः ॥३१२।१२॥ शूल उक्ता इत्येताभ्यां ईप्समर्थाभ्यां संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे यो भवति । अणोऽपवादः । शूले संस्कृतं शूल्यम् । उखायां संस्कृतमुख्यम् । उपमानात् सिद्धम् । पिठरे शूले इव संस्कृतं पिठरशूल्यम् । मयूरव्यंसकादित्वात् सर्वाभिः ।

वधनष्टण् ॥३१२।१३॥ दधिशब्दादीप्समर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । दधिनि संस्कृतं दाधिकम् । तत्र यद्दधि संस्कृतं तद्दध्ना संस्कृतमित्यपि भवति । एवं च “तेन संस्कृतम्” इति वक्ष्यमाणेन ठण्णा सिद्धं नार्थोऽनेन ? नैव दोषः । यद्वन्त्रोत्पन्नं दधिकृतमेवोत्कर्षमपेक्षते तदिहोदाहरणम् । यस्य तु वध्ना लवणादिना च संस्कारस्तस्य वक्ष्यमाणमुदाहरणम् ।

ओदश्वितः ॥३।२।१४॥ उदश्वित्-शब्दादीपसमर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति ।
उदश्विति संस्कृत ओदनः ओदश्वित्कः । ओदश्वितः । अतोऽपि वाचनान्वायते तेन संस्कृताद्यत्र संस्कृत-
स्यार्थभेदः । अन्यथेवन्ताडण् भान्ताडण् इत्युभयं सिद्धं स्यात् ।

ओराड्डण् ॥३।२।१५॥ क्षीरशब्दादीपसमर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे टण् भवति ।
अणोऽपवादः । क्षीरे संस्कृता क्षीरेयो यवागूः ।

सास्मिन् पौर्णमासीति खौ ॥३।२।१६॥ सेति वासमर्थादस्मिन्निति ईवर्थे यथाविहितं त्यो
भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं पौर्णमासी सा चेद्भवति । इतिकरणाद्यदि लोके विवक्षा समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते ।
पौर्णमासा चन्द्रमसा युक्तः कालः पौर्णमासी । इदमेव आपकमवाण् भवतीति । माघी पौर्णमास्यस्मिन्
मासेऽर्द्धमासे संवत्सरे वा माघो मासोऽर्द्धमासः संवत्सरः । एवं पौषः । स्वाविति किम् । माघी पौर्णमास्य-
स्मिन् पञ्चदशरात्रे । इतिशब्दः किमर्थः । विद्यमानेऽपि सप्तमे लौकिकप्रयोगानुसारणार्थः । इह मा भूत् ।
माघी पौर्णमासी अस्मिन् हि भवति संवत्सरपर्वणि ।

अश्वत्थाग्रहायणीभ्यां ठञ् ॥३।२।१७॥ सास्मिन् पौर्णमासीति वर्तते । अश्वत्थ आग्रहायणी
इत्येताभ्यां पौर्णमासीति वासमर्थाभ्यामस्मिन्निति ईवर्थे ठञ् भवति । अश्वत्थाग्रहायणी । अश्वत्थेव युक्ताः कालः
अश्वत्था पौर्णमासी अस्मिन्मासे अर्द्धमासे संवत्सरे वाऽश्वत्थिकः । आग्रहायणेन युक्ताः काल आग्रहायणी
आग्रहायणिकः ।

फाल्गुनीधन्याकार्तिकीचैत्रीभ्यो वा ॥३।२।१८॥ फाल्गुन्यादिभ्यो वा ठञ् भवति । सास्मिन्
पौर्णमासीति वर्तते । फाल्गुनी पौर्णमासी अस्मिन् मासे संवत्सरे वा फाल्गुनिकः । फाल्गुनः । एवं आश्विनिकः ।
भाषणः । कार्तिकिकः । कार्तिकः । चैत्रिकः । चैत्रः ।

सास्य देवता ॥ ३।२।१९ ॥ सेत्यत्र लिङ्गवचने अप्रधानभूते । सेति वासमर्थादस्येति ताऽथ
यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं देवता चेत्स भवति । अर्हन् देवता अस्य अर्हतः । भगवती देवता अस्य
भागवतः । बार्हस्पत्यः । सेति वर्तमाने पुनः सामग्र्यं संज्ञाविषयनिवृत्त्यर्थम् । तेन संज्ञायां वायं विधिः ।
देवतेति किम् । कन्या देवदत्तस्य ।

कस्येः ॥३।२।२०॥ कशब्देन प्रजापतिरभिधीयते । कस्य इकारोऽन्तादेशो भक्त्यर्थं च सास्य
देवतेत्यस्मिन्विषये । को देवताऽस्य कार्यं हविः । अणि पूर्वेण सिद्धे इत्यर्थं वचनम् । आरम्भसामर्थ्यात्
“यस्य ह्यर्वा च” [३।४।११२] इति खं न भवति ।

शुक्राद् घः ॥३।२।२१॥ शुक्रशब्दाद् घो भवति । अणोऽपवादः । सास्य देवतेति वर्तते । शुक्रो
देवतास्य शुक्रियः ।

अपोनञ्जपाञ्जप्तभ्याम् ॥३।२।२२॥ घ इति वर्तते । अपोनप्तु अपाञ्जप्तु इत्येताभ्यां घो भवति ।
अणोऽपवादः । सास्य देवतेति वर्तते । अपोनपादेवताऽस्य अपोनप्त्रियः । अपाञ्जपादेवता अस्य अपाञ्ज-
प्त्रियः । प्रत्यय (त्य) सन्नियोगेन प्रकृत्योः अपोनप्तुअपाञ्जप्तुभावो निपात्यते । संप्रये अपोनपाते ब्रूहि अपाञ्जपाते
ब्रूहि इति भवति ।

छुः ॥३।२।२३॥ अपोनप्तु अपाञ्जप्तु इत्येताभ्यां छश्च भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये ।
अपोनप्त्रीयः । अपाञ्जप्त्रीयः । योगविभाग उत्तरार्थः “पौङ्गीपुञ्जादिभ्यश्चो वक्तव्यः” [वा०] पौङ्गी-
पुत्रीयः । तार्णकिन्दीयः । “क्षवद्वद्वाधश्च” [वा०] शतवद्वियः । शतवद्वीयः ।

महेन्द्राद्याऽणौ च ॥३।२।२४॥ सास्य देवतेति वर्तते । महेन्द्रशब्दाद् घ अण् इत्येते भवत-
श्छश्च । महेन्द्रो देवता अस्य महेन्द्रियः । माहेन्द्रः । महेन्द्रीयः ।

सोमाट्ठ्यण् ॥३।२।२५॥ सोमशब्दाद्व्यण् भवति सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । अणोऽपवादः ।
सोमो देवता अस्य सौम्यः । स्त्रियां सौमी । “इको हतो क्वात्” [४।४।१४०] इति यत्तम् ।

वाण्डुत्तिवृत्तो वा ॥३।२।२६॥ वाण्डु पितृ टण्डु इत्येतेभ्यो यो भवति । अणोऽपवादः ।
साऽस्य देवता इति वर्तते । वायव्यः । श्रुतव्यः । पितृव्यः । “रीकृत्वा” [५।२।१२६] इति
रीकादेशः । उषस्यः ।

द्यावापृथिवीसुनाशीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छु च ॥३।२।२७॥ द्यावा-
पृथिवी इत्येवमादिभ्यश्छो भवति यश्च सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यो देवते
अस्य द्यावापृथिवीयः । द्यावापृथिव्यः । सुनो वायुः शीर आदित्यः सुनश्च शीरश्च “देवताइन्द्रे”
[४।३।१३४] इत्यानङ् । सुनाशीरौ देवते अस्य सुनाशीरीयः । सुनाशीर्यः । मरुत्वान् देवता अस्य मरुत्वतीयः ।
मरुत्वत्यः । अग्निश्च सोमश्च देवते अस्य अग्नीषोमीयः । अग्नीषोम्यः । “सोमवक्त्रोऽग्नेरी” [४।३।१४०]
इतीत्यम् । “स्तुतसोमी वाग्नेः” [२।४।६४] इति धत्वम् । वास्तोष्पतीयः । वास्तोष्पत्यः । पुष्टिङ्गत्वं तथा
अनुप्लवत्वं च निपातनात् । गृहमेधीयः । गृहमेध्यः ।

सर्वशान्निकलिभ्यां ढण् ॥३।२।२८॥ साऽस्य देवतेति वर्तमाने सर्वप्रदह्यां सर्वार्थसंग्रहार्थम् ।
अग्निशब्दाभ्यां सर्वेष्वर्थेषु ढण् भवति प्राग्द्रोः । अग्निदेवता अस्य अग्नौ भवः अग्नेरगतो आग्नेयः ।
एवं कालेयः ।

कालेभ्यो भववत् ॥३।२।२९॥ कालविशेषवाचिभ्यो भव इव त्यविधिर्भवति । वत्करणं सर्वविशेष-
परिग्रहार्थम् । येभ्यः कालविशेषवाचिभ्यो मृद्भ्यो भवे ये त्या विहिताः सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये तेभ्य एव
मृद्भ्यस्त एव त्या अतिदिश्यन्ते । यथा मासे भवं मासिकं सांक्सरिकं वासन्तं प्रावृषेयम् । “काष्ठादूष्ण”
[३।२।१३१] “भसंध्यादयृतुभ्यो वयभ्योऽण्” [३।२।१३७] “प्रावृष एण्यः” [३।२।१३९] एते त्या
भवन्ति । तथा मासो देवता अस्य वसन्तो देवता अस्य प्रावृङ् देवता अस्येति अत्रापि भवन्ति ।

महाराजप्रोष्ठपदाभ्यां ढण् ॥३।२।३०॥ महाराजो वैश्रवणः । महाराज प्रोष्ठपदा इत्येताभ्यां ढण्
भवति सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । महाराजो देवताऽस्य महाराजिकः । प्रोष्ठपदा देवताऽस्य प्रोष्ठपदिकः ।
“ढण्प्रकरणे तदस्मिन्वर्तते इति भवयज्ञादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] नवयज्ञोऽस्मिन् वर्तते नावयज्ञिकः ।
पाकयज्ञिकः । “पूर्णमासादण् वक्तव्यः” [वा०] पूर्णमासोऽस्यां वर्तते पौर्णमासी तिथिः ।

पितृभ्यमातुलमातामहपितामहाः ॥३।२।३१॥ पितृव्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । समर्थविभक्ति-
स्त्योऽनुबन्धस्त्यार्थ इति सर्वमिदं निपात्यते । पितृमातृभ्यां तासमर्थाभ्यां भ्रातरि वाच्ये व्यङ्ग्यौ निपात्येते पितृभ्राता
पितृव्यः । मातृभ्राता मातुलः । द्वित्वादिष्वम् । “ताभ्यामेव पितरि कामहः” [वा०] मातुः पिता मातामहः ।
“स एव कामहो मातरि वाच्यार्था द्वित्वे” [वा०] मातुर्माता मातामही । पितुर्माता पितामही ।
द्वित्वान्ङीविधिः ।

तस्य समूहः ॥३।२।३२॥ तस्येति तासमर्थात् समूह इत्येतस्मिन्नर्थे यथानिहितस्त्यो भवति ।
चित्तवद्वृद्धं यस्य न चान्यत्र प्रतिपदं ग्रहणं तदिहोदाहरणम् । अचित्तवत्तु वक्तव्यम् । वृद्धाद्वृद्धम् । प्रति

पदमुच्चादिभ्योऽपि हुजादिः । काकानां समूहः काकम् । शौकम् । वार्कम् । इह पञ्चानां पूलानां समूहः पञ्चपूला इति प्राप्नोति । समूहाथेऽण् तस्य 'रस्योवनपत्ये' [३।१।७३] इत्युप् 'परिमाणाद्भुवि' [३।१।२६] इति नियमात् । असति जीविषौ ङापा भवितव्यम् । नार्यं दोषः । समाहारलक्षण एवात्र रसः । द्रुत्युत्तिर्न भवत्यनभिधानात् ।

भिन्नादेः ॥३।२।३३॥ तस्य समूह इति वर्तते । भिन्ना इत्येवमादिभ्यः यथाविहितं ल्यो भवति । पुनर्विधानं ठणो वाचनार्थम् । भिन्नाणां समूहः भैक्षम् । भिन्ना गर्भिणी क्षेत्र करीष अङ्गार चर्मन् सहस्र युवति पद्यति अथर्वन् दक्षिणा । इह पाठसामर्थ्यात् गर्भिणी-युवतिशब्दे न पुंवद्भावः ।

वृद्धोत्तोष्टोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुध्याजाद्बुञ् ॥ ३।२।३४ ॥ वृद्धादिभ्यो बुञ् भवति । तस्य समूह इति वर्तते । औपगवानां समूह औपगवकम् । कापटवकम् । औत्तकम् । औष्टकम् । औरभ्रकम् । राक्षकम् । राजन्यकम् । राजपुत्रकम् । वात्सकम् । मानुष्यकम् । आणकम् । 'वृद्धाञ्चेति वक्तव्यम्' [वा०] वार्दकम् । 'प्रकृत्या अके राजन्यमनुष्ययुवानः' इति 'क्यन्त्यनाद्भुत्वापत्यस्य' [३।२।३३] इति यत्वं न भवति । इह वृद्धग्रहणात् सिद्धे राजन्यमनुष्ययोः पृथग्ग्रहणं शापकम् । अपत्याविकारादन्यत्र वृद्धग्रहणेन लौकिकं गोत्रमपत्यमात्रमुच्यते न तु पीत्रायपत्यं वृद्धमिति । तथाहि लोके किञ्चोत्रो भवान् इति पृष्टः वात्स्यायनोऽस्मीत्याह । राजन्यमनुष्ययोस्तु नातिशयत्वात् लौकिकगोत्रमदृशम् ।

केदाराद्यञ्च ॥३।२।३५॥ केदारशब्दाद्यञ् भवति बुञ् च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ठणोऽपवादः । केदाराणां समूहः कैदार्यम् । कैदारिकम् । 'गणिकायाः वञ्च वक्तव्यः' [वा०] गणिकाणां समूहः गणिक्यम् ।

ठण् कवचिनश्च ॥३।२।३६॥ ठण् भवति कवचिनश्च केदाराञ्च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । कवचिनां समूहः कावचिकम् । कैदारिकम् ।

ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् ॥३।२।३७॥ ग्रामादिभ्यस्तल् भवति तस्य समूह इति वर्तते । ग्रामाणां समूहो ग्रामता । जनता । बन्धुता । सहायता । 'गजाञ्चेति वक्तव्यम्' [वा०] गजता ।

चरणेभ्यो धर्मवत् ॥३।२।३८॥ चरणावाचिशब्देभ्यः समूह इत्येतस्मिन्नर्थे धर्म इव त्या भवन्ति । इदमेव शापकम् । अस्त्येतत् 'चरणाधर्मास्मादयोः' [वा०] इति 'वृद्धचरणाञ्जित्' [३।३।६४] इत्यारभ्य चरणाद्धर्मे त्वविधिर्वक्ष्यते, स इहातिदिश्यते । वत्करणं सर्वविशेषपरिमहार्थम् । यथा कठानां धर्मः अठकम् । कालापकम् । मौदकम् । पैपलादकम् । आर्योभकम् । वाजसनेयकम् । छान्दोग्यम् । औक्थिक्यम् । आथर्वणः । 'वृद्धचरणाञ्जित्' इति बुञ् 'छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकवद्वृत्तचटाञ्ज्यः' [३।३।६०] इति ज्यः । 'आथर्वणः' [३।३।१०१] इति च निपात्यते आथर्वणिकानां धर्म इत्यत्र वाक्ये । तथा कठानां समूहः काठकमित्येवमादि योज्यम् ।

अचित्तहस्तिधेनोष्ठण् ॥३।२।३९॥ अचित्तमचेतनम् । अचित्तार्थवाचिभ्यो हस्तिधेनुशब्दाभ्यां च ठण् भवति तस्य समूह इत्यस्मिन् विषये । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । शङ्कुलीनां समूहः शाङ्कुलिकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् । 'पर्वा णस् वक्तव्यः' [वा०] पर्शुनां स्त्रीणां समूहः पार्श्वम् । सिन्वात्पदसंज्ञायां भल्लक्षणेमीरोत्वं न भवति । खण्डिकादिभ्योऽञ् वक्तव्य इति चेत् न वक्तव्यः । नास्ति विशेषोऽपि वा सत्यपि वा । खण्डिकादिषु ये चित्तवत्स्तेभ्य औत्सर्गिकोऽण् सिद्धः । ये त्वचित्तास्ते भिन्नादिषु पठनीयाः । खण्डिका अहन् वदवच्छुद्रकमालत्राद्रिसंज्ञाताः क्षत्रिया इत्यर्थः । तेषां समूह वृद्धलक्षणो बुञ् प्राप्तः । ननु च यथा 'राष्ट्रावप्योः' [३।२।१०२] इत्यत्र राष्ट्रादुच्यमानो बुञ् न राष्ट्रसमुदायान्नवति । काशिकौशलोषु भवा

काशिकोशलीया इति क्त्वा एव भवति । तथेह वृद्धादुच्यमानस्त्यः कथं वृद्धसमुदायादिति ? एवं तर्हि तदन्तविधिना भविष्यति । इदमेव ज्ञापकं सामूहिके ल्ये तदन्तविधिर्भवति । चौद्रकमालवी सेना । चौद्रकमालवकमन्यत् । भिन्नुक शुक्र उल्लुक । अयं यजन्तः बहुल्येऽणं प्रयोजयति । स्वन (श्चन्) युग वरत्र इंस इति स्फिडकादिसामूहिके तदन्तविधिर्ज्ञापितः । तेन औपगवकापटवानां समूहः औपगवकापटवकम् । ब्राह्मणराजन्यकम् । दम्बहस्तिनां समूहः दाम्बहस्तिकम् । गौधेनुकम् । “धेनोर्मज्जपूर्वाया नेष्यते” [वा०] अघेनूनां समूहः आघेनवम् ।

केशाश्वाभ्यां यञ्छो च ॥३१२४०॥ केश अश्व इत्येताभ्यां यथासंख्यं यञ्छ इत्येतौ ल्यौ वा भवतः । केशानां समूहः कैश्यम् । कैशिकम् । अश्वानां समूहः अश्वोष्म् । आश्वम् ।

पाशादेर्यः ॥३१२४१॥ पाश इत्येवमादिभ्यो यो भवति । तस्य समूह इति वर्तते । पाशानां समूहः पाश्या । तृण तृण्या । धूम्या । वात वात्या । लिङ्गं लोकतो ज्ञेयम् । पाश तृण धूम वात अङ्गार पालवाल पिटल पिटाक शकल हल नल वन धृस्व ।

ब्राह्मणमाणववाक्यात् ॥३१२४२॥ य इति वर्तते । ब्राह्मण माणव वाक्य इत्येतौ ल्यो यो भवति तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ब्राह्मणानां समूहो ब्राह्मण्यम् । माणव्यम् । वाक्यम् ।

गोखलरथात् ॥३१२४३॥ गो खल रथ इत्येतैभ्यस्तान्तेभ्यो यो भवति समूहे । गवां समूहः गव्या । खल्या । रथा । योगविभाग उत्तरार्थः ।

जेनूकट्याः ॥३१२४४॥ गो खल रथ इत्येतैभ्यो यथासंख्यं न इन् कट्य इत्येते प्रत्यया (ल्या) भवन्ति । तस्य समूह इति वर्तते । गवां समूहः गोत्रा । खलिनी । रथकट्या । “खलादिभ्य इन् वक्तव्यः” [वा०] ङकिनी । कुट्टम्बिनी । लोकतो लिङ्गव्यवस्था ।

राष्ट्रे ॥३१२४५॥ समूह इति निवृत्तम् ; अर्थान्तरेपादानात् । तस्येति वर्तते । राष्ट्रं जनपदः । तस्येति तासमर्थात् राष्ट्रेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । शिवानां राष्ट्रं शैवम् । जनपदापेक्षया पुलिङ्गता प्रयोक्तव्या । शैवः । असुषः (औषूः) । आभिसारः । “राष्ट्राभिधाने बहुल्ये उस्वक्तव्यः” [वा०] अङ्गानां राष्ट्रम् अङ्गाः । वङ्गाः । सुङ्गाः । “गान्धार्यादिभ्यो वेति वक्तव्यम्” [वा०] गान्धारीणां राष्ट्रं गान्धारयः । वासातः । वसातयः । शैवः । शिवाः । “राजन्यादिभ्यो वा जुञ्ज उस्वक्तव्यः” [वा०] राजन्यानां राष्ट्रं राजन्याः । राजन्यकः । दैवयातवः । दैवयातवकाः । “वित्त्ववनादिभ्यो ल्यमुस् न भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] वैत्ववनकः । आम्बरीषपुत्रकः । आत्मकामेयकः । नेदं बहु वक्तव्यम् । राष्ट्रविवक्षाया निवासविवक्षायाश्च प्रतिनियमात्सिद्धम् । बहुत्वविषये जनपदस्य निवासविवक्षयैव तत्र “जनपद उस्” [३१२४३] इति उस् भवति । गान्धार्यादीनां राजन्यादीनां च उभयो विवक्षा वित्त्ववनादीनां राष्ट्रविवक्षैव ।

राजन्यादेर्बुञ्ज ॥३१२४६॥ राजन्य इत्येवमादिभ्यस्तान्तेभ्यो बुञ्ज भवति राष्ट्रे । राजन्यानां राष्ट्रं राजन्यकः । राजन्यः । आभृति वात्सक (वाभ्रव्य) शालङ्कायन दैवयातव जालन्धरायण कोन्तल आत्मकामेय आम्बरीषपुत्र वसाति वित्त्ववन शैलूष उदुम्बर वैत्वल आर्जुनायन संप्रिय दाक्षि ऊर्णनाभ । आकृतिगणधायम् । मालवशिर्गातबिराटदीनां ग्रहणम् ।

भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो घिघभक्तौ ॥३१२४७॥ आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । भौरिक्यादिभ्यः ऐषुकार्यादिभ्यश्च यथासंख्यं घिघ भक्त इत्येतौ ल्यौ भवति राष्ट्रेऽर्थे । भौरिकीणां राष्ट्रं भौरिकिविधः । भौरिकिविधः । भौरिकि भौरिकि चौपयत चैटयत सैकयत कास्ये (कायेय) नायेजक (नायिज्यक) वालिकान्यक वैकयत् । ऐषुकारिभक्ता । सारसायनभक्ता । ऐषुकारि सारसायन चान्द्रायण द्वयाक्षायण न्याक्षायण

अलायन ताडयन खाडायन लौघीर (लौघीरायण) दासमित्रायण शौद्रायण स (श) यण्ड शौण्ड । वैश्व-
माणव वैश्वधेनव तुण्डदेव सापिशिड ।

तदस्मिन्पुद्गे योद्धूप्रयोजनात् ॥३॥१४८॥ योद्धारश्च प्रयोजनं च योद्धूप्रयोजनम्, तदिति
वासन्मर्थाद् अस्मिन्निति इवमेव यथाविहितं तथैव भवति यत्तदस्मिन्निति योद्धारश्चेत् तद्वदिति । प्रयोजनं चेत्
तद्वदिति । यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्टं युद्धं चेद्वदिति । विद्याधराः योद्धारोऽस्मिन् युद्धे वैद्याधरं युद्धम् । कौरवम् ।
भारतम् । प्रयोजनात् एत्वपि । सुलोचना प्रयोजनमस्मिन् युद्धे सौलोचनम् । स्वायंप्रभम् । सौतारम् । संग्रामे
स्वभिधेये पुलिङ्गता । वैद्याधरः संग्रामः । सौलोचनः संग्रामः । युद्ध इति किम् ? सुभद्रा प्रयोजनमस्मिन्वैरे ।
योद्धूप्रयोजनादिति किम् ? रथा वाहनमस्मिन् युद्धे ।

प्रहरणमिति क्रीडायां णः ॥३॥१४९॥ तदस्मिन्निति वर्तते । तदिति वासन्मर्थादस्मिन्निति इवमेव यो
भवति यत्तद्वत्प्रयोजनं प्रहरणं चेत्तद्वदिति यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्टं क्रीडा सा चेद्वदिति । इतिहरणस्ततश्चेद्वि-
वक्षा । अद्रोक्षेण यत्र वातः सा क्रीडा । दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दण्डा । मौष्ठा । पादा । प्रहरणमिति
किम् ? गन्धोदकसेवनमस्यां क्रीडायाम् । क्रीडायामिति किम् ? असिः प्रहरणमस्मिन् युद्धे ।

श्यैनपातातैलपाता ॥३॥१५०॥ श्यैनपाता तैलपाता इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । श्येनानामिव पातः
श्येनपातोऽस्यां क्रीडायां वर्तते श्यैनपाता । तिलानामिव पातस्तिलपातोऽस्यां क्रीडायां तैलपाता । अस्मिन्नर्थे
यो निपात्यते पूर्वपदस्य च मुमागमः । कथं दण्डपातः क्रिया अस्यां तिथौ वर्तते दण्डपाता तिथिः । मुश-
लपातोऽस्यां वर्तते मौशलपाता भूमिः । पूर्वसूत्रे इतिहरणादन्यत्रापि यौ भवति ।

तद्वेत्यधीते ॥३॥१५१॥ तदिति इष्टमर्थात् वेत्ति अधीते इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं तयो भवति ।
तदिति प्रत्येकं सम्बद्धयते । तद्वेत्ति तदधीते इति । यथा 'तेन वीक्ष्यति स्मर्ति जयति क्षितम्' [३॥१५२०]
इत्यत्र तेनेति । मुहूर्ते वेत्ति मौहूर्तः । औत्पातः । व्याकरणमधीते वैयाकरणः । सैद्धान्तः ।

कतूक्थाविसूत्रान्ताट्ठण ॥३॥१५२॥ सपूपा यज्ञाः क्रतवः । क्रतुविशेषवाचिभ्यो भृद्भ्य उक्था-
दिभ्यः सूत्रान्ताच्च ठण् भवति । तद्वेत्यधीते इति वर्तते । अग्निष्टोमं वेत्त्यधीते वा आग्निष्टोमिकः । राक्षस्यिकः ।
वाजपेयिकः । उक्थादिभ्यः उक्थशब्दः केषुचिदेव सामसु रुढः । स च ओक्थिक्ये वर्तमानस्त्यविधिं लभते ।
उक्थमधीते ओक्थिकः । ओक्थिक्यमधीते इत्यर्थः । ओक्थिक्यशब्दात् न त्वार्वाधर्मवत्यनभिधानात् । एवं
बद्धशब्दोऽपि याज्ञिक्ये त्वविधिं लभते । याज्ञिकः । लोकायतमधीते लोकायतिकः । सूत्रान्तात् - वार्तिसूत्रिकः ।
सांग्रहसूत्रिकः । 'सूत्रान्तादकल्पादेर्विध्यते' [वा०] । तेन काल्पसूत्र इत्येव भवति । सूत्रान्तमहणमुक्थादेः
प्रपञ्चः । उक्थ लोकायत न्याय न्यास पुनरुक्त संशा चर्चा क्रमेतर इलक्ष्य संहिता पद क्रम संघात वृत्ति संग्रह
गण गुण आयुर्वेद वसन्त । सहचरितेऽध्ययने वसन्तात् । वर्षा शरद् । व्यस्तसमस्तात् । शिशिर हेमन्त
प्रथमगुण अनुगुण प्रथमगण । अनुगण इति केचित् । अथर्वन् । 'व्याकृक्ष्यकापसूत्रान्तादकल्पादेः'
[वा०] । वायस्यिकः । सर्पविधिकः । हारितलक्ष्यिकः । आश्वलाक्ष्यिकः । मातृकल्पिकः । पितृकल्पिकः ।
वार्तिसूत्रिकः । अकल्पादेरिति किम् ? काल्पसूत्रः । 'विद्यामाननक्षत्र (विद्या च नक्षत्रे) धर्मेतिपूर्वा'
[वा०] इह विद्यान्ताट्ठणस्तस्यायं प्रतिषेधः । अङ्गविद्यामधीते अङ्गविद्यः । ज्ञात्रविद्यः । नार्मविद्यः ।
त्रैविद्यः । त्र्यवयवा विद्या इति यस्मैऽयं प्रतिषेधः । रसे तु 'रस्योवनपरये' [३॥१५००] इत्युपा भक्तित्वम् ।
तत्र नास्ति विशेषः । 'आख्यानाख्यायिकेतद्वासपुराणेभ्यश्च' [वा०] आख्यानाख्यायिकयोरर्थग्रहण-
मितिहासपुराणयोः स्वरूपग्रहणम् । आख्यानात्-यावकीतिकः । आचिभारिकः । आख्यायिकायाः-वासव-

यार्थम् । पाराशर्येण प्रोक्तं सूत्रमधीयते पाराशरियो भिन्नः । शिलालिना प्रोक्तमधीयते शैलालिनो नटाः । शौनकादिषु “पाराशर्यशिक्षादिभ्यां भिन्ननवसूत्रयोः” [ग० सू० ३।३।७७] इति णिन् । कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनः । कृशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कृशाश्विनः । शौनकादिष्वेव “कर्मन्वृकृशाश्वभ्यामिन्” [ग० सू० ३।३।७७] इति भिन्ननवसूत्रयोरिति वर्तते ।

तदस्मिन्नस्तीति देशः खौ ॥३।२।१७॥ तदिति तत्पर्यार्थद्विस्मिन्नस्तीति यथाविहितं ल्यो भवति । यत्तद्वासमर्थमस्ति चेत् तद्वक्ति । यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्टं देशश्चेत्तद् भवति । समुदायेन खुविषये । इति-करणाद् भूमादिविषये विवक्षा । औदुम्बरः । वाल्वजः । पार्वतः । मत्वर्थोऽनेन बाध्यते ।

तेन निर्वृत्तः ॥३।२।१८॥ देशः खाविति वर्तते । तेनेति मासमर्याद् निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथा-विहितं ल्यो भवति देशः खौ । ककन्देन निर्वृत्ता काकन्दी । मकन्देन निर्वृत्ता माकन्दी । कुशाश्वेन निर्वृत्ता कौशाश्वी । सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्रो परिखा । लाधित्येव । वनेन निर्वृत्तम् । इह यदाऽकर्मका अपि भवः सगयः सकर्मका भवन्तीति कर्मणि निर्वृत्तशब्दो व्युत्पाद्यते, तदा तेनेति कर्तरि करणे वा मा । यदा त्वकर्म-कविषद्वा कर्तरि निर्वृत्तशब्दस्तदा हेतौ भा ।

तस्य निवासादूरभवौ ॥३।२।१९॥ देशः खाविति वर्तते । तस्येति तासमर्यात् निवास अदूरभव-इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं ल्यो भवति देशनाम्नि गम्यमाने । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः “इळः” [२।३।१०२] इत्यधिकरणे घञ् । भवतीति भवः । पचाद्यच् । अदूरे भवः निपातनात्सविधिः । यस्तेर्निवासः वासातम् । औपुष्टम् । शलाकाया निवासः शालाकम् । वाराणस्या अदूरभवा वाराणसी । विदिशाया अदूरभवं वैदिशम् । ग्रीहीमत्या अदूरभवं ब्रैहिमतं नगरम् ।

सुम्भृण्कटेशसेभ्रदण्ययफरिफजिङ्गण्ठणोऽरीहणकृशाश्वर्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मस-
खिसंकाशबलपक्षकर्णसुतङ्गमवराहकुमुदादिभ्यः ॥३।२।२०॥ कुशादयः षोडश त्या ययातंल्यम-
रीहणादिभ्यः षोडशभ्यो गणेश्यो भवन्ति यथासंभवं प्रागुक्तेषु चतुर्थेषु । अरीहणादिभ्यो वुञ् । अरीहस्येन
निर्वृत्तं अरीहणकम् । अरीहण द्रुघण द्रवण खदिर भगल उलुन्द साम्परायण कौष्टायण चैत्रायण त्रैगर्तायन
रायस्योष विपथ निषाय उदण्ड उदञ्जन शालायन खारडायन खण्डवीर्यण काशकृत्स्न क्षाम्भवत शिशपा
किरण रैष्ठ तैह्व वैमतायन सौमायन शारिङल्यायन सुयश विपाश वायस । कृशाश्वर्यदम्भशङ्कण भवति ।
कृशाश्वेन निर्वृत्तं काशाश्वीयम् । कृशाश्व अरिष्ट वेष्टमन् वेप्य विशाल रोमक लोमक ववर शवल
रोमश ववर सुकर पूतर सहश सुख धूम अजिर विनत अवनत इरस अयस् विकुचास अनस्
अवसाय मौद्गल्य । अश्यादिभ्यः खो भवति । अश्या अस्मिन्देशे सन्ति अश्वकः । अश्व । न्यग्रोध ।
शर (शिर) । निलीन । निवास^१ । निवास । वितान । विधान । निबद्ध । विबुद्ध । परिगूढ । उपगूढ ।
उपगूह । उच्चराशमन्^२ । स्थूलबाहु । स्थूलचाह । खदिर । शर्करा । अनहुह । परिवंश । वेणु ।
वीर्य । कुमुदादिभ्यो भवति । कुमुदान्यस्मिन् देशे सन्ति कुमुदिकम् । कुमुद । शर्करा । न्यग्रोध ।
कर्कट । संकट । इत्कट । मन्दु । बीज । अश्वत्थ । बल्वज । प्रथक । गर्त । वरिवाप^३ । अञ्ज ।
पवाश । शिरीष । कूप । विकङ्कत । कासादिभ्य इळो भवति । काशा अस्मिन्देशे सन्ति काशिलम् ।
आश । वास^४ । अश्वत्थ । पलाश । पीलूष । विस । तृण । वर्धूल^५ । कर्दम । नड । वन । कपूर ।
कर्कट । शुद्ध । ता(शा)कटिक । तृणादिभ्यः खो भवति । तृणान्यस्यां सन्ति तृणल । तृण । नड ।

१. निवास अ०, पृ० । २. उच्चराशमन् पृ० । ३. परिवाय अ०, पृ० । ४. वाम पृ० । ५. वर्धूल अ० ।

पर्या । वर्या । मूल । वराण^१ । अर्जुन^२ । जनक^३ । फल । प्रेक्षादिभ्य इन् भवति । प्रेक्षाऽस्मिन्नस्ति प्रेक्षी । फलक । वन्धुक । भुवक^४ । ध्रुवका । क्षिपका । व्यग्रोध । इत्कट । कण्टक^५ । संकट । कपि । अश्मादिभ्यो हो भवति । अश्मानोऽस्मिन् सन्ति, अश्मरम् । अश्मन् । यूथ । ऊथ । मीन । दर्भ । वृन्दा । गुडा । खण्ड । काण्ड । नग । शिला । सख्यादिभ्यो ङ्ग भवति । सख्या निर्वृत्तं साख्यम् । दान्तेयम् । सखि । दन्त^६ । वासवदत्त । अग्निदत्त । वायुदत्त । गोपिल^७ । भल्ल । पाल । चक्रवाक । छगल । अशोक । सिनका । सरकापाल । संकाहादिभ्यो ण्यो भवति । संकाशेन निर्वृत्तं सांकाश्यम् । संकाश । कम्पिल । काश्मीर । शूरसेन । सुपथिन् । सुपथञ्च । मन्मथ । यूथ । अङ्गनाथ^८ । कुल । अश्मन् । कूट । मलिन । तीर्थ । अगस्ति । सर । विरत । विरह । विकर । नासिका । सादिन् । शादिन् । मगदिन् । कस्तिर । खदिर । गडिर । चूडार । मञ्जार । कोविदार । गोहल । चक्रवाक । अशोक । करवीरक । सीरक । सूरक । सुसल । मुखर । वल्गादिभ्यो यो भवति । वलेन निर्वृत्तं वल्यम् । वल । पूल । मूल । ऊल । तल । नल । वच । कल । पक्षादिभ्यः कल् भवति । पक्षेण निर्वृत्तः पाक्षायणः । पक्ष । दुप^९ । अण्डक । मुण्ड । कम्बलिक । यका । चित्रा । अस्तिश्वन् । पथिन् पन्थ च । कुम्भ । सीरक । सरक । सरस । पङ्कल । रोमन् । लोमन् । लोमक । हंसक । सकर्यक । हस्त । विल । कर्णादिभ्यः किल् भवति । कर्णेन निर्वृत्तः कर्णायनिः । कर्ण । वशिष्ठ । अर्क । लुप्त^{१०} । द्रुपद । आनहुड । पाञ्चजन्य । सिङ्ग । कुलिश । कुम्भ । क्लिवन् । जीवन्त । अण्डवीवत् । सुवङ्गमादिभ्य इन् भवति । सुतङ्गमेन निर्वृत्तः सौतङ्गमिः । सुतङ्गम् । मुतिचिष । विप्रचिष । महाचित्त । महापुत्र । श्वेत । अण्डिक । शुक्र । विग्र । वीजवापिन् । शन् । अर्जुन । अञ्जिर । वराहादिभ्यः कण्भवति । वराह अस्मिन्देशे सन्ति वाराहकम् । वराह । पलाश । शिरीष । विनद्ध । स्थल । निवद्ध । निदग्ध । विजग्ध । विभिज । विमग्न । बहु । खदिर । शर्कर । कुसुमादिभ्यः टण भवति । कुसुदानि अस्मिन्देशे सन्ति कौमुदिकम् । कुमुद । गोमय^{११} । रथकार । दशग्राम । अश्वत्थ । शाल्मली । मुनिस्थल । कूट । शुशुकर्य । शुचिकर्ण । इति केचित् । अरीह-
णादिषु कुमुदादिषु पठितस्य शिरीषशब्दस्य वरणादिषु दर्शनात् तस्य पक्षे उस् भवतीति वेदितव्यम् । उक्लञ्च
भाष्यकृता शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषः । तस्य वनं शिरीषवनम् ।

जनपद वस् ॥३॥२॥६१॥ चतुर्ध्वेषु देशे लौ यस्त्यो विहितः तस्य जनपदे देशविशेषेऽभिधेये उस् भवति । पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । उस्तनेन यत्र देशः खुविषयो भवति तत्रायमुस् । इह मा भूत् । उदुम्बरा अस्मिन्देशे सन्ति औदुम्बरे जनपदः ।

वरणादेः ॥३॥२॥६२॥ वरण इत्येवमादिभ्यस्त्यस्योस् भवति चतुर्ध्वेषु उत्पन्नस्य । अजनपदाब्धोऽयमारम्भः । वरणानामदूरमथं वरणा नगरम् । शृङ्गिशाल्मलयः । शिरीषा ग्रामः । गोदौ हृदौ तयोरदूरभवो गोदौ ग्रामः । एवम् आलिङ्ग्यायन । पर्या । सपाटी^{१२} । जालपदी^{१३} । मथुरा । उज्जयनी । गया । तच्छिखा । उरस् । आकृतिगणोऽयम् । तेन वदरी । कदुबदरी । काञ्ची । समन्तपञ्चकस्यादूरमथं समन्तपञ्चकं कुरुक्षेत्रम् इत्येवमादीनां परिग्रहः ।

१. वरण इति काशिकायाम् । २. जन पू० । ३. भुवका । ध्रुवका । पू० । ध्रुवक । ध्रुवका । ब० । ४. कंकट पू० । ५. सखि दन्त पू० । ६. पिङ्ग । गहिर । भ-पू० । ७. काश्मीर पू० । अञ्ज । अङ्गनाथ पू० । ८. ख पू० । ९. दुप स० । १०. गोमठ ब०, स० । ११. सफाटी ब० । सफाटी । १२. जालपदी ब० ।

शर्कराया वा ॥३१२६३॥ शर्कराशब्दादुत्पन्नस्य चातुरर्थिकस्य वा उत्सर्गार्थः । शर्कराशब्दः । कुमुदादिषु वराहदिषु च पाठसामर्थ्यात् पक्षे ठण्कणोः अवयव भवति । शर्कराग्रामः । शर्करिकः । शार्करिकः । “वेङ्गः” [५।२।१२५] इति प्रादेशः । अन्ते उत्सर्गस्येवं विकल्पमिच्छन्ति । तेषां शार्करेत्यपि भवति । अन्यथा विकल्पोऽनर्थकः स्यात् ।

ठण्छौ ॥३१२६४॥ ठण्छ इत्येतौ ल्यौ भवतः शर्कराशब्दात् चतुर्ध्वर्येषु । शार्करिकम् शर्करीयम् ।

नद्यां मतुः ॥३१२६५॥ नद्यामभिधेयायां मृदो मतुर्भवति चतुर्ध्वर्येषु देशे लौ । उदुम्बरा अस्यां सन्ति, उदुम्बरावती । वीरशावती । पुष्करावती । इक्षुमती । द्रुमती । कथं भागीरथी मैमरथी साङ्गवी ? वेत्यनुवृत्तेर्ध्ववस्था ।

मध्वादेः ॥३१२६६॥ मधु इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति चतुर्ध्वर्येषु । अनद्यर्थोऽयमारम्भः । मधु असिन्देशेऽस्ति, मधुमान् । मधु । धिरा । स्याणु । पृथि । इक्षु । वेणु । कर्कन्धु । शमी । कटीर । हिम । चिसरा । सार्यण^२ । उदत् । वा^३दीकी । वल्मीक । इष्टका । शुक्ति । आसुति । आसन्दी । शालाका । वेयवेण ।

कुमुदजडवेतसाङ्गित् ॥३१२६७॥ कुमुद नड वेतस इत्येतैर्म्यश्चतुर्ध्वर्येषु मतुर्भवति द्विष । कुमुदम्यसिन्देशे सन्ति, कुमुदवान् । वेतस्वान् । “महिषाप्तेति वक्तव्यम्” [वा०] । महिष्मान् ।

शिखाया घलः ॥३१२६८॥ शिखाशब्दाद् वलो भवति चातुरर्थिकः । शिखा निर्वृत्त शिखाया अदूरमवं वा शिखावलं नाम नगरम् ।

नडशाङ्गित् ॥३१२६९॥ नडशादाभ्यां वलो भवति द्विषतुर्ध्वर्येषु । नडा असिन्देशे सन्ति नड्वक्षः । शाङ्गवलः ।

उत्कराधेश्छः ॥३१२७०॥ उत्कर इत्येवमादिभ्यश्छो भवति चतुर्ध्वर्येषु यथासम्भवम् । उत्करेण निर्वृत्तम्, उत्करीयम् । उत्कर । संकर । सम्फल । पिप्पल । मूल । अश्मन् । अर्क । पर्य^४ । खण्डाजिन^५ । अग्नि । तिक । कितव । आतप । अंशक^६ ।

नडाधेः कुक् ॥३१२७१॥ नड शब्द आदिर्व्यस्य नडादिः, तस्मात्, नड इत्येवमादिभ्यो यथासम्भवं चातुरर्थिकश्छो भवति कुगागामश्च । नडा असिन्देशे सन्ति नडकीयः । नड । लक्ष । विल्व । वेणु । वेन । वेतस । तृण । इक्षु । काष्ठ । कपोत । क्रौञ्चः प्रादेशश्च । सक्षन् तक्षश्च ।

शेषे ॥३१२७२॥ अपत्यादयश्चतुरर्थपर्यन्ता येऽर्था उक्तास्ततोऽन्यः शेषः, शेषेऽर्थविशेषे यथा-विहितं ल्यो भवति । चतुर्भिरुच्यते चातुरं शकटम् । अथैरुच्यते आश्वो रथः । चतुर्षा एवमते चाक्षुषं रूपम् । आवणः शब्दः । दार्शनं स्पर्शनं च द्रव्यम् । दृषदि पिष्टाः दार्षदाः सकृवः । उत्तूल्लो क्षुरणः, औत्तूल्लो यावकः । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । अनुष्टुपादिरस्य प्रगाथस्य, आनुष्टुभः । पाङ्क्तः । जागतः । स्वार्थेऽनुष्टुबेव आनुष्टुभम् । पाङ्क्तम् । जागतम् । “तेन दृष्टं साम ।” क्रौञ्चेन दृष्टं साम, क्रौञ्चम् । वासिष्ठम् । वैश्रामित्रम् । माधूरम् । “वामदेवाणो वक्तव्यः” [वा०] । वामदेवेन दृष्टं वामदेव्यम् । “कचिद्दृष्टे सामनि जाते चार्थे षोऽभ्योऽण् विधीयते स च बिद्भवतीति वक्तव्यम् ।” उशनसा दृष्टं साम औशनम् । औशनसम् । शतभिषजि जातः शातभिषः शातभिषजः । “काकाटुजि” [३१२।१३१] प्राप्ते

१. पृष्टि अ०, पू० । २. सीर्यण अ० । ३. वादीका पू० । ४. पर्य । सुपर्य । ख-अ०, पू० । ५. अजिन । वक्ताजिन । अग्नि अ०, पू० । ६. अशंक पू० ।

“मसम्बन्धावृत्तुभ्योऽवर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३०] इत्यण् । “इष्टे सामनि वृद्धावृद्धवप् वक्तव्यम्” [वा०] । औपगवेन दृष्टं साम, औपगावकम् । कापटवकम् । “वृद्धचरणाब्धिष्णु” [३।२।१३४] इति हुन् ।

“इष्टे सामनि जाते च शोऽभ्योऽण् वा द्विद्विधीयते । तीयादीकण् च विचार्या वृद्धावृद्धवद्विध्यते ।”

शेष इति लक्षणमधिकारश्चायम् । शेषभूतेषु जातादिव्यर्थेषु धादयो वक्ष्यमाणा वेदितव्याः । तत्स्येदं विशेषेष्वर्थेषु अपत्यसमूहादिषु मा भूवन्निति ।

राष्ट्राधारपारादृघञौ ॥३।२।७३॥ राष्ट्र अवारपार इत्येताभ्यां यथासंख्यं घ ख इत्येती ल्यौ भवतः । राष्ट्रे जातः राष्ट्रियः । अवारपारीयः । “विगृहीतावर्षीयते” । अवाररीयः । पारीयः । “विपरीतावर्षि” पारावारीयः । अवारस्य पारे (रम्) पारावारः समुद्रः, राजवन्तादित्वात् [१।२।६६] परनिमग्नः ।

ग्रामाद्यलञौ ॥३।२।७४॥ ग्रामशब्दात् य लञ् इत्येती भवतः शेषार्थाऽमिधाने । ग्राम्यः । ग्रामीयः । लञो जित्करणं “न्विद्वद्भक्षकविकारे” [३।२।१५१] इत्यत्र पुं वद्भावप्रतिषेधार्थम् । ग्रामीयभार्यः ।

कस्त्र्यादेर्दकञ् ॥३।२।७५॥ कस्त्रि इत्येवमादिभ्यो दकञ् भवति । कुत्सितास्त्रयो यस्या यस्य वा असौ कस्त्रिः, तत्र जातो भवो वा काल्वेयकः । कस्त्रि । उग्मि^१ । पुष्कर । पुष्कल । पौदन^२ । मौदन । उन्वि । कुरिडनी^३ । नगरी । माहिष्मती । चर्मशवती । कुड्या । कुल्या । अनयोर्यत्वं च “ग्रामाण्वेति वक्तव्यम्” [वा०] ग्रामेयकः । “कुक्कुक्षिप्रीषाभ्यो यथासंख्यं द्वास्त्र्यकङ्कारोऽपि वक्तव्यम्” [वा०] कौलेयको भवति अत्र चेतुः, कौलोऽन्यः । कौदेयको भवत्यसिञ्चेत्, कौद्धोऽन्यः । ग्रैवेयको भवत्यलङ्कारश्चेत्, ग्रैवोऽन्यः ।

नद्यादेर्दण् ॥३।२।७६॥ नदी इत्येवमादिभ्यो दण् भवति शेषे । नद्यां जातो भवो वा नादेयः । नदी । मही । वाराणसी । आवस्ती । कौशाम्बी^४ । काशफरी^५ । लादिरी । पूर्वनगरी । पावा । मावा । शौल्वा^६ । दार्वा । सैतव । बहवाया^७ नृषे इति । अत्र केचित् पूर्वनगरीशब्दस्थाने पूर्वनगिरिशब्दं पठन्ति । छेदेन च त्यमुत्पादयन्ति । पुरि भवं पौरयम् । वने भवं वानेयम् । गिरौ भवं गैरेयम् ।

दक्षिणापश्चात्पुरस्तस्त्यण् ॥३।२।७७॥ दक्षिणा पश्चात् पुरत् इत्येतैर्म्यस्त्यण् भवति शेषे । दक्षिणायां दिशि वसति “दक्षिणादा” [३।१।१००] इति आकारे कृते दक्षिणा, तत्र भवो दक्षिणात्यः । पश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

दृफण् कापिश्याः ॥३।२।७८॥ दृफण् भवति कापिशोशब्दात् शेषे । कापिश्याम्भवं कापिश्यावं मधु । कापिश्यायनी द्राक्षा । “बाहयुर्विभ्यद्वेति वक्तव्यम्” बाहायनी । आर्दायनी ।

रङ्गकोः ॥३।२।७९॥ रङ्गकुशब्दात् दृफण् भवति शैषिकः । रङ्गकुशु जातः राङ्गवायणो गौः । “प्राणिभीति वक्तव्यम्” । इह माभूत् । राङ्गवः कम्बलः । कयं राङ्गवो गौः ? शेषे कच्छादिपाठात् अणपि भवति । मनुष्ये त्वभिधेये परत्वात् “तृत्स्थयोर्हुञ्” [३।२।११३] इति हुञ् भवति । राङ्गवको मनुष्यः ।

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यः ॥३।२।८०॥ दिव् प्राच् अपाच् उदच् प्रतीच् इत्येतैभ्यो यो भवति शेषे । दिव्यः । प्राच्यः । अपाच्यः । उदीच्यः । प्रतीच्यः । यदा प्रागादयः शब्दाः भित्तंशकाः कालवाचिनस्तदा परत्वात् “लार्थचिरप्राङ्प्रोक्तम्यस्तनट्” [३।२।१४०] इति तनट् । प्राकृतः ।

१. उग्मि पू० । २. पौदन व०, स० । ३. कण्डिनी अ०, व०, पू० । ४. न्वी । वनकौशाम्बी । का-अ०, व०, पू० । ५. काशपशि । काफरी पू० । कासपारी । सफरी अ० । कासपारी ला-व० । ६. शौल्वा अ०, पू० । ७. बहवाया वषे इति काशि० ।

मेस्तुट् ॥३।२।८१॥ क्लृप्तशब्दो भवति वृद्धागमः शेषे । अत्र परिगणनम् । “अमेष्टुत्तलि-
धेम्ब” इति । अमात्यः । इहत्यः । कृत्यः । तत्तस्यः । तत्रत्यः । परिगणनं किम् ? उपरिष्ठात् जातः,
अपेरिष्ठः । मेर्ममात्रे टिलम् । परतो जातः पारतः । उत्तरादि जातः, औत्तराहः । “दोश्चः” [३।२।८०]
एव भवति । आरातीयः । “मेष्टुव इति वक्तव्यम्” [वा०] नियतं सर्वकालं भवं नित्यम् । “नित्यो गत इति
वक्तव्यम्” [वा०] निर्गतो वर्णाभमेभ्यो निष्पत्यः श्वपचादिः ।

वैषमोह्यस्त्वसः ॥३।२।८२॥ ऐषमस् ह्यस् श्वस इत्येतेभ्यो वा यो भवति । यदा यस्तदा
तुट् । ऐषमस्त्यः । ऐषमस्तनः । ह्यस्त्यः । ह्यस्तनः । श्वस्त्यः । श्वस्तनः । “श्वसस्तुट् च” [३।२।८५] इति
पाक्षिके ठञि, शौचस्तिकः । “द्वजदेः” [५।२।१६] इत्यौच् ।

रूप्यधोर्ण्यः ॥३।२।८३॥ रूप्यशब्दो द्युयस्य तस्मात् यो भवति शैधिकः । वृकरूप्ये जातः
वार्करूप्यः । दुसंशयां परत्वात् “धन्वयोक्तः” [३।२।८६] इति धुञ् भवति । माणिरूप्ये जातः,
माणिरूप्यकः ।

दिगादेरस्त्री ॥३।२।८४॥ दिग्विशेषादेर्मृदः अस्त्री वर्तमानात् यो भवति । व्यणोऽपवादः । शेषे ।
पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः । “बृद्धर्थ” [३।२।८५] षसः । एवम् आपरशालः । दाक्षिणशालः ।
अस्त्राविति किम् ? पूर्वेषुकामसम्यां जातः, पूर्वेषुकामसमः । अपरैषुकामसमः । “दिक्स्वरूपे कौ” [३।२।८५]
इति सः । “प्राचीं ग्रामाणाञ्च” [५।२।१३] इति योरैप् ।

मद्रेभ्योऽण् ॥३।२।८५॥ दिगादेरिति वर्तते । दिगादेर्मृदशब्दात् अण् भवति शैधिकः । “बहु-
त्वेऽद्वोरपि” [३।२।१०३] इति धुञ् प्राप्तः । उदपवादे “बृजिमद्राणः” [३।२।१०३] इति के प्राप्ते
पुनरनेनाण् । पौर्वमद्रः । आपरमद्रः । “दिशोऽमद्राणाञ्च” [३।२।१८] इति पय्युदासादादेरैप् । दिगादे-
रित्येव । मद्रकः । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे अण्प्रहणं राष्ट्रलक्षणायापि धुञो वाचनार्थम् ।

पल्लघादेः ॥३।२।८६॥ पल्लदी इत्येवमादिभ्योऽण् भवति शैधिकः । पल्ल्यां जातः, पल्लदः
पारिधदः । “वा नाम्” [३।२।१०१] इति दुसंशयां छः प्रसज्येत । इह वाहीकशब्दश्चुवाधार्थमुपात्तः ।
गौष्ठीनैकेतीशब्दाभ्यां छः प्राप्तः । वाहीकशब्दत्वाच्च ठञिठौ प्राप्ते । गोमतीशब्दात् “रोहोतीः प्राचाञ्च”
[३।२।१०१] इति धुञ् प्राप्तः । “ओर्वंशे ठञ्” [३।२।८५] इत्यत्र (इत्यतो) देशग्रहणमनुवर्तते ।
गोमती च नदी । “मिषक्षिज्जे नदीवेस” [३।२।८३] इत्यत्र णपितं नदीदेशग्रहणेन न गृह्यते । गोमत्यां
मया मत्स्या गोमता इति । तस्मादिह पाठोऽनर्थकः । एकीयमतमेतत् । अथवा इदमेव शापकम्, नद्यपि
देशग्रहणेन गृह्यते । “मिषक्षिज्जे नदीवेस” [३।२।८३] इत्यत्र नदीग्रहणं जलाशयनियमार्थमुक्तम् ।
भवदुदकानां बृद्ध पक्वद् भवति (न) स्थिरोदकानां कूपसरस्तद्वागानाम् । वैश्वामित्रं च तद्वागं जलकूपश्च
वैश्वामित्रवरत्नूपौ । शरत्तेनशब्दात् “बहुत्वेऽद्वोरपि” [३।२।१०३] इति धुञ् प्राप्तः । पल्लदी । परिष्ठा ।
यकृत् । लोमन् । नक्षत्र । पट्यर । वाहीक । कलकीक । बहुकीट । कमलभित् । गौष्ठी । नैकेती । परिष्ठा ।
उदपान । रोमक । शरत्तेन । गोमदी ।

शकलादिभ्यो वृद्धे ॥३।२।८७॥ शकल इत्येवमादिभ्यो वृद्धे यो विहितस्त्यस्तदन्तेभ्योऽण् भवति
शेषे । शकल्यस्य छात्राः शकलाः । “क्यञ्च्यनाद्भृत्यापत्यस्य” [३।२।१८३] इति यलम् । क्यञ्च्यस्य
छात्राः क्यञ्च्यः । गौक्यस्य गौक्यः । कौशिक्यस्य कौशिक्यः । वृद्ध इति किम् ? शकलो देवताऽस्य शकलः ।
शकलस्येदम् शकलीयम् । उत्तरार्थं च वृद्धग्रहणम् ।

इज्जः ॥३।२।८८॥ वृद्धे यो विहितः इज् तदन्तादण् भवति शेषे । दाक्षेरिदं दाक्षम् । प्लाक्षम् । वृद्ध इत्येव । सौतज्जमेरिदं सौतज्जमीयम् ।

न द्वयच्चः प्राच्यभरतेषु ॥३।२।८९॥ द्वयचो मृदः प्राच्यभरतात् वृद्धादिभन्तादण् न भवति । पूर्वेषां प्राप्तस्य प्रतिषेधः । प्राच्येषु चैदीयाः^१ । पौषीयाः । भरतेषु काशीयाः । वासीयाः । द्वयच्च इति किम् ? पानागारेष्वात्राः पानागाराः । प्राच्यभरतेषु इति किम् ? दाक्षाः । झाक्षाः । “काश्यादेष्टञ्जिठौ” [३।२।९१] इत्यत्र चेदिशब्देन साहचर्याद्देशवाचिनः काशिशब्दस्य ग्रहणम् । इह वृद्धत्यान्ताच्छ उदाहृतः । ननु भरताः प्राच्या एव तेषां किमर्थं पृथगुपादानम् । अन्यत्र प्राच्यग्रहणेन भरतग्रहणं मा भूदित्येवमर्थम् ।

दोश्छुः ॥३।२।९०॥ वृद्ध इति निवृत्तम् । सामान्येनोपादानात् । दोर्मृदश्छो भवति शेषे । सौता-
रीयम् । मालीयम् । “रूप्ययोः” [३।२।८३] छं (छयं) वाधिला परत्वात् “वच्ययोः” [३।२।९१]
इति वृज् । माणिरूप्ये भवः माणिरूप्यकः । “उर्वीच्यमासात् प्रस्थचोरण् वक्तव्यः” [वा०] माषी-
प्रस्थम् । माहकीप्रस्थम् ।

भवत्तष्टण्छुसौ ॥३।२।९१॥ दोरिति वर्त्तते । भवच्छब्दात् ठण् छस् इत्येतौ ल्यौ भवतः शेषे ।
सकारः ‘सिति’ इति पदं संज्ञार्थः । भावकम् । भवदीयम् । “मृदुग्रहणे छिक्कविशिष्टस्य भवत्तीशब्दस्य
ग्रहणे ठण्छुसौः” [वा०] इति वक्ष्यमाणेऽप्युपसर्गवाचिनं पुंवद्भावे तदेव रूपम् । यस्यदाविषु न पठ्यते
शत्रन्तो भवच्छब्दः, तस्मादपि भावतमिति ।

काश्यादेष्टञ्जिठौ ॥३।२।९२॥ काशि इत्येवमादिभ्यः ठञ् जिठ इत्येतौ ल्यौ भवतः शेषे । इवार
उच्चारणार्थः । काशयो जनपदः तत्र जाता काशिकी, काशिका । वैदिकी, वैदिका । काशि । वेदि । संयाति ।
संवाह । अन्युत । मोदमान । संकुलाद । इस्तिकर्ण । कुनामन् । हिरण्य । करण । गोवासन । मौरिक्क ।
भौलिक्क । अरिन्दम । शकमित्र । देवदत्त । दासमित्र । दासग्राम । गोवाहन । तरङ्ग । सौदावतामि* ।
धुवराज । उपराज । सिन्धुमित्र । देवराज । “आपदादिपूर्वपदात् काष्ठान्ताद् ठञ्जिठौ वक्तव्यौ” [वा०] ।
आपत्कालिकी । आपत्कालिका । और्ध्वकालिकी । और्ध्वकालिका । आपद् । ऊर्ध्व । कूप । अनु । पूर्व ।
इत्यापदादिः । दोरिति वर्त्तते । यत्रादुसंज्ञास्तेषां वचनाद् ग्रहणम् । दोरधिकारस्य तु प्रयोगेन देवदत्तस्य
प्राग्देशे वर्त्तमानस्य दुसंज्ञा न वाहीकग्रामे । दोरेव ठञ्जिठौ । कथं भाष्ये प्रयोगः देवदत्तीयाः । देवदत्ताः
इति । “वा माग्मः” [१।१।७१] इत्यत्र वेति व्यवस्थितविभाषा छे कर्तव्ये दुसंज्ञा भवति ठञ्जिठयोर्न
भवति ।

वाहीकग्रामेभ्यः ॥३।२।९३॥ दोरिति वर्त्तते । वाहीकग्रामेभ्यश्छिठौ भवतः शेषे । दक्खिन्नात्ता,
साकलिकी, साकलिका । मान्यपिकी । मान्यपिका । कारतायिकी । कारतायिका ।

वोशीनरेषु ॥३।२।९४॥ दोरिति वर्त्तते । उशीनरेषु वे ग्रामाः, तद्वाचिभ्यश्छिठौ वा भवतः ।
आहूवालिकी, आहूवालिका, आहूवालीया । सौदर्शनिकी, सौदर्शनिका, सौदर्शनीया ।

ओर्वेशे ठञ् ॥३।२।९५॥ इह दो रदोश्च विधिः । उत्तरसूत्रे पुनर्दुग्रहणात् । उवर्णान्ताद्देश-
वाचिनो मृदुष्ठञ् भवति देशे । निषादकर्ण्वा ज्ञातः, नैषादकर्ण्वा । पदञ्चरन्तुकः^३ । छस्य परत्वादयं ठञ्
वाधकः । दाक्षिकर्ण्वा । दोष्ठञ्जिठयोरपि वाधकः । वाहीकग्रामे, नापितवासी ज्ञातः नापितवास्तुकः । देश
इति किम् ? पटोश्छात्राः—याटवाः ।

१. चैकीयाः अ०, ब०, प०, । २. सौधावतानि अ० । सौधावतानि प० । ३. पयञ्चरन्तुकः
अ०, प० । पयञ्चरन्तुकः ब० ।

दोः प्राचाम् ॥३॥२॥९६॥ उद्देश (ओद्देशे) इति वर्तते । उवर्णान्ताद्दोः प्राग्देशवाचिनश्च भवति शेषे । दोरदोश्च पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमेतत् । दोरेव प्राचां नान्यदोः । आढक्यभुक् । नान्दीयस्तुभः । दोरिति किम् । मल्लवास्तु माल्लवास्तवः ।

कन्धायाः ॥३॥२॥९७॥ कन्धाशब्दाद्वज् भवति शेषे । कन्धा प्रावरणम्, उपचाराद् देशोऽपि । कान्तिको गौः ।

वर्णो वुञ् ॥३॥२॥९८॥ वर्णो या कन्धा तस्या वुञ् भवति शेषे । वर्णुर्नाम नदः, तस्य अदूरभवो जनपदो वर्णुः, तद्विषये या कन्धेत्यर्थः । कान्तिको गौः । कान्तिकोऽश्वः ।

धन्वयोः ॥३॥२॥९९॥ दोरिति देश इति च वर्तते । धन्व (धन्व) वाचिनो यकारोऽश्व देश-वाचिनो दोर्वुञ् भवति शेषे । प्राचामिति निवृत्तम् । पारेधन्व (धन्व) नि जातः, पारेधन्व (धन्व) कः । आपारेधन्व (धन्व) कः । पारावतकः । योः । साङ्गास्यकः । कान्तिकः । ठञ्जिष्ठाम्यां योः वुञ् परत्वात् । वाहीकग्रामे । दासरूप्ये जातः, दासरूप्यकः । “ओद्देशे” [३॥२॥९५] ठञः परत्वाद्गोऽश्वे वुञ् भवति । आब्रीतमायी जातः, आब्रीतमायकः ।

प्रस्थपुरयद्धान्तात् ॥३॥२॥१००॥ दोरिति देश इति च वर्तते । प्रस्थ पुर वह इत्येवमन्ताद्देश-वाचिनो दोर्वुञ् भवति । क्लृप्तापवादः । दोरित्यधिकारात्तदन्तत्वे लब्धे अन्तग्रहणमनर्थकमिति चेत् ; असत्सन्त-ग्रहणे तदर्थवाचि दुसंज्ञं गृह्यते । यथा पूर्वसूत्रे बन्धा (धन्वा) र्थवाचि दुसंज्ञं गृहीतम् । मालाप्रस्थे जातः । मालाप्रस्थकः । सौ (शौ) याप्रस्थकः । क्षान्तिप्रस्थकः^१ । नान्दीपुरकः । कान्धीपुरकः । पैलुवहकः । फाल्गुनी-वहकः । पुरान्ताद् “रोहीतोः प्राचाम्” [३॥२॥१०१] इति सिद्धेऽप्यप्रागर्थं वचनम् । प्रस्थाद्यन्तात् ठञ्जि-ष्ठाम्यां परत्वेन वुञ् । पानप्रस्थकः । कौत्कुजीवहकः । एतैस्यो वाहीकग्रामत्वात् ठञ्जिष्ठौ प्रासौ ।

रोहीतोः प्राचाम् ॥३॥२॥१०१॥ दोरिति देश इति च वर्तते । प्राग्ग्रहणं देशविशेषणम् । रेफोऽङ् इकारान्ताच्च दोः प्राग्देशवाचिनो वुञ् भवति शेषे । छापवादः । पाटलिपुत्रकः । ऐकचक्रकः । ईतः खल्वपि । काकन्दी, काकन्दकः । माकन्दी, माकन्दकः । प्राचामिति किम् । दात्तामित्रीय । तपरकरणमसन्देहार्थम् ।

राष्ट्रावयोः ॥३॥२॥१०२॥ दोरिति देश इति च वर्तते । देशविशेषणं राष्ट्राऽवधी । राष्ट्रवाचिनस्तद-वधिवाचिनश्च दोर्वुञ् भवति शेषे । छापवादः । आभिसारे जातः, आभिसारकः । राष्ट्रावधेः, औपुनकः । श्यामायनकः । अवधिग्रहणेनापि राष्ट्रं गृह्यते । किमर्थं तर्ह्युपादानम् । बाधकवाचनार्थम् । “गर्गीयोः” [३॥२॥१०३] राष्ट्रावधेः परमशब्दं बाधित्वा वुजेव भवत्युत्तरसूत्रेण । त्रैगर्तकः । इदं च प्रयोजनम्-मौञ्जिर्नाम वाहीकानामवधिग्रामः, तत्र भवो मौञ्जीयः । ग्रामे अवधौ वुञ् न भवति ।

अङ्गुत्वेऽदोरपि ॥३॥२॥१०३॥ राष्ट्रावयोरिति वर्तते । बहुत्वविषयान्मृदः अदोरपि दोरपि राष्ट्रवाचिन-स्तदवधिवाचिनश्च वुञ् भवति शेषे । अङ्गुत्वरपवादः । अदो राष्ट्रात्-अङ्गेषु जातः आङ्गकः । वाङ्गकः । अदो राष्ट्रावधेः^२ । अङ्गकुन्देषु जातः, आङ्गकुन्दकः । दो राष्ट्रात्, दार्वेषु जातः, दार्वकः । काम्बधकः । दो राष्ट्रावधेः । कालङ्गरेषु जातः, कालङ्गरकः । वैकुलिशेषु जातः, वैकुलिशकः । जङ्गुषु जातः, आङ्गवकः । बहुत्वग्रहणं किम् । जनपदैकदेशबहुत्वेन विवक्षिते वुञ् मा भूत् वर्तनीषु भवति । दोः पूर्वेणैव सिद्धे अपि-ग्रहणं किमर्थम् । उत्तरत्र द्वयोरनुवर्तनार्थम् वाचावाधि “आ(न्या)वेत(न)तकदानेनैव दधिदानस्य, तस्मादशीत्युक्तम् “ओष्ठजः” [३॥२॥९६] परत्वात् राष्ट्रजद्वयो वुञ् । जङ्गुषु जातः, आङ्गवकः ।

१. क्षान्तिप्रस्थकः अ०, पू० । २. कौत्कुजीवहकः पू० । कौत्कुजीवहकः अ० । कौत्कुजीवहकः ब० । ३. तर्हि पृथगुपादानम् अ०, ब०, पू० । ४. धेः । अजमीदे (डे) पु जातः, अजमीदे (ड) कः पू० । ५. विज्ञायेत ब० ।

कच्छाग्निवक्त्रवत्^१ (गर्त)घोः ॥३॥२॥१०४॥ कच्छ अग्नि वक्त्र वत् (गर्त) इत्येव चोर्देश-
वाचिनो मृदो दोरदोश्च वुञ् भवति शेषे । छाणोऽपवादः । भरुकच्छे जातः, भारुकच्छकः । पैपलीयकच्छकः ।
कारडान्नौ जातः कारडान्नकः । वैभुजाग्नकः । तैन्दुवक्त्रकः । सैन्दुवक्त्रकः । बाहुवर्तकः । चाक्रवर्तकः ।

धूमादेः ॥३॥२॥१०५॥ धूम इत्येवमादिस्यो वुञ् भवति शेषे । अग्नादीनामपवादः । धूमे जातः,
धौमकः । धूम । धण्ड । शशादन । अर्जुनका । दण्डायन । स्थली । माणवस्थली । घोषस्थली । पोषस्थली ।
माहकस्थली । राजगृह । सनासाह । भक्षास्थली । समुद्रस्थली । मदस्थल । अञ्जलीकूल । द्याहाव । व्याहाव ।
संस्कीय । पर्वत । गर्भ । विदेह । आनत्त^२ । अनयोरराष्ट्रार्थं ग्रहणम् । पादूर । पाथेय । योकोऽप्यदेशार्थं
ग्रहणम् । घोष । सव्य^३ । पक्षि । आरात्री । आराशकः । धार्तरात्री । धार्तराशकः । इत्येवमादिग्रहणमप्रागर्थम् ।
अमय । तीर्था । तीरकुलात्सीवीरेषु । कौलमन्यत् । समुद्रान्नावि मनुष्ये च । सामुद्रमन्यत् । कुक्षि । अन्तरीप ।
अरुण । उज्जयिनी । दक्षिणापथ । साकेत ।

नगरात्कुत्सादाक्ष्ययोः ॥३॥२॥१०६॥ कुत्सा भिन्दा, दाक्ष्यं नैपुण्यम् । एते तयार्थस्य जातार्दे-
र्विशेषणम् । नगरशब्दाद् वुञ् भवति शैषिकः कुत्सदाक्ष्ययोर्गम्यमानयोः । तत्र कुत्सायां केनाऽयं मुषितः ।
इह नगरे मनुष्येण । सम्भाव्यत एतत्^४ । नागरकाश्चैव हि जागरुका भवन्ति । केनेयं वीणा वादिता इह
नगरे मनुष्येण । उपपद्यत एतन्नागरको (कैः) निपुणा हि नागरका भवन्ति । कुत्सादाक्ष्ययोरिति किम् ।
नागरः पुरुषः । कुत्सादिषु नगरीशब्दः पठ्यते । तस्माद्दृक्किं नागरेवक इति भवति ।

मनुष्यादिष्वरण्यात् ॥३॥२॥१०७॥ आरण्याशब्दान्मनुष्याभिधेये शैषिको वुञ् भवति । “अरण्याण्यो
वक्तव्यः” [वा०] इत्युक्तम्, तस्यायमपवादः । आरण्याको मनुष्यो वा पन्था वा अर्ण्यायो वा न्यायो वा विहारो
वा इस्ती वा । एते मनुष्यादयः । “वा गोमयेतिविति वक्तव्यम्” [वर०] आरण्याका आरण्या गोमयाः । मनुष्या-
दिष्विति किम् ? आरण्या ओषधयः ।

कुरुयुगन्धरेभ्यो वा ॥३॥२॥१०८॥ कुरु युगन्धर इत्येताभ्यां शैषिको वुञ् भवति । “राष्ट्रकण्ठो
वा (राष्ट्रावध्नोः)” [३॥२॥१०९] इति “बहुत्वेऽङ्गोरपि” [३॥२॥१०९] इति नित्ये वुञि प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।
कुरुषु जातः कौरवकः । कच्छादिपाठादपि भवति । कौरवः । वाग्रहणं युगन्धरार्थमेव । युगन्धरेषु जातः
यौगन्धरकः । यौगन्धरः । नृत्तस्थयोरभिधेययोः कुरुशब्दान्नित्यो वुञ् भवति । कौरवको मानुष्यः । कौरव
कमस्य जल्पितम् ।

वृजिमद्रात् कः ॥३॥२॥१०९॥ वृजिमद्रशब्दाभ्यां को भवति शेषे । राष्ट्रलक्षणस्य “बहुत्वेऽङ्गोरपि”
[३॥२॥१०९] इत्यस्य वृजोऽपवादः । वृजिकः । मद्रकः । यस्मिन्प्रकरणे जनपदास्तेषु “सन्धविधौ (न)
तदन्धविधि” इति प्रतिषेधे प्राप्ते “हुसर्वाङ्गविकल्पादेभ्यो जनपदस्य” [वा०] इति सर्वत्र तदन्धविधिः ।
सुमागधकः । सर्वमागधकः । अर्धमागधकः । पूर्वमागधकः । सुमद्रकः । सर्वमद्रकः । अर्धमद्रकः ।
दिक्शब्दपूर्वकत्वे तु मद्रशब्दस्य “विगर् (गा) देरक्षौ” [३॥२॥१०९] “मद्रेभ्योऽङ्” [३॥२॥१०९]
इत्यपि । पौर्वमद्रः ।

१. अत्र गतंयोरिति पाठः सुवचः । पूर्वत्र राष्ट्रवध्योरिति सूत्रकृत्तौ वुञेवोत्तरसूत्रेण त्रैगर्तकः ।
इत्युक्तेः । बाहुवर्तकः । चाक्रवर्तकः । इत्युदाहरणमप्यत्रोक्तं चित्तवम् । २. शब्द अ०, व०, स० ।
३. -स्यत एतन्नागरको (कैः) निपुणा भवन्ति । केने-अ० :-त एतन्नागरको (कैः) वीणा हि नागरका
भवन्ति । केने-अ०, पू० ।

कोकोऽण् ॥३।२।११०॥ देश इति वर्तते । देशवाचिनो मृदः ककारोऽण् भवति । “बहुत्वेऽदोषि” [३।२।१०३] इति वुञ् उपवादः । श्रुष्टिकेषु जातः आर्थिकः । माहिषिकः । आश्मकः । कथमिदं कुषु जातं पेक्षवाक इति ? उच्यते, “ओर्वे” [३।२।१०२] इति ठञ् प्राप्तः, तं बाधित्वा परत्वाद् “बहुत्वेऽदोषि” इति वुञ् प्राप्तः, तस्यै परत्वादप्यण् जायते । “भौवाहस्य” [४।४।१६६] इत्यादिना उल्लंघनं निपात्यते । देश इति वर्तते ।

कच्छादेः ॥३।२।१११॥ कच्छ इत्येवमादिभ्यो देशवाचिभ्योऽण् भवति शेषे । वुञ् उपवादः । काच्छः । कच्छशब्दादबहुत्वविषयादुत्सर्ग एवाण् सिद्धः । तस्य नृत्तस्थयोर्बुञ् यथा स्यादित्येवमर्थः पाठः । कच्छ । सिन्धु । वर्ण । गन्धार । मधुर । मधुरात् । अस्याप्युत्तरत्र वुञ् अर्थः पाठः । द्वीप । अनूप । अजावह । विजापक । अस्यापि कोको वुञ् अर्थः पाठः । कुल्लुत । रङ्गु ।

नृत्तस्थयोर्बुञ् ॥३।२।११२॥ कच्छादेरिति वर्तते । नरि तस्ये चाभिधेये कच्छादेर्बुञ् भवति । अणोऽपवादः । काच्छको ना । काच्छकमस्य हसितं जल्पितम् । काच्छिका चूला । सैन्धवको मनुष्यः । सैन्धवकमस्य हसितं जल्पितम् । सैन्धविका चूला । नृत्तस्थयोरिति किम् ? काच्छो गौः । सैन्धवोऽश्वः ।

गोयथाश्वपदासौ सत्वशब्दौ ॥३।२।११३॥ गवि यवाश्वमपदासौ च जातासौ सत्वशब्दाद् “बहुत्वेऽदोषि” [३।२।१०३] इत्येव वुञ् सिद्धः । नियमार्थमिदं प्रुच्यते । एतस्मिन्नेव जातादिविशेषे वुञ् यथा स्यात् । अन्यत्र उत्सर्गोपवादोऽण् भवति । तद्विशेषणमपदातिग्रहणम् । कच्छादिभ्यस्य पाठोऽनर्थकः । सत्वेषु जातः सत्वको गौः । सत्विका यवाश्वः । नृत्तस्थयोरित्येतदत्र वर्तमानमपदाति विशेषणम् । सत्वको मनुष्यः । सत्वकमस्य हसितं जल्पितम् । सत्विका चूला । एतेषु वुञ् नियमादन्यत्र सत्त्वं वञ्चम् । सत्त्वाः पदातयः ।

गर्तशुगहादिभ्यश्छः ॥३।२।११४॥ गर्त इत्येवं योर्देशवाचिनो गहादिभ्यश्च छो भवति । अणादेरपवादः । स्वाचिद्गर्तीयः । बाहीकग्रामेभ्य इति ठञ्जिठयोः प्राप्तयोरनेन पुनश्छः । वृकगर्तीयः । शृगालगर्तीयः । अण् प्राप्तः । देश इत्यधिकारोऽपि गहादीनां सम्भवापेक्षं विशेषणम् । गहे जातः, गहतीयः । गह । अन्तस्थ । सम । मध्य मध्यम चाण् चरणोत्पत्त्यायमर्थः । पृथिवीमध्यशब्दस्य मध्यमादेशः । पृथिवीमध्ये शब्दस्य वा मध्यमादेशो भवति । माध्यमीयः कठः । चरणासम्बन्धे निवासलक्षणे त्वार्थे अण् भवति । माध्यमा इति । उत्तम । अङ्ग । मगध । पूर्वपक्ष । अपरपक्ष । अयमसाल । उत्तमसाल । समानशील । एकग्राम । एकवृक्ष । इक्षव । इक्षवनीक । अक्षपन्द । कामप्रस्थ । अस्मात् “प्रस्थपुरवहान्तात्” [३।२।१००] इति वुञ् प्राप्तः । लाटारिणः । काठारिणः । लावरीणः । शैशिरि । शौङ्गि । आसुरि । आहिंसि । आमित्रि । व्याहि । भौकि । आस्वि । आग्नि । शर्मि । दैवशर्मि । यौगिकतराकि । वाल्मीकि । माह्वकि । सौमवृत्तिन् । उत्तर । मुखपार्वतसोः खञ्ज । पार्वतीयम् । मुखतीयम् । जनपरयोः कुक्कच । वनकीयम् । परकीयम् । देवस्य च (नग) । देवकीयम् । वेणुकायाश्छण् वञ्च्यः । आकृतिगणोऽयम् । वैशुकीयम् । औत्तरपदीयम् । प्रास्थीयम् । माध्यमकीयम् । मातृकीयम् । चैत्रकीयम् । कृकणवर्णाद् भारद्वाजे देशविशेषे । कृकण्यीयः । पर्यायः ।

१. -वुञ्जुवर्त-पू० । -रित्येव वुञ्जुवर्त-अ० । २. अन्तरपक्ष पू० । ३. लावरीणि अ०, पू० । ४. आहिंस अ० । ५. वयोत्रि अ० । ओति (औति) पू० । ६. वाराकि पू० । वाटारकि अ० । ७. क्षेमवृत्तिन् अ०, पू० । समवृत्तिन् अ० ।

प्राचां कटादेः ॥३।२।११५॥ देश इति वर्तते । तद्विशेषणं प्राग्ग्रहणम् । कटादेः शब्दात्प्राग्देश-
वाचिनश्छो भवति शेषे । अणोऽपवादः । कटनगरीयः । कटग्रामीयः । कटबोधीयः । कटपल्लवीयः ।

राजः क च ॥३।२।११६॥ असम्भवाद् देश इति नाभिसम्बध्यते । राजशब्दस्य ककारोऽन्तादेशो
भवति छुश्च । आदेशार्थमिदम् । “दोश्छः” [३।२।१०] सिद्ध एव । राज इदम् राजकीयम् । एकदेशविकृत-
स्यानन्यत्वाद् “अनोऽखं” [३।२।११०] नाशङ्कनीयम् । तानिर्दिष्टस्यानन्यवद् भाव उक्तः । न चेहाऽनस्ता-
निर्देशः, किं तर्हि राजशब्दस्य ।

दोः कखोः ॥३।२।११७॥ देश इति वर्तते । दोर्देशवाचिनः ककारोः खकारोऽश्छो भवति
शेषे । आरीक्षणीयः । द्रौघणीयः । आश्वत्थिके जातः, आश्वत्थिकीयः । शाल्मलिके जातः शाल्मलिकीयः ।
कोड इत्यणि प्राप्ते कः । सौमुके जातः, सौमुकीयः । वाहीकग्रामलक्षणी ठञ्जिठौ वाधित्वा कोड इत्यण्
प्राप्तः (आष्टकं नाम बन्धः तत्र जातः) आष्टकीयः । बन्धलक्षणे वुजं वाधित्वा कोड इत्यण् प्राप्तः
ब्राह्मणको नाम राष्ट्रम्, तत्र जातः, ब्राह्मणीयः । “शष्टः” [३।२।१०२] वुजोऽपवादः “कोडः”
[३।२।११०] इत्यण् प्राप्तः । खोः खल्वपि । कौटिशिलीयः । माटिशिलीयः । कौटिशिलादयो वाहीकग्रामः ।

कन्थापलदनगरग्रामहृदयोः ॥३।२।११८॥ देश इति वर्तते दोश्छ इति च । युराब्दः
प्रत्येकमभिसम्बध्यते । कन्थादि दोर्देशवाचिनो दोश्छो भवति शेषे । वाहीकग्रामादिलक्षणात् तस्यापवादः ।
दाक्षिकन्यायां जातः, दाक्षिकनीयः । माहकिननीयः । यदोशीनरेषु ग्रामस्तदा नपुंसकलिङ्गत्वम् ।
“चोशीनरेषु” [३।२।११९] ठञ्जिठयोः प्राप्तिः । यदा तु वाहीकग्रामः, तदा स्त्रीलिङ्गत्वम् । “वाहीक-
ग्रामेभ्यः” [३।२।१२०] इति प्राप्तिः । दाक्षिपलदीयः । माहकिपलदीयः । दाक्षिनगरीयः । माहकिनगरीयः ।
दाक्षिग्रामीयः । माहकिग्रामीयः । दाक्षिहृदीयः । गोमयहृदीयः ।

पर्वतात् ॥३।२।११९॥ पर्वतशब्दाच्छो भवति शेषे । अणोऽपवादः । उत्तरत्रामर्त्यविभागा वक्ष्यते ।
मर्त्ये इहोदाहरणम् । पर्वतीयो मनुष्यः ।

वाऽमर्त्ये ॥३।२।१२०॥ मर्त्यादन्यस्मिन्नभिषेधे पर्वतात् वा छो भवति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते
विश्लेषोऽयम् । पर्वतीयं फलम् । पर्वतीयमुदकम् । पार्वतमुदकम् । अमर्त्य इति किम् ? पर्वतीयो ना ।

युष्मदस्मदोऽकक् खच् ॥३।२।१२१॥ देश इति निवृत्तम् । वेति वर्तते । युष्मदस्मद्व्यां वा खच्
भवति, यदा खच् तदाऽकडादेशः । यौष्माकीणः । आस्माकीनः । “क्वि” [१।१।१०] इति दकारस्या-
कडादेशः, अकारोच्चारणसामर्थ्यात् “स्वेऽको दीत्वच्” [३।३।८८] । वेत्याधिकाराच्छो भवति । युष्मदीयः ।
अस्मदीयः ।

अणि ॥३।२।१२२॥ अणि च परतो युष्मदस्मदोरकडादेशो भवति । इदमेव शापकम् । युष्मदस्मद्-
भ्यामणपि भवति । यौष्माकः । आस्माकः ।

तवकममकार्येकार्ये ॥३।२।१२३॥ अनन्तरस्य विचित्रां भवति प्रतिषेधो वेति परिभाषेयम-
नित्या । अणि खञि च परतो युष्मदस्मदोरकार्ये वर्तमानयोस्तवक ममक इत्येतावादेशौ भवतः । स्यान्वा-
देशयोर्व्यासंख्यं न लादेशनिमित्तयोः । तवकीनो मामकीनः । तवको मामकः । युष्मार्क युवयोर्वाऽयं
यौष्माकीणः । प्रथम् आस्माकीनः । यौष्माकः । आस्माकः । अर्थग्रहणं किम् ? तवकममकावेक इत्यु-
च्यमाने, एकवचने परत इति विज्ञायेत, तदाऽत्र को दोषः ? यौष्माकीण आस्माकीन इत्यत्राऽप्यादेशविधिः
स्यात् । तवकीना मामकीना इत्यत्र च न स्यात्, अतोऽर्थग्रहणं क्रियते । तेनैकार्ये वर्तमानयोर्युष्मदस्मदो-
रेकवचने बहुवचने वा परत आदेशविधिः सिद्धो भवति ।

योऽर्द्धोत् ॥३।२।१२४॥ वेति निवृत्तम् । अर्धशब्दाच्छैषिको यो भवति । अर्धोऽपवादः । अर्धं भवः, अर्धः ।

पराधराधमोत्तमादेः ॥३।२।१२५॥ पर अक्षर अधम उत्तम इत्येवमादेरर्धशब्दाद्यो भवति शैषिकः । परार्धः । अवरार्धः । अधमार्धः । उत्तमार्धः । “इदर्थसमाहारे” [१।३।१९] इति वसः । परमर्धपरार्धमिति “विशेषणं विशेष्येति” [१।३।५२] क्ते कृते परार्धं ज्ञातः परार्धः । यदा पराऽवरादिशब्दौ दिग्वाचिनौ तदोत्तरसूत्रेण यठस्थौ प्राप्तौ । तदवाचित्वे त्वण् प्राप्तः । अधमोत्तमादेरेण प्राप्तः । प्रकृतिलमेतेषां मा विज्ञायीति आदिग्रहणम् ।

दिगादेष्टुण् च ॥३।२।१२६॥ अर्धादिति वर्तते । दिगादेरर्धाच्छैषिकष्टुण् भवति चकाराद्यश्च । पूर्वादेर् ज्ञातः, पौर्वाद्धिकः । पूर्वाद्धयः । दक्षिणाद्धिकः । दक्षिणाद्धयः । अपरमर्धं पश्चाद्धं “उपय्युपरिहा-
स्पशब्दात्” [३।१।१७] इत्यप्राद्धं परतोऽपरस्य पश्चभावो वक्ष्यते । पश्चाद्धं ज्ञातः, पाश्चाद्धिकः । पश्चाद्धयः । “अभ्यादेष्टुण् वक्तव्यः” [वा०] दिक्छब्दादन्यो यदाऽर्धस्यादिर्भवति तदा ङण् भवति । पौष्कराद्धिकः । वैष्-
याद्धिकः । वाण्यार्द्धिकः । जैत्रार्द्धिकः । पराऽवरादेस्तु पूर्वेण य एव भवति ।

ग्रामराष्ट्रयोरण्ठञो ॥३।२।१२७॥ दिगादेरर्धादण् ठञ् इत्येतौ ल्यो भवतः शेषेऽर्थे ग्रामराष्ट्रयो-
श्चेदर्थं भवति । ग्रामीकदेशवाची राष्ट्रैकदेशवाची चेदर्थशब्दो भवतीत्यर्थः । ग्रामस्य राष्ट्रस्य वा पूर्वादेर् भवः, पौर्वाद्धः । पौर्वाद्धिकः । दक्षिणाद्धः । दक्षिणाद्धिकः । पाश्चाद्धः । पाश्चाद्धिकः ।

मध्यान्मः ॥३।२।१२८॥ मध्यशब्दाच्छैषिको म इत्यर्थं ल्यो भवति । अणोऽपवादः । मध्यमः । “आदेर्येति वक्तव्यम्” [वर०] आदिमः । “अवाधयोः (अयोऽधसोः) सखं चेति वक्तव्यम्” ।
अधमः । अधमः ।

सम्प्रत्ययः ॥३।२।१२९॥ सम्प्रत्यये ज्ञातादौ मध्यशब्दाद् इत्यर्थं ल्यो भवति । कः पुन इवार्थः स्तार्थः । सम्प्रतिकालो वर्तमानः, सोऽतीताऽनागतयोर्द्वयोरन्तराले वर्तते । एवमन्यदपि द्वयोरन्तराले वर्तमानं सम्प्रतीत्युच्यते । अजातिदीर्घं नातिह्रस्वं मध्यं काष्ठम् । नात्युत्कृष्टो नाप्यपक्वो मध्यो वैयाकरणः । मध्या स्त्री ।

द्वीपावनुसमुद्रे यञ् ॥३।२।१३०॥ समुद्रसमीपे यो द्वीपशब्दस्तस्माच्छैषिको यञ् भवति । कच्छादिपाठादणो नृत्तस्थयोर्बुञ्जश्चापवादः । द्वैष्यम् । द्वैष्या स्त्री । अनुसमुद्र इति किम् ? अनुनदि यो द्वीपः तस्माद्यमुनादिसम्बन्धे द्वीपे भवम्, द्वैपं तृणम् । “कच्छादि” [३।२।११२] पाठादण् । द्वैपको व्यासः । “नृत्तस्थयोः” [३।२।११३] इति बुञ् ।

कालाट्ठञ् ॥३।२।१३१॥ कालविशेषवाचिनो मृदः शैषिकष्टुण् भवति । अणोऽपवादः । वृद्धत्यं^१ परत्वाद् बाधते । मासिकः । सावत्सरिकः । यथा (दा) कदम्बपुष्पयोगात्कालोऽपि कदम्बपुष्प-
वाच्यः, तत्राऽनेन ठञ् । कदम्बपुष्पे देयमृगां कदम्बपुष्पिकम् । ग्रैहिपालालिकम् । “तत्र ज्ञातः” [३।३।१] प्रागितः^२ कालोऽधिकारः ।

आद्धे शरदः ॥३।२।१३२॥ शरच्छब्दात्कालवाचिनः आद्धेऽभिधेये शैषिकष्टुण् भवति । शरदिति हि अतुविशेषः । तत्र “भसन्ध्यातृभ्योऽवर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३८] प्राप्तः, तदपवादोऽयम् । शरदि ज्ञातं^३ शरदिकं आद्धम् । आद्ध इति किम् ? शरदं दधि । शरदं सस्यम् । अद्धाशब्देन चात्र रुदिवशा-
त्पितृकार्यमेवोच्यते, न तु अद्धावान् । तेनेह न भवति शरदः आद्धः । अद्धावानित्यर्थः ।

वा रोगातपयोः ॥३।२।१३३॥ रोगे आतपे चाभिधेये शरच्छब्दाच्छैथिल्यो वा ठञ् भवति । शार-
दिकः । शारदो रोग आतपो वा ।

निशाप्रदोषाभ्याम् ॥३।२।१३४॥ वेति वर्तते । निशाप्रदोषशब्दाभ्यां वा ठञ् भवति शेषे ।
नित्ये कालाहनि प्राप्ते विक्षब्धोऽयम् । निशा सोढोऽस्य, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । निशाप्रदोष-
सहचरितमध्ययनमुपचारात्तयोष्यते ।

श्वस्तस्तुट् च ॥३।२।१३५॥ श्वस्तशब्दादञ् भवति । तस्य च टञ् इकादेशे कृते तुडागमः ।
ठञोऽपवादो भिल्लक्षणास्तुट् प्रातः, तं बाधित्वा “वैश्वभोजसूचसः” [३।२।८३] इति विभाषया ये प्राप्ते
अनेन ठञ् विभाष्यते । श्री कातो भवो वा शौचस्तिका, भवस्तः । आभ्यो तुङ्गे तनप् श्वस्तनः ।

प्रावृष परश्वः ॥३।२।१३६॥ प्रावृष शब्दात् परश्वो भवति शेषे । श्रुत्वणोऽपवादः । प्रावृषण्यो
बलाहकः । यत्वं किमर्थम् ? प्रावृषण्यमात्रेण णिचि क्षिपि अतः खे च कृते णकारस्य श्रवणार्थम् ।

भसन्ध्याद्युत्तम्योऽवर्षाभ्योऽण् ॥३।२।१३७॥ कालादिति वर्तते । “भाद्युक्तः कालः” [३।२।३]
इत्यागतस्याणः “उसभेदे” [३।२।२] इत्युसि कृते कालवाचिभ्यो भेभ्यः सन्ध्यादिभ्यः श्रुत्वभ्यो वर्षावर्जिते-
भ्योऽण् भवति शेषे । ठञोऽपवादः । भेभ्यः—तैषः । पौषः । “तिस्रपुथ्ययोर्भाणि” [३।२।१३७] इति
यत्वम् । सन्ध्यादिभ्यः—सन्ध्यायां भवो जातो वा सान्ध्यः । सन्ध्या सविस्त्रला (सन्धिबेला) । अमावास्या ।
एकदेशविकृतस्य अमावस्याशब्दस्यापि ग्रहणम् । त्रयोदशी चतुर्दशी पञ्चदशी पौर्णमासी प्रतिपद् । “संवत्स-
रात्फलपर्वणोः” [३० सू०] संवत्सरं फलम् । संवत्सरं पर्व । अन्यत्र संवत्सरिको रोगः । श्रुत्वभ्यः—शरद्भेमन्त-
शिशिरवसन्तः प्रैभ्यः । अवर्षाभ्य इति किम् ? वर्षासु साधु वार्षिकं वासः । अश्वग्रहणं लुबाधनार्थम् ।
स्वातौ तदं (भवं) सौजातम् “पदे स्वरैर्यौष्” [५।२।८] इत्यौष् ।

हेमन्तात्तलम् ॥३।२।१३८॥ हेमन्तशब्दादण् भवति तत्तन्नियोगेन चास्य तलम् । हेमन्ते साधुः
हैमनम् । हैमन्तः । (हैमनमनुलेपनम् । हैमनं वासः । टञ्पौष्यते ।) हैमन्तिकमिति । हेमन्ततलमिति वक्तव्यम् ।
कानिर्देशः किमर्थः ? केवलेऽप्यऽण् (हेमन्ताद्) यथा स्यात् । तेन सिद्धम् । हैमन्ती पङ्क्तिः ।

सायञ्चिरम्प्राहरोप्रगेभिभ्यस्तनट् ॥३।२।१३९॥ कालादिति वर्तते । सायं चिरं प्राह्रं प्रगे
शब्देभ्यो भिभ्यः कालवाचिभ्यस्तनट् भवति शेषे । सायंचिरंशब्दयोरभिसंशयोक्त्यसन्नियोगेन मकारा-
न्तता निपात्यते । सायन्तनम् । चिरन्तनम् । प्राह्रप्रगयोस्त्वेकारान्तता निपात्यते । प्राह्रः सोढोऽस्य,
प्राह्रेतनः । प्रगः सोढोऽस्य, प्रगेतनः । ईवन्तात्तनटि “रुक्काद्यतनेकालेभ्यो वा” [४।२।१३९]
इत्यनुपा सिद्धम् । प्रातस्तनम् । दिवातनम् । दोषातनम् । “चिरपक्ष्परारिभ्यस्तनो वक्षतभ्यः” [वा०]
चिरस्तनम् । पक्ष्तनम् । परारित्तनम् । “अन्तादिमो वक्षतभ्यः” [वा०] अन्तिमम् ।

वा पूर्वापरारह्णत् ॥३।२।१४०॥ पूर्वं अपर इत्येवंपूर्वादह्णशब्दाद् वा तनङ् भवति शेषे । नित्ये
कालाहनि प्राप्ते विभाषेयम् । पूर्वाह्णे तनः । पूर्वाह्नतनः । अपराह्णे तनः । अपराह्नतनः । पौर्वाह्निकम् । आप-
राह्निकम् । यदा पूर्वाह्नः सोढोऽस्य तदा पूर्वाह्नतनः, अपराह्नतनः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

तत्र जातः ॥३॥३॥१॥ अण्यदयः परमोत्तर्गाद्यादयश्च शेषिकाः प्रकृताः, तेषामितः प्रभृति प्रकृत्यर्थाः समर्थविभक्त्युपादानं च वेदितव्यम् । तत्रेति ईप्समर्थान्जात इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । सुप्ते जातः स्त्रीभनः । श्रौतः । राक्षसः । शाकलिकः । शाकलिकः । शैविष्यकः ।

प्रावृष्यः ॥३॥३॥२॥ प्रावृच्छब्दादीप्समर्थान्जात इत्येतस्मिन्नर्थे ठो भवति । एष्यस्यापवादः । प्रावृषिकः । प्रावृषिका स्त्री ।

सौ शरदो वुञ् ॥३॥३॥३॥ शरच्छब्दाद् वुञ् भवति खुविषये । तत्र जात इति वर्त्तते । शारदिका मुद्गा । संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिमात्रमिदम् । छाविति किम् । शारदं सस्यम्^१ ।

सिन्धुपकरावण् ॥३॥३॥४॥ सिन्धु अपकर इत्येताभ्यामण् भवति तत्र जात इत्यसिन्धुविषये । सिन्धुषु जातः सैन्धवः । आपकरः । सिन्धुशब्दात् “कच्छादेः” [३॥२॥११२] इत्यण् । “नूतस्थयोः” [३॥२॥११३] इति वुञ् च प्रातः । तयोरपवादे के अपकरशब्दादणोऽपवादे उत्तरसूत्रेण के प्राप्तेऽनेनाणपि विधीयते ।

पूर्वाह्णापराह्णाद्राभ्यामूलप्रदोषावस्कराश्च कः ॥३॥३॥५॥ पूर्वाह्न अपराह्न आर्द्रा मूल प्रदोष अवस्कर इत्येतेभ्यः सिन्धुपकराभ्याश्च को भवति । तत्र जात इति वर्त्तते । पूर्वाह्णे जातः पूर्वाह्नकः । अपराह्नकः । “वा पूर्वापराह्णात्” [३॥२॥१४०] इत्यस्यापवादः । आर्द्रकः । “केऽण्यः” [५॥२॥१२५] इति प्रादेशः । मूलकः । काशवाचित्वे सति मूलक्षयस्याऽणोऽपवादः । प्रदोषकः । “निष्ठाप्रदोषाभ्याम्” [३॥२॥१४५] इत्यस्य बाधा । अवस्करकः । अणोऽपवादः । सिन्धुकः । अपकरकः । आभ्यां पूर्वेषाण्यपि भवति ।

पथः पन्थः ॥३॥३॥६॥ पथिशब्दात्को भवति तत्सन्धियोगेन पथिशब्दस्य पन्थ इत्ययं चादेशः । तत्र जात इति वर्त्तते । पथि जातः, पन्थकः । अणोऽपवादः ।

चाऽमावास्यायाः ॥३॥३॥७॥ अमावास्याशब्दाद् वा को भवति तत्र जात इत्यस्मिन् विषये । “असन्ध्यादिना” [३॥२॥१३०] नित्येऽपि प्राप्ते को विभाष्यते । अमावास्यकः । एकदेशविकृतादमावस्या-शब्दादपि । अमावस्यकः । ष्वेऽण् । अमावास्यः । अमावस्यः ।

अषाढाच्च ॥३॥३॥८॥ अ इत्ययं ल्यो भवति अषाढशब्दात् चकारादमावास्यायाश्च । तत्र जात इति वर्त्तते । अषाढाया इति प्राप्ते अषाढादिति सौत्रो निर्देशः । अषाढायां जातः, अषाढः । अषाढा स्त्री । अमावास्यः । अमावस्यः । “अषिष्ठाषाढाभ्यां कृजति^२ चकत्वव्यम्” [वा०] । अविष्ठीयः । अषाढीयः ।

फल्गुन्याष्टः ॥३॥३॥९॥ फल्गुनीशब्दाद्दो भवति तत्र जात इत्यसिन्धुविषये । नाणोऽपवादः । फल्गुन्यां जातः फल्गुनः । फल्गुनी स्त्री ।

स्थानान्तादुप ॥३॥३॥१०॥ स्थानान्तादुत्तरस्य जातार्थं आगतस्याण्^३ ठम्भवति । गोस्थाने जातः गोस्थानः । अश्वस्थानः ।

शाखाद् गोखरश्च ॥३॥३॥११॥ गो खर इत्येवमपूर्वाञ्छालात्परस्य जातार्थं आगतस्य त्यस्योऽभवति । गवां शाखा गोशालम् । खराणां शाला खरशालम् । “सनासुराञ्छालाशाखानिशा वा” [१॥४॥१०१] इति नप् । गोशाले जातः, गोशालः । खरशालः । लिङ्गविशिष्टस्य कालिङ्गस्याऽपि “ङुप्” [१॥१॥१] इति टाप उपि सति तदेवोदाहरणम् ।

वत्साद् वा ॥३॥३॥१२॥ वत्सपूर्वात् शाखात्परस्य जातार्थं आगतस्य त्यस्योऽभवति वा । वत्सशाले जातः, वत्सशालः । वत्स्यशालः ।

भेभ्यो बहुलम् ॥३।३।१३॥ भशन्देभ्यः परस्य जातार्थे आगतस्य त्यस्य बहुलमुच् भवति । “अविष्टाऽनुराधास्वातिपुनर्वसुतिष्यहस्तविशाखाबहुलाभ्य उभेव भवति” । अविष्टासु जातः अविष्टः । भलक्षणास्याण उप् । “ह्रस्व्युप्” [१।१।४] इति स्त्रीत्यत्योभ्यवति । अत्राणः । स्त्राणि । पुनर्वसुः । तिष्यः । तिष्यग्रहणे पर्यायग्रहणम् । पुष्यः । हस्तः । विशाखः । बहुलः । तथा “चित्ररेवतीरोहिणीभ्यः क्षियामुभेव भवति” । चित्रायां जातः स्त्री अण उप् । ह्रस्व्युप् इति उप् । पुनष्टाप् । ङीप् । चित्रा । रेवती । रोहिणी । पुंसि न भवत्येष । चैत्रः । रैवतः । रोहिणः । “अन्येभ्यो विभावा” । अमिचित् । अमिचितः । अश्वयुक् । आश्वयुजः । (शतभिषक्) । शतभिषजः । कृत्तिकः । कार्तिकः । मृगशिरा । मार्गशीर्षः । शिरसः शीर्षादेशो वक्ष्यते । बहुलवचनादन्यदपि, अन्यो वा दिस्वम् । शतभिषः । शतभिषजः ।

कृतलब्धक्रीतसम्भूताः ॥३।३।१४॥ तत्रेति वर्तते । जात इति निवृत्तम् । अर्थान्तरोपादानात् । तत्रेतीप्समर्थात् कृत लब्ध क्रीत सम्भूत इत्येतेष्वर्थेषु यथाविहितं ल्यो भवति । स्तुप्ने कृतो वा लब्धो वा क्रीतो वा सम्भूतो वा स्तौनः । राष्ट्रियः । जातस्यैव विशेषोऽपेक्षितपरव्यापारः स्वभावनिष्पत्तौ भावः कृत-शब्दस्यार्थः । सामान्येन प्राप्तं लब्धशब्दाऽर्थः । मूल्येन प्राप्तं क्रीतशब्दार्थः । वियमानस्य गुणान्तरयोगः सम्भूतशब्दार्थः । उपचारेणोद स्वयमुत्पादः सम्भूतत्वं जन्मेति चेत्, एवं तर्हि शपकमिदम् जन्मोपचारे तत्र जात इत्येष विधिर्न भवति । “प्रावृष पृष्यः” [३।३।१३] इति एरण्यो भवति । प्रावृषि सम्भूतं हिरण्यम् ; प्रावृषेण्यम् । “प्रावृषण्डः” [३।३।१] इति ङोऽत्र न भवति । पयि सम्भूतं हिरण्यम् इत्यत्र “पयः पन्यः” [३।३।१] इत्येव विधिर्न भवति ।

कुशलः ॥३।३।१५॥ तत्रेतीप्समर्थात्कुशल इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । स्तुप्ने कुशलः स्तौनः । राष्ट्रियः । उत्तरोऽपवादविधिः । कुशलेऽर्थे यथा स्यादिति योगविभागः ।

पयो बुज् ॥३।३।१६॥ पयिशब्दाद् बुज् भवति तत्र कुशल इत्यास्मिन्निषये । पयि कुशलः पयकः ।

आकर्षादेः कः ॥३।३।१७॥ तत्र कुशल इति वर्तते । आकर्ष इत्येषमादिभ्यः को भवति । आकर्षे कुशलः आकर्षकः । आकर्ष । त्रक । पिशाच । पिचण्ड । अशनि । अस्मन् । निचयः । ह्रादः ।

कालात्साधुपुण्यदत्पुण्यमाने ॥३।३।१८॥ कालविशेषवाचिभ्य ईप्समर्थेभ्यः साध्यादिभ्यर्थेषु यथाविहितं ल्यो भवति । हेमन्ते साधु, हेमन्तं वस्त्रम् । शैशिरं भोज्यम् । वसन्ते पुण्यन्ति, वासन्त्यो लताः । ग्रैभ्यो लताः । शरदि पन्यन्ते शारदाः शालयः । ग्रैष्मा यवाः । श्रुतुलक्षणाऽण् सर्वत्र ।

उत्ते ॥३।३।१९॥ तत्रेति ईप्समर्थात्कालविशेषवाचिन उत्तेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । शरदि उप्यन्ते शारदा यवाः । ग्रैष्माः शालयः । उत्तरार्थो योगविभागः ।

आश्वयुज्या बुज् ॥३।३।२०॥ आश्वयुजीशब्दादोप्समर्थाद् बुज् भवति उत्तेऽर्थे । आश्वयुज्यामुक्ता आश्वयुज्या मुद्गाः । अतिकरणमुत्तरार्थम् ।

ग्रीष्मवसन्ताद् वा ॥३।३।२१॥ ग्रीष्मवसन्तशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां बुज् भवत्युत्तेऽर्थे वा । नित्यम् श्रुत्वपि प्राप्ते विकल्पः । ग्रीष्मे उक्ताः ग्रीष्मका ग्रीष्मा वा शालयः । वासन्तका वासन्ता वा यवाः ।

देयमृणो ॥३।३।२२॥ तत्रेति वर्तते । कालादिति च । कालविशेषवाचिनः ईप्समर्थाद् देयमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्तद्देयमृणं चेद्भवति । मासे देयमृणं मासिकम् । आर्षमासिकम् । सांवत्सरिकम् । श्रुण इति किम् ? मासे देया भिक्षा ।

कलाप्यश्चस्थयवबुसाद् बुन् ॥३३॥२३॥ कालाद् देवमृण इति च वर्तते । कलापिन् अश्वत्थ
यवबुस इत्येतैभ्य ईप्समर्थेभ्यो बुन् भवति देवमृणमित्येतस्मिन्नर्थे । ठञोऽपवादः । यस्मिन्काले मयूरा इक्ष्वो
वा कलापिनो भवन्ति स कालः तत्साहचर्यात्कलापी । यस्मिन्नश्वत्थानां फलं सोऽश्वत्थः । यस्मिन्यवबुसं भवति,
सः यवबुसम् (सः) । कलापिनि काले देवमृणम्, कलापकम् । अश्वत्थकम् । यवबुसकम् ।

ग्रीष्मागमस्तमसद् बुन् ॥३३॥२४॥ ग्रीष्मः द्यवस्तम इत्येताभ्यां बुन् भवति । तत्र देवमृणमिति
वर्तते । ग्रीष्मे देवमृणम् ; ग्रीष्मकम् । अस्तमसोऽपवादः । आवरसमकम् । ठञोऽपवादः । आवरसमा,
आवरसमम् । “तिष्ठद्गवादि” [१।३।१४] इति ह्रस्व इत्येके ।

संवत्सराऽग्रहायणीभ्यां ठञ् च ॥३३॥२५॥ संवत्सर-आग्रहायणीशब्दाभ्यां ठञ् भवति
बुन् च । तत्र देवमृणमिति वर्तते । संवत्सरे देवमृणं सांवत्सरिकम् । सांवत्सरकम् । आग्रहायणिकम् ।
आग्रहायणकम् । वेति षष्ठ्ये ठञ्प्रद्वयं सन्ध्यादितु “संवत्सरत्कलपर्वणोः” [ग० सू० ३।२।११०]
इत्यस्याणो बाधनार्थम् ।

रौति मृगः ॥३३॥२६॥ तत्रेति वर्तते कालादिति च । कालविशेषवाचिन ईप्समर्थाद् रौति
मृग इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । निशायां रौति मृगः, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः ।
“निशाप्रदोषाभ्याम्” [३।२।१२४] इति ठञ्णौ । मृग इति किम् ? निशायां रौति उल्लूकः ।

तदस्य सोढम् ॥३३॥२७॥ सोढमभ्यस्तम् । कालादिति वर्तमानमर्थाद् वान्तं सम्पद्यते । तदिति
वासमर्थात्कालविशेषवाचिनो मृदोऽस्येति तार्थे यथाविहितं ल्यो भवति । यत्तद्वासमर्थं सोढं चेत्तद्
भवति । निशा सोढाऽस्य, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । साहचर्यान्निशादिशब्देनाध्ययन-
मन्त्रेष्टम् ।

तत्र भवः ॥३३॥२८॥ लब्धात्मलाभ उपलभ्यमानो भवः । तत्रेतीप्समर्थाद् भव इत्येतस्मिन्नर्थे
यथाविहितं ल्यो भवति । सौध्नः । राष्ट्रियः । अनुवर्तते तत्रग्रहणं कालसम्बन्धम् (सम्बद्धम्), पुनस्तत्रग्रहणं
कालनिवृत्त्यर्थम् । इह प्रायभवग्रहणं च कर्तव्यम् । अनित्यभवः प्रायभवः । स्रुध्ने प्रायभवः सौध्नो
मनुष्यः । नियतो भवस्तत्र भवः । यथा सौध्नः प्राकारः । न कर्तव्यम् । तत्र भव इति प्रकृत्य “जिह्वायूष्मा-
ङ्गुलेः” [३।३।३८] ल्यो विधीयते । स यथैव तस्मिन्दृष्टापचारे अङ्गुलीयमित्यादौ भवति, एवं प्रायभवेऽपि
भविष्यति ।

दिग्वादेयः ॥३३॥२९॥ दिग् इत्येवमादिभ्यो यो भवति । तत्र भव इति वर्तते । अणस्कृत्य चा-
यमपवादः । दिशि भवो दिश्यः । दिश् । वर्ग । पूर । गण । पक्ष । वाप । मित्र । मेवा । अन्तर ।
पथिन् । रश् । अलीक । उखा । साक्षिन् । आदि । अन्त । मुखजवनग्रहणमदेहाकार्यम् । सेना-
मुखम् । सेनाबधनमिति । मेघ । यूथ । “उदकास्संज्ञायाम्” [ग० सू०] उदस्या ल्यो । औदकोऽन्यः ।
न्याय । वंश । अनुवंश । वेश । आकाश ।

देहाङ्गात् ॥३३॥३०॥ अङ्गमवयवः । देहाङ्गवाचिनो यो भवति तत्र भव इत्यस्मिन् विषये ।
अणोऽपवादः । तस्य तु परत्वादेव बाधकः । दन्तेषु भवः, दन्त्यः । ओष्ठ्यम् । मुख्यम् । तालव्यम् । इह
तद्वन्तविधिर्यक्तव्यः । कण्ठतालव्यम् । दन्तोष्ठ्यम् ।

इति कृत्तिकलसि वस्त्यस्तहेर्बु ॥३३॥३१॥ इत्यादिभ्यो ढञ् भवति । तत्र भव इति वर्तते ।
इतो भवं दात्तैयम् । अणोऽपवादः । देहाङ्गत्वे यस्यापवादः । कलस्यां भवम् कालसेयम् । अणोऽपवादः ।

वास्तेषुम् । यस्यापवादः । असृजस्त्यसन्नियोगेऽस्तिभावो निपात्यते । असृजि भवम्, आसृजेषुम् । प्रकृत्यन्त-
रमस्तिशब्दः । आश्रये विषयम् । अणोऽपवादः ।

ग्रीवाभ्योऽण् ॥३॥३३॥ ग्रीवाः शिरोधमन्यः । ग्रीवाशब्दादण् भवति ढञ् च तत्र भव
इत्यस्मिन् विषये । यस्यापवादः । ग्रीवासु भवं ग्रीवम् । ग्रीवेयम् ।

गम्भीराज्ज्यः ॥३॥३३॥ गम्भीरशब्दाज्ज्यो भवति । गम्भीरे भवम् । गम्भीर्यम् । अन्यज्य-
मिदम् । “गम्भीरवहिर्देवपञ्चजनेभ्य इति वक्तव्यम्” [वा०] बाह्यम् । देव्यम् । पाञ्चजन्यम् ।

हात् ॥३॥३४॥ तत्र भव इति वर्तते । हसंसकान्मृदो ज्यो भवति । अणोऽपवादः । हसंसकेभ्यः
परिमुखादिभ्य एवेष्पते । परिमुखे भवम्, परिमुख्यम् । परिमुख परिहन् पयोष्ठ पर्युत्तुल्ल परिशाल परिशील
अनुसीर उपसीर उपस्थूय उपबाल उपकपाल अनुपय अनुरथ परिरथ अनुगङ्ग अनुतिल अनुमाप अनुयय
अनुयूथ अनुवंशो येषु परिपूर्वेषु वर्जनेनार्थप्रतीतिः, तेषां “पर्यपाद्वहिर्देवः कया” [१३।१०] इति
इसः । अन्यत्र “कि” [३।१।६] इति योमविभागात् । परिमुखादेरिति किम् ? औपकूलम् । हादिति
किम् ? परिगतं मुखं वसे य एव भवति । परिमुख्यम् ।

अन्तरादेष्टम् ॥३॥३५॥ हादिति वर्तते । अन्तःशब्दादेर्हाड् भवति । अणोऽपवादः । अन्तः-
शब्दो भिन्नं शब्दो विभक्त्यर्थः । अन्तर्गद् भवम्, आन्तर्गद्दिकम् । आन्तरगारिकम् । “पुरान्तात्प्रतिषेधो
वक्तव्यः” [वा०] अन्तःपुरे भवम्, आन्तःपुरम् । अत्रेष्टयः ।

“समानाच्च, तदादेशश्च, अथ्यात्मादिषु चेष्यते । ऊर्ध्वावृद्धमाप्य देहाच्च कोकोत्तरपदादपि ॥” [वा०]
समाने भवम्, सामानिकम् । “तदादेशश्च” सामानग्रामिकम् । सामानदेशिकम् । “अध्यात्मादिषु” ।
आध्यात्मिकम् । आधिदैविकम् । आध्यात्मादिरकृतिगणः । ऊर्ध्वदमात्, और्ध्वदमिकम् । केचिदूर्ध्वशब्देन
समानार्थमूर्ध्वं शब्दं मान्तं पठन्ति । तेषाम् और्ध्वन्दमिकम् । और्ध्वन्देहिकम् । “कोकोत्तरपदादपि” ।
ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् ।

“मुखपार्श्वतसोरायः कुम्भजनस्य परस्य च । ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मोचौ च द्वौ मतौ ॥” [वा०]
मुखपार्श्वार्थ्यां तसन्तात्पर्यामीवो वक्तव्यः । मुखतीयम् । पार्श्वतीयम् । मेर्ममात्रे टिलम् इति टिलम् ।
कुम्भजनस्य परस्य च । जनकीयम् । परकीयम् । “मध्यादीयो वक्तव्यः” । मध्योयः । “मण्मोचौ च द्वौ मतौ
मध्यादेश” । माध्यमः । मध्यमीयः ।

“मध्यो मध्यन्दिनश्चास्मादुप् स्यात्सो अजिनाराथा” [वा०] । मध्यशब्दो मध्यं रूपमा-
पद्यते । दिनश्चास्मात्स्यः । मध्ये भवम्, मध्यन्दिनम् । उप् स्यात्सो अजिनान्ताप्य च वक्तव्यः । अश्वस्थानि
भवा, अश्वस्थाना । वृकाजिने भवः, वृकाजिनः । अण् उप् ।

उपाज्जानुनीविकर्णोत् ॥३॥३६॥ उपपूर्वभ्यो जानु नीवि कर्ण इत्येतेभ्यश्चञ् भवति । तत्र
भव इति वर्तते हादिति च । उपजानु भवम्, औपजानुकम् । औपनीविकम् । औपकर्णिकम् । देशज्ञानज्ञानस्य
यस्यापवादः । इह कस्मान्न भवति, अपजानु भवं गङ्गिवति । अनभिधानात् ।

ग्रामात्पर्यन्वोः ॥३॥३७॥ हादिति वर्तते । परि अनु इत्येवंपूर्वाद् ग्रामशब्दादञ् भवति तत्र भव
इत्यस्मिन्विषये । परिग्रामिकः । आनुग्रामिकः । अणोऽपवादः ।

जिह्वामूलान्गुलेरङ् ॥३॥३८॥ हादिति निवृत्तम् । तत्र भव इति वर्तते । जिह्वामूल-अङ्गुलि-
शब्दाभ्यां छौ भवति । यस्यापवादः । जिह्वामूलीयः । अङ्गुलीयः ।

वर्गान्तात् ॥३॥३९॥ वर्गशब्दान्ताच्च छौ भवति तत्र भव इत्यस्मिन्विषये । अशब्देऽपवादो
वक्ष्यते । शब्द इहोदाहरणम् । कवर्गीयः वर्णः । चवर्गीयः ।

यस्यौ वाऽशब्दे ॥३॥४०॥ तत्र भव इति वर्तते । वर्णान्तात् य ल इत्येतौ त्यौ वा भवतः शब्दा-
दन्यस्मिंस्त्यार्थे । पूर्वेषु नित्ये छे प्राप्ते विभाषेयम् । भरतवर्गे भवः, भरतवर्ग्यः । भरतवर्गीयः । भरत-
वर्गीयः । बाहुबलिवर्ग्यः । बाहुबलिवर्गीयः । बाहुबलिवर्गीयः ।

कर्णललाटभूषणे कः ॥३॥४१॥ तत्र भव इत्यस्मिन्निषये कर्णललाटशब्दाभ्यां को भवति
समुदायेन भूषणेऽभिधेये । कर्णिका । ललाटिका । स्वभावतः स्त्रीलिङ्गः । भूषण इति किम् ? कर्णम् ।
ललाटम् ।

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्येयाख्यायाः ॥३॥४२॥ व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम् ।
व्याख्यातव्यं व्याख्येयम् । तस्याख्या नाम व्याख्येयाख्या । तस्येति तासमर्थाद् व्याख्येयाख्यारूपाद् मृदो
व्याख्यानेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति चकारात्तत्र भव इत्यस्मिंश्च वाक्यार्थे । इतिशब्दः पूर्ववाक्यपरि-
समाप्त्यर्थः । सुपां व्याख्यानं सुप् भवे वा लैपम् । निष्ठां व्याख्यानं निष्ठा भवे वा गैप् । एवं
कार्तम् । हार्तम् । व्याख्येयाख्याया इति किम् ? पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानं सुकौशला । पाटलिपुत्रं सुकौशलया
व्याख्यायते सन्निवेशद्वारेण । न पुनर्लोकं तद्व्याख्येयस्य ग्रन्थस्याख्याभूतम् । ननु च तस्य व्याख्याने
अर्थे "तस्येदम्" [३॥४२॥] इत्यनेनैव त्वविधिः सिद्धः । चकारानुकृष्टेऽपि तत्र भवेऽर्थे पूर्वमेव
त्वविधिरुक्तः । तत्किमनयोर्गुणपदपादानम् ? वक्ष्यमाणोऽपवादविधिः । व्याख्येयाख्याया अनयोरर्थयोर्वथा
स्यादित्येवमर्थम् ।

बहुचो बहुलं ठञ् ॥३॥४३॥ बहुचो व्याख्येयाख्याभूतान्मृदो बहुलं ठञ् भवति तस्य व्याख्याने
तत्र भवे चार्थे । अयादेरपवादः । बहुलग्रहणं बहुप्रपञ्चार्थम् । सविधौ वे बहुचः तेभ्यः श्रुकारान्तब्राह्मण-
प्रथमाध्वरपुरश्चर्यानामाख्यातपौरोडाशेभ्यः ऋतुभ्यश्च गौशमुख्येभ्यश्च ठञ् भवति । सविधौ - पल्लवत्वस्य
व्याख्यानम्, पल्लवत्वे भवं पालणत्विकम् । श्रुकारान्तात् - चातुर्होतृकम् । पाञ्चहोतृकम् । ब्राह्मणिकम् ।
प्राचमिकम् । आध्वरिकम् । पौरश्चर्यिकम् । नामाख्यातिकम् । विष्टीतादपि । नामिकम् । आख्यातिकम् ।
पौरोडाशिकम् । मुख्येभ्यः ऋतुभ्यः - आग्निष्टोमिकम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् । पाकयज्ञिकम् । भव-
यज्ञिकम् । गौशेभ्यः - पाञ्चौदनिकम् । दाशौदनिकम् । श्रुतिभ्योऽध्यादैर्मवति । वाशिष्ठिकोऽध्यायः । वैश्व-
मित्रिकोऽध्यायः । अन्यत्र वाशिष्ठी श्रुक् । तित्तेषु न भवति । संहिताया व्याख्यानं तत्र भवं वा
संहितम् । बहुच इति किम् ? कार्तम् । हार्तम् । व्याख्येयाख्याया इत्येव । मथुरायां भवः, माथुरः ।

द्वयजृचः ॥३॥४४॥ द्वयचो मृद श्रुक्छन्दाच्च ठञ् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे ।
अयादेरपवादः । अङ्गस्य व्याख्यानम्, अङ्गे भवं वा आङ्गिकम् । पौर्विकम् । तात्त्विकम् । नामिकम् । श्रुचां
व्याख्यानं श्रुचु भवं वा आर्चिकम् ।

पुरोडाशादृक् ॥३॥४५॥ पुरोडाशशब्दादृक् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे । पुरो-
डाशाः पिष्टपिण्डाः । साहचर्यात्तेषां संस्कारको मन्त्रीऽपि तथोक्तः । पौरोडाशिकी ।

छन्दसो यः ॥३॥४६॥ छन्दःशब्दादो भवति तस्य व्याख्यान इत्येवास्मिन्निषये । द्वयजृच-
ठञोऽपवादः । छन्दसो व्याख्यानं छन्दसि भवं वा छन्दस्यम् ।

श्रुगयमादेऽद्याण् ॥३॥४७॥ श्रुगयन इत्येवमादिभ्यो मृद्व्यश्छन्दःशब्दाच्चाण् भवति तस्य
व्याख्याने तत्र भवे चार्थे । श्रुगयनस्य व्याख्यानः, श्रुगयने भवो वा, आर्गयन्तः । आण् परतः श्रुगयनस्य

शत्वमिष्यते । अगयन । पदव्याख्यान । छन्दोव्याख्यान । छन्दोमान । छन्दोभाषा । छन्दोविजित । छन्दो-
विचिति । न्याय । पुनरुक्त । निरुक्त । व्याकरण । निश्चय । निगम । वास्तुविद्या । अङ्गविद्या । छत्रविद्या ।
उत्पात । उत्पाद । संवत्सर । मुहूर्त । निमित्त । उपनिषत् । भिद्य । इति अगयनादिः । छन्दस् । छन्दसः
पृथग्ग्रहणं पूर्वेषु यार्थम् । पुनरग्रहणं बाधकस्य ठञ् : छस्य च बाधनार्थम् ।

तत्त आगतः ॥३॥३॥४८॥ तत् इति काथाम् अर्थात् आगत इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति ।
सुध्नादागतः सौध्नः । राष्ट्रियः । मुख्यस्याऽपादानस्य सम्प्रत्ययः । सुध्नादागच्छन् वृक्षमूलादागत इति
वृक्षमूलशब्दात्त्यो न भवति ।

आयस्थानेभ्यश्छञ् ॥३॥३॥४९॥ द्रव्यागमनमायः । स यस्मिंस्तिष्ठत्युत्पत्तिद्वारेण तदायस्थानम् ।
तद्वाचिभ्यश्छञ् भवति तत् आगत इत्यस्मिन्निधये । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वादेव बाधकः । शुल्क-
शालाया आगतं शौल्कशालिकम् । आतरिकम्* । आपणिकम् । गौहिकम् । दौवारिकम् । बहुत्वनिर्देशः
स्वरूपनिरासार्थः ।

शुण्डिकादिभ्योऽण् ॥३॥३॥५०॥ शुण्डाशब्दो मश्वचनः, तस्मान्मत्वर्थीये ते (त्ये) कृते शुण्डिक
इति भवति । शुण्डिक इत्येवमादिभ्योऽण् भवति तत् आगत इत्येतस्मिन्निधये । शुण्डिकादागतः शौण्डिकः ।
शुण्डिक । कृष्ण । स्थण्डिल । उदक । उरपान । उपल । तीर्थ । पिप्पल । भूमि । तृण । पर्ण ।
पुनरग्रहणं किम् ? आयस्थाने ठणः, “शेडादियुक्तकणाद् भास्वञ्” इति को विहितस्तस्याऽ-
पि बाधनार्थम् ।

यौनमौलाद्वुञ्ज् ॥३॥३॥५१॥ जन्मसम्बन्धेन योनेरिमे, योनेरागतः वा, यौनाः शब्दा
मातुलादयः । विद्यासम्बन्धेन मुखस्येमे, मुखादागता वा मौला उपाध्यायादयः, अतिवादयश्च । यौन-
मौलेभ्यः शब्देभ्यश्छञ् भवति तत् आगतेऽर्थे । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वाद् बाधकः । मातुला-
दागतं मातुलकम् । मातामहकम् । पैतामहकम् । मौलेभ्यः — उपाध्यायादागतम् । औपाध्यायकम् ।
आचार्यकम् । शौध्यकम् । आर्त्विजकम् ।

अतष्टञ् ॥३॥३॥५२॥ अकारान्तेभ्यो यौनमुखे(मौले)भ्यः शब्देभ्यश्छञ् भवति तत् आगतेऽर्थे ।
यौनेभ्यो आतुरागतं आतृकम् । स्वातृकम् । मातृकम् । मौलेभ्यः — होतुरागतं होतृकम् । पौतृकम् ।
औद्गातृकम् । पूर्वस्य वुञोऽपवादः ।

पितुर्यश्च ॥३॥३॥५३॥ पितृशब्दाद् य इत्ययं त्यो भवति ठञ् च तत् आगतेऽर्थे । पितृरागतं
पितृकम् । “रीदुतः” [५।२।१३६] रीदुदेशः “यस्य ह्यान्व” [४।४।१३६] इतीकारस्य खम् ।
पदे पैतृकम् ।

वृद्धादङ्गवत् ॥३॥३॥५४॥ वृद्धत्यान्तान्मृदः अङ्ग इव यधिधिर्भवति । वृद्धमिहापत्यमात्रम् । यथेह
भवति । गर्गाणामङ्ग, गर्गाः । वैदः । “सङ्गाङ्गकक्षणघोषेऽज्यजिजामणि” [३।३।६६] इत्यण् तथा गर्गस्य
आगतम्, गर्गम् । वैदम् । अङ्गग्रहणे वृद्धान्तस्ये (द्धत्यान्तस्ये) दमर्थे तस्येदमर्थसामान्यं लक्ष्यते । तेन वुञोऽ-
प्यतिदेशः सिद्धः । औपगवा (ना) मिदम्, “वृद्धवरणाभिनत्” [३।३।६७] इति वुनि कृते, औपगवकम् ।
नाढायनकम् । तथा औपगवादागतम् औपगवकम् । नाढायनकम् ।

१. आसरिकम् ४०, सं० । २. -द्वगत्स्येदमर्थं सामा— ४० । -द्वस्येदमर्थं तस्येदमर्थसामा—
४० । -द्वस्येदमर्थं सामा—५० ।

हेतुमनुष्याद् वा रूप्यः ॥३३॥५५॥ तत आगत इति वर्तते । हेतुस्यो मनुष्येभ्य वा रूप्य इत्ययं ल्यो भवति । हेतुभ्यः कारणाद्, धेनोरगतं धेनुरूप्यम् । विश्वरूप्यम् । कररूप्यम् । पदे गेहादिलक्ष्य-
शब्दः । समीयम् । विषमीयम् । पापीयम् । मनुष्येभ्यः-देवदत्तादागतं देवदत्तरूप्यम् । जिनदत्तरूप्यम् । पदे
देवदत्तकम् । जिनदत्तकम् । देवदत्तकल्पकम् । हेतौ का भवतीति मनुष्येभ्योऽपादानलक्षणा का ।

मयद् ॥३३॥५६॥ हेतुस्यो मनुष्येभ्यश्च मयद् भवति तत आगतेऽर्थे । समाद्धेतोरागतं सममयम् ।
पापमयम् । मनुष्येभ्यः-देवदत्तादागतम्, देवदत्तमयम् । जिनदत्तमयम् । जिनदत्तमयी । योगविभागो यथा-
संख्यनिवृत्त्यर्थः ।

प्रभवति ॥३३॥५७॥ तत इत्येव वर्तते । तत इति कासामर्थ्यान्ख्यामृदो यथाविहितं ल्यो
भवति । प्रथमं भवति प्रभवति । भवतिरिहोपलब्धिक्रियः, अनेकार्यत्वाद् धूनाम् । सुप्नात् प्रभवति, सौप्नः ।
राष्ट्रियः । हिमवतः प्रभवति, हैमवती गङ्गा । शरदी सिन्धुः ।

विदूराब्ज्यः ॥३३॥५८॥ ततः प्रभवतीति अनुवर्तते । विदूरशब्दाब्ज्यो भवति । अणोऽपवादः ।
विदूरात्प्रभवति, वैदूर्यो मणिः । यदि प्रथमं भवति प्रभवतीत्युच्यते बालवायादगिरेरसौ प्रभवति न विदूराभग-
रात् । कथं ततस्त्योत्पत्तिः ? एवं तर्हि “वाक्वायो विदूरञ्च प्रकृत्यन्तरमेव वा । नैवं तत्रेति चेद्भूमात् जित्वरी-
वदुपाचरेत् ॥” बालवायस्य लभते विदूरमादेशञ्च । यथा शिवादिषु विश्रवःशब्दो विश्रवणारवणादेशौ
अर्था च लभते । प्रकृत्यन्तरमेव वा बालवायस्य विदूरशब्दः । अत्र्यविकन्यायेन विदूरादेव त्यः । नैवं तत्रेति
चेद्भूमात् जित्वरीवदुपाचरेत् । यथा वाणिजाः वाराणसीं जित्वरीति मङ्गलार्थमुपाचरन्ति । एवं बालवायोऽभ्यु-
पचाराद् विदूरशब्देनोक्तः । अथवा विदूरादेव मणित्वेन प्रभवति ।

तद्गच्छति पथिदूतयोः ॥३३॥५९॥ तदितीप्समर्थाद्गच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति
योऽसौ गच्छति पन्था दूतो वा चेद् भवति । सुप्नं गच्छति, सौप्नः । राष्ट्रियः । पन्था दूतो वा । पथिस्थेषु
गच्छत्सु पन्था गच्छतीत्युच्यते । पथिदूतयोरिति किम् ? सुप्नं गच्छति सार्थः ।

अभिनिष्कामति द्वारम् ॥३३॥६०॥ तदिति वर्तते । तदितीप्समर्थादभिनिष्कामतीत्येतस्मिन्नर्थे
यथाविहितं ल्यो भवति । अनभिनिष्कमणक्रियायां द्वारं करणं स्वातन्त्र्येण विवर्तितम् । यथा, असिश्चिनत्ति ।
वनुर्विध्यति । द्वारस्थेषु च निष्कामत्सु द्वारं निष्कामतीत्युच्यते । सुप्नमभिनिष्कामति पाटलिपुत्रस्य द्वारम्,
सौप्नम् । राष्ट्रियम् । द्वारमिति किम् ? ‘मधुरामभिनिष्कामति वैदिस (श) स्य ग्रामः । सुप्नमभि-
निष्कामति पुरुषः ।

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ॥३३॥६१॥ तदितीप्समर्थादधिकृत्य कृतेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्तत्कृतं
ग्रन्थस्त्वेतत् भवति । सुलोचनामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौलोचनः । औदयनः । ग्रन्थ इति किम् ? सुलोचनाम-
धिकृत्य कृतः प्रासादः । “उसाऽख्याधिकास्तु बहुलमिति वक्तव्यम्” [वा०] वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽख्या-
यिका, वासवदत्ता । । दोस्य (शब्द) स्योस् । उर्वशी । सुमनोत्तरा । अण उस् । न च भवति मैमरथी ।

शिशुकन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः ॥३३॥६२॥ तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थ इति वर्तते ।
शिशुकन्दयमसभ इत्येतान्यां द्वन्द्वान्द्रजननादिभ्यश्च छो भवति । अणोऽपवादः । शिशुकन्दमधिकृत्य
कृतो ग्रन्थः, शिशुकन्दीयः । यमस्य सभा, यमसभम् । “सभाऽराजाऽमनुष्यात्” [१।१।१९] इति नप् ।
यमसभीयः । द्वन्द्वात्, त्रिपृष्ठविजयीयः । भरतबहुबलीयः । वाक्यपदीयम् । “द्वन्द्वे देवाऽसुरादिभ्यः प्रसि-
वेचो वक्तव्यः” [वा०] दैवासुरम् । रात्रोऽसुरम् । गौणमुख्यम् । इन्द्रजननादिभ्यः-इन्द्रजननीयम् ।

प्रद्युम्नोदयनीयम् । प्रद्युम्नागमनीयम् । शी (सी) तान्वेषणीयम् । इन्द्रधननादिराकृतिगणः । शिशुकृन्दादयोऽपि तत्रैव द्रष्टव्याः । देवासुरादिषु छस्यादर्शनात् प्रतिषेधश्च न वक्तव्यः । प्रपञ्चो बालावबोधनार्थः ।

सोऽस्य निवासः ॥३॥३॥६३॥ स इति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद् वासमर्थं निवासश्चेत्तस्य भवति । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः । सुध्वं निवासोऽस्य सौध्नः । राष्ट्रियः ।

अभिजनः ॥३॥३॥६४॥ अभिजनः पूर्वे बान्धवाः । साहचर्यात्तैरुपितो देशोऽपि तथोक्तः । निवासो यत्र सम्प्रतमुच्यते (प्य)ते । स इति वासमर्थादभिजन इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सुध्वमभिजनोऽस्य, सौध्नः । राष्ट्रियः ।

गिरेरुक्कः शस्त्रजीविषु ॥३॥३॥६५॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । गिरिवाचिनो वासमर्थादभिजन इति वाच्येति ताऽर्थे ह्ये भवति शस्त्रजीविषु गिरेषु । हृद्गोलोऽभिजन एषां शस्त्रजीविनाम्, हृद्गोलीयाः । अलम । अत्वमीयाः । वेल । वेलीयाः । रोहितगिरि । रोहितगिरीयाः । गिरेरिति किम् ? साङ्गास्योऽभिजन एषां शस्त्रजीविनां साङ्गास्यकाः शस्त्रजीविनः । “बन्ध (धन्व) योः” [३।२।११] इति धुञ् । शस्त्रजीविष्विति किम् ? भृक्षोदो गिरिरभिजन एषां ब्राह्मणानामन्येषां वा, आर्क्षोदाः । पृथु । पार्थवाः ।

शण्डिकादेर्व्यः ॥३॥३॥६६॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शण्डिक इत्येवमादिभ्यो व्यो भवति । अणोऽपवादः । शण्डिकोऽभिजनोऽस्य, शण्डिक्यः [शण्डिकः] । सर्वसेन । सर्वकेश । शक । शट । चणक । शकुल । बोध । गोध । अत्र कोऽर्थः “कोकोऽणू” [३।२।११०] इत्यण् प्राप्तः । इतरेभ्यः “बहुत्वेऽङोऽपि” [३।२।१०२] इति धुञ् प्राप्तः ।

सिन्धुवादेरण् ॥३॥३॥६७॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । सिन्धु इत्येवमादिभ्योऽण् भवति । सिन्धुरभिजनोऽस्य, सैन्धवः । सिन्धु । वर्ण । मधुमत् । कम्बोज । कश्मीर । सक्व । एतेभ्यः कन्धादित्वात् “नृत्स्वयोः” [३।२।११२] इति धुञ् प्राप्तः । गन्धार । पञ्चाल । क्षिप्रिन्ध । गन्धिक् । उरद् । दरद् । एतेभ्यः “बहुत्वेऽङोऽपि” [३।२।१०२] इति धुञ् प्राप्तः । कैमेदुर । काण्डकर । ग्रामणी । एतेभ्यश्छः प्राप्तः ।

तूदीवर्मतीभ्यां ढण् ॥३॥३॥६८॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । तूदीवर्मतीशब्दाभ्यां ढण् भवति । अणोऽपवादः । तूदी अभिजनोऽस्य, तौदेयः । वार्मतेयः ।

शालातुरकूचवारः ॥३॥३॥६९॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शालातुरकूचवारशब्दाभ्यां छण् इत्येतां त्यौ मक्तः । अणोऽपवादः^१ । शालातुरोऽभिजनोऽस्य, शालातुरीयः । कूचवार्यः ।

भक्तिः ॥३॥३॥७०॥ सोऽस्येति वर्तते । अभिजन इति निवृत्तं विशेषणान्तरोपादानात् । स इति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद् वासमर्थं भक्तिश्चेत् सा भवति । भव्यत भक्तिः । सुध्वं भक्तिरस्य, सौध्नः । राष्ट्रियः ।

अदेशकालाट्टण् ॥३॥३॥७१॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्तते । देशकालावचितौ । तत्पर्युदासादन्यस्याऽचित्तस्य प्रदणम् । अचित्तवाचिनो मूदक्षणित्यर्थं त्यो भवति । अणोऽपवादः । ढस्य परत्वाद् नाभक्तः । अपूपा भक्तिरस्य, आपूपिकः । शाकुलिकः । पायसिकः । अदेशादिति किम् ? सौध्नः । अकालादिति किम् ? शैशिरः ।

महाराजात् ॥३३॥७२॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । महाराजशब्दादस्य भवति । महाराजो भक्ति-
रस्य, महाराजिकः ।

अर्जुनाद् वुन् ॥३३॥७३॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । अर्जुनशब्दाद् वुन् भवति । अर्जुनो-
भक्तिरस्य, अर्जुनिकः । उत्तरतूत्रेण राजाख्याद् वुन् प्राप्तः ।

वृद्धराजाख्येभ्यो वुन् प्रायः ॥३३॥७४॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । वृद्धराजाख्येभ्यो राजा-
ख्येभ्यश्च प्रायो वुन् भवति । अणोऽपवादः । वृद्धस्य वृ परत्वाद्वाचकः । वृद्धराजाख्येभ्य इत्यत्र “मे”
[३३॥७४] इति नियमात्कर्मणि “भातः कः” [२२॥३] न प्राप्नोति । मूलविभुजादिवात् “सुपि”
[२२॥७४] इति [वा] भविष्यति । वृद्धाख्येभ्यः, गुरुचुकायनिर्भक्तिरस्य ग्लौचुकायनः । औपगावो भक्तिरस्य,
औपगवकः । कापटवकः । राजाख्येभ्यः नकुलो भक्तिरस्य, नाकुलकः । साहदेवकः । वासुदेवो भक्तिरस्य,
वासुदेवकः । आख्याग्रहणं किमर्थम् ? अक्षवक्त्रकणिकादिग्रहणार्थम् । दुर्योधननकुलसहदेवग्रहणार्थं
च । यत्र सामान्येन विशेषेण वा प्रसिद्धा राजतंशाऽस्ति तस्य सर्वस्य सङ्ग्रहार्थमित्यर्थः । प्रायोग्रहणात्क-
चिन्न भवति । पाणिनो भक्तिरस्य, पाणिनीयः । पौरवीयः ।

राष्ट्रवत्सर्वतां सर्वं बहुत्वे सरूपाणाम् ॥३३॥७५॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । राष्ट्रस्येव
राष्ट्रवत् । बहुत्वे राष्ट्रेण समानशब्दानां तद्वतां राष्ट्रवत्सर्वं प्रकृतिस्यैव भवति । “राष्ट्राऽवज्जोः”
[३३॥७५] इत्यादिप्रकरणे विहितानामिहाऽतिदेशः । यथा, अज्ञा जनपदो भक्तिरस्य, अज्ञकः । वाङ्मकः ।
सौहृदकः । एवमज्ञाः क्षत्रिया भक्तिरस्य, अज्ञकः । सौहृदकः । तद्वतामिति किम् ? पञ्चाला ब्राह्मणा भक्ति-
रस्य पाञ्चालः । सर्वग्रहणं किम् ? प्रकृतेरप्यतिदेशो यथा स्यात् । स च द्व्येकयोः प्रकृत्यतिदेशः (शं)
प्रयोजयति । यत्रैभिर्नामभूतो हृदयतिदेशो नास्ति । वृजेरपत्यं वाज्यः । “द्विकुलाद्यजादकुलकोशकाभ्यः”
[३३॥७५] इति ज्यः । मद्रस्याऽपत्यं माद्रः । “द्वयभ्यमाद्य” [३३॥७५] इत्यादिनाऽण् । वाज्यो भक्ति-
रस्य, माद्रो भक्तिरस्य, अत्र “वृजि [म] मात्कः” [३३॥७५] इति कोऽतिदिश्यते । प्रकृतिरप्यदुसंशाऽ
(रप्यत्रा) तिदिश्यते । वृजिकः । मद्रकः । वाज्य(र्ज्य)को माद्रक इति मा भूत् । सरूपाणामिति किम् ? असंघट्टो
जनपदः, तस्य पौरवो राजा, स भक्तिरस्य पौरवीयः । बहुत्वग्रहणं सारूप्योपलक्षणार्थम् । यद्यपि द्वित्वैकत्वयोः
सारूप्यं नास्ति तथाप्यतिदेशः सिद्धः । वाङ्मो वाङ्मौ वा भक्तिरस्य, वाङ्मकः ।

तेन प्रोक्तम् ॥३३॥७६॥ तेनेति भासमर्थात्प्रोक्तमित्यस्तिज्ञर्थे यथाविहितं त्यो भवति । व्याख्यादिना
प्रकर्षेणोक्तं प्रोक्तमिति यद्व्यति, न तु कृतं यदन्येन कृतम् । गीतमेन प्रोक्तम्, गीतमम् । श्रीदत्तीयम् ।
सामन्तमद्रम् । आपिशलम् । “इजः” [३३॥७६] इत्यण् ।

शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन् ॥३३॥७७॥ शौनक इत्येवमादिभ्यश्छन्दस्यभिधेये णिन् भवति तेन
प्रोक्तमित्यस्मिन्निधये । दुम्बश्छन्दस्य हृदरेभ्यश्चाणोऽपवादः । “छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव” [३३॥७७]
इति नियमादेकवाक्यम् । शौनकेन प्राक्तं छन्दोऽधीयते शौनकिनः । “अद्वेस्वकीते” [३३॥७७]
इत्यागतस्याण “अप्रोक्तात्” [३३॥७७] इत्युप् । शौनक । वाजसनेय । सङ्गरव । सापेय । सा(शा)प्येय ।
१. यथादायन । स्कम्भ । स्कम्भ । स्तम्भ । देवदर्श । रज्जुभार । रज्जुकण्ठ । कठ । साठ । कोसायन । तल-
वकाल (२) । २. पुरुषांसक । “काश्यपकौशिकाभ्यामुषिर्भ्या कश्यपस्याभ्यां प्रोक्तः स्मर्यते” । तस्योपचारा-

१. जादायन पू० । चोदायन अ० । २. स्कम्भ अ०, पू० । ३. पुरुषांसक इति गद्यरत्न-
महोदधी ।

छन्दस्त्वम् । तेन तद्विषयतानियमः । काश्यपेन प्रोक्तं कल्पं विदन्ति, काश्यपिनः । कौशिकिनः । श्रुतिव्या-
मिति किम् ? इदानीन्तनेन काश्यपेन प्रोक्तम्, काश्यपीयम् । “कलापेर्वैशम्पायनः” [४१४१२२] । कला-
प्यन्तेवासिनश्चत्वारः ।

“इतिगुरोर्षां प्रथमस्तत्तद्व्याख्यतुम्बुरु । उक्तपेन चतुर्थेन कलापकमिहोच्यते ।”

हरिद्रुणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, हरिद्रविणः । तौभुरविणः । श्रौलपिनः । छगलिनो दिनियां वक्ष्यति ।
वैशम्पायनान्तेवासिनो नव ।

“आलम्बिनः प्रथमः प्राचा पञ्चिक्कमलानुभौ । अवभागाह्वो ताण्ह्यो मध्यमीयास्ततोऽपरे ॥
इयामायन उदोच्येसु तथा कठकलापिनौ ।”

आलम्बिना प्रोक्तमधीयते, आलम्बिनः । पालिङ्गिनः । कामलिनः । आर्चभारिनः । आरुणिनः ।
ताण्हिनः । इयामायनिनः । कटादत्रैवोपं वक्ष्यते । उत्तरत्र कलापिनोऽणं वक्ष्यति । अन्तेवासिग्रहणेन प्रत्यक्ष-
शिष्यग्रहणम् । न तु व्यवहितानां शिष्यशिष्याणां ग्रहणं व्याख्यानात् । “पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु” [ग०सू०]
वक्तव्योक्तं (यत्प्रोक्तं तत्) पुराणप्रोक्ताश्चेद् ब्राह्मणकल्पा भवन्ति । पुराणेन पुरातनेन श्रुतिव्या प्रोक्ताः,
पुराणप्रोक्ताः, ब्राह्मणानि च कल्पाश्च ब्राह्मणकल्पाः । भाल्लवेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते भाल्लविनः ।
‘वासायनिनः । ऐतरेयिणः । पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः पैङ्गी । आरण्यपराजी । कल्पस्य तद्विषयतानियमो
नास्ति । पुराणप्रोक्तेष्विति किम् ? याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि । आश्वमेधः कल्पः । “शककादिभ्यो वृद्धे”
[३।२।८७] इत्यण् । याज्ञवल्कादयोऽवरकाला इत्याख्यानेषु श्रुतिः । तद्विषयतानियमोऽपि प्रतिपदं ब्राह्मणेषु
भवति इति इह सोऽपि नास्ति । “कठचरकाधुप” [ग०सू०] । कठेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, कठाः । वैशम्पायनान्ते-
वासित्वायिणन्, तस्योप् । चरक इति वैशम्पायनस्याख्या । चरकादछन्दस्येवेध्वते । चरकेण प्रोक्ताश्चरकाः
श्लोकाः । अण उप् । सर्वप्रवचनाभिधाने “वृद्धचरणाज्जित्” [३।३।६४] इति वृत् भवत्येव । शौनकिना-
मिदम्, शौनककम्, इत्येवमादि योज्यम् । “पाराशर्यशिक्षादिभ्यो भिक्षुनटसूत्रयोः” पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षु-
सूत्रमधीयते, पाराशरिणो भिक्षवः । शिलालिनो नटाः । गुणकल्पनया चात्र छन्दस्त्वम् तेन तद्विषयता
(भवति । भिक्षुनटसूत्रयोरिति किम् ? पारा) शरम् । शैलानम् । “शककादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७]
इत्यण् उत्सर्गश्च “कर्मन्वृक्षाश्वाभ्यामिन्” । अत्रापि तद्विषयता, कर्मन्दिनो भिक्षवः । कृशाधिकनो
नटाः । भिक्षुनटसूत्रयोरित्येव । कर्मन्दम् । कार्या (कार्शाश्चम्) । छन्दसीति किम् ? शौन-
कीया शिक्षा ।

तित्तिरिचरतन्तुल्लरिडकोखान्छण् ॥३।३।७८॥ छन्दसीति वर्तते, तेन प्रोक्तमिति (च) ।
तित्तिरि वरतन्तु ल्लरिडका उल्ल इत्येतेभ्यश्छण् भवति । अणोऽपवादः । तित्तिरिणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते
विदन्ति वा तैत्तिरीयाः । ल्लरिडकीयाः । श्रौलीयाः । छन्दसीत्येव । तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः, तैत्तिराः ।

कलापिनोऽण् ॥३।३।७९॥ छन्दसीति वर्तते । कलापिशब्दादण् भवति तेन प्रोक्तं इत्यस्मि-
न्विषये । वैशम्पायनान्तेवासित्वायिणन् प्राप्तः । कलापिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, कलापाः । “भोऽपुंसो
इति” [४।४।१२०] इति टित्त्वं प्राप्तम्, “प्राचोऽनपत्येणोनः” [४।४।१२२] इति प्रतिषिद्धम्, “सब्रह्म-
चर्यादेः” [४।४।१२३] इति पुनश्चिह्नम् । पुनरण्ग्रहणं किम् ? कचिच्छ्रविषयेऽपि यथा स्यात् । तेन
लोकभानि ब्राह्मणानोत्येवमादि सिद्धम् ।

१. शाक्यायनिनः अ०, पू० । २. चरकाधुच्छन्दस्येव इत्यत्र अण्छन्दसीति, चरकाः श्लोका इत्यत्रो-
न्विषयानं च विषयम् । काशिकादौ छन्दसीत्येव । चरकाः श्लोका इत्यत्रानुवर्तनात् ।

छगलिनो द्विनिष् ॥३।३।८०॥ छन्दसीति वर्तते, तेन प्रोक्तमिति च । छगलिनशब्दाद्विनिष् भवति । नेरिफार उच्चारणार्थः । छगलिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, छागलेयिनः । कस्याप्यन्तेवाक्षिशब्दास्य णिनोऽपवादः ।

एकदिक् ॥३।३।८१॥ छन्दसीति निवृत्तम् । तेन प्रोक्तमिति च निवृत्तमर्थान्तरग्रहणात् । एक दिग् यस्य तदेकदिक्, त्य (स) मानदिमित्यर्थः । भासमर्थोदेकदिगित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सुदाम्ना पर्वतेन एकदिक्, सौदामनी विद्यत् । “अनः” [३।३।१५८] इति टिप्पणाऽभावः । एवं हिमवती । वैककुदी ।

तस् ॥३।३।८२॥ तसित्ययं त्यो भवति मृदः । तेनैकदिगित्यनुवर्तते । पूर्वसूत्रेणाद्यादयो चादृशच भवन्ति । अयं च वचनान् भवति । न तु बाध्यबाधकभावः । सुदाम्ना एकदिक् सुदामतः । हिमवतः । त्रिककुत्तः । तस्यान्तस्य स्वभावतो भित्तंश ।

उरस्योरसः ॥३।३।८३॥ तेनैकदिगिति वर्तते । उरःशब्दात् य इत्ययं त्यो भवति तश्च । अणोऽपवादः । उरसा एक दिक्, उरस्यः, उरस्तः ।

उपशते ॥३।३।८४॥ तेनेति वर्तते । तेनेति भासमर्थोपशतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति । विनोपदेशेन प्रथमं शतमुपशतम् । स्वापमुपशतोपशतं स्वापमुपशतमुपशतं उपशतमुपशतम् । दैवन्दिनमनेकशेषं व्याकरणम् ।

कृते ग्रन्थे ॥३।३।८५॥ तेनेति भासमर्थोऽकृतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति कृतं ग्रन्थेऽपि भवति । वलदेवेन कृताः, बालदेवाः श्लोकाः । वारवचाः । सिंहनदीयाः । ग्रन्थ इति किम् ? तद्वशा कृतः प्रासादः ।

खौ ॥३।३।८६॥ तेनेति भासमर्थोऽकृतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति समुदायेन कुविषये । अग्रन्येऽपि विधिरयम् । मल्लिकामिः कृतं मल्लिक मधु । एवं गर्मुत्, गार्मुतम् । पुत्तिम्, पौत्तिकम् । चुद्रा, चौद्रम् । उरषा, सारधम् । नर्मुक, नार्मुकम् । अमर, आमरम् । वट्ट, वाट्टम् । वातप, वातपम् । छः कस्मान्न भवति । संशयान्दानां व्युत्पत्तिरियम् । न च छे कृते संज्ञा गम्यते ।

कुलालादेर्बुष् ॥३।३।८७॥ खाविति वर्तते । कुलाल इत्येवमादिभ्यो बुष् भवति तेन कृतेऽर्थे । अणोऽपवादः । कुलालेन कृतम्, कौलालकम् । घटादिसमुदायस्येयं संज्ञा । कुलाल । वट्ट । कर्मार । चण्डाल । निषाद । सेना । सिलिच् । देवराष्ट्री । परिषत् । वधू । वद्र । अस्य स्थाने वदशब्दं केचित् पठन्ति । अनहुद् । बहान् । कर्मार । कुलाल । कुम्भकार । श्वपाक ।

तस्येवम् ॥३।३।८८॥ तस्येति तासमर्थोदिदमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । तस्येति सामान्येन ताऽर्थमात्र इदमिति ताऽर्थसम्बन्धिमात्रं विवक्षितम् । उभयत्र लिङ्गसंख्याप्रत्यक्षपक्षेत्वादिकमविवक्षितम् । उपगोरिदम्, औपगवम् । औत्सम् । राष्ट्रियम् । आङ्गकम् । अनन्तरादिष्वभिधानं नास्ति । देवदत्तस्यानन्तरम्, देवदत्तस्य समीपम् । विंशतेखयव एकः, शतस्य द्वौ, सप्तस्य पञ्चेति । “संबोद्धः संबद्धिभावश्च स्वे वक्ष्यते” [वा०] । संबोद्धः स्वं संबन्धितम् । “अग्नीचः इत्येव वाच्ये रय्

वक्तव्यो मसंज्ञा च" [वा०] अग्नीध इदम्, आग्नीध्रम् । "समिधामाधामे ऋग्यजुर्वक्तव्यः" [वा०] ।
सामिधेनी ऋक् ।

एष्यत् ॥३॥३॥६॥ तस्येदमिति वर्तते । एष्यत्वात् भवति । अणोरपवादः । रथाङ्ग एवेष्यते ।
रथस्येदं चक्रं युगं वा रथ्यम् । "रथस्तीताहलेभ्यो यविषौ लुङ्त्वदिधिवसंख्यातः" [वा०] । परमरथ्यम् ।
रथाङ्ग इति किम् ? रथस्य स्थानम् ।

पश्चाद् ॥३॥३॥६०॥ पतन्ति तेनेति पत्रं वाहनम् । तत्पूर्वाद्ग्रथशब्दादण् भवति । पूर्वस्य यस्त्वपवादः ।
अश्वरथस्येदं चक्रं युगं वाऽऽश्वरथम् । औद्ग्रथम् । पुनरण्ग्रहणं छुवाधनार्थम् । रातभरथम् । युगम् ।
रथाङ्ग इत्येव । अश्वरथस्य स्वामी ।

पश्चात् ॥३॥३॥९१॥ पत्रं वाहनम् । तद्वाचिशब्दादण् भवति, तस्येदमित्यस्मिन्विषये । "पश्चाद्
वाङ्ग एवेष्यते" [वा०] । अश्वस्येदं वाह्यम्, आश्वम् । उत्सर्गेण सिद्धमिति चेद्दुर्लभं न सिद्ध्यति ।
रातभस्येदं वहनीयम्, रातभम् ।

हलसोरानुङ् ॥३॥३॥९२॥ तस्येदमिति वर्तते । हलसोरशब्दाभ्यां ठण् भवत्यणि प्राप्ते । हलस्येदं
हालिकम् । सैरिकम् ।

द्वन्द्वाद्बुन् वैरमैथुनिकयोः ॥३॥३॥९३॥ तस्येदमिति वर्तते । मैथुनिका विवाहनादिक्रिया ।
द्वन्द्वाद् बुन् भवति वैरे मैथुनिकायां च । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वादेव बाधकः । अहिनकुलिक ।
काकौलुकि । वद्वशालङ्कायनिक^१ । बुजन्तस्य स्वभावतः स्त्रीलिङ्गम् । मैथुनिकायां च । कुवकाणि(शि)का ।
कुवकाणि(शि)का । अत्रिभरद्वाविका । भरद्वाजशब्दादङ्, तस्य वृद्धे बहुत्वे "यजजोः" [११४१३२] इत्युप्
कृतः । "वृद्धेऽन्यनुप्" [३११०३] इति अनुप् कस्मान्न भवति । प्रथमादित्यधिकाराद् द्वितीयस्य न
भवति । अथ प्रथमस्याऽत्रिशब्दस्य यो हण् तस्याऽनुप् कस्मान्न भवति । अत्रादावप्यवहिते अप् (नु) न्
भवति । भरद्वाजशब्देन चाऽत्र ध्यवधानम् । अत्रेष्टिः । गर्गभृगूणामियं मैथुनिका गर्गभार्गवका । अत्र
बोरकादेशे कृते भृगुशब्दाद् योऽण् तस्य बहुत्वे "भृग्वन्निकृत्स" [११४१३६] इत्यनेनोप् प्राप्तेः । "प्रथमा
ऽधिष्ठारे द्वितीयस्यापि वृद्धेऽन्यनुप्प्रत्ययः" [वा०] । "देवासुरादिभ्यो बुभुः प्रतिषेधो बह्व्यः"
[वा०] । दैवासुरम् । राक्षसुरम् ।

बृद्धचरणाच्चिञ् ॥३॥३॥९४॥ तस्येदमिति वर्तते । बृद्धवाचिनश्चरणवाचिनश्च अदिव अिदुभवति
बुन् । अनेनैव बुनो विधानम् । अयमणोऽपवादः । छस्य तु परत्वाद् बाधकः । त्रिष्टायनेरिदम्, त्रैष्टायनिकम् ।
श्रीपगवानामिदम्, श्रीपगवकम् । चरणानि वेदशाखाः । तद्योगादध्येतारोऽपि कठादयश्चरणाख्याः ।
"चरणाद्धर्माग्नययोरेवेष्यते" [वा०] । कठानामयं धर्म आग्नायो वा काठकम् । अलापकम् ।
मौदकम् । पैपलादकम् । अथर्व्युशब्दस्य समुदायवाचित्वाच्चरणशब्दत्वमिह नेष्टम्, तेनाप्येव भवति ।
आध्ययनम् ।

सङ्घाङ्कुलक्षणघोषेऽन्यभिव्यक्तिम् ॥३॥३॥९५॥ तस्येदमिति वर्तते । सङ्घादिषु चतुर्षु इदमर्थ-
विशेषणेषु अजन्ताद्यजन्तादिजन्ताच्चाण् भवति । पूर्वस्य बुनोऽपवादः । विद्वानां सङ्घः, अङ्कः, लक्षणं

१. वद्वशालङ्कायनिका अ०, । वद्वशालङ्कायनिका ए० । वाचम्यशालङ्कायनिका इति
काशिकायाम् ।

घोषो वा, वैदम् । यजन्तात् । गार्गाणां सङ्घः, अङ्गो लक्षणां घोषो वा, गार्गम् । “कयच्छ्यनाद्धत्यापत्यस्य” [३।३।१४१] इति यक्षम् । इजन्तात् । दाक्षम् । प्लाक्षम् । अणो शित्करणं क्षियां डवर्थम् । “मिथ्यद्वयवृत्त-
कयन्तिभ्यो” [३।३।१५१] इत्यत्र पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च । वैदी स्थूणा अस्य, वैदीस्थूणः । लक्ष्म्या(द्य)गतं-
चिह्नं लक्षणां यथोपशमो मुनीनाम् । भाषासम्बन्धि गतं चिह्नमङ्कः, यथा गवा रेखा ।

शाकलाद् वा ॥३।३।९६॥ शाकलशब्दात्सङ्घादिषु इदमर्थविशिष्टेषु वाऽण् भवति चरणलक्षणे
नित्ये वुनि प्राप्ते विभाषेयम् । कथं चरणात्वम् ? शाकल्येन प्रोक्तमधीयते शाकलाः । प्रोक्ताऽर्थे “अकलादिभ्यो
बृद्धे” [३।३।८७] इत्यण् । “कयच्छ्यनाद्धत्यापत्यस्य” [३।३।१४१] इति यक्षम् । “तद्वेत्त्यधीते”
[३।३।१५१] इत्यागतस्याण “उप्प्रोक्तात्” [३।३।१५४] इत्युप् । शाकलानां सङ्घः, अङ्कः, लक्षणां,
घोषो वा, शाकलम् ।

छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकषड्वचनटाऽऽयः ॥३।३।९७॥ सङ्घादयो निवृत्ताः । सामान्येन तस्ये-
वमिति वर्तते । छन्दोग औक्थिक याज्ञिक षड्वचन टा इत्येभ्यो ञो भवति । वुनोऽपवादः । नटशब्दादणोऽ-
पवादः । छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा छन्दोग्यम् । औक्थिकानां धर्म आम्नायो वा, औक्थिक्यम् ।
याज्ञिक्यम् । षड्वचनः श्रुचोऽधीयते, षड्वचाः । अः सान्तः । “तद्वेत्त्यधीते” [३।३।१५१] इत्यागतस्याणो
“स्थोक्थमपये” [३।३।१७४] इत्युप् । तेषां धर्म आम्नायो वा, षड्वच्यम् । चरणसाहचर्यान्नटशब्दादपि
धर्माभावाद्यथोरेव ल्यः । नाट्यम् ।

न दण्डमाणवान्तेवासिषु ॥३।३।९८॥ दण्डप्रधाना माणवाः दण्डमाणवाः । आश्रमिणां
रक्षापरिचरणाविधायिन इत्यर्थः । अन्तेवासिनो विनेयाः । दण्डप्रहरणमनुवर्तते । दण्डमाणवेषु अन्तेवासिषु
इदमर्थविशेषेषु तस्येदमित्यस्मिन्निषये वृद्धाद्यदुक्तं तन्न भवति । काण्डस्यस्येमे काण्डाः । गौकस्यस्येमे, गौकदाः ।
दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा । वुनि प्रतिषिद्धे “अकलादिभ्यो बृद्धे” [३।३।८७] इत्यण् । दाक्षेरिमे
दाक्षाः । प्लाक्षाः । “इजः” [३।३।८८] इत्यण् ।

रैवतिकादेश्वरः ॥३।३।९९॥ तस्येदमिति वर्तते । वृद्धादिति च । रैवतिक इत्येवमादिभ्यो वृद्धेभ्यश्चो
भवति । वुनदेरपवादः । रैवतिकस्येदं रैवतिकीयम् । वुनः प्रकृते प्रतिषेधे कृते सामर्थ्याद् दोरुः सिद्धः । नैवं
शक्यम् इजतात् “इजः” [३।३।८८] इति अण् प्राप्नोति सङ्घादिषु चाणः प्रतिषेधे वुन् प्रसज्येत ।
रैवतिक । गौरग्रीवि । स्वापिशि । क्षेमवृत्ति । क्षेमवृद्धि इति केचित् । औदमेचि । औदवाहि । औद-
वापि । वैजवापि ।

कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ॥३।३।१००॥ कौपिञ्जलहास्तिपदशब्दाभ्यामण् भवति तस्येदमित्य-
स्मिन्निषये । वृद्धलक्षणास्य वुनोऽपवादः । कौपिञ्जल हास्तिपादशब्दाभ्यामपत्येऽर्थे त एव निपातनादण् । पादस्य
पदभावश्च । कौपिञ्जलस्येदं कौपिञ्जलं शकटम् । हास्तिपदं शकटम् । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे पुनरण्-
प्रहरणं “न दण्डमाणवान्तेवासिषु” [३।३।९८] इति वुनि प्रतिषिद्धे “वोः” [३।३।९०] इति छे प्राप्ते अण्
यथा स्यात् । कौपिञ्जला अन्तेवासिनो दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा ।

आथर्वणः ॥३।३।१०१॥ तस्येदमिति वर्तते । आथर्वण इति निपात्यते । आथर्वणिकशब्दादण्
निपात्यते इक्षस्य च खम् । चरणवाचिशब्दादस्माद् वुञ् प्राप्तिः । अथर्वणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते,
आथर्वणिकाः । प्रोक्तार्थेऽपि “नोऽपुलो हति” [३।३।१३०] इति दिक् प्राप्तिः । “अनः”

[३।३।१५८] इति प्रतिषिद्धम् । आथर्वण इति स्थिते “कन्दोमाङ्गयानि चात्रैव” [३।२।२३] इति नियमात् “तद्युक्तेष्वधीते” [३।२।२१] इत्यपि प्राप्ते ऋक्यादिध्यायर्कशब्दस्य पाठात् ठञ् । तत्र पाठसामर्थ्यादेव “अप्प्रोक्तत्वात्” [३।२।२४] इत्युक्तं भवति । आथर्वणिकानां धर्म आम्नायो वा आथर्वणः । यस्तूर्यादिध्यायर्कशब्दः पठ्यते स उपधाराञ्छास्त्रवचनः । आथर्वणं वेत्यधीते वा आथर्वणिकः । दिक्षाभा-
वश्चात्र कस्तव्यः । अस्याप्याथर्वणिकशब्दस्येदं निपातनमिष्यते ।

तस्य विकारः ॥३।३।१०२॥ प्रकृतेरवस्थान्तरं विकारः । तस्येति तासमर्थाद् विकार इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । अद् यस्य च नाम्पत्(न्वत्) प्रतिपदं ग्रहणं तदिहोदाहरणम् । अश्मनो विकारः आश्मः । “श्वाश्मधर्मन्वा सङ्कोचविकारकोशेषु” [३।३।११२] इति टिप्पणम् । भस्मनो विकारः, माश्मनः । मार्तिकः । तर्कवः । दैवदारवः । तैत्तिरीकः । वैल्हः । कापित्यः । पास्त्रायः । प्रकृत्युपस-
(म) दैन यो विकारस्तत्रार्थं विधिः । तेनेह न भवति, आप्नं पक्वमिति । भवति पक्वमाग्नस्य फलस्य विकारे न तु प्रकृत्युपमर्दि । तस्येति वर्तमाने पुनस्तस्य ग्रहणं शैषिकाणां धादीनां निवृत्त्यर्थम् । अतः परमोत्सर्ग एव भवति । अत्र केषाञ्चिद्युक्तिः पूर्वसंज्ञास्तीति वर्तते त स्तः विकारानां नान्येन शैषि-
काणां बाधकः ।

प्राणयोषधिवृद्धेभ्योऽवयवे च ॥३।३।१०३॥ प्राणिनश्चेतनावन्तः । फलपाकान्ता ओषधयः । पुष्पवन्तः फलवन्तश्च वृक्षाः । वृक्षविशेषत्वाद्वनस्पतिवीरुधामपि वृक्षग्रहणेन ग्रहणम् । प्राणयोषधिवृद्धवा-
चिभ्यस्तासमर्थेभ्योऽवयवे विकारे च यथाविहितं ल्यो भवति । अवयव एकदेशः । प्राणिभ्य उचरत्र वक्ष्यते । ओषधिभ्यः, मूर्धाया अवयवो विकारो वा मौर्वं काण्डम् । मौर्वं भस्म । वृद्धेभ्य - कारीरं काण्डम् । कारीरं भस्म । पैपलं काण्डम् । शतपत्रिकं काण्डं भस्म च । इह ओषधिवृद्धग्रहणं शापकम् । “अथौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [१।२।८५] इत्येवमादिषु प्राणिग्रहणे वृक्षादीनां प्राणित्वेऽपि ग्रहणं न भवति । तस्य विकारः प्राणयोषधि-
वृद्धेभ्योऽवयवे चेति द्वयमधिक्रियते । अयं तु विभागः । प्राणयोषधिवृद्धेभ्यः, अवयवविकारयोस्ततो विधिः । अन्येभ्यस्तु विकारमात्रं पठ्य्यः ।

जातरूपेभ्यः परिमाणे ॥३।३।१०४॥ इहाऽसम्भवादवयवार्थो न सम्बध्यते । जातरूपवाचिभ्य-
स्तान्तेभ्यो विकारविशेषे परिमाणे यथाविहितं ल्यो भवति । बहुत्वनिर्देशात्स्वरूपस्य ‘तत्पर्यायवाचिनां च
ग्रहणम् । इह दूनि (दुनि) प्रयोजयन्ति । “निरर्थं दुशरादेः” [३।३।१०६] इत्यनेन प्राप्तस्य मयटोऽपवादः ।
जातरूपस्य विकारो जातरूपो निष्कः । जातरूपं कार्षापणम् । हाटको निष्कः । हाटकं कार्षापणम् । परिमाण
इति भिम् । हाटकमयी यष्टिः ।

प्राणितालादेः ॥३।३।१०५॥ तस्य विकारः प्राणयोषधिवृद्धेभ्योऽवयवे चेति वर्तते । प्राणिवाचिभ्य-
स्ताल इत्येवमादिभ्यश्च यथाविहितं ल्यो भवति । “निरर्थं दुशरादेः” [३।३।१०६] इत्यस्य मयटोऽपवादः ।
सारस्य विकारोऽवयवो वा सारसं मांसम् । सारसं सक्थि । काकं मांसम् । काकं सक्थि । अदवोऽपि ये
प्राणिवाचिनः तेभ्यो “मयङ्क्षैतयोरभक्ष्याञ्छादनयोः” [३।३।१०८] इति पदे मयट् प्राप्नोति । तद्व्यवधान-
र्थञ्चेदम् । कपोतस्य विकारोऽवयवो वा कपोतम् । मायूरम् । तैत्तिरम् । पुरस्तादपवादोऽयमनन्तरस्य
मयङ्क्षिक्त्वस्य बाधको युक्तो नोत्तरस्य “नित्यमुट् (—थं दुश—) रादेः” [३।३।१०६] इत्यस्य । तत्पर्यं
(—यमुः) भयोर्वाधा । अनन्तरव्यवधानाभावात् सामान्यापेक्षया । तालादिभ्यः, तालस्य विकारः तालं
धनुः । “तालाद्बभ्रुभ्येवेत्येते” । अन्यत्र तालमयम् । तालाद्बभ्रुषु । बर्हिष । इन्द्राकिश । इन्द्रदिश ।
इन्द्राधुष । चाप । श्यामाक । पीयूषम् । रश्त । सीस । लोह । उदुव (भ्व) र । निदुदाव (नीच राव) ।

रोहीतक । धिभीतक । पीतदाव । त्रिकण्टक । कण्टकर । काण्ड । गवेधुक^१ । पाटली । येऽवादवः, तैभ्यः
“मयङ्वैतयोरभयवाच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति विकल्पेन मयटि प्राप्तेऽपवादः ।

अपुञ्जतुनोः पुक् ॥३।३।१०६॥ अपुञ्जतुशब्दाभ्यां यथाविहितमण् भवति तत्सन्नियोगेन च पुञ्ज-
गमः । अपुञो विकारः, आपुषम् । बातुषम् ।

शम्याः घृलज् ॥३।३।१०७॥ शमीशब्दाद्घृलज् भवति विकारावययोरर्थयोः । अणोऽपवादः ।
शामीलं भस्म । शामीली सुक् ।

मयङ्वैतयोरभयवाच्छादनयोः ॥३।३।१०८॥ भक्ष्यमभ्यवहार्यम् । आच्छादनं वसनम् । तासमर्था-
न्मृदो वा मयङ् भवति भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावययोरर्थयोः । अश्मनो विकारोऽश्ममयम् । आश्रमम् ।
सिकतामयम् । सैकतम् । दूर्वामयम् । दौर्वम् । विकाराऽवयवौ प्रकृतावेव तत्किमर्थमेतयोरिति शङ्कणम् । अनन्त-
रयोरपि योगयोरपवादवाधनार्थम् । अपुमयम् । जतुमयम् । शमीमयमिति । अन्ये^२ कपोतमयम्, रजतमयम्,
लोहमयमित्यादि हञ्छन्ति । तत्तेषां “प्राणिरजतादिभ्योऽञ्” [४।३।१२ पा० सू०] इत्यस्य सूत्रस्य
व्याख्यानेन विरुध्यते । तस्मात्कपोतमयमिति चिन्त्यम् । अभक्ष्याच्छादनयोरिति किम् ? मौद्गः सूपः ।
कार्पासः प्रावारः ।

नित्यं दुशरादेः ॥३।३।१०९॥ अभक्ष्याच्छादनयोरिति वर्तते । दुम्यः शरादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यो
भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोर्नित्यं मयङ् भवति । दुम्यः, आम्रस्य विकारोऽवयवो वा आम्रमयम् ।
शालमयम् । शरादिभ्यः, शरमयम् । शर । दर्भ । मृदु । कुटी । तृण । सोम । बल्बज् । आरम्भान्नित्यत्वे
लम्बे नित्यग्रहणं किम् ? एकाचो नित्यं मयङ् यथा स्थान् । बाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । त्वे नित्यं परङ्मसंज्ञादेशः ।
अथ विकारावयवयोर्यस्यस्तदन्ताद्विकारावयवान्तरविवक्षायां मयट् कस्मान्न भवति । दैवदारवस्य विकारोऽवयवो
वा दैवदारवम् । दावित्यस्य, दावित्यम् । पालाशस्य पालाशम् । शामीलस्य, शामीलम् । कापोतस्य, कापो-
तम् । औष्ट्रस्य, औष्ट्रकम् । ऐण्यस्य, ऐण्यम् । कांस्यस्य, कांस्यम् । पारशवस्य, पारशवमिति । नैष दोषः,
समुदायशब्दोऽवयवेऽपि दृष्टः । इति विकारान्तरे अवयवान्तरे च विवक्षिते मूलप्रकृतेरेव त्वः । तेन स्थान्ताम्-
यण भवति । अनभिधानाद्वा । यत्राभिधानमस्ति तत्र विकारान्तरेऽवयवान्तरे च त्वो भवत्येव । गोमयस्य
विकारः, गौमयं भस्म । द्रुवयस्य विकारः, द्रौवयम् । कवित्यस्य फलस्य विकारः, कावित्यम् । आमलकस्य
फलस्य विकारः, आमलकमयम् । सर्वमर्थं मयट् दुसंज्ञकेभ्यः शरादिभ्यश्च नित्यं भवति । अन्येभ्योऽभक्ष्याच्छा-
दनयोर्वा भवति । जातरूपेभ्यः, प्राणितालादिभ्यश्चाण् भवति ।

पिष्टात् ॥३।३।११०॥ पिष्टशब्दाद् विकारेऽर्णे नित्यं मयङ् भवति । पिष्टस्य विकारः, पिष्टमयम् ।
भक्ष्यत्वादणोव प्राप्तः, तदपवादोऽयम् ।

कः खौ ॥३।३।१११॥ पिष्टशब्दात्को भवति खुनिष्ये । अनन्तरस्य मयटोऽपवादः । पिष्टस्य विकारः
पिष्टिका ।

१. गवेधुका अ०, पू० । २. अन्ये काशिकाकाराः । चिन्त्यमिदम्—कपोतमयम्, लोहमयमित्या-
दीनां प्राणिरजतादिसूत्रव्याख्यानविरोधाभावात् । रजतादिपठितस्यानुवासादिकशब्दस्यैव मयङ्वाचकत्वम् ।
उदात्तावेस्तु अञ्मयटोऽभयोरपि विधानस्य सन्नत्यन्यासग्रन्थे निर्वातत्वात् । रजतमयमिति काशिकायां
नास्त्येव । विस्तरस्तु काशिकान्यासे नृष्टः ।

तिलयवावसौ ॥३।३।११२॥ तिलयवशब्दाभ्यामख्यविधये नित्यं मयङ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । तिलानामवयवो विकारो वा, तिलमयम् । यवमयम् । अखाविति किम् । तैलम् । यावकः । “कोऽपि पावादेः [३।१।३२] इति स्वार्थिकः कः ।

गोब्रीहोः शकृत्पुरोडाशे ॥३।३।११३॥ गोब्रीदिशब्दाभ्यां यथासंख्यं शकृति पुरोडाशे च विकारेऽभिधेये नित्यं मयङ् भवति । गोमयं शकृत् । ब्रीहिमयः पुरोडाशः । शकृत्पुरोडाश इति किम् । गव्यं पयः । ब्रौह ओदनः ।

क्रीतव्यपरिमाणात् ॥३।३।११४॥ क्रीत इव परिमाणावयवः त्वविवर्धयति विकारे । परिमीयतेऽनेनेति परिमाणां परिच्छेदहेतुः न तु रुदिपरिमाणमेव । तेन संख्यायाः प्रस्थादीनां च ग्रहणम् । क्रीतार्थे वे त्या वस्मात्परिमाणाद्विहिताः, ते विकारेऽप्यर्थे तस्मादेव परिमाणादतिदिश्यन्ते । यथा भवति “तेन क्रीतम्” [३।३।३२] इत्यत्र । शतेन क्रीतः शतिकः, शत्यः । “शतादस्वार्थेऽस्ते ठयौ” [३।३।३८] इति । सहस्रेण क्रीतं, साहस्रम् “शतमानविंशतिसहस्रबलनादण्” [३।३।३७] इति ठयाणः । एवमिहापि शतस्य विकारः शत्यः, शतिकः, साहस्रः । यथा परिमाणाक्रीतार्थे “आह्वाद्दण्” [३।३।३७] भवति । प्रत्येन क्रीतः, प्रास्थिकः । क्रीडविकः । खार्या क्रीतः खारीकः । “खारीककणीभ्यां कप्” [३।३।३०] इति कप् । एवं प्रत्यस्य विकारः प्रास्थिकः । क्रीडविकः । खारीकः ।

कोशैण्या ठञ् ॥३।३।११५॥ कोश एणी इत्येताभ्यां ठञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । कोशाद्वल्ले प्रयोगः । कोशस्य विकारः, कौशेयं वल्लम्, आच्छादनम् । मयङ् नास्ति । अणोऽपवादः । एण्या विकारोऽवयवो वा, ऐण्येयं मांसम् । ऐण्येयं सक्थि । एणीति लौकिकनिर्देशात्पुंस्यण्वेव भवति । ऐण्यं मृगम् (मांसम्) ।

उष्ट्राद् वुञ् ॥३।३।११६॥ उष्ट्रशब्दाद् वुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । प्राणिलक्षणाभ्याऽणोऽपवादः । उष्ट्रस्य विकारोऽवयवो वा, औष्ट्रकम् ।

उमोर्णोत् ॥३।३।११७॥ उमा अतसी । उमाऊर्णाशब्दाभ्यां वा वुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । उमाया विकारोऽवयवो वा औमकम् । पक्षे अण्मयटौ । औमम् । उमाभयम् । ऊर्णाया विकारः, और्णकम् । पक्षे पूर्ववदण्मयटौ । और्णम् । ऊर्णमयम् ।

गोपयसोर्णः ॥३।३।११८॥ गो पयस् इत्येताभ्यां य इत्यर्थं ल्यो भवति विकारावयवयोरर्थयोः । गोर्विकारोऽवयवो वा गोव्यम् । पयसो विकारः पयस्यम् ।

द्रोः ॥३।३।११९॥ द्रोः शब्दाद्यो भवति विकारावयवयोः । अण्मयटोरपवादः । द्रव्यम् “प्राग्द्रोः” [३।३।३८] इत्यधिकार इति ऊर्ध्वं न प्रवर्तते ।

माने वयः ॥३।३।१२०॥ द्रुशब्दान्माने विकारविशेषे वय इत्यर्थं ल्यो भवति । पूर्वस्य यस्यापवादः । द्रुवयं मानम् ।

उप्फले ॥३।३।१२१॥ फलमवयवविशेषो यथा पत्रम् । अवयवविशेषे फल उत्पन्नस्य त्यस्योन्भवति । आमलक्या अवयवः फलम्, आमलकम् । मयट उप् । कुवल्या अवयवः फलम्, कुवलम् । वदरम् । अण्मयटोऽप्युप् । सर्वत्र “ङुप्पुप्” [३।३।३] इति लौक्यस्योप् ।

मृक्षादिभ्योऽण् ॥३।३।१२२॥ मृक्ष इत्येवमादिभ्योऽण् भवति फलेऽवयवे विवक्षिते । मृक्षस्याऽवयवः फलं मृक्षम् । अण्मयटौ प्राप्नो, तयोश्च पूर्वणोप्प्राप्तः, तदपवादोऽयम् । न्यमोभस्याऽवयवः फलम्,

नैयप्रोषम् । “भ्यप्रोषस्य केवलस्य” [पा० १०] इत्यैप् । अक्ष । न्यप्रोष । अश्वत्थ । इक्षुदी । शिम्बु । किततन्तु । वृहती ।

जम्बूवा चोष्ण ॥३३॥१२३॥ फल इति वर्त्तते । जम्बूशब्दादवयवविशेषे फलेऽभिधेये वा उस् भवति अण् च । पक्षे उष्मवति । जम्बूवा अवयवः फलम्, मयट उषि, जम्बूः फलम् । अणो वचनादुस् न भवति । जम्बूवं फलम् । उपि जम्बु फलम् ।

हरीतक्यादेः ॥३३॥१२४॥ उषिति वर्त्तते फले इति च । हरीतक्यादिभ्यः फले अवयवे उस् भवति त्यस्य । हरीतक्या अवयवः फलम्, हरीतकी फलम् । हरीतकी । पिप्पली । कोशातकी । नलरजनी । चण्डी । दोडी । श्वेतपाकी । अर्जुनरांकी । शाला । काला । द्राक्षा । शृङ्गा । गङ्गाडिका । कण्टकारिका । शेफालिका । “येषां च पाकनिमित्तः शोषः, तेभ्यश्च उस् फले” [वा०] ब्रीहयः । यवाः । माषाः । मुद्गाः । “पुष्पमूलेषु बहुकम्” [वा०] । मल्लिकायाः पुष्पम्, अवयवः, मल्लिका । नवमल्लिकाः । जाती । बृहत्या मूलमवयवः, बृहती । विगरी । अंशुमती । न च भवति उस् उचैव भवति । पाटलानि पुष्पाणि । शाल्वानि मूलानि । करवीरं पुष्पम् । कदम्बम् । अशोकम् । क्वचिदुभयोरभावः । वैष्णवानि फलानि । “जम्बूवा हरीतक्यादिषु च उषि छिद्रमेव उक्तवद् भवति न वचनम्” [वा०] । जम्बूः फलम् । जम्बूवो फले । जम्बूः फलानि । हरीतकी फलम् । हरीतक्यौ फले । हरीतक्यः फलानि ।

कांस्यपारशयो ॥३३॥१२५॥ कांस्यं पारशव इत्येती शब्दौ निपात्यते । कंसीय-परशव्यशब्दयोर्विशिष्टोः परतश्चययोश्च निपात्यते विकारेऽर्थे । यज्योरशोरनेनैव विधानम् । कांस्यम्, कंसीयम् । परश्वर्थं परशव्यम् । “तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ” [३३॥११] इत्यनेन प्राकट्याह्वः । “उगाधादेर्यः” [३३॥१२] इति ल्यौ भवतः । कंसीयस्य विकारः, कांस्यम् । परशव्यस्य विकारः, पारशवम् ।

प्राग्याहुण् ॥३३॥१२६॥ “तद्युवहति रथयुगप्रासङ्गायः” [३३॥१२१] इति यो वक्ष्यते । प्रागेतस्मात्संशब्दनाल्लेखे वक्ष्यन्ते तेषु ठण् अधिक्रियते । वक्ष्यति “तेन दीव्यति खनति जयति जितम्” [३३॥१२७] इति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिपः । शालाक्षिपः । प्राग्वचनं किम् ? अयंविशेषे त्यान्तरेण निर्वर्तितस्य उत्तरत्रोपस्थानं यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ॥३३॥१२७॥ तेनेति भासमर्थात् दीव्यति खनति जयति जितमित्येतेष्वर्थेषु ठण् भवति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिपः । शालाक्षिपः । अभ्रया खनति, आभ्रिपः । कौशलिकः । अक्षैर्जयति, आक्षिपः । शालाक्षिपः । अक्षैर्जितम्, आक्षिपम् । शालाक्षिपम् । सर्वत्र करसौ भा द्रष्टव्या । तेनेह न भवति देवश्चेन जितमिति । दीव्यत्यादिषु त्रिषु संख्याकालावविवक्षितौ । जितशब्दे कालो विवक्षितः । क्रियाप्रधानत्वेऽप्याख्यातस्य ह्रस्वभावादेव कारकामिधायी । आक्षिपः दीव्यतीत्यनुप्रयोगः सन्देहनिवृत्त्यर्थः ।

संस्कृतम् ॥३३॥१२८॥ तेनेति वर्त्तते । भासमर्थान्मृदः संस्कृतमित्येवस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वक्ष्यमाणासंस्कृतसंस्कृतस्य को भेदः । सतो गुणाभिधानं संस्कारः । मिश्रणमात्रं संसर्गः । इध्ना संस्कृतं दाक्षिणम् । शार्ङ्गवेरिकम् । मारीचिकम् । “संस्कृतं भक्षाः” [३३॥११] इत्येतदाधारविवक्षायामुक्तम् ।

कुलस्थकोळोऽण् ॥३३॥१२९॥ तेनेति संस्कृतमिति च वर्त्तते । कुलस्थशब्दात्कारोऽर्थः मृदोऽण् भवति । ठणोऽपवादः । कुलस्थैः संस्कृतं कौलत्यम् । कोळः, तैत्तिडीकम् । दार्दरुकम् ।

तरति ॥ ३।३।१३० ॥ तेनेति वर्तते । भासमर्थतरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उडुपेन तरति औडुपिकः । काण्डलविकः । सारल्लविकः । गौपुच्छिकः ।

नौद्वयश्चष्टः ॥ ३।३।१३१ ॥ तेनेति तरतीति च वर्तते । नौशब्दाद्द्वयश्चष्ट मृदष्टो भवति । ठणोऽपवादः । नावा तरति नाविकः । नाविका स्त्री । द्वयचः, घटेन तरति घटिकः । ल्लविकः । बाहुकः ।

चरति ॥ ३।३।१३२ ॥ तेनेति वर्तते । चरतिरिह भक्षणाग्नौ गत्यर्थश्चेष्टः । तेनेति भासमर्थचरति इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । इह तु करणे भा । शकटेन चरति, शाकटिकः । हारितकः ।

पर्पादेष्टट् ॥ ३।३।१३३ ॥ तेनेति चरतीति च वर्तते । पर्प इत्येवमादिभ्यष्टट् भवति । ठणोऽपवादः । पर्पेण चराते, पर्पिकः । पर्पेको । आश्विकः । आश्विकी । पर्प । अश्व । ऊपर । अश्वत्थ इति केचित् । रथ । जाल । व्यास । पादः पञ्च । पदिकः । पदिकी ।

श्वगणाद्वा ॥ ३।३।१३४ ॥ तेनेति चरतीति वर्तते । श्वगणशब्दाद् वा ठड् भवति । पक्षे ठण् । श्वगणेन चरति, श्वगणिकः । श्वगणिकी । श्वगणिकः । श्वगणिकी । ठण् श्वशब्दस्य द्वारादित्वादौवादशः प्राप्तः “श्वादेशवतः” [५।२।१३] इति प्रतिषेधः ।

वेतनादेर्जीवति ॥ ३।३।१३५ ॥ तेनेति वर्तते । वेतनादिभ्यो भान्तेभ्यो जीवतीत्यस्मिन्नर्थे यथा विहितं ल्यो भवति । वेतनेन जीवति, वेतनिकः । वेतन । बाहु । अर्द्धबाहु । उख । दण्ड । घनुर्दण्ड । घनुर्दण्डग्रहणं सङ्घातविग्रहीतार्थम् । वेश । उपवेश । प्रेषण । भृति । जाल । उपस्थ । सुख । शष्प । शक्ति । उपनिषत् । भिक (लक्) । पाठ । उपस्थान ।

वस्नकयविक्रयाड्डः ॥ ३।३।१३६ ॥ तेनेति जीवतीति च वर्तते । वस्न-कयविक्रयशब्दाभ्यां डो भवति । वस्नेन मूल्यम्, वस्नेन जीवति, वस्निकः । कयविक्रयेण जीवति, कयविक्रयिकः । उभयथा वाक्याभयणा-ल्लयविक्रयेण जीवति, क्रयिकः । विक्रयिकः ।

लुशचायुधात् ॥ ३।३।१३७ ॥ आयुष्यतेऽनेनेत्यायुधम् । लुश्वर्थ (घञर्थे) कविज्ञानं ह्यास्नापा-व्यबिहिन्युष्यर्थमिति । आयुधशब्दाद् भासमर्थलुश्च भवति ठश्च जीवतीत्यर्थे । आयुधेन जीवति आयुधीयः । आयुधिकः । आयुधिका स्त्री ।

हरत्युत्सङ्गादेः ॥ ३।३।१३८ ॥ तेनेति वर्तते । उत्सङ्ग इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यो हरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उत्सङ्गेन हरति, औत्सङ्गिकः । उत्सङ्ग । उडुप । उत्तुप । उत्पुत । उत्पुत) । पिटक । पिटाक ।

ठड्भस्त्रादेः ॥ ३।३।१३९ ॥ भस्त्रा इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यश्च भवति । भस्त्रया हरति, भस्त्रिकः । भस्त्रिकी । भस्त्रा । भरट् । भरण । शीर्षभार । अंसभार । अंसेभार ।

वा विवधवीवधात् ॥ ३।३।१४० ॥ तेनेति हरतीति वर्तते । विवधवीवधशब्दाभ्यां वा ठड् भवति, तेन मुक्ते ठण् भवति । विवधेन हरति, विवधिकः । वीवधिकः । ठण् । वैवधिकः । स्वदेशान्वाभति* (विवा-धते)वीवधः पर्याहार इत्यर्थः । तद्व्योगात्पया अपि तथोच्यते । विवधशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्वा दीत्वम् ।

अण् कुटिलिकायाः ॥ ३।३।१४१ ॥ कर्माखाण्डकारणकर्षणो, मृदगतां (त) पक्षालोत्प्रेषणो यण्डः, परित्राजकानां विवरणधारणम् । कुटिलिका । कुटिलिकाशब्दाद् भासमर्थोऽण् भवति इत्यस्मिन्नर्थे । कुटिलिकया हरति, कौटिलिकः । कर्मारः कर्षकः, परित्राजको वा । अन्यथाऽपि प्रयोगोऽप्युक्तः ।

निर्वृत्तेऽसाद्यतावेः ॥३।३।१४२॥ इतीति निवृत्तम् । तेनेति वर्तते । अद्ययूतादिभ्यो भासमर्थेभ्यो निर्वृत्तेऽर्थे ठण् भवति अद्ययूतेन निर्वृत्तम्, आद्ययूतिकम् । अद्ययूत । कृष्णप्रहत । कृष्णप्रहत । पादस्वेदन । कण्टकमर्दन । शर्करामर्दन । गतागत । यातोपयात । अनुगत ।

भावविमः ॥३।३।१४३॥ तेनेति निवृत्त इति च वर्तते । भाववाचिनो मृदो भासमर्थानिर्वृत्तेऽर्थे इम इत्यर्थं लो भवति । कुटेन निर्वृत्ता, कुट्टिमा भूमिः । सेकिमोऽसिः । पाकिम ओदनः ।

ब्रेः ॥३।३।१४४॥ व्यन्ताच्च इमो भवति तेनेति निर्वृत्तेऽर्थे । पूर्वेण सिद्धे पुनरारम्भो वाक्यनिवृत्त्यर्थः । अस्वपदेनार्थः प्रदर्श्यते । पाकेन निर्वृत्तम्, पक्वमम् । वापेन निर्वृत्तम्, उज्जिमम् । करणेन निर्वृत्तम्, कृषिमम् । भावे “द्विषतः विघ्नः” [२।३।१००] इति विघ्नः ।

नित्यम् ॥ ३।३।१४५ ॥ व्यन्तं नित्यमिमविषयं वेदितव्यम् । यथाऽन्ये भाववाचिनो निर्वृत्तार्थादन्यत्रापि प्रयुज्यन्ते । पाको वर्तते । सेको वर्तते, इति निर्वृत्तार्थे वाक्यं वृत्तिश्च भवति, तथा व्यन्तस्य वैरुध्यं मा भूत् इत्येवमर्थमिदमुच्यते । पूर्वेण वाक्यनिवृत्तिः कृताऽनेनेमविषयादन्यत्र प्रयोगो निषिध्यते ।

याचिताऽपमित्यात्करण ॥३।३।१४६॥ तेनेति निवृत्तमिति च वर्तते । याचित-अपमित्यशब्दाभ्यां कण् भवति । याचितेन निर्वृत्तं याचितकम् । आपमित्यकम् । “माढो व्यतिहारे” [२।३।१५] इति त्वात्वः । “वेर्मेकः” [३।३।१६] इत्वम् । अभान्तादपि वचनात्त्यः । अपमित्य इत्यनेन निर्वृत्तम् इत्येवं विग्रहे शब्दान्तरेण करणत्वं व्यज्यते ।

संसृष्टे ॥३।३।१४७॥ तेनेति वर्तते । भासमर्थान्मृदः संसृष्टेऽर्थे ठण् भवति । संसृष्टं मिश्रितम् । दध्ना संसृष्टम्, दाधिकम् । मारीचिकम् । “चूर्णादिन् वक्तव्यः” [वा०] । चूर्णेन संसृष्टः, चूर्णिनो घानाः । चूर्णिनोऽपूपाः । इह कस्मान्न भवति, लवणेन सैन्धवादिना संसृष्टमिति । अनभिधानात् । कथं लवणः सूपः, लवणं शाकम्, लवणा यवागूरिति । गुणवाचिनो लवणशब्दस्य तद्योगात् द्रव्ये वृत्तिरियम् । यथा कषायमुदकम् । कटुकमुदकमिति ।

मुद्गादण् ॥३।३।१४८॥ मुद्गशब्दाद् भान्तादण् भवति संसृष्टेऽर्थे । ठणोऽपवादः । मौद्ग ओदनः ।

व्यञ्जनैरुपसिक्ते ॥३।३।१४९॥ तेनेति वर्तते । समर्थविभक्त्युपादानं तस्यैव व्यक्तये । व्यञ्जन-वाचिभ्यो भासमर्थेभ्य उपसिक्तेऽर्थे ठण् भवति । दध्ना उपसिक्तं दाधिकं भक्तम् । घातिकः सूपः । व्यञ्जनैरिति किम् । उदकेन उपसिक्त ओदनः । बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिर्देशार्थः ।

ओजः सहोऽम्भसा वर्तते ॥३।३।१५०॥ तेनेति वर्तते । निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । ओजःप्रभृतिभ्यो भासमर्थेभ्यो वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । ओजसा वर्तते, औजसिकः । साहसिकः । आम्भसिकः ।

सप्तत्यनुपूर्वमीपलोमकूलात् ॥३।३।१५१॥ तदिति इप्समर्थेभ्यः प्रति अनु इत्येवंपूर्वेभ्यः ईपलोमकूलशब्देभ्यो वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वृत्तिः क्रियासामान्ये वर्तमानः सकर्मकः । वर्तते आचरतीत्यर्थः । अपः प्रति, प्रतीपम् । “वीप्सेऽधंसूतलक्षणेऽभिनेप्” [१।४।११] । “भागे वासुप्रति-पविष्ठा” [१।४।१२] इति लक्षणेऽर्थे ईप् “लक्षणेनाभिसुख्येऽभिप्रेती [१।३।११] इति ह्रस्वः । “इपन-गेरीदपः” [३।३।१०२] इति ईद्वम् । भावप्रधाना चेवं वृत्तिः । सप्तदायात्कर्मणीप् । प्रतीप वर्तते प्रातौ-पिकः । अनुपूर्वार्थे वर्तमानः अप्शब्देन सह ह्रस्वो भवति । आन्वीपिकः । प्रतिलोम वर्तते, प्रातिलोमिकः ।

आनुलोमिकः । इधे कृते “प्रत्यग्वशास्त्रामलोमः” [४।३।७१] इति अः सान्तः । प्रातिकूलिकः । आनुकूलिकः । अथवा प्रतिगता आपोऽस्मिन्निति प्रतीपम् इति । यत् सर्वत्र वसः कर्तव्यः ।

परिमुखम् ॥३।३।१५२॥ तदिति वर्तते । परिमुखशब्दात् इप्समर्थाद् वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । मुखात्परि परिमुखम् । “वर्जनेऽपचिभ्याम्” [१।४।२१] इति का । “पर्यपाङ्गहिरण्यः कया” [१।३।१०] इति इसः । परिमुखं वर्तते पारिमुखिकश्चौरः । सर्वतो मुखं वा परिमुखम् । प्रादिखञ्चयः सः । पारिमुखिकः । “परिपारवाञ्छेति वक्तव्यम्” [वा०] । पारिपार्श्विकः ।

प्रयच्छति गह्वरम् ॥३।३।१५३॥ तदिति वर्तते । तदिति इप्समर्थात्प्रयच्छति इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तदिप्समर्थं चेत्तद् भवति । द्विगुणं प्रयच्छति, द्वैगुणिकः । त्रैगुणिकः । “(वृ) द्येष्टाणि वृषुवि-
मावो वक्तव्यः” [वा०] । वृद्धिं प्रयच्छति वार्धुषिकः । यदि प्रकृत्यन्तरमस्ति, अव्यविकन्यायेन तस्मादेव
त्यः । गह्वरमिति किम् ? द्विगुणं प्रयच्छत्यधमर्थाः ।

कुसीददशैकादशदृष्टौ ॥३।३।१५४॥ तत्प्रयच्छति गह्वरम् इति न वर्तते । कुसीद-दशैकादश-
शब्दाभ्यां प्रयच्छतीत्यस्मिन्नर्थे ययासंख्यं ठट् ठ इत्येतौ ल्यौ भवतः ठणोऽपवादौ । कुसीदम् शृणुं वृद्धिर्वा ।
कुसीदं प्रयच्छति, कुसीदिका । कुसीदकी । एकादशार्थो दश दशैकादश निपातनात्सः । तान् प्रयच्छति, दशैका-
दशिकी । दशैकादशिका ।

रक्षत्युच्छति ॥३।३।१५५॥ तदिति इप्समर्थाद् रक्षति उच्छति इत्येतयोरर्थयोश्चण् भवति ।
समाजं रक्षति, सामाजिकः । नागरिकः । बदराण्युच्छति वादरिकः । नैवारिकः ।

शब्ददुर्दुरं करोति ॥३।३।१५६॥ इप्समर्थाभ्यां शब्ददुर्दुरशब्दाभ्यां करोत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति ।
शब्दं करोति, शाब्दिकः । वैयाकरण इत्यर्थः । दार्दुरिकः कुम्भकारः । तदित्यधिकारे पुनः समर्थविभक्त्युपादानं
लौकिकप्रयोगाऽनुसरणार्थम् । तेनेह न भवति । शब्दं करोति वायसः । “अरिमभ्रकश्यो तदाहेतिःमाशब्दा-
दिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] माशब्द इत्याह माशब्दिकः । नैत्यशब्दिकः । कार्यशब्दिकः । वाक्यादिदं
विधानम् । “प्रभूतादिभ्यश्च” [वा०] तदाहेति वर्तते । प्रभूतमाह प्राभूतिकः । पार्याप्तिकः । “पृच्छतौ
सुस्नातादिभ्य इप्समर्थेभ्यः” [वा०] । सुस्नातं पृच्छति, सौस्नातिकः । सौस्नातिकः । सौस्नायनिकः ।
“गच्छतौ परदारादिभ्य इप्समर्थेभ्यः” [वा०] । परदारं गच्छति, पारदारिकः । गौरुतल्पिकः ।

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ॥३।३।१५७॥ तदिति इप्समर्थेभ्यः पक्षिमत्स्यमृगेभ्यो हन्तीत्यास्मिन्नर्थे
ठण् भवति । स्वरूपस्य पर्यायाभ्यां वद्विशेषाणाञ्च ग्रहणम् । पक्षिणो हन्ति, पाक्षिकः । नास्यस्याभिधानमित्येके ।
पर्यायशब्दस्य शकुनेरेव ग्रहणम् । शाकुनिकः । तैत्तिरिकः । मायूरिकः । मत्स्य, मात्स्यिकः । पर्यायस्य मीन-
शब्दस्यैव अनिमिषादिषु न भवति । शाफरिकः । रौहितिकः । मृग, मार्गिकः । हारिष्टिकः । सौकरिकः ।
सारङ्गिकः ।

परिपन्थं तिष्ठति ॥३।३।१५८॥ परिपन्थशब्दादिप्समर्थात् तिष्ठतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति “काङ्-
भावाऽध्वगस्तभ्याः कर्मसंज्ञा ङकमेणाम्” [वा०] इति कर्मभावादिप् । परिपन्थं तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः ।
पन्थानं वर्जयित्वा ध्याप्य वा तिष्ठतीत्यर्थः । “हन्ताऽपि वक्तव्यम्” [वा०] । परिपन्थं हन्ति, पारिपन्थिकः ।
परिपथपर्यायः परिपन्थशब्दोऽस्ति तस्यार्थं प्रयोगः ।

माथद्युपदध्यनुपवाकन्दं धावति ॥३।३।१५९॥ तदिति वर्तते । माथद्युपदधी अनुपद ङाकन्द
इत्येतस्य इप्समर्थेभ्यो धावतीत्यास्मिन्नर्थे ठण् भवति । माथशब्दो मार्गपर्यायः । दण्डमाथं धावति, दण्ड-

माधिकः । मौलमाधिकः^१ । पदस्य वी पदवी । “धेनो वित्” इति इकारो डित् । “सर्वतोऽवत्यर्थादित्येके” [३।१।११ ग० सू०] इति ङीविधिः । तो धावति, पादविकः । पदस्य पश्चाद्भावतीति, अनुपदिकः । आक्रन्दिकः ।

पदयोर्गृह्णाति ॥३।३।१६०॥ तदिति वर्तते । पदयुशब्दाद् इप्समर्थोद् गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । आदिपदं गृह्णाति, आदिपदिकः । पौर्णदिकः । औत्तरदिकः ।

प्रतिकण्ठललामार्थात् ॥३।३।१६१॥ तदिति गृह्णातीति च वर्तते । प्रतिकण्ठ ललाम् अर्थ इत्ये-
तेभ्य इप्समर्थेभ्यो गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । कण्ठं प्रति, प्रतिकण्ठम् । “लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रत्यो”
[१।३।११] इति इषः । प्रतिकण्ठं गृह्णाति, प्रातिकण्ठिकः । प्रतिगतः कण्ठः, प्रतिकण्ठः इत्यत्राभिधानं
नास्ति । “पुरुषध्वजशङ्केषु इन्द्रध्वजेषु कश्मसु । वामश्रेष्ठानोन्मेषु ललामं नवसु स्मृतम् ॥” लाला-
मिकः । आर्थिकः ।

धर्मं चरति ॥३।३।१६२॥ धर्मशब्दादिप्समर्थान्चरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । तदिति वर्तमाने
पुनः समर्थविभक्त्युपादानं किम् ? आसेवायां यथा स्यात् । मुहुर्मुहुर्धर्मं चरति, धार्मिकः । “अचर्माम्भेति
वक्तव्यम्” [वा०] । आधार्मिकः ।

प्रतिपथमेति ठञ्च ॥३।३।१६३॥ प्रतिपथशब्दादिप्समर्थोदेतीत्यस्मिन्नर्थे ङो भवति ठण् च । प्रति-
पथमेति, प्रतिपथिकः । प्रातिपथिकः ।

समवायात्समवैति ॥३।३।१६४॥ समवायवाचिभ्य इप्समर्थेभ्यः समवैतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति ।
बहुलनिर्देशात्तस्य तत्पर्यायाणां च ग्रहणम् । समवायं समवैति, सामवायिकः । सामूहिकः । सामाजिकः ।
सांसदिकः ।

परिषद्गो पयः ॥३।३।१६५॥ तदिति वर्तते । परिषच्छब्दादिप्समर्थोद् समवैतीत्यस्मिन्नर्थे ण्यो भवति ।
ठञोऽपवादः । परिषदं समवैति, पारिषयः ।

सेनाया वा ॥३।३।१६६॥ सेनाशब्दादिप्समर्थोद्वा ण्यो भवति समवैतीत्यस्मिन्नर्थे । पदे ठण्
भवति । सेनां समवैति सैन्यः । सैनिकः ।

लालाटिककौककुटिकौ ॥३।३।१६७॥ लालाटिककौककुटिकशब्दौ निपात्येते । लालाटकुक्कुटी-
शब्दाभ्यामिप्समर्थोद्वा पश्यतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् निपात्यते । लालाटं पश्यति, लालाटिकः सेवकः । कुक्कुटी-
शब्देन कुक्कुटीपातमात्रो देशो लक्ष्यते । कुक्कुटीं पश्यति, कौककुटिको भिक्षुः । पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षीत्यर्थः ।

तस्य धर्म्यम् ॥३।३।१६८॥ धर्म्यं न्याय्यम् । तस्येति तात्पर्याद् धर्म्यमित्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति ।
शुल्कशालाया धर्म्यम्, शौल्कशालिकम् । आतरिकम् । आपणिकम् ।

ऋन्महिष्यादेरेण ॥३।३।१६९॥ तस्य धर्म्यमिति वर्तते । ऋकारान्तान्मृदः महिषी इत्येवमादिभ्य-
आण् भवति । ठणोऽपवादः । मातुर्धर्म्यं मात्रम् । पैत्रम् । ह्यैत्रम् । शास्त्रम् । महिष्यादिभ्यः । महिष्या
धर्म्यम्, माहिषम् । महिषी । प्रजावती । केषाञ्चित् प्रजापतीति पाठः । प्रलेपिका । विलेपिका । अनुलेपिका ।
धर्माकरोपिका । “अस्य हृत्पदे” [४।३।१७७ वा०] इति पुंवद्भावः प्राप्तः “न पुङ्गवकोः” [४।३।१७९]
इति प्रतिषिध्यते । “विशसितुर्धर्म्यं वैशखम् । “विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजिकम्”
[वा०] । विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजिकम् ।

अवक्रयः ॥ ३।३।१७० ॥ तस्येति वर्तते । तस्येति तासमर्थान्मृदोऽवक्रय इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । अवकीयतेऽनेनेत्यवक्रयः । अन्याव्यमपि स्वेच्छया परिकल्पितपरिमाणम् । द्रव्यमेकत्र पितृद्वयमित्यर्थः । शुल्कशालायामवक्रयः शौल्कशालिकः । आतरिकः । आपणिकः । गौलिकः ।

तदस्य पर्यम् ॥ ३।३।१७१ ॥ तदिति वासमर्थ्यात् पर्यविशिष्टादस्येति तार्थे ठण् भवति । अपूषः पर्यमस्य, आपूपिकः । शाकुलिकः ।

किसरावेष्टट् ॥ ३।३।१७२ ॥ तदस्य पर्यमिति वर्तते । किसर इत्येवमादिभ्यष्टट् भवति । ठणोऽपवादः । कितरं पर्यमस्य, कितरिको गन्धिकः । कितर । नलद । स्थगर । तगर । उसी(शी)र । गुग्गुलु । हरिद्रा । हरिद्रुपर्णी ।

शलालुनो वा ॥ ३।३।१७३ ॥ तदस्य पर्यमिति वर्तते । शलालुशब्दाद्वा ठट् भवति । पक्षे ठण् भवति । शलालु पर्यमस्य, शलालुकः । शलालुकः ।

शिल्पम् ॥ ३।३।१७४ ॥ तदस्येति वर्तते । शिल्प क्रियाविशेषे नैपुण्यम् । तदिति वासमर्थ्यादस्येति तार्थे ठण् भवति, यत्तद्वानिर्दिष्टं शिल्पं चेत्तट् भवति । (मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य, मार्दङ्गिकः ।) मृदङ्गवादने मृदङ्गशब्द उपचर्यते, तस्मादेव त्यः । एवं पाणविकः । वैणविकः ।

मङ्गुकभर्षराद् घाऽण् ॥ ३।३।१७५ ॥ तदस्य शिल्पमिति वर्तते । मङ्गुकभर्षरशब्दाभ्यां वाऽण् भवति । अण्वाऽनुक्ते ठण् भवति । मङ्गुकादनं शिल्पमस्य, माङ्गुकः । माङ्गुकिः । भाङ्गुरः । भाङ्गुरिकः ।

प्रहरणम् ॥ ३।३।१७६ ॥ तदस्येति वर्तते । प्रहरणमिति तदर्थे ठण् भवति । असिः प्रहरणमस्य, आसिकः । रसाकः । घाणुकः ।

शक्तियष्टेष्टोकण् ॥ ३।३।१७७ ॥ शक्तियष्टिशब्दाभ्यां टीकण् भवति तदस्य प्रहरणमित्यस्मिन्निषये । ठणोऽपवादः । शक्तिः प्रहरणमस्य, शाक्तीकः । याष्टीकः । इकारोच्चारणसामर्थ्यात् 'यस्य कदाचन' [३।३।१७८] इति खं न भविष्यति (इति) दीलोच्चारणं किम् ? अन्यत्रापि यथा स्यात् । अन्तः (आम्भः) प्रहरणमस्य, आन्तसीकः (आम्भसीकः) । इयं प्रहरणमस्य ऐषीकः । बहिर्भवः बाहीक इति ।

नास्तिकास्तिकदैष्टिकाः ॥ ३।३।१७८ ॥ नास्तिकादयः शब्दा निपात्यन्ते । नास्ति अस्ति दिष्ट इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो मतिविशिष्टेभ्योऽस्येति तार्थे ठण् निपात्यते । परलोको नास्तीति मतिरस्य, नास्तिकः । परलोकोऽस्तीति मतिरस्य, आस्तिकः । दिष्टं दैवतं तत्प्रमाणमस्य, दैष्टिकः । निपातनाद्वाक्यादपि त्वविधानम् ।

शीलम् ॥ ३।३।१७९ ॥ तदस्येति वर्तते । वासमर्थ्यादस्येति तार्थे ठण् भवति वासमर्थं शीलं चेद् भवति । अपूपभक्षणं शीलमस्य, आपूपिकः । तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमिति अपूपशब्दात्त्यः । एवं शाकुलिकः । मौदिकः ।

कुत्रादेर्णः ॥ ३।३।१८० ॥ तस्य शीलमिति वर्तते । कुत्र इत्येवमादिभ्यो णो भवति । ठणोऽपवादः । कुत्रमावरणं तद्वदगुरुकार्येष्ववहितत्वम् । कुत्रं शीलमस्य, कुत्राः । शिष्यः शीलमस्य शीष्यः । कुत्र । शिष्यः । दुष्ठाः । मित्राः । तितिक्षा । क्षुरा । उदस्थान । कृषि । कर्मन् । तपस् । पुरोड । आस्था । संस्था । अवस्था । विश्रधा । धत्य । अनृत । पित्तिक (शिविका) ।

१. शिक्षा (क्षा) शीकमस्य शीकः अ०, पू० । २. शिक्ष (क्षा) अ०, पू० । ३. सुक्षा (कुसुक्षा) अ०, पू० ।

कर्माध्ययने वृत्तम् ॥३।३।१८१॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्येति तार्थे ऽण् भवति यत्तद् वासमर्थं कर्म चेद्वृत्तमध्ययनविषयं तद्भवति । एकमन्यदध्ययने कर्म वृत्तमस्य, ऐकान्यिका । किम्पु-
नस्तदेकमन्यदध्ययने कर्म ? अपवादः । एवं वैयन्यिकः । वैयन्यिकः । सर्वत्र हृदये रसः । तद्वृत्तम् ।

बह्वज्जदेष्टुः ॥३।३।१८२॥ बह्वच् पदमादिर्यस्य तस्मान्मृदष्टो भवति । ऽणोऽपवादः । तदस्य कर्माध्ययने वृत्तमिति वर्तते । द्वादश अन्यानि अपवादलक्षणानि अध्ययने कर्माणि दत्तान्यस्य, द्वादशान्यिकः ।

हितमस्मै भक्ष्यः (नञः ॥३।३।१८३॥ तदिति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मै इत्येतेदर्थे ऽण् भवति यत्तद् वासमर्थं हितं भक्ष्याश्चेत्तद् भवन्ति । आप्पमक्ष्यं हितमस्मै, आपूपिकः । शाकुलिकः । इदमेव शापकं हितयोगेऽपि भवति ।

तद्दीयते नियुक्तम् ॥३।३।१८४॥ अस्मै इति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मै इत्यस्मिन्नर्थे ऽण् भवति यत्तद् वासमर्थं तच्चेद्दीयते । नियुक्तं नियमेन युक्तं नियुक्तमित्यर्थः । अग्रभोजनमस्मै दीयते नियुक्तम्, अग्रभोजनिकः । आपूपिकः । आणाऽस्मै दीयते नियुक्तम्, आणिकः । शाणौ (कौ) दैनिकः । “को दैनशब्दाद् वक्तव्यः” [वा०] ओदनिकः । ओदनिकी ।

भक्ताद् वाऽण् ॥३।३।१८५॥ तदस्मै दीयते नियुक्तमिति वर्तते । भक्तशब्दाद् वाऽण् भवति । पदे ऽण् भवति । भक्तमस्मै दीयते नियुक्तम्, माह्निकः । माह्निकः ।

तत्र नियुक्तः ॥३।३।१८६॥ अधिकृतो नियुक्तः । तत्रेतीप्समर्थाद् नियुक्त इत्यस्मिन्नर्थे ऽण् भवति । शुल्कशालायां नियुक्तः, शौल्कशालिकः । आक्षुपटलिकः । दीवारिकः ।

ठोऽपारन्तात् ॥३।३।१८७॥ तत्र नियुक्त इति वर्तते । अगारान्तान्मृदष्टो भवति । ऽणोऽपवादः । भाण्डागारे नियुक्तः, भाण्डागारिकः । कोष्ठागारे नियुक्तः, कोष्ठागारिकः ।

अध्यायिन्यदेशकालात् ॥३।३।१८८॥ अध्येतुं शीलमस्येति, अध्यायी । ईप्समर्थाद्देशवाचिनो-
ऽकालवाचिनश्च मृदोऽध्यायिन्यभिधेये ऽण् भवति । अध्यायिनीत्युक्तम्, तत्सम्बन्धात् अध्ययनस्य देशकालौ पर्युदस्येते । अशुभावधीते, आशुचिकः । सान्ध्यावेलिकः । आनध्यायिकः । अदेशकालाविति किम् ? चैत्यालयेऽधीते । पूर्वाह्णेऽधीते ।

कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ॥३।३।१८९॥ व्यवहरति, अनुतिष्ठति । तत्रेत्य-
नुवृत्तेर्निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । कठिनशब्दान्तान्मृदः प्रस्तार-संस्थानशब्दाभ्यां च व्यवहरती-
त्यस्मिन्नर्थे ऽण् भवति । वंशकठिने व्यवहरति, वांशकठिनिकः । वार्दकठिनिकः । प्रास्तारिकः । संस्थानिकः ।
अन्तग्रहणं मध्ये कृतमपि केचिदुत्तरयोः सम्बन्धन्ति ।

निकटावसथे वसति ॥३।३।१९०॥ तत्रेति वर्तते । निकट-अवसथशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां
वसतीत्यस्मिन्नर्थे ऽण् भवति । निकटमाविदूरम् । निकटे वसति, नैकटिकः । आवसथिकः ।

तद् वदति रथयुगप्रसङ्गाद्यः ॥३।३।१९१॥ दम्बानां स्कन्धकाष्ठं प्रसङ्गः । तदितीप्समर्थेभ्यो
रथयुग-प्रसङ्गशब्देभ्यो वदतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । य इत्यर्थं चाऽधिकार आपादपरिमार्तेवेदितव्यः ।

रथं वहति, रथ्यः । युग्यः । प्राप्त्यः । इहानभिधानान्न भवति । कालसंज्ञिनं युगं वहति राजा । युगं वहति मनुष्यः । “शकटादण् वक्तव्यः” [३।३।१६०] शकटं वहति शकटो गौः । “इक्षुसीरादण् वक्तव्यः” [३।३।१६१] इक्षुं वहति इक्षुः । सैरिः । नेदं वक्तव्यम् । शकटस्य वोढा इक्षुस्य वोढा इत्येवं विभक्ते शैवि-
केष्वपि “इक्षुसीरादण्” [३।३।१६१] इति ठणा च सिद्धम् । तर्हि रथग्रहणमप्यनर्थकम् । “रथ्यः” [३।३।१६६] इत्यनेन सिद्धत्वात् । तदन्तार्थमिह रथग्रहणम् । द्वौ रथौ वहति, द्विरथः । अत्र प्राग्ध्वीयस्य “रथ्योवनपत्ये” [३।३।१७३] इत्युप् प्रसज्यते ।

धुरो ढण् वा ॥३।३।१६२॥ धूःशब्दाद् वहतीत्यस्मिन्नर्थे ढण् भवति ध्रुवः । प्रकृतिविशेषाद्व्या-
विधीयमानेन यस्य बाधने प्राप्तेऽनेन समुच्चयः क्रियते । न त्वनुकर्षः । उत्तरत्राऽप्यनुवृत्तेः । धुरं वहति,
धुरेयः । धुर्यः ।

सर्वैकाभ्यां खः ॥३।३।१६३॥ तद्वहतीति वर्तते । सर्वैकशब्दाभ्यां परस्मा धुरः खो भवति ।
सर्वा धूः, सर्वधुरा । “पूर्वैकालौकस्ये” [३।३।१६४] इत्यादिना घसः । सर्वधुरां वहति, सर्वधुरीणः । एक
धुरीणः । “एकधुराशब्दात्स्त्रियोस् वक्तव्यः” [३।३।१६५] एकधुरं वहति एकधुरः । न वक्तव्यः । एकस्या धुवे
वोढेभ्या (त्या) गतस्थाणः “रथ्योवनपत्ये” [३।३।१७३] इत्युपा सिद्धम् । इष्टसङ्ग्रहार्थश्चकारोऽनुवर्त्यः ।
उत्तरधुरीणः ।

विध्यत्यकरणेन ॥३।३।१६४॥ तदिति कर्त्तते । इप्समर्थान्भृदः विध्यतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति न
चेत्करणेन विध्यति तदिति । पादं विध्यति पद्याः शर्कराः । “पद्ये” [३।३।१६५] इति पादस्य पदादेशः ।
करव्याः कण्टकाः । अकरणेनेति किम् ? पादं विध्यति धनुषा । प्रतीयमानेऽपि धनुषः करणत्वेनानभिधानान्न
भवति । शक्रं विध्यति । चोरं विध्यति राजा ।

अन्यधेनुष्यान्नवश्यवन्धनगणपद्यमूल्यहृद्यसतीर्थ्यगार्हपत्याः ॥३।३।१६५॥ सन्यादयः
शब्दा निपात्यन्ते । धनी बधूः, तां वहतीत्यत्रार्थे यः । जन्याः परिणेतृसहायानामियं संज्ञा । “धेनुष्येति
संज्ञार्था धेनुशब्दाच्चः पुक्त्वागमः” प्रकृष्टा धेनुर्धेनुष्या । या गोपालाय दोशार्थं दीयते । अन्यत्र धेनुतरेति
भवति । अन्नं लब्धेत्यस्मिन्वाक्ये अन्नाण्यो निपात्यते । अन्नः । वशं गत इत्यस्मिन्वाक्ये वशशब्दाच्चः ।
वश्यः । विनेय इत्यर्थः । अनगणशब्दाभ्यामिन्नन्ताभ्यां लब्धार्थे यः । वनं लब्धा वन्यः । गणं लब्धा गण्यः ।
पदमस्मिन् दृश्यते अस्मिन्वाक्ये पादशब्दाच्चः । पद्यं द्विमम् । पद्यः कर्दमः । पदमस्मिन् द्रष्टुं शक्यमित्यर्थः ।
“मूलमस्यावर्हि” इत्यस्मिन्वाक्ये मूलशब्दाच्चः । मूल्या मुद्गाः । मूल्या माषाः । मूलोत्पाटेन सङ्ग्राह्या इत्यर्थः ।
अथवा मूलेन समं मूल्यं वस्त्रम् । मूलेनानर्घं वा मूल्यम् । हृदयस्य प्रिय इत्यस्मिन् वाक्ये हृदयशब्दाच्चः ।
“हृदयस्य हृदयेष्वथान्तरालेषु” [३।३।१६६] इति हृददेशः । हृदो देशः । हृदमन्नम् । हृदवस्य बन्धन-
मृषिः हृद्यः । वशीकरणभूत इत्यर्थः । समाने तीर्थे वसतीत्यस्मिन्वाक्ये समानतीर्थशब्दाच्चः । समानस्य च
समावः । सतीर्थ्यः । गृहपतिना संयुक्त इत्यस्मिन्वाक्ये गृहपतिशब्दात् संज्ञार्था व्यो निपात्यते । गार्ह-
पत्योऽग्निः ।

वयस्तुलाभ्यां सम्मिते ॥३।३।१६६॥ निर्देशादेव माया उपादानम् । वयस्तुला इत्येताभ्यां मा-
समर्थाभ्यां सम्मितेऽर्थे यो भवति । वयसा सम्मितः, वयस्यः । संज्ञायामभिधानम् । अन्यत्र वयसा सम्मितः शत्रु-
रित्येव । तुलया सम्मितं तुल्यम् । सदृशमित्यर्थः ।

सौधर्मविषसोताभ्यस्तार्थप्राप्तबन्धसमितेषु ॥३।३।१६७॥ त्वार्थवसाद्भासमर्थादिति लभ्यते ।
नावादिभ्यश्चतुर्थ्यो भासमर्थेभ्यो यथासंख्यं तार्थादिषु यो भवति । नावा तार्थं नाव्यमुदकम् । “यि त्वे”
[३।३।१६७] इत्यावादेशः । प्राक्कनेन धर्मेण प्राप्तं धर्मम् । वक्ष्यमाणं तु धर्मादनपेतं धर्मं न्याय्यमुच्यते ।

विषेण वध्यः, विष्यः। वध इति प्रकृत्यन्तरम्। वधमर्हति, वध्यः। सीतया समितं सङ्गतं सीत्यं क्षेत्रम्। “रथसीता-
होभ्यो यविधौ तदन्तविधिरपिष्यते” [वा०] परमसीत्यम्। द्वितीयम्।

धर्मपथ्यर्थः न्यायादनपेते ॥३३१६८॥ निर्देशादेव समर्थविमतसुपादानम्। धर्मं पथिन् अर्थं
न्याय इत्येतेभ्यः कासमर्थेभ्योऽनपेतेऽर्थे यो भवति। धर्मादनपेतं धर्मम्। पथ्यम्। अर्थ्यम्। न्याय्यम्।

छन्दसा निर्मिते ॥३३१६९॥ छन्द इच्छा। निर्मितमुत्पादितम्। निर्देशादेव भासमर्थान्छन्दःशब्दात्
निर्मितेऽर्थे यो भवति। छन्दसा निर्मितः, छन्दस्यः।

उरसाऽण् च ॥३३२००॥ निर्देशाद् भाया उपादानम्। उरःशब्दाद् भासमर्थान्निर्मितेऽर्थेऽण्
भवति यश्च। उरसा निर्मितः, औरसः। उरस्यः।

मदजनहृत्तात्करणजलपकर्षेषु ॥३३२०१॥ मद जन हृत् इत्येतेभ्यो यथासंख्यं करणं कल्प कर्ष
इत्येतेभ्यर्षेषु यो भवति। करणादयः शब्दा भावे करणे वा व्युत्पादयितव्याः। तेन सामर्थ्याभ्योत्पत्तिः। मदकस्य
करणं मदम्। मदस्थाने केचित्मलशब्दं पठन्ति, तेषां मल्यमिति भवति। जनस्य जल्पः, जल्पः। हलस्य कर्षः,
हल्पः। द्विहल्पः। परमहल्पः।

तत्र साधुः ॥३३२०२॥ तत्रेतीप्समर्थान्साधुरित्येतस्मिन्नर्थे यो भवति। सामनि साधुः,
सामन्यः। कर्मण्यः। सभ्यः। शरण्यः। साधुरिह योग्यो निपुणो वा न तु हितः, तत्र हि प्राक्ठणीय
एव तः।

प्रतिजनादेः खञ् ॥३३२०३॥ तत्र साधुरिह वर्तते। प्रतिजन इत्येवमादिभ्यः खञ् भवति।
यस्याऽपवादः। जनं जनं प्रति, प्रतिजनम्। यथार्थे हसः। प्रतिजने साधुः, प्रातिजनीनः। प्रतिजन। इदंयुग।
संयुग। परयुग। परकुल। परस्यकुल। अमुष्यकुल। निपातनात्ताया अनुप्। सर्वजन। विश्वजन। पञ्चजन।
महाजन। योऽत्र हितार्थः साध्वर्थः, तत्र वचनात्प्राक्ठणीयस्य बाबा।

भक्ताणः ॥३३२०४॥ तत्र साधुरिह वर्तते। भक्तशब्दाण्यो भवति। यस्याऽपवादः। भक्ते
साधुर्भाक्स्तन्दुलः।

परिषदो ग्यः ॥३३२०५॥ तत्र साधुरिति वर्तते। परिषच्छब्दाण्यो भवति। यस्याऽपवादः।
परिषदि साधुः, पारिषदः। योऽप्यत्राऽनुवृत्तिरिष्यते। परिषदि साधुः, पारिषदः।

कथावेष्टण् ॥३३२०६॥ तत्र साधुरिति वर्तते। कथा इत्येवमादिभ्यश्चण् भवति। यस्याऽपवादः।
कथायां साधुः, वधिकः। कथा। विकथा। विश्वकथा। संकथा। वितन्दा। कुष्टिदा (कुष्टचित्)। जनवाद।
जनेवाद। चित्र। वृत्ति। सङ्ग्रह। गण। गुण। आयुर्वेद। गुड। कुल्यास (कुल्माष)। सक्तु।
अपूप। मांसौदन। इक्षु। वेणु। संग्राम। संघात। प्रवास। निवास। उपवास।

पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्हन् ॥३३२०७॥ तत्र साधुरिति वर्तते। पथ्यादिभ्यो ढन् भवति।
यस्यापवादः। पथि साधु पायेयम्। आतिथेयम्। वासतेयम्। स्वापतेयम्।

समानोदरे शयितः ॥३३२०८॥ तत्रेति वर्तते। निर्देशाद् वा (ईप्समर्थात्) समानोदरशब्दात्
शयित इत्यस्मिन्नर्थे यो भवति। समानोदर्यः। सोन्दर्यः। “ओवर्थे” [३३१६४] इति समानस्य
सदेशः। कथं तर्हि सोदरशब्दस्य सिद्धिः? “समानस्य” [३३१६२] इति योगविभागात्।

इत्यमयनन्दिर्विरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

प्राक्ठणशब्दः ॥३॥४॥१॥ वक्ष्यन्ति (ति) “आहृष्टिण्” [३॥४॥१७] प्रागेतस्माद्वण् संशब्दनाद्वयेऽर्था वक्ष्यते (न्ते) तेषु छोऽधिकृतो वेदितव्यः । वक्ष्यति “तस्मै हितम्” [३॥४॥४] । वत्सेभ्यो हितः, वत्सीयः । अवत्सीयः । करभीयः । प्राग्वचनं किम् ? अर्थविशेषेऽपवादेन निवर्त्त (ति) तं पुनरर्थान्तर उपस्थानं यथा स्यात् । नन्ववि (धि) कारादेवापवादविषयेत्युपस्थानं प्राप्नोति । नैतदेवम् । तत्र तत्र वामदृशाच्चकारकरणाच्चापवादविषयपरिहारो गम्यते ।

उगधादेर्यः ॥३॥४॥२॥ प्राक्ठण इति वर्तते । उवर्णान्तान्मुदो गवादिभ्यश्च यो भवति प्राक्ठणोऽर्थेषु । छाऽपवादः । शङ्ख्यं दारु । परशव्यमयः । पिचव्यः कार्पासः । गवादिभ्यः । गव्यम् । हविष्यम् । गो । हविष् । इह हविरिति स्वरूपग्रहणम् । अष्टका । वर्हिष् । युग । मेघा । सुव् (सुक्) । नाभि नर्म वा । नभ्योऽन्तः । नभ्यमऽनम् । “सु (शु) नोजिर्वाचिर्दीत्वम्” [वा०] सू (शु) न्यम् । सु (शु) न्यम् । ऊधलो नक्ष । ऊधन्यः । कूप । अक्षर । दर । खर । दवर । स्त्व (स्व) द । विष ।

हविरपूपादेर्वी ॥३॥४॥३॥ हविःशब्दो गवादिषु पठितः । तद्विशेषाणामिह ग्रहणम् । हविर्विशेषवाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च प्राक्ठणोऽर्थेषु वा वो भवति । नित्ये ठे प्राप्ते विभाषेयम् । आमीक्ष्यम् । आमीक्षीयं दधि । पुरोडाश्याः । पुरोडाशीयास्तन्दुलाः । अपूपादिभ्यः, अपूप्यम् । अपूपीयम् । अपूप । तन्दुल । पृथुक । अभ्योष । अवोष । किरव । मुसल । कटक । कर्णचेष्टक । द्रुर्गल (अर्गल) । स्थूणा । यूप । सूप । दीप । प्रदीप । अवपत्र । “विगृहीतादपीष्यते ।” “अक्षविकारेभ्यश्च ।” उदग्याः । उदनीयाः । सूर्याः, सूरैयास्तन्दुलाः । अक्षविकारत्वादेव सिद्धे अपूपाऽभ्योवादीनां प्रपञ्चार्थं पृथग्रहणम् । अतो विभक्त्यापूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो नित्यो विधिर्भवति । चररिति, हविर्विशेषः । चरव्यास्तन्दुलाः । शङ्कुरक्षविकारः, शङ्कव्याधानाः । “कम्बलाश्चौप्रा कृणोर्ध्व (कम्बलाच्च प्राक्ठणोऽर्थे) नित्यं यो वक्तव्यः” [वा०] । कम्बल्यसूर्याश्चतम् । लुविषयादन्यत्र । कम्बलीया ऊर्णा । नेदं वक्तव्यम् । “न विस्ताचितकम्बलयात्” [३॥१॥२०] इति निपातनात्सिद्धम् ।

तस्मै हितम् ॥३॥४॥४॥ तस्मै इति अप्समर्थाद् हितमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । वत्सेभ्यो हितः, वत्सीयः । करभीयः । पठव्यम् । गव्यम् । हविष्यम् ।

प्राण्यङ्ग रथखललयवमाषवृषब्रह्मातिलाद्यः ॥३॥४॥५॥ प्राण्यङ्गं शरीरावयवः, देहदेहिनोः कथञ्चिदभेदात् । प्राण्यङ्गवाचिभ्यो रथ खल यव माष वृष ब्राह्मण तिल इत्येतेभ्यश्च यो भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्नर्थे । छस्याऽपवादः । दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम् । कर्णम् । चक्षुष्यम् । नाभये हितं नाभ्यं तैलम् । “नाभि नभश्च” [वा०] इति नभभावः । गवादिलक्षणे यो विहितः स इह न भवति । गवादिलक्षणे य इह कस्मान्न भवति ? प्राण्यङ्गलक्षणे अस्तस्य परत्वाद् बाधकः । रथाय हिता भूमिः, रथ्या । खलाय हितम्, खल्यम् । यव्यम् । माष्यम् । वृषाय हितम्, वृष्यम् । ब्राह्मणे हितम्, ब्रह्मण्यम् । तिल्यम् । वृष्ये हितं ब्राह्मणाय हितमित्यत्रानभिधानाच्चो न भवति ।

अजाविभ्यां ययः ॥३॥४॥६॥ अज-अविशब्दाभ्यां य्यो भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्नर्थे । छस्याऽपवादः । अजे (जाय) हितम्, अजय्यम् । अविष्यम् । लिङ्गविशिष्टस्याबाशब्दस्य ग्रहणेऽपि “उत्तावी” [३॥१॥१७] इति पुंवदभावे कृते तदेव रूपम् ।

विश्वजनान्मोगान्तास्त्रः ॥३॥४॥७॥ तस्मै हितमिति वर्तते । विश्वजन आत्मन् इत्येताभ्यां मोगान्ताच्च मुदः खो भवति । छस्याऽपवादः । विश्वजनाय हितः, विश्वजनीनः चिनः । अत्र यसादेवेभ्यते ।

तासाद (द्र) सञ्च ह्य एव भवति । विश्वजनीयम् । “पञ्चजनशब्दादुपसंख्यानम्” [वा०] पञ्चजनीयम् । अत्र “द्विसंख्यं खौ” [१।१।४५] इत्यनेन विहितसमानाधिकरणाद् वसादेवेष्यते । पञ्चजनीयमन्यत् । “सर्वजनादुक् खश्च वक्तव्यः” [वा०] सार्वजनिकः । सर्वजनीनः । अत्रापि यसादेवेष्यते । सर्वजनीयमन्यत् । “महाजनादुक् वक्तव्यः” [वा०] महाजनिकम् । वसादयं विधिः । वसाञ्छ एव भवति । भक्षजनीयम् । ईनादेशे कृते “नोऽपुंसो इति” [४।४।१२०] इति टित् प्रोत्पद्यते । सूत्रे नञ्परान्तनिपातनान्न भवति । भोगः शरीरम् । तदसा (दन्ता)त् मातृभोगीणः । पितृभोगीणः । मात्रादिभ्यः केवलेभ्यश्छ एव भवति । मात्रीयः । पित्रीयः । “राजाऽचार्याभ्यां भोगान्ताभ्यां नित्यमिति वक्तव्यम्” [वा०] राजभोगीणम् । आचार्यभोगीणम् । आर्यभोगान् (गीन) शब्दस्य “क्षुम्भादिष्वात्” [१।४।११७] णत्वं (न) भवति । नित्यप्रत्ययं किम् ? भोगाभ्यां न भवति । राज्ञे हितम् । आचार्याय हितमिति ।

सर्वाण्यो वा ॥३।४।८॥ तस्मै हितमिति वर्तते । सर्वशब्दाद् वा यो भवति पदे ह्यो भवति । सर्वस्मै हितम्, सर्वम् । सर्वायम् ।

पुरुषादुक् ॥३।४।९॥ पुरुषशब्दादुक् भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्निबन्धे । छस्याऽपवादः । पुरुषाय हितं पौरुषेयम् । अल्प (त्य) ल्पमिदम् । “पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्” । पौरुषेयो वधः । “तस्येवम्” [३।१।८८] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयो विकारः । “प्राश्निकाकादेः” [३।१।१०५] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयं स्वमागतं (यः समूहः) “तस्य समूहः” इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयः प्रासादः । पौरुषेयो ग्रन्थः । तेन कृते “नि ग्रन्थे (कृते ग्रन्थे) [३।१।८२] “कौ” [३।१।८६] इत्यण् प्राप्तः ।

माणावचरकात्सज् ॥३।४।१०॥ तस्मै हितमिति वर्तते । माणाव-चरक-शब्दाभ्यां सज् भवति । छस्याऽपवादः । माणावाय हितं माणावीनम् । चारकीयम् ।

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ॥३।४।११॥ हितमिति निवृत्तम् । तस्मै इति वर्तते । तस्मै इदं तदर्थं समानजातीयमभिधेयस्तानवर्ति कारणम्, प्रकृतिः । तस्या एवाऽवस्थान्तरं विकृतिः । तदर्थमित्येतद्विकृतेर्वि-
शेषणम् । तदर्थ्यां प्रकृताविति । यद्येवं स्त्रीलिङ्गमोष् च प्रानोति । “सूत्रेऽस्मिन् सुबिचिह्नैः” [५।२।११४] इने पा (इतीपो) वाया एकेन च निर्देशः । विकृतिवाचि-ोऽवन्तान्मृदस्तदर्थ्यां प्रकृता-
वनि(भि)धेयायां यथाविहितं स्यो भवति । विकृत्यर्थायां प्रकृतौ त्यो भवतीत्यर्थः । अङ्गारेभ्यः, अङ्गारीयाणि
काष्ठानि । प्राकार्या इष्टकाः । शङ्ख्यं दास । पिच्यः कर्पासः । अपूप्याः । अपूपीयास्तन्दुलाः । विप्रदे
तादर्थ्यलक्षणाऽपु द्रष्टव्या । तदर्थमिति किम् ? सूत्राय यवाणः । उच्चाराय यवाणम् । पादरोगाय नङ्-
लोदकं कल्पते । योग्यतामात्रेण विकृतिप्रकृत्यभिसम्बन्धो मा मूत् । अत्र केचित्तस्मै ग्रहणं नानुवर्तयन्ति । ताद-
र्थ्यतयाऽपि व्यज्यते । यथा गुरोरिदम्, गुर्वर्थम् इति । विकृतिवाचिनस्तान्तात्तदर्थ्यां प्रकृतावभिधेयाणां
त्यमुत्पादयति । एवमङ्गारायामिमानि अङ्गारार्थानि काष्ठानि, अङ्गारीयाणि । तदर्थमिति किम् ? यवानां घानाः
घानानां शङ्खः । नात्र प्रकृतेरन्यार्थया गम्यते । अपि तु प्रकृत्यन्तरनिवृत्तिमात्रम् । नान्येषां घाना नान्येषां
शङ्खः । अत एव विकारप्रकृतिसम्बन्धमात्रेऽपि स्यो न भवति । घानानां यवाः, शङ्खानां घानाः इति ।
विकृतेरिति किम् ? उदकार्थः कूपः । नात्र पार्थिवस्य कूपस्य विकृतिरुदकम् । प्रकृताविति किम् ? अस्यार्था
कोशी । अस्मिन्सो विकृतिर्भवति । तत्र कोशी तस्य प्रकृतिः ।

छदिरुपधिबलोदञ् ॥३।४।१२॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । छदिस् उपधि बलि इत्ये-
तेभ्यो ढञ् भवति । छदिरर्थानि छदिपेयाणि वृणानि । इह छदिरर्थं चमेति परत्वात् “चमन्तोऽञ्”

[३।४।१४] इति अग्नि प्राप्ते पूर्वनिर्णयेन ढञ् भवति । छादिपेयं चर्म । उपधीयत इत्युपधिः, रयाङ् गुणान्तरयोगाद् विकृतिरियम् । उपध्यर्थम्, औपधेयं दाह । बालेयास्तन्दुलाः ।

अपधोपानहो ऽयः ॥३।४।१३॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । अपधम उपानह इत्येताभ्यां व्यो भवति । ठस्यापवादः । गुणान्तरयोगादपि विकारो भवति । तद्यथा वैभीतकोऽपूपः इति । अपधमार्थेभ्यो वत्सः (आर्धभ्यो वत्सः) । औपानहो मृजः । “चर्मणोऽञ्” [३।४।१४] इत्यतः पूर्वनिर्णयेनायमेवेत्यते । औपानहं चर्म ।

चर्मणोऽञ् ॥३।४।१४॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृतः इति वर्तते । चर्मण इति विकारसम्बन्धे ता । चर्मणो या विकृतिस्तद्वाचिनोऽञ् भवति । छस्याऽपवादः । वद्मर्थम् वाद्मम् । वत्रा (वरत्रा) र्थं वात्रं (वारत्रं) चर्म । सनङ्कुर्नाम चर्मविकारः, ततः पूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो यो भवति । सनङ्गव्यं चर्म ।

तवस्यास्मिन्निति ॥३।४।१५॥ प्रकृतिविकृतिभावस्तादर्थ्यं वेद् न विवक्षितं योग्यतामात्रं विवक्षितम् । तदिति वासमर्थादस्य अस्मिन्नित्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं त्यो भवति । इति करणस्ततश्चेद् विवक्षा । अस्य सम्भावनेऽभिधानम् । तेन मत्वर्थाद् भेदः । प्रासादोऽस्य स्यात् प्रासादीयं दाह । प्राकारेया इष्टकाः । प्रासादोऽस्मिन् देशे स्यात् प्रासादीयो देशः । प्राकारोऽयं देशः । इह कस्तान्न भवते, प्रासादो देवदत्तस्य स्यात् ? इति करणादविवक्षाऽत्र ।

परिखाया ढञ् ॥३।४।१६॥ तदस्याऽस्मिन्निति वर्तते । परिखाशब्दाद्ढञ् भवति । छस्यापवादः । परिखाऽस्मिन्देसो ऽभाव्यते पारिलेयो देशः । पारिलेयी भूमिः । इत ऊर्ध्वं छयौ नानुवर्तते ।

आर्हादृण ॥३।४।१७॥ तदर्हतीति निवृत्तम् । प्रागेतस्मादर्ह संशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुकमिष्यामः, तेषु ठणधिकृतो वेदितव्यः । प्रागिति वर्तमाने अभिविध्यर्थमाद्ग्रहणम् । अर्हतीत्यस्मिन्नप्यर्थे ठण् भवति । वक्ष्यति “तेन क्रीतम्” [३।४।१८] । वक्ष्येण क्रीतं वाञ्छिकम् । गौपुञ्छिकम् ।

शतादस्वार्थेऽसेठयो ॥३।४।१८॥ आर्हादिति वर्तते । स्वार्थे शतमेव । शतशब्दादस्वार्थेऽसेठय इत्येती त्यौ भवत आर्हादेष्वर्थेषु । कस्यापवादः । शतेन क्रीतम्, शतिकम् । शत्यम् । अस्वार्थ इति किम् ? शतं परिमाणमस्य शतकं स्तोत्रम् । नात्र प्रकृत्यर्थादर्थान्तरभूतस्त्यार्थः समुदायः किन्तु शतमेव । यत्र लर्थान्तरभावस्तत्र विधिरेव न प्रतिषेधः । शतेन क्रीतं शतिकं पटशतम् । शत्यं पटशतम् । वाक्येन ह्यत्र त्वार्थस्य शतत्वं गम्यते न श्रुत्या । अस इति किम् ? द्वौ च शतं च द्विशतम् । तेन क्रीतं द्विशतकम् । द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतमिति रसे “शङ्कुवक्षौ” [३।४।१९] इत्युपि नास्ति विशेषः । ननु स-स्थान्वयौ तदन्तविधिर्नास्ति अस्मद्व्ययमनर्थकम् ? नाप्युत्तरत्र तदन्तविधेर्ज्ञापकम् । “प्राग्वयः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुधीति वृष-संख्यानमवश्यं कर्तव्यम् ।” पारायणं वर्तवति पारायणिकः । द्विपारायणिकः । असंख्यापूर्वपदस्य न भवति । सहस्रेण क्रीतम्, साहस्रम् । सुवर्णसहस्रेण क्रीतमित्यत्रापि न भवति । तथा उवन्तायाः प्रकृतेर्नैष्यते । द्वाभ्यां सूर्पाभ्यां क्रीतम्, द्विसूर्पेण क्रीतम् तदन्तविधेरभावात् “सूर्पाद्वौ” [३।४।२०] इत्ययं विधिर्न भवति । सामान्येन ठण्, द्विषौषिकम् । “परिमाणमस्याखुशाणे” [३।४।२१] इति चोरेप् । एवं तर्हि पूर्वत्र तदन्तविधिरपि भवतीति ज्ञाप्यते । गव्यम् । अगव्यम् । हविष्यम् । प्रसूहविष्यम् । अपूप्यम् । यवापूप्यम् । अहव्यम् । एकाहव्यम् । राजदन्त्यम् । माध्वम् । तिल्यम् । कुष्ठ्यतिल्यम् ।

संख्यायाः कोऽतिशतः ॥३।४।२१॥ आर्हादिति वर्तते । संख्याया अतिशदन्तायाः को भवति । आहादर्थेषु ठणोऽपवादः । संख्याशब्दः “कतिः संख्या” [१।१।३३] इति कतिशब्दं प्रत्याययति । तत्र

चाऽन्वयसंज्ञाग्रहणाद् यैरेकत्वादिभिः संख्यायते तेषां न्व ग्रहणे प्राप्तेऽतिशत इति प्रतिषेधः । त्यन्ता शदन्तां च संख्यां वर्जयित्वेत्यर्थः । पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः । सप्तकः । “संख्या बाङ्गोऽबहुगत्याम्” [४।२।३६] इति पठ्युदासाद्बहुगणयोः संख्यात्वम् । बहुकः । गणकः । अतिशत इति किम् । षाष्टिकः । सप्ततिकः । चत्वारिंशत्कः । पञ्चाशत्कः । अर्थवत्स्तिशब्दस्येह ग्रहणाद्बङ्गतेर [ति] प्रतिषेधः । कृतिभिः क्रीता, कृतिकः ।

ततोर्विद् ॥३।४।२०॥ यत्किञ्चित् स्यः पञ्चकृतिः । “यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः” [३।४।१९०] “इवमो वी घः” [३।४।१९१] “किमः” [३।४।१९२] इति वतोः परस्य कस्य च इद्भवति । ननु च अशाते यत्तेषु कतिशब्दस्यैव संख्यात्वमुक्तम् । तत्कथं बलन्तासंख्यालक्षणः कः ? इदमेव बलन्तात्परस्य कस्य वेद्बचनं ज्ञापकं भवति बलन्तस्य संख्या संज्ञेति । यावता क्रीतः, यावतिकः, यावत्कः । तावतिकः । तावत्कः ।

विंशतित्रिंशद्भ्याङ्गुरखौ ॥३।४।२१॥ विंशतित्रिंशद्भ्याम् इत्तुर्भवत्यखुविषये । विंशत्या क्रीतः, विशकः । तैः खे कृते “असिद्धवद्भ्राभात्” [४।४।९१] इति टिले प्रतिषेधे “पृथ्वतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपम् । त्रिंशता क्रीतः, त्रिशकः । अखाविति किम् । विंशतिः परिमाणमस्य, “परि-
माणात्संख्यायाः सङ्ख्यसूत्राऽध्ययने” [३।४।५६] “खौ” [३।४।५७] इति कः । विंशतिकं परिमाणनाम-
धेयम् । अनर्थकत्वादस्य त्रिशब्दस्य त्यन्तलक्षणः प्रतिषेधो न भवति । द्वयोर्दशतोर्वि (न्) भावः शतिश्चात्र
त्यो निपातयिष्यते । त्रिशत्यपरिमाणमेषां त्रिशलाः । शदन्तान्नेति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति । विंशति त्रिशद्-
भ्यामिति योगविभागात्को भवति ।

कंसाद्वन् ॥३।४।२२॥ कंशब्दाद्वन् भवति आर्हादर्थेषु । दण्डोऽपवादः । कंसेन कान्तः (क्रीतः)
कंसिकः । कंसिकी । “अर्धाच्चेस वत्तज्यम्” [वा०] अर्द्धिकी ।

कार्षापणाद्वन् ॥३।४।२३॥ आर्हादिति वर्तते । कार्षापणशब्दात् ठङ् भवति तस्य प्रतिरथं
वादशो वा भवति । कार्षापणेन क्रीतः, कार्षापणिकः । कार्षापणिकी । प्रतिकः । प्रलिकी ।

शतमानविंशत(क)सहस्रवसनादण् ॥३।४।२४॥ शतमानादि-योऽण् भवति । आर्हादर्थे ।
ठणोऽपवादः । शतमानेन क्रीतम्, शातमानम् । वैशतिकम् । साहस्रम् । वासनम् ।

सूर्पाद्वन् ॥३।४।२५॥ आर्हादिति वर्तते । सूर्पशब्दाद्वाऽण् भवति । नित्ये ठाण् प्राप्ते विकृत्योऽ-
यम् । सूर्पं परिमाणनाम । सूर्पेण क्रीतम्, सौर्पम् । सौर्पिकः ।

रातुबखौ ॥३।४।२६॥ आर्हादिति वर्तते । रातुत्तरस्य आर्हायस्य त्वस्योद्भवत्वखौ । द्वाभ्यां कंसाभ्यां
क्रीतम्, द्विकंसम् । त्रिकंसम् । इदर्थे रसे कृते संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिना कंसाद्वत्, तस्योप् । अधिक-
मर्धमस्मिन्नित्यध्यर्धम्, संख्यासंज्ञाविधानेऽध्यर्धग्रहणं सकविध्यर्थमित्युपसंख्यानंज्ञा । अध्यर्धेन कंसेन
क्रीतं ठट् उपि अध्यर्धकंसम् । द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम् इत्यागतयोऽष्टश्लोकःभवति । द्विसूर्पम् । त्रिसूर्पम् ।
अध्यर्धसूर्पम् । रादिति हेत्वर्थे का । रस्य हेतुनिमित्तं यो हत् तस्योग्न भवति । द्विसूर्पेण पटेन क्रीतम्,
द्विसौर्पिकम् । “अतश्चमिमादापि समाहारकक्षणादुराबुत्वकथ्यः” [वा०] । द्वयोः सूर्पयोः समाहारः
द्विसूर्पी । द्विसूर्पात् क्रीतम् द्विसूर्पमिति । न वक्तव्यः । अभिधानवशात् समाहारे वाक्यमेव भवति । न
त्योरपत्तिः । अखाविति किम् ? पाञ्चलोहितकम् । पाञ्चकलापिकम् । परिमाणनामधेये इमे । पञ्च लोहितानि
परिमाणमस्य पञ्चकपालाः परिमाणमस्येति “परिमाणात्संख्यायाः सङ्ख्यसूत्राऽध्ययने” [३।४।५६]
“खौ” [३।४।५७] । इति ठण् । परिमाणस्य धोरार्दरेपि प्राप्ते “अखुशाणे” इति प्रतिषेधे आर्हरेपि ।
अन्ये पञ्चलोहित्यः परिमाणमस्येति विग्रह “तस्य हृत्यदे” [वा०] इति पुंवद्भावं विदधाति ।

तेन क्रीतम् ॥३१४३५॥ तेनेति तासमर्थात् क्रीतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं उणादयो भवन्ति । निष्केण क्रीतम्, नैष्किकम् । शतिकम् । शत्यम् । साहस्रम् । द्विकम् । त्रिकम् । इह करणमिति वक्तव्यम् । कर्तरि माभूत् । देवदत्तेन क्रीतम् । “सूत्रादिति च वक्तव्यम्” [वा०] । इह मा भूत् पाणिना क्रीतमिति । “द्विवङ्गताच्च करणात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । द्रोण्याभ्यां क्रीतम् । द्रोणैः क्रीतम् इति । नेवं बहु वक्तव्यम् । अभिधानतो व्यवस्था भविष्यति । यत्र प्रकृत्यर्थस्य संख्याभेदावगतिरस्ति तत्र द्विवङ्गत्वविषयेऽपि भवति । ब्राह्म्यां क्रीतम्, द्विकम् । मुद्गैः क्रीतम्, मौद्गिकम् ।

तस्य वायः ॥३१४३६॥ तस्येति तासमर्थात् वाय इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं लो भवति । प्रस्थस्य वायः, प्रास्थिकः । कीदृशिकः । खारीकः । “यस्य प्रकरणे वातपित्तक्षेप्य-
सन्निपातेभ्यः रुसनकोपनयोरुपसंख्यानम्” [वा०] वातस्य शमनं कोपनं वातिकं द्रव्यम् । एवं पैत्तिकम् । श्लैष्मिकम् । सन्निपातिकम् ।

निमित्तं संयोगोत्पादौ ॥३१४३७॥ बुद्धिपूर्विका व्याप्तिः संयोगः । शुभाशुभयोः सूचकः उत्पादः । उत्पात इत्यर्थः । तस्येति तासमर्थान्निमित्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं लो भवति यत्तन्निमित्तं संयोग उत्पादो वा स चेद् भवति । शतस्य निमित्तमीश्वरेण संयोगः शतिकः, शत्यः । साहस्रः । शतस्य निमित्तं दक्षिणादिस्फुटनमुत्पादः शतिकः । शत्यः । साहस्रः । सोमप्रहस्यस्य निमित्तमुत्पादो भूमिकम्पः । सोमप्रहणिकः ।

योऽसंख्यापरिमाणश्चादेः ॥३१४३८॥ तस्येति तासमर्थान् यो भवति संख्यापरिमाणश्चादीन् वर्जयित्वा निमित्तं संयोगोत्पादादित्यस्मिन् विषये । उणादीनामपवादः । वनं निमित्तं संयोग उत्पादो वा वन्यः । यशस्यः । स्वर्ग्यः । आयुष्यः । असंख्यापरिमाणश्चादेरिति किम् ? पञ्चानां निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पञ्चकः । सप्तकः । परिमाणात् । प्रस्थस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा प्रास्थिकः । द्रौष्टिकः । खारीकः । अश्वादिर्गणः । अश्वस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा आश्विकः । अश्व । अश्मन् । गण । ऊर्णा । उन्ना । मङ्गा । वर्षा । वज्र । वधु । संख्यापरिमाणयोरर्थभेदोऽस्ति । “ऊर्ध्वमानं क्लृप्तेन्मानं परिमाणं तु सर्वत्रः । चायमं तु प्रमाणं स्यात् संख्या तु गुणनात्मिका ।”

गोब्रह्मवर्चसात् ॥३१४३९॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । गोब्रह्मवर्चशब्दाभ्यां यो भवति । गोर्निमित्तं संयोग उत्पादो वा गव्यः । ब्रह्मणो वर्चः, ब्रह्मवर्चसम्, अत एव निपातनात्सान्तः । ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा ब्रह्मवर्चस्यः । पूर्वेषां ये सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय । एकाचो गोशब्दादेव बहुचो ब्रह्मवर्चशब्दादेव वा । इह न भवति । नावो निमित्तं संयोगः नाविकः । वास्तुयुगिकः । इयच्च एव पूर्वेषां यो वेदितव्यः ।

पुत्राच्छ वा ॥३१४४०॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । पुत्रशब्दाच्छो यश्च । पुत्रस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा पुत्रीयः । पुत्र्यः ।

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण् ॥३१४४१॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । सर्वभूमि-पृथिवी-शब्दाभ्यामण् भवति । उणोऽपवादः । सर्वभूमेर्निमित्तं संयोग उत्पादो वा, सर्वभूमैः । अनुशक्तिकादित्वा-
कुमयत्रैप् । पृथिव्या निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पार्थिवः ।

ईश्वरः ॥३१४४२॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थान् सर्वाभूमिपृथिवीशब्दाभ्यामीश्वर इत्यस्मिन्नर्थे-
ऽण् भवति । उणोऽपवादः । सर्वभूमेरीश्वरः, सर्वभूमैः । पार्थिवः ।

सत्र विदितः ॥३१४४३॥ तत्रेतीप्समर्थान् सर्वाभूमिपृथिवीशब्दाभ्यां विदित इत्यस्मिन्नर्थेऽण् भवति । सर्वभूमौ विदितः सार्वभौमः । पार्थिवः ।

लोकात् ॥३।४।४४॥ तत्र विदित इति वर्तते । लोकशब्दादीप्समर्थाद्विदित इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । लोके विदितः, लौकिकः ।

सर्वात् ॥३।४।४५॥ सर्वलोकस्य यो लोकशब्दः, तदन्तर्गतः ठण् भवति तत्र विदित इत्यस्मिन्नर्थे । सर्वलोके विदितः, सर्वलौकिकः । अनुश्रुतिकादित्याहुर्भयत्रैप् ।

तदस्मिन्वृद्धथायलाभशुल्कोपदा दीयते ॥३।४।४६॥ तदिति वासमर्थाद् वृद्धथादिविशिष्टा-
दस्मिन्मितीत्यर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । यत्तद्वासमर्थे वृद्धथादिविशिष्टं दीयते चेत्तद् भवति । वृद्धिः
कात्यान्तरादिका । निव्यनिबद्धा प्राप्तिरायः । पटादीनां मूल्यातिरेको लाभः । वा (व) णिजां रक्षाकारितो
राजभागः शुल्कः । उत्क्रोष्टः उपदा । दीयते इत्येकवचनान्तं वृद्धथादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । पञ्चास्मि-
न्वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते, पञ्चकः । प्रास्थिकः । कौडविकः । “इह तदस्मै
दीयते” इति वक्तव्यम् । [वा०] पञ्चाऽस्मै वृद्धथादि दीयते, पञ्चकः । सप्तकः । न वक्तव्यम् । सम्प्र-
दानस्याधिकरणविवक्षया सिद्धम् ।

वृद्धार्थाद् ॥३।४।४७॥ वृद्धिति प्रत्याहारग्रहणम् । “तस्य पूरणे षट्” [४।१।१] इत्यारम्य
आ समग्रकारणत् । वृद्धन्तान्मृदः अर्धशब्दान्व ठो भवति तदस्मिन्वृद्धथायलाभशुल्कोपदा दीयते इत्यस्मिन्नर्थे ।
ठण्णः “अर्धार्थक” [४।२।१०३ (वा०)] इत्यौपसंख्यानिकस्य च ठटोऽपवादः । पञ्चमः दीयते वृद्धिर्वा आयो
वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा, पञ्चमिकः । द्वितीयिकः । अर्थिकः । स्त्रियाम्—अर्थिका ।

भागश्च ॥३।४।४८॥ भागशब्दोऽर्धवाची । तदस्मिन्वृद्धथायलाभशुल्कोपदा दीयते इति च
वर्तते । भागशब्दाद्यो भवति ठश्च । भागो वृद्धथादिरस्मिन्दीयते भाग्यं शतम् । भागिकं शतम् ।

तद्धरति वहत्यायहति भाराद् वंशादेः ॥३।४।४९॥ वंशादिभ्यः परे यो भारशब्दः तदन्ता-
न्मृदः ई (ह) प्समर्थाद् हरत्यादिष्वर्थेषु यथाविहितं ल्यो भवति । हरति नयतीत्यर्थः । वहति उत्क्षिपतीत्यर्थः ।
आवहति उत्पादयतीत्यर्थः । वंशभारं हरति वहति आवहति वा, वंशभारिकः । बाल्वज्जभारिकः । भारादिति
किम् ? वत्सं हरति । वंशादेरिति किम् ? भारं हरति । केवलान्न भवति । अन्ये पुनरन्यथा सूत्रार्थं ग्राहिताः ।
वत्सा (वंशा) दिभ्यो भारभूतेभ्यस्त्यो भवति । अथेद्वारेण भारो वंशादेर्विशेषणम् । भारभूतात् (न) हरति,
वांशिकः । बाल्वजिकः । भारादिति किम् ? एकं वंशं हरति । वत्सा (वंशा) देरिति किम् ? भारभूतान् यवान्
हरति । सूत्रार्थद्वयमपि प्रमाणम् । वंश । बल्वज । कूट । मूल । स्थूल । लट्वा । अरव । इड्डु ।

वस्नद्रव्याभ्यां ठकौ ॥३।४।५०॥ वस्नद्रव्यशब्दाभ्यामिप्समर्थाभ्यां हरत्यादिष्वर्थेषु यथासंख्यं ठ क
इत्येतौ ल्यो भवतः । वस्नं हरति वहति आवहति वा, वस्निकः । द्रव्यकः ।

सम्भवस्थवहरति पचति ॥३।४।५१॥ तदिति वर्तते । इप्समर्थान्मृदः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु यथा-
विहितं ल्यो भवति । सम्भवति गृह्णातीत्यर्थः । अवहरति क्षयं नयतीत्यर्थः । पचति विक्रेदनं करोतीत्यर्थः ।
प्रस्थं सम्भवत्यहरति पचति वा, प्रास्थिकी स्थाली । एवं कौडविकी । खारीकी । मनु या प्रस्थं सम्भवति सा
पचत्यपि, तत्क्रयं भेदः । इदं तर्हि पचतेकदाहरणम् । प्रस्थं पचति ब्राह्मणी, प्रास्थिकी । “तत्पचतीति द्रोण्यापण्य
च वक्तव्यः” [वा०] । द्रोणं पचति द्रौणी, द्रौणिकी ।

आऽऽढकाचितपात्रात् ॥३।४।५२॥ आढक-आचितपात्रशब्देभ्य इप्समर्थेभ्यः सम्भवत्यादि-
ष्वर्थेषु वा ल्यो भवति । पूर्वेषु नित्ये ठणि प्राप्ते विभाषेयम् । आढकं सम्भवति अवहरति पचति वा, आढ-
कीना, आढकीकी । आचितोना, आचितिकी । पात्रोणा, पात्रिकी । आढकादौति परिमाणानि ।

राट्टर् च ॥३॥४॥५३॥ आट्टकाचितपात्रान्तात् रात् इत्समर्थात्सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ठट् भवति खश्च वा । तेन त्रैरूप्यं भवति । द्वे आट्टके सम्भवति अवहरति पचति वा द्रव्याट्टकिकी । द्रव्याट्टकीना । आभ्यां भुक्ते ठण् तस्य "राट्टुवखौ" [३॥४॥२६] इत्युप् । द्रव्याट्टकी । "परिमाणाद्रट्टुवि" [३॥४॥२६] इति ङी-विधिः । ठट्स्वयोर्वचनादुपम् (दुम्न) भवति । द्रव्याचितीना, द्रव्याचिता । "न विस्ताचितकम्बव्यात्" [३॥४॥२७] इति ङीप्रतिषेधः । द्विपात्रिकी । द्विपात्रीणा । द्विपात्री ।

कुलिजाय ॥३॥४॥२४॥ चकारत्रिकाऽनुकर्षणार्थः । तदिति वर्तते । कुलिजशब्दान्तात् रात् इत्सम-
र्थात् सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ठट् भवति खश्च वा । तेन त्रैरूप्यम् । कुलिजं परिमाणविशेषः । द्वे कुलिजे सम्भ-
वत्यवहरति पचति वा द्विकुलिजिकी, द्विकुलिजीना, द्विकुलिजी । केचिदुपोऽपि विकल्पमिच्छन्ति । पक्षे ठणः
श्रवणम् । द्वैकुलिजिकीति । त एव "मखुशाणे" [५॥२॥२६] इत्यत्र कुलिजस्यापि प्रतिषेधमिच्छन्ति ।

तत्स्यांशवस्नभृतयः ॥३॥४॥२५॥ तदिति वासमर्थात् अस्येति तार्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्तद्वा-
समर्थम् अंश वस्न भृतयश्चेतद् भवन्ति । पञ्च अंशा वा वस्नो वा भृतिर्वाऽस्य, पञ्चकः । सप्तकः । शतिकः,
शत्यः । साहस्रः । खारीकः ।

परिमाणात्सङ्ख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने ॥३॥४॥२६॥ तदस्येति वर्तते । परिमीयते परिच्छेद्यते-
ऽनेन परिमाणम् । परिच्छेदकमिह तत् परिभाषिकम् । तदिति वासमर्थात् संख्यावाचिनः परिमाणो वाधिका-
दस्येति तार्थे यथाविहितं ल्यो भवति । यत्तदस्येति सङ्घसूत्राऽध्ययनानि चेद् भवन्ति । सङ्घे-पञ्च परिमा-
णमस्य सङ्घस्य पञ्चकः । सप्तकः । सूत्रे ग्रन्थ इत्यर्थः । पञ्चाऽध्यायाः परिमाणमस्य, पञ्चकं जैनेन्द्रम् । अष्टकं
पाणिनीयम् । शतकं स्तोत्रम् । अष्टौतिरध्ययनं तस्मिन् । पञ्च रूपाद्यस्याध्ययनस्य पञ्चकम् । सप्तकम् ।
कर्मणि यद्यध्ययनशब्दो व्युत्पाद्येत सूत्रान्न मेदः स्यात् । "स्तोमे ङो वक्तव्यः" [पा०] पञ्चदशाचर्यः
पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य स्तोमस्य पञ्चदशः स्तोमः । एवं सप्तदशः । एकविंशः । परिमाणादिति योग-
विभागः कर्तव्यः । तदस्येति वर्तते । पञ्चकलापः परिमाणमस्य, पञ्चकलापिकम् । पाञ्चलोहितिकम् ।
प्रस्थः परिमाणमस्य प्रास्थिको शतिः । कौतिकः । खारीशतिकः । वर्षशतं परिमाणमस्य वार्षशतिकः ।
"जीवितपरिमाण इति च वक्तव्यम्" [पा०] षष्टिः संवत्सरा जीवितपरिमाणमस्य, षाष्टिकः । साप्ततिकः ।
आशीतिकः । नेदं वक्तव्यम् । "समवी(ङी)ष्टो भू (ङ्)तो भूतो भाषी" [३॥४॥२६] इत्येव
सिद्धम् । षष्टिं भूतो (तः) षाष्टिकः । एवञ्चानुबपि सिद्धः । द्वे षष्टौ भूतो द्विषाष्टिकः । इह विधानो(ने)
"राट्टुवखौ" [३॥४॥२६] इत्युप् प्रसज्येत ।

खौ ॥३॥४॥५७॥ खुविषये च परिमाणविशिष्टायाः संख्याया यथाविहितं ल्यो भवति । विंशतिः
परिमाणमस्य विंशतिकं परिमाणनामधेयम् । स्वार्थे चाऽत्र ल्यो द्रष्टव्यः । पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः । त्रय एव
त्रिकाः सा(शा)लङ्कायनाः ।

पङ्क्तिविंशतिश्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षट्सप्तस्यशोत्तिनवतिशतम् ॥३॥४॥५८॥ पङ्क्त्यादयः
शब्दा निपात्यन्ते । यदत्र सप्तशेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम् । तदस्य परिमाणमिति वर्तते । पञ्चपादा-
परिमाणमस्य पङ्क्तिस्तच्छब्दः; क्रमसन्निवेशोऽपि । पञ्चशब्दात्तिरित्यर्थं स्पष्टित्वं च निपात्यते । द्वौ दश तौ
परिमाणमस्य वर्गस्य विंशतिः । द्वे विभाजः शतिश्च त्वः । त्रिचतुःपञ्चानाम् इमारिमाभ्यान्तादिसाः सप्त-
त्वं । त्रयो दशतः परिमाणमस्य वर्गस्य त्रिंशत् । चत्वारो दशतः परिमाणमस्य चत्वारिंशत् । पञ्च दशतः
परिमाणमस्य, पञ्चाशत् । षट् दशतः परिमाणमस्य षष्टिः । षवस्तिरित्यर्थं ल्योऽपदत्वं च । सप्त दशतः
परिमाणमस्य सप्ततिः । सप्तनस्तिरित्यर्थं त्वः । अष्टौ दशतः परिमाणमस्य अशीतिः । अष्टनः अष्टौभाजः विंश-

त्यः । नव दशतः परिमाणमस्य नवतिः । नवशब्दार्थः । दश दशतः परिमाणमस्य शतम् । दशानां शमाकः सप्तत्यः । चिह्नत्वादीनां क्वचित्संख्यानप्रधानत्वम्, क्वचित्संख्येयप्रधानत्वम् । लिङ्गवचनं च स्वाभाविकत्वादेव सिद्धम् । इह यथाकथञ्चिदुत्पत्तिः कियते । सप्तसप्तदशोऽप्यनयैव दिशाऽनुगन्तव्याः । दशशतानि परिमाणमस्य सप्तत्यम् । दशसप्तत्याणि परिमाणमस्य, अष्टत्यम् ।

पञ्चदशतौ वर्गौ धा ॥३१४॥५९॥ पञ्चन् दशन इत्येतौ शब्दौ वर्गोऽभिधेये वा निपात्येते । तदस्य परिमाणमित्यस्मिन्विधये नित्यं के प्राप्ते पक्षे ऋदित्वयं ल्यो निपात्यते । पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः । दशद्वर्गः । दशको वर्गः ।

तद्वर्हति ॥३१४॥६०॥ तदितीप्समर्धद्वर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वेतच्छत्रिकः । आभिषेचनिकः । वास्तुश्रुतिकः । दाभ्योदनिकः । शतिकः । शत्यः । इह भोजनमर्हतीत्यनभिधानाच्च भवति । 'स्त्रोपुंसान्नुक्त्वात्' [३१४॥७२] इत्येवोर्ध्वविधिरनभिधानान्नायतरति । ठणादय इमं योगं प्राप्य निवृत्तः ।

प्राग्वत्तष्ठच् ॥३१४॥६१॥ तद्वर्हं वर्धति वर्धयते । प्रागेतस्माद्वत्संशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः तेषु ठञ्चिकृतो वेदितव्यः । वर्धयति "पारायणपुरायणचान्द्रायणं वर्तयति" [३१४॥६८] पारायणिकः । "प्राग्वत्तः संख्यापूर्वपदानां तदन्तप्रत्ययभुवि" इति द्वैपारायणिकः । इह (ठणि) प्रकृते तस्योप् प्रसज्येत तेन ठञ्चिकृतः ।

छेदादेर्नित्यम् ॥३१४॥६२॥ नित्यग्रहणमर्हतीत्यस्य विशेषणम् । छेदादिभ्यो नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । छेदं नित्यमर्हति छेदिकः । छेद । भेद । होह । द्रोह । तस्कर । नर्त । कर्ष । विकर्ष । विप्रकर्ष । प्रयोग । संप्रयोग । विप्रयोग । सम्प्रश्न । प्रेषण । विरागः विरक्तं च ।

शीर्षच्छेदाद्यश्च ॥३१४॥६३॥ नित्यमिति वर्तते । शीर्षच्छेदशब्दात् इष्टमर्थात् नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति ठञ् च । शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेदिकः । अन्ये शिरश्छेदं नित्यमर्हतीति ल्यसन्नियोगे शिरसः शीर्षभावं वर्णयन्ति । तदयुक्तं यत्नाभावात् । तस्मान्नियतविषय शिरःपर्यायः शीर्षशब्दोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

दण्डादेः ॥३१४॥६४॥ नित्यमिति निवृत्तम् । दण्ड इत्येवमादिभ्योऽर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । ठञोऽपवादः । दण्डमर्हति दण्ड्यः । दण्ड । मुशल । गधुपर्क । कशा । अर्घ । मेघा । मेघ । वध । उदक । युग । इह (भ) ।

पात्राद्यश्च ॥३१४॥६५॥ तद्वर्हतीति वर्तते । पात्रशब्दाद्धो भवति चकाराद्यश्च । ठञोऽपवादः । पात्रमिति परिमाणं च यस्मिन् । पात्रमर्हति पात्रियः । पात्र्यः ।

कडङ्गरदक्षिणास्थालीचिन्ताच्छुश्च ॥३१४॥६६॥ तद्वर्हतीति वर्तते । कडङ्गर दक्षिणा स्थाली-विल इत्येतेभ्यश्चो भवति यश्च । ठञोऽपवादः । मुद्गादि काष्ठं कडङ्गरम् । कडङ्गरमर्हति कडङ्गरीयो गोः । दक्षिणामर्हति दक्षिणीयः । दक्षिण्यः । स्थालीविलमर्हति स्थालीविलीयाः स्थालीविल्यास्तद्विलाः । पाकाहा इत्यर्थः ।

यश्चरिक्श्चर्यां घञञो ॥३१४॥६७॥ तद्वर्हतीति वर्तते । यश्च-श्रुतिक्श्चर्यां यथासंख्यं घञञि-त्येतौ ल्यौ भवतः । ठञोऽपवादः । यश्चमर्हति यश्चियः । आर्त्विजीनः । उपचारयत्तर्कमापि तथोक्तम् । यश्चकर्मा-र्हति, यश्चो देशः । श्रुतिक्कर्मा-र्हति, आर्त्विजीनं कुलम् ।

पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ॥३॥४॥६८॥ तदिति वर्तते । पारायणतुरायणचान्द्रायणशब्देभ्य इप्समर्थेभ्यो वर्तयतीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । पारायणं वर्तयति पारायणिकः । शिष्य एवामिमानं नाध्यायके । तुरायणं यज्ञं वर्तयति तौरायणिकः । यजमान एव न याज्ञके । चान्द्रायणिकः ।

संशयमापन्नः ॥३॥४॥६९॥ संशयशब्दादिप्समर्थादापन्न इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । संशीतिः संशयः, समापन्ने कर्तृकर्मणी भवतः । तत्र कर्तरि पुरुषेऽभिधानं नास्ति । संशयं विषयभावेनापन्नः सांशयिकः । स्वात्वादिति ।

योजनं याति ॥३॥४॥७०॥ योजनशब्दादिप्समर्थादातीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । योजनं याति यौजनिकः । संख्यापूर्वपदादपि । द्वैयोजनिकः । 'क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंख्यानम्' [वा०] । क्रोशशतं याति कौशशतिकः । योजनशतिकः । 'ततोऽभिरामनमर्हति च वक्तव्यम्' [वा०] क्रोशशतादाभिरामनमर्हति कौशशतिकः । यौजनशतिको गुरुः ।

पथः कट् ॥३॥४॥७१॥ तदिति वर्तते । पथशब्दादिप्समर्थादातीत्यस्मिन्नर्थे कट् इत्ययं ल्यो भवति । पन्थानं याति पथिकः, पथिकी । द्वौ पन्थानौ याति, द्विपथिकः, द्विपथिकी । हृदये रसे कृते सान्तात्पूर्वनिर्णये नायमिष्यते ।

पन्थो न नित्यम् ॥३॥४॥७२॥ निवमग्रहणं यातीत्यस्य विशेषणम् । पथशब्दादिप्समर्थादित्यं यातीत्यस्मिन्नर्थे णो भवति तत्त्वत्रियोगे पन्थ इत्यवच्छादेशः । पन्थानं याति पन्थः । नित्यमिति किम् ? पथिकः ।

उत्तरपथेनाहतं च ॥३॥४॥७३॥ निर्देशादेव भाषा उपादानम् । उत्तरपथशब्दाद् भावमर्थादाहतं यातीति चानयोरर्थयोष्टञ् भवति । उत्तरपथेनाहतम्, औत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन याति, औत्तरपथिकः । 'वारिपथकस्थककान्तराजशङ्खिपुर्ध्वपदादिति वक्तव्यम्' [वा०] वारिपथेनाहतं वारिपथिकः वारिपथेन याति वारिपथिकः । एवमर्थद्वयोऽपि । आङ्गलपथिकः । स्थालपथिकः । कान्तारपथिकः । आबपथिकः । शाङ्गुपथिकः । 'मधुकमरिचयोः स्थलपूर्वाद्वा वक्तव्यः' । स्थलपथेनाहतं स्थालपथं मधुकं मरिचं वा ।

कालेभ्यः ॥३॥४॥७४॥ बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः । अधिकारोऽयम् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कालवाचिभ्य इत्येवं तद्वेदितव्यम् । वद्वति 'तेन निवृत्तः' [३॥४॥७५] । मासेन निवृत्तम् मासिकम् । आर्द्धमासिकम् ।

तेन निवृत्तः ॥३॥४॥७५॥ तेनेति भासमर्थेभ्यः कालवाचिभ्यो निवृत्त इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । मासेन निवृत्तः, मासिकः । सौवर्त्सरिकः प्रासादः ।

तमवी (धी) ष्टो भूतो भूतो भावी ॥३॥४॥७६॥ तमितीप्समर्थात् कालवाचिशब्दात् अवी- (धी) ष्टो भूतो भूतो भावीति एतेष्वर्थेषु ठञ् भवति । सकृत् नित्युक्तोऽवी (धी) ष्टः । वेतनेन क्रीतो भू (भू) तः । मासमवी (धी) ष्टो भूतो भूतो भावी वा मासिकः । आर्द्धमासिकः । सौवर्त्सरिकः । 'कालाध्वम्विच्छेदे' [३॥४॥७] इतोप् । अवी (धी) ष्टभू (भू) तयोरर्थयोर्मसिकदेशे गृह्यते प्रासशब्दो कर्तते । तस्याऽध्वेषणभरणाक्रियाभ्यां व्याप्तेरविच्छेदः । भूतभाविभ्यां तु रेखुसन्तया (स्वसत्तया) कालस्य व्याप्तेरविच्छेदः सिद्ध एव । इह पठि भूतः पाथिकः । साततिकः । इति कथं अतवाचित्वम् ? कालस्य संख्येयत्वात् कालविषयत्वाद्वा । स्मरणीयं कालं भूत इत्यत्राऽनभिधानान्न भवति ।

मासाद् वयसि खञ् ॥३॥४॥७७॥ तमवी(वी)ष्टो भूतो भूतो भावोति वर्तते । मासशब्दाद् वयस्यभिधेये खञ् भवति । ठञोऽपवादः । वयसीति वचनात् । अवी(वी)ष्टभूतग्रहणं नाभिसम्बध्यते । मासं भूतो भावी वा, मासीनः । कथं भावि वयो विगमः इति चेत्, अविष्टदर्शनात् । जकारः “अदृष्टदृष्ट-विकरे” [४।३।१५१] इत्यत्र पुंवद्भावाप्रतिषेधार्थः । मासीनो दुहितुकः । वयसीति किम् ? मासिकः ।

यः ॥३॥४॥७८॥ मासशब्दाद् वयस्यभिधेये यश्च भवति । मासं भूतो भावी वा मास्यः । योग-विभाग उत्तरार्थः ।

रात् ॥३॥४॥७९॥ मासाद् वयसीति वर्तते । मासान्ताद् राद् वयस्यभिधेये यो भवति । द्वौ मासौ भूतो भावी वा द्विमास्यः । भावतः संख्यापूर्वपदानामनुपीति ठजपवादयोर्वलजोः प्राप्तयोरनेन यो विधीयते ।

परमासात् ॥३॥४॥८०॥ परमासशब्दाद् वयस्यभिधेये स्यो भवति यश्च । परमासाद् भूतो भावी वा परमास्यः । परमास्यः । अन्ये चशब्देन ठञं समुच्चिन्वन्ति । यस्तुवर्तनादेव भवति तेषां परमासिक इत्यपि ।

ठश्चावयसि ॥३॥४॥८१॥ परमासशब्दादवयस्यभिधेये ठो भवति एयश्चानन्तरः । परमासिको नायकः । परमास्यः ।

समायाः खः ॥३॥४॥८२॥ अवी(वी)ष्टादयश्चत्वारोऽर्या अनुवर्तन्ते । समाशब्दादिपुंसमर्यादचीष्टादिष्वर्थेषु खो भवति । ठञोऽपवादः । समामवी(वी)ष्टो भूतो भावी वा समीनः ।

राद् भूतबले ॥३॥४॥८३॥ समाशब्दान्ताद् निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु खो भवति भूतबलेराचार्यस्य मतेन । नान्येषाम् । प्रावतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति पूर्वेषु नित्ये खे प्राप्ते विभाषेयम् । द्वे समे भूते भूतो भावी वा द्विसमीनः । द्वैसमिकः । त्रिसमीनः । त्रैसमिकः । कालः परिमाणग्रहणेन न गृह्यते । तेन “रिमायस्यास्तुज्ञाणे” [४।२।२२] इति द्यौरैम्न भवति ।

राज्यहःसंवत्सरात् ॥३॥४॥८४॥ रादिति वर्तते । अहम् संवत्सर इत्येवमन्ताद्वास्तिर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन खो भवति । अहत् । द्वयहीनः । द्वैयहिकः । अत्रापि अहरन्तादिति वचनात् “राजाहःसस्त्रिभ्यहः” [४।२।१३] इति सान्तो न भवति । अन्यथा “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।१०] इत्यहोदेशे सति द्वयहीन इत्यनिष्टं रूपं स्यात् । द्वैयहिक इति चेध्यते । तत्कथं सिद्ध्यति ? द्वयोरहोः समाहारः ते सन्ते “न समाहारे” [४।२।११] इत्यहोदेशप्रतिषेधे च सति सिद्ध्यति । संवत्सर, द्विसंवत्सरीयः । द्विसंवत्सरिकः । “संख्यायाः (सख्या) संवत्सरस्य” [४।२।२०] इति द्यौरादेरैप् ।

वर्षादुप् च ॥३॥४॥८५॥ रादिति वर्तते । वर्षशब्दान्ताद्विर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन ठञ उभयवति खञ् । अन्येषां ठञेव । तेन त्रैरूप्यम् । द्वैवर्षं भूतः, द्विवर्षः, द्विवर्षोणः, द्विवार्षिकः । “वर्ष-स्याभाविनि” [५।२।२१] इति द्यौरादेरैप् । भाविनि द्वैवार्षिक इति भवति ।

प्राणिन्युप् ॥३॥४॥८६॥ पुनरुग्रहणं नित्यार्थम् । वर्षशब्दान्ताद्वाप्राणिनि त्वार्थेऽभिधेये नित्यं त्व-स्योभ्यवति । पूर्वेषु विकल्पेन पक्षे ठञः अवर्णं खञ्च न भवति । द्वे वर्षे भूतो भावी वा द्विवर्षो दारकः । भूतभाविनोरेवार्थयोरेव नित्यमुचिष्यते नान्यत्र । द्वे वर्षे अघीष्टो भू (भृ) तो वा कर्म करिष्यति, द्विवार्षिको मनुष्यः ।

तदस्य ब्रह्मचर्यम् ॥३॥४॥८७॥ तद्वितीपुंसमर्यात्कलवाचिनो मृदोऽस्येति तार्थे ठञ् भवति यस्-दिपुंसमर्थं तस्य व्यापकं त्वार्थस्य च त्वं ब्रह्मचर्यं चेद् भवति । मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिको ब्रह्मचारी । सम्बन्धो वृत्तावन्तर्भूत इति पुरुषोऽभिधेयः । एवम्, आर्चमासिकः । सांक्सरिकः । “संख्यापूर्वपदानाञ्च”

द्वादशवार्षिकः । “ब्रह्मचर्यमित्यस्मिन्नर्थे महानाग्नेयादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । महानाग्न्यो नाम ऋच । महानाग्नीनां ब्रह्मचर्यम्, माहानाग्निकम् । आदित्यप्रतिकम् । गौदानिकम् । “तत्त्वचरतोति च महानाग्नेयादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । महानाग्नीश्ररति माहानाग्निकः । महानाग्नीसहचरितं वतं चरतोत्यर्थः । एवम्, आदित्यप्रतिकः । गौदानिकः । “अवान्तरदीक्षादिभ्यो ङिन् वक्तव्यः” [वा०] । अवान्तरदीक्षां चरति अवान्तरदीक्षी । देववती । तिलवती । “अष्टाचत्वारिंशतो ङुडिनी च वक्तव्यो” [वा०] । अष्टाचत्वारिंशद्बर्वाणि वतं चरति, अष्टाचत्वारिंशकः । अष्टाचत्वारिंशी । “चातुर्मास्यानां यज्ञं च ङुडिनी च वक्तव्यो” [वा०] । चातुर्मास्यानि चरति चातुर्मासकः । चातुर्मासी । अथ किमिदं चातुर्मास्यानीति ? “चातुर्मास्याभ्यो यज्ञे तन्मन्वे वक्तव्यः” [वा०] । चातुर्षु मासेषु भवन्ति चातुर्मास्यानि । “संज्ञायामण् वक्तव्यः” [वा०] । चातुर्षु मासेषु भवा पौर्णमासी चातुर्मासी । कार्तिकी । फाल्गुनी । आषाढी चेति । अथ मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं ब्रह्मचर्यम् । आर्धमासिकम् । सांक्सरिकमित्यस्य सिद्धये यत्नः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । मासं भूतं भावि वा ब्रह्मचर्यं मासिकमिति भविष्यति ।

२०३२२

तस्य दक्षिणा यज्ञास्थानम् ॥३॥४॥८८॥ तस्येति तासमर्थान् यज्ञाख्यान्मृदो दक्षिणेत्यस्मिन्नर्थे ङञ् भवति । यज्ञमाचष्टे यज्ञाऽख्यः । कर्मकरणे उधीति (सुपि [१।२।७] इति) योगविभागे “मूकविभुजादिभ्यः” [वा०] इति (वा) कः । अग्निष्टोमस्य दक्षिणा अग्निष्टोमिकी । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यस्याऽणोऽपवादः । एवं राक्षस्यिकी । दासौदनिकी । अकालार्थं चाऽख्यग्रहणम् । अन्यथा कालाभिकारात् एकाद्वद्वादशाहप्रभृतिभ्य एव यज्ञेभ्यः स्यात् । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तश्चङ्ग-मनुषीति कालावि (वि) कारेऽपि द्वादशाहदिभ्यस्ति प्राप्तिः ।

तत्र दीयते भवचत् ॥३॥४॥८९॥ त्वेतीप्समर्थान् कालान्निष्ठो मृदो दीयते इत्यस्मिन्नर्थे भव इव व्यवधिर्देदितव्यः । यथा मासे भवं मासिकम् । आर्धमासिकम् । “काळाद्वञ्” [३।३।९१] इत्येवमादिविधिः । एवं मासे दीयते मासिकम् । आर्धमासिकम् । प्राग्वेयम् । हैमनम् । शैशिरम् । वदग्रहणं सर्वसादृश्यायम् । इह कार्यग्रहणमपि कर्तव्यम् । मासिकम् । वासन्तम् । हैमनम् । कर्तव्यम्, यन्मासे कार्ये तन्मासे भवमित्यपि भवति । ततः “तत्र भवः” [३।३।९८] इत्येव सिद्धम् । रादनुवर्थं तर्हीह कार्यग्रहणं सार्थकम् । द्वयोर्मासयोः कार्यं द्वैमासिकम् । भवार्थलक्षणास्य ङञः “रूपोवनपत्ये” [३।३।९४] इत्युप् प्रसज्येत । नेदं युक्तम् । उबेवात्रेभ्यते । वदन्यैरप्युक्तम् । कार्यग्रहणमप्यनर्थकम् । तत्र भवेन कृतत्वादिति । अथापि कार्यमनुपः प्रयोगो दृश्यते । एवं तर्हि “तेन कार्यं” मित्यत्र स द्रष्टव्यः । द्वाभ्यां मासाभ्यां कार्यं द्वैमासिकम् । “अव्यक्तभ्यकार्यसुकरम्” [३।३।९२] इति ङञ् । तत्र दीयते इति योगविभागः कर्तव्यः । यज्ञाख्यादित्यनुवर्तते । अग्निष्टोमे दीयते अग्निष्टोमिकमचम् । राक्षस्यिकम् । वाक्षपेयिकम् । द्वयोर्वाक्षपेयोर्दीयते द्वैवाक्षपेयिकम् ।

व्युष्टावेरण् ॥३॥४॥९०॥ इह कलिभ्य इति नापेक्ष्यते । सामान्येन विधानात् । तत्रेति वर्तते । व्युष्ट इत्येवमादिभ्य ईप्समर्थेभ्यो दीयते इत्यस्मिन्नर्थेऽण् भवति । उद्धी विधास इत्यस्य क्ले व्युष्टमिति कालावाचि । व्युष्टे दीयते वैयुष्टम् । नित्यशब्दादीबन्तादपि वचनाद् भवति । तीर्थ । निष्क्रमण । उपसंक्रमण । प्रवेशन । संग्राम । संघात । प्रवास । उपवास । अग्निपदी । पीलुभूल । “अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] न कर्तव्यमिह पाठात् ।

तेन यथाकथाचहस्तभ्यां णयौ ॥३॥४॥९१॥ अत्रापि कालेभ्य इति नापेक्ष (च्य) ते । दीयते इति वर्तते । तेनेति भासमर्थभ्यां यथाकथाचहस्तशब्दाभ्यां दीयत इत्यस्मिन्नर्थे यथासंख्यं णयौ भवतः । यथाकथाच दीयते मायाकथाचम् । अनादरदर्शमित्यर्थः । हस्तेन दीयते हस्तम् ।

अप्यलभ्यकार्यसुकरम् ॥३॥४॥६२॥ कालेभ्य इति वर्तते । तेनेति वासमर्थात् कालवाचिनो मुखो
कस्य लभ्य कार्यं सुकर इत्येतेष्वर्थेषु ठञ् भवति । मासेन कस्यो मासिको हस्ती । मासेन शक्यते जेतुमित्यर्थः ।
मासेन लभ्यो मासिकः पटः । मासेन कार्यं मासिकं गृहम् । मासेन सुकरो मासिकः प्रासादः ।

सम्पादिनि ॥३॥४॥६३॥ कालेभ्य इति निवृत्तम् । वासमर्थान्मूढः सम्पादिन्यर्थं ठञ् भवति । कस्य-
वेष्टाभ्यां सम्पादि शोभते कार्यवैष्टिकं सुखम् । वस्त्रयुगेन सम्पद्यते वास्त्रयुगिकं शरीरम् ।

कर्मवेषाद्यः ॥३॥४॥६४॥ तेन सम्पादिनीति च वर्तते । कर्मवेषशब्दावा यो भवति । ठञोऽपवादः ।
कर्मणा सम्पद्यते कर्मण्य शौर्यम् । वेषेण सम्पद्यते वेष्या नर्तकी । नेपथ्येन शोभते इत्यर्थः ।

तस्मै प्रभवति सन्तापादेः ॥३॥४॥६५॥ तस्मै इति अप्समर्थेभ्यः सन्तापादिभ्यः प्रभवतीत्यस्मि-
नर्थं ठञ् भवति । अलमर्थेऽप् । सन्तापाय प्रभवति सन्तापिकः । सन्ताप । सन्नाह । संश्लेष । संग्राम ।
सम्पराय । सम्प्रेष । निष्प्रेष । निवर्ग । उपवर्ग । विवर्ग । प्रवास । उपवास । संघात । संमोहन । शक्तुर्मा-
सौदनाद् विगृहीतादपि । शाक्तुर्मासौदनिकम् । शाक्तुकम् । मासिकम् । औदनिकम् ।

योगाद्यश्च ॥३॥४॥६६॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते । योगशब्दाद्यो भवति ठञ् च । योगाय प्रभवति,
योग्यः । योगिकः ।

कर्मण उकञ् ॥३॥४॥६७॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते । कर्मशब्दादुकञ् भवति । कर्मणे प्रभवति
कार्मुकं धनुः ।

समयस्तवस्य प्राप्तम् ॥३॥४॥६८॥ तदिति वासमर्थात्समयादस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति यत्तद्वासमर्थं
प्राप्तं चेत्तद्भवति । समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकम् । प्रातकालमित्यर्थः ।

श्रुतोरण् ॥३॥४॥६९॥ श्रुतशब्दात् वासमर्थात्प्राप्तोपाधिकादस्येति ताऽर्थेऽण् भवति । श्रुतुः प्राप्तोऽ-
स्य, आर्त्तकं पुण्यम् । “उपवस्तादिभ्य उपर्त्तक्यान्म” [वा०] । उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्तम् । प्राशिता
प्राप्तोऽस्य प्राशितम् । कर्मनामधेयम् ।

कालाद्यः ॥३॥४॥७०॥ तदस्य प्राप्तमिति वर्तते । कालशब्दाद्यो भवति । कालः प्राप्तोऽस्य, काल्यं
शीतम् । राजावुषितायामहरादिः कालोऽपि काल्यः ।

प्रकृष्टे टः ॥३॥४॥७१॥ तदस्येति वर्तते कालादिति च । प्रकृष्टे प्रवर्धं वर्तमानादस्येति ताऽर्थे टो
भवति । प्रकृष्टः दीर्घः कालोऽस्य कालिकम् श्रुणुम् । कालिकं सख्यम् । अन्ये प्रकृष्टे ठञिति पठन्ति ।
कालिका मैत्री ।

प्रयोजनम् ॥३॥४॥७२॥ कालादिति निवृत्तम् । तदस्येति वर्तते । प्रयोजयतीति प्रयोजनम् । नन्द्या-
विपाठास्त्युः । बहुलवचनाद्वा कर्तरि युट् । तदिति वासमर्थात्प्रयोजनोपाधिकादस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति ।
अर्हत्पूजाप्रयोजनमस्य आर्हत्पूजिकः । ऐन्द्रमहिकः ।

वैशाखापाठपाष्टिकैकागारिकडाकालिकट् ॥३॥४॥७३॥ वैशाखादयो शब्दा निपात्यन्ते । यदत्र
लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धं तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन्निषेधे । “विशाखापाठाभ्यां यथासंख्यं मन्थ-
वृण्वयोरक्षिपात्यते ।” विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः । आषाढो दण्डः । “कष्टरात्रेण पच्यन्ते इत्यस्मि-
न्वक्त्ये कः । रात्रस्तस्य च क्षम् ।” षष्टिका नाम जीह्वः । अस्वस्वयो वाक्यमेव भवति । षष्टिगत्रेण पच्यन्ते
मुद्गा इति । “एकागारशब्दात्तस्य प्रयोजनमित्यस्मिन्निषेधे चोरेऽभिधेये ठञ् ।” एकागारं प्रयोजनमस्य ऐश्व-
गारिकश्चौरः । चौरादन्यत्र वाक्यमेव । एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति । अथवा “एकः समर्थः एकागारोवि-

तुमिति-वाक्ये एक इष्टावशागारिकवित्यर्थः लो निपात्यते । ऐकागारिकश्चैरः । ऐकागारिको चोरी । समानकालशब्दाद्यन्तोपाधिविशिष्टादस्येति ताऽर्थे एकवृत्तिपात्यते समानकालस्य च आकाल आदेशः । समानकालावादान्तावस्य आकालिकः स्तनयितुः । आकालिकी विद्युत् । यस्तु प्रादिलक्षणे से आकाल इष्टः । आहृतः काल ईषत्कालो वा आकाल इति । तस्मात् ठञ् च ठश्चेत्यते । अकालिकी आकालिका विद्युत् ।

छोऽनुप्रवचनादेः ॥३४॥१०४॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते । अनुप्रवचनादिभ्यश्छो भवति । ठञोऽपवादः । अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य, अनुप्रवचनीयम् । अनुप्रवचन । उत्थापन । उपस्थान । संवेशन । प्रवेशन । अनुवाचन । अनुवचन । अनुपान । अनुवादन । अनुवासन । अन्वारोहण । प्रारोहण । आरोहण । आभरण । “विशिष्टरिपादिरुहिप्रकृतेरनात्सपूर्वपदानुपसंख्यानम्” [वा०] । गृहप्रवेशनीयम् । प्रपापूरणीयम् । अश्वप्रपदनीयम् । आसादरोहणीयम् । एतस्मिन् च वक्तव्ये सति यानि गण्ये विषयादिप्रवृत्ती-
त्यनान्तानि पठ्यन्ते तेषां पाठोऽनर्थकः प्रपञ्चाऽर्थो वा ।

समापनात्सादेः ॥३४॥१०५॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते । समापनशब्दात्सादेशश्छो भवति । ठञोऽपवादः । जैनेन्द्रसमापनं प्रयोजनमस्य जैनेन्द्रसमापनीयम् । तर्कसमापनीयम् । “स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः” [वा०] । स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्गम् । कन्यम् । यशस्यम् । आयुष्यम् । काम्यम् । “पुण्य-
वाचनादिभ्य ङञ् वक्तव्यः” [वा०] । पुण्याहवाचनं प्रयोजनमस्य पुण्याहवाचनम् । शान्तिवाचनम् । स्वस्ति-
वाचनम् । अक्षतपात्रम् । नेदं वक्तव्यम् । तादर्थ्यात्ताच्छब्दं प्रविध्यति । अनभिधानाट्ठञ् भवति । “अद्वा-
दिभ्योऽण् वक्तव्यः” [वा०] । अद्वा प्रयोजनमस्य आद्वाम् । चूडा प्रयोजनमस्य चौडम् ।

सर्वर्हे षत् ॥३४॥१०६॥ अर्हतीत्यर्हः, तद्वितीप्समर्थाद् अर्हतीत्यर्थे वद् भवति । राज्ञमर्हति-
राज्ञानं (राजवद्) वृत्तम् । कुलीनवत् । इह कस्मात् भवति शतमर्हति देवदत्तः । राज्ञमर्हति मणिः ।
उत्तरम् क्रियाग्रहणं गुणभूतमपि सिंहावलोकनेन सम्बध्यते तेन क्रिया यत्रार्हतेः कर्तृत्वेन विवक्षिता तत्राऽर्थ-
विधिः ।

तेन क्रिया तुल्ये ॥३४॥१०७॥ वदिति वर्तते । क्रिया तुल्या अस्य क्रियातुल्यम् । इच्छातो विशेष-
णनिशेष्यभाव इति क्रियाशब्दस्य पूर्वनिपातः । तेनेति भासमर्थात्क्रियातुल्येऽर्थे वद् भवति । क्षत्रियेण
तुल्यं पुष्कते क्षत्रियवदुच्यते । “भाऽनुकोपमाभ्यां तुल्यार्थः” [१।३।७६] इति भा । शिष्येण तुल्यं वर्तते,
शिष्यवद् वर्तते । अश्ववद् भावति । साधुवद् भूते । इह कस्मात् भवति । तैलपाकेन तुल्योऽक्षत पाक इति ।
इह सूत्रे वर्यः (वृथर्था) क्रिया सा च साध्या पूर्वापरीभूताऽवयवा, असाध्यभूता च । घमाद्यन्तेन पुनर्व-
(वृथ) र्यस व (घ) र्मः सिद्धतालक्षणे द्रव्यभूत उच्यते इति नास्ति प्राप्तिः । यदि घमाद्यन्तेन क्रिया
नाभिधीयते कथं भोक्तुं पाकः भोजकस्य पाकः इति । नैष दोषः । “वतुं षादि (वुष्मुमादि)” [१।३।८]
सूत्रे घमाद्यन्तायाः प्रकृतेरर्थः क्रियाऽऽधीयते । क्रियाग्रहणं किमर्थम् । ब्राह्मणेन तुल्यः पिङ्गलः । गुण-
तुल्ये मा भूत् ।

तत्रेव ॥३४॥१०८॥ तत्रेतीप्समर्थात् इवार्थे वद् भवति । मधुरायामिव मधुराक्त् सुध्ने प्रास्त्रदाः ।
मधुरावद् रमणीयता । मधुरावद् वर्षति ।

तस्य ॥३४॥१०९॥ इवशब्दोऽनुवर्तते । तस्येति तासमर्थादिवार्थे वद् भवति । देवदत्तस्य इव
देवदत्तस्य वनम् । राज इव राजवद् देवदत्तस्याश्वः । वत्प्रकरणे “स्त्रीपुंसान्तुक्त्वात्” [३।१।७९]

इत्येष विधिर्न भवति । “भादौ वोक्तुंस्त्वं पुंस्त्वत्” [१११५३] इति निर्देशात् । योगापेक्षं चेदं शापकम् । तेन स्त्रीवदित्यपि सिद्धम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

भावे स्वन्तलौ^१ ॥३१४११०॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थान् भावेऽर्थे त्वन्^२ तल इत्येतौ त्वौ भवतः । नकारः “स्त्रीपुंसानुकरत्वात्” [१११०२] इत्यत्राऽस्यावधिरूपेण ग्रहणं मा भूत् इत्येवमर्थः । लकारस्तत्कन्तः स्त्रियामिति विशेषणार्थः । भावः शब्दप्रत्ययप्रवृत्तिकारणम् । तद्यथा भवतोऽस्माच्छब्दप्रत्ययाविति भावः । उक्तं च “यस्य गुणस्य हि भावाद्भवत्येव शब्दविनिवेशः, तदभिधाने त्वन्तलौ” [पा० महा० ५/११११९] इति । इह शुभं इति विशेषणमाश्रित्य, द्रव्यान्तं विशेष्यमानम् इहम् । अश्वस्य भावः, अश्वत्वम् । अश्वता । शुक्लत्वम् । शुक्लता । अत्र जातिगुणयोरभिधाने त्वन्तलौ । सम्बन्धस्तु गम्यो नाभिधेयः । इह पाचकत्वमिति क्रियाऽभिधाने । अथवा सम्बन्धप्रधानाः । सम्बन्धे चाभिधेये त्वन्तलौ । कारकत्वम् । औपगवत्वम् । राजपुरुषत्वमिति । एतेऽपि ये जातिगुणशब्दाः, तेभ्यो जातिगुणस्य चाभिधाने । कुम्भकारत्वम् । हस्तित्वम् । राजवृत्तत्वम् । ये गुणमात्रवचना रूपं रसो गन्ध इति, तेभ्यः सामान्याभिधाने रूपत्वम्, रसत्वम् । उपचारशब्देनूपचारनिमित्तेऽभिधेये गोत्वं वाहीकस्य । अनित्यं माणवकस्य । पृथक्त्वं नानात्वमित्येवमादौ असत्त्वभूतत्वेऽपि शब्दान्तरेण तासमर्थता पृथगित्यस्य भाव इति । यदच्छाशब्देषु हित्यादिषु संज्ञासम्बन्धाभिधाने सर्वावस्थान्याप्याकृतिसामान्याभिधाने च हित्यत्वम् । उत्क्षेपणादिषु सामान्येऽभिधेये उत्क्षेपणत्वम् ।

आ च स्वात् ॥३१४१११॥ वक्ष्यति “ब्रह्मणस्त्वः” [३१४११६] इति । आ एतस्मात् त्व संशब्दनादयदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्त्वन्तलौ तत्राऽधिकृतौ वेदितव्यौ । अपवादविषये समावेशार्थं कर्मणि च विधानार्थमेव तावदधिक्रियेते । वक्ष्यति “पृथ्वादेर्वैमन्” [३१४११२] प्रथिमा । पृथुता । ननु वाचवचनात् त्वन्तलौ स्वयमेव भविष्यतः ? नैतदेवम्, “व्यादेरिक्” [३१४१११] इत्येवमादिसमावेशार्थं तद् वाचवचनम् । चकारकरणं किमर्थम् ? “स्त्रीपुंसानुकरत्वात्” [१११०२] इत्यस्मिन्नाप विषये प्रापणार्थम् । स्त्रीत्वम् । स्त्रीता । पुंस्त्वम् । पुंस्ता । प्राक्त्वादिति मर्यादाकरणसामर्थ्यादत्रपि सिद्धः । स्त्रिया भावः स्त्रैणम् । पौंसम् ।

पृथ्वादेर्वैमन् ॥३१४११२॥ पृथु इत्येवमादिभ्यो वा इमन् भवति तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । वाचवचनं “व्यादेरिक्” [३१४१११] इत्यस्याणाः, गुणवचनेभ्यश्च्युताः, वयोवाचिभ्यस्त्वञः समावेशार्थम् । पृथोर्भावः, प्रथिमा, पार्थवम्, पृथुत्वम्, पृथुता । पृथु । मृदु । महि । पट । तनु । रुधु । बहु । आसु । ऊरु । बहुल । दण्ड । खण्ड । चण्ड । अकिञ्चन । बाल । होढ । पाक । वत्स । मन्द । स्वादु । कृजु । वृष । ह्रस्व । दीर्घ । क्षिप्र । क्षुद्र । प्रिय ।

वर्णवृद्धावेष्ट्यण च ॥३१४११३॥ वर्णशब्देन वर्णविशेषा गुणोपसर्जने द्रव्ये ये वर्तन्ते, तेषामिह ग्रहणम् । तादृशैरेव वृद्धादिभिर्गुणवचनैः साहचर्याद् वर्णविशेषवाचिभ्यो वृद्धादिभ्यश्च ट्यञ् भवति इमंश्च वा तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । शुक्लस्य भावः शौक्यम्, शुक्लिमा, शुक्लत्वम्, शुक्लता । काष्ण्यम् । कृष्णिमा । शैत्यम्, शिविमा, शितित्वम् । विभाषाऽनुकर्षणादन(ण)पि भवति । शैतम् । वृद्धादिभ्यः । वृद्धस्य भावः, दाढ्यम्, द्रदिमा, वृद्धत्वम्, वृद्धता । वृद्धशब्दस्य लुब्धादिषु अनिट्त्वं दत्त्वं च निपात्यते । वृट् । परिवृट् । कृश । मृश । चुक्र । अम्ल । लवण । “वेर्वातकावरसमविभनःशारङ्गानाम्”

१. त्वन्तलौ अ०, पू० । २. त्वन् अ०, पू० । ३. -ब्दनिवेशः पा० महा० । ४. त्वन्तलौ पा० महा० । त्वन्तलौ अ०, पू० । ५. त्वन्तलौ अ०, पू० ।

[ग० सू०] वैयात्यम् । वैलात्यम् । वैरस्यम् । । वैशात्यम् । “समो मतिमनसोः” [ग० सू०] । साम्प्रत्यम् । साम्प्रत्यम् । शीत । उष्ण । जड । चघिर । मूक । मूर्ख । पण्डित । मधुर इति । किमर्थमिदमुच्यते ? एषां गुणोक्तिराहणादिभ्यः” [३।४।११४] इत्येव व्यण् सिद्धः इमप्रापणार्थम् । एतत् व्यण्ग्रहणमुत्तरत्राऽवश्यकर्तव्यमिहैव कृतम् ।

गुणोक्तिराहणादिभ्यः कर्मणि च ॥३।४।११४॥ गुणोक्तिभ्यः शब्देभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यश्च व्यण् भवति कर्मणि भावे चाभिधेये । उच्यते इत्युक्तिः, गुण उक्तिर्यस्य स गुणोक्तिः । प्राग्गुणमुक्त्वा गुणद्वारेण द्वये यो वर्तते इत्यर्थः । जडस्य कर्म भावो जाड्यम् । मूर्खस्य । ब्राह्मणादिराकृतिगणः । आदिशब्दस्य प्रकारवाचित्वात् । एवं च गुणोक्तिग्रहणं गणे च ब्राह्मणादीनामनुक्रमणं स्वार्थेऽपि गच्छतीति प्रपञ्चार्थम्, यथाशब्दवत्परम् । ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मण्यम् । जाड्यम् । ब्राह्मणात् प्राणिनातिलक्षणोऽञ् प्राप्तः । माण्डव जाडव वृद्धलक्षणो बुञ् प्राप्तः । “अहं तो नुम्व” [वा०] नुमर्थः पाठः । चोर । धूर्त । मनोहादित्वाद् बुञ् प्राप्तः । आराव(घ)य । विराव(घ)य । उपराव(घ)य । अपराव(घ)य । एते “उपचोकादेः” [३।१।११६] इत्युवन्ताः । ततो वृद्धलक्षणो बुञ् प्राप्तः । प्राणिनातिलक्षणो वाऽञ् । एकभाव । द्विभाव । त्रिभाव । अन्यभाव । एतेभ्यः स्वार्ये । अक्षेत्रजनञ् पूर्वार्थं ग्रहणम् । संवादिन् । संवेशिन् । संभाषिन् । बहुभाषिन् । शीर्षघातिन् । समस्य । परस्य । प्रस्य^१ । आन्यस्य । विषमस्य । विशाल । एवं नञ्पूर्वार्थं ग्रहणम् । अनीश्वर नञ्पूर्वार्थपाठः । कुशल । चपल । निपुण । पिशुन । एभ्यो युवादित्वादण् प्राप्तः । बालिस (श) बालवचोवाचि(चि)त्वादञ् प्राप्तः । अलस । बसो^२ऽवम् । इष । दव । अपुरुष । अनयोर्नञ्पूर्वार्थम् । शबनपुरोहितादित्वात्पर्यः प्राप्तः । गणपति । अधिपति । पत्यन्तलक्षणो एयः प्राप्तः । गण्डुल । दायाद । विशक्ति । विशाष । विधान । निषात । एभ्यस्त्वत्तलोर्निवृत्त्यर्थम् । “सर्ववेदादिभ्यः स्वार्ये” [वा०] । सार्ववैद्यम् । सार्वलौक्यम् । धानुर्वैद्यम् । अनुशक्तिकादित्वादुभयत्रैप् । त्रैलोक्यम् । चातुर्वैद्यम् । “वीरस्तेजसि यः” [वा०] । वीरस्य तेजः वीर्यम् । “विरोधेऽण् षक्तभ्यः” [वा०] । वैरम् । व्यण्प्रतिकरणं इत्यर्थम् । आचिती । सामग्री । “ह्रस्वो ह्रतो ह्याम्” [३।४।११५] इति यत्नम् ।

नञ्सेचतुरसंगतलक्ष(व)ण्वडबुधकतरसलसेभ्यः ॥३।४।११५॥ प्रतिपदोक्ते नञ्से कृते चतुर संगत लक्षण (लवण) वड बुध कत रस लस इत्येतेभ्य एव भावकर्माभिधायिनस्तथा भवन्ति । ननु ग्रहणवद्द्यो विहिताः कथं तदन्तेभ्यः प्राप्नुवन्ति ? येनार्थं नियम उच्यते । ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाच्चपूर्वादपि यण् (व्यण्) प्राप्नोति । पत्यन्ताद्विहितो एयः, हायनान्तादण्, योको बुञ्पूर्वादपि प्राप्नोति । न चतुरः अचतुरः, तस्य भावः कर्म वा आचतुर्यम् । आसंगत्यम् । आलवण्यम् । आवड्यम् । आबुध्यम् । आकृत्यम् । आरस्यम् । आलस्यम् । एतेभ्य एव नञ्से कृते यथा स्युर्नान्येभ्य इति । अपटुलम् । अपटुता । अपतिलम् । अपतिता । (अ)हायनत्वम् । (ल) तलोर्निष्पन्नानिर्वृत्तिर्न भवति, आ चत्वादिति वचनात् । प्रतिपदग्रहणं किमर्थम् ? नञ्पूर्वाद् वसात् भाववचनो यः प्राप्नोति स भवत्येव । न विद्यते पटुरस्य, अपटुः, अपटोर्भावः आपटवम् । अपतेर्भावः आपत्यम् । आहायनम् । आरमणीयकम् । अय यत्र नञ्स्य ह्रद्वृत्तेश्चैकमेव वाक्यं तत्र कथं भवितव्यम् न पटोर्भाव इति ? ह्रद्वृत्त्या प्राग्भवितव्यं पश्चान्नञः । अपाटवमिति । न कर्णवेष्टाभ्यासपादिमुखम् अकारणवेष्टिकम् । चतुरादिष्वभिधानवशाज्जञः । पश्चाद् भावे त्यः । न चतुरस्य भाव आचतुर्यम् ।

स्तेयसख्ये ॥३॥४॥११६॥ स्तेय सख्य इत्येते शब्दरूपे निपात्येते, स्तेनशब्दात्तात्पर्यात् सख्य-
कर्मणोर्यः, नशब्दस्य च खं निपात्यते । स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् । यण् (द्यण्) चात्रेभ्यः ।
स्तैन्यम् । सखिशब्दाद् भावकर्मणोर्यः । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् । “दूतवणिगर्भ्या यो वक्तव्यः” [वा०]
दूतस्य भावः कर्म वा दूत्या । वणिज्या ।

कपिज्ञातेर्दञ् ॥३॥४॥११७॥ कपि-ज्ञातिशब्दाभ्यां तात्पर्याभ्यां दञ् भवति भावे कर्मणि
चाभिधेये । कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् । इगन्तत्वादण् प्राप्तः । ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातेयम् । प्राणि-
ज्ञातित्वादण् प्राप्तः । स्वत्तावपि भवतः । कपित्वम् । कपिता । ज्ञातित्वम् । ज्ञातिता ।

पत्यन्तपुरोहितादेश्यः ॥३॥४॥११८॥ पत्यन्तापुरोहितादेश्य एवो भवति । तस्य भावे कर्मणि
चेति वर्तते । बृहस्पतेर्भावः कर्म वा, बार्हस्पत्यम् । सैनापत्यम् । इगन्तत्वादण् प्राप्तः । पुरोहितादिभ्यः ।
पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम् । राज्यम् । पुरोहित । “राजससे” [ग० सू०] । अस इति किम् ?
सौराज्यम् । ब्राह्मणादित्वाद्व्यण् । ग्रामिक । खण्डिक । दण्डिक । कर्मिक । वास्तक । शिल्पिक । सूचिक ।
अम्बलिक । छत्रिक । वर्षिक । प्रतिक । सारथिक । सांजनिक । आजनिक । साराक्षसूचक । ब्राह्मणादे-
राकृतिगत्यात्वाद्व्यणि सिद्धे स्त्रियां टावर्थं वचनम् ।

वयोवाक्प्राणिजात्युद्गात्रादिभ्योऽण् ॥ ३॥४॥११९॥ वयसो वाग्यः प्राणिजातिक्षयिण्य
उद्गात्रादिभ्यश्चाण् भवति । तस्य भावे कर्मणि चेति वर्तते । कुमारस्य भावः कर्म वा, कौमारम् । कैशारम् ।
कालभम् । प्राणिजातिभ्यः । आश्वम् । औष्ट्रम् । माहिषम् । उद्गात्राद्भावः कर्म वा, औद्गात्रम् । उद्गात्र ।
उन्नेत् । प्रतिहन्त् । मशास्तु । होत् । भर्तु । रथगणक । पङ्क्तिगणक । सुहृत् । दुष्ट । अस्त्रयु ।
यधू ।

हायनान्त्युवादिभ्योऽण् ॥३॥४॥१२०॥ हायनान्तेभ्यो युवादिभ्यश्चाण् भवति । तस्य भावे
कर्मणि चेति वर्तते । अथयोवाचित्वे हायनान्ताः प्रयोजयन्ति । द्विहायनस्य युवादेर्भावः कर्म वा, द्वैहायनम् ।
त्रैहायनम् । युवादिभ्यः—यूनो भावः कर्म वा यौवनम् । मनोज्ञादित्वाद् बुज् प्राप्तः, अनेनाण् । “जनः
अणि” [३॥४॥१२८] इति टिप्पणप्रतिषेधः । पूर्वे सूत्रे यत्रण्ग्रहणं क्रियेत इति नो भावः कर्म वा हास्त-
मित्यत्र “प्रायोऽनपश्येऽणीतः” [३॥४॥१५५] इति टिप्पणप्रतिषेधः प्रसज्येत । मृद्वग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि,
युवादेर्भावः “भस्य हस्यदे” [वा०] इति पुंवद्भावे कृते यौवनम् । युवन् । यवमान । “पुरुषादसे” [ग० सू०]
अस इति किम् ? राजपौरुष्यम् । अपुरुषत्वम् । कर्तु । श्रुत्विक । कन्दुक । अवय । कुस्त्री । दुःस्त्री ।
सुस्त्री । सुहृदय । सुहृत् । दुहृत् । सुभ्रातृ । दुभ्रातृ । वृधत् । परित्राजक । सन्नद्धाचारिन् । अरुशंस ।
“हृदयादसे” [ग० सू०] अस इति किम् ? अहृदयत्वम् । चपल । निपुण । पिशुन । कुतूहल । ज्ञेयश्च । भो
वियस्य भावः कर्म वा भौत्रम् । उद्गात्रादिरत्रैव पठितव्य इति चेत् ; न ; अस्याऽनित्यत्वात् । तेनानुशंस्यमिति
सिद्धम् ।

व्यादेरिकः ॥३॥४॥१२१॥ व्यादिग्रहणमिको विशेषणम् । चि आदिर्यस्येकः स व्यादिः, व्यादिर्य
इत् तदन्तान्मृदोऽण् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते । शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् । नखरजनि ।
नाखरजनम् । हरीतकी । शरीतकम् । पृथु । पार्थवम् । यधू । वाधवम् । पितृ । पैत्रम् । व्यादिग्रहणं
ऋषिमुदास्य विशेषणमित्यम्बे । व्यादेर्मुद इगन्तात् । कुशानु । कार्शानवम् । प्रतिहृत् । प्रातिहार्जम् ।

१. वसिक अ०, पू० । २. प्रमात् अ० । ३. सूत्रम् “जनः” इत्येव । अणीत्यनुवृत्त्यभिप्रायेण
“जनः अणि” इति ।

वृह (विश्व) ना च विनशौ । चित्रे (विनु) भावः कर्म वा परत्वाद्बृहत्त्वलक्षणे लुप्तम् । जैत्र (वैजः)-
कमिति । कथं काव्यम् ? कविशब्दो ब्राह्मणादिषु पठनीयः । व्यादेरिति किम् ? पायुत्वम् । पायुत्वा । इह
इति किम् ? वक्तृत्वम् ।

योङो रूपोत्तमाद् बुञ् ॥३॥४॥१२२॥ त्रिप्रभृतीनामन्त्यम् उत्तमम्, उत्तमस्य तृतीयमुपोत्तमम्,
रूपोत्तमं यस्य मृदः, तदूपोत्तमम् । योङो मृदो रूपोत्तमाद् बुञ् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते ।
रमणीयस्य भावः कर्म वा, रमणीयकम् । औपाध्यायकम् । योङ इति किम् ? कापोत्तम् । रूपोत्तमादिति
किम् ? चाप्रियम् । कुशलत्वम् । रूपान्त्वादिति वक्तृत्वे उत्तमग्रहणं त्रिप्रभृतीनामन्त्यां परिग्रहार्थम् ।
तैनेह न भवति । कायत्वम्, कायता । कथं शयते तमशब्दोऽयमातिशयिकः । अयमेतेषामतिशयेन
उद्गततम इति, “सन्महापरमोत्तमोऽहम्” [१॥३॥५६] इति निपातनात् । “किमेमिहकिंकादामहं”
[५॥३॥२०] इति आम्न भवति । अस्त्युत्पन्नं वा मृद्रूपम् । त्रिप्रभृत्वन्तर्वाचि युषोत्तमादिति सिद्धे
रुपग्रहणमेकलक्ष्यवधानेऽपि प्राप्यार्थम् । आचार्यकम् इति । “लङ्गाद्वेति वक्तव्यम्” [५०] । साहाय-
कम् । साहाय्यम् ।

इन्द्रमनोहावेः ॥३॥४॥१२३॥ इन्द्रमनोहाविम्यश्च बुञ् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते ।
कुक्काशीनां भावः कर्म वा कौक्काशिका । भारतवाहुवलिका । धैपालवसुपालिका । मनोहाविम्यः । मनोहस्य
भावः कर्म वा, मानोशः । प्रियरूप । आदो (अमि) रूप । कल्याण । मेधाविन् । आद्य (क्य) । सुकुमार ।
कुलपुत्र । छान्दस । छात्र । ओत्रिय । चौर । धूर्त । वैश्वदेव । युधन् । यौवनिका । “प्रकृत्याऽन्के राजन्त्य-
मनुष्ययुवानः” [५०] इति प्रकृतिभावः । ग्रामपुत्र । ग्रामलण्ड । ग्रामकुमार । अमनुष्यपुत्र । अमनुष्यकुल ।
शरपुत्र । गोत्र ।

मृदवाचिनश्चरणाचिनश्चरणाचिनश्च ॥३॥४॥१२४॥ मृदवाचिनश्चरणाचिनश्चरणाचिनश्च मृदो बुञ् भवति
भावकर्मणोरर्थयोः शलाघादिषु विषयभूतेषु योत्वेषु वा । शलाघो विकल्पनं स्मय इत्यर्थः । अत्याकारः पणकि-
(भि) द्वेपः । अवेतः अवगतः । गार्गिकया शलाघते । गार्गिकया अत्याकुरुते । गार्गिकामवेतः । चरणात् ।
काठिकया शलाघते । काठिकया अत्याकुरुते । काठिकामवेतः । शलाघादिभ्यति किम् ? काष्ठेन प्रसिद्धः ।
प्राणिनां तिलक्षणेऽन् ।

होत्राभ्यश्लोः ॥३॥४॥१२५॥ होत्राशब्दः श्रुतिर्वा वाचकः । बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः । होत्राभ्य
श्रुतिविशेषवाचिभ्यः शब्देभ्यश्छो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । अच्छावाकस्य भावः कर्म वा, अच्छावाकीयम् ।
मैत्रावरुणीयम् । ब्राह्मणाच्छंसीयम् । अच्छावाकत्वम् । अच्छावाकता । अथवा होत्रा कठः । अच्छावाकशब्द-
सहचरिताः श्रुक् अच्छावाक् । मैत्रावरुणीशब्दसहचर्याद् मैत्रावरुणी । ब्राह्मणाच्छंसिशब्दसहचरिताः श्रुक्
ब्राह्मणाच्छंसी । “होत्रावाः स्वार्थे को (छो) वक्तव्यः” [५०] । होत्रैव होत्रीयः ।

ब्रह्मणस्त्वः ॥३॥४॥१२६॥ ब्रह्मशब्दात् होत्रावाचिनस्त्वो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । ब्रह्मणो भावः
कर्म वा ब्रह्मत्वम् । पुनरारम्भः तलादिनिवृत्त्यर्थः । यस्तु जातिवाची ब्रह्मशब्दः ब्रह्मणपर्यायः, तदस्त्वत्त्वो
भवतः । ब्रह्मत्वम् । ब्रह्मता ।

धान्यप्ररोहणे खञ् ॥३॥४॥१२७॥ भावकर्मग्रहणं निवृत्तम् । तस्येति वर्तते । प्रकर्षेण रोहन्ति
आन्तान्यस्मिन् प्ररोहणं क्षेत्रमित्यर्थः । धान्यविशेषवाचिभ्यः प्ररोहणेऽभिधेये खञ् भवति । प्रियङ्गुणां प्ररो-
हणं क्षेत्रं प्रियङ्गवीयम् । मौद्गीनम् । गौधमीनम् । धान्यानामिति किम् ? दृष्टानां प्ररोहणं चत्वरम् । प्रग्रहणं

किम् ? रोहणमित्युच्यमाने मुद्गानां रोहणः कुशूल इत्यत्रापि प्राप्नोति । प्रग्रहणे पुनः सति प्रकर्षेण रोहत्य-
स्मिन् प्ररोहणं केदारादि क्षेत्रमित्युक्तं भवति ।

ग्रीहिशालेर्द्वय ॥३॥४॥१२८॥ ग्रीहिशालिशब्दाभ्यां तासमर्थ्याभ्यां प्ररोहणेऽर्थे ढञ् भवति । खञोऽ-
पवादः । ग्रीहीणां प्ररोहणं क्षेत्रं नैवेद्यम् । शालेयम् ।

यवयवकषट्ठिकाद्यः ॥३॥४॥१२९॥ यवादिभ्यस्तसमर्थेभ्यः प्ररोहणेऽर्थे खञ् भवति यश्च ।
उमाभङ्गयोरधान्यत्वेऽपि यचनाद्भवति । धान्यानि लोके प्रसिद्धानि मुद्गादीनि । “यवाश्च मे सिकाश्च” इत्यादौ
पठितानीत्यपरे । तिलानां प्ररोहणं तैलीनम्, तिल्यम् । माषीणम् । माष्यम् । औमीनम्, उग्यम् । भाङ्गीनम्,
भङ्ग्यम् । आणवीनम्, आणव्यम् ।

सर्वचर्मणः कृतः खञ्च ॥३॥४॥१३०॥ कृतशब्दः कर्मणि । तदपेक्षया तासमर्था प्रकृतिः ।
सर्वचर्मशब्दात् कृत इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति खञ् च । सर्वचर्मणा कृतः सर्वचर्मणः, सार्वचर्मणः ।
यद्येवं सर्वशब्दस्य कृत इति त्वार्यमपेक्षमाणस्य चर्मणा सह खो न प्राप्नोति । अस्यैव निपातनाद् भवति ।

यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः ॥३॥४॥१३१॥ दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनो दर्पणादिः ।
यथामुखसम्मुखशब्दाभ्यां तासमर्थ्याभ्यां दर्शन इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । मुखस्य सदृशोऽर्थो यथामुखम् ।
अतएव निपातनात् “असादृश्ये” [१॥३॥१३] इति ह्रस्वप्रतिषेधो न भवति । समं मुखस्य प्रतिबिम्बस्य
सम्मुखम् । समं वा मुखम्, सम्मुखम् । निपातनात्समशब्दान्तखम् । यथामुखं दर्शनः, यथामुखीनः ।
सम्मुखस्य दर्शनः सम्मुखीनः । कर्मणि ता ।

पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रमाप्नोति सर्वादेः ॥३॥४॥१३२॥ निर्देशात्समर्थविभक्त्युपादानम् । पथिन्
अङ्ग कर्मन् पत्र पात्र इत्येवमन्तात् सर्वशब्दादेर्मुद्ग इत्यसमर्थादाप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । सर्वपथानाप्नोति
सर्वपथीनमुदकम् । सान्तस्तद्वद्ग्रहणेन गृह्यते । सर्वाङ्गीणः पटः । सर्वकर्मणः पुरुषः । सर्वपत्रीणः शरभिः ।
सर्वपात्रीण ओदनः । सर्वादेरिति किम् ? पन्थानमाप्नोति ।

आप्रपदम् ॥३॥४॥१३३॥ आप्रपदशब्दादाप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । प्रवृद्धं पदं प्रपदम् ।
पदस्योपरि गुल्फः, पदाङ्गं वा । आ प्रपदादाप्रपदम् । “एषपाङ्गद्विरङ्गवः कया” [१॥३॥१०] इति
ह्रस्वः । क्रियाविशेषणमिदं वान्तम् । ततो वचनात्पथः । आप्रपदमाप्नोति आप्रपदीनः कम्बलः ।

सर्वाङ्गीनानुपदीनायानथीनागवीनाद्यश्वीनाः ॥३॥४॥१३४॥ सर्वाङ्गीन, अनुपदीन, अयानथीन
आगवीन, अद्यश्वीन इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । सर्वाङ्गशब्दाद्विबन्ताद् भक्षयतीत्यस्मिन्नर्थे खो निपात्यन्ते ।
सर्वाङ्गानि भक्षयति सर्वाङ्गीनो भिक्षुः । पदसदृशमनुपदम्, यथार्थे ह्रस्वः । अनुपदशब्दाद् वान्ताद्बद्धेस्व-
स्मिन्नर्थे खः । अनुपदं बद्धा अनुपदीना उपानत् । पदप्रमाणेत्यर्थः । अयः प्रदक्षिणम्, अनयः प्रसृत्यम् ।
प्रदक्षिणसप्रसृत्यमागामिना यस्मिन् परैः पदानामसमावेशः सोऽयानयः । अयादप्रवृत्तोऽनयः, अयानयः ।
मयूरभ्यसकारादस्मात् [१॥३॥१३] सविधिः । अयानयशब्दाद्विबन्ताद् नेद्य इत्यस्मिन्नर्थे खः । अयानयं
नेयः शरीरोऽयानथीनः । खस्यां दिशि फलकचिरोगत इत्यर्थः । गोरापूर्वाङ्गानोः प्रतिदामाङ्गं करोतीत्य-
स्मिन्नर्थे खः । आगवीनः कर्मकरः । यो गवां भूतः कर्म करोति आ तस्य गोः प्रत्यर्पणात् एवमुच्यते ।
अद्यश्वःशब्दाद्वाखन्ते विज्जनने खो निपात्यन्ते । अद्य श्वो वा विजनिष्यते अद्यश्वीना गौः । अद्यश्वीना वडवा ।
केचिद् विज्जनन इति विशेषणं नेच्छन्ति । आसन्नमात्रे निपातयन्ति । अद्यश्वीनो वियोगः । अद्यश्वीनं
मरणात् ।

परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ॥३॥४॥१३५॥ निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । परोवर परम्पर पुत्रपौत्र इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्योऽनुभवतीत्यस्मिन्नर्थे लो भवति । पराँश्च अवरोँश्च अनुभवति परोवरीणः । त्वस्सिचोमे परोवरभावो निपात्यते । पराँश्च परतरोँश्च अनुभवति परम्परीणः । त्वस्सिचोमे परपश्वरीणः परम्परभावः । कथं मन्त्रिपरम्परा मन्त्रं भिनतीति प्रयोगः । शब्दान्तरमप्यस्ति । पुत्रपौत्राननुभवति पुत्रपौत्रीणः ।

अवारपारात्यन्तानुकामगामी ॥३॥४॥१३६॥ अवारपारं अत्यन्त अनुकाम इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो गामीत्यस्मिन्नर्थे लो भवति । गमिष्यतीति गामी । “आवश्यकोऽधमर्थयोगिन्” [२१३॥१४६] इति आवश्यकार्थे यिन् । वत्स्यकालभावस्य “गम्यादिवत्स्यति” [२१३॥१] इति वचनात् । अवारपारं गामी अवारपारीणः पोतः । विगृहीतादपि भवति । अवारीणः । पारीणः । “विपरीताच्चेति वक्तव्यम्” [४१०] पारावारीणः । अतएव निपातनात्पारस्य वा पूर्वनिपातः । अन्तस्याभावोऽत्यन्तम् । “रिम्” [११३॥५] इति अर्थभावे हसः । अथवा अन्तमतिक्रान्तः अत्यन्तः । “तिक्रमादयः” [११३॥६१] इति षसः । हसपक्षे वान्तादपि वचनात्त्वः । अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः । कामस्याऽनुरूपमनुकामम् । यथार्थं हसः । अनुगतो वा कामः, अनुकामः । अनुकामं गामी अनुकामीनः ।

समां समां विजायते ॥३॥४॥१३७॥ समा संवत्सरः । तदेकदेशे समाशब्द उपचरितः । विजननक्रियायाऽवश्याविच्छेदात् “काळाध्वन्यविच्छेदे” [११३॥४] इतीप् । वीप्सायां द्वित्वम् । समां समां शब्दाद्विजायते इत्यस्मिन्नर्थे लो भवति । मृदवि (धि) कारेऽपि सुवन्तसमुदायाद् वचनात्त्वः । समां समां विजायते समांसमीना गौः । समांसमीना वज्रवा । त्ये कृते “सुपो धुसृढोः” [११३॥१४२] इति सुप उप । पूर्वपदे सुपोऽनुबन्धव्यः । यदा संवत्सरे समाशब्दः प्रवर्तते तदा समायां समायामिति विग्रहेऽपि समांसमीना गौः । त्यविषये पूर्वपदस्य समां भावो निपात्यते, उत्तरपदस्य च पादः क्षम् । परिशिष्टस्य तु सुपः “सुपो धुसृढोः” [११३॥१४२] इत्युप् ।

अनुग्वलंगामी ॥३॥४॥१३८॥ अनुग्विति क्रियाविशेषणम् । अनुगुशब्दात् अलङ्गामी इत्येतस्मिन्नर्थे लो भवति । गवां पश्चात् अनुगु । पश्चादर्थे हसः । अनुगु अलङ्गच्छति अनुगवीनः ।

यस्त्राध्वनः ॥३॥४॥१३९॥ इवत्र समर्था संभवति अध्वशब्दादिसमर्थादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे यस्त्रौ भवतः । अध्वानमलङ्गच्छति अध्वन्यः, अध्वनीनः यदा यस्तदा “येऽहौ” [४१३॥१२६] इति टित्प्रतिषेधः । अन्यत्र “सेऽध्वनः” [४१३॥१६०] इति टित्भावः ।

छुश्चाऽभ्यमित्रात् ॥३॥४॥१४०॥ अमित्रमभि अभ्यमित्रम् । “वीप्सेत्थंभूतकक्षणेऽभिनेप्” [११३॥११] इतीप् । “छक्षणेनाभिसुक्ष्येऽभिप्रसी” [११३॥११] इति हसः । क्रियाविशेषणमेव । अभ्यमित्रशब्दाद् वासमर्थादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे लो भवति यस्त्रौ च । अभ्यमित्रमलङ्गच्छति, अभ्यमित्रादयः, अभ्यमित्राः ।

गौष्ठोनाश्वीनकौपीनशास्त्रीनप्रातीनसासपदीनद्वैयङ्गवीनम् ॥३॥४॥१४१॥ गौष्ठोनादयः शब्दा निपात्यन्ते । गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठः । “सुपि” [२१३॥७] “स्थः कः” [२१३॥८] इति कः । गोष्ठशब्दाद् सुप्तपूर्वोपाधिकात् स्वार्थे सञ् निपात्यते । गोष्ठो भूतपूर्वो गौष्ठोनादेशः । चरतोऽपवादः । अश्व-

शब्दस्य साप्तसर्वादेशाद्विष्णोः इत्यस्मिन्नर्थे खञ् । गम्यते गमः । एकमहः, एकाहः । एकाहेन गमः, एकाह-
गमः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति सः । अश्वत्थ एकाहगम आश्वीनोऽध्वा । आश्वीनानि पञ्चवश-
जोषमणि । नृपावतरणशब्दादिपञ्चमर्थे खञ् । शुखं च निपात्यतेऽकार्येऽभिधेये । कृपावतरण-
मर्हति कौपीनं पापम् । करोतिः क्रियासामान्येन वर्तते । तेनाऽद्रष्टव्यमप्यकार्यम् । कौपीनमिन्द्रियम् । तात्पर्याद्
यत्नमपि । शाखाप्रवेशशब्दादिपञ्चमर्थे खञ् निपात्यते शुखं चाष्टमेऽभिधेये । शाखाप्रवेश-
मर्हति शालीनः । अप्रगल्भ इत्यर्थः । वातकर्मशब्दाद् भासमर्थाऽजीवतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् शुखं च । नाना-
जातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः संघा जाताः । उत्सेधः शरीरम्, तदायासेन ये जीवन्ति ते उत्सेध-
जीविनः । व्रतकर्मणा जीवति व्रातीनः । तेषामेव व्रातानामन्यतमो यस्त्वन्यो व्रातकर्मणा भारोद्बन्धेन
जीवति स व्रातीन इति नेष्यते । सप्तपदशब्दाद् भासमर्थाद्वाप्यते इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते सप्तमेऽभिधेये ।
सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनं सख्यम् । कथं साप्तपदीनं मित्रमिति सामानाधिकरण्यम् । अश्वीनादिपाठाद-
कारो मत्वर्थयो द्रष्टव्यः । ह्योगोदोहशब्दात्तासमर्थाद्विकार इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते प्रकृतेरपि द्विवक्तु-
भावः । संज्ञायां ह्योगोदोहस्य विकारः द्वैतजीविनम् । अभिनववृत्तस्य संज्ञेया । अन्यत्र ह्योगोदोहस्य विकारः,
अग्निः, ह्योगोदोहं तक्रम् ।

भूतपूर्वे चरट् ॥३।४।१४२॥ पूर्वं भूतो भूतपूर्वः । “काळाः” [१।३।१५] इति क्लान्तेन षठः ।
अतएव निपातनादेवंजातीयेषु पूर्वशब्दस्य परनिपातो द्रष्टव्यः । भूतपूर्वं यन्ङ्याम्मृदूपं वर्तते तस्मात्त्वार्थे चरट्
भवति । आढ्यो भूतपूर्व आढ्यचरः । आढ्या भूतपूर्वा आढ्यचरी । “तस्यार्थी” [१।३।१४०] इति पुंवद्-
भावः । यद्यपि भूतशब्दः पूर्वशब्दश्च अतीतकालवाचिनौ तथापि विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते । किञ्चित्कालं
भूतत्वेनावस्थाय दर्शनविषयतां नेदानीमस्त्येत्ययं विशेषः पूर्वशब्दविशेषणात्प्रतीयते ।

ताया रूप्यश्च ॥३।४।१४३॥ भूतपूर्वं इति वर्तते । तान्तान्ङ्याम्मृदो भूतपूर्वेऽर्थे रूप्यो भवति चरट्
च । देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौः, देवदत्तरूप्यः, देवदत्तचरः । इहासामर्थ्यान्व भवति । कम्बलो देवदत्तस्य गौर्मूत-
पूर्वो जिनदत्तस्योत । इह ऋद्धस्य देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौरिति समुदायस्यातान्तत्वादवयवस्थ चासाम-
र्थ्यान्व भवति ।

पाकमूले पीलुकर्णादिभ्यः कुर्याजहो ॥३।४।१४४॥ ताया इति वर्तते । तासमर्थेभ्यः पीत्वादिभ्यः
कर्णादिभ्यश्च यथासंख्यं पाकमूलयोरर्थयोः कुर्या जह इत्येतौ भवतः । पीलूनां पाकः पीलुकुर्याः । पीलु । कर्कन्धु ।
शमी । करीर । बदर । कुवश । अश्वत्थ । खदिर । कर्णादिभ्यो जहः । कर्णस्य मूलं कर्णाबाहम् । कर्ण ।
अदि । मुख । नख । पाद । गुल्फ । भ्रू । दन्त । ओष्ठ । केश । शृङ्ग । पुष्प ।

पक्षाप्तिः ॥३।४।१४५॥ ताया इति वर्तते । पक्षशब्दान्तान्मूलेऽर्थे तिर्भवति । द्वयोः पीलुपाकयो-
रनुवर्तनेऽपि पाकस्याऽसम्भवान्मूलग्रहणमेवाभिसम्बध्यते । पक्षस्य मूलं पक्षाप्तिः ।

तेन वित्तचुञ्चुचणौ ॥३।४।१४६॥ वित्तः प्रतीत इत्यर्थः । तेनेति भासमर्थाद्वित्त इत्येत-
स्मिन्नर्थे चुञ्चु चण इत्येतौ त्वौ भवतः । न्यायेन वित्तो न्यायचुञ्चुः । न्यायचणः । केशीवित्तः केशचुञ्चुः ।
केशचणः ।

विनङ्म्यां नानाजो न सह ॥३।४।१४७॥ न सहेति प्रकृतिविशेषणम् । कर्मादियोगाऽ-
सम्भवाद् वादिभ्यस्तत्र समर्था । असङ्गार्थे वर्तमानायां विनङ्म्यां यथासंख्यं नानाजो भक्तः । स्वार्थे । न सह,
मिना । न सह, नाना ।

वेः शाकशङ्कटौ ॥३४॥१४८॥ प्रादयः पुनरेवमात्मका यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः । यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधना क्रियामाहुरिति । वेः ससाधनक्रियावचनाच्छालशङ्कट इत्येतौ त्वौ भवतः स्वार्थे । विसृषे (विगते) शृङ्गे विशाजे । विशङ्कटे । तद्योगात्ताच्छब्दो (च्छन्द्यम्) विशालो गौः । विशङ्कटो गौरिति । अथवा विशालादया परमार्थतो गुणशब्दाः, ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्ते । तेन विशालः पटः, विशालं यशः इत्येवमादि सिद्धम् ।

सम्प्रोदश्च कटः ॥३४॥१४९॥ सम् प्र उद् इत्येतेभ्यो वेश्च कट इत्यर्थं त्वौ भवति । अत्रापि ससाध(च)नक्रियावचनेभ्यस्त्वौ वेदितव्यः । सङ्कटं सङ्कटम् । प्रकटम् । उक्कटम् । विकटम् । विकट-
दन्तयोगाद् विकटो हस्ती । “अष्टावृत्तिकोमाभङ्गाभ्यो रञस्युपसंख्यानम्” [वा०] अलावूनां रञः
अलावूकटम् । तिलकटम् । उमाकटम् । भङ्गाकटम् ।

कुटारश्चावात् ॥३४॥१५०॥ अवात् ससाध(च)नक्रियावचनात् कुटार इत्यर्थं त्वौ भवति कटश्च
स्वार्थे । अवकुटः, अवकुटारः । अवकटः । “गोष्टादयस्याः स्थानाविषु पशूनामिति वक्तव्यम्” [वा०] गवां
स्थानं गोगोष्ठम् । महिषगोष्ठम् । अजागोष्ठम् । “समूहे कटः” [वा०] अवीनां समूहः, अविकटः । पशुकटः ।
“विस्तारे पटः” [वा०] अवीनां विस्तारः, अविपटः । “द्वित्वे गोयुगः” [वा०] उद्गोयुगम् । अश्व-
गोयुगम् । महिषगोयुगम् । “ननुत्पन्नं वदस्ते वदस्ते” [वा०] वदितानां वदस्ते वदस्ते वदस्ते । “संस्कृते
शुक्लः” [वा०] पिठरे संस्कृतं पिठरशुक्लम् । “धिकारे स्नेहे तैलः” [वा०] इक्षुदीनां स्नेहः इक्षुदीतैलम् ।
“प्ररोहणे क्षाकटशाकिनौ” [वा०] इक्षुणां प्ररोहणं क्षेत्रम्, इक्षुशाकटम् । मूलशाकटम् । इक्षुशाकिनम् ।
मूलशाकिनम् ।

नते नासिकायाः खौ टीटनाटभटाः ॥३४॥१५१॥ अवाविति वर्तते । नमनं नतम् । नासिका
नतवाचिनोऽवशब्दाटीट नाट भट इत्येते त्वाः स्वार्थं भवन्ति खुविषये । नासिकाया इति सम्बन्धसामान्ये
ता । तत्र यदा नासिकायाः कर्तृत्वविवक्षा, तदा सामानाधिकरण्येन विग्रहः । अवनता नासिका अवटीय ।
अवनाय । अवभट । यदा सम्बन्धित्वविवक्षा तदा वैयधिकरण्येन, नासिकाया अवनतम्, अवटीटम् ।
अवनाटम् । अवभटम् । एवमुत्तरत्रापि विग्रहद्वयं ज्ञातव्यम् । तद्योगात्पुरुषेऽपि तथोच्यते । अवटीटः
पुरुषः ।

नेबिडविरीसौ ॥३४॥१५२॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते । निशब्दानासिकानतार्थवचनाद्
बिड विरीस इत्येतौ त्वौ भवतः । निनता नासिका निबिडा । निबिरीसा । निबिडम् निबिरीसमिति वा । तद्यो-
गात्पुरुषोऽपि निबिडः । निबिरीसः । कथं निबिडं वस्त्रं निबिडाः केशा इति । उपमानात्सिद्धम् ।

केनौ वि(चि)क् ॥३४॥१५३॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते निरिति च । नासिकानतार्थ-
वाचिनो नेः क इन इत्येतौ त्वौ भवतः वि(चि)क् इत्यवस्थादेशः प्रकृतेः । निनता नासिका वि(चि)क्ता ।
वि(चि) किना । तद्योगाद् वि(चि)क्को देवदत्तः । वि(चि)किनः ।

पिटे चिः ॥३४॥१५४॥ नासिकानतार्थवाचिनो नेः पिटे त्वे परतश्चिरित्ययमादेशो भवति ।
अनेनैव पिटस्य विधानम् । निनता नासिका चिपिटा । तद्योगाच्चिपिटो देवदत्तः । “विक्रमस्य चिपिपक्षौ क्षर-
क्षुषीति वक्तव्यम्” [वा०] क्लृप्तं चक्षुः चिह्नम्, पित्तम् । तद्योगाद्देवदत्तोऽपि चिह्नः । “सुखदेशश्च
वक्तव्यः” [वा०] क्लृप्तं चक्षुः सुखम् । तद्योगाद्देवदत्तोऽपि सुखः ।

उपत्यकाऽधित्यके ॥३४॥१५५॥ उपत्यका अधित्यका इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । उपशब्दात्पर्वता-
सन्ने देशे वर्तमानात्स्वार्थं त्यक इत्यर्थं त्वौ निपात्येते इत्याभावश्च स्त्रीलिङ्गे खुविषये । पर्वतमृषासन्नो देश

उपलब्ध । अर्थात् ये तस्मात्पर्यंतमारुदे देशे वर्तमानात्यक् हस्ताभावश्च क्षीणित्वे खुनिषये । पर्वतमध्यास्तौ देशोऽधित्यक् ।

कर्मठः ॥३१४॥१५६॥ कर्मठ इति निपात्यते । कर्मशब्दादीन्समर्थाद्घटते इत्यस्मिन्नर्थेऽटो निपात्यते । कर्मणि घटते कर्मठः ।

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः ॥३१४॥१५७॥ तदिति वासमर्थेभ्यः सञ्जातोपादि(घि) भ्यस्तारकादिभ्योऽस्येति ताऽयं इतो भवति । तारकः संज्ञाता अस्य तारकितं नभः । पुष्पिता लता । तारक । पुष्प । कर्णक । शृङ्गीष । सूत्र । निष्क्रमण । पुरीष । उन्चार । प्रचार । कुङ्कुमल । मुकुल । कुसुम । स्तवक । किसलय । वेग । वेश । निद्रा । बुभुक्षा । पिपासा । श्रद्धा । स्वप्न (श्रभ्र) । अन्न । रोग । अङ्गारक । वर्णक । द्रोह । मुख । दुःख । उत्कण्ठा । मर । व्याधि । “गर्भाद्गर्भाणि” [१० सू०] गर्भिताः शालयः । अप्राणिनीति किम् ? गर्भिणी गौः ।

प्रमाणे द्वयसङ्ख्येयमात्रम् ॥३१४॥१५८॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थ्यात्प्रमाणोऽर्थे वर्तमानादस्येति ताऽयं द्वयसङ्ख्येयमात्रम् इत्येते त्वा भवन्ति । प्रमाणस्य प्रमेयापेक्षत्वात्प्रमेयस्यार्थः । ऊरुः प्रमाणमस्य ऊरुद्वयम् । ऊरुमात्रम् । यद्यप्यायामः प्रमाणात्वेन प्रसिद्धस्तथाप्यभिधानवशाद् द्वयसङ्ख्येयमात्रवृद्धमाने, मात्रम् पुनरविशेषेण । कर्षमात्रं घृतम् । प्रस्थमात्रं घान्धनम् । धनुर्मात्रं भूमिः । “प्रमाणशब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसङ्ख्यादीनां ध्वंसनं वक्तव्यम्” [वा०] समः प्रमाणमस्य समः । द्विष्टि प्रमाणमस्य द्विष्टिः । त्रिष्टिः । चतुष्टिः । “रात्रिश्च ध्वंसनं वक्तव्यम्” [वा०] द्वौ समे प्रमाणमस्य द्विसमम् । त्रिसमम् । द्विद्विष्टिः । द्विचतुष्टिः । तदन्तविध्यमात्रापूर्वेणाप्राप्तिः । चकारः किमर्थः ? संशये स्थायिनं मात्रम् वक्तव्यम् । तथाऽपि रात्रिध्वंसनमेव यथा स्यात् । “हट् स्तोमे वक्तव्यम्” [वा०] पञ्चदशाहानि परिमाणमस्य यज्ञस्य पञ्चदशः स्तोमः । सप्तदशः । पञ्चदशी रात्रिः । छन्दसि पूर्वमेव सिद्धमख्येन्द्रोविषयार्थमेतत् । “अन्शतोर्विनिर्वक्तव्यम्” [वा०] पञ्चदशाहोरात्राः परिमाणमेवां पञ्चदशानांऽर्द्धमात्राः । त्रिंशिनो मासाः । द्वात्रिंशिनो देवेन्द्राः । त्रयस्त्रिंश इत्यपीष्यते । “विंशतेर्चेति वक्तव्यम्” [वा०] विंशिनो भवनेन्द्राः । विंशिनोऽङ्गराः । “प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रम् वक्तव्यम्” [वा०] समः प्रमाणमस्य स्यात् सममात्रम् । त्रिष्टिः । प्रस्थः परिमाणमस्य स्यात् प्रस्थमात्रम् । कुडवमात्रम् । पञ्च संख्याः पञ्चा स्यात् पञ्चमात्राः । पुरुषाः दशमात्राः । उक्तं च -

“प्रमाणाध्वंसनं रात्रिश्च हट् स्तोमे अन्शतोर्विनिः । प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये ॥”

“स्वार्थे द्वयसङ्ख्यादौ बहुलं वक्तव्यम्” [वा०] तावदेव तावद्द्वयम् । तावन्मात्रम् । यावदेव यावद्द्वयम्, यावन्मात्रम् ।

पुरुषहस्तिनोऽण् च ॥३१४॥१५९॥ तदस्येति वर्तते प्रमाण इति च । पुरुष-हस्तिशब्दाभ्यामण् च भवति, द्वयसङ्ख्यादयश्च भवन्ति । पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम् । पुरुषद्वयम् । पुरुषद्वयम् । पुरुषमात्रम् । हस्ती प्रमाणमस्य हास्तिनम् । “प्रायोऽनपत्येऽणोः” [३१४॥१५९] इति टिप्पणप्रतिषेधः । हस्तिद्वयम् । हस्तिद्वयम् । हस्तिमात्रम् । प्रमाणशब्दाच्च प्रसिद्धौ “प्रमाणाध्वंसनमिति” च भवति । पुरुषः प्रमाणमस्य पुरुषः । “अप्यादीनां ध्वंसनवचनाच्छब्दयोश्चाराव्येति ध्वंसनं द्वयसङ्ख्यादीनामेव ब्रह्मण्यम् ।” अथ तदन्तान् सम्भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्य द्विपुरुषं जलम् । द्विपुरुषौ द्विपुरुषा वा स्याता । द्विहस्ति जलम् । द्विहस्तिनी नदी । नान्तत्वाङ्गीविधिः ।

यस्येतेभ्यः परिमाणे वतुः ॥३।४।१६०॥ तदस्येति वर्तते । यद् तद् एतद् एतेभ्यः परिमाणो-
पाधिभ्योऽस्येति ताऽर्थे वतुर्भवति । यत्परिमाणमस्य यावान् । तावान् । एतावान् । “आ सर्वनाम्नः”
[३।१।१३७] इति दकारस्याऽवम् । प्रमाणे ग्रहणोऽनुवर्तमाने परिमाणग्रहणं किम् ? प्रमाणे द्वयसङ्कादीनां
बाधा मा भूत् । यद्द्वयसम् । प्रमाणपरिमाणयोर्भेदाद्वत्वं तदपि (क्त्यन्तादपि) द्वयसङ्कादयः सिद्धाः ।
यावन्मात्रम् ।

इदमो वो घः ॥३।४।१६१॥ इदमित्येतस्मादुत्तरस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति । इदमेव
शापकम् । इदमो वतुर्भवतीति । इदम्परिमाणमस्य हयान् । यस्य हयादेशः । “किमिदमोः काश्” [३।१।१३६]
इति इदमः ईशादेशः । “यस्य क्त्याञ्च” [३।४।१३६] इति खः । यमात्रमेववशिष्टम् । तस्य व्यपदेशिवद्-
भावात् मृत्संज्ञा “परस्यादेः” [१।१।२१] इत्येव सिद्धे व इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः ? यस्य त्यान्त-
स्त्वं मा भूत् ।

किमः ॥३।४।१६२॥ किम इत्येतस्मात्परस्य वतोर्वकारस्य चकार आदेशो भवति । अनेनैव क्तो-
र्विधानम् । किम्परिमाणमस्य कियान् ।

सङ्ख्यापरिमाणे ङितिश्च ॥३।४।१६३॥ किम इति वर्तते तदस्येति च । परिमितिः परिमाणम् ।
सङ्ख्यायाः परिमाणं परिच्छिन्तिः । सङ्ख्यापरिमाणे वर्तमानात् किमो वासमर्थ्यादस्येति ताऽर्थे ङतीत्यर्थं त्यो
भवति वतुश्च । वतोर्वकारस्य च चकारादेशः । का संख्या एषां कतीमे पुरुषाः । द्वित्वैकत्वयोः सम्परिप्रश्नस्या-
भावात् । अङ्कान्तमेवोदाहरणम् । अथवा परिमीयतेऽनेनेति परिमाणम्, सङ्ख्यैव परिमाणं सङ्ख्यापरिमाण-
मिति वतः । अस्मिन्पक्षे परिमाणग्रहणं सङ्ख्याविशेषणं किमर्थम् ? तथाहि का संख्या एषाम्, किम्परिमाण-
मेवामिति एक एवार्थः । एवं तर्हि यत्र सङ्ख्याऽक्षेपविषया तत्र मा भूत् । केयमेषां संख्या पञ्चानामिति ।
परिमाणग्रहणेऽत्र वर्तमाने पुनः परिमाणग्रहणं विस्पष्टार्थम् ।

सङ्ख्याया अवयवे तयद् ॥३।४।१६४॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थ्यायाः सङ्ख्यायाः अव-
यवोपाधिकाया अस्येति ताऽर्थे तयद् भवति । वासमर्थ्यादवयविनि तयद् वेदितव्यः । पञ्च अवयवा यस्य पञ्चतयो
यमः । दशतयो धर्मः । सप्ततयी नयतिः ।

उभयसङ्ख्या ॥३।४।१६५॥ उभयशब्दादुत्तरस्य तयटः खं भवति । इदमेव शापकं भवत्युभयशब्दात्तयटि ।
उभावयववाचस्य उभयो मणिः । उभये देवमनुष्याः । उभयशब्दः सर्वादिषु पठ्यते ।

द्वित्रिभ्यां वा ॥३।४।१६६॥ द्वित्रिभ्यामुत्तरस्य तयटो वा खं भवति । “परस्यादेः” [१।१।५१]
इति तकारस्य खम् । द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् । द्वये, द्वयाः । त्रये, त्रयाः । खेपनेभ्याः (त्रये । त्रयाः)
एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् “अथमचक्षम्” [१।१।४१] इत्यादिना अक्षि वा सर्वनामसंज्ञा ।

तदस्मिन्नधिकमिति शङ्खशान्ताङ्कः ॥३।४।१६७॥ तदिति वासमर्थ्याश्चदशान्तान्मृदोऽधिकोपाधि-
विशिष्टादस्मिन्नितीवर्थे ङो भवति । इतिकरणस्तत्तद्वेद् विवक्षा । सङ्ख्या इति वर्तते । त्रिंशदधिका
अस्मिन् शते त्रिंशं शतम् । चत्वारिंशं शतम् । ननु यदिदं त्वग्रहणे “त्वग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणमित्यन्त-
ग्रहणमनर्थकम् । एवं तर्ह्यन्तग्रहणवासमर्थ्यादेकत्रिंशदादीनामपि सङ्ख्याशब्दानां ग्रहणम् । एकत्रिंशदधिका
अस्मिन् शते एकत्रिंशं शतम् । द्वात्रिंशम् । त्रयस्त्रिंशम् । दशार्थं वाऽन्तग्रहणम् । एकादश
अधिका अस्मिन् शते एकादशं शतम् । एवं द्वादशम्, त्रयोदशम् । इह कस्मान्न भवति । एकादश
माघा अधिका अस्मिन् कार्पाषणशते इति ? यजातीयत्यार्थस्तजातीय एव प्रकृत्यर्थे सति

त्य इष्यते । इह तर्हि प्राप्नोति । एकादश कार्षापणा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते, गोविंश-
तिका अस्मिन् गोशत इति सङ्ख्याया इत्यनुवृत्तेर्न भवति । इतिकरणः किमर्थः ? शतसहस्रयोरेवामि-
घानमिति ज्ञापनार्थः । तेनेह न भवति । एकादश अधिका अस्यां त्रिंशति, एकत्रिंशदधिका अस्यां षष्ठा-
धिति । कथम् एकादशं शतसहस्रमिति ? अत्रापि शतसहस्रयोरन्यतरप्राधान्यमस्ति । उक्तञ्च—

“अधिके समानप्राप्ताविष्टः शतसहस्रयोः । यस्य सङ्ख्या तदाधिक्ये षः कर्तव्यो मत्तो मम ॥”

[पा० म० ५।२।४४] ।

विंशतेश्च ॥३।४।१६८॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । विंशतिशब्दाद् वासमर्थादधिकोपाधिविशिष्टा-
दस्मिन्नितीवथे षो भवति । चशब्दात् विंशत्यन्तादापि भवति । विंशतिरधिका अस्मिन् शते विंशं शतं
सहस्रम् । तदन्तात् । एकविंशं शतम् । इकविंशं सहस्रम् । “ते विंशतेरिति” [३।४।१६८] इति स्ते
कृते “एष्यतोऽपदे” [३।३।८२] इति पररूपत्वम् । संख्याया इत्येव । गोविंशतिरधिका अस्मिन्
गोशते इति ।

सङ्ख्याया गुणस्य निमाने मयङ् ॥ ३।४।१६९ ॥ “तदस्य सङ्ज्ञातम्” [३।४।१६९]
इत्यतः तदस्येत्यनुवर्तते । गुणो भाग इत्यर्थः । गुणो निमीयते परिवर्त्यते विक्रीयते वा येन तन्निमानं
मूल्यमित्यर्थः । तदपि सामर्थ्याद् भाग एव । यतो गुणैरेव गुणो निमीयते । तदिति वा-
समर्थायाः संख्याया गुणस्य निमाने वर्तमानाया अस्वेति ताऽर्थे निमेयेऽभिधेये मयङ् भवति ।
गुणस्येति कर्मणि ता । यवानां द्वौ भागौ निमानमस्योदश्विद्प्रहणस्य द्विमयमुदश्वित् यवानाम् । द्विगुणं
मूल्यमित्यर्थः । एवं त्रिमयं चतुर्मयम् । यथा अणुदयः शब्दशक्तिसामान्यादपत्यापत्यवत्सम्बन्धे विधीयमाना
अपि प्राधान्येन सम्बन्धमाचक्षते । अपगवोदरत्ति (औपगवोदात्ति) रिति । तथा मयङ्भागो विधीयमानो
भागवन्तमाचक्षते तेन द्विमयमुदश्वित् इति सामानाधिकरण्यम् । टिकरणं द्वौ गुणस्य एकं शर्करायाः द्विमयी
शर्करा । गुणनिमान इति वक्तव्ये गुणस्येत्येकत्वं विवक्षितम् । तेनेह न भवति । यवानां त्रयो भागा निमानमु-
दश्वितः । द्वयोर्भागयोरिति अधिकायाश्च संख्यायास्त्य इष्यते । तेनेह न भवति । एको भागो निमानमस्यो-
दश्विद्भागस्येति । इह तर्हि प्राप्नोति द्वौ यवानामध्यर्धं उदश्वित इति । अत्रापि गुणस्येति समर्थनिर्देशादेव
न भवति । तदपेक्षया प्रकृतेरपि निरंशसंख्यानं द्रष्टव्यम् । तेनेह न भवति अर्धयो यवानाम् एकस्योदश्वित
इति । न च सकविधेरन्यत्र आध्यर्धशब्दस्य संख्यात्वमिष्टम् । गुणस्येति किम् ? द्वौ त्रीद्वयो निमान-
मस्योदश्वितः । अत्र भागस्येति न प्रयुक्तम् । निमान इति किम् ? द्वौ गुणौ द्वारस्य एकस्तैलस्य द्विगुणं
द्वौरेण तैलपक्कम् । नात्र वासमर्थं गुणं निमाने वर्तते । अन्ये अन्यथा सूत्रार्थं वर्णयन्ति । निमीयते इति
निमानं निमातव्यम् । बहुलवचनात्कर्मणि युट् । गुणस्येति कर्तरि ता । करणस्यापि कर्तृत्वेन विवक्षितत्वात् ।
“वासमर्थायाः संख्याया गुणस्य निमेये वर्तमानयोः” [वा०] निमानेऽभिधेये मयङ् भवति । उदश्वितो द्वौ
भागौ निमेयस्य यवभागस्य द्विमया यवा उदश्वितः । त्रिमयाः । चतुर्मया यवाः । अत्र व्याख्याने समर्थमुदश्वित्,
यवास्तु त्वार्थः । पूर्वत्र महार्धमुदश्वित्, तदेव च त्वार्थः । मतद्वयमपि प्रमाण्याम् ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः । समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽध्यायः

तस्य पूरणो ङट् ॥४१॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । पूर्यतेऽनेनेति पूरणः । तस्येति तासमर्थसङ्ख्या-
वाचिनः पूरण इत्येतस्मिन्नर्थे ङट् भवति । एकादशानां पूरण एकादशः । द्वादशः । द्वादशी । द्वितीयमपि
सङ्ख्याग्रहणमनुवर्तते । तत्सङ्ख्याप्रधानं सत् त्वार्थविशेषणम् । सङ्ख्याया ङट् भवति सङ्ख्यापूरण
इति न सङ्ख्येयपूरणो ङट् भवति । एकादशानां पूरणो (एकादशः) पूरणो वा इति । ननु नात्र एका-
दशस्य प्रकृत्यर्थभूतस्योऽस्य पूरण इत्यर्थ उपलभ्यते । अतो वृत्तिर्न प्राप्नोति । नैष दोषः । समुदायस्य वाक-
यानां च कथञ्चिद् भेद इति । यथा वृत्तान्तभूताऽपि शास्त्रा वृत्तस्येति व्यवहियते । उक्तञ्च—

“बहुना वाचिका (वाचिका) सङ्ख्या पूरणं स्वैक इत्यते । अन्वयानुमयोवृत्तिर्वाक्षीं शास्त्रानिवर्तनम् ॥”
[पा० म० १।१।३८] ।

नोऽस्ते मट् ॥४१॥ न इति वर्णनिर्देशः । वर्णग्रहणं सर्वत्र तदन्तर्विधिं प्रत्येकयति ।
नकारान्तासङ्ख्यावाचिनो मृदो मङ्भवत्यसे तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये । ङटोऽपवादः । पञ्चानां पूरणः
पञ्चमः । सप्तमः । सप्तमी । अस इति किम् ? एकादशानां पूरण एकादशः ।

षट्कृतिकतिपयचतुरां धुक् ॥४१॥ मूलसूत्रे विहितो यो ङट् तस्येदानीन्वर्तमानस्यार्थवशादो-
बन्तात्षट् कति कतिपय चतुर इत्येतेषां ङटि परतस्थुगागमो भवति । इदमेव ङटि धुक्चनं शपकं भवति ।
कतिपयशब्दादपि ङट् । षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयथः । चतुर्थः । धुक्चनसामर्थ्याद्विषं न
भवति । पूर्वान्तकरणं पदकार्यनिवृत्त्यर्थम् । इह कतिपयानां स्त्रीणां पूरणी कतिपयथी । “तस्य इत्यत्रे” [पा०]
इति विषयनिर्देशात्प्रागेव धुक् पुंवद्भावः । “चतुरश्रकृत्वाचक्षरश्च (स्थ) खं श्वेति वक्तव्यम्” चतुर्णां
पूरणः, तुरीयः, तुर्यः ।

बहुपुगगणसङ्ख्यस्य तिथुक् ॥४१॥ ङडिति वर्तते । बहु पुग गण ह्य इत्येतेषां ङटि परतस्ति-
थुगागमो भवति । ङडि (टि) ति धुक्चनं शपकं भवति पुगसङ्ख्यायां ङट् । बहूनां पूरणः बहुतिथः । पुग-
तिथः । सङ्ख्यतिथः । गणतिथः । इह बहूनां पूरणी बहुतिथी । “तस्य इत्यत्रे” [पा०] पुंवद्भावे कृते
तिथुवेदितव्यः ।

वतोरिथुक् ॥४१॥ ङडिति वर्तते । वत्तन्तस्य ङटि परत इधुगागमो भवति । “वतोर्वेड्”
[१।१।२०] इत्यत्र वत्तन्तस्य संख्यासंज्ञा प्रतिपादिता । यावतां पूरणः यावतिथः । तावतिथः । एतावतिथः ।
इयतिथः । कियतिथः ।

द्वेस्तीयः ॥४१॥ तस्य पूरण इति वर्तते । द्विशब्दात्तीय इत्ययं त्यो भवति । ङटोऽपवादः । द्वयोः
पूरणः द्वितीयः ।

त्रेस्तु च ॥४१॥ तस्य पूरण इति वर्तते । त्रिशब्दात्तीयो भवति तृ इत्ययं चादेशः । त्रयमपि
त्रयोऽपवादः । त्रयाणां पूरणः तृतीयः ।

शतादिमासार्धमाससंवत्सरस्तमट् ॥४१॥ शतादिभ्यो मासार्धमास संवत्सर इत्येतैर्भ्यश्च
तमङ् भवति तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये । ङटोऽपवादः । शतस्य पूरणः शततमः । सहस्रतमः । लक्षतमः ।
“विंशत्यावेर्वा” [४।१।१०] इत्येषा विभाषा शतात् पूर्वा सङ्ख्यामवगाहते । मासार्धमाससंवत्सराणाम-
सङ्ख्याशब्दत्वात् ङटाऽप्राप्ते तमट् । मासस्य पूरणो मासतमो दिवसः । अर्धमासतमः । संवत्सरतमः ।
संवत्सरतमी तिथिः ।

तेरसङ्ख्यादेः ॥४॥१॥९॥ तस्य पूरण इति वर्तते । “एकस्यार्ध” [१॥४॥५८] सूत्रे तिरिति ल्यो निपातितः । तन्तात्सङ्ख्यावाचिनो मृदोऽसङ्ख्यापूर्वतमङ् भवति । “विंशत्यादेर्वा” [४॥१॥१०] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थोऽयमारम्भः । षष्ठेः पूरणः षष्ठितमः । सप्ततितमः । अशीतितमः । नवतितमः । असङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधः किमर्थः ? वाचता तिरिति ल्यः, त्यग्रहणे यस्मात्स सदादेर्ग्रहणमिति षष्ठ्यादीनामेव ग्रहणम्, तदन्तानां ग्रहणं नास्तीत्यसङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधोऽनर्थकः । इदमेव शापकं भवति । इह सङ्ख्यापूर्वपदानामपि ग्रहणम् । तेन एकषष्ठेः पूरणः एकषष्ठः एकषष्ठितमः इत्येवमादिषु “विंशत्यादेर्वा” [४॥१॥१०] इति वा तमङ् भवति । पूर्वसूत्रेऽपि शतादेरुच्यमानस्तमङ् तदन्तादपि भवति । एकशततमः । एकसहस्रतमः । शतसहस्रतमः ।

विंशत्यादेर्वा ॥४॥१॥१०॥ तस्य पूरण इति वर्तते । विंशत्यादिभ्यो वा तमङ् भवति । तमङ् मुक्ते ङट् भवति । विंशतेः पूरणः विंशतितमः, विंशः । एकविंशतितमः, एकविंशः । त्रिशत्तमः, त्रिशः । सङ्ख्या-पूर्वपदादपि भवतीति शापितम् । अथवा व्याप्तेर्न्यायात् । विंशत्यादयो लोकप्रसिद्धाः सङ्ख्याशब्दा गृह्यन्ते न “एकस्यार्ध” [१॥४॥५८] सूत्रे व्यवस्थिताः ।

ङटो ग्रहणे कः ॥४॥१॥११॥ ङडिति प्रत्याहारः । गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम् । ङङन्तान्मृदो ग्रहणोपाधि-विशिष्टात्स्वार्थे क इत्यर्थे ल्यो भवति । द्वितीयं ग्रहणं द्वितीयकम् । तृतीयकम् । व्याकरणस्य अन्य एवाऽभिधानम् । अन्यत्र द्वितीयं ग्रहणं धान्यस्थेति वाक्यमेव भवति । “ङटो वा ङङवक्तव्यः” [वा०] द्विकं द्वितीयकम् । तृकम् । तृतीयकम् व्याकरणस्य । तेन “गृह्णात्युप्तेति वक्तव्यम्” [वा०] । ङङन्ताद् भासमर्थाद् गृह्णाति इत्यस्मिन्नर्थे को भवति ङटश्च नित्यमुप् । द्वितीयेन रूपेण गृह्णाति । कः । तीयस्य च उप् । द्विको देवदत्तः । एवं त्रिकः । “सङ्ख्ययोगशिष्टानामन्यतराभाये ङङमयोरप्यभावः” इति तीये निवृत्ते प्रकृत्यादेशोऽपि निवर्तते । चतुर्थेन गृह्णाति चतुष्कः । ङटि निवृत्त शुगपि निवर्तते । “इषुहुङोऽयममुहुलः” [५॥४॥२८] इति रेफस्य सत्त्वम् । “इणः षः” (५॥४॥२७) इति षत्वम् । षष्ठेन गृह्णाति षट्कः । अन्य एवाभिधानम् । इह न भवति । द्वितीयेन गृह्णाति पुस्तकम् ।

स एषां ग्रामणीः ॥४॥१॥१२॥ ग्रामणीर्मुख्य इत्यर्थः । स इति वासमर्थान्मृद एषामिति चतुर्थे को भवति । यत्तद् वासमर्थं ग्रामणीश्चेत्स भवति । देवदत्तो ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः । जिनदत्तकाः । सङ्ख्येऽपीष्यते । देवदत्तो ग्रामणीरस्य सङ्ख्यस्य देवदत्तकः ।

स्वाङ्गेषु प्रसिते ॥४॥१॥१३॥ अत्रचं सूक्ष्मस्वाङ्गमित्यादिना परिभाषितमिह स्वाङ्गम् । निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । स्वाङ्गवाचिभ्य ईप्समर्थेभ्यः प्रसित इत्यस्मिन्नर्थे को भवति । प्रसितः प्रसङ्गः । केषु प्रसितः केशकः । “प्रसितोऽमुकाभ्यां भा च” [१॥४॥१२] इतीप् । एवं दन्तकः । नलकः । केशादिस्सङ्ख्ये केशादिशब्दा वर्तन्ते । बहुवचनिर्देशः किमर्थः ? स्वाङ्गसमुदावादपि यथा स्यात् । नलकेशकः । मुखदन्तकः ।

तदस्मिन्नन्नं प्राये लौ ॥४॥१॥१४॥ तदिति वासमर्थदस्मिन्नितीवर्थे को भवति । यत्तद् वासमर्थमन्नं चेत्प्रायविषयं तद् भवति । त्याग्यं चेत्संशयां वर्तते । नृपुटाः प्रायेणान्नमस्यां नृपुटिका पौर्णमासी । प्राय इति सूत्रे उपाधिलक्षणां वा विग्रहत्वलक्षणां वा ईप्सनिर्देशः । विग्रहे तु करणत्वविषयायां भा । अन्नविशेषणत्व-विषयायां वाऽपि भवति । नृपुटाः प्रायोऽन्नमस्यामिति । एवं गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां गुडापूपिका । तिला-पूपिका । कृतशरिका । “वदकेभ्य इन्वक्तव्यः” [वा०] वटकिनी । लाविति किम् ? अपूपाः प्रायेणान्न(म) यन्तिषु ।

कुलमाषादण् ॥४॥१॥१५॥ कुलमाषशब्दादण् भवति तदस्मिन्नन्नं प्रायेण लावित्यस्मिन्निषये । कस्यापवादः । कुलमाषाः प्रायेणान्नमस्यां कौलमाषी पौर्णमासी ।

कालप्रयोजमाद्वोगस्य ॥४१॥१६॥ तदिति वर्तते स्वाविति च । तदिति वासमर्थान्मृदः काल-
प्रयोजनोपाधिकाद् रोगस्येति ताड्ये को भवति संज्ञायां गम्यमानायाम् । सततं कालोऽस्य सततकः । द्वितीयं
कालोऽस्य द्वितीयको ज्वरः । तृतीयकः । चतुर्थकः । प्रयोजनाद्—विषपुष्पप्रयोजनमस्य विषपुष्पको ज्वरः ।
काशपुष्पकः । पर्वतकः । कालनिमित्ताद्वोगस्येति च वक्तव्ये प्रयोजनमहणस्यैतत्प्रयोजनम् । फलेऽपि
प्रयोजने यथा स्यात् । उष्णकार्यमस्य उष्णकः । शीतको ज्वरः ।

शृङ्खलकोदरिकसस्यकांशकतन्त्रकब्राह्मणकोष्णकोष्मकशीतकाऽधिकाऽनुकाऽभिकाऽ
भीकाऽनुपक्षिपार्श्वकायःशूलिकादाण्डाजिनिकोत्कभोत्रियसाकीन्द्रियक्षेत्रियाः ॥४१॥१७॥ शृङ्ख-
लक इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते । शृङ्खलशब्दाद् वासमर्थाद् बन्धनोपाधिकादस्येति ताड्ये को
निपात्यते कश्चे । शृङ्खलं बन्धनमस्य गोरिति वाक्यमप्येव भवति । उदरशब्दादीप्समर्थात् प्रक्षिप्त
इत्यस्मिन्नर्थे ऽण् निपात्यते आद्यूने गम्यमाने । आद्यून उदरे अविजिगीषुष्यते । उदरे प्रक्षिप्त औदरिकः ।
आद्यून इत्यर्थः । उक्तं च—

“मिताशिनं षट् सुपुशा कज्जन्ते (भजन्ते) आरोम्यमायुष्य धपुर्वकम्च ।

अभाक्षिष्ठश्चास्य भवत्यपत्यं न चैवमाद्य नमिति क्षिपन्ति ॥”

अन्यत्र उदरे प्रक्षिप्त उदरकः । स्वाङ्गेषु प्रक्षिप्त इति कः । सस्यशब्दाद् भासमर्थात्परिज्ञात इत्येत-
स्मिन्नर्थे कः । सस्येन परिज्ञातः सस्यकः शालिः । सस्यको देशः । सस्यको वत्सः । वैगुण्यरहित इत्यर्थः ।
सस्यमिव सस्यम्, तेन परिज्ञातः सस्यको मणिः । आका(क)रशुद्ध इत्यर्थः । “विग्रहे (अंश) शब्दश्चाप्सम-
र्थात् इतिस्मिन्नर्थे कः ।” अंशं हरति अंशको दायदः । “तन्त्रशब्दात्कासमर्थाद्विचिरापहत इत्यस्मिन्नर्थे
कः । तन्त्राद्विचिरापहतः तन्त्रकः पटः । “ब्राह्मणक ऽधिका इत्येती शब्दौ सुविषये कल्पान्तौ निपात्यन्ते ।”
ब्राह्मणको देशः । यत्रायुधजीविनी ब्राह्मणास्तस्य देशस्येवं संज्ञा । उष्णादरुपाज्ञे । उष्णिका अरुपाज्ञा यवा-
गूरुष्यते । “उष्णाशीतशब्दाभ्यां क्रियाविशेषणभ्यां वासमर्थाभ्यां करोतीत्यस्मिन्नर्थे कः ।” उष्णं करोतीति
उष्णकः । शीघ्रकारीत्यर्थः । शीते करोति शीतकः । जड इत्यर्थः । “अधिका(क)मत्यत्र अध्याकृदशब्दात्स्वार्थे के
शुद्धं च निपात्यते ।” “शिकषशीङ्स्थान” [२।४।५७] इत्यादिना यदाऽध्याकृदशब्दः वर्तते व्युत्पाद्यते
तदाऽधिको द्रोणः स्वार्यामित्युदाहरणम् । यदा कर्मणि व्युत्पाद्यते तदा अधिका खारी द्रोणेनेत्युदाहरणम् ।
“अनुक अभिका अभीक इत्येते शब्दाः कल्पान्ताः कृमिषा इत्यस्मिन्नर्थे निपात्यन्ते” । अनुकामयतेऽनुकः ।
अभिकामयतेऽभिकः । अभेर्वा दीत्वं निपात्यते । “अनुपक्षशब्दाद्वेष्टरि इन्निपात्यते ।” पदस्य पश्चादनुपदम् ।
(प) आदर्शे हसो भावप्रधानः । अनुपदमन्वेष्टा अनुपदी गवाम् । “पार्श्वशब्दाद् भासमर्थाद्विचिरापह-
स्मिन्नर्थे कः ।” अनुपक्षपायः पार्श्वं पार्श्वेनान्विच्छति पार्श्वकः । “अयःशूलवण्डाजिनशब्दाभ्यां भासम-
र्थाभ्यामन्विच्छतीत्यस्मिन्नर्थे ऽण् ।” तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलम्, अयःशूलेनान्विच्छति आयःशूलिकः ।
दण्डाजिनेनान्विच्छति दण्डाजिनिकः । दम्भप्रधान इत्यर्थः । “उत्क वन्मनांस को निपात्यते ।” उत्कः प्रवासी ।
उत्कण्टित इत्यर्थः । “छन्दःशब्दाद्विषमर्थाद्विधीते इत्येतस्मिन्नर्थे को निपात्यते प्रकृतेष्व औन्नभावः ।”
छन्दोऽधीते भोत्रियः । मनोशादपाठाच्छान्दस इत्यपि भवति । “साक्षात्शब्दाद् द्रष्टरि इम् सुविषये ।”
साक्षाद्द्रष्टा साक्षी । दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां योऽन्य उपद्रष्टा तस्येयं संज्ञा । “छन्दशब्दात्तासमर्थाद्विज्ञ इत्यस्मिन्नर्थे
षः ।” छन्दस्य लिङ्गम् इन्द्रियम् । छन्द आत्मा । अथवा छन्दं कर्म । छन्देण जुष्टं सुष्टं दष्टं दत्तं वा इन्द्रि-
यम् । तान्ताद् षः । “परक्षेत्रशब्दादीप्समर्थाद्विचिरापह इत्यस्मिन्नर्थे ण्यः परशब्दस्य च कम् ।” परक्षेत्रे
विक्रित्यः क्षेत्रियो व्याधिः । परक्षेत्रं जन्मान्तरशरीरमुच्यते ।

आद्यं भुक्तं दोऽनेन ॥४१॥१८॥ तदिति वर्तते । आद्यशब्दाद् वासमर्थाद् भुक्तोपाधिकादनेनेति

कर्तरि ठो भवति । आढं कर्मनामधेयम् । अद्वा प्रयोजनमस्य आढम् । “अयम्करणे अग्निपदार्थिभ्य उपसङ्ख्या-
मम्” [वा०] इत्यण् । “प्रज्ञाशब्दाऽर्था” [४।१।२८] आदिना मत्वर्थायो वाण् । आढं भुक्तमनेन
आदिको देवदत्तः ।

इन् ॥४।१।२९॥ आढं भुक्तमनेनेति वर्तते । इन् भवति आढशब्दात् । आढं भुक्तमनेनेति आढी
देवदत्तः । योगविभाग उत्तरार्थः । “ठेनोः समानकाष्ठग्रहणं वक्रव्यम्” । यस्मिन्नहनि आढमनेन भुक्तं
तस्मिन्नेव आदिकः आढी वा ऽमिधीयते । अद्य भुक्ते आढे श्वः आदिकः आढीति च न भवति ।

पूर्वात् ॥४।१।२०॥ तदिति वर्तते अनेनेति च । पूर्वशब्दाद् वासमर्थात् अनेनेति कर्तरि इन् भवति ।
कर्ता क्रियामन्तरेण न भवतीति पाकादिक्रिया व्याहृतव्या । पूर्वशब्दः क्रियाविशेषणमिह गृह्यते । पूर्वमनेन
भुक्तं पीतं गतं वा पूर्वं । प्रतीयमानस्य कर्मणोऽनुप्रयोगः । ओदनं सुरां दामं वा ।

सपूर्वात् ॥४।१।२१॥ सपूर्वाच्च मृदः पूर्वशब्दान्ताद् वासमर्थादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । पूर्व-
सूत्रे यत् क्रियापदमभ्याहृतं तत्पूर्वात् पूर्वशब्दादिह त्यः । पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वी कटम् । भुक्तपूर्वी
ओदनम् । पीतपूर्वी सुराम् । त्योत्पत्तेः प्राक् मयूरध्वंसकादित्वात् [१।३।९६] सविधिः । ‘भूतपूर्व-
वरट्’ [१।४।१४२] इति शापकात्पूर्वशब्दस्य परनिपातः । क्लान्तं भावे व्युत्पादनीयम् । अद्यापि कर्मणि
व्युत्पाद्यते । इत्युत्पन्ने क्रियाकर्म सम्बन्धं त्यक्त्वा कर्ता सह वर्तते । इति कर्मण्यनुक्ते इवेव भवति । कर्मसम्ब-
न्धमावादेव टपी निवृत्तिः । ननु “पूर्वात्” [४।१।२०] इत्युक्तं तत्र तदन्तविधिना संपूर्वाद् भविष्यति,
व्यपदेशिवद्भावेन केवलाच्च भविष्यति, किमर्थं योगान्तरम् ? एवं तर्हीदमेव योगद्वयं शापकम् । अस्तीदं
परिभाषाद्वयम्, मृदग्रहणे न तदन्तविधिः, व्यपदेशिवद्भावो न मृदेति ।

इष्टादेः ॥४।१।२२॥ तदिति अनेनेति च वर्तते । इष्ट इत्येवमादिभ्यो मृदभ्यो वासमर्थेभ्योऽनेने-
त्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । इष्टमनेन इष्टी यष्टे । कस्येनैवविषयस्य कर्मणोऽन्वक्तव्येति ईप् । इष्ट । पूर्त । उप-
पादित । निगदित । परिविदित । निकथित । निपतित । सङ्कलित । परिकलित । संरक्षित । परिरक्षित ।
गणित । अवकीर्णः । आयुक्त । निगृहीत । आमृत । भुत । आसेवित । अवधारित । अवकम्पित । निराकृत ।
उपाकृत । अनुयुक्त । अनुगणित । अनुपठित । व्याकुलित ।

तत्स्यास्त्यस्मिन्निति मतुः ॥४।१।२३॥ तदिति वासमर्थादस्य अस्मिन्नित्येतयोरर्थयोर्मतु-
र्भवति । यत्तद् वासमर्थमस्त्युपाधिकं चेत्तद् भवति । इति करणसूत(स्तत)श्चेद्विबद्धा । प्रायो
भूमादिषु विबद्धा ।

“भूमनिम्बाप्रशंसासु नित्ययोगोऽतिशायने । संसर्गोऽस्तिविवक्षार्या मत्वात्रिविचिरिष्यते ॥”

भूमि-गावोऽस्य सन्ति गोमान् । निम्बायाम्-शङ्खादकोऽस्याऽस्ति शङ्खादकी । ककुदावर्ती । प्रशं-
सायाम्-रूपमस्यास्ति रूपवान् । नित्ययोगे-क्षीरमेषां सन्ति क्षीरिणो वृद्धाः । अतिशायने-उदरिणी कन्या ।
संसर्गो-दण्डी । भूमाद्यभावेऽपि विबद्धा । व्याघ्रवान् पर्वतः । स्पर्शवान् वायुः । हस्तिमती शाला ।

“मत्वर्थाच्चैविकाश्चापि मत्वर्थेः शैबिकस्तथा । सरूपस्त्यविधिर्नेष्टः सप्तम्याश्च सनिष्यते ॥”

“गुणवचनेभ्यो मत्वर्थीयस्येववक्रव्यः” [वा०] । शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः । कृष्णः ।
“हस्तादिभ्यो मतुर्वक्रव्यः” [वा०] । रसवान् । रस । रूप । वर्णः । गन्धः । स्पर्शः । शब्दः । स्नेहः । एते
गुणशब्दाः । ‘एकावः’ खवान् । स्ववान् । अन्यनिवृत्त्यर्थमिदं वक्रव्यम् । कथं रूपिणी कन्या । रूपिको दारकः ।
रसिको नटः । इति ? इतिकरणाद् भवति, अगुणार्थत्वाद् वा । अस्यास्मिन्निति द्वयोर्वपादानं किम् ? नानयो-

नियतः समावेशः । देशान्तरे राशौ हस्तिनः । न वैते राशि भवन्ति । कूपे गर्गाः । न च तै तस्य भवन्ति । अस्तिग्रहणं वर्तमानकालसत्ताप्रतिपत्त्यर्थम् । इह मा भूत् । गावोऽस्याऽसन् । गावोऽस्य भवितारः इति । कथं गोमानासीत्, गोमान् भविता इति । “ध्रुवो गो रथाः” [१४१] इत्यत्रोपपत्तिर्वक्तव्या ।

प्राण्यङ्गवाचो वा लः ॥४१॥२४॥ प्राण्यङ्गवाचिन आकारान्ताद्वा ल इत्ययं लो भवति मत्वर्थे । चूडालः । चूडावान् । घाटलः । घाटावान् । कथं तर्हि कर्णिकालः । कर्णिकान् । प्राणिनि अङ्गं प्राण्यङ्गमिति विग्रहाल्लभ्यते । अथवा कर्णिका प्राण्यङ्गमप्यस्ति नामरणाविशेष एव । प्राणिग्रहणं (किम्) ? शिखावान् प्रदीपः । अङ्गग्रहणं किम् ? चर्मन्मा भूत् । चिकीर्षावान् । आत इति किम् ? इत्यवान् ।

सिध्मादेः ॥४१॥२५॥ सिध्म इत्येवमादिभ्यश्च वा लो भवति मत्वर्थे । वाग्रहणमिह मतोः समुच्चयार्थम् । न विकल्पार्थम् । उत्तरत्र वाग्रहणात् । तेन वेऽत्राकारान्तास्तोभ्यष्टेनौ न भवतः । सिध्मान्मस्य सन्ति सिध्मलम् । सिध्म । वर्म । गड्ढ । तुष्टिड । मणि । नामि । बीज । निष्पाव । सुयात । दत्त । सक्तु । पशु । पाशु । मांस । पार्थिवमन्योर्दीप्तं च । “वा तदन्तवाक्कडकादानामूलं च” [वा०] “जटा-वटाकखेभ्यः क्षेपे” । [वा०] पर्य । उदक । प्रश । “ध्रुवजन्तुपतापार्थ्यं चेप्यते” [वा०] यूकलः । मल्लिकालः । उपतापात्-विचावेकालः । विपादिकालः । मूर्च्छालः ।

फेनादिलक्ष ॥४१॥२६॥ फेनशब्दादिलो भवति लक्ष मत्वर्थे । वाग्रहणं मनुसमुच्चयार्थमनुवर्तते । फेनिलम् । फेनलम् । फेनवदुदकम् । “पिच्छादेरवेति वक्तव्यम्” [वा०] पिच्छलः । पिच्छलः । पिच्छवान् । पिच्छ । उरत् । ध्रुवक । ध्रुवक । “जटा वटा काका त्रिभ्यः क्षेपे” [वा०] पर्य । उदक । प्रश ।

लोमपामादिभ्यां शनौ ॥४१॥२७॥ लोमादिभ्यः पामादिभ्यश्च यथासंख्यं श न इत्येतौ लो भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । लोमान्यस्य सन्ति लोमशः । लोमवान् । लोमन् । रोमन् । बभ्रु । बल्लु (बल्लु) । हरि । कपि । मुनि । तरु । पामादिभ्यः । पामनः । पामवान् । पामन् । रोमन् । हेमन् । श्लेष्मन् । बलि । सामन् । अङ्गः कल्याणे । अङ्गानि कल्याणान्यस्याः सन्ति अङ्गना । अङ्गवती अन्यत्र । लक्ष्म्या लक्ष । लक्ष्मणः । दद्रुशकी पलाली प्रश्न । दद्रुणः । शाकिनः । पलालिनः । “विश्वगिति पुत्रं चाकृतसन्धेः” । विश्वञ्चोऽस्य सन्ति विपुणः । विपुशब्दो निसंज्ञः ।

प्रक्षप्रक्षऽर्चावृत्तिभ्यो णः ॥४१॥२८॥ प्रक्ष अदा अर्चा वृत्ति इत्येतैर्म्यो णो भवति मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । प्रक्षऽस्यास्तीति प्रक्षः । प्रक्षवान् । आद्धः । अद्धावान् । आर्चः । आर्चावान् । आर्चः । वृत्तिमान् ।

तपःसहस्राभ्यां विनिनौ ॥४१॥२९॥ तपस् सहस्र इत्येताभ्यां यथासंख्यं विन् इन् इत्येतौ लो भवतो मत्वर्थे । तपस्वी । सहस्री । वेत्यनुवृत्तेर्मद्वयपि । तपस्वान्, सहस्रवान् । तपसोऽसन्तत्वादेव विनि सिद्धे वक्ष्यमाणेनाया बाधा माभूदिति पुनर्वचनम् ।

अण् ॥४१॥३०॥ अण् च भवति तपःसहस्राभ्यां मत्वर्थे । तापसः । साहस्रः । “अण् अण्ये अणोऽस्मादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । ज्योत्स्ना असिजस्ति ज्योत्स्नः पक्षः । तमिस्रा । तामिस्रः । कुण्डल । कौण्डलः । कुण्डलार्ह इत्यर्थः । कुतप । कौतुपः । विसर्प्य । वैसर्प्यः । विपादिका । वैपादिकः ।

१. अथका । ध्रुवका अ० । ध्रुवका ध्रुवका पू० । ध्रुवका । ध्रुवका इति काशिकस्याम् ।

२. तरु अ०, पू० ।

३२

सिक्ताशर्कराभ्याम् ॥४१॥३१॥ सिक्ता शर्करा इत्येतभ्यामण् भवति मत्वर्थे । सैकतः । शर्करः । अदेशार्थ आरम्भः ।

उसिलो च देशे ॥४१॥३२॥ सिक्ताशर्कराभ्यामुस् इल् इत्येतौ त्यौ भवतः, चकारादण् मत्वर्थे देशोऽभिधेये । तदस्यास्त्यस्मिन्निति वर्तते । कस्योस् ? मसोः । तेन चल्लरा शब्दः । सिक्ता देशः । सिक्तिलः । सैकतः । सिक्तावान् । शर्करा देशः । शर्करिलः । शर्करः । शर्करावान् । देश इति किम् ? सैकतो घटः । शर्करो घटः ।

मधुशुचिमुष्काद्रः ॥४१॥३३॥ मधु ऊष शुचि मुष्क इत्येतैभ्यो रो भवति मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मद्वरपि भवति । इह मधुशब्दो रसवाची सूक्ष्मते न द्रव्यवाची । मधु अस्मिन्नस्ति मधुरो गुडः । रसवाचिनि मधुशब्दे कथं मधुरो रसः ? इति चेत्, उपचारात् । रसवाचिनो मधुशब्दान्मतोरभिधानं नास्ति । ऊषरं ज्ञेयम् । शुचिरो वंशः । मुष्करः पशुः । “रप्रकरणे समुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] खं महत्कण्ठविवरमस्यास्ति खरः । मुखमस्यास्ति मुखरः । कुञ्जोऽस्यास्ति कुञ्जरः । “शविधिर्नगर्पाण्यभ्याम्” [वा०] । (नगरः । पांशुरः) ।

द्युभ्यां मः ॥४१॥३४॥ द्युशब्दाभ्यां भो भवति मत्वर्थे । द्यौरस्यास्तीति द्युमः । “दिव ऊर्” [वा१॥१०८] इति उत् । द्युशब्दो वा प्रकृत्यन्तरम् । द्रूयस्व सन्ति ह्रमः । रुदिशब्दावेतौ । यदा रुदिर्नास्ति तदा मद्वरेव भवति । द्युमान् । ह्रमान् ।

केशावो वा ॥४१॥३५॥ केशशब्दाद् व इत्ययं त्यो भवति वा मत्वर्थे । प्रकृतं कप्रहर्षं मतुक्प्रुचयार्थम् । इदं तु सर्वविकल्पार्थम् । तेन टेनावपि भवतः । केशवः । केशवान् । केशिकः । केशी । “मक्षिप्रभृतिभ्य इति वक्तव्यम्” [वा०] । मणिवः । हिरण्यवः । कुररावम् । इष्टकावम् । गजीवम् । “अर्णवः खं च” [वा०] । अर्णवः ।

गाण्ड्यजगारखौ ॥४१॥३६॥ गाण्डी अजग इत्येतभ्यां वो भवति मत्वर्थेऽनुविषये । गाण्डीवं धनुः । अजगवं धनुः । प्रादपि भवति । गाण्डिवं धनुः । मत्वन्तेन संज्ञा न गम्यते इति मत्वर्थं भवति । लाविति किम् ? गाण्डीमान् एण्डः ।

काण्डाण्डादोरः ॥४१॥३७॥ काण्ड-अण्डशब्दाभ्यामोर इत्ययं त्यो भवति मत्वर्थे । टेनोरपवादः । काण्डीरः । अण्डीरः । वेति मतुक्प्रुचयार्थं वर्तते । काण्डवान् । अण्डवान् ।

रजःकुप्यासुतिपरिषदो वलः ॥४१॥३८॥ रजः कृषि आसुति परिषद् इत्येतैभ्यो वलो भवति मत्वर्थे । रजसो विनि प्राप्ते इतरेभ्यो मतौ वचनम् । रजस्वला नारी । कुषीवलः कुटुम्बी । आसुतीवलः कल्पपालः । “वले” [४१॥३९१] इति दीत्वम् । परिषद्वलो वृषः । इतिशब्दः प्रयोगानियमार्थमनुवर्तते । परिषदः सामान्येन । इतरेभ्यः संज्ञायां प्रयोगः । तेनेह वलो न भवति । रजोऽस्मिन् ग्रामोऽस्ति, आसुतिरस्मिन् भारुडेऽस्ति । “वलप्रकारयोऽन्वेभ्योऽपि इत्यते इति वक्तव्यम्” [वा०] । पुत्रवलः । भ्रातृवलः । उत्सङ्गवलः । “वले” [४१॥३९३] इत्यत्र लावित्यनुवर्तनादखौ दीत्वं न भवति ।

दन्तशिक्षारखौ ॥४१॥३९॥ दन्त-शिक्षाशब्दाद् वलो भवति मत्वर्थे अनुविषये । एण्वल्तो नाम कश्चित् । शिक्षावलं नाम नगरम् । यत्र तदन्तेन संज्ञा गम्यते तत्र मत्वर्थे भवति । शिक्षावाप्तमनुविषः । ननु देशः लाङ्गिकुप्यमाने “शिक्षायाः वलः” [४१॥३९८] इत्यनेन कातुरर्थिकेन छिदे किमर्थमिदं वक्तव्यम् ? अदेशार्थमिदं वक्तव्यम् । तदपि निर्वृत्ताद्यर्थे वक्तव्यम् ।

ज्योत्स्नातमिसाशृङ्गिणोर्जस्विर्जस्वलावस्वलांशलादन्तुरहस्तिन्गोमिन्स्वामिन्परिभ्र
महिममलीमसाः ॥४१॥४०॥ ज्योत्स्नादयः शब्दा निपात्यन्ते मत्वर्थे । “ज्योतिष उरुः खं मइव
सुविषये निपात्यते ।” ज्योत्स्नेति चन्द्रप्रकाशस्याख्या । अन्यत्र ज्योतिष्मती रात्रिः । “तमसः खं च
कङ्कइव इत्थं निपात्यते ।” तमिस्रा रात्रिः । स्त्रीत्वमतन्त्रम् । तेन तमिस्तं नभः । मतुरपि भवति ।
तमस्वती रात्रिः । “शृङ्गादिनो निपात्यते ।” शृङ्गिणः । शृङ्गवान् । “उर्जस्विन् उर्जस्वल् इत्येतौ
निपात्येते ।” उर्जस्वी, उर्जस्वलाः, उर्जस्वान् । “वर्साशब्दाभ्यां यथासङ्गव कामवति वङ्गवति च को
निपात्यते ।” वस्त्रलः साधुः । स्नेहवान् इत्यर्थः । अंशलः पुरुषः । बलवानित्यर्थः । रुटिशब्दावेतौ । रुटिश्च
मत्वन्तेन न गम्यते इति रुटेरन्यत्र मत्वुवैदितव्यः । “वन्तशब्दाङ्गुलतोपाधिकादुरः ।” दन्ता उन्नता अस्य
सन्ति दन्तुरः । उन्नतविशेषणादन्यत्र दन्तवान् । “हस्तशब्दाङ्गुलावभिधेयायामिन्” । हस्ती । अन्यत्र
हस्तवान् पुरुषः । “गोशब्दाङ्गिन्” । गावोऽस्य सन्ति गोमो । गोमानिति भवति । “स्वशब्दाङ्गिन् इत्थं च
निपात्यते ऐङ्गवर्गे गम्ये” । स्वमस्यास्ति स्वामी । अन्यत्र स्ववान् । “वर्णादिन् ब्रह्मचारिणि” । वर्णः । ब्रह्म-
चारित्यर्थः । “मल्लशब्दादिन् ईमस इत्येतौ निपात्येते” । मालिनः । मलीमसः ।

ढेनावतः ॥४१॥४१॥ अकारान्तान्मृदव इन् इत्येतौ तौ भवतो मत्वर्थे । दण्डकः । दण्डी ।
कुत्रिकः । कुत्री । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । दण्डवान् । अत इति किन् ? अट्वावान् । अत्रेष्टिः ।

“एकाक्षरात् कृतो जातेरीबर्थे” च न तौ स्मृतौ [पा. अ. १।१।११५] । एकाक्षरात्—स्वान् ।
स्वान् । कृदन्तात् । कारकवान् । हारकवान् । जातेः । व्याघ्रवान् । सिंहवान् । ईबर्थे । दण्डा अस्या
सन्ति दण्डवती शाला । नेदं वक्तव्यम् । अनभिधानादेवात्र ढेनौ न भवतः । यत्राभिधानं तत्र भवत एव ।
कार्ये । हार्ये । तन्दुलिकः । तन्दुली । ईबर्थे । खलिनी भूमिः । सा(शा)दलिनी भूमिः ।

ब्रीह्यादेः ॥४१॥४२॥ ब्रीहि इत्येवमादिभ्यष्टेनौ भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । ब्रीह्योऽस्य
सन्ति ब्रीहिकः, ब्रीही, ब्रीहिमान् । मायिकः, मायी, मायावान् । इतिशब्दः प्रयोगनियमार्थोऽनुवर्तते । न
ब्रीह्यादिषु ये शिक्षादयः पठ्यन्ते तेभ्य इन् भवति । यवखडादिभ्यष्टो भवति । परिशिष्टेभ्य उभयं भवति ।
सर्वत्र आदिशब्दः प्रकारवाची । शिक्षाऽस्यास्ति शिक्षी । शिक्षावान् । शिक्षा । माला । मेखला । शाला ।
बीखा । संज्ञा । बडवा । अष्टका । कलाका । पताका । कर्मन् । घर्मन् । चर्मन् । यव । खड्ग । नौ । कुमारी ।
एतेभ्य इन्नेष्यते । परिशिष्टेभ्यो द्वावपि भवतः । “शीर्षाक्षरः” [पा०] अशीर्विकः । अशीर्वी । अशीर्व-
वान् । शीर्षशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति ।

तुन्द(देविलः ॥४१॥४३॥ तुन् इत्येवमादिभ्य हलो भवति ढेनौ च मत्वर्थे । उत्पत्तित्वग्रह-
णादिह ढेनोः समावेशो लभ्यते । मतोस्तु वेत्यनुवृत्तेरेव समुच्चयः । तुन्दमस्यास्ति तुन्दिलः । तुन्दिकः । तुन्दी ।
तुन्दवान् । तुन्द् । उदर । पिचरड । चय । ब्रीहिग्रहणं सरूपार्थम्, अर्थनिर्देशार्थं च । ब्रीहिलः, ब्रीहिकः,
ब्रीहिमान् । शालिलः, शालिकः, शालिमान् । श्वाङ्गविष्टौ । कर्णौ विष्टावस्य कर्णिलः, कर्णिकः,
कर्णी, कर्णवान् । पिच्छादयोऽपि पठनीयाः । तेभ्यष्टेनोरभिधानं नास्ति । पिच्छा । ठरस् । भुषका । चय-
वादा काला विभ्यः क्षेपे । पर्ये । उदक । प्रज्ञा ।

एकगोपूर्वाट्ठञ्जित्यम् ॥४१॥४४॥ एकपूर्वाद् गोपूर्वाच्च नित्यं ठञ् भवति मत्वर्थे । एक-
पूर्वात्समानाधिकरणाद्भसादेव विधिः । एकइलमस्यास्ति ऐकहलिकः । “इवर्थे” [१।१।४६] इति रसे कृते
सञ् । मनु लघुत्वात् परत्वाच्च षसे कृते षसेनोक्तत्वान्मत्वर्थो न प्राप्नोति यथा चित्रगुरिति । सत्यम् ।

इह तु वचनाद् भवति । एकस्य हलम्, एकहलम्, इत्यत्रानभिधानात्पेक्ष्यते । एवम् ऐकशक्तिकः । ऐकसह-
स्रिकः । गवां शतं गोशतं तदस्यास्ति गौशक्तिकः । गौसहस्रिकः । यदि अत इति वर्धते इह न भवति ।
एकविंशतिरस्यास्ति, गोविंशतिरस्यास्ति । इदं तु न सिद्ध्यति । ऐकगविक इति सन्ते कृते भविष्यति ।
कथमेका शकटिरस्यास्ति, ऐकशकटिकः । गौशकटिक इति ? अव्यविकन्यायेन शकटान्ता इत्यन्ति
(न्तादुत्पत्तिः) । नित्यग्रहणं टेनोर्मतोश्च वाचनार्थम् । कथमेकद्रव्यत्वादिति ? चिन्त्यमेतत् ।

निष्काचकृतसहस्रान्तात् ॥४१॥४५॥ निष्कात्पर्यौ यौ शत-सहस्रशब्दौ तदन्तान्मूदो नित्यं ङञ्
भवति मत्वर्थे । निष्काणां शतम्, निष्काशतम्, तदस्यास्ति नैष्कशक्तिकः । नैष्कसहस्रिकः । सुवर्णनिष्काशत-
मस्यास्तीत्येवमादिष्वनभिधानात् भविष्यति ।

रूप्यहिम्यगुण्याः ॥४१॥४६॥ रूप्य हिम्य गुण्य इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते मत्वर्थे । रूपशब्दादाहत-
विशिष्टान्च यत्नो निपात्यते । आहतं रूपमस्यास्ति रूप्यः कार्वाणः । प्रशस्तं रूपमस्यास्ति रूप्यो गौः । रूप्या
कन्या । आहतप्रशंसाम्भामन्यत्र रूपवान् । हिममस्यास्तीति हिम्यः पर्वतः । गुणा अस्य सन्ति गुण्यस्तपस्वी ।
नित्यग्रहणं ङञा सह निवृत्तम् । वेद्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । रूपवान् । हिमवान् । गुणवान् ।

विन्नस्मायामेधास्त्रजः ॥४१॥४७॥ असन्तान्मूदो माया मेधा स्त्रज् इत्येतेभ्यश्च विन् भवति ।
मत्वर्थे । वेद्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । ओजस्वी । तैजस्वी । मायावी । मेधावी । लघ्वी । तैजस्वान् । मेधावान् ।
स्त्रवान् । मायाशब्दस्य व्रीह्यादिपाठान्मूदो भवन्ति ।

वाचो गिमन् ॥४१॥४८॥ वाक्शब्दाद्गिमन् भवति मत्वर्थे । वाग्मी । “श्वादावधे” [११॥१०६]
इति पदत्वात् पूर्वस्य कुत्वजस्त्वे । वाग्वान् । “कथः” [५१॥११] इति मतोर्वत्वम् ।

बहुलापिन्यालादौ ॥४१॥४९॥ वाच आल आट इत्येतौ ल्यौ भवतो मत्वर्थे बहुलापिन्यमिधेये ।
वाचालः । वाचाटः । “कुत्सायामर्थं योगो वक्तव्यः ।” यो हि समीचीनं बहु संलपति वाग्मीति भवति ।

अर्शश्चादेरः ॥४१॥५०॥ अर्शस् इत्येवमादिभ्यः, अ इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । आदिशब्दः
प्रकारवाची । अर्शालस्य सन्ति, अर्शसः । अर्शस् । उरस् । तुन्द । मुण्ड । चतुर । पलित । कटा । घाटा ।
आम्यां सिध्मादित्वात् लमत् अपि भवतः । तुन्दादित्वादिलोऽपि भवति । अन्न । अम्ल । लवण । स्वाङ्गा-
दूर्ध्वाभात् । खड्गः पादोऽस्याऽस्तीति खड्गः । कायं चतुरस्य कायः । कथं कुशिकः पुरुषः कुशिकः ।
तथोगात्तयोक्तः । यथा पङ्कः । घर्णात् । शुक्लं इतिम् । ननु शुक्लादीनां भेदोपचारदेव भविष्यति । एवं
तर्हि द्रव्यवाचिभ्यो भविष्यति । शुक्लगुणयुक्ताः प्रसादा शुक्लाः असिन् सन्ति शुक्लं नगरम् । “ज्योत्स्ना-
वमिस्राभ्यां शिक् भवति पक्षे” [वा०] ज्योत्स्नः पक्षः । तामिस्रः पक्षः । नेदं वक्तव्यम् । “अक्षप्रकरणे
ज्योत्स्नादिभ्य ङपसंख्यामिति” सिद्धम् । एवं च ज्योत्स्नी रात्रिः, तामिस्री रात्रिरिति ऋषिधेरपि लामः ।

इन्दोपतापगर्हात्प्राणिनीन् ॥४१॥५१॥ उपतापो व्याधिः, गर्हं कुत्स्यम् । अत इति वर्तते ।
इन्द्रशब्दादुपतापवाचिनो गर्हवाचिनश्च मूदः प्राणिनि वर्तमानादिन् भवति मत्वर्थे । शङ्खनूपुरिणी । कटक-
केयूरिणी । “अप्राण्यङ्गादिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । पाणिपादकती । उपतापात् । कुडी ।
किलासी । गर्हात् । ककुदावर्ती । काकतालकी । प्राणिनीति किम् ? पुष्पफलवान् पृष्टः । अत इत्येव ।
कटुकण्टिकावती । उमत्वोर्वचनार्थं (वाचनार्थं) सूत्रम् ।

वातातीसारभ्यां कुक् ॥४१॥५२॥ वात अतीसारशब्दाभ्यां मत्वर्थे इन् भवति, तत्सन्निभोगेन
कुगागमः । उपतापत्वात्पूर्वेणेति सिद्धे कुगर्थ आरम्भः । वातकी । अतीसारकी । “पिङ्गवाग्धेति वक्तव्यम्”
[वा०] पिशाचकी ।

हटो वयसि ॥४१॥५३॥ इन्निति वर्तते । इदन्तान्मृद इन्नेव भवति कथसि गम्यमाने । पञ्चमोऽस्यास्ति संवत्सरो माघे वा पञ्चमी उष्ट्रः । एवं नवमी । दशमी ।

सुखावेः ॥४१॥५४॥ सुख इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे । सुखमस्यास्ति सुखी । सुख । दुःख । तुष । कुञ्ज । अन्न । आल । अलीक । कण्ठ । कुपण । खोट । सोफ । प्रतीप । शील । हल । फल । माला द्वेपे । माली । अन्यत्र मालावान् माली च । व्रीहसिद्धिषु शिखादिमालाशब्दाः पठ्यन्ते, द्वेपे मृदुवाचनार्थस्तस्येह पाठः ।

धर्मशीलधर्मान्तात् ॥४१॥५५॥ धर्मान्तात् शीलान्तात् वर्णान्त्वान्च मृद इन्नेव भवति मत्वर्थे । तपस्विनां धर्मः तपस्विधर्मः, सोऽस्यास्तीति तपस्विधर्मी । तपस्विशीली । त्रिविवर्णा ।

पुष्करादेर्देशे ॥४१॥५६॥ पुष्कर इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे देशेऽभिधेये । पुष्पकरिणी । पथिनी । देश इति किम् ? पुष्करवान् हस्ती । पुष्कर । पद्म । उत्पल । कुमुद । तमाल । नड । कपित्थ । कर्दम । विस । मृणाल । सत्वक । विगर्ह । करीष । शिरीष । यवास । हिरण्य । अत्रेष्टयः—“इन्द्रप्रकरयो वक्राद् बाहुवपूर्वावुपसंख्यानम्” [वा०] । बाहुवली । ऊरुवली । “सर्वविधेति वक्तव्यम्” [वा०] । सर्ववनी । सर्ववाजी । सर्वकेशी । “अर्थावृत्तसिद्धिते वर्तमानादिन् वक्तव्यः” [वा०] । असन्निहितस्यास्तित्वेन विरोध इति चेद्, एवं तर्हि तद्विषयाऽमिलाषस्याविरोधः । अर्थः । अर्थोमिलाषवामित्यर्थः । असन्निहित इति किम् ? अर्थवान् । “सदन्ताद्वेति वक्तव्यम्” [वा०] । धान्यार्थी । हिरण्यार्थी । “अङ्गवृत्ताभ्यामारको वक्तव्यः” [वा०] शृङ्गे अस्य स्तः शृङ्गारकः । हृन्दारकः । “कलमर्ह्याभ्यामनः” [वा०] कलिनो वृद्धः । नर्हिणो मयूरः । “हृदयान्वाङ्मूर्त्तौ वक्तव्यः” [वा०] । हृदयालुः । हृदयिकः । हृदयी । हृदयवान् । “शीतोष्णतृप्तेभ्यस्तत्र सहव इत्याहुर्वक्तव्यः” [वा०] । शीतं न सहते शीतालुः । उष्णालुः । तृतालुः । “हिमाचैलुः” [वा०] । हिमं न सहते हिमेलुः । “वल्गवूलुः” [वा०] । बलं न सहते बलूलः । “वातात्मयूहे सन्न सहसे इति च” [वा०] । वातसमूहो वातूलः । वातं न सहते वातूलः । “धः पर्वमरुद्भ्यां मत्वर्थे” [वा०] । पर्वण्यस्य सन्ति पर्वतः । मरुतः ।

बल्लावेमसुर्वा ॥४१॥५७॥ बल इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति । वाचनेन पदे इन् प्रकृतः समुष्कीयते । ठोऽत्र न भवति । बलमस्यास्ति बलवान् । बली । इदमेव मतुवचनं शापकम्, इन्विषये मतुर्न भवतीति । बलः । उत्साह । उद्दाह । उद्माह । पुल । दुष । पुल । दल । कुल । आयाभ । व्यायाम । मयाम । उपयाम । आरोह । अवरोह । परिणाह । शिखादेराकृतिगणलासिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम् ।

मन्साभ्यां हौ ॥४१॥५८॥ मज्जन्तान्मशब्दान्तान्च मृद इन् भवति मत्वर्थे लुक्विषये । चर्मिणी । चर्मिणी । चर्मवतीति निपातनं वक्ष्यति । तत एव मतुः । मान्तात् । मामिनी । कामिनी ।

तुण्डवटिबलेर्भः ॥४१॥५९॥ तुण्ड वटि बलि इत्येतेभ्यो भ इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । विवृद्धा नाभिलुण्डः, सोऽस्यास्ति तुण्डभः । तुन्दादिषु स्वाङ्गविवृद्धाविति इलमतुठेनः प्राप्ताः । वटिभः । मतुः प्रातः । बलिभः । अस्मात्पामादिषु पाठात् नमत् च भवतः । बलिनः । बलिमान् ।

कंशम्भ्याम् ॥४१॥६०॥ कंशशब्दौ मकारान्तौ कलतुल्ययोर्वाचकौ । कं शं शुब्दाभ्यां भृत्यो भवति मत्वर्थे । कम्भः । शम्भः ।

वयस्तिवृत्ताः ॥४१॥६१॥ कंशम्भ्यां व यष् ति वृ ता इत्येते ल्या भवन्ति मत्वर्थे । कम्भः, शम्भः, कंयः, शंयः । सकारः “सिक्कि” [११॥१०५] इति पदसंज्ञाऽर्थः । पदस्येत्यधिकृत्य यकारस्यानुस्वारपरस्वत्वे सिद्धे

मर्त्यकर्म हि कर्म्यः शर्म्यः इत्यनिष्टं प्रसज्येत । कन्तिः, शन्तिः, कन्तुः, शन्तुः, कन्तः, शन्तः । सर्वत्र पूर्वस्य पदत्वात् “मोऽनुस्वारः” [१।४।७] इत्यनुस्वारः । तस्य “वा पदान्तस्य” [१।४।१३] इति परस्त्वम् ।

ऊर्णाऽहंशुभंभ्यश्च युस् ॥४।१।६२॥ ऊर्णा, अहम्, शुभम्, इत्येतेभ्यः कंशभ्यां च युस् इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । सकारः “सिति” [१।२।१०६] इति पदसंज्ञार्थः । ऊर्णायुः । अहमित्यहङ्कारस्वाभि शब्दान्तरम् । अहंयुः । शुभमिति मकारान्तः शुभपर्यायः । शुभंयुः । कंयुः । शंयुः । नातिक्वस्य वोरनादेशो वक्ष्यते इत्यस्य न भवति ।

सूक्तस्मान्नोभक्षः ॥४।१।६३॥ सूक्ष्मो भवति मत्वर्थे सूक्ते साम्नि चाभिधेये । वेदे वाक्यसमूहः सूक्तम्, सामेति च संज्ञा । मत्तुटेनामपवादः । अञ्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति अञ्छावाकीर्य सूक्तम् । मैत्रावक्षणीयं सूक्तम् । यज्ञशब्दोऽस्मिन्नस्ति यज्ञीयं साम । वारतन्तवीर्यं साम । अनुक्तराशब्दा एतेऽनुकार्यशब्दैरर्थवन्त इति मृत्संज्ञा सिद्धा । तेऽन्यपदसङ्घातादपि अनुकरणात्थो न भवति । अस्यवामशब्दोऽस्मिन्नस्त्यस्यवामीयम् । कयाशुभशब्दोऽस्मिन्नस्ति कयाशुभीयम् ।

अध्यायाऽनुवाकयोर्वोप् ॥४।१।६४॥ अध्यायाऽनुवाकयोरभिधेययोर्मृदशब्दो भवति मत्वर्थे तस्य च वा लभ्यवति । गर्दभाखण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति गर्दभाखण्डीयः । गर्दभाखण्डः । कूर्चमुलः । उच्छिष्टीयः । उच्छिष्टः । दीर्घजीवितोऽयः । दीर्घजीवितः । पदसमुदायायः । वलितस्कम्पीयः । वलितस्कम्पः ।

विमुक्तश्चिन्मोऽण् ॥४।१।६५॥ विमुक्त इत्येतन्नादिभ्योऽण् भवति मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयो- रभिधेययोः । विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्ति वैमुक्तोऽध्यायोऽनुवाको वा । विमुक्त । देवासुर । रत्नोऽसुर । उच्छ्व । परिकारक । वसु । मरुत् । सत्कन्तु (त्) । पत्नीयन्तु (त्) । दशाहं । वयस् । हविर्भाता । महित्री । सोम- पूषन् । ईडा । आम्नाविषु (अम्नाविष्णू) । वृत्र । हर्तु ।

घोषदावेर्बुन् ॥४।१।६६॥ अध्यायानुवाकयोरिति वर्तते । घोषदादिभ्यो मृद्व्यो बुन् भवति मत्वर्थे । घोषशब्दोऽस्मिन्नर्थे (स्मिन्नस्तीत्यर्थे) बुन् भवति । घोषशब्दोऽध्यायोऽनुवाको वा । घोषदिति केषाञ्चित्पाठः । घोषद् । ईषेला । मातरिश्वन् । देवस्य ला । देवीराया (रापः) । देवीस्या । कृष्णो त्याखरेला (खरेष्ट) । देवीन्विया (देवीं चियम्) । रत्नोदय । अर्चत । प्रवृत्त । दशान । अवार । अभ्वन । प्रभूता (प्रभृत) । कुशानु ।

वनहिरण्ये कामे ॥४।१।६७॥ वनहिरण्यशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां काम इत्येतस्मिन्नर्थे बुन् भवति । कामोऽभिलाषः । वने कामः, वनक्रे देवदत्तस्य । हिरण्यको देवदत्तस्य ।

किं बहुसर्वनाम्नोऽङ्ग्यादेः ॥४।१।६८॥ किम्, बहुशब्दात्, सर्वनाम्नश्च द्र्यादिष्वर्थाद् वक्ष्यमाणास्त्या भवन्तीत्येषोऽविकारी वेदितव्यः । “ते विभक्तयः” [४।१।६९] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्मा- दयमधिकारः । द्र्यादिपर्युदासेन प्रतिषेधे प्राप्ते किम्, पृथगग्रहणम् । वक्ष्यमाणास्तसादयः स्वार्थिकाः । तेषुः समर्थग्रहणं प्रथमग्रहणं च प्रतियोगिनो द्वितीयस्याऽभावाच्च सम्भवति । वाग्रहणं त्वनुवर्तत एष । कुतः । कस्मात् । बहुतः । बहुभ्यः । बहुशब्दश्चेद् सङ्ख्यावाची ग्रह्यते, न वैपुल्यवाची । तेनेह (न) भवति बहुः स्यात् । यतः । यस्मात् । ततः । तस्मात् ।

इदम् इश् ॥४।१।६९॥ इदम् इश् भवति वक्ष्यमाद्येषु तसादिषु परतः । शकारः सर्वदेशार्थः । इतः । इह । इवातीम् ।

वृत्तौ चोः ॥४१॥७०॥ इदम् एत इत् इत्येताभादेशौ भवतो यथासङ्ख्यं रेफयकारादौ तसादौ परतः । इतोऽपवादः । अस्मिन् काले एतर्हि । अनेन प्रकारेण इत्यम् । “इदमो हि” [४१॥७२] “किमिदंभ्या यम्” [४१॥७०] इति हिंयमौ ।

एतदः ॥४१॥७१॥ एतदश्च एत इत् इत्येताभादेशौ भवतो यथासङ्ख्यं रेफयकारादौ परतः । एतस्मिन्काले, एतर्हि । “वाऽनद्यत्ने हि” [४१॥७१] इति हिः । इदमो यो रेफयकारादिः, तस्मिन्पठ इतीर्षं विशेष्यम् । एतदोऽपि प्रकारे यं भवति । एतेन प्रकारेण इत्यम् ।

अश् ॥४१॥७२॥ एतदोऽशित्ययमादेशौ भवति वक्ष्यमाणेषु तसादिषु परतः । शकारः सर्वविशेषार्थः । अतः । अश् ।

कायास्तस् ॥४१॥७३॥ किंबहुसर्वनाम्नोऽद्वाधादेरिति वर्तते । कान्तात्तस् भवति । कस्मात् कृतः । बहुभ्यो बहुतः । यस्माद् यतः । तसि कृते पूर्वस्य सुपः ‘सुपो भुस्रुहोः’ [१॥४१॥७३] इत्युप् । अद्वाधादेरित्येव । द्वाभ्याम् । युष्मत् । अस्मत् ।

तसेः ॥४१॥७४॥ “प्रतियोगे कायास्तसिः” [४१॥७४] “अवादानेऽदीयस्रुहोः” [४१॥७४] इत्येषमादिना विहितस्य तसेरिह ग्रहणम् । एतदयमेव च तत्रेकारेत्करणम् । किम्बहुसर्वनाम्नः परस्य तसेस्तसादेशो भवति । कुत आगतः । बहुत आगतः । यत आगतः । विभक्तौसंज्ञार्थं तसेस्तसादेशः । पूर्वगौव तसा सिद्धमिति चेत्, नैवं शक्यम्, दीयस्रुहोः प्रयोगे कुतो हीनः यतो हीन इत्यत्र तसं पूर्वं सावकाशं बाधित्वा दीयस्रुहोरप्रयोगे (?) अवादाने किंबहुसर्वनामयः परत्वात्तस्तिर्भवति ।

पर्यभिभ्याम् ॥४१॥७५॥ परि अभि इत्येताभ्यां तस् भवति । परितः । अभितः । यथासङ्ख्यं सर्वोभयार्थे वर्तमानाभ्यामिभ्यते । इह मा भूत् । परिभवति । अभ्येति ।

ईपस्त्रः ॥४१॥७६॥ किम्बहुसर्वनामभ्यो द्वधाविर्वाचितेभ्य ईवन्तेभ्यस्त्र इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे । बहुषु बहुत्र । यस्मिन् यत्र । किमिदंभ्यामपवादो वक्ष्यति ।

इदमो हः ॥४१॥७७॥ इदम् ईवन्तात् ह इत्ययं त्यो भवति । प्रत्यापवादः । अस्मिन्, इह ।

किमोऽः ॥४१॥७८॥ किम् ईवन्तात् अ इत्ययं त्यो भवति । प्रत्यापवादः । कस्मिन् कः । “कुक्करो तयोः (कुक्करो तयोः)” [४१॥७८] इति किमः कशब्दादेशः । कथं कुक्करो इति ? चिन्त्यमेतत् ।

इदमन्तेऽन्यतोऽपि ॥४१॥७९॥ कामीपं च विशय अन्वविभक्तयन्तेभ्योऽपि इदमन्ते तसादयः । किंबहुसर्वनाम्नोऽद्वाधादेरिति वर्तते । क पुनर्हश्यन्ते ? भवशदिशब्दस्य प्रयोगे । के पुनर्भवशब्दयः ? भवान् दीर्घासुर्देवानां प्रियः । आयुष्मानिति । स भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । तेन भवता । ततो भवता । तत्र भवता । तस्मै भवते । ततो भवते । तत्र भवते । तस्माद् भवतः । तस्मै भवतः । तत्र भवतः । तस्य भवतः । ततो भवतः । तत्र भवतः । तस्मिन् भवति । तत्र भवति । ततो भवति । एवमन्यत्राप्युदाहरणानि योज्यानि । भवददिभ्योऽन्यत्रापि प्रयोगवशात्तसादयो वेदितव्याः । इत्ते गतः । अनेन गतः । इत् आस्यताम् । इह आस्यताम् ।

कैकान्यकिन्त्यस्रुहः कालो ॥४१॥८०॥ ईप् इति वर्तते । एक अन्य कि यच्च इत्येतोभ्य ईप्समर्थेभ्यः कालो वर्तमानेभ्यो दा इत्ययं त्यो भवति । आदेरपवादः । एकस्मिन् काले एकदा । अन्यदा । कदा । कदा । यदा । काल इति किम् ? एकस्मिन् देशे एकत्र ।

सर्वस्य सा वा हि ॥४१॥८२॥ सर्वशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति वा दा इत्येतस्मिन्परतः । ईप् इति वर्तते । काल इति च । वृद्धकुमारीवरधाक्यन्यायेन इदमेव लक्ष्यं दाविधानस्य । सर्वस्मिन् काले सदा । सर्वदा ।

इदमो हि ॥४१॥८२॥ इदम ईवन्तात् काले वर्तमानात् हित्यो भवति । इत्याऽपवादः । अस्मिन् काले एतर्हि । काल इत्येव । इह देशे ।

अधुना ॥४१॥८३॥ अधुनेति निपात्यते । अस्मिन्काले अधुना । इदमः अर्भावो धुना त्यः । अथवा अधुना इति ल्यो निपात्यते । इदम इशादेशः । “यस्य कथास्त” [४१॥११९] इति तस्य लम् ।

दानीम् ॥४१॥८४॥ इदम ईप्समर्थात्काले दानीमित्ययं ल्यो भवति । अस्मिन्काले इदानीम् ।

तदः ॥४१॥८५॥ तद ईवन्तात्काले दानीं भवति । तस्मिन्काले तदानीम् । तदः पूर्वं दाविहितः सोऽपि भवति । तदा ।

वाऽनद्यतने हि ॥४१॥८६॥ किञ्चुसर्वनामभ्योऽद्वादिभ्य ईवन्तैभ्योऽनद्यतने काले हित्यो वा भवति । पदे यो यतो विहितः स च भवति । कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा । अमुर्हि, अमुज ।

पूर्वाभ्यान्येतरेतरापरावरोभयोत्तरेभ्योऽह्येद्युस् ॥४१॥८७॥ पूर्वादिभ्य ईप्समर्थेभ्योऽहनि वर्तमानेभ्य पद्युस् भवति । पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेषुः । अन्येषुः । अन्यतरेषुः । इतरेषुः । अपरेषुः । अवरेषुः । उभयस्मिन्नहनि उभयेषुः । उत्तरेषुः । “द्युश्चोभयाद्बक्तव्यः” [वा०] । उभयद्युः ।

सद्योऽद्यैषमः परेद्यविपक्षपरारि ॥४१॥८८॥ सद्य इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते । ईप् इति वर्तते काल इति च । समानस्य सभावो द्यश्चाहनि निपात्यते । समानेऽहनि सद्यः प्राणकरं जलपानम् । इदमोऽम(श)भावोऽहनि द्य इत्ययं च त्यः । अस्मिन्नहनि अद्य । इदमः समसण संवत्सरे । अस्मिन् संवत्सरे ऐषमः । अकार उच्चारणार्थः । इदम इशादेशः । आदेरैप् । “त्यादेःकयोः” [४१॥११९] इति षत्वम् । परशब्दाहनि पद्यवि । परस्मिन्नहनि परेद्यवि । पूर्वपूर्वतरयोः परमात्रः उदारी च ल्यौ संवत्सरे । पूर्वस्मिन् संवत्सरे पक्ष् । पूर्वतरे संवत्सरे परारि । कथं पक्ष्ददास्यामि, परारि दास्यामि इति ? एवं तर्हि परपरतरयोरपि प्रकृत्योः परिग्रहः कर्तव्यः ।

प्रकारे था ॥४१॥८९॥ ईप् इति निवृत्तं काल इति च । किञ्चुसर्वनामभ्योऽद्वादिभ्यो यथा सम्भवं सर्वविभक्त्यन्तेभ्यः प्रकारे वर्तमानेभ्यस्या इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । सामान्यस्य भेदको विशेषनिर्देशः प्रकारः । गच्छतीति सामान्यम् । तस्य विशेषनिर्देशः रथेन अश्वेन पादाभ्यामित्यादिः । पुरुष इति सामान्यम् । तस्य विशेषनिर्देशः बुद्धिमान् दक्षः शूर इत्यादि । वर्तते इति सामान्यम् । तस्य विशेषा अभ्यापनादयः । सर्वेण प्रकारेण सर्वथा । यथा । तथा । अद्वादादेरिति किम् ? द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां गच्छति । अयं प्रकारमात्रे भवति । जातीयः पुनः प्रकारवति । यजातीयः । तजातीयः ।

किमिदंभ्या यम् ॥४१॥९०॥ किम् इदम् इत्येतान्यां प्रकारे वर्तमानाभ्यां यमित्ययं ल्यो भवति । या इत्यस्याऽपवादः । केन प्रकारेण कथम् । अनेन प्रकारेण इत्यम् ।

ते विभक्त्यः ॥४१॥९१॥ ते तसादयस्त्या विभक्तींशो वेदितव्याः । विभक्तीकार्यं कृत्वोदाहरणानि एतानि । “तसाविष्णुशब्दस्य उभयादेशो वक्तव्यः” [वा०] । उभयानुभयतः उभयोऽभ्यन्त । उभ्याभ्यां प्रकाराभ्यामुभयथा । नेदं वक्तव्यम् । उभयशब्दस्य तसादिविषयेऽभिधानं नास्ति । यथा उभय-पुत्र इत्येवमादौ ।

दिक्छन्देभ्यो वाकेभ्योऽस्तादिग्देशयोः ॥४१॥१६२॥ दिशा शब्देभ्यः वा फा ईप् इत्येकमन्तेभ्यो दिग्देशयोर्वर्तमानेभ्योऽस्तादित्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । पूर्वा दिग् रमणीया । पूर्वा दिशो रमणीया । पुरस्ताद् रमणीयम् । “अस्ताति” [४१॥१०४] इति पूर्वावरावराणां पुरवध आदेशः । अस्तावन्ताः शब्दा अलिङ्ग-सङ्ख्या अनुप्रयोगाणां नपुंसकलिङ्गहेतुर्भवति । पूर्वस्या दिश आगतः पूर्वस्माद्देशादागतः, पुरस्तादागतः । पूर्वस्यां दिशि वसति, पूर्वस्मिन्देसो वसति, पुरस्ताद् वसति । एवमवस्ताद्रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद् वसति । दिक्छन्देभ्य इति किम् ? ऐन्द्री दिग् रमणीया । ऐन्द्रीशब्द इन्द्रसम्बन्धिनः स्त्रीलिङ्गस्य क्तुनो वाचको न तु दिक्छन्दः । वाकेभ्य इति किम् ? पूर्वा दिशं गतः । दिग्देश इति किम् ? पूर्वस्मिन् गुरो वसति । अत्र दिगाद्युपलक्षिते गुरो पूर्वशब्दः प्रयुक्तः ।

काले ॥४१॥१६३॥ काले वर्तमानेभ्यो दिग्देशेभ्यो वाकेभ्योऽस्ताद् भवति । विभक्तीनां दिगादिभिर्यथासङ्ख्यं मा भूदित्येवमर्थं पृथक् सूत्रकरणम् । पूर्वकाले रमणीयः । पुरस्ताद् रमणीयः । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् वसति ।

दक्षिणोत्तराभ्यामतस् ॥४१॥१६४॥ दक्षिणोत्तरशब्दाभ्यां दिग्देशकालेषु वर्तमानाभ्यां वाकेभ्योऽस्तादभ्यामतस् भवति । अस्तातोऽपवादः । दक्षिणशब्दस्य काले वृत्तिर्न सम्भवति । दक्षिणतो रमणीयम् । दक्षिणत आगतः । दक्षिणतो वसति । उत्तरतो रमणीयम् । उत्तरत आगतः । उत्तरतो वसति । किमर्थमतस्कारः कियते ? स्त्रीलिङ्गेऽपि नास्ति विशेषः । “सर्वनाम्बो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः” इति पुंवद्भावो मविध्यति । एवं तर्हि “ताऽतसर्थे ल्येन” [३१॥३६] इति विशेषणार्थः ।

वा पराचराभ्याम् ॥४१॥१६५॥ पर-अवरशब्दाभ्यामतस् वा भवति अस्तादर्थे । परतो रमणीयम् । परस्ताद्रमणीयम् । परत आगतः । परस्तादागतः । परतो वसति । परस्ताद्वसति । अवरतो रमणीयम् । अवरस्ताद्रमणीयम् । अवरत आगतः । अवरस्तादागतः । अवरतो वसति । अवरस्ताद्वसति । अवरशब्दो वाचनं न प्रयोजयति । “पूर्वापराचराणां पुरवधोऽस्ति” [४१॥१०३] “अस्ताति” [४१॥१०४] इति च वचनादस्तावपि भवतः ।

अण्येहप् ॥४१॥१६६॥ अन्यन्तेभ्यो दिक्छन्देभ्यः परस्यास्तात उभभवति । प्राची दिग् रमणीया । प्राग्रमणीयम् । प्रागागतः । प्राग्वसति । अस्तात अपि “हृदुःस्युप्” [११॥१६] इति स्त्रीत्यस्योप् । एवं प्रत्यग्रमणीयम् । प्रत्यगागतः । प्रत्यग्वसति । देशकालबोरप्युदाहरणानि नेयानि ।

उपर्युपरिष्ठात्पश्चात् ॥४१॥१६७॥ उपरि उपरिष्ठात् पश्चात् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते अस्तादर्थे । ऊर्ध्वशब्दस्य उपभावो रिरस्तातो च ल्यो निपात्येते । ऊर्ध्वा दिग् रमणीया । उपरि रमणीयम् । उपरिष्ठाद्रमणीयम् । उपर्युगतः । उपरिष्ठादागतः । उपरि वसति । उपरिष्ठाद् वसति । अपरशब्दस्य पश्चमाव आश्च ल्यः । अपरो देशो रमणीयः । पश्चाद्रमणीयम् । पश्चादागतः । पश्चाद्वसति । केचित्परशब्दस्येदं निपातनमिच्छन्ति । “द्विपूर्वपदस्य चापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः” [वा०] । आच्च ल्यः । दक्षिणा परा दिग्रमणीया । दक्षिण-पश्चाद्रमणीयम् । उत्तरपश्चाद्रमणीयम् । “अर्धोत्तरपदस्य च दिक्छन्दस्य पश्चभावो वक्तव्यः” [वा०] । दक्षिणापरमर्द्धम् । दक्षिणपश्चार्द्धम् । उत्तरापरमर्द्धम्, उत्तरपश्चार्द्धम् । “अर्धे चोत्तरपदे केवलस्यार्धस्य पर-भावो वक्तव्यः” [वा०] । अपरमर्द्धं पश्चार्धम् ।

दक्षिणोत्तराऽव(ध)रादात् ॥४१॥१६८॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) इत्येतैश्च आदित्ययं ल्यो भवति अस्तादर्थे । दक्षिणाद्रमणीयम् । दक्षिणादागतः । दक्षिणाद् वसति । उत्तराद्रमणीयम् । उत्तरादागतः । उत्तराद्वसति । अव(ध)राद्रमणीयम् । अव(ध)रादागतः । अव(ध)राद् वसति । दक्षिणोत्तराभ्यामतसपि वचनाद् भवति । अस्तातः पुनरपवादोऽयम् । अवर (अधर) शब्दाद् वक्ष्यमाणानिमस्तातावपि भवतः ।

वैनोऽदूरेऽकायाः ॥४॥१॥६९॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) शब्देभ्यो वा एनो भवति अस्तादर्थेऽदूरे नम्येऽकायाः । कायाः पर्युदासेन वेपौ गृह्यते । दक्षिणेन रमणीयम् । दक्षिणेन वसति ग्रामम् । उत्तरेण रमणीयम् । उत्तरेण वसति । अवरेण (अधरेण) रमणीयम् । अवरेण (अधरेण) वसति । वाक्चनानां यतो विहितः स च भवति । अदूर इति किम् ? हिमवतो दक्षिणाद् वसति । अत्रादरे रश्मिमादूरे (अत्राधिकाधिमान् दूरे) विवक्षितः । अकाया इति किम् ? दक्षिणादागतः । "दिक्छब्दमात्रादयमेनो वक्तव्यः" [वा०] दक्षिणोत्तरावर (धर) ग्रहणं नानुवर्तनीयमिति केचित् । अन्यन्ता दिक्छब्दादनभिधानात् भवति ।

दक्षिणादा ॥४॥१॥१००॥ अकाया इति वर्तते । दक्षिणशब्दादा इत्ययं ल्यो भवति अस्तादर्थे । दक्षिणा रमणीयम् । दक्षिणा वसति । सामान्येन दूरादूरयोरिहोदाहरणम् । उत्तरत्र दूरग्रहणात् । अकाया इत्येव । दक्षिणत आगतः ।

आहि च दूरे ॥४॥१॥१०१॥ अकाया इति वर्तते । दक्षिणशब्दादाहित्यो भवति आभा (चादा) अस्तादर्थे दूरे गम्यमाने । दक्षिणाहि रमणीयम् । दक्षिणाहि वसति । दक्षिणा वसति काञ्चीपुरात् । अकाया इत्येव । दक्षिणत आगतः ।

उत्तराश्च ॥४॥१॥१०२॥ अकाया इति वर्तते दूर इति च । उत्तरशब्दादाहि आ इत्येतौ ल्यौ भवतो अस्तादर्थे । आ इत्यनुकर्षणार्थश्चकारः । उत्तराहि रमणीयम् । उत्तरा रमणीयम् । उत्तराहि वसति । उत्तरा वसति । अकाया इत्येव । उत्तरत आगतः । दूर इत्येव । मार्गमुत्तरेण प्रया (पा) ।

पूर्वाधराधराणां परवधोऽस्ति ॥४॥१॥१०३॥ अकाया इति निवृत्तम् दूर इति च । पूर्व, अवर, अधर, इत्येतेषां यथासङ्ख्यं पुर अच् अच् इत्येते आदेशा भवन्ति अस्तादर्थे अस्ति परतः । अनेनैवास्ते विधानम् । पुरो रमणीयम् । पुर आगतः । पुरो वसति । अवो रमणीयम् । अव आगतः । अवो वसति । अवो रमणीयम् । अव आगतः । अवो वसति ।

अस्ताति ॥४॥१॥१०४॥ अस्ताति च परतः पूर्वदीनां पुरादयः आदेशा भवन्ति । इदमेव शापकम् । अस्तादि भवतीति । अन्यथा विशेषविहितेनासा बाधा स्यात् । पुरस्ताद्रमणीयम् । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् वसति । अवस्ताद् रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद्वसति ।

वाऽवरस्य ॥४॥१॥१०५॥ अस्ताति परतोऽवरस्यावादेशः । अवस्ताद्रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद् वसति ।

सङ्ख्याया विधाऽर्थे वा ॥४॥१॥१०६॥ यथासम्भवं विमङ्गीयोगः । सङ्ख्याशब्देभ्यो विधाऽर्थे वर्तमानेभ्यो वा इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । अर्थग्रहणसामर्थ्याद् विधाशब्द इह प्रकारवाची गृह्यते । स च प्रकारः द्रव्यगुणक्रियाविषयः । षड्भिः प्रकारैः षोढा द्रव्यम् । बहुधा गुणाः । पञ्चधा करोति शक्तम् । द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा करोति । त्रिधा । चतुर्धा । "अधिकरणविचाले चेति वक्तव्यम्" [वा०] । अधिकरणं द्रव्यम् । तस्य विचालः सङ्ख्यान्तरापादनम् । एकस्य नानात्वापादनम् । अनेकस्य वा एकत्वापादनमित्यर्थः । तस्मिन् गम्यमाने सङ्ख्याया धातो यक्तव्यः । एकं राशिं पञ्चधा कुर्व । सप्तधा । नवधा । अनेकमेकधा कुर्व । न यक्तव्यः । द्रव्यगुणक्रियाभेदेन त्रिविधो विधार्थ इत्युक्तम् । तत्र वान्तर्भावात् । "प्रकाशेकतो जातीयः" [वा० ११९८] इत्यस्यापवादः ।

एकादध्यमुन् ॥४॥१॥१०७॥ एकशब्दादध्यमुन् भवति । पदे वा भवति । एकं राशिं कुर्व, ऐक्यं कुर्व । ऐक्यं मुह्यते । एकधा मुह्यते ।

त्रिष्वैर्धमुष् ॥४॥१॥१०८॥ वेति वर्तते । द्वित्रिम्यां वा धमुन् भवति विधायै । द्वेधं द्विधा । त्रैधं त्रिधा । “धमुन्स्तात् स्वार्थे ङो वक्तव्यः” [३०] । मतिद्वैधानि । पर्याद्वैधानि ।

एधा ॥४॥१॥१०९॥ द्वित्रिम्यामेधा भवति विधायै । द्वेधा । त्रैधा । ययासंख्यनिवृत्त्यर्थो योगविभागः ।

याप्ये पाशः ॥४॥१॥११०॥ याप्य इह कुत्सितोऽभिप्रेतः । याप्यन्ते आपनीयन्तोऽस्ताद् गुण्या इति याप्यः । बहुलवचनादपादाने व्यसंशः । याप्येऽयं वर्तमानान्मृदः पाश इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे । वैयाकरणो याप्यः, वैयाकरणपाशः । यस्य गुणस्य हि भावाद द्रव्ये शब्दविनिवेशः, तत्कुत्सने भवति । इह मा भूत् । चौ ये (रो) वैयाकरणः । इह याप्या कुमारी, कुमारपाशा । “यसादौ” [३१॥११०] इति पुंवद्भाक् । “यययननये” [२॥१॥१११] इत्यस्य ङाविधेः कृतत्वात्पाशान्ताष्टाप् भवति । उक्तं च —

“स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो ब्रूयमाह समवेतम् ।

समवेतस्य तु वचने छिन्नं संख्या विभक्त्येव ॥

अभिधाय तान्विशेषानपेक्षमाणास्तु कृतस्त्वन्मात्राणाम् ।

प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः” ॥ [३१॥१०९ पातं० भा०]

षष्ठाऽष्टमाद् भागो ऋः ॥४॥१॥११२॥ षष्ठ-अष्टमशब्दाभ्यां भागे वर्तमानाभ्यां ऋ इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे । षष्ठो भागः, षाष्ठः । आष्टमः । विकल्पाधिकारादनुत्पत्तिरपि भवति । षष्ठः । अष्टमः । भाग इति किम् ? षष्ठः पुरुषः ।

मानपञ्चङ्गयोः कोपौ ऋ ॥४॥१॥११३॥ भाग इति वर्तते । षष्ठाष्टमशब्दाभ्यां मानपञ्चङ्गयो-
र्भागविशेषयोरभिधेययोः क उप इत्येतौ भवतः । पूर्वेण विहितस्य अस्य उप् द्रष्टव्यः । षष्ठशब्दान्माने
भागविशेषे को भवति । अष्टमशब्दात्पञ्चङ्गभागविशेषे अस्य उभभवति । षष्ठको भागो मानं चेत्तद् भवति ।
अष्टमो भागः पञ्चङ्गं चेत्तद् भवति । विहितस्य अस्योऽध्वधानसामर्थ्याद् वा ङोऽपि भवति । षाष्ठः । षष्ठः ।
आष्टमः । अष्टमः ।

एकादशकिञ्चासहाये ॥४॥१॥११४॥ एकशब्दादसहायवाचिन आकिञ्चित्ययं त्यो भवति कोपौ
च स्वार्थे । कस्योप् ? काकिनोः । एकाकी । एककः । एकः । असहाय इति किम् ? यदैकशब्दः सङ्ख्याया-
मन्यार्थे वा वर्तते तदा मा भूत् । अत एव द्विवहू अपि भवतः । एकाकिनौ । एकाकिनः । सख्यावाचते
(त्वे) एकवचनमेव स्यात् । अन्यार्थत्वे बहुवचनमेव स्यात् ।

तमेष्टावतिशायने ॥४॥१॥११५॥ अतिशायनं प्रकर्षः । “अन्यस्यापि” [३१॥११२] इति
दीत्वम् । इदं च प्रकृत्यर्थविशेषणं सर्वेषां स्वार्थिकानां द्योत्यम् । अतिशायननिशिष्येऽर्थं वर्तमानान्मृदः
स्वार्थे तम इष्ट इत्येतौ त्यो भवतः अतिशायने द्योत्ये । वान्तात्योत्पत्तिः । सर्वे इमे आद्याः, अयमेषामाद्य-
तमः । सुकुमारतमः । सर्वे इमे पटवः, अयमेषा पटुतमः । कथं गोतमः । कारकतमः इति ? अत्रापि
क्रियानुगुणद्वारेण प्रकर्षापकर्षयोगोऽस्ति । “शेवौ गुणवचनादेव” [३१॥११३] इति नियमो वक्ष्यते । सर्वे इमे
पटवः, अयमेषा पटिष्ठः । यदा प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षविवक्षा, तदा आतिशायिकान्तादपरः आतिशायिकः ।
श्रेष्ठतमः । अदूरविप्रकर्षिणां समानकक्षाणां स्पष्टी । तेनेह न भवति । सर्वपाथां महतामतिशायने महान्
हिमवान् इति ।

मिङ्गः ॥४॥१॥११४॥ यद्यपि मिङ्गन्ते साधनप्रधाने अभिधानरूपेण गुणीभूता क्रिया, तथापि तस्याः साध्यमानत्वात्प्राधान्यम् । तदपेक्षायां साधनप्रकर्षेऽयं विधिर्वेदितव्यः । मिङ्गन्तादतिशायने तम इत्ययं ल्यो भवति । ऋधाम्भृदधिकारात् पूर्वस्य प्राप्तिर्नास्ति । सर्वे इमे पचन्ति, अयमेव पचन्तितमाम् । पठन्तितमाम् । ‘किमेन्मिङ्गन्मिङ्गन्तादामद्रव्ये’ [४॥१॥२०] इत्याम् । इष्टो “गुणवचनादेव” [४॥१॥११८] इति नियमादिह न सम्भवति ।

द्विविभज्येतरेयसू ॥४॥१॥११६॥ द्वौ च विभज्यं च, द्विविभज्यम् । द्विमह्यमर्थनिर्देशपरम् । विभक्त्यं विभज्यं पृथक्कर्तव्यमित्यर्थः । इदमेव निपातनं यविधेः । द्वयर्थे विभज्ये च प्रयुक्ते सति ऋधाम्भृदो मिङ्गश्च अतिशायने दोष्ये तर इयसु इत्येतौ ल्यौ भवतः । तमेष्टयोरपवादः । यथासङ्ख्यमस्वरितत्वादिह नेष्यते । उभाविमावाद्द्वौ, अयमनयोराकातरः । कारकतरः । द्वाविमौ पचतः । अयमनयोः पचन्तितमाम् । ईयसुर्गुणवचनादेव । द्वाविमौ पट्ट, अयमनयोः पटीयान् । सूत्रे द्विशब्देन यद्यर्थप्रदं द्वयोरर्थयोरेकतर-स्थातिशायने इति तदा सिद्धमिदम् । अस्माकं देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतर इति द्वयर्थत्वादस्य । इदं तु न सिद्धयति । दन्तौष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः । पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतराविति । अत्रापि आत्यपेक्षयाऽ-र्थद्वित्वोपपत्तेः । विभज्ये । सांकाश्यका माधुरेभ्य आद्यतराः । पटीयांसः । अत्र आत्यभावाद्व्यर्थता नास्ति । तथापि नासौ शब्दोपात्ता । अत एव चङ्कन्तपृदाहरणम् ।

तादी भः ॥४॥१॥११७॥ अतिशायने चत्वारस्तथा विहितास्तेषु तकारादी भक्तञ्जो भवतः । कुमारितरा । कुमारितमा । “ऋरूपकपचेलङ्गुप्रधुगोचमतइते प्रोऽनेकाचः” [४॥३॥१५५] इति पूर्वस्य प्रादेशः । भन्तादतष्ठाप् ।

शेषौ गुणवचनादेव ॥४॥१॥११८॥ तादी सुत्तवा इष्टेयसू शेषौ । शेषौ गुणवचनादेव भवतो नान्य-स्मादिति नियमोऽयम् । सर्वे इमे पठवः अयमेवां पठिष्ठः । द्वाविमौ पट्ट, अयमनयोः पटीयान् । अयमस्मात्पटी-यान् । शेषग्रहणं प्रकृततादिनिवृत्त्यर्थम् । गुणवचनादिति किम् ? मोतमः । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । मैवं विज्ञायि, शेषावेव गुणवचनादिति । एयं द्विपदुतम इति न स्यात् ।

प्रशस्यस्य अः ॥४॥१॥११९॥ शेषग्रहणं प्रकृतम् । तदर्थवशादीपा विपरिणाम्यते । प्रशस्यशब्दस्य अ इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । प्रशंसनीयः, प्रशस्यः । “शसिदुहिगुहिभ्यो षेति षक्तव्यम्” [१॥१॥३१ पा०] इत्युपसङ्ख्यानान्त्वयप् । इदमेव शापकम् । इह शेषौ गुणवचनादेवेति नियमो न प्रकृतै । सर्वे इमे प्रशस्याः । अयमेवां श्रेष्ठः । द्वाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोर्ज्यायान् । “नैकाचः” [४॥३॥१५४] इति शेषे टिलं न । तरतमौ भवत एव । प्रशस्यतमः । प्रशस्यतरः ।

ज्यः ॥४॥१॥१२०॥ प्रशस्यशब्दस्य ज्य इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेवां ज्येष्ठः । द्वाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोर्ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् । “ज्यादेयलः” [४॥३॥१२१] इति परस्मादेराकारः यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थं योगान्तरम् ।

वृद्धस्य ॥४॥१॥१२१॥ वृद्धशब्दस्य च ज्य इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । सर्वे इमे वृद्धाः, अयमेवां ज्येष्ठः । द्वाविमौ वृद्धौ, अयमनयोर्ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् । आदेशार्थं वचनम् । तरतमौ सिद्धावेव । वृद्धतरः । वृद्धतमः । “बहुकगुरुकृद्धादि” [४॥३॥१४१] सूत्रेण वृद्धशब्दस्य वर्षादेशोऽपि भवति । वर्षिष्ठः । वर्षीयान् ।

वाढान्तिकयोः साधनेदौ ॥४॥१॥१२२॥ वाढान्तिकशब्दयोः यथासङ्ख्यं साध नेद इत्येतावादेशौ भवतः शेषयोः परतः । निमित्ततो यथासङ्ख्यं नेष्यते, भिन्नयोगनिर्दिष्टत्वात् । सर्वे इमे वाढं अङ्गान्त, अयमेवां

साधिष्ठं जल्पति । अयमनयोः साधीयो जल्पति । यदि वादशब्दो द्रव्यवचनः साधीयानिति । सर्वाणीमानि
अन्तिकानि, इदमेषां नेदिष्ठम् । इदमेनथोर्नेदीयः । इदमस्यान्नेदीयः । तरतमौ भवत एव । वादतरम् ।
वादतमम् ।

युवाऽल्पयोः कम्वा ॥४१॥१२३॥ युव अल्प इत्येतयोः कक्षित्यमादेशो भवति वा शेषयोः परतः ।
शेषयोर्विधानं पूर्ववदव्याख्येयम् । सर्व इमे युवानः, अयमेषां कनिष्ठः । कनीयान् । यदा युवशब्दस्य कक्षादेशो
न भवति तदा “स्थूळदूरेत्यादिना” [४१॥१२३०] यथः स्वमिक् एप् । यविष्ठः । यवीयान् । सर्व इमेऽहं
अयमेषां कनिष्ठः । कनीयान् । अल्पिष्ठः । अल्पीयान् । तरतमौ भवत एव ।

विष्मतीरुप् ॥४१॥१२४॥ विन् मत्तु इत्येतयोः कम्भवति शेषयोः परतः । इदमेव ज्ञापकम् । शेषयो-
र्विधानस्य यथासङ्ख्यमत्र नेष्यते । सर्व इमे स्वमिक्, अयमेषां स्वजिष्ठः । स्वजीयान् । सर्व इमे स्वन्तः,
अयमेषां स्वचिष्ठः, स्वचीयान् ।

प्रशंसायां रूपः ॥४१॥१२५॥ इयाम्मृद इति वर्तते मिड इति च । प्रशंसायां वर्तमानान् इयाम्मृदो
मिडश्च रूप इत्ययं लो भवति प्रशंसायां श्रोत्रायाम् । स्वार्थिकानां प्रकृत्यर्थविशेषणं श्रोत्रं भवति । वाच्यं
पुनस्तत्प्रकृतेरेव । वैयाकरणः प्रशस्तः, वैयाकरणरूपः । पटुरूपः । प्रशस्ता कुमारी कुमारिरूपा । “ससाक्षी”
[४१॥१२६०] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “करूपेत्यादिना” [४१॥१२५५] प्रादेशः । वयोलक्षणेऽङीविधेः कृतत्वा-
द्रूपान्ताद्वाप् । कथं निन्दायां प्रयोगः ? वृषलरूपोऽयं यो मासेन सुरां पिबेत् । चौररूपोऽयं योऽद्विषमम्भनमपि
हरेत् । अत्रापि प्रकृत्यर्थस्य वैस्पष्ट्यम् । प्रशंसायां मिडः सल्लवि । पचति रूपम् । पचतो रूपम् । पचन्ति
रूपम् । लोकाभयमिदं नपुंसकलिङ्गम् । क्रियाप्रधानमाख्यातम् । एका च क्रियेति रूपान्तादेकवचन-
मेव भवति ।

आसिद्धौ देश्यदेशीयकल्पाः ॥४१॥१२६॥ सिद्धिः परिपूर्णता, न सिद्धिरसिद्धिः । ईषदसिद्धि-
रासिद्धिः । सिद्धिशिष्टेऽर्थे वर्तमानान् इयाम्मृदो मिडन्ताच्च देश्य देशीय कल्प इत्येते त्या भवन्ति स्वार्थे ।
ईषदसिद्धः पटुः, पटुदेश्यः । पटुदेशीयः । पटुकल्पः । स्त्रियां पटुविदेश्या तत्तादिभ्यपरिगणनात् पुंवद्भावो
नास्ति । पटुदेशीया । “पुंवद्वशातीय” [४१॥१२७०] इति पुंवद्भावः । पटुविकल्पा कल्पस्य तस्यातिसादित्वात्
“ससाक्षी” [४१॥१२८०] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “करूप” [४१॥१२५५] इत्यादिनेकारान्तस्य प्रः ।
“जात स्त्रियाम्” [४१॥१२२] इत्यत्र वक्ष्यते । अतिवर्तते च स्वार्थिकाः प्रकृतिं लिङ्गसङ्ख्ये इति । तेन
गुडकल्पा द्राक्षा । तैलकल्पा मसजा । पयस्कल्पा यवागूः । मिडः । ईषदसिद्धं पचति, पचतिदेशीयम् ।
पचतिकल्पम् । पचतःकल्पम् । पचन्तिकल्पम् ।

वा सुपो बहुः प्राक्तु ॥४१॥१२७॥ आसिद्धाविति वर्तते । ईषदसिद्धिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्मृदः
सुवन्ताद् बहुत्यो वा भवति । स तु प्राग्भवति । विभाषया त्योत्पत्तिर्यथा स्यात् प्राग्भाक्स्तु नित्यः । इत्यस्य
व्यतिरेकस्य दर्शनार्थस्तुशब्दः । ईषदसिद्धं कृतं बहुकृतम् । त्ये कृते मृत्संज्ञायां पुनः सुप् । “कृदृष्टाः”
[११॥१५] इत्ययं नियमस्तुल्यजातीयस्य सुवन्तसमुदायस्यान्यत्यान्तस्य च मृत्संज्ञां निवर्तयति । तेन बहुकृत-
शब्दास्तुबुत्पत्तिः । एषं बहुपटुः । बहुगुडः । यदा द्राक्षाविशेषणं भवति तदा टाप् । बहुगुडा द्राक्षा ।
वाग्रहणं देश्यादिसमावेशार्थम् । अन्यथा मिडन्ते सावकाशान् देश्यादीनयं वाधेत । सुप् इति किमर्थं वाक्या
“प्रियकुलसत्ताविषु पुनः प्रवर्ततेऽस्यै विभक्त्यन्त” इत्युक्तं पुनः सुव्प्रहणं मिडनिवृत्त्यर्थम् । परत्वादेश्या-
दिषु कृतैषु तमादयः । पटुदेश्यतमः । बहुपटुतमः । ईषदसिद्धेः प्रकर्षो नास्तीति प्रकृत्यर्थप्रकर्षे तमादयः ।

प्रकारोक्ती आतीयः ॥४१११२८॥ प्रकारोक्ती सुबन्ताजातीय इत्यर्थं ल्यो भवति स्वार्थे । पटुप्रकारः पटुजातीयः । पण्डितजातीयः । यजातीयः । तजातीयः । प्रकारवृत्ति चार्थं वेदितव्यः । प्रकारमात्रे थायमौ । तेन तदन्तादपि । यथाजातीयः । कथंजातीयः । एवमर्थं वेदोक्तिग्रहणम् ।

एवात्कः ॥४१११२९॥ “इवे प्रलिकृतौ कः” [४१११२०] इति वक्ष्यति । आ एतस्मादिव संशब्दनात् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, तत्र क इत्ययमधिकृतो वेदितव्यः । आङ्गिह मर्यादावचनः । वक्ष्यति “कुत्साऽज्ञातयोः” [४१११३१] । कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः । गर्दभकः । इह सुप इत्यनुवर्तमानमिच्छन्तात्को नेष्यते ।

भित्तसर्वनाम्नोऽकप्राकटेः को वः ॥४१११३०॥ मिह इति च वर्तते । भेः सर्वनाम्नश्च अगित्यर्थं ल्यः टेः प्राग्भवति ककारस्य च दकारः एवादर्थेषु । कस्यापवादः । मृदः सुप इति च वर्तते । तत्राभिधानवशाद् व्यवस्था । भित्तंज्ञाके नास्ति विशेषः । उच्चकैः । नीचकैः । यदि ककारोऽस्ति तस्य दकारः । हिक्, हिरकुत् । पृथक् पृथक् । सर्वनाम्नो मृदवस्यायामक् । सर्वके । विश्वके । उभकौ । उभयके । युष्मकार्भिः । अस्मकार्भिः । युष्मकासु । अस्मकासु । युष्मकयोः । आत्मकयोः । इह सुबन्तादेव । त्वयका । त्वयकि । मयकि । सुप इत्यादिसम्बन्धादेव “सुपो ह्युमृदोः” [१४११४९] इत्युन्नेष्यते । मिहः खल्वपि । पचकति । पठकति । “तन्मध्यपत्तिवास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” इति मिहन्तमेवैतत् । “अकप्रकारये तूष्णीमः काम् वक्तव्यः” [वा०] मकारः “परोऽचो मिह” [११११२६] विशेषणार्थः । तूष्णीकामास्ते । “शीले को मर्त्तं च” [वा०] तूष्णीं शीलस्तूष्णीकः ।

कुत्साऽज्ञातयोः ॥४१११३१॥ कुत्साऽज्ञातलोपाधिकेऽर्थे वर्तमानान्मृदः स्वार्थे यथाविहितं ल्यो भवति । कुत्सितोऽश्वः कस्यायमश्व इति वाऽश्वकः । वष्ट्रकः । उच्चकैः । सर्वके । पचकति । इह कुत्सितक इत्यज्ञातार्थे । अज्ञातक इति कुत्सितोऽर्थे कः । अतः कविधेस्तमादयो भवन्ति । पूर्वनिर्णयेन, पश्चात्कादिविधिः । पटुतरकः । मृदुतरकः । पचतितरकात् । छिन्नकादिषु के कृते तमादयः । छिन्नकतरः । भिन्नकतरः ।

अनुकम्पायाम् ॥४१११३२॥ सौहृदेन कारुण्येन वा परस्यानुग्रहोऽनुकम्पा तत्र वर्तमानान्मृदः सुबन्तान्मिहश्च यथाविहितं ल्यो भवति । अनुकम्पितो माणवो माणवकः । बुभुक्षितक । नीचकैः । याचकैः ।

नीतौ च तद्युक्तात् ॥४१११३३॥ अनुकम्पाविषयायां नीतौ गम्यमानायां तद्युक्तादनुकम्पायुक्ता- यथाविहितं ल्यो भवति । चकारोऽनुकम्पाऽनुकर्षणार्थः । तेन सामोपप्रदानकक्षणा नीतिरिह गृह्यते, न भेदः दण्डकक्षणा । पूर्वसूत्रेणानुकम्प्यमानवाचिनस्यो विहितोऽनेन पुनस्तद्युक्ताद्विधीयते । पुत्रक सत्संगक । उपविश कर्दमकेनासि दिग्भकः । इन्त तै तिलकाः । इन्त तै गुडकाः । एहकि । अहकि । उपविश, असि, तै, इन्त इत्येवमादिषु अनभिधानान्न भवति ।

बहुचो नृलोर्बा ठः ॥४१११३४॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति सर्वमनुवर्तते । बहुचो मृदो नृनामधेयाद् वा ठ इत्यर्थं ल्यो भवति । अनुकम्पायां “नीतौ च तद्युक्तात्” [४१११३३] इति नित्ये के प्राप्ते वा ठः । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः । देवदत्तकः । जिनिक । जिनदत्तकः । “ठाऽपि द्वितीयात्परोऽचः” [४१११३३] इति दत्तशब्दस्य खं ठस्येकादेशश्च । बहुच इति किम् ? रामकः । दत्तकः । नृग्रहणं किम् ? देवदत्तक इति । खुग्रहणं किम् । माणवकः ।

घेहो ॥४१११३५॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तते । बहुचो नृलोर्बा इह इत्येतौ ल्यो भवतः । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः, देविलः । पूर्वण वा ठाऽपि भवति देविकः, देवदत्तकः ।

अडबू षोपादेः ॥४१॥१३६॥ अनुकम्पायां नीतौ च तच्चुक्तादिति वर्तते । उपशब्दादेर्मृदो बहुचो नृलोः अड बु इत्येतौ त्यो भक्तो घेलो च वा । अनुकम्पितो उपेन्द्रदत्तः उपडः, उपकः, उपियः, उपिलः, उपिकः, उपेन्द्रदत्तकः । यादिर्बुशब्दो यकारस्य खं कृत्वा निर्दिष्टः । तेन वोरकादेशः सिद्धः ।

जातिनाम्नः कः ॥४१॥१३७॥ जातेर्नाम जातिनाम जातिशब्द इत्यर्थः । बहुचोऽवइ वृचश्च स्या-
न्येनायं विधिः । जातिशब्दान्तरलोः अनुकम्पायां नीतौ च गम्यमानायां क इत्ययं त्यो भवति । अनुकम्पि-
तो मदिषो मदिषकः । यगहकः । शरभकः । व्याघ्रकः । सिंहकः । इह केचिद्वाग्रहणमनुवर्त्य व्याघ्रितः, सिंहिलः
इत्युदाहरन्ति तच्च नातिश्लिष्टम्, अस्य सप्तस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्माद् प्रादीनां बाधैव युक्ता ।

द्योः खं चाऽजिनस्य ॥४१॥१३८॥ नृलोरेति वर्तते । अजिनशब्दान्तरान्मृदो नृलोः अनुकम्पायां
नीतौ च गम्यमानायां क इत्ययं त्यो भवति तस्य च द्योः खं भवति । अनुकम्पितस्तुलाजिनस्तुलकः । व्याघ्रकः ।
मृगकः । चुम्रहणं किमर्थम् ? अजिनशब्दान्तस्य द्योः खं यथा स्यात् । अनुकम्पितो व्याघ्रमष्टाभिर्नो व्याघ्रकः ।

ठाऽचि द्वितीयात्परोऽच्चः ॥४१॥१३९॥ लमिति वर्तते । प्रकृते ठेऽजादौ च परतः । प्रकृते-
द्वितीयादचः परशब्दो नाश्रयते । परग्रहणं सर्वनाश्रयम् । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः, देवियः, देविलः ।
अनुकम्पित उपेन्द्रदत्तः उपडः, उपकः । अथाजातित्वादेव सिद्धे पृथक् उग्रहणं किमर्थम् ? खे कृते इकादेशो
यथा स्यादित्येवमर्थः । अन्यथा अनुकम्पितो भानुदत्तः भानुकः । पितृकः इत्येवमादि न सिद्ध्येव । इक-
स्य स्थानिवद्भावाद्ग्रहणेन ग्रहणत्वादेशो भविष्यतीति चेन्न; “सञ्जिपातलक्षणो विधिरनिमित्तौ तद्विनाशस्य”
अजादिसञ्जिपातकृतमुगन्तत्वम् । “चतुर्थादचः परस्य खं वक्तव्यम्” [वा०] बृहस्पतिदत्तः ।
बृहस्पतियः । बृहस्पतिलः । बृहस्पतिकः । “अनजादौ द्वितीयादचः परस्य वा खं वक्तव्यम्” [वा०] देवदत्तकः ।
देवकः । जिनदत्तकः । जिनकः । “पूर्वपदस्य च ठाजादौ अनजादौ च खं वक्तव्यम्” [वा०] दत्तिकः ।
दत्तियः । दत्तिलः । दत्तकः । “विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्” [वा०] । सत्यभामा ।
भामा । सत्या वा । विष्णुगुप्तः । गुप्तः । विष्णुर्वा । “उवर्णादिकस्य च खं वक्तव्यम्” [वा०] । परस्यादे-
रितीकारस्य । भानुदत्तः, भानुलः । वसुलः । उक्तञ्च-

“चतुर्थावनजादौ च नाशः पूर्वपदस्य च । अनिमित्ते तथैवेष्टः उवर्णान्तादिकस्य च ॥”

“वराशतद्वियेकयोः खं वक्तव्यम्” [वा०] । प्रकृते ठाचि द्वितीयात्परत्व ले कृते इत्येवमर्थः
परस्यादेः खे कृते भत्तादोकारो ये दीप्तं रीङ्भावः इत्येते विधयो न भवन्ति । भानुयः । मातृयः ।
मानुलः । “एषो द्वितीयस्ये तदादेः खं वक्तव्यम्” [वा०] । लहाडः । लहिकः । लहोडः । कहिकः ।
कपोतरोम । कपिकः । कपिलः । अमोघजिह्वः । अमिकः । अमिलः । “एकाक्षरपूर्वपदानौ द्योः खं
वक्तव्यमवयवः” [वा०] अनुकम्पितो वागाशी(दत्तः) वाचिकः । त्वचिकः । श्रुचिकः । पूर्वस्य पदकार्य-
निवृत्त्यर्थमेतत् । अषष इति किम् । षडङ्गुलिः षडिकः ।

शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादेस्तृतीयात् ॥४१॥१४०॥ शेवल सुपरि विशाल वरुण
अर्थमन् इत्येवमादेर्मृदोस्तृतीयादचः परो नाश्रयते ठाचि परतः । द्वितीयादचः परस्य खे प्राप्ते वचनम् ।
अनुकम्पितः शेवलदत्तः शेवलिकः । शेवलियः । शेवलिलः । सुपरिकः । सुपरियः । सुपरिकः । विशालिकः ।
विशालियः । विशालिलः । वरुणिकः । वरुणियः । वरुणिलः । अर्यमिकः । अर्यमियः । अर्यमिलः ।
“अकृतसन्धोर्ना शेवलादीनामिति वक्तव्यम्” [वा०] । शेवलेन्द्रदत्तः शेवलिकः । सुपर्याशोर्दत्तः सुपरिकः ।
शेवलणिकः सुपरिक इति च माभूत् । नेदं वक्तव्यम् । अकृतवद्व्यूहेन सिद्धम् । अकृतवद्व्यूहो नाम
अन्तरङ्गपरिमाणाया अव्यापारः ।

अल्पे ॥४१११४१॥ समन्ततो हीनं महत्प्रतिपक्षभूतमल्पम् । अल्पत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद्
यथाविहितं त्यो भवति । सुप इति वर्तते । अयाम्मृदो मि । सर्वनाम्नो मि इति च । अल्पमन्तमन्त्रकम् ।
घृतकम् । उच्चकैः । सर्वकैः । पचतकि । द्रव्यद्वारेण क्रियाया अल्पत्वमद्वये ।

ह्रस्वे ॥४१११४२॥ आयामतो हीनं दीर्घप्रतिपक्षभूतम् (ह्रस्वम्) । ह्रस्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्त-
मानाद् यथाविहितं त्यो भवति । ह्रस्वः पटः पटकः । वृद्धकाः । उच्चकैः । सर्वकैः । पचतकि ।

कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ॥४१११४३॥ ह्रस्व इति वर्तते । कुटी शमी शुण्डा इत्येतेभ्यो र इत्य-
र्थं त्यो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कुटी कुटीरः । शमीरः । शुण्डारः । लोकाभयत्वात्सिक्कस्येति
पुंलिङ्गता ।

कुत्सा कुपः ॥४१११४४॥ कुतः आवपनम् । कुत्शब्दाङ्कुप इत्ययं त्यो भवति । कस्यापवादः ।
ह्रस्वा कुतः कुतुपः स्नेहभाजनविशेषश्चर्ममयः ।

कासूगोणीभ्यां तरट् ॥४१११४५॥ कासूः शक्तिः आयुधविशेष इत्यर्थः । गोणीत्यावपनमुच्यते ।
कासूगोणीशब्दाभ्यां तरट् भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कासूः कासूतरी । ह्रस्वा गोणी गोणीतरी ।

वत्सोक्षाश्चर्षभेभ्यस्तनुत्वे ॥४१११४६॥ ह्रस्व इति निवृत्तं विशेषणान्तरोपादानात् । वत्स,
उक्षन्, अश्व, अश्वभ इत्येतेभ्यस्तनुत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानेभ्यस्तरट् भवति स्वार्थे । यस्य गुणस्य भावाद्
द्रव्ये शब्दविनिवेशस्तस्य तनुत्वे तरट् । तनुर्वत्सो वत्सतरः । उक्षतरः । अश्वतरः । अश्वभतरः । वत्सस्य
तनुत्वं यौवनप्राप्तिः । यौवन उपचीयमाने वत्सत्वं तनुर्भवति । उक्षा तरुण उच्यते तस्य तनुत्वं तस्मात्परस्य
वयसः प्राप्तिः । अश्वेनाश्वायामुत्पत्तौऽश्वः । तस्य तनुत्वं विज्रातीयादुत्पत्तिः । अश्वभो भारवहस्तस्य तनुत्व-
मसमर्थता ।

क्रियसदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य इतरः ॥४१११४७॥ किं यत् तद् इत्येतेभ्यो द्वयोरेकस्य निर्धारणे
गम्यमाने इतर इत्ययं त्यो भवति । सामर्थ्यान्निर्धार्यमाणवाचिभ्यः किमादिभ्यस्तयः । समुदायाज्जातिगुणक्रिया-
संज्ञाभिरेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । को भवतोः कठः । कतरो भवतोः पटुः । कतरो भवतोः कारकः ।
कतरो भवतोर्देवदत्तः । एवं यतरः । उत्तरः । महाविकल्पाधिकाराद्वाक्यमपि साधु । निर्धारणे इति किम् ? द्वयो-
र्मामयोः कः स्वामी । द्वयोरेकस्य स्वामित्वे मा भूत् । द्वयोरिति किम् ? यस्मिन् कुलौ यः प्रधानं च (व)
आगच्छत् । एकस्येति किम् ? एकग्रहणेऽक्रियमाणे बहुषु एकत्र वा द्वयोर्निर्धारणं सम्भाव्येत । तेनेहापि प्रस-
ज्येत । को भवतां काञ्चीपुरको । को एतस्मिन् ग्रामे देवदत्तगुरुदत्तादिति ।

वा बहुनां जातिप्रश्ने इतमः ॥४१११४८॥ एकस्य निर्धारण इति वर्तते । जातिश्च प्रश्नश्च जाति-
प्रश्नम् । बहुनामेकस्य निर्धारणे गम्यमाने किमादिभ्यो वा इतम इत्ययं त्यो भवति जातिप्रश्नविषये । किमो
जातिविषये प्रश्नविषये च त्यः । इतरेभ्यो जातिविषये । वाचचनमुत्सर्गस्याकः प्रापणार्थम् । को भवतां कठः ।
कतमो भवतां कठः । अकि साकः किमः कादेशो को भवतां कठः । वतमो भवतां कठः । यको भवतां कठः ।
कतमो भवतां कठः । अत्र हृच्यन्तरे पाठः । वा बहुनां परिप्रश्न इति । तेन को भवतां वैयकरणस्तार्किको नैया-
यिको वा । कतम इति भवति । बहुनामिति किम् ? द्वयोरेकस्य निर्धारणे जातिप्रश्ने पूर्वेषु इतर एव भवति ।
कतरो भवतोः कठ इति । जातिप्रश्न इति किम् ? को भवतां देवदत्तः । किमोऽस्मिन् विषये इतरमपीच्छन्ति
केचित् । कतरो भवतां कठः । कतमो भवतां कलाप इति ।

एकशब्दे ॥४१११४९॥ एकशब्दाङ्गुतरइतमौ ययोपाधिकिशिष्टौ भवतः । चकारे इतरानुकर्षार्थः ।

जातिप्रश्न इति नानुवर्तते । सामान्येन विधानम् । एकतरो भवतोर्देवदत्तः । एकतमो भवतां देवदत्तः । किमादिष्वेकग्रहणं कर्तव्यमिति केचित् । न जातिप्रश्न एव उतमः स्यात् । उत्सर्गस्याको निवृत्त्यर्थः च योगविभागः । महाविकल्पोऽनुवर्तते एव ।

इधे प्रतिकृतौ कः ॥४१॥१२०॥ इवार्थः सादृश्यम् । प्रतिकृतिः प्रतिविम्बम् । विषयद्वारेण इवार्थविशेषणमेतत् । प्रतिकृतिविषये य इवार्थस्तस्मिन् वर्तमानान्मृदः को भवति स्वार्थे । अथ इवायम् अश्वकः । अश्वप्रतिकृतिरित्यर्थः । एषम् उष्ट्रकः । गर्दभकः । प्रतिकृताविति किम् ? गौरिव गव्यः । अथ इवायं शीघ्रो गोः ।

सौ ॥४१॥१२१॥ इवार्थमात्रे गम्यमाने मृदः को भवति सुविषये । अप्रतिकृत्यर्थोऽयमारम्भः । अथ इवायमश्वकः । उष्ट्रकः । गर्दभकः । संज्ञाशब्दा एते । संज्ञाशब्देषु च इवार्थो न गम्यते । केवलं वस्तुधर्मेण सादृश्येनान्वाख्यानं क्रियते, तेनैवमपि सिद्धम् । वंशकः । वैशुकः । नडकः । हस्तलोपाधिका एताः संज्ञाः । कथं शूद्रकः । रावकः । पूर्वकः । एता अपि कुत्सितलोपाधिकाः संज्ञाः ।

उत्समनुष्ये उपमेये ॥४१॥१२२॥ मनुष्य उपमेयत्वेनाभिधेये सौ वाऽसौ च विहितस्य कस्योत् भवति । कुक्कुट इव कुक्कुटो मनुष्यः । चञ्चेव चञ्चा । वर्दिका । खरकुटी । दासी । “युक्तबहुषि लिङ्गसंख्ये” [१।१।६८] इति युक्तवद्भावः । मनुष्य इति किम् ? अश्वकः पावाणः । देवपथादेराकृतिगणस्यार्थं प्रपञ्चः ।

जीविकार्थेऽपश्ये ॥४१॥१२३॥ विक्रीयते यत्तत्पश्यम् । न पश्यमपश्यम् । जीविकार्थे यदपश्यं तस्मिन्नुपमेयत्वेनाभिधेये कस्यास्भवति । वासुदेव इवायं देवकानां वासुदेवः । “इधे प्रतिकृतौ” [४।१।१२०] इत्यनेनागतस्य कस्योत् । शिवः । स्कन्दः । विशाखः । जीविकार्थादेव प्रतिकृतय एवमुच्यन्ते । जीविकार्थं इति किम् ? जीवार्थे हस्तीव हस्तिकः । अपश्य इति किम् ? यत्तत् विक्रीयते । हस्तिकं विक्रीयते । एषोऽपि देवपथादेः प्रपञ्चः ।

देवपथादिभ्यः ॥४१॥१२४॥ “इधे प्रतिकृतौ” [४।१।१२०] “सौ” [४।१।१२१] इति चागतस्य कस्योत् भवति देवपथादिभ्यः परस्य । देवपथ इव देवपथः । इंसपथः । वारिपथः । अजापथः । राजपथः । शतपथः । सिद्धगतिः । उष्ट्रगोषः । वाम । रज्जु । हस्त । इन्द्र । दण्ड । पुष्प । मत्स्य । आकृतिगणोऽयम् । “अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च । इधे प्रतिकृतौ नास्तः कृतो देवपथादिषु ॥” अर्चासु—अर्हन् । शिवः । स्कन्दः । विष्णुः । चित्रकर्मणि—दुर्योधनः । भीमसेनः । अर्जुनः । ध्वजेषु च—ताल इवार्थं ध्वजतालः । कपिः । गरुडः । आकृतिगणालादेवेदमपि सिद्धम् ।

“मत्स्याश्चपुष्पाणि च तारकाश्च वण्डार्धैश्चज्ज्वारश्च पतत्रिण्यश्च ।

तस्मिन्मार्थे कस्ममयाश्चरेशः (त्रिवार्थे वसमाचरेणः) प्रसार (प्रासाद) गुह्यमार्कमया सुगारश्च ॥

इह दुर्योधन इवायं नटो दुर्योधनः । “उत्समनुष्ये” [४।१।१२२] “जीविकार्थेऽपश्ये” [४।१।१२३] इति वा उच्यते ।

वस्तेर्दृष्टम् ॥४१॥१२५॥ इध इत्यनुवर्तते । वस्तिशब्दादिवार्थे दृष्टं भवति । यस्मिन् प्रदेशे मलमुपसम्प्राप्तं वह्निर्निष्क्रमति स प्रदेशो वस्तिः । वस्तिरिवार्थं वास्तेवः वास्तेयी प्रणालिका । इत ऊर्ध्वं सामान्येन विधानमिवार्थमात्रे । देवप्रतिकृतौ सौ च के प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्ते दृष्टम् ।

शिलाया दः ॥४१॥१२६॥ शिलाशब्दादिवार्थे द्रो भवति । शिलेव शिलेयं दधि । शिलाया इति योगविभागादुभयमपि केचिदिच्छन्ति । शैलेयम् ।

शाखादेर्यः ॥४१॥१५७॥ शाखा इत्येवमादिभ्य इकार्ये यो भवति । शाखेव शाख्यः । मुखमिव मुख्यः । शाखा । मुख । अधन । स्कन्ध । मेघ । चरण । शृंग । ठरस् । अग्र । शरण ।

द्रव्यं भव्ये ॥४१॥१५८॥ द्रव्यमिति निपात्यते भव्येऽर्थे । भव्यविशेषे इकार्ये वर्तमानाद् इशब्दाद् य इत्ययं ल्यो निपात्यते । इरिव द्रव्यम् कार्यापणम् । इष्टार्थक्रियाहेतुरित्यर्थः । द्रव्यमयं राजा आत्मवानित्यर्थः । भव्य इति किम् ? इरिवार्यं न चेतयते पुरुषः ।

कुशाग्रच्छुः ॥४१॥१५९॥ कुशाग्रशब्दादिवार्ये ल्यो भवति । सूक्ष्मत्वेन कुशाग्रमिव कुशाग्रीया बुद्धिः । कुशाग्रीर्यं शास्त्रम् ।

साक्षद्विषयात् ॥४१॥१६०॥ इवशब्दः सादृश्यार्थस्तच्छब्देन परामृश्यते । इवार्यविषयात् सात् ल्यो भवति । इवार्यविषयस्य च मस्तेऽमेव आपकम् । यदृच्छया अतर्कितोपनते चिन्त्रीकरणे इवार्यविषये सो भवति । मुष्पुपेति सविधानमेवविषयमेव दृष्टव्यम् । काकतालीयम् । तालशास्त्राग्रे काकः प्राप्तः, तालं च पतितं तेन च पतता तालेन स काको हतः । इदं चिन्त्रीकरणम् । तथा देवदत्तश्च घृत्तं धितः । तत्राशनिश्च पतितः । तत्र देवदत्तस्याशनेश्च समागमः काकतालसमागमसदृशः । काकवधसदृशश्च देवदत्तवधः इति समागमसादृश्ये सविधानम् । वध सादृश्ये त्वविधिः । एवमन्वयवर्तकीयम् । अन्धाकुपाणीयम् । इह शास्त्रीश्यामा । पुरुषव्याग्र इति समुदाय इवार्यविषयो न भवति । किन्तु पूर्वपदमुत्तरपदं वा । तेन ल्यो न भवति ।

शर्करादिभ्योऽण् ॥४१॥१६१॥ शर्करा इत्येवमादिभ्यो इकार्येऽण् भवति । शर्करेव शर्करम् । कपालिकेव कपालिकम् । “मस्य इत्यदे” [४।३।१४५ वा०] इति पुंवङ्गावे प्राप्ते “न वुह्लोक्तः” [४।३।१४६] इति प्रतिषेधः । शर्करा । कपालिका । कपिष्ठिका । गोमत् । गोपुच्छ । पुण्डरीक । शतपत्र । नराची । नकुल । सिकता ।

अङ्गुल्यादेष्टण् ॥४१॥१६२॥ अङ्गुली इत्येवमादिभ्य इकार्ये ठण् भवति । अङ्गुलीव अङ्गुलिकम् । अङ्गुलि । भस्म । वध्रु । वल्गु । रुष् । खल । उदरिवत् । गोणी । ठरस् । मण्डर । मण्डल । शङ्कुल । कुलिश । हरि । कपि । मुनि ।

वैकशालायाष्टः ॥४१॥१६३॥ एकशालाशब्दादिवार्ये वा ठो भवति । वावचनेनानन्तरस्य ठणः समुच्चयः । एकशालेव एकशालिकः । ऐकशालिकः ।

कर्कलोहिताष्टीकण् ॥४१॥१६४॥ कर्कलोहितशब्दाभ्यामिवार्ये टीकण् भवति । कर्कः शुक्लाश्वः । कर्क इव कार्कीकः । लोहिटीकः । टकारः स्त्रियां ऊपर्यर्थः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

पूगाब्ज्योऽग्रामणीपूर्वात् ॥४२॥१॥ इव इति निवृत्तम् । पूगावाचिनो मृदोऽग्रामणीपूर्वात् स्वार्थे ञ्यो भवति । नानाभातीया अनियतवृत्तयोऽधर्म(ऽर्थ)कामपराः संघाः पूगाः । पूगशब्दः समुदायवचनस्तस्यैकत्वेन निर्देशः । यथा यूर्य वनमिति । ये त्वस्य विशेषवाचिनः शब्दास्तोषां भेदवाचित्वात् एकद्विवहवो भवन्ति । लोहध्वजा इति पूगः । लोहध्वज्यः । लोहध्वज्यो । लोहध्वजाः । शैव्यः । शैव्यो । शिवयः । वातक्यः । वातक्यो । वातकाः । “द्वेर्वहुषु तेऽवास्त्रियाम्” [१।४।११५] इति बहुषूप् । ग्रामणोरित्यर्थनिर्देशः । पूर्वशब्दोऽवयववाची । ग्रामण्यर्थः पूर्वोऽवयवो यस्य स ग्रामणीपूर्वः । अथवा ग्रामण्यर्थविषयो यस्त्यः स सादृचर्याद् ग्रामणोरित्युच्यते । स पूर्वमुख्यो यस्य पूगस्य स ग्रामणीपूर्वः । न ग्रामणीपूर्वाग्रामणीपूर्वः । ग्रामणीपूर्वात्पूगाब्ज्यो न भवति । देवदत्तो ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः । “स एषां ग्रामणीः” [४।१।१२] इति कः ।

व्रातष्फादस्त्रियाम् ॥४२॥ नानाबातोया अनियतवृत्तय उत्तेधजीविनः संघाः व्राताः । ञ्फ इति “वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ञ्फा” [३।१।८७] इत्यापत्यस्त्यो गृह्यते । व्रातविशेषवाचिभ्यो ञ्फान्तेभ्यश्च स्वार्थे यो मत्वत्-स्त्रियाम् । कपोतपाक्यः । कपोतपाक्यौ । कपोतपाकाः । ब्रैहिमत्यः । वैहिमत्यौ । ब्रैहिमताः । ञ्फान्तात् कुञ्जस्यापत्यं कौञ्जायन्यः । कौञ्जायन्यौ । कुञ्जायनाः । ब्राह्मयन्यः । ब्राह्मयन्यौ । ब्राह्मयनाः । अस्त्रिया-मिति किम् ? कपोतपाका । ब्रैहिमता । कौञ्जायनी । “वृद्धं च चरशौः वृद्ध” इति ञ्फान्तस्य जातिवाचि-त्वाङ्गोविधिः ।

शस्त्रजीविष्वङ्वाञ्ज्यङ् वाहीकेष्वचिप्रराजन्यात् ॥४२॥ वाहीकेषु यः शस्त्रजीविष्वङ्वाञ्ज्यङ्वा-चिनो मृदी विप्रराजन्यवर्जितात् स्वार्थे ञ्ज्यङ् भवति । टित्करणं स्त्रिया ङ्ज्यङ् । कौण्डीवृत्तः । कौण्डीवृत्तौ । कुण्डीवृत्तः । क्षौद्रक्यः । क्षौद्रक्यौ । क्षुद्रकाः । मालव्यः । मालव्यौ । मालवाः । कौण्डीवृत्तः । क्षौद्रकी । मालवी स्त्री । “इहो इतो ङ् याम्” [३।४।१३८] इति यकारस्य खम् । शस्त्रजीविष्वङ्गं किम् ? मल्लाः । सङ्ग्रहणं किम् ? वापुरः । सम्राट् । वाहीकेष्विति किम् ? शत्राः । पुलिन्दाः । अविप्रराजन्यादिति किम् ? गोपालयः (ब्राह्मणाः) । शालङ्कायनाः राजन्याः । विप्रप्रतिषेधे विप्रविशेषप्रतिषेधः । नहि विप्रशब्दवाच्यो वाहीकेषु शस्त्रजीविनां सङ्घोऽस्ति । राजन्यप्रतिषेधे तु स्वरूप इति प्रतिषेधः । राजन्यविशेषस्यापि प्रतिषेधं केचि-दिच्छन्ति । कावच्यः । कावच्यौ । कावच्याः । व्यदि सति स्त्रियां ङी प्रत्ययेन । शस्त्रजीविष्वङ्वादिति योगविभागा-दन्यत्रापि केचिदिच्छन्ति । शावर्यः । शावर्यौ । शवराः । पोलिन्यः । पोलिन्यौ । पुलिन्दाः । योगविभाग-कृतमनित्यम् ? तेन शवरः पुलिन्द इत्यपि भवति ।

वृक्कट्टेयस्य ॥४२॥ शस्त्रजीविष्वङ्वाचिनो वृक्कट्टेयस्य स्वार्थे ट्टेयस्य भवति । वार्केयस्यः । वार्केयस्यौ । वृकाः । स्त्रियां वार्केयौ । “इहो इतो ङ् याम्” [३।४।१३८] इति यस्त्वम् । इत् उत्तरस्य यकारस्य खं भवति स चेत्यकारो गोरव्यवभूत इति । वाहीकेषु अथि प्राप्ते, अन्यत्राप्राप्ते विधानम् । शस्त्रजीविष्वङ्ग-विशेषणं किम् ? मति (जाति) शब्दान्भाभूत् ।

“कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृक्काविव । तस्मात्क्रोधं च कामं च परित्यज्यं बुद्धोर्द्ध्वं ॥”

दामन्यादेऽङ्गुः ॥४२॥ शस्त्रजीविष्वङ्वादिति वर्तते । दामनि इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविष्वङ्ग-वाचिभ्यश्चो भवति स्वार्थे । दामनीयः । दामनीयो । दामनयः । दामनि । औलाप । वैजवापि । औदकि । आन्युतन्ति । शाकुन्तकि । सर्वसेनि । विन्दु । दुलभ । मोञ्जायन । सावत्रीपुत्र । त्रिगर्तषष्ठाः दामन्यादौ पठ्यन्ते । शस्त्रजीविनां षड्वर्गाः । तत्र त्रिगर्तवर्गः षष्ठो येषां तं त्रिगर्तषष्ठाः । कौण्डोपरयोयः । कौण्डो-परयोयौ । कौण्डोपरयाः । दारुकिः । क्रौडुकिः । जालमाली । ब्रह्मगुप्तः । जानकिः । उर्द्धं च-

“क्षेत्रास्त्रिगर्तषष्ठाः षट् कौण्डोपरयद्वारुकि । क्रौडुकिर्जालमाली च ब्रह्मगुप्तोऽथ जानकिः ॥”

पश्यादेरङ् ॥४२॥ शस्त्रजीविष्वङ्वादिति वर्तते । पशु इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविष्वङ्गवाचिभ्योऽ-ङ् भवति स्वार्थे । पाशवः । पार्श्वौ । पश्वः । पशु । रक्षः । असुर । वाहीक । वयस् । वसु । मत् । सत्वत् । दशार्ह । पिशाच । अशनि । कार्षापण । योधेय । शोधेय । धार्तय । ज्यावायेय । त्रिगर्त । भरत । उशीनर । भर्गादिषु योधेयादिभ्यः प्रतिषेधवचनं शापकम् आपत्यस्वार्थिकाः आपत्यग्रहणं गृह्यन्ते इति । तेनास्याण षप् प्राप्ते प्रतिषेधार्थं वचनं तत्र सार्थम् । पश्यादिभ्यः पुनस्तत्पञ्चस्याः स्वार्थिकस्य जीविष्वङ्गायां “कुञ्ज्यङ्वाञ्ज्यङ्गुः स्त्रियाम्” [३।१।१३८] इत्यधिकृत्य “अतोऽप्राप्यभर्गादेः” [३।१।१३८] इत्युप् । “वृद्धः” [३।१।१३८] इत्युक्ताः । पश्वः । असुरः (री) । रक्षः ।

अभिजिह्विभृतोऽणो यञ् ॥४१२७॥ शस्त्रजीविषङ्गादिति निवृत्तम् । अभिजित् विदभृत् इत्येताभ्यामण्यन्ताभ्यां स्वार्थे यञ् भवति । “वृद्धाव् वृद्धवदिति वक्तव्यम्” [वा०] वृद्धापत्ये योऽण् विहितः तदन्तादयं यञ् वृद्धवच्च भवति । अभिजितोऽपत्यमण् । अभिजितः । तदन्तादयञ् अभिजित्यः । अभिजित्यौ । अभिजिताः । वैदभृत्यः । वैदभृत्यौ । वैदभृताः । वृद्धादिति किम् ? अभिजिद् देवताऽस्य अभिजितः । विदभृत् इदं वैदभृतम् । वृद्धवदिति किम् ? अभिजित्यस्यापत्यं युवाऽऽभिजित्यायनः । “दक्षिणे” [३१३१०] इति कथं सिद्धः ।

शिखाशालाशम्यूर्णाभियां मतोः ॥४१२८॥ शिखा, शाला, शमी, उर्णा, भी, इत्येतेषां शब्दानां मतोऽण् तदन्तात्स्वार्थे यञ् भवति । शिखावतोऽपत्यमित्यण् । तदन्तादयं यञ् । शैखावत्यः । शैखावत्यौ । शैखावताः । शालावत्यः । शालावत्यौ । शालावताः । शामीवत्यः । शामीवत्यौ । शामीवताः । और्णावत्यः । और्णावत्यौ । और्णावताः । भैमत्यः । भैमत्यौ । भैमताः । वृद्धादित्येव शिखावत् इदं शैखावतम् । “वृद्धवदिति वक्तव्यम्” [वा०] शैखावत्यायनः । नेदं वक्तव्यम् । आपत्यस्वार्थिकाः आपत्यग्रहणेन गृह्यन्ते इत्येव सिद्धम् ।

ते द्वयः ॥४१२९॥ ते व्यादयो द्विसंज्ञका भवन्ति । तथैवोदाहृतम् । ते ग्रहणम् अनुक्रान्तसंज्ञि-
प्रतिपत्त्यर्थम् ।

संख्यायाः पादशतेभ्यो वीप्सादण्डायागे युञ् ॥४१२१०॥ संख्यादेः पादशतान्तान्मृदः वीप्सा-
त्यागेषु गम्यमानेषु युञ् भवति । तासन्निधानेऽन्त्यस्यालः खं च । “यस्य कर्त्ता च” । [४१११३६] इति यदि खं क्रियते, तस्य परनिमित्तत्वात् “परेऽचः पूर्वविधौ” [३१३१०] इति स्थानिवद्भावात् “पादः पद्य” [४१११३३] इति पद्मावो न स्यात् । इदं पुनः खमनिमित्तमिति न स्थानिवद्भावः । द्वौ द्वौ पादौ भुङ्क्ते द्विपदिकां भुङ्क्ते । त्रिपदिकां भुङ्क्ते । हृदये रसः । बुनैव वीप्सार्यस्य ओतित्वात् वीप्सालक्ष्यं द्वित्वं निवर्तते । द्वे द्वे शते भुङ्क्ते द्विशतिकां भुङ्क्ते । त्रिशतिकां भुङ्क्ते । दण्डे—द्वौ पादौ दण्डितः द्विपदिकां दण्डितः । त्रिपदिकां दण्डितः । त्यागे—द्वौ पादौ व्यवसृजति द्विपदिकां व्यवसृजति । त्रिपदिकां व्यवसृजति । त्रिशतिकां व्यवसृजति । युन्नन्तं स्वभावतः स्त्रियां वर्तते । संख्याया इति किम् ? पादं पादं ददाति । पादशतेभ्य इति किम् ? द्वौ द्वौ प्रस्थौ ददाति । बहुलनिर्देशादन्यथापि भवति । द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विमोदकिकां ददाति । द्विहलिकां ददाति । वीप्सादिग्रहणं किम् ? द्वौ पादौ भुङ्क्ते ।

स्थूलाविम्यः प्रकारोक्तौ कः ॥४१२११॥ स्थूल इत्येवमादिभ्यः प्रकारोक्तौ गम्यमानावां को भवति । आतीयस्यापवादः । अत्रापि प्रकारवति त्यः स्थूलाणुमाषेषु । स्थूलप्रकारः स्थूलकः । अणुकः । माषकः । इषुकः । अपरेषां व्याख्या । माषेध्वित्युपाधिः । स्थूलका माषाः । अणुका माषाः । स्थूलाणुमाषेषु । कृष्णातिलेषु । पाद्यकालावदाताः सुरायाम् । गोमूत्र आच्छादने । सुराया अहो । वीर्याशलिषु । पत्रमूले समस्तव्यस्ते । यववीहिषु । कुमारीपुत्र । कुमारी । श्वसुरः । मणि इक्षु तिल । चञ्चद्बृहत्तोरप्यत्र पाठः कर्तव्यः ।

क्लादनत्यन्ते ॥४१२१२॥ अनत्यन्तमकात्स्न्यम् । अनत्यन्ते कर्तमानात् क्लान्तान्मृदः को भवति । अनत्यन्ते भिन्नं भिन्नकम् । छिन्नकम् । अनत्यन्त इति किम् ? भिन्नम् । अत्र भेदनक्रियायाः कात्स्न्येन संबन्धः ।

अ सामेः ॥४१२१३॥ सामिशब्दात्परं यत्क्रान्तं तस्मात् को न भवति । सामिकृतम् । सामिभुक्तम् । सामिपर्यायाणामपि ग्रहणमिति केचित् । अर्थकृतम् । नेमकृतम् । ननु चात्र पदान्तरेणानत्यन्तगतेरभिहि-

तत्त्वात्को न प्राप्नोतीति प्रतिषेधवचनमनर्थकम् । एवं तर्हीदमेव प्रतिषेधवचनं शापकं स्वार्थेऽप्ययं को भवति । तेन सिद्धम् । भिन्नतरकम् । बहुतरकम् । अर्धच्छिन्नकम् । अर्धभिन्नकम् ।

बृहत्तिका ॥४२॥१४॥ बृहत्तिकेति निपात्यते । बृहतोऽशब्दादाच्छ्रुदने वर्तमानात्स्वार्थे नित्यं को निपात्यते । बृहत्तिका साटी । आच्छादनादन्यत्र को न भवति । बृहती ओषधिः ।

खोऽलङ्कर्मपुरुषात् ॥४२॥१५॥ अलङ्कर्मन् अलङ्कुरुष इत्येताभ्यां स्वार्थे लो भवति । अलङ्क-
मेधेऽलङ्कर्मणः । अलङ्कुरुषात्पुरुषात् । “अलङ्कुरुष” [१४२३] इत्यादिनाऽपि । “लङ्कुरुषः”
[१२॥८१] इत्यत्र “पर्यादयो रकामाद्यर्थे अपा” [वा०] इति षसः ।

अपङ्क्त्याऽसतङ्गवधियोः ॥४२॥१६॥ अपङ्क्त, आसितङ्ग, अविद्यु इत्येतेभ्यः स्वार्थे लो भवति ।
अविद्यमानानि पङ्क्त्यास्मिन्निति अपङ्क्त्यो देवदत्तः । पितृपितामहपुत्राणामङ्गीणि न पश्यतीत्यर्थः ।
मन्त्रोऽपि द्वाभ्यां यः क्रियते, येन वा कन्दुकेन द्वौ कौडितः सोऽप्येवमुक्तः । अथवाऽनशब्द इन्द्रियपर्यायो-
ऽस्ति । अविद्यमानानि पङ्क्त्यासतङ्गवधियो मत्स्यः । गुणदोषविचारकमं पङ्क्त्यामत्य नास्तीत्यर्थः ।
आसिता गावोऽस्मिन्नित्यासितङ्गवीनमरणम् । अतएव निपातनात्कर्तरि क्तः । पूर्वपदस्य च सुगागमः । राशि
अधि राजाधीनम् । पुण्येऽधि पुण्याधीनम् । “ईश्वरेऽधिना” [१४॥१८] इति अधिना योगे ईप् गिति
संज्ञाप्रतिषेधश्च । अधिशब्दः शौचवादिषु पठ्यते, तेन षसः । नित्यश्चेष्ट एव इष्यते, उत्तररूत्रे वाग्रहणात् ।

वाऽञ्चैरदिक् स्त्रियाम् ॥४२॥१७॥ अञ्च्यन्तान्मृदोऽदिक् स्त्रियां वर्तमानात् लो भवति स्वार्थे वा ।
अदिकस्त्रियामिति प्रसज्यप्रतिषेधादिह तदन्तविचित्रमर्थः । प्राञ्चतीति प्राङ् (प्राक्) प्राचीनम् । उदक्
उदीचीनम् । अवाङ् (क्) अवाचीनम् । अदिकस्त्रियामिति किम् ? प्राची दिक् । प्रतीची । दिग्ग्रहणं
किम् ? प्राचीना शाला । तिरश्चीना स्थूणा । स्त्रीग्रहणं किम् ? प्राचीनं दिग्ग्रहणम् । प्राची दिग्ग्रहणीयेति
विग्रहः “दिक्छन्द” [४१॥१२] इत्यादिना अस्तात् । “अञ्चैरपि” [४१॥१३] इति तस्योप् । स्वभावत
उप्यस्ततेर्नपुंसकलिङ्गम् । वाच्येनात् स्वार्थिकेषु निवृत्ता महाविकल्पाधिकार इति गम्यते । तेन पाश्चात्तमादयः
प्राक् [छद्देला देशात्] कल्पदेशीयात् । व्यादयः प्राङ्मुनः । आमादयः प्राङ्मथः नित्या वेदितव्याः । याप्यो
वैयाकरणः । अथमेवामतिशयेन पटुरित्येवमादौ वाक्ये न प्रकृतिर्याप्येऽतिशयने वा वर्तते किन्तु पदान्तरमत्त-
स्यो न भवति ।

जातिरङ्गो बन्धुनि ॥४२॥१८॥ बन्धतेऽस्मिन् जातिरिति बन्धुद्रव्यमिह जात्यधिकरणभूतं
गृह्यते नपा निर्देशात् । जातिशब्दाद्बन्धुनि वर्तमानात् लो भवति । केवलजातिशब्दस्य बन्धुनि कृत्यसम्भवात्त-
दन्तविधेः । क्षत्रियो जातिरस्य क्षत्रियजातीयः । क्षत्रिय एवोच्यते । शोमना जातिरस्य शोमनजातीयः ।
दुष्टा जातिरस्य दुर्जातीयः । का जातिर्मवतः, किंजातीयो भवान् । द्वयोर्विकल्पभोर्मध्ये नित्योऽयं विधिः ।
“प्रकारोक्तौ जातीयः” [४१॥१९] इत्येव सिद्धे किमर्थमिदं जात्यन्तस्य वसस्य केवलस्य च प्रयोगो माभूत्
इत्येवमर्थम् । कयं दुर्जातेः सूतपुत्रस्येति प्रयोगः । चिन्त्यमेतत् । बन्धुनीति किम् ? ब्राह्मणजातिरदृश्यपापा ।

वेद्ये स्थानान्तात् ॥४२॥१९॥ स्थानान्तान्मृद इवार्थे वा लो भवति । पितुः स्थानमिव स्थानमस्य
पितृस्थानः । “इवोपमानपूर्वस्य गुणं वा” [वा०] इति । उपमानपूर्वस्य वसो भवति योश्च स्वम् । यथा उष्ट्रमुख
इति । अयं स्थानान्तो वस इवार्थे वर्तते । अस्माद्वा लो भवति । पितृस्थानीयः । पितृस्थानः । गुरुस्थानीयः ।
गुरुस्थानः । पुनर्वाग्रहणमनन्तरस्य नित्यतो ख्यापयति । इव इति किम् ? गवां स्थानम् गोस्थानम् । “सुवृष्यो
वदन्तविधिर्नास्ति” इति अन्तग्रहणं कृतम् । इह कस्माज्ज भवति । गोः स्थानमिति । नैष दोषः । इवग्रहणं

स्थानविशेषणम् । इवार्थे यः स्थानशब्दो वर्तते, तदन्तादिति । वसे च स्थानशब्द इवार्थे वर्तते । वसे तु पद-
सङ्घात इवार्थे वर्तते इति न भवति ।

किमेमिह भिन्नाद्यामद्रव्ये ॥४१२२०॥ किम एकारान्तस्य मिहः क्लिप्तशक्यस्य च अनन्तरो यो
भक्तदन्तान्मृद आमित्ययं त्यो भवत्यद्रव्ये । लिङ्गसंख्यायुक्तप्रत्ययकारणं द्रव्यम् । द्वाविमौ किम्पचतः,
अयमनयोः कितरां पचति । कित्तमाम् पचति । एतौ द्वाविमौ पूर्वाह्णे भुञ्जाते । अयमनयोः पूर्वाह्णेतरां भुङ्क्ते ।
एतद्ग्रहणसामर्थ्याद् द्रव्येऽपि कालो विधिरयम् । इह कस्माच्च भवति । अयतेर्विचि तरे च कृते जेतरे इति ।
अनभिधानादत्र निजेष नास्ति । मिह—पचतितराम् । पचतितमाम् । द्वाविमौ उच्चैर्हस्तः । अयमनयो-
रुच्चैस्तरां हसति । अद्रव्य इति किम् ? उच्चैस्तरो वृक्षः । उच्चैस्तमो वृक्षः ।

भिन्नोऽण् ॥४१२२१॥ “जिह्वभिचिचौ” [११३१६] इति भावे जिन् विहितः । भिन्नन्तादण्
भवति स्वार्थे । “कृद्ग्रहणे विकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [प.] सांकोटिनम् । सांविद्यम् । सांमार्जिनम् ।
“प्रत्योऽनपत्येयीमः” [११३१५५] इति टिलप्रतिषेधः ।

वास्त्रियाम् ॥४१२२२॥ स्त्रियामित्यधिकृत्य “कर्मव्यातिहारं जः” [११३१७] इति ङो विहित-
स्तदन्तात्स्वार्थेऽण् भवति स्त्रियाम् । व्यावक्रेशी । व्यात्युद्धी । व्यावचर्ची वर्तते । “पदे व्योरैयीव्” [११२१८]
इति तस्य विधेः “न जे” [५१२११] इति प्रतिषेधे कृते । आदेरैप् । स्त्रीग्रहणं किम् ? स्त्रियामेव हि ओ
विहितस्तस्मादयं स्वार्थिकः । स्वार्थिकाश्च प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्ते इति । एवं तर्हि इदमेव शापकम् ।
कचित्स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अतिवर्तन्तेऽपि । कुटीरः । देवता । गुहकल्पा द्राक्षा इत्येक-
मादि सिद्धम् ।

विसारिणो मत्स्ये ॥४१२२३॥ विसारिन्शब्दात्स्वार्थेऽण् भवति मत्स्येऽभिधेये । विसारीति
वैसारिणो मत्स्यः । ग्रहादिपाठाणिणन् । मत्स्य इति किम् ? विसारी तैलविन्दुरिवाम्भसि ।

संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्वस् ॥४१२२४॥ ध्वयः क्रियारूपः साहचर्यादुशब्देनोक्तः ।
ध्वभ्यावृत्तिः अमित्रकर्तृकथाः क्रियायाः पौनःपुन्यम् । ध्वभ्यावृत्तौ वर्तमानेभ्यः संख्याशब्देभ्यः स्वार्थे
कृत्वसित्ययं त्यो भवति । अस्वपदेनात्र विग्रहः । पञ्चवारान् भुङ्क्ते पञ्चकृत्वोऽहो भुङ्क्ते । शतं वारान्
भुङ्क्ते शतं वा वाराणां भुङ्क्ते शतकृत्वः । बहुकृत्वः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । संख्याया इति किम् ?
सुहृत्सुहृत्सुहृत् । प्रभूतान् वारान् भुङ्क्ते । पुग्रहणं किम् ? द्रव्यस्य गुणस्य वा अभ्यावृत्तौ माभूत् । पञ्चसु
कालेषु दण्डी । षट्सु कालेषु शुक्रः । अभ्यावृत्तिग्रहणं किम् ? पञ्च पाकाः । नात्राभिन्नस्य पाकस्य पौनः-
पुन्यं किन्त्वोदनमुद्गादोनां पाकाः ।

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥४१२२५॥ द्वि त्रि चतुर् इत्येतेभ्यो ध्वभ्यावृत्तौ सुच् भवति । कृत्वसोऽ-
पवादः । चकारः “कालेऽधिकरणे सुबर्धे” [११३१६] इत्यत्र विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । द्वि-
र्भुङ्क्ते । त्रिर्भुङ्क्ते । भुविाक्रया सामान्येनैका । सा कालमेदाद्भिद्यते ।

एकस्य सकृत् ॥४१२२६॥ एकशब्दस्य सकृदित्ययमादेशो भवति सुच्यः । ध्वभ्यावृत्तिरत्र व्यपदे
शिवद्भावेनाभिसंभध्यते । एकवारं भुङ्क्ते सकृद् भुङ्क्ते । एकः पाक इत्यत्राभिधानान्नास्ति ।

बहोर्धा वाऽऽसत्तौ ॥४१२२७॥ आसत्तिरनेप्रकृष्टकालता । विषयद्वारेण ध्वभ्यावृत्तिविशेषणमेतत् ।
आसत्तौ वा क्रियाया अभ्यावृत्तिस्तस्यां वर्तमानाद्बहुशब्दाद्धा इत्ययं त्यो भवति वा । बहुधा भुङ्क्ते । बहुकृत्वो
भुङ्क्ते । आसत्ताविति किम् ? बहुकृत्वो भुङ्क्ते मासस्य ।

तत्प्रकृतोक्तौ मयट् ॥४२।२८॥ प्रकर्षेण कृतं प्रकृतं प्रचुरमित्यर्थः । तदिति वासमर्थ्यात् प्रकृतोक्तौ वर्तमानात् स्वार्थे मयट् भवति । अन्नं प्रकृतम् अन्नमयं पूजायाम् । दधिमयं पूजायाम् । यवागूः प्रकृता यवागूमयी । पेयामयी । स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्तेऽपि । अथवा नार्यं स्वार्थिकः । अभिकरणार्थेऽयं विधीयते । कथं ज्ञायते । उक्लिर्वचनम् । प्रकृतस्योक्तिः प्रकृतोक्तिः । तदिति वासमर्थ्यात् प्रकृतोक्तावर्थे मयट् भवति । वृत्तं प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन् घृतमय उत्सवः । घृतमयी पूजा । पुष्पमय उत्सवः । पुष्पमयी पूजा । उक्तिग्रहणसामर्थ्यात् उभयोऽपि सूत्रार्थः प्रमाणम् ।

समूहवच्च बहुषु ॥४२।२९॥ तत्प्रकृतोक्ताविति वर्तते । समूहवत् त्यविधिर्भवति मयट् च बहुषु प्रकृतेषु । यथेह भवति । अपूपानो समूहः आपूपिकम् । “अचित्तहस्तिघेनोऽण्” [१।२।३३] इति ठण् । एवम् अपूपाः प्रकृता आपूपिकम् । पक्षे अपूपमयम् । एवं मौदकिकम् । मौदकमयम् । शाष्कुलिकम् । शाष्कुलीमयम् । प्रकृतिलिङ्गसंख्यातिवर्तनम् । द्वितीयसूत्रार्थे अपूपाः प्रकृता असिन्नुच्यन्ते आपूपिक उत्सवः । अपूपमयः । आपूपिकी अपूपमयी पूजा । शाष्कुलिकः शाष्कुलीमय उत्सवः । शाष्कुलीमयी पूजा ।

भेषजानन्तावसथेतिहाज्यः ॥४२।३०॥ भेषजादिभ्यः स्वार्थे ङ्यो भवति । कण्डवादिषु भिषजिति पठ्यते औषधस्य करणम् । तस्य कर्तृत्वविवक्षायां भिषज्यतीति भेषजम् । पचादित्वादच् । “ह्रस्वो यः” [४।४।११] इति यञन् । अत एव निपातनादेप् । भेषजमेव भेषज्यम् । अनन्तमेवानन्त्यम् । आवसथ एवावसथ्यम् । इतिहेत्यैतिहायम् । विभाषेह सम्यङ् द्यते ।

देवतान्तात्तादर्थ्ये यः ॥४२।३१॥ तस्मै इति तदर्थम् । तदेव तादर्थ्यम् । देवताशब्दान्तात्तादर्थ्ये वाच्ये यो भवति । गुरुदेवतायै इदम् गुरुदेवत्यम् । पितृदेवत्यम् ।

पाद्यार्थ्ये ॥४२।३२॥ पाद्यार्थ्यशब्दो निपात्येते । पादशब्दात्तादर्थ्ये यः पाञ्चदस्य पदादेशाभावश्च निपात्यते । पादार्थ्यमुदकम् पात्रम् । अर्घ्यशब्दात्तादर्थ्ये यः । अर्घ्यार्थमर्थ्यम् ।

ग्योऽतिथेः ॥४२।३३॥ तादर्थ्ये इति वर्तते । अतिथिशब्दात्तादर्थ्येऽभिप्रेये श्यो भवति । अतिथ्यर्थमिदमातिथ्यम् ।

देवास्तत् ॥४२।३४॥ तादर्थ्ये इति निवृत्तम् । देवशब्दात् स्वार्थे तल् भवति । देव एव देवता ।

कोऽवियायादेः ॥४२।३५॥ अविशब्दाद् याव इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्वार्थे को भवति । अविरेव अविकः । यावादिष्वेव अविशब्दः पठितव्यः । पृथग्रहणं किमर्थम् ? अवेर्विकार आविकमित्येवमादौ के कृतेऽण्यथा स्यात् । यवानां विकारो यावः । याव एव यावकः । यान । मणि । अस्थि । लान्द्र । महु । पीत । स्तम्ब । अतावुष्णशीते । पशौ लूनविपाते । अणु निपुणे । पुत्रात् कृत्रिमे । पुण्य । शात । अशात । स्नात वेदसमाप्तौ । शून्य रिक्ते । तनु सूत्रे । ईयसश्च । भूयस्कम् । श्रेयस्कम् । कुमार क्रीडकानि च । उक्त्यठकः । कन्दुकः । वेत्यनुवर्तते ।

लोहितान्मणौ ॥४२।३६॥ लोहितशब्दान्मणौ वर्तमानात् स्वार्थे को भवति । लोहित एव लोहितको मणिः । “लोहितशब्दात् स्त्रीस्थस्य परत्वात् अनेन केन बाधनं वक्तव्यम्” [वा०] । परत्वात् के कृते सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एवेति नत्वङीविधावसति, अतएवपि कृते लोहितको मणिरिति । यदात्वबाधनं तदा नत्वङीविधौ कृते पश्चात्कः । “केऽणः” [१।२।१२५] इति प्रादेशः । लोहितिका मणिः । मणाविति किम् ? लोहितः खदिरः ।

वर्णेऽनित्ये ॥४।२।३७॥ अनित्ये वर्णे वर्तमानात्लोहितशब्दात्को भवति । कोपेन लोहितकं चक्षुः । स्त्रियां पूर्ववदुभयं भवति । लोहितिका कन्या कोपेन लोहिनीका वा । अनित्य इति किम् ? लोहित इन्द्रगोपकः । लोहितं रुधिरम् ।

रक्ते ॥४।२।३८॥ लान्ताकृमिरागादिना रक्ते वस्त्रादिके वर्तमानात् लोहितशब्दात्को भवति । लोहितकः पट्टसाटकः । लोहितकः कम्बलः । अत्र योगवशात् यावद् द्रव्यमात्रे लोहितत्वमिति पूर्वेषां प्राप्तिः । स्त्रियां पूर्ववदुभयम् । लोहितिका पट्टसाटिका लोहिनीका वा ।

कालाच्च ॥४।२।३९॥ वर्णे नित्ये रक्ते इति द्वयस्यानुकर्षणार्थश्चकारः । अनित्ये वर्णे रक्ते च वर्तमानात् कालशब्दात् को भवति । कोपेन कालकं वस्त्रम् । कालिका साटी । अनुक्रान्तेषु चतुर्ष्वपि चेति वर्तते ।

विनयादेष्टुण् ॥४।२।४०॥ विनय इत्येवमिति स्वार्थे ङश्चकार । विनय एव वैनयिकम् । विनयः । समयः । उपायात्प्रश्नः । सङ्गतिः । कथञ्चित् । अकस्मात् । उपचारः । समाचारः । व्यवहारः । सम्प्रदानः । समुत्कर्षः । समूहः । विशेषः । अत्ययः । वेत्यनुवर्तते प्रत्ययः । अनुगादिशब्दोऽपीह पठनीयः ।

वाचस्तदर्थ्यायाः ॥४।२।४१॥ सा वाक् अर्थोऽभिधेयोऽस्या इति तदर्थः । तदर्थ्या वाचः स्वार्थे ङश्चकार । देवदत्तेन सन्निधौ वाग् विनदत्ते । सा यया वाचा विनदत्तेन परस्य प्रकाशयते सा वाक्तदर्थ्या वागर्थेत्यर्थः । वागेव वाचिकम् । तदर्थ्या इति किम् ? स्तिग्धवाक् सुजनस्य च व्यवहियते ।

तद्युक्ताकर्मणोऽण् ॥४।२।४२॥ तया वाचा युक्ते यत्कर्म तदभिधायिनः स्वार्थे ङश्चकार । यदेव वाचा व्यवहियते इदं कर्म कुर्वति, तदेव क्रियमाणं कर्म वाग्युक्तमुच्यते । कर्मैव कर्मणम् । तद्युक्तादिति किम् । स्वयमेव देवदत्तेन कर्मकृतम् ।

ओषधेरजातो ॥४।२।४३॥ ओषधिशब्दादजातौ वर्तमानादण् भवति । ओषधिरेव औषधं पीयते । अजाताविति किम् ? स्थिरोऽयमस्त्वोषधिः क्षेत्रे ।

प्रज्ञादेः ॥४।२।४४॥ प्रज्ञ इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे ङश्चकार । प्रजानातीति प्रज्ञः । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । 'प्रज्ञाप्रज्ञादर्चावृत्तिभ्यो णः' [४।१।२८] इति मत्वर्थीयेन सिद्धेऽपि स्त्रियां विशेषः । अणि प्राज्ञी । णं प्राज्ञा । प्रज्ञ । वणिज् । उशिक् । उणिज् । प्रत्यक्ष । विद्वस् । विदन् । वशिक् । द्विदश । षोडन् । विद्या । मनस् । ओष शरीरे । शुद्धत् । कृष्ण मृगे । चिकीर्षत् । वसु । मस्त । सत्त्वन्तु । दशार्ह । वयस् । क्रुट् । रज्जस् । असुर । शत्रु । चोर । योष । चक्षुष् । पिशाच । अशनि । कर्षापण । देवता । बन्धु । आकृतिगणोऽयम् । विकृतिरेव वैकृतम् ।

मृदस्तिक्तकः ॥४।२।४५॥ मृत्-शब्दात्स्वार्थे तिको भवति । मृदेव मृत्तिका । स्त्रीविषयत्वाद्यापि कृते 'त्यस्ये कयापीद' [४।२।५०] इत्यादिना इत्येन सिद्धे इकारोच्चारणं किम् ? द्वाम्बा मृत्तिकाभ्यां कृते द्विमृत्तकम् । 'हङ्गुपु' [४।१।४] इति स्त्रीत्वस्योपि अवयवार्थम् ।

सस्नौ प्रशंसे ॥४।२।४६॥ प्रशंसे वर्तमानान्मृच्छन्दाभित्यं स स्न इत्येतौ त्थौ भवतः । रूपापवादः । प्रशंस इति प्रकृत्यर्थविशेषणमेतत् । मृत्ता । मृत्त्वा । उत्तरत्र वाग्रहणादिह नित्यो विधिः । यदा मृच्छदेन प्रशंसो नाभिधीयते किन्तु शब्दान्तरेण गृह्यते तदा वाक्यतिक्रमो भवतः । मृत्प्रशस्ता । मृत्तिका प्रशस्ता ।

बहुल्यार्थाच्छुस्कारकाद्या ॥४।२।४७॥ बहुल्यार्थेष्वप्यर्थान्तरकारकविशेषणात् शस् भवति वा । इह बहुशब्दो नानाधिकरणवाचो न वैपुल्यवाचो । अल्पशब्दोऽपि नानाधिकरणवाचो नस्वीयार्थवाचो गृह्यते ।

बहुभ्य आगतः । बहुश आगतः । भूरिश आगतः । बहुभ्यो देहि । भूरिशो देहि । बहुभिर्भुज्जनाति । बहुशो
 लुनाति । भूरिशो लुनाति । बहुषु वसति । बहुशो वसति । भूरिशो वसति । बहून् देहि । बहुशो देहि । भूरिशो
 देहि । बहुभिर्भुक्तम् । बहुशो भुक्तम् । भूरिशो भुङ्क्ते । अल्पेभ्य आगतः । अल्पश आगतः । स्तोकश
 आगतः । इत्येवमादि ज्ञेयम् । बहुलपार्थादिति किम् ? ग्रामादागच्छति । कारकादिति किम् ? बहुभिः सह
 भुङ्क्ते । वाग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनर्वाग्रहणं पूर्वस्य विधेर्नित्यार्थम् । प्रशंस इति वर्तते तदिह बहुलपार्थान्मन्त्रस्यै
 गम्यमाने शस् भवतीत्यर्थः । बहुशो ददाति आभ्युदधिकेषु कर्मसु । अल्पशो ददाति अनिष्टेषु कर्मसु ।

संख्यैकाद्वीप्सायाम् ॥४१२॥४८॥ कारकादिति वर्तते । संख्यावाचिनः एकान्ताच्च कारकाद्वीप्सायां
 वर्तमानाद्वा शस् भवति । वीप्साद्वित्यस्यापवादः । अथवा शस्त्वोक्तत्वाद् द्वित्वं निवर्तते । एकशो देहि ।
 वाक्यपदे वीप्सायां द्वित्वम् । “एको वचस्” [५१३७] इति वचद्वावात् “सुपो उमुदोः” [११४१४२] इति
 सुप उपि पृती समुदावादात्, ददौ देहि । द्वौ द्वौ देहि द्विशो देहि । त्रिशो देहि । एकान्तात् । माषं माषं देहि
 माषशो देहि । कार्षापणशो देहि । प्रस्थशो देहि । संख्यैकादिति किम् ? माषौ माषौ देहि । वीप्सायामिति किम् ?
 द्वौ ददाति । माषं ददाति । कारकादित्येव । द्वाभ्यां द्वाभ्यां सह भुङ्क्ते । प्रस्थस्य प्रस्थस्य स्वामो । कथमेकैकशो
 मन्त्रिणाः पृच्छेदिति ? चिन्त्यमेतत् । यथा वा स्त्रीत्यान्तात् स्वार्थिके उत्पन्ने पुनः स्त्रीत्यः कुमारीतरेति । एवं
 द्वित्वे कृते पुनः शस् ।

प्रतियोगे कायास्तसिः ॥४१२॥४९॥ वेति वर्तते । “यतः प्रतिदाप्रतिनिधी प्रतिना” [११४२१]
 इति प्रतिना योगे का विहिता । तदन्तात्तसिर्भवति वा । इकारः “कायास्तस्” [४११७१] “तसेः”
 [४११७४] इति विशेषणार्थः । अमथकुमारः श्रेयिकतः प्रति । श्रेयिकात् प्रति । प्रयोतनो वृत्तिषेणातः
 प्रति । वृत्तिषेणात् प्रति । “तसिप्रकरणे आद्यादिभ्यः उपसंख्यानम्” [४१०] । आदौ । आदितः ।
 भव्यतः । अन्ततः । पृष्ठतः । आकृतिगणोऽयम् ।

अपादानेऽहीयरुद्धोः ॥४१२॥५०॥ “काऽपादाने” [११४३७] इति अपादाने का विहिता ।
 तदन्तात्तसिर्वा भवति हीयरुद्धसंघि न चेदपादानम् । सुध्नादागतः । सुध्न आगतः । चौरभ्यो विभेति
 चौरतो विभेति । अपादान इति किम् ? अन्यो देवदत्तात् । अहीयरुद्धोरिति किम् ? सार्थादीनः । कर्मण्यस्य
 क्तः । पर्वतादवरोहति । हीय इति जहातेः कर्मणि यक् तस्यानुकरणम् । किमर्थम् ? विहीतेः प्रतिषेधो माभूत् ।
 उदघेखज्जिहीते । उदधित उज्जिहीते । “मन्त्रो वृणांतो हीनः” इत्यत्र आद्यादित्वात् भान्तात्तसिः ।

क्षेपाव्ययाऽतिग्रहेष्वकर्तृभायाः ॥४१२॥५१॥ क्षेप, अव्यया, अतिग्रह, इत्येतेषु विषयभूतेषु
 या कर्तुरन्यत्र विहिता भा तदन्ताद्वा तसिर्भवति । क्षेपे-वृत्तेन क्षिप्तः वृत्तः क्षिप्तो निन्दित इत्यर्थः । अव्यया-
 याम्-वृत्तेन न व्यथते वृत्ततो न व्यथते न चलतीत्यर्थः । अतिग्रहे-वृत्तेनातिगृह्यते वृत्ततोऽतिगृह्यते । अतिमात्रं
 गृह्यत इत्यर्थः । सर्वत्र करणे हेतौ वा भा । क्षेपादिष्विति किम् ? दात्रेण लुनाति । अकर्तृग्रहणं किम् ?
 देवदत्तेन क्षिप्तः । मत्सा इति किम् ? वृत्तमस्य क्षिप्यते ।

हीयमानपापयोगात् ॥४१२॥५२॥ अकर्तृभाया इति वर्तते । हीयमानपापान्यां योगो यस्य
 तस्मादकर्तारि भान्ताद्वा तसिर्भवति । हीयमानयोगात् वृत्तेन हीयते । वृत्ततो हीयते । चारित्र्येण हीयते । पाप-
 योगात् वृत्तेन पापः । अत्रापि करणे हेतौ वा भा द्रष्टव्या । नन्वत्रापि क्षेपोऽस्तीति पूर्वस्यैव तसिः सिद्धः ।
 नैष दोषः । पूजाप्यत्र गम्यते । नीचवृत्ततो हीयते । पापवृत्ततो हीयते । यदि वा तत्त्वाख्यानमत्र सूत्रे
 विवक्षितम् न निन्दा । अकर्तरीत्येव । देवदत्तेन हीयते ।

ताया व्याभये ॥४१२॥५३॥ नानापक्षाभयो व्याभयः । तान्ताद्वा तसिर्भवति व्याभये गम्यमाने ।

नमिरर्ककीर्तितोऽभवत् । अर्ककीर्तेरभवत् । मेघप्रभो मेघेश्वरतोऽभवत् । गम्यमानपक्षापेक्षा वा । व्याश्रय इति किम् ? देवदत्तस्य इति ।

रोगात्पणये ॥४१२॥४४॥ अपनयः चिकित्सेत्यर्थः । ताया इति वर्तते । रोगवचिनस्तान्तात् वा तस्मिन्भवति अपनये गम्यमाने । प्रवाहिकायाः कुस । प्रवाहिकातः अपनयमस्याः कुदित्यर्थः । अपनय इति किम् ? प्रवाहिकायाः करोति प्रकोनमित्यर्थः ।

कृश्वस्तियोगेऽतत्त्वसम्पत्तिरिति च्चिः ॥४१२॥५५॥ वेतीहानुवर्तते । न सः असः कारणमित्यर्थः । अतस्य तत्त्वन् विकाररूपापत्तिः अतत्त्वम् । सम्पद्यते इति सम्पत्ता सम्पद्यतेः कर्तृत्वर्थः । अतत्त्वत्वे गम्यमाने सम्पद्यतेः कर्तरि वर्तमानात् सुबन्तात् उत्तरावस्थाभिधायिनश्चिन्वर्भवति कृश्वस्तियोगे । अल्पान्तगर्धेन शब्देन विग्रहः क्रियते । अशुक्लं शुक्लं करोति शुक्लीकरोति प्रासादम् । अत्र करोतेः कर्मभावमापन्नोऽपि प्रासादः सम्पद्यतेः कर्ता भवति अत एव विग्रहः । अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति शुक्लीकरोति । शुक्लीभवति । शुक्लीस्यात् । शुक्लशब्दाच्चिः । इकारः “क्वौ” [४१२॥१३५] इति विशेषणार्थः । चकारोऽपि तत्रैव विशेषणार्थः । तत्र विरित्युच्यमाने दाविः, आगुविरित्यत्र “रीकृत्तः” [५१२॥१३६] इति रीङ्भावः प्राप्नोति । वकारः “क्विडाजूर्वादिः” [४१२॥१३९] इति विशेषणार्थः । तत्र इि विग्रहयोऽक्रियमाणे चिन्तोतेस्तद्विष्ण-राणां वा ग्रहणं प्रसज्येत । पूर्वस्य सुपः “सुपो धुम्वोः” [११४॥१४९] इत्युप् । “अस्य क्वौ” [५१२॥१४९] इतीत्वम् । परस्य सुपः “सुपो केः” [११४॥१५०] इत्युप् । कर्मभावभिधायिन्यपि कृजादौ चिन्वर्भवति । शुक्ली-क्रियते । अशुक्लस्य शुक्लस्य क्रिया शुक्लीभवनमिति द्रव्यस्य गुणक्रियाद्रव्यसमूहविकारयोगेऽतत्त्वमुदाहार्य क्रियायोगे-कारकीभवति । कारकीकरोति । कारकीस्यात् । द्रव्ययोगे-दण्डीकरोति । दण्डीभवति । दण्डी-स्यात् । “दीरकृद्गो” [४१२॥१३३] “क्वौ” [४१२॥१३५] इति दीत्वम् । समूहे-गा असङ्गं सङ्गं करोति सङ्गीकरोति । सङ्गीभवन्ति गावः । सङ्गीत्युः । विकारे-पटीकरोति तन्तून् । पटीभवन्ति । पटीत्युः । घटी-करोति मृदः । घटीस्यात् । अत्रायमर्थः । यत्र कारणादिकारस्याभेदो विवक्ष्यते तत्रायं चिः । न तु यत्र कारणा-त्कार्यस्य भेदः । यथा वीरणोभ्यः कटं करोति । मृदो घटं करोति । कृश्वस्तियोगे इति किम् ? अशुक्लः शुक्लो जायते । अतत्त्वत्वे इति किम् ? शुक्लं करोति । घटं करोति । अत्र विकारस्यैव विवक्षा । कारणस्याविवक्षितत्वात् । सम्पत्तृग्रहणं किम् ? कर्तुरन्यास्मिन् कारके मा भूत् । अशुक्ले सत् शुक्ले सम्पद्यते । अदेवगृहे सत् देवगृहे सम्प-द्यते । कथं समीपीभवति । दूरीभवति । अत्राप्युपचारात् । तत्स्थे द्रव्ये वर्तमानस्य कर्तृत्वम् ।

मनोऽरुश्चक्षुश्चेतोर्होराजसः खम् ॥४१२॥५६॥ मनःप्रभृतीनां शब्दानामलोऽन्त्यस्य खं भवति क्वौ परतः । अविशेषेण पूर्वैर्धौव चिः सिद्धः । खमनेन विधीयते । न च खविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधः । स-त्य-विधौ तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तदन्तानां केवलानां चेह ग्रहणम् । अनुन्मनसम् उन्मनसं करोति उन्मनीकरोति । उन्मनीभवति । उन्मनीस्यात् । अरुकरोति । अरुभवति । अरुस्यात् । “दीरकृद्गो” [४१२॥१३३] “क्वौ” [५१२॥१३५] इति दीत्वम् । उच्चक्षुःकरोति । उच्चक्षुःभवति । उच्चक्षुःस्यात् । विचेतीकरोति । विचेतीभवति । विचेतीस्यात् । विरहीकरोति । विरहीभवति । विरहीस्यात् । विरजीकरोति । विरजीभवति । विरजीस्यात् ।

साह्यं कात्स्न्ये ॥४१२॥५७॥ कृश्वस्तियोगेऽतत्त्वत्वे सम्पत्तरीति वर्तते । अतत्त्वविषये कात्स्न्यं गम्यमाने सादित्यं त्यो भवति वा । अनग्निम् कृत्स्नमस्त्रम् अग्निकरोति अग्निं सात्करोति । अग्निं साद्भवति । अग्नि-सात्स्यात् । उदकसात्करोति । उदकसाद्भवति । उदकसात्स्यात् । वायवचनान्निव्वरपि समुच्चौयते । अग्नीकरोति । उदकीकरोति । कात्स्न्यादित्यत्र चिन्वरेव भवति ।

सम्पदा चाभिविधौ ॥४१२॥५८॥ नानाद्रव्याणां सर्वात्मना एकदेशेन वा विकाररूपापत्तिरभिविधिः । एकद्रव्यस्य सर्वात्मना विकाररूपापत्तिः कात्स्न्यमिति भेदः । अभिविधौ गम्यमाने चिन्विषये साद्भवति सम्पदा

कृन्वस्तिभिश्च योगे । वर्षासु सर्वे लवणमनुदकमुदकं सम्पद्यते उदकसात्सम्पद्यते । उदकसात्करोति । उदकसाद्भवति । उदकसात्स्यात् । अस्मिन् कटकं उत्पातेन सर्वं शस्त्रमग्निः सम्पद्यते अग्निसात्सम्पद्यते । अग्निसात्करोति । अग्निसाद्भवति । अग्निसात्स्यात् । वेत्यनुवृत्तेः कृन्वस्तिभिर्योगे च्चिरपि भवति । उदकीकरोति । उदकीभवति । उदकीस्यात् ।

तदधीनोक्तौ ॥४१२।१९॥ अतत्तत्त्वे इति निवृत्तम् अर्थान्तरोपादानात् । तदधीनेऽभिधेये साद्भवति । कृन्वस्तिभिः सम्पदा च योगे । उक्तिग्रहणसामर्थ्यात् यत्र तदायत्तं प्रतीयते, तस्मात्स्वामिविशेषवाचिनस्त्यः । राज्ञ आयत्तं राजाधीनं करोति । राजसात्करोति । राजसात्स्यात् । राजसात्सम्पद्यते । आचार्यसात्करोति । आचार्यसाद्भवति । आचार्यसात्स्यात् । आचार्यसात्सम्पद्यते । वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि साधु ।

देये वा च ॥४१२।६०॥ तदधीनोक्तविति वर्तते । देयं दातव्यमित्यर्थः । तदधीने देयेऽभिधेये वा इत्ययं त्यो भवति साच्च कृन्वस्तिभिः सम्पदा च योगे । आचार्याधीनं देयं करोति आचार्यवा करोति । आचार्यसात्करोति । आचार्यसात्स्यात् । आचार्यवा सम्पद्यते । आचार्यसात्सम्पद्यते । वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि । देय इति किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् ।

अव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच् ॥४१२।६१॥ शब्द इति सामान्येन व्यक्तोऽव्यक्तोऽकारादिवर्गविशेषेणाव्यक्तः । तस्यानुकरणं यत्तस्मादव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाञ्चित्ययं त्यो भवति कृन्वस्तिभिर्योगे । पठत्करोति । पठपठाकरोति । पठद्भवति । पठपठाभवति । पठत्स्यात् । पठपठास्यात् । पठदिति क्रियाविशेषणम् । एतत् प्रादिवत् करोत्यर्थं विशिनष्टि न पुनः कारकत्वेनाभिसम्बध्यते । डाञ्चरः टित्कार्थः । चकारो “डाञ्चि” इति विशेषणार्थः । डाञ्चोति विशेष्यनिर्देशात् प्रागेव टित्वाद् द्वित्वम् “ओ डाञ्चि” [४।१।८७] इति पूर्वस्य तकारस्य पररूपम् । डाञ्चन्तस्य “चिषडाञ्चूर्वादिः” [१।२।१३२] इति तिसृञ्ज्ञा । एवं दमदमाकरोति । दमदमाभवति । दमदमास्यात् । अव्यक्तानुकरणादिति किम् ? दम्पत् करोति । अनेकाञ्च इति किम् ? खात् करोति । अनिताविति किम् ? पठिति करोति । “डाञ्चर्हस्येतावतः” [४।३।८५] इत्यच्छब्दस्य पररूपम् । अनिताविति प्रतिषेधार्थकः । कथमिति चेत् ? डाञ्चन्तस्य तिसृञ्ज्ञा । तस्य “प्राञ्चोस्ते” [१।२।१४६] इति कृन्वस्तिभ्यः प्राक्प्रयोगेऽनिति परतैव भवति । एवं तर्हि इती प्रतिषेधवचनम् अनिष्टशब्दानवृत्त्यर्थम् । पठच्छब्दादिति शब्दप्रयोगे डाञ्चि कृते इति पठपठाकरोतीत्यनिष्टः शब्दो मा भूत् ।

कृञो द्वितीयतृतीयशंखबीजात्कृषौ ॥४१२।६२॥ कृञो ग्रहणं स्वस्त्योर्निवृत्त्यर्थम् । कृञो योगे द्वितीय तृतीय शंख बीज इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो डाञ्चमवति कृषिविषये । द्वितीयं विलेपनं करोति क्षेत्रस्य द्वितीयाकरोति क्षेत्रम् । डाञ्च द्वित्वमनित्यमिति वक्ष्यते । याऽसौ करोतेः कर्मणश्च विग्रहे संयन्धः, स उत्पन्ने डाञ्चि निवर्तते । द्वितीयादयस्तु शब्दाः प्रादिवत् क्रियाविशेषणभूताः । क्षेत्रं कर्म भावमुपधाति । एवं तृतीयाकरोति क्षेत्रम् । शंखं करोति कुलिजस्य शंखाकरोति कुलिजम् । अन्ये तु शंखाकरोतीत्येव सार्थं दर्शयन्ति । अनुलोमविलोमाभ्यां कर्षतीत्यर्थः । बीजं करोति क्षेत्रस्य बीजाकरोति क्षेत्रम् । वपतीत्यर्थः । सह बीजेन विलेखनं करोतीत्यर्थः । कृषाविति किम् ? द्वितीयं विवरणं करोति सूत्राणाम् ।

गुणात्संख्यादेः ॥४१२।६३॥ कृञ इति वर्तते । कृषाविति च । गुणशब्दान्तात्संख्यादेर्मृदो डाञ्चमवति कृञो योगे । द्विगुणं विलेखनं करोति क्षेत्रस्य द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् । अथवा द्वौ गुणौ विच्छिन्नद्वयं रसः । तस्मात्तयः । गुणादिति किम् ? द्वे परिवर्तने करोति क्षेत्रस्य । संख्यादेरिति किम् ? समगुणं करोति क्षेत्रम् । कृषाकित्येव । द्विगुणं करोति वज्रम् ।

समयासपत्रानिष्पत्रानिष्कुलासुजाप्रियादुःखाशूलासत्याभद्रामद्राः ॥४१२।६४॥ समया-

दयः शब्दा डाङन्ता निपात्यन्ते । सर्वत्र कृज्योगे निपातनम् । समयशब्दाद्यापनायां गम्यमानायां डाङ्नि-
पात्यते । कालकृता पुरुषकृता वा संस्था समयः । तस्यातिक्रमः कालक्षेपो यापना । समयं करोति पटस्य ।
श्वो दातास्मीति तस्यातिक्रमे समयाकरोति पटं कुविन्दः । यापनाया अन्यत्र डाङ् न भवति । समयं करोति
विवाहस्य । सपत्रनिष्पन्नशब्दाभ्याम् अतिव्यथने गम्यमाने डाङ् । सपत्रशब्द इह विपरीतलक्षणाया
निष्पन्नशब्दार्थे वर्तते । सपत्राकरोति मृगं व्याधः । अतिपीडयतीत्यर्थः । एवं निष्पत्राकरोति । अतिव्यथना-
दन्यत्र सपत्रं वृत्तं करोति बलसेचकः । निष्पत्रं वृत्तस्थं करोति वाटिकापालः । निष्कुलशब्दान्निष्कोषणोऽर्थे
डाङ् । प्रच्छन्नाययवानां बहिर्निष्कासनं निष्कोषणम् । निष्कुलाकरोति पशुं चाण्डालः । निष्कोषणादन्यत्र
निष्कुलं करोति पुरुषम् । उच्छिन्नचोत्यर्थः । सुखप्रियशब्दाभ्यामानुलोम्येऽर्थे डाङ् । सुखाकरोति । प्रिया-
करोति । स्वाग्यादेरानुकूल्येन वर्तत इत्यर्थः । आनुकूल्यादन्यत्र सुखं करोति धर्मः । दुःखशब्दात् प्रातिसोम्येऽ-
र्थे डाङ् । दुःखाकरोति । प्रातिकूल्येन वर्तत इत्यर्थः । प्रातिकूल्यादन्यत्र दुःखं करोति दुष्कृतम् । शूलशब्दात्
पाकार्यप्राये डाङ् । शूलाकरोति मांसम् । शूले मांसं पचतीत्यर्थः । पाकादन्यत्र शूलं करोति सिक्किम्
(कदम्बम्) । सत्यशब्दादशपथेऽर्थे डाङ् । सत्याकरोति वणिग् माण्डम् । अहमेतद्भाण्डं क्रेष्यामीति । अन्तराले
द्रव्यं सत्यंकारं व्यवस्थाप्य तथ्यं करोति । (अशपथे किम् ? सत्यं करोति ब्राह्मणः) । शपथं करोतीत्यर्थः ।
भद्रमद्रशब्दाभ्यां परिवापणेऽर्थे डाङ् । भद्राकरोति नापितः शिशून् । मद्राकरोति नापितः शिशून् । परिवाप-
णादन्यत्र भद्रं करोति साधुः ।

सान्ताः ॥४१२।६॥ सान्तामि(न्ता इ) त्ययमधिकारो धेदितव्यः । आपादपरिसमाप्तये विधयो वक्ष्यन्ते
सत्यान्ता अवयवास्ते भवन्तीत्यर्थः । ननु वक्ष्यमाणेषु सूत्रेषु क्वचित्साधशेषाधिकारेऽस्ति क्वचित्पूर्वपदोत्तरपद-
निर्देशः । ततः सामर्थ्यादेव सान्ता विधयो भविष्यन्तीति नार्थोऽनेन, वत्रार्थविभागोऽस्ति तदर्थोऽधिकारः ।
यथा “अक्पुष्टधूःपथोऽनक्षे” [४।२।७०] इति अर्धचर्मम् । सग्रहणं किम् ? अक् । अन्तग्रहणं किमर्थम् ?
तद्ग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् । इ-र-इन्द्रसत्ताः प्रयोषयन्ति । उपराजम् । “हे कारवादेः” [४।२।१०६]
“अनः” [४।२।११०] इति सान्ते कृते हसंताभयोऽम्भावादिः सिद्धः । द्वे धुरौ समाहृते द्विधुरी । त्रिधुरी । “शत्”
[३।१।२५] इत्यकारान्तलक्षणां लोविषिः सिद्धः । नूपुरोपानहिनी । “इन्द्राण्युष्टधो रार्थे” [४।२।१०८]
इति सान्ते कृते “इन्द्रोपकापगर्भाध्यायनीन्” [४।१।५१] इतीन्विषिः सिद्धः । लादेशौ च प्रयोषयतः ।
व्याघ्रपात् । “खं पादस्याहस्यादेः” [४।२।१३१] इति परस्यादेर्माभूत् । “गन्धस्येक्ष्युत्तिसुसुरभिभ्यः”
[४।२।१३५] इति परस्यादेरित्यम्भा भूत् ।

न स्वत्तिकिमः ॥४१२।६६॥ सु आत किम् इत्येतैभ्यः परस्य सान्तो न भवति । वक्ष्यमाणेन
लक्षणेन विहितः सर्वः सान्तः प्रतिषिध्यते । शोभना राजा सुराजा । सुसखा । धुगौः । अतिराजा । अतिसखा ।
अतिगौः । को राजा किराजा यो न रक्षति । किंसखा यो न स्निहति । किंगौयो न वहति । इह कस्मा-
त्प्रतिषेधो न भवति शोभने अक्षिणी वस्य स्वज्ञः । “स्वाङ्गाद्वेऽक्षिसङ्ख्या” [४।२।११३] इत्यसान्तः ।
अत्रोन्पते-“स्वधी पूजायाम्” इति विशिष्योक्तत्वात्प्रतिपदोक्तस्य यस्यैव ग्रहणम् न यस्य । पूजायामनयो-
स्याहचर्यात् । पूजार्थस्यातैर्ग्रहणम्, तेन “अस्यादयः क्रान्ताद्यर्थे इषा” इति प्रतिपदविधाने तिप्रतिषेधो न
भवति । अतिक्रान्तो राजानम् अतिराजः इति । क्षेपे किमिति प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणात् इहापि प्रतिषेधो न
भवति । को राजा किराजः । किंसखा । किंगवः ।

नञः ॥४१२।६७॥ नञः परस्याः प्रकृतेः सान्तो न भवति । अराजा । असखा । अगौः ।
इहापि नञिति प्रतिपदोक्तस्य यस्य ग्रहणादन्यत्राप्रतिषेधः । अराजको देशः । अतृचो मायवकः ।

पथी वा ॥४१२।६८॥ नञः परं यः पथिशब्दस्तदन्ताद्वा सान्तो न भवति । पूर्वेषां नित्ये प्रतिषेधे
प्राप्ते विकल्पोऽयम् । अपथम् । अकम्थाः । इह नञः सत्यानुवृत्तेरन्यत्र नित्यो विधिः । अपथं वनम् ।

संख्याबाह्योऽबहुगणात् ॥४२॥६६॥ “संख्येये संख्यया भ्यासम्ना” [१।३।८७] इत्यादिना प्रतिपदोक्तो यः संख्याया बसस्तस्मादबहुगणान्ताद्भूः सान्तो भवति । समीपे दशानामिमे उपदशाः । आसन्ना विंशतेरिमे आसन्नविंशाः । अदूरे त्रिंशतोऽदूरत्रिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । पञ्चषाः । संख्याग्रहणं किम् ? चित्रगुः । संख्याबसस्य प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणादिह न भवति । द्विगुः । दशगुः । अबहुगणादिति किम् ? उपबहवः । इदमेव ज्ञापकं बहुगणयोः संख्या संज्ञा भवति । गणशब्दस्य हे सत्यसति च नास्ति विशेषस्तस्य प्रतिषेधोऽन्यसंख्याकार्यलामार्थः । गणकुलः । गणघा । “अप्रकरणे संख्याया ध्वरूपोपसंख्यानं निस्त्रिंशत्पर्यम्” । निर्गतानि त्रिंशतो निस्त्रिंशानि । निश्चत्वारिंशानि । निरशीतानि वर्षाणि वर्तन्ते । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः । आदिशब्दः प्रकारवाची तेन व्यादेर्न भवति ।

अक्षपूरब्धूः पथोऽनन्ते ॥४२॥७०॥ अक्ष, पुर, अप्, धूः, पथिन् इत्येवमन्तेभ्यः अ इत्ययं सान्तो भवति अक्षसंख्यी चेद्भूःशब्दो न भवति । वादिति निवृत्तं सामान्येन विधानम् । सान्ताधिकारसामर्थ्यात्तदन्तग्रहणम् । अकारस्यानन्तशब्दे परतः स्वेऽको दीप्तं कस्मान्न कृतम् ? शकन्वादित्वात्पररूपं द्रष्टव्यम् । तौत्रो वा निर्देशः । अर्धचर्मम् । अनृचो माणवकः । अवहृचम् । ललाटस्य पूर्वलाटपुरम् । द्विर्गता आपोऽसिन् द्वीपः । समीपः । राज्यस्य धू राज्यपुरा । महापुरा । मोक्षपथः । राक्षपथः । अनन्त इति किम् ? अक्षस्य धूः अक्षधूः । दृढधूरक्षः । अत्र केषाञ्चिदस्ति । “अनृचो माणवो ज्ञेयो बह्वृचश्चरख्ये स्मृतः” तेनेह न भवति । अनृचकं साम । बह्वृचकं सूक्तम् ।

प्रत्यन्ववात्सामसोऽन्नः ॥४२॥७१॥ प्रति अनु अव इत्येवभूर्वात्सामान्तात्सोमान्ताच्च अः सान्तो भवति । प्रतिगतं साम प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । अवलोमम् । “सिद्धमादयः” [१।३।८९] इति वसः । अन्यपदार्थे वपो वा कर्तव्यः । यदा तु इहः, तदा “अन्नः” [४।२।११०] “नपो वा” [४।२।१११] इति परत्वाद्विकल्पः । प्रतिसामम् । प्रतिसाम । प्रतिलोमम् । प्रतिलोम ।

“कुम्भोद्वक्पाण्डुपूर्वाया भुमेरत्योऽयमिष्यते । गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥” [का०] कृष्णभूमः । पाण्डुभूमः । वसो यसो वा । द्वे गोदावर्यौ समाहृते द्विगोदावरम् । पञ्चनदम् । “नदीमिरश्च” [१।२।१०] इति इहः । चकाराद्भूमिरपि भवति । द्विभूमः । सप्तभूमः प्रासादः । कचिदन्यत्रापीष्यते । पद्मनाभः । ऊर्ध्वनाभः । वर्षरात्रः ।

अजीवेऽक्षयः ॥४२॥७२॥ अजीवे वर्तते योऽक्षिशब्दस्तदन्तात्सात् अ इत्ययं त्यो भवति । कमलत्यादि कमलाक्षम् । अथवा कमलमक्षीव कमलाक्षम् । एवं लक्षणाक्षम् । पुष्करक्षम् । कवरस्याक्षि कवरक्षम् । अश्वानां मुलाब्ध्यादनं बहुभिन्नद्रव्यमित्यर्थः । अजीव इति किम् ? अक्षयि । कथं प्रासादस्य गवाक्षम् । कटाक्ष इति । एवमादयोऽपि रुदिशब्दा इति न जीवेऽक्षिशब्दस्य वृत्तिः ।

स्त्रीधेनुवाग्दारात्पुंसनङ्गुन्मनोगोभ्यः ॥४२॥७३॥ स्त्री, धेनु, वाक्, दार इत्येवभूर्वेभ्यो यथासंख्यं पुंस्, अनङ्गु, मनस्, गो इत्येभ्यः अः सान्तो भवति । स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ । कचिद्यसेऽपि भवति । पूर्वं स्त्री पश्चात्पुमान् स्त्रीपुंसं विद्धि राक्षसम् । स्त्रीपुंसः शिखण्डी । इन्द्रयसाम्यामन्यत्र न भवति । स्त्रियाः पुमान् । परिशिष्टेभ्यो इन्द्र एव त्यो भवति । धेनुश्च अनङ्गुश्च धेनुनङ्गुहो । वाक्च मनश्च वाङ्मनसम् । दाराश्च गावश्च दारगवम् ।

१. कवराक्षम् पू० । २. ‘गोम्नः’ इति बहुवचनान्तः पाठचित्त्वः, ग्रन्थे सर्वत्रैकवचनस्यैव प्रयोगदर्शनात् ।

ऋचः सामयजुर्भ्याम् ॥४१२।७४॥ ऋचः पराभ्यां सामयजुर्भ्याम् अः सान्तो भवति द्वन्द्व-
एवाभिधानम् । ऋक्च साम च ऋक्सामे । ऋक्च यजुश्च ऋग्यजुषम् ।

नञ्चिस्पूर्वात्रिभ्यश्चतुरः ॥४१२।७५॥ नञ्, चि, सु, उप, त्रि इत्येतेभ्यः परश्चतुर्शब्दोऽस्यान्तो
निपात्यते । अदृश्यानि चत्वारि अनेन अचतुरः । विगतानि चत्वार्यस्य विचतुरः । शोभनानि चत्वार्यस्य
सुचतुरः । समीपे चतुर्णामयमुपचतुरः । त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः । वस एवेदं निपातनम्, नान्यत्र । न
चत्वारोऽचत्वार इति ।

नक्तंरात्रिमहोभ्यो दिचम् ॥४१२।७६॥ नक्तम्, रात्रिम्, अहन् इत्येतेभ्यः परो दिवशब्दो
निपात्यते द्वन्द्वे । नक्तञ्च दिवा च नक्तन्दिवम् । अः सान्तो निपात्यते । रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम् । सूत्रे
निपातनादेव रात्रिशब्दस्य सुम् । अदृश्च दिवा च अर्हन्दिवम् । अदःशब्दसन्निधाने दिवाशब्दो रात्रिपर्यायः
शक्तिस्वाभावात् ।

द्वित्रिपुष्पाद्यायुः ॥४१२।७७॥ द्वि, त्रि, पुरुषाभ्येभ्यः पर आयुषशब्दो निपात्यते । द्वे आयुषौ
समाहृते द्वयायुषम् । त्रयायुषम् । अस्यान्तो निपात्यते । रसादन्यत्र न भवति । द्वयोरायुर्द्वयायुः । त्रयायुः ।
पुरुषस्यायुर्वर्षाणि पुरुषायुषम् । तास एवेदं निपातनम्, द्वन्द्वे न भवति । पुरुषश्च आयुश्च पुरुषायुगौ ।

जातमहद्वृद्धादुक्षः ॥४१२।७८॥ जात, महत्, वृद्ध इत्येतेभ्यो पर उक्ष इति निपात्यते । सर्वत्र
यसेऽकारः सान्तो निपात्यते । जातश्च सा उक्षा च जातोक्षः । महोक्षः । वृद्धोक्षः । यसादन्यत्र न भवति ।
जातस्य उक्षा जातोक्षा । महुक्षा । वृद्धोक्षा ।

सरजसोर्वष्टोषपदष्टोवातिभ्रुवो(व दारगवो) पशुनगोष्ठश्वाः ॥४१२।७९॥ सरजसादयः
शब्दा अत्यान्ता निपात्यन्ते । सह रजसा सरजसमभ्यवहरति । साकल्ये इतः । इसादन्यत्र न भवति । सरजः
सलिलम् । उरु च अष्टीवन्तौ च उर्वष्टोवम् । अकारस्त्याष्टिखं च निपात्यते । अष्टीवन्तौ गुल्लकाकुप्येते ।
प्राणयज्ञत्वादेकवद्धावः । पादौ च अष्टीवन्तौ च पदष्टोवम् । द्वन्द्वेऽकारः सान्तष्टिखं पूर्वपदस्य पद्मावो निपात्यते ।
अन्तिष्ठी च भ्रुवौ च अन्तिभ्रुवम् । द्वन्द्वे लुबल्लिङ्गम् । दारगवमित्यवादेशश्च निपात्यते । शुनः समीपम् उप-
शुनम् । इसे अः सान्तष्टिस्वाभावो जिश्च निपात्यते । गोष्ठे स्वा गोष्ठश्च । अः सान्तः ।

पल्यराजहस्तिभ्यो वर्चसः ॥४१२।८०॥ पल्य, राजन्, हस्तिन् इत्येतेभ्यः परो यो वर्चःशब्दस्त-
त्तादः सान्तो भवति । अत्र तासः सम्भवति । पल्यस्य वर्चः पल्यवर्चसम् । राजवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् ।
“ब्रह्मवर्चसाद्भिभ्योऽपि वक्तव्यम्” [वा०] । तेनात् (नाले) ब्रह्मवर्चसमिति भवति ।

तमसोऽवसमन्धात् ॥४१२।८१॥ अव, सम्, अन्ध इत्येतेभ्यः परात्तमःशब्दादः सान्तो भवति ।
अवहीनं तमः, अवहीनं तमोऽसिन्वाऽवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धतमसम् । पक्षो वक्षो वा ।

निसः भेयसः ॥४१२।८२॥ निःशब्दात् परो यः भेयःशब्दस्तदन्तदस्त्यो भवति । निश्चितं भेयः
निःभेयसम् । अत्र (यस एव) विधानं न वस इति केचित् । निश्चितं भेयोऽनेन निःभेयस्कः ।

श्वसो वसीयसश्च ॥४१२।८३॥ श्वसः प्रात् वसीयसः श्वसश्च अः सान्तो भवति । वसुमच्छब्द-
“विन्मतोरुप्” [४।१।१२४] इति ईवसो मतोश्चोपि कृते वसीय इति भवति । श्वोवसीयसं कुलम् । अः
श्वेयसमस्तु ते । उभयत्र मयूरव्यसकादित्वात्सः ।

सप्तान्ववाद्भसः ॥४१२८४॥ प्रच्छन्न उपांशुप्रयोगो वा रहः । तत अनु अव इत्येतेभ्यः परो यो रहःशब्दश्चादन्तादस्यो भवति । सम्भवतः सस्य ग्रहणम् । तस रहः तत्तरहसम् । अनुगत रहः अनुरहसम् । अनुगत रहोऽस्मिन्वाऽनुरहसम् । अवरहसम् ।

प्रतेररस ईपः ॥४१२८५॥ प्रतेः परात् उरःशब्दादीर्घे वृत्ते अस्तान्तो भवति । उरसि वर्तते प्रत्युरसम् । विभक्त्यर्थे हसः । अथवा किमह्वाक्ये ईवन्तादुरःशब्दादस्यो भवति । प्रतिष्ठितमुरसि प्रत्युरसम् । “विष्णुप्रादयः” [१।१।८१] इति षसः । ईप इति किम् ? प्रतिगतमुरः प्रत्युरः ।

द्विस्तावात्रिस्तावाऽनुगवम् ॥४१२।८६॥ द्विस्तावा त्रिस्तावा, अनुगव इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । द्विस्तावतीति विगृह्य द्विस्तावा वेदिः । काचिदभिधीयते । मयूरव्यसकादित्वात्सः । अः सान्तः पुंवद्भावश्चिखं च निपात्यते । एवं त्रिस्तावती त्रिस्तावा वेदिः । वेद्यभिधानादन्यत्र न भवति द्विस्तावती त्रिस्तावती परित्वा । अत्रापि अध्याहृतक्रियापेक्षया क्रियाभ्यावृत्तिरस्ति । द्विस्तावती मीयते परिच्छिद्यते वा । तेन सुप् सिद्धः । अनुग [वेऽभिधेये] वमिति [अस्तान्तो] अस्तान्तो निपात्यते आयामिन्वभिधेये । गामन्वायतम् अनुगवं यानम् । “आयामित्ता” [१।१।१३] इति हसः । यथा पौरायतस्तथा यानमप्यायतमित्यर्थः । आयाम्यभिधानादन्यत्र न भवति । गवां पश्चादनुगु ।

रोरध्वनः ॥४१२।८७॥ गिसंज्ञोपलक्षितेभ्यः परादध्वशब्दादस्यो भवति । सम्भवतः सस्य (षसस्य) ग्रहणम् । प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः । प्राध्वं शकटम् ।

वेऽङ्गुलेभिसंख्यादेः ॥४१२।८८॥ भिसंख्यादेरङ्गुलिशब्दादस्तान्तो भवति । अतिक्रान्तमङ्गुली-रत्यङ्गुलम् । निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम् । संख्यादेः—द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्वयङ्गुलम् । त्र्यङ्गुलम् । चतु-रङ्गुलम् । तथा द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुलम् । “द्वयर्थ” [१।१।४६] इति रसः । प्रमाणेऽर्थे आगतस्य मात्रतः “शकुवत्तौ” [१।१।२६] इत्युप् । वस इति किम् ? पञ्चाङ्गुलीर्हस्तः ।

अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ॥४१२।८९॥ वे इति वर्तते । अहम्, सर्व, एकदेश, संख्यात, पुण्य इत्येतेभ्यः पराद्रात्रिशब्दाद् भिसंख्यादेश्च अस्त्यो भवति षसे । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः । षस्यासम्भवात् अत्र द्वन्द्वो वेदितव्यः । “अहो रिविधौ रात्रिरूपस्थन्तरेषु” [वा०] इति रित्वम् । सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः । “पूर्वकालैक” [१।१।४४] इत्यादिना षसः । एकदेशात्—पूर्वा रात्रिः पूर्वरात्रः । अपरा रात्रिः अपररात्रः । उत्तरा रात्रिः उत्तररात्रः । रात्र्येकदेशो रात्रिशब्दो वर्तते । ततः सामानाधिकरण्यात् । “विशेषणं विशेष्येणेति” [१।१।५९] इति षसः । संख्यातरात्रः । पुण्यारात्रः । भयादेः—अतिक्रान्तो रात्रिमतिरात्रः । नीरात्रः । संख्यादेः—द्वयो रात्र्योः समाहारो द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

एभ्योऽङ्गोऽङ्गः ॥४१२।९०॥ राजाऽहःसखिम्यष्टो विधास्यते, तस्मिन् सति अह्नित्येतस्य अह्नादेशो भवति एभ्यः सर्वादिभ्यः परस्य । एभ्य इति निर्देशो भिसंख्यादेरपि ग्रहणार्थः । तत्संभवादहःशब्दपूर्वत्वं नास्मीयते । सर्वमहः सर्वाहः । “दस्रोरेषाङ्गः” [४।४।१३३] इति टिप्पे प्राप्तेऽनेनाह्नादेशः । “अतोऽङ्गः” [५।४।११] इति शालम् । पूर्वाहः । अपराहः । संख्याताहः । पुण्यशब्दात्प्रतिषेधं वक्ष्यति । भिसंख्यादेः—निष्क्रान्ताऽहो निरङ्गी कथा । द्वयोरहोर्भवा द्वयङ्गी पूजा । त्र्यङ्गी पूजा । द्वयर्थे रसे कृते भवार्थे आगतस्यास्यः “दस्योवपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । द्यौ रसे संख्यादिः प्रयोच्यति । द्वेऽहनी जातस्य द्वयङ्गजातः । त्र्यङ्ग-जातः । “काळा मेधैः” [१।१।६०] इति त्रिपदः षसः । एकशब्दात्प्रतिषेधं वक्ष्यति ।

न समाहारे ॥४१२।९१॥ समाहारलक्षणे षसे अह्नित्येतस्याह्नादेशो न भवति । पूर्वसूत्रेण संख्यादे-रिति प्राप्तः प्रतिषिध्यते । द्वयोरङ्गोः समाहारो द्वयह । त्र्यह । “दस्रोरेषाङ्गः” [४।४।१३३] इति टिप्पम् ।

अत्र संख्यादेरिति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । सङ्गतानि समाहृतान्यदानि समह्रा इति नैष दोषः । प्रतिपदं “हृदयेषु समाहारे” [१।३।४६] इति समाहारे विहितस्य षस्येह ग्रहणं न प्रादिलक्ष्यस्य । समाहार इति किम् ? द्वयोरहोर्भवो द्वयहः उत्सवः । हृदये रसे कृतेऽण्य आगतस्य “स्योवनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् ।

पुण्यैकाभ्याम् ॥४॥२।२२॥ पुण्यैकशब्दाभ्यां परस्य अह्नित्येतस्य अहादेशो न भवति । पुण्यमहः पुण्याहः । एकमहः एकाहः । “पूर्वकावैक” [१।३।४७] इत्यादिना षसः ।

राजाऽहःसखिभ्यष्टः ॥४॥२।२३॥ राजन्, अहन्, सखि, इत्येतदन्ताष्टो भवति । देवराजः । द्वयो-
रहोः समाहारो द्वयहः । परमाहः । राजसखः । स्त्रियाः पूर्वपदार्थप्राधान्येऽतिक्रान्ता राजानम् अतिराजो ।
नकारान्तलक्षणाजीविषेः परत्वाद्नेन टः । “सृद्ग्रहणे जिज्ञविशिष्टस्यपि ग्रहणम्” [प०] इतीह कस्माच्च भवति ?
मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी । मद्रसखी । अनित्येषा परिमाणेति न भवति ।

गोरहृदुपि ॥ ४।२।२४ ॥ गोशब्दाष्टो भवति अहृदुन्विषये । पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् ।
महागवः । राजगवो । अतिगवो । पञ्चगवधनः । अहृदुपीति किम् ? पञ्चभिः क्रीतः पञ्चगुः । दशगुः । हृदये
“संख्यावीररच” [१।३।४७] इति रसे कृते क्रीतार्थ आगतस्य आर्हायस्य ठणो “राहुबलौ” [३।३।२६]
इत्युप् । अत्रान्तरङ्गत्वात्प्रायेव सान्तो भविष्यतीति प्रतिषेधोऽनर्थकः । नैवं शङ्क्यम् अनुपीति विषयनिर्दे-
शादुन्विषये प्रतिषेधः । हृद्ग्रहणं किम् ? सुबुन्विषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चगवमिच्छति पञ्चगवीयति ।
उन्ग्रहणं किम् ? हृतः भवणविषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चभ्यो गोभ्य आगतं पञ्चगवरूप्यम् । पञ्चगवमयम् ।
हृदये रसे कृते टः सान्तः । “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” । [३।३।५५] “मघट्” [३।३।२६] इति
रूप्यमयौ ।

उरसोऽग्ने ॥४॥२।२५॥ अग्ने प्रधानम् । अग्ने वर्तते य उरःशब्दस्तदन्तात्वाष्टो भवति । इस्तिनामुरः
हस्त्युरसम् । अश्वोऽसम् । रयोरसम् । समानाधिकरणे वा षसः । इस्तिन इवोरसः हस्त्युरसम् । यथा देहाक-
यवाताम् ठरोऽग्रम् प्रधानम् एवमिहास्युरःशब्देन प्रधानभूतं विवक्षितम् । अग्ने इति किम् ? पुरुष-
स्योरः पुरुषोरः ।

सरोऽनोऽश्मायसः खुजात्योः ॥४॥२।२६॥ सरस्, अनस्, अश्मन्, अयस्, इत्येवमन्तात्वा-
ष्टो भवति खुविषये जातो च । जलसरसमिति संज्ञा । मण्डूकसरसमिति जातिः संज्ञा वा । महानसमिति
संज्ञा । उपानसमिति जातिः संज्ञा वा । स्थूलाश्मः । अमृताश्म इति जातिः । पिण्डाश्म इति संज्ञा
जातिर्वा । फनकाश्म इति जातिः । शोदितायस इति संज्ञा जातिर्वा । काशायसमिति जातिः । खुजात्योरिति
किम् ? परमसरः ।

ग्रामकौटाभ्यां तद्व्यः ॥४॥२।२७॥ ग्राम कौट इत्येताभ्यां यस्तद्व्यशब्दस्तदन्तात्वाष्टो भवति ।
ग्रामस्य तच्चा ग्रामतद्व्यः । कुट्यां भवः कौटः, कौटश्चासौ तच्चा कौटतद्व्यः । स्वायत्तकर्मजीवीत्यर्थः । ग्राम-
कौटम्यामिति किम् ? राजस्वच्चा राजतद्व्यः ।

शुनोऽतेः ॥४॥२।२८॥ अतिशब्दात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्वाष्टो भवति । अतिक्रान्तः श्वान-
मतिश्चो वराहः । अतिश्चो नीचजनः ।

उपमानात् ॥ ४।२।२९॥ उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम् । उपमानात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्ताष्टो भवति ।
व्याघ्र इव आ व्याघ्रश्चः । सिंहश्चः । मयूरव्यंसकादित्यात्पसः ।

अजीवे ॥४॥२।३०॥ पूर्वक्षणे उपमानग्रहणं पूर्वपदविशेषणम् । इह शुनो विशेषणम् । अजीवे
वर्तते यः श्वशब्द उपमानवाचो तदन्तात्वाष्टो भवति । आकर्षः आ इव आकर्षश्चः । कलकश्चः । “व्याघ्रैरुप-
मेयोऽतथो” [१।३।५३] इति च । अजीव इति किम् ? वानरोऽयं आ इव वानरश्चा ।

मृगोत्तरपूर्वास्तकथनः ॥४२॥१०१॥ मृग, उत्तर, पूर्व इत्येतेभ्यः परो यः सक्थिशब्दस्तदन्तात्पादो भवति । मृगस्य सक्थि मृगतकथम् । उत्तरसकथम् । पूर्वसकथम् । उपगन्तव्यं वर्तते । पलकसिद्ध सक्थि फलकसकथम् । “विशेषणम्” [१३॥५२] इत्यादिना सः ।

नाथो रात् ॥४२॥१०२॥ नौशब्दन्ताद्वाटो भवति । द्वयोर्नाथोः समाहारो द्विनामम् । पञ्चनावम् । पञ्चनावप्रियः । द्वाभ्यां नौभ्यामागतं द्विनावरूपम् । द्विनावमयम् । अद्दुपीत्यनुवर्तते । पञ्चभिर्नौभिः कीतः पञ्चनौः । आर्हीयस्य ठणः “रादुषलौ” [३॥४१२६] इत्युभू । रादिति किम् ? परमनौः ।

अर्द्धाच्च ॥४२॥१०३॥ अर्द्धाच्च परो यो नौशब्दस्तदन्तात्पादो भवति । अर्द्धं च सा नौश्च अर्द्धनाथो । “विशेषणम्” [१३॥५२] इत्यादिना सः । लोकाश्रयं नपुंसकलिङ्गमपि दृश्यते । अर्द्धनावमिति ।

खार्या वा ॥ ४२॥१०४॥ खारीशब्दन्ताद्वाटो भवति । द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम् । यद्वा टो न भवति तदा “प्रो नपि” [११॥७] इति प्रादेशः । द्विखारिः । केचित्पुलिङ्गं पठन्ति । तेषां “खार्योर्नौचः” [११॥८] इति प्रादेशो द्विखारिरिति । पञ्चखारप्रियः । पञ्चखाररूपम् । पञ्चखारीरूपम् । पञ्चखारमयम् । पञ्चखारीमयम् । पञ्चसु खारीषु भवः पञ्चखारी । टपदे कौ सिद्ध एव । इहाद्धादिति वर्तते । अर्द्धशब्दान्तरपरो यः खारीशब्दस्तदन्तात्पादो भवति । अर्द्धखारम् । अर्द्धखारी ।

द्वित्रिभ्यामञ्जलिः ॥४२॥१०५॥ द्वित्रिभ्यां परो योऽञ्जलिशब्दस्तदन्ताद्वाटो भवति । द्वयोरञ्जल्योः समाहारो द्वयञ्जलम् । त्र्यञ्जलम् । द्वयञ्जलं यनम् । त्र्यञ्जलरूपम् । द्वयञ्जलमयम् । केचिद् वेत्यनुवर्तयन्ति । तेन द्वयञ्जलिः । त्र्यञ्जलप्रियः । इहाद्दुपीति वर्तते । द्वदुपि न भवति । द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां कीतो द्वयञ्जलिः । रादित्येव । द्वयोरञ्जलिः द्वयञ्जलिः ।

ब्रह्मणो राष्ट्रेभ्यः ॥४२॥१०६॥ राष्ट्रेभ्यः परो यो ब्रह्मन्शब्दस्तदन्तात्पादो भवति । रादिति निवृत्तम् । अवन्तिषु ब्रह्मः अवन्तिब्रह्मः । सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः । ईवेति योगविभागात्सः । राष्ट्रेभ्यः किम् ? देव-ब्रह्मा नारदः ।

कुमहद्भ्यां वा ॥४२॥१०७॥ कुमहद्भ्यां परो यो ब्रह्मस्तदन्तात्पादा टो भवति । कुब्रह्मः । कुब्रह्मा । महाब्रह्मः । महाब्रह्मा ।

द्वन्द्वाच्चुदहयो रार्थे ॥४२॥१०८॥ रार्थः समाहारः । द्वन्द्वाद्द्वयं वर्तमानाच्चवर्गदकारहकार-षकारान्ताद्वाटो भवति । वाक्च त्वक्च वाक्त्वचम् । श्रीलजम् । वाक्पदम् । छत्रोपानदम् । वाक्विप्रुषम् । द्वन्द्वादिति किम् ? पञ्चानां त्वचां समाहारः पञ्चत्वक् । चुदहय इति किम् ? वाक्परित् । रार्थे इति किम् ? छत्रोपानदौ ।

हे शरदादेः ॥४२॥१०९॥ शरदाद्यन्ताद्वाटो भवति हमे । शरदादिषु ये भयन्तास्तेषां “निरिन्द्री-पौर्णमास्याग्रहायणीकथः” [४२॥११२] इति वा टः प्रातो नित्यार्थमिदं ग्रहणम् । हाधिकारः प्राग्वत्ताधि-कारात् । शरदः समीपमुपशरदम् । प्रतिशरदम् । “अचयेनाभिमुख्येऽभिपती” [१३॥१११] इति ह्रस्वः । शरद् । विराश् । अनस् । मनस् । उपानद् । उपास्तद् । दिश् । दिव् । हिक् । किवन् । चतुर । हिमवन् । अनहुद् । तद् । यद् । जराथा जरश्च । हश्च । प्रतिपरसमनुभ्योऽक्षणः । पथिन् ।

अनः ॥४२॥११०॥ अन्नन्ताद्वाटो भवति । अन्धात्मम् । प्रत्यात्मम् । उपराजम् । परिराजम् ।

नपो वा ॥४२॥१११॥ अन इति वर्तते । अन्नन्तं यत् तदन्ताद्वाटो भवति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । उपचर्मम् । उपचर्म । उपकर्मम् । उपकर्म ।

गिरिनिर्दीर्घाणामास्थाग्रहाथलीभयः ॥४१२।११२॥ वेति वर्तते । गिरि नदी दीर्घमासी आप्रहायणी भय इत्येवमन्ताद्वा दो भवति । गिरेरन्तरन्तगिरम् । अन्तर्गिरि । तिष्ठद्ग्यादिन्वात्मविधिः । अथवा विभक्त्यर्थे हसः । बहिर्गिरम् । बहिर्गिरि । “पर्यपाङ् बहिरन्ववः” [१।२।१०] । उपनदम् । उपनदि । नपि प्रः । उप- दीर्घमासम् । उपदीर्घमासि । उपाग्रहायणम् । उपाग्रहायणि । भवः-उपसमिवम् । उपसमिन् । उपहृषदम् । उपहृषत् ।

स्वाङ्गाद्वेऽक्षिसक्यः ॥४१२।११३॥ स्वाङ्गशब्दाद् यौ अक्षिसक्यशब्दौ तदन्तात् वादो भवति । इ इति वेति च निवृत्तम् । कल्याणेऽक्षिणी अत्र कल्याणञ्चः । विशालाक्षी । गौरे सविथनी अत्र गौरसक्यः । स्वक्षः इत्यत्र “न स्वतिक्रिमः” [४।२।६६] इति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? पस्य ग्रहणं तत्र स्वाङ्गात्-मित्यदोषः । स्वाङ्गादिति किम् ? स्थूलाक्षिरिक्तुः । दीर्घसक्य शक्यम् । अत्राणिश्च स्वङ्गात् न भवति । ष इति किम् ? उत्तमान्ति । आपादपरिमितेर्वाधिकारः प्रत्येनव्यः ।

द्वयङ्गुलेः ॥४१२।११४॥ इ दाह । अर्हतिशब्दान्ताद्वादो भवति दाहस्यभिधेये । द्वे अङ्गुली अत्र द्यङ्गुलं दाह । अङ्गुलम् । चतुरङ्गुलम् । धान्यानां विक्षेपणम् अत्रेऽङ्गुलीयद्वारावयवं काष्ठं दाह तदिह गृह्यते । यत्तु द्वे अङ्गुली प्रमाणस्य द्वयङ्गुलं दाह । तत्र द्वयङ्गुले वसे कृते “अङ्गुलेर्भिसंख्यादेः” [४।२।६६] इत्यः सन्तः । मात्रद्वयोप् । द्वयीति किम् ? पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः ।

द्वित्रिभ्यां मूर्धः ॥४१२।११५॥ द्वित्रिभ्यां परो यो मूर्धन्राव्स्तदन्ताद्वादो भवति । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः । सान्तो विधिरनित्य इति तेन द्विमूर्धा । त्रिमूर्धा ।

उत्स्त्रीप्रमाण्यायोरः ॥४१२।११६॥ उ इति निवृत्तम्, त्यान्तरोपादानात् । उन्ता येन्त्रीशब्दाः प्रमाणी-शब्दश्च तदन्ताद्वा अत्यो भवति । कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रोणां कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । कल्याणीदशमा भार्या । स्त्री प्रमाणी येषां स्त्रीप्रमाणाः । कल्याणी प्रमाणी आसां कल्याणप्रमाणा भार्याः । उत्स्त्रीप्रदणस्यात्र काशः कल्याणीद्वितीया । कल्याणीतृतीया । कल्याणीपञ्चमा रात्रय इति । इतिभ्यां प्रधानस्त्रीप्रदणं कर्तव्यम् । अन्यपदार्थवाच्यानां उन्ता स्त्री प्रधानं यदि भवति तदायं सान्तो भवतीत्यर्थः । अड् प्रियादाविनि पुंवद्भावप्रतिषेधोऽन्यस्मिन्नेव विषये वक्ष्यते । तेनेह सान्तः पुंवद्भावप्रतिषेधश्च न भवति । कल्याणी पञ्चमी अस्मिन् पक्षे कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति । “नेतुर्नक्षत्रे उपसंख्यानम्” [वा०] । मृगो नेता आशां रात्रीणां मृग-नेत्राः । पुथ्यनेत्राः । नक्षत्रादन्यत्र न भवति । देवदत्तेतृकं सैन्यम् ।

लोसोऽन्तर्बहिर्भ्याम् ॥४१२।११७॥ अन्तर् बहिर् इत्येताभ्यां परो यो लोमशब्दस्तदन्ताद्वादो भवति । अन्तर्गतानि लोमान्वयश्च अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः । “मासाद्भृत्तित्यान्तपूर्वपदात् ठो वक्तव्यः” [वा०] पञ्च कार्षापणा भृतिरस्य मासस्य “तदस्पांशवस्तन्भृतयः” [३।४।५५] इत्यत्र “संख्यायाः कोऽतिशतः” [३।४।१६] इति कः । पञ्चको मासोऽस्येति वसे कृते ठः । पञ्चकमासिकः । दशकमासिकः ।

नासिकाया नश्चास्थूलात् खौ ॥४१२।११८॥ नासिकाशब्दान्ताद्वादो भवति नश्चादेशो नासिकायः खुविषये न चेत्स्थूलशब्दात्परो नासिकाशब्दः । इतिव नासिकाऽस्य-दुःखः । गौरिव नासिका अत्र गोनमः । बद्धं मवा वाद्धी नासिका अत्र वाद्धीणसः । “णिण्दृष्टदक्तविकारे” [४।३।१५१] इति पुंवद्भावप्रतिषेधः । सर्वत्र “पूर्वपदात्स्वावगः” [५।४।८७] इति शब्दम् । स्थूलादिति किम् ? स्थूलनासिकः । खौविति किम् ? तुङ्गनासिकः । “खुरखराभ्यां वा नस् वक्तव्यः” [वा०] खरस्येव नासिकाऽस्या अर्चनायाः खरणाः । खुरणाः । पक्षे अस्त्यो भवति खरणाः । कथं शिति नासिकाऽस्य शितिनाः । अहिरिव नासिकाऽस्य अहिनाः । अर्चनाया इव नासिकाऽस्य अर्चनाः । “स्वे उभायोः क्वचित् खौ च” [४।३।१७३] इति प्रः । पञ्चछान्दसा एते शब्दास्तदत्रापि नस् वक्तव्यः ।

नेः ॥४।२।११६॥ नेः परे यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद्वादस्यो भवति । नश्चादेशः अयमनुविषये विधिः । उन्नता नासिकाऽस्य उन्नतः । प्रवृद्धा नासिकाऽस्य प्रवृद्धः । “एवविधौ गेर्नस उपसंख्यानम्” [वा०] इति एत्वम् अत्ये । “वेः ह्वादेशो वक्तव्यः” [वा०] विगता नासिकाऽस्य विखुः ।

सोः प्रातर्दिवाशब्दसः ॥४।२।१२०॥ सोः परे वे प्रातर्, दिवा, शब्दश्च शब्दास्तदन्ताद्वादस्यो भवति । शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः । “केर्ममात्रे टिलम्” [वा०] इति टिलम् । विग्रहवाक्ये शोभनमिति नपुसकत्वं गम्यमानकर्मापेक्षम् । शोभनं प्रातःकाले कर्मास्त्येवर्थः । एवं शोभनं दिवा अस्येति सुदिवः । शोभनं शब्दस्य सुशब्दः ।

प्रोष्ठैत्यजल्पदः ॥४।२।१२१॥ प्रोष्ठ, एणो, अज इत्येतेभ्यः परः पदशब्दो व्रते निपात्यते । प्रवृद्धौष्ठः प्रोष्ठो गौरित्वर्थः । प्रोष्ठस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः । अस्तान्तः पादशब्दस्य च पदभावो निपात्यते । एणश्च इव पादावस्य एणीपदः । अजपदः ।

चतुश्शारेणिकुक्षेः ॥४।२।१२२॥ चतुश्शारिशब्दाभ्यां परौ यौ अस्तिकुक्षिशब्दौ तदन्ताद्वादस्यो भवति । चतस्रोऽन्तशोऽस्य चतुस्तः । शारेणिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः ।

नञ्दुस्तोः सक्थिहलेर्वा ॥४।२।१२३॥ नञ्, दुस्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ सक्थिहलिशब्दौ तदन्ताद्वादस्यो वा भवति । अविद्यमानं सक्थि अस्य असक्थः । असक्थिः । दुस्तक्थः । दुस्तक्थिः । सुस्तक्थः । सुस्तक्थिः । महद्वलं हलिः । अविद्यमानो हलिरस्य अहलः । अहलिः । दुर्हलः । दुर्हलिः । सुहलः । सुहलिः । सक्थि शब्दस्थाने सक्तिशब्दं केचित्पठन्ति । सञ्जनं सक्तिः ।

प्रजामेधाद्स् ॥४।२।१२४॥ वेनि नाधिकृतम् । नञ्, दुस्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ प्रजामेधाशब्दौ तदन्ताद्वादस्यो वा भवति । न विद्यते प्रजा अस्य अप्रजाः । दुःप्रजाः । सुप्रजाः । न विद्यते मेधा अस्य अमेधाः । दुर्मेधाः । “अल्लाच्च मेधाया इति वक्तव्यम्” [वा०] अल्पमेधाः । अल्पमेधसी । अल्पमेध सः ।

धर्मात्केवलादन् ॥४।२।१२५॥ केवलो धर्मशब्द एव श्रुतोत्तरपदम् अन्यथा (म)व्यपदं नास्ति तदन्ताद्वादस्यो वा भवति । साधुनामिव धर्मोऽस्य साधुधर्मा । प्रियधर्मा । केवलादिति किम् ? परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्मः । सन्दिग्धमाध्यधर्मः ।

सुहरिततृणसोमाजम्भात् ॥४।२।१२६॥ जम्भशब्दो दन्तविशेषवाची अभ्यवहार्यवाची च । सु, हरित, तृण, सोम इत्येतेभ्यः परो यो जम्भशब्दस्तदन्तादनित्यत्वं ल्यो भवति । शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा शोभनदंष्ट्रः शोभनाहारो वा । हरितमिव जम्भोऽस्य हरितानि वा जम्भान्यस्य वा हरितजम्भा । तृणमिव जम्भोऽस्य तृणानि जम्भोऽस्य वा तृणजम्भा । एवं सोमजम्भा । स्वादिभ्य इति किम् ? स्थूलजम्भः ।

दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ॥४।२।१२७॥ ईर्ममिति बहुनामयेवं त्रणनामधेयं वा । दक्षिणेर्ममिति वसोऽजन्तो निपात्यते लुब्धयोगे । दक्षिणर्मर्मस्य दक्षिणेर्मा मृगः । व्याधस्य हस्तुकामस्य दक्षिणमङ्गे बहुकृत्वा स्थितः । अथवा दक्षिणमङ्गं व्रणितमस्य व्याधेनेत्यर्थः । लुब्धयोग इति किम् ? दक्षिणेर्मः पशुः ।

अ इच् ॥४।२।१२८॥ अशब्देन आर्थः कर्मव्यतिहारो ग्रहणप्रतिग्रहणादिलक्षणो गृह्यते । आर्थं यो चस्-स्तस्मादिजित्वयं ल्यो भवति । चकारः तिष्ठद्वादिषु इजिति पठ्यते तत्र विशेषणार्थः । “तत्रेदमिति सरूपे” [१।३।८६] “तेनेदम्” [१।३।८०] इति च अर्थं वसः कर्मव्यतिहारे वर्तते । केशेषु च केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि । कचाकचि । इचस्तिष्ठद्वादिषु पाठात् इच्छा । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । दण्डैश्च दण्डैश्च इदं युद्धं दण्डादण्डि । मुसला मुसलि युद्धं वर्तते ।

द्विदण्ड्यादिः ॥४।२।१२६॥ द्विदण्ड्यादयः शब्दा इजन्ता निपात्यन्ते । यथा गणे पठितास्तथैव साधवो वसेऽन्यत्र च भवन्तीत्यर्थः । द्वौ दण्डौ अस्मिन् प्रहरणे द्विदण्डिः प्रहरति । द्विमुसलिः प्रहरति । क्रियाविशेषणा-
न्यत्र न भवति । द्विदण्डा शालेति । पसेऽपि भवति । निकुच्य कर्णौ निकुच्यकर्णि धावति । आकुच्यपादौ
आकुच्यपदि शेते । मयूरवृक्षकादित्वात्पसः । पादस्य च पद्माद्यो निपातनात् । प्रोह्य पादौ प्रोह्यार्धद्वयं हस्तिनं
वाहयति । द्विदण्डिः । द्विमुसलिः । उभाज्जलिः । उभयाज्जलिः । उभाकर्णिः । उभयाकर्णिः । उभाहस्तिः । उभया-
हस्तिः । उभापाणिः । उभयपाणिः । उभावाहुः । उभयावाहुः । निपातनादिनः खम् । एकपदि । प्रोह्यार्धद्वयः ।
आकुच्यपदि । निकुच्यकर्णिः । संहतपुच्छः ।

सम्प्राजानुनो हः ॥४।२।१२७॥ सम् प्र इत्येताभ्यां परस्य जानुसन्दस्व ज इत्ययमादेशो भवति वसे ।
सङ्गते जानुनी अस्य संशः । प्रकृते जानुनी अस्य प्रशः । ज इत्युकारान्तः केपञ्चिदादेशः । मतद्रवमपि प्रमाणम् ।

ऊर्ध्वोऽर्ध्वान् ॥४।२।१२८॥ ऊर्ध्वशब्दात्परस्य जानुशब्दस्य वा ज इत्ययमादेशो भवति वसे । ऊर्ध्वं
जानुनी अस्य ऊर्ध्वशः, ऊर्ध्वजानुः, ऊर्ध्वजानुको वा ।

ऊधसोऽनङ् ॥४।२।१२९॥ ऊधःशब्दान्तस्य ऋस्य अनङादेशो भवति सान्तः । कुण्डमिव ऊधोऽस्याः
कुण्डोष्णी । परवात्सकारस्य अनङादेशो कृते पश्चात् “ऊधसः” [३।१।१३] इति ङीविधिः । एवं घट इव
ऊधोऽस्या घटोष्णी । इह मा भूत् । महोधाः पर्जन्यः । अनङ्यकार उत्तरत्र सार्थकः । इह नङादेशोऽपि न दोषः ।

धनुषः ॥४।२।१३०॥ धनुःशब्दान्तस्य ऋस्य अनङादेशो भवति । गण्डीयं धनुरस्य गण्डीवधन्वा ।
अजगवधन्वा । शार्ङ्गधन्वा ।

धा खौ ॥४।२।१३१॥ धनुःशब्दान्तस्य ऋस्य वा अनङादेशो भवति सान्तः सुविषये । पूर्वेषु नित्ये
प्राते विभाष्यम् । इदं धनुरस्य दृढधन्वा । दृढधनुः । पुष्पधन्वा । पुष्पधनुः ।

जायाया निङ् ॥४।२।१३२॥ जायाशब्दान्तस्य ऋस्य निङादेशो भवति । युवतिर्जाया यस्य युवजानिः ।
कभूजानिः । आकारस्य निङादेशः । “वलि व्योः खम्” [४।१।५५] इति यकारस्य खम् ।

गन्धस्येरुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥४।२।१३३॥ उत्, पूति, सु, सुगन्धि इत्येतेभ्यः परस्य गन्धशब्दस्य
इकार आदेशो भवति सान्तो वसे । उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः । पूतिर्गन्धोऽस्य पूतिगन्धिः । सुगन्धिः । सुसुरभि-
गन्धिः । अर्थं गन्धशब्दोऽस्त्येव गुणवचनः । तद्यथा उत्पलगन्धः । चन्दनगन्ध इति । अस्ति द्रव्यवचनः ।
तद्यथा गन्धान् पिनय्यीति । तद्यो मुख्यो गुणवचनस्तस्य ग्रहणम् । तेनेह न भवति । शोभनो गन्धोऽस्य
सुगन्ध आपणिकः ।

अल्पास्यायाम् ॥४।२।१३४॥ अल्पपर्यायो यो गन्धशब्दस्तदन्तस्य ऋस्य वा इकारादेशो भवति
सान्तः । अभिधानवशाद् व्यधिकरणोऽत्र वसः । अन्तस्य गन्धोऽस्मिन् अन्नगन्धिः । अन्नगन्धम् । घृतगन्धिः ।
घृतगन्धम् । भोजनम् । अथवा अन्नं गन्धोऽल्पमस्मिन्निति समानानिकरणो वसः ।

उपमानात् ॥४।२।१३५॥ उपमानात्परो यो गन्धशब्दस्तदन्तस्य ऋस्येकारादेशो भवति । पद्मस्य गन्ध
इव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः । पद्मगन्धः । उत्पलगन्धः । उत्पलगन्धिः ।

खं पादस्याहस्यादेः ॥४।२।१३६॥ वेति निवृत्तम् । उपमानादिति कर्तते । हस्यादिर्धर्जितादुपमाना-
त्परस्य पादशब्दस्य खं भवति । वसे सान्त इत्यनुवर्तनात् इह “परस्यादेः” [३।१।५१] इति एषा परिभाषा
नोपतिष्ठते । व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपाद् । सिंहपाद् । अहस्यादेरिति किम् ? हस्तिन इव पादावस्य हस्तिपादः ।
कपोत(लक) पादः । हस्तिन । कपोलक । गण्डोलक । गण्डवर्क । महिला । दासी । गणिका । कुमूल ।

सुसंख्यादेः ॥४१२।१४०॥ सुश्च संख्या च सुसंख्ये ते आशी यस्य तस्य स्वादेः संख्यादेशच पाद-
शब्दस्य खं भवति वसे । शोभनौ पादावत्य सुपाद् । द्वौ पादावत्य द्विपाद् । त्रिपाद् । चतुष्पाद् ।

कुम्भपद्यादिः ॥४१२।१४१॥ कुम्भपदीप्रभृतयः शब्दा निपात्यन्ते । कचिद्वेऽपि खे कृते “पादो वा”
[३।१।१५] इति ङीविकल्पे प्राप्ते नित्यो ङीविधिर्निपात्यते । कुम्भ इव पादावत्या कुम्भपदी । एकः पादोऽस्य
एकपदी । शितिपदी । सूत्रपदी । सूत्रसितपदी । सितसूत्रपदी । गोधापदी । जालपदी । जलपदी । कलशपदी ।
विपदी । सुपदी । निष्पदी । आर्द्रपदी । द्रोणपदी । कुटीपदी । कृष्णपदी । सूकरपदी । मुनिपदी । शकृत्पदी ।
अष्टापदी ।

वयसि दन्तस्य दत् ॥४१२।१४२॥ सुसंख्यादेरिति वर्तते । स्वादेः संख्यादेशश्च दन्तशब्दस्य दत्
इत्ययमादेशो भवति वसे वयसि गम्यमाने । शोभना दन्ता अस्य सुजाला वा सुदन् कुमारकः । द्वौ दन्तावत्य
बालकस्य द्विदन् । त्रिदन् । चतुर्दन् । त्रयसीति किम् ? सुदन्तो दक्षिणात्म्यः । चतुर्दन्त ऐरावतः ।

स्त्रियां खौ ॥४१२।१४३॥ स्त्रीलिङ्गेऽन्यपदार्थे दन्तशब्दस्य दत् इत्ययमादेशो भवति सान्तः खुविपये ।
अय इव दन्ता अस्या अयोदती । कालदती । त्रियामिति किम् ? नागस्येव दन्ता अस्य नागदन्तको नाम
कश्चित् । खाविति किम् ? समदन्तो । “नासिकोदरोष्ठ” [३।१।४०] इत्यादिना ङीविधिः ।

वा श्यावारोकात् ॥४१२।१४४॥ स्त्रियामिति निवृत्तम् । खाविति वर्तते । श्याव अशोक इत्येताभ्यां
परस्य दन्तशब्दस्य वा दत् इत्ययमादेशो भवति सान्तो वसे । श्यावा दन्ता अस्व श्यावदन् । श्यावदन्तः । अरोका
निश्छिद्राः निर्दीप्तयो वा दन्ता अस्य अरोकदन् अरोकदन्तः ।

शुद्धाग्रान्तशुभ्रवृषवराहात् ॥४१२।१४५॥ खाविति निवृत्तम् । वेति वर्तते । शुद्ध, अग्रान्त, शुभ्र,
वृष, वराह इत्येतेभ्यः परस्य दन्तशब्दस्य दत् इत्ययमादेशो भवति वसे सान्तः । शुद्धा दन्ता अस्य शुद्धदन्,
शुद्धदन्तः । कुङ्कुमाग्रमिव दन्ता अस्य कुङ्कुमलाग्रदन् । कुङ्कुमलाग्रदन्तः । शिखराग्रदन् । शिखराग्रदन्तः ।
शुभ्रदन् । शुभ्रदन्तः । वृषदन् । वृषदन्तः । वराहदन् । वराहदन्तः । “अन्येभ्योऽपि भवतीति वक्तव्यम्”
[वा०] अहिदन् । अहिदन्तः । मृषिकादन् । मृषिकादन्तः ।

ककुदस्यावस्थायां खम् ॥४१२।१४६॥ कालादिक्रुतो बालादिभावोऽवस्था । ककुदशब्दान्तस्य खं
भवति सान्तः अवस्थायां गम्यमानायाम् । असञ्जातं ककुदमस्य असञ्जातककुत् । पूर्णककुद् । वृद्ध इत्यर्थः ।
वष्टिककुद् । मध्वशरीर इत्यर्थः । अवस्थायामिति किम् ? श्वेतककुदः । कथं ककुदानिति ? यावादिषु हलन्ता-
निपातनासिद्धम् ।

अद्रौ त्रिककुद् ॥४१२।१४७॥ अद्रावन्यपदार्थे खं निपात्यते । त्रीणि ककुदान्वस्य त्रिककुद् । अद्रे-
रियं संज्ञा । अन्यत्र त्रिककुद इति भवति ।

व्युदः काकुदान्तात् ॥४१२।१४८॥ वि उद् इत्येताभ्यां परस्य काकुदशब्दस्य खं भवति सान्तं वसे । विशिष्टं
काकुदमस्य विककुद् । उत्कृष्टं काकुदमस्य उत्काकुत् ।

पूर्णाङ्गा ॥४१२।१४९॥ पूर्णशब्दात्परस्य काकुदस्य वा खं भवति सान्तं वसे । पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ।

सुहृद्दुर्हदौ मित्रामित्रयोः ॥४१२।१५०॥ सुहृद् दुर्हृद् इत्येते शब्दौ निपात्यन्ते यथासंख्यं मित्रामित्र-
योरभिधेययोः । सुदुश्शब्दाभ्यां परस्य हृदयशब्दस्य वसे हृदादेशो निपात्यते । शोभनं हृदयमस्य सुहृद् मित्रम् ।
दुष्टं हृदयमस्य दुर्हृदमित्रम् । मित्रामित्रयोरिति किम् ? सुहृदयः साधुः । दुर्हृदयः खलः ।

उरःप्रभृतिभ्यः कप् ॥४१२।१५१॥ उरःप्रभृत्यन्ताद् आत्कञित्यस्य ल्यो भवति सान्तः । व्यूढपुरोऽस्य
व्यूढोरस्कः । “कुण्वोस्त्ये” [५।४।२६] इति रेफस्य सत्वम् । प्रभूतसर्पिकः । “इणः पः” [५।४।२७] इति पत्वम् ।

चित्रोपान्तकः । उरस् । मर्षिष् । उपानह् । पुमान् । अनड्वान् । पुमानित्येवमादयः पञ्चशब्दा विभक्त्यन्ताः पठ्यन्ते । एकवचनान्तानामेव यथा स्यात् । द्विवचनबहुवचनान्तानां मा भूत् । तत्र “शेषाद्वा” [४।२।१५४] इति विकल्प एव भवति । द्विपुंस्कः । द्विपुमान् । बहुपुंस्कः । बहुपुमान् । दरी । “कृन्मोः” [४।२।१५३] इत्येव सिद्धः किमर्थं दरीशब्दः पठ्यते ? “सहेति सुल्ययोगे” [१।३।१९] इतीदं सूत्रं कथभाषार्थमित्यस्मिन् पदे कथद्वयार्थमिदं वचनम् । दधि । मधु । शालि । अर्धाजः । कथमयं प्रयोगः । “अन्यर्थवकथमित्यं-स्वन्थात्” [२।४।१३] इति सूत्रेणोऽयम् ।

इनः स्त्रियाम् ॥४।२।१५२॥ इनन्ताद् वात् कश्चित्पथं त्वो भवति स्त्रियामन्वपदार्थे । बहुवो दण्ड-नोऽस्यां बहुदण्डका । एवं बहुस्वामिका । बहुवारिमिका । स्त्रियामिति किम् ? बहुदण्डी ग्रामः । बहुदण्डिके वा ।

ऋन्मोः ॥४।२।१५३॥ ऋकारान्तान्मुसंज्ञान्ताच्च वात्कच् भवति सन्तः । बहुकर्तृकः । तकार उच्चा-रणार्थः । बहुकुमारिकः । बहुब्रह्मबन्धूकः ।

शेषाद् वा ॥४।२।१५४॥ यस्माद्वात्सान्तो न विहितः स शेषः । शेषाद्वात् वा कच् भवति सन्तः । बहुयः खट्वा यस्व सः बहुखट्वाकः । बहुखट्वः । “ऋक्पूर्वधूः” [४।२।७०] इत्यादिना सूत्रेण विशेषो व्याख्यातः । “अनृचो माणवो ज्ञेयो बहुचश्चरयो स्मृतः” ततोऽन्वयार्थं विकल्पः । अनृक्कम् साम । अनृक् साम । बहुर्कं सूक्तम् । बहुवृक्सूक्तम् । शेषादिति किम् ? प्रियपुरः । प्रियपथः ।

न खौ ॥४।२।१५५॥ खुविषये वात् कच् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य कपोऽयं निषेधः नामप्र(प्रा)-मः ? “ ” । विश्वदेवः । विश्वशः । श्वेता अश्वतथो यस्य श्वेताश्वतिः ।

ईयसश्च ॥४।२।१५६॥ ईयसन्ताद्वात्कच् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । बहवः श्रेयांसोऽ-स्मिन् बहुश्रेयान् । विद्यमानश्रेयान् । “शेषाद्वा” [४।२।५४] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । “सुदप्रहस्ये लिङ्गविशिष्ट-स्यापि प्रहणम्” [वा०] बह्वयः श्रेयस्योऽस्त्य बहुश्रेयसी पुरुषः । “कृन्मोः” [४।२।५३] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । अथ “ओगोर्नीचः” [१।१।६] इति प्रादेशोऽपि न भवति । उक्तं हि तत्र—“ईयसो बसे पुंवद्भाववचनम्” [वा०] । नात्र पुंवद्वचनेन स्त्रीत्वस्य निवृत्तिरिष्टा किं तर्हि यथा पुंस् ईकारस्य प्रादेशो न भवति । ग्रामणी देवदत्त इति । एवमोवसः परस्वापि स्त्रीत्वस्य । अथवा प्रश्लेषनिर्देशात् ईकारः सिद्धः । ई ईयसः ईयस इति । चकारः स्त्रियामित्वस्थानुकर्षणार्थः । तेन स्त्रियामीकारो भवति । न प्रादेश इति ।

स्तुते भ्रातुः ॥४।२।१५७॥ स्तुतं पूजितमित्यर्थः । स्तुतेऽर्थे यो भ्रातृशब्दस्तदन्ताद्वात्कच् न भवति । शोभनो भ्राता कस्य सुभ्राता । दर्शनीयभ्राता । स्तुत इति किम् ? दुर्भ्रातृकः । मूर्खभ्रातृकः ।

नाङ्गीतन्व्योः स्वाङ्गे ॥४।२।१५८॥ स्वाङ्गमिह पारिभाषिकम् । स्वाङ्गे यौ नाङ्गीतन्वीशब्दौ वृत्तौ तद-न्ताद्वात्कच् न भवति । बह्वयः नाङ्ग्योऽस्मिन् बहुनाङ्गिर्देहः । बहुनाङ्गिर्जङ्घा । बहुव्यः तन्व्यो घमन्योऽस्या बहुतन्वी-र्गीवा । स्त्रीत्यो न भवतीति प्रादेशो नास्ति । स्वाङ्ग इति किम् ? बहुनाङ्गीकः सत्तमः । बहुतन्वीका वीणा ।

निष्प्रवाणिः ॥४।२।१५९॥ प्रकर्षेण ऊयतेऽस्यामिति प्रवाणीति निपात्यते । निर्गता प्रवाणी अस्य निष्प्र-वाणिः कम्बलः । प्रत्यग्र इत्यर्थः । “कृन्मोः” [३।२।५३] इत्यस्य प्रतिषेधः । ये तु प्रवाणीशब्दमिकारान्तं पठन्ति तेषां “शेषाद्वा” [४।२।५४] इत्यस्य प्रतिषेधः । “त्यः” [२।१।१] “परः” [२।१।२] “ङ्वास्मृद्” [३।१।१] इत्येषामधिकारणामिदमवसानम् ।

इत्यमरनिर्दिष्टविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

आदेरेकाचो द्वे ॥४१३१॥ आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । यदित ऊर्ध्वं वक्ष्याम आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येवं तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति “लिङ्गुच्चचिधौः” [४१३७] भोगदेखयवस्यैकाचो द्वे भवतः । पपाच । जुहोति । अनीपठत् । एकोऽन् अवयवोऽस्य सोऽयमेकाच् । अवयवेन विग्रहः, समुदायो वृत्त्यर्थः । तद्गुणविज्ञाने वसे समुदायास्तभूतोऽवयव इति साचक्ष्य द्वित्वम् । परत्वादपि कृते पाच्छब्दस्य शब्दतोऽर्थतश्चान्तरतमौ द्वौ पाच्छब्दौ । द्विःप्रयोगश्च द्वित्वम् । स्थाने हि द्वित्वे जिवांतोत्यत्र शब्दान्तरत्वाद्धन्तेः कुत्वं न स्यात् । आदेरिति किम् ? जजागार । इत्यनाद्यस्य माभूत् । एकाच् इति किम् ? इत्मात्रस्य माभूत् । एगच्चेत्यत्रादित्वं व्यवदेशिवद्भावेन यथा प्रथमगर्भेण हता नारी । इयाय आरेत्यत्र एकास्त्वमपि उपन्यासत् । यथा स्थूलशिरा राहुरिति ।

अन्त्रः ॥४१३२॥ इहादेरित्यचो विशेषणम् । आदेः परस्यैकाचो द्वे भवत इत्यधिक्रियते । आदिष्टिपति । अद्यद्यते । आदिष्टत् । सत्यपि सम्भवे आदेर्द्वित्वस्य बाधकमिदम् । दधिदानस्येव तद्विज्ञानम् । शास्त्रेऽपि द्वीप इत्यत्र “द्वयनर्गोदीपः” [४१३२०२] इत्ययमादिविकारोऽन्त्यविकारस्य बाधकः । यथाऽवत्याचो द्वित्वं न भवति तथा व्यञ्जनस्यापीति न दोषः ।

न स्फादौ न्द्रोऽयि ॥४१३३॥ इहादेरच इति वर्तते । आदेरचः परे स्फादौ वर्तमाना नकारदकाररेफा न द्विरुच्यन्ते अयकारे । इन्द्रिदिपति । उन्द्रिदिपति । अगङ्गिदिपति । अर्चिचिपति । उब्जिजिपति । इत्यत्र दकारोद्पन्ने जुना योगे च “उद्देः” इति वक्ष्यमुक्तम् । तस्यासिद्धत्वात्प्रतिषेधः । अभ्युद्ग इत्यत्र कुत्वस्य सिद्धत्वाद्धत्वं न भवति । “ईर्ष्यतेस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्” [वा०] कोचिदाहुस्तृतीयस्यैकाच इति । तेन सनो द्वित्वे ईर्ष्यिपति । अत्र आहुस्तृतीयस्य इल इति । ईर्ष्यिपति । “कण्ठवादानां तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवतिः” [वा०] कण्ठ्यिपति । “सुब्रूनांच तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति” [वा०] अश्विपति । अपर आहुः । “यथेष्टं सुब्रुवु वक्तव्यम्” [वा०] पुपुत्रीपति । पुतित्रोपति । पुत्रोपिपति ।

थः ॥४१३४॥ द्वे इति वर्तते । तस्य संज्ञित्वम् । ते द्विरुक्ते समुदिते थसंज्ञे भवतः । ददति । ददतु । अदधुः । दधति । दधतु । अदधुः । थसंज्ञायां सत्याम् भस्य “अत्थात्” [४१३४] इत्यदादेः । “थस्तोरातः” [४१३४००] इत्याकारस्य खम् । लङो भेः “थवित्सेः” [२१४८८] इति भस्योत् । समुदायस्य थसंज्ञायां किं प्रयोजनम् ? चस्य खे मा भूत् । ईप्सन्ति । ऐप्सन् । प्रत्येकं पर्यायेण च माभूत् । थप्रदेशाः । “थवित्सेः” [२१४८८] इत्येवमादयः ।

जक्षित्यादयः ॥४१३५॥ जक्षित्यादयश्च पञ्च थसंज्ञका भवन्ति । जक्षति । जक्षतु । अजक्षुः । जाप्ति । द्रिद्रति । चकासति । शासति । जक्षितेस्तिपीठं कृत्वा गुरुनिर्देशः किम् ? “रुदादेर्ग” [४१३३५] इत्यत्र पञ्चप्रहस्यमनुवर्तते इति ज्ञापनार्थः ।

पूर्वश्चः ॥४१३६॥ द्विरुक्तयोः पूर्वोऽवयवश्चसंज्ञो भवति । पपाच । पिपक्षति । पापच्यते । अपीपचत् । चसंज्ञायां सत्यां प्रादेशः । “सन्धतः” [४२१७६] इत्यम् । “हलोऽनादेः” [४२१६१] खम् । “दीरकितः” [४२१८०] इति “धेर्वीः” [४२१६०] प्रकृतिचरां प्रकृतिचर इत्यादि कार्यम् । चप्रदेशाः “चस्याथ खम्” [४२१६०] इत्येवमादयः ।

लिङ्गुच्चचि धोः ॥४१३७॥ लिटि, उचि, कचि च परतः धोरादेखयवस्यैकाचोऽन्तः परस्य च द्वे भवतः । पपाच । प्रोणुनाव । उचि—जुहोति । विभेति । उचि बुद्धिकृतं पौर्वापर्यम् । उक्तं च—

“सर्वाश्चेष्टा बुद्धौ कृत्वा वक्ता धीरस्तन्वर्त्तति ।

शुन्देनार्थान्वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पौर्वापर्यम् ॥”

कचि—अपीपचत् । पनेरिचि लुङि कचि च कृते लिङ्गमुङः प्रादेशो द्वित्वम् । एवं हि योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तं

प्रति स्थानिवद्भावे इति धौ कच्यनक्वे सन्वदिति धौ परतः सन्वद्भावो विधीयमानः प्रत्ये स्थानिव [द्भावात्] प्रतिपिच्यते ।

सन्वडोः ॥४३१८॥ ये प्यस्य पुत्रपत्योर्जिः ॥४३१९॥ वन्धौ वे ॥४३१०॥ वचिस्वपियजा-
दीनां किति ॥४३११॥ ग्रहिज्यावयिव्यधिवशिष्यचिचश्चिप्रच्छिभ्रजां किति च ॥४३१२॥

नर्थकः । यङुबन्तस्य प्रकृतिवद्भावो यङोऽन्यस्मिन्नेति तिपा निवर्त्यो यथास्तिभवत्योर्मिङोति यङु बन्तस्य मिङ्येप्प्रतिषेधो मा भूत् । गोभवीति । इह तु यङुपि त्यजे त्याभ्रवमिति प्राग् द्वित्वाजिर्भवत्येष । वेवेक्ति । वर्धेति । वर्धजीति ।

चस्यैषां लिटि ॥४३१३॥ एषां वच्चादीनां लिटि परतश्चस्य जिर्भवति । उवाच । उवचिथ । इयाञ । इयजिय । उवाप । उवपिय । सुष्वाप । सुष्वपिथ । जिज्यौ । जिज्याथ । वेजः स्थानिवद्भावेन उवाय । उवपिय । उवास । उवशिथ । चिवाध । विव्यधिथ । विव्याच्च । विव्याचिथ । ग्रहिभ्रस्वप्रच्छामविशेषः । ब्रश्चेस्तु ब्रश्च वप्रश्चिथ “न औ जिः [४३१३१] इति वकारस्य न भवति । पिदर्थमिदम् । किमु परतः परत्या-
जौ कृते द्वित्वम् । ऊच्युः । ऊचुः । अनन्तरपरिभाषा ह्यनित्या । अधिकाराद्व्यादीनामेव ग्रहणे मिङ्गे
एषां ग्रहणं चखनिवृत्त्यर्थम् ।

कचि स्वापेः ॥४३१४॥ कचि परतः स्वापेर्जिर्भवति । अयूपुपत् । असूपुपताम् । अयूपुपन् । स्वपेर्णि-
चि लुङि कचि च कृते द्वित्वात्परत्वाद्भावेन जिः । “अ्युङः” [५१२८३] एप् । “एषौ कच्युङः” [५१२११५]
इति प्रादेशो द्वित्वम् । चेर्दीप्त्यम् । कचीति किम् ? स्वापितः । स्वाप्यते । स्वापेरिति किम् ? स्वपेर्नित्युच्यमाने
वचनात्केवलादपि कच् - स्यात् । स्वापं करोतीत्यत्रापि केचिदिच्छुक्तिः । केवलमाकितः (कलतः) सन्वद्-
भावाभावात् घेर्दीप्त्यं न भवति । अयूपुपत् ।

स्वपिस्वमिचेज्जं यङि ॥४३१५॥ स्वपि स्वमि व्येज् इत्येतेषां यङि जिर्भवति । सोसुप्यते । सेसिम्यते ।
वेकीयते । स्वपिव्येजोः किति जिर्विहितः । यङि सर्वेषामप्राप्ते विधिः । “वशैर्यङि प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०]
वाच्यते । “ग्रहिज्यावशि” [४३११२] इति पाठे प्राप्तिः । यङीति किम् ? स्वप्नः ।

चायः कीः ॥४३१६॥ चायः की इत्यवमादेशो भवति यङि परतः । चेकीयते । चेकीयेते । चेकीयन्ते ।
दीप्तोच्चारणं किम् ? “दीरङ्ङुगे” [५१२१३४] इति यत्र दीप्तं नास्ति तत्र यङुपि श्रवणार्थम् । चेकीतः ।
चेकीथः ।

स्फायः स्फीस्ते ॥४३१७॥ स्फायः स्फी इत्यवमादेशो भवति तसंज्ञे परतः । स्फीतः । स्फीतवान् ।
त इति किम् ? स्फाय्यते । स्फातिः । स्फीतीभवतीति च्वन्तस्य रूपम् ।

प्रपूर्वस्य स्त्यः ॥४३१८॥ ते इति वर्तते । प्रपूर्वस्य स्त्यागतेर्जिर्भवति ते परतः । प्रस्तीतः । प्रस्तीतवान् ।
“स्फादेः” [५१३६०] इत्यादिना नत्वस्यासिद्धत्वात्प्रागेव जिः, पुनर्निवृत्तनिमित्तत्वात् भवति । “प्रस्त्यो वा”
[५१३६१] इति मत्वपक्षे प्रस्तीमः प्रस्तीमवान् । प्रपूर्वस्येति किम् ? संस्त्यानः । प्रहत्य इति सिद्धे पूर्वग्रहणं
नियमार्थम् । अन्यपूर्वत्वापि मा भूत् । संप्रस्त्यानः । अथवा प्रपूर्वो वस्मादिगसमुदायात् प्रपूर्वः, तदवयवस्यापि
स्त्यागतेर्यथा स्वादित्येवमर्थम् । प्रसंस्तीतः । प्रसंस्तीतवान् । इहान्ये ष्वे स्त्ये इत्यनयोः सामान्येन निर्देशः ।

द्रवघनस्पर्शयोः श्यः ॥४३१९॥ द्रवघने स्पर्शं च वर्तमानस्य श्यायतेर्जिर्भवति ते परतः । शीनं घृतम् ।
शीनं मेदः । “श्याञ्चिदिवः” [५१३६५] इत्यादिना नत्वम् । द्रवावस्थायाम् घनभावमापन्नमित्यर्थः । स्पर्शं
शीतं वर्तते । गुणवत्त्वपि स्पर्शोऽस्ति शीतमुदकम् । शीतो वायुः । द्रवघनस्पर्शयोः किम् ? संश्यानो वृश्चिकः ।
‘स्फादेरातः’ [५१३६०] इत्यादिना नत्वम् ।

१. प्रतिष्ठा [] कोष्ठकात्सर्गगतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुष्टिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्यात्र निर्दिष्टानि ।

प्रतेः ॥४३१२०॥ प्रतिपूर्वस्य श्यायतेर्जिर्भवति ते परतः । प्रतिशीनः । प्रतिशीनवान् । अद्रव-
घनस्पर्शार्थोऽयमारम्भः ।

धाऽभ्यव्यात् ॥४३१२१॥ अभि अव इत्येवंपूर्वस्य श्यायतेर्वा जिर्भवति ते परतः । अभिशीनः ।
अभिश्चानः । अवशीनः । अवश्चानः । अभ्यवशीनः । अभ्यवश्चानः । विपर्याये प्रयोगो नास्ति ।
द्रवघनस्पर्शविवक्षायां प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्त इत्युभयत्र विकल्पः । अन्यगियोगे केचिन्नेच्छन्ति । समभिश्चानम् ।
समवश्चानम् । अन्ये तु पूर्वमात्रेऽन्यगियोगेऽपि विकल्पमिच्छन्ति । अभिसंशीनम् । अभिसंश्चानम् ।
अवसंशीनम् । अवसंश्चानम् ।

क्षीरहविषोः शृतम् ॥४३१२२॥ शृतमिति निपात्यते क्षीरहविषोः पाके । शृतं क्षीरम् । शृतं हविः
स्वयमेव देवदत्तेन वा । अत्र पाके इति कृतात्वस्य भौवादिकस्य आ पाके इत्यादादिकस्य च ग्रहणम् । तथा आ पाके इति
क्षीरादिकस्य णिचि पुकि च कृते आ पाक इति मित्सु पाटात्प्रादेशेऽपि । अनयोः आभ्योः क्ते परतः शृभावो
निपात्यते । क्षीरहविषोरिति किम् ? आभ्यासा यवणूः । वेति व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेर्हेतुमति णिचि नेभ्यस्ते ।
अपितं हविर्देवदत्तेन जिनदत्तेन ।

प्यायः पी ॥४३१२३॥ प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः । पीनौ स्तनौ । पीनायसौ । “ओदितः”
[५३।६३] इति गत्वम् । प्रकृतो जिहत्तरस्य वस्य प्रसज्येत । लिङाङोरवलादौ च यत्नं नास्ति ।
तदर्थाश्चादेशः ।

आङः ॥४३१२४॥ आङः परस्य प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः । आपीनः । आपीनवान् ।
आङ एव प्यायः पी भवति नान्यस्माद् । प्रप्यानश्चन्द्रमाः ।

अन्धूधसोः ॥४३१२५॥ अन्धूधसोरर्थयोः आङः परस्य प्यायः पी भवति ते परतः । आपीनोऽन्धुः ।
आपीनन्धुः । अन्धुर्ब्रह्मणम् । ऊधः स्तनपर्यायः । अयमपि नियमः । आङ्पूर्वास्यान्धूधसोरेव । नान्य-
स्मिन्नर्थे । आप्यानश्चन्द्रमाः ।

लिङ्यङोः ॥४३१२६॥ त इति निवृत्तम् निमित्तान्तरोपादानात् । लिटि यङि च परतः प्यायः पी
इत्ययमादेशो भवति । आपिष्ये । आपिष्याते । आपिष्यिरे । परत्वात्पीभावे कृते पुनः प्रसक्ताद् द्वित्वम् ।
“एषिवाङ्चादुङोऽमुधियः” [४।४।७८] इति यणादेशः । यङि-आपेपीयते । आपेपीयेते । आपेपीयन्ते । यङुपि
“त्यस्ते त्याधयम्” [१।१।६३] इति आपेपेति । आपेपीतः । आपेप्यति ।

न वा श्वेः ॥४३१२७॥ निरिति वर्तते । श्वयतेर्न वा जिर्भवति लिङ्यङोः परतः । शुशाव । शिश्वाय ।
शुशुवतुः । शिश्वयतुः । शोशूयते । शोशूयते । लिटि किति यञादिप्राप्तिर्नेति प्रतिषिध्यते । तनः समीकृते
विषये विकल्पः । पिति किति च लिटि यङि च प्रवर्तते । ननु शिश्वायैत्यत्र जिना मुक्ते पक्षे “वस्यै-
वां लिटि” [४।३।१३] इति चत्स्य प्राप्नोति नायं शेषो नेत्यनेन श्वयतेर्यावन्ती प्राप्तिः सा सर्वा प्रतिषिध्यते । ततो
विकल्पः । यदि चत्स्य क्रियेत प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ।

सन्धचोर्णौ ॥४३१२८॥ सन्धरे कन्धरे च णौ परतः श्वयतेर्न वा जिर्भवति । शुशावयिषति । अन्तरङ्ग-
परिमाणं ह्यनित्या । पूर्वविप्रतिषिद्धेन जौ कृते ऐपि “ओ पुयण्ये” [५।२।१७८] इति आपकान्
स्थानिवद्भावेन द्वित्वम् । पक्षे शिश्वाययिषति । कचि अशूशयत् । अशिश्वयत् ।

क्षो जिः ॥४३१२९॥ ह्यतेर्जिर्भवति सन्धरे कन्धरे च णौ परतः । जुहावयिषति । जुहावयिषतः । जुहावयि-
षन्ति । कचि-अजुह्वयत् । अजुह्वयताम् । अजुह्वयन् । अनवकाशत्वाजिना सानकाशः “शाब्दासाङ्गादि” [५।२।४२]
सूत्रेण यक् वाच्यते । पुनर्जिग्रहणं नित्यार्थम् । ननु थस्येति वक्ष्यते तेनैवायं जिः सिद्धः । ह्यतेरेवायं थ

आदेरेकाच इत्यनुवर्तनात् । एवं तर्हीदमेव शापकम् । अस्य निमित्तेऽन्येन व्यवहिते जिर्न भवति । तेन सिद्धम् । जिह्वावकीयिषति । ह्यायकमिच्छति । ह्यायकीयतेः सन् ।

थस्य ॥४॥३॥३०॥ ह्यतेस्थस्य जिर्न भवति । जुहूषति । जोहूयते । जुदाय । सामर्थ्यान्धनिमित्ते परतो जिर्वेदि-
तव्यः । अत्रोपचारात्थार्थो ह्यतिस्थः तस्य जौ कृते द्वित्वम् ।

न जौ जिः ॥४॥३॥३१॥ जौ परतः पूर्वस्य जिर्न भवति । विद्धः । विचितः । संवीतः । वचेर्जियन्त्रं शापकम् ।
“अन्तेऽज्जः” [१॥१॥४६] इति नाश्रीयते । “अनन्त्यधिकारेऽन्त्यसदेशस्य” [५०] इत्यनित्या । नन एकेनापि योगेन-
वाचन्तो यणस्तेषां सर्वेषां जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । ननु तथाप्येकयोगेन युगपज्जः पूर्वस्य परस्य च निर्वृत्त-
त्वात्सिद्धस्य कथं प्रतिषेधः ? अत्रोच्यते—न जौ निरिति स्वाश्रयकार्यस्य जेः परपूर्वत्वस्य प्रतिषेधः । ततो यण-
देशे सति लिप्यति रूपम् । पुनर्जिग्रहणं प्रकरणान्तरविहितस्यापि जेः प्रतिषेधार्थम् । यूना । गूने । “श्चयुव-
मधोभोऽहति” [४॥१॥३२१] इति जिः । अत्र स्वेऽको दीत्वस्य स्थानिवद्भावादुकारेण व्यवधानं न चिन्तनीयम् ।
“प्रपूर्वस्य स्यः” [४॥३॥३२] इत्यत्र पूर्वस्येति वर्तते । तेन पूर्वमात्रस्य प्रतिषेधः । उपोऽपुग्रा । उपोऽपुगे इत्यत्र
भिन्ननिमित्तत्वान्न प्रतिषेधः । जावित्यत्रेकारोऽपि प्रश्लिष्यती ततः शक्यतेः कचि न जिः । अशिशिवयत् ।

लिटि वेजो यः ॥४॥३॥३२॥ न निरिति वर्तते । लिटि परतो वेजो वकारस्य जिर्न भवति । वेजो
यकारस्याभावात् वयेर्यकारस्य प्रतिषेधः । वेज्ग्रहणस्योत्तरत्र प्रयोजनम् । ऊयतुः । ऊयुः । स्थानिवद्भावेन
यजादित्वात् किति जिः प्राप्तः । लिट्ग्रहणमुत्तरार्थम् ।

वो वा किति ॥४॥३॥३३॥ लिटि किति परतो वेजो वकारस्य जिर्न भवति । ऊयतुः । ऊयुः । यजा-
दित्वाजिः प्राप्तः “प्ये च” [४॥३॥३४] इति वक्ष्यमाणेन प्रतिषेधोऽनेन विकल्प्यते । परत्वाजौ कृते द्वित्वम् ।
“वाण्याद् गावं बलीयः” [परि०] इत्युवादेशे कृते स्वेऽको दीत्वम् । पय्—यवतुः । यवुः । वेज्ग्रहणानुवृत्तेः
स्थानिवद्भावेन वयि वकारस्य न प्रतिषेधः । कितीति किम् ? वविथ ।

प्ये च ॥४॥३॥३४॥ प्ये लिटि च वेजो जिर्न भवति । प्रवाय । उपवाय । वधौ । वक्तुः । ववुः । वविथ ।
किट्ग्रहणं वाग्रहणं चानधिकृतम् । “वस्येषां लिटि” [४॥३॥३३] इति यजादित्वाच्च जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् ।
अस्मिन्नेव नित्ये प्राप्ते किन्तु ‘वो वा किति’ [४॥३॥३३] इति विकल्पः । वेज्ग्रहणानुवृत्तेरिह स्थानिवद्भावाभावाद्
वयेरप्रतिषेधः । उवाय । ऊयतुः । ऊयुः । स्थानिवद्भावे हि “लिटि वेजो यः” [४॥३॥३२] इत्यनर्थकं स्यात् ।
अनेनैव यकारस्यापि प्रतिषेधः स्यात् ।

उयः ॥४॥३॥३५॥ ज्या इत्येतस्य प्ये जिर्न भवति । प्रज्याय । उपज्याय । चानुक्तत्वाल्लिटीति निवृत्तः ।

व्यः ॥४॥३॥३६॥ व्या इत्येतस्य च प्ये जिर्न भवति । प्रव्याय । उपव्याय । सूत्रान्तरमुत्तरार्थम् ।

परेषां ॥४॥३॥३७॥ परेरुत्तरस्य व्या इत्येतस्य प्ये वा जिर्न भवति । परिबोय । परिव्याय । परत्वादीन्वे
कृते तुगभावः ।

एचोऽशित्याः ॥४॥३॥३८॥ धोरिति वर्तते । एजन्तस्य धोरशित्यात्वं भवति । ग्लै । ग्लाता । ग्लानुम् ।
शो—निशाता । निशातुम् । “अन्तेऽज्जः” [१॥१॥४६] इत्येव आकारः । एच इति किम् ? कर्ता । कर्तुम् ।
अशितीति किम् ? ग्लायति । श्लायति । अशितीति प्रसज्यप्रतिषेधः शिति नेति । अनैमित्तिकमात्रम् ।
ग्लानीयम् । तेन आयाचभावः । सुत्रः । सुग्लः । “आतो गौ” [२॥१॥१०६] इति कः । सुग्लानम् । “युजानः”
[२॥३॥१०६] इति युञ्ज सिद्धः । “मिर्म्मिज्जदीकां प्ये च” [४॥३॥४३] इति चकारादेर्विवये चात्ववचनं शापकम् ।
परनिमित्तस्यैव आत्वं न भवति । चेता । स्तोता । प्रतिपदोक्तपरिभाषा त्वनित्या तेन क्रापयतीत्यादौ पुक्-
सिद्धः । शकार इष्टस्व सोऽयं शित् तदादौ न भवति । ननु तदन्ते । जग्ले मस्ले इति । धोरित्येव । गोभिः ।
नोभिः ।

न व्यो लिटि ॥४३१३६॥ व्ययतेर्लिङ्वात्वं न भवति । संविभ्याव । संविभ्ययिथ । एलि "वस्येषां लिटि" [४३१३३] इति जिः । "विशत्यन्तः" [५२१३] इत्यैप् । आवादेशः । धे "वोपदेशे" [५१११०८] इति सूत्रे "अव्याद्" इति प्रतिषेधात्कादिनियमादिद् ।

स्फुरिस्फुल्योर्घञि ॥४३१४०॥ स्फुरिस्फुलि इत्येतयोरेच आत्वं भवति घञि परतः । विस्फारः । विस्फालः । "भावे" [२३११७] "अकर्तरि" [२३११८] "इलः" [२३११०२] इति "कृष्णाधिकरणयोः" [२३११६६] वा घञ् । "स्फुरिस्फुल्योर्निर्निवेः" [५४१५८] इति वा पत्वम् ।

क्रीड्जेषौ ॥४३१४१॥ क्रीड् जि इत्येतोपानेच आत्वं भवति शौ परतः । आपयति । अध्यापयति । आपयति । परनिमित्तस्याप्येच आत्वमनेन विधीयते ।

सिध्यतेरक्षाने ॥४३१४२॥ शाविति वर्तते । सिध्यतेरेच आत्वं भवति ज्ञानादन्यत्र शौ परतः । अन्नं साधयति । अर्थं साधयति । अज्ञान इति किम् ? आचारः कुलं मेधयति । क्षमा धर्मं मेधयति । शापयतीत्यर्थः । श्रवणिकरणनिर्देशादिभ्य गतावित्यस्य सौवादिकत्याग्रहणम् ।

मिज्मीज्दीङां प्ये च ॥४३१४३॥ मिज् मीज् दीङ् इत्येतेषां प्ये च एचश्चात्वं भवति । प्ये प्रमाय । एङिष्ये प्रमाता । प्रमातुम् । प्रमापयति । मिजो निमाय । निमाना । निमानुम् । निमापयति । दीङः अवदाव । अवदाता । अवदातुम् । अवदापयति । चकारो शापकः । परनिमित्तस्यैच आत्वं न भवति । तेन चेतादिष्वात्वाभावः । एच इत्यर्थवशाद्विशेषणलक्षणात्ता । एचो या प्रकृतिस्तस्याः प्राक्स्थोत्पत्तेरात्वं भवति । एवं चाकाराण्यव्युच्चः सिद्धः । अवदायः "इथाद्भ्यध" [२११११७] आदीति एः । अवदायो वर्तते । सुदानम् । "निमिमीलियां स्वाचोरात्वप्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०] सुनिमयः । निमीनाति निमानं वा निमयः । "अकर्तरि वाऽचि प्रतिषेधः" । एवं मिनोतेरपि । लियो "विभाषा लियोः" [४३१४४] इति व्यवस्थितविभाषा शापनादेव स्वाचोः प्रतिषेधः सिद्धः ।

विभाषा लियोः ॥४३१४४॥ लिनाते लीयतेश्च विभाषयाऽऽत्वं भवति प्ये एज्विष्ये च । विलाय विलीव । एज्विष्ये विलाता । विलेता । विभाषेति व्यवस्थितविभाषा । तेन धाष्टर्यसम्माननयोराचम् । श्येनो वर्तिकाभपलापयते ।

अप्यपगुरो वा ॥४३१४५॥ एच इति वर्तते । एचि परतः अपगुर एच आत्वं भवति वा । अपगारम् । अपगोरम् । अस्वपगारं युध्यन्ते । अस्वपगोरं युध्यन्ते । "प्रसाणासत्योः" [२१४३६] इति एम् । "वा भादि" [१३१८४] इति षसः । पुनर्वाग्रहणं पूर्वस्य व्यवस्थितविभाषाशापनार्थम् ।

चिस्फुरोर्षौ ॥४३१४६॥ चिज् स्फुर इत्येतयोर्षौ परत एचो वाऽऽत्वं भवति । धर्मं चापयति । धर्मं चपयति । नयनं स्फारयति । नयनं स्फोरयति ।

प्रजने वातेः ॥४३१४७॥ प्रजनेऽर्थे वातेर्षौ परतो वाऽऽत्वं भवति । पुरो वातो गाः प्रवापयति । पुरो वातो गाः प्रवपयति । लवणं गाः प्रवपयति । लवणं गाः प्रवापयति । प्रजनो गर्भाधानम् । वातेः प्रजनेऽर्थे वृत्तिर्नास्ति तेनारम्भः ।

विभेतेहेतुभये ॥४३१४८॥ विभेतेहेतुभयेऽर्थे णौ परतो वाऽऽत्वं भवति । मुण्डो भापयते । जटिलो भापयते । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । हेतुः स्वतन्त्रस्य कर्तुः प्रयोजकः । ततः साक्षाद्भयमत्र प्रतीयते । भयशब्दो भावसाधनोऽपादानसाधनो वा । नपुंसकलिङ्गे भावे "अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम्" [वा०] कादिनिवृत्त्यर्थम् । भावे-हेतोर्मयं हेतुभयम् । अपादाने-हेतुरेव भयं हेतुभवमिति ज्ञेयम् । "योर्भौस्मेहेतुभये" [१२१६४] इति द्विविधिः । आत्वाभावपक्षे "ईतः षुङ्गित्यम्" [४३१४६] इति षुक् । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिकयैर्न भीषयति । नात्र प्रयोजकाद्देतोर्मयं किन्तर्हि कुञ्चिकारूपात्कारणात् । तिपा निर्देशो यदुक्तनिवृत्त्यर्थः विभेति तमन्यः प्रयुङ्क्ते (भापयति पुनः पुनरतिशयेन भापयति,) विभापयति ।

ईतः षुङ् नित्यम् ॥४१३॥४६॥ विभेतेरीकारान्तस्य हेतुभयेऽर्थं नित्यं पुगागमो भवति शौ परतः । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । ईत इति निर्देशादैः प्रागेव बुक् । हेतुभव इत्येव । कुञ्चिक्यैर्न भाषयति । नात्र साक्षात्प्रयोजको भयकारणम्; किन्तुर्हि ? करणात् । द्विविधश्च न भवति ।

स्मिङ् ॥४१३॥५०॥ हेतुभय इति वर्तते साविति च । स्मिङ् इत्येतस्य शौ परत आत्यं भवति हेतुभयेऽर्थं । मुण्डो विस्मापयते । जटिलो विस्मापयते “शेभीस्मेहेतुभये” [४१३।६४] इति दः । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिक्यैर्न विस्मापयति । स्मयत्यर्थ एव भयमित्युपचर्यते । नहि मुख्यकृत्या भये स्मयतेवृत्तिः ।

भल्यकिति सृजद्गोऽम् ॥४१३॥५१॥ भलादावकिति परतः सृजद्गोऽरमागमो भवति । स्रष्टा । स्रष्टुम् । स्रष्टव्यम् । द्रष्टा । द्रष्टुम् । द्रष्टव्यम् । विशेषविहितत्वात्सामान्यविहितस्य “घ्युङ्” [५१३।८३] एषो वाधकोऽयम् अस्मादीन् इत्यत्र पूर्वमपि कृते “ब्रज्वद्” [५१३।७६] इत्यादिनैप् । कलीति किम् ? सज्जनम् । दर्शनम् । अकिलीति प्रसज्यप्रतिषेधादिह न भवति रज्जुसृङ्स्याम् । देवदृग्स्याम् । धोः स्वरूपग्रहणे तत्त्वविज्ञानाद्वा ।

वाऽनुदात्तस्य दुः ॥४१३॥५२॥ अनुदात्तस्य धोः ऋदुङ् वा अमागमो भवति भलादावकिति परतः । प्रसा । तर्ता । द्रसा । दर्ता । नृपिदपीरधादौ विकल्पितेदौ तत्रानुदात्तपाठोऽमागमार्थः । अनुदात्तस्येति किम् ? बर्ता । तर्ता । वृद्धः । वृद्धः । उदित्वात्पक्षेऽनिटौ । ऋदुङ् इति किम् ? भेत्ता । भेत्तुम् । कलीत्येव । तर्पणम् । दर्पणम् । अकिलीत्येव । इतः ।

ध्वादेः पस्सः ॥४१३॥५३॥ धोरादेः पकारस्य सकागदेशो भवति । अज्दन्त्यपरा सादयः षोपदेशाः । सृपिभृजिसृल्पास्तूसेकसृज्वम् । स्यदिस्मिङ्स्विदिस्वजिस्वपयस्तु मूर्धन्यादिपाठाः । उदाहरणम् । पद् सहते । पिच सिञ्चति । मिषप् सुगः । “ध्वादेशयोः” [५१३।६६] इति पञ्चार्थ आदेशः । धोरिति किम् ? पोडन् । षडिकः । आरेरिति किम् ? लायति । धोरिति वर्तमाने पुनर्बुध्ग्रहणं ध्रुवे यो धुः तद्वादेः पकारस्य सत्त्वार्थम् । मुध्धोर्मा भूदिति । षोडोवसे । पयड्वायति । “ध्वावतिष्वक्कतिष्व्यायतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः” [५१३।७०] । ध्रिव् पकारपरः ठकारपरश्चेत्यते । तैन चविकारे तेष्टीयते । टेष्टोवते ।

णो नः ॥४१३॥५४॥ धोरादेर्णकारस्य नकार आदेशो भवति । सर्वे नादयो षोपदेशाः । नृतिनन्दिनक-नर्दिनटिनाभृनाश्वजम् । एम्-नमति । णी-नयति । णह-नहति । “गेरसेऽपि विकृतेः” [५१३।६८] इति शून्यार्थ-मादेशः । पुनर्बुध्ग्रहणात्सुबोधोर्णकारस्य नत्वं न भवति । णकारीयति । ध्वादेरित्येव । चणति । योगविभागः सत्वस्य षीधत्वादावनित्यत्वज्ञापनार्थः ।

बलि व्योः खम् ॥४१३॥५५॥ बलि परतो वकारस्यकारयोः खं भवति । भोरधोर्वा । देदिवा, सेसिवः । बहुवन्ताद्वसि वकारस्य खम् । जीवेरदानुक् । जीरदानुः । यकारस्य, ऊपी-ऊत्तम् । क्यूयी-क्यूतम् । “असिद्धं बाहिरङ्गमन्तरङ्गे” [५०] इत्यनित्यत्वा तेन बाहिरङ्गे इत्यादेशो एयादेशो च सत्यन्तरङ्गं यस्त्वम् । पचेत् । दासेरः । किञ्चि कण्डूयतेः बोभूयतेश्च कण्डूः । बोभूः । अतः खे कृते “बलि व्योः खम्” नित्यत्वादिक्रयः खेऽपि क्वचिद्वर्णाश्रयेऽत्याश्रयमिति त्यखे त्याश्रयाद्वलादित्यम् । बलीति किम् ? दीव्यते । ताव्यते ।

हल्ङ्वापो यः सुसिप्यनच् ॥४१३॥५६॥ हलन्तात् ङी च आप् च या दीः तदन्ताच्च परेषां सुसिप्तीनां खम् । व्यर्थं स्फान्तखेन सिद्धमिति चेत्, न सिध्यति । उन्वाश्रदित्यत्र स्फान्तखस्यासिद्धत्वे पदान्तात्वाभावा इत्वं न स्यात् । स्फादिसिखे वा विभक्तिसकारस्य रिचविसर्जनीयौ स्याताम् । अभिनोऽचेति स्फान्तखस्यासिद्धत्वादेस्त्वं न स्यात् । अविभर्भवानित्यत्र “रात्सः” [५१३।४२] इति नियमात्तिवः खं न स्यात् ।

केरेडः ॥४१३॥५७॥ केः खं भवति एङन्तादुत्तरस्य । हे अग्ने । हे वायो । प्रादिति स्वात्परत्वेन ‘प्रस्यैप्’ [५१३।१०३] इति एप् ।

प्रात् ॥४१३॥५८॥ प्रान्तात्परस्य केः खं भवति । हे देवदत्त । हे जिनदत्त । वसपक्षेऽनञिति वर्तते तच्च प्रादिति कानिर्देशात् तान्तं सम्पद्यते । ततः केरवयवस्यानचः खं भवति । एवं हे कुण्डेत्यत्र हलो मकारस्य खं भवति । हे कतरदित्यत्र स्वमोः परतः किकृते “नपः स्वमोः” [५११२०] इत्युप् ।

पिपि कृति तुक् ॥४१३॥५९॥ प्रादित्यस्य ताप्रकृतिः । पिपि कृति तुगागमो भवति प्रान्तस्य । प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । अग्निचित् । सोमसुत् । कृतीति वचनाद्धोरयं तुक् । पिपीति किम् ? चितम् । स्तुतम् । कृतीति किम् ? बहुकर्तृकः । प्रस्वेति किम् ? प्रलूय । ग्रामणीः । ग्रामणीकुलमित्यत्र बहुश्रवस्य प्रादेशस्त्वसिद्धत्वान्तरङ्गस्तुक् ।

सन्धौ ॥४१३॥६०॥ सन्धावित्वधिकारो वेदितव्यः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः सन्धिविषये तद्वेदितव्यम् । लोकेत एव संश्लेषः सन्निकर्षो वा सन्धिरिति ज्ञातव्यम् । यथा “एष्यतोऽपदे” [४१३॥८४] अत्रेकगतिः । वक्ष्यति ‘अचीको यण्’ [४१३॥६५] । दध्यक्षान । सन्धाविति किम् ? दधि अक्षान ।

छे ॥४१३॥६१॥ छकारे परतः सन्धौ प्रस्य तुग्भवति । गच्छति । इच्छति । पृच्छति । प्रस्यात्र तुङ्गन् तदन्तस्य । यदि प्रान्तस्य स्वाच्चिच्छित्त्वुरित्यत्र “हलोऽनादेः” [५२१॥६१] खं प्रसज्येत । नन्ववपवावयोऽपि समुदायावयव इति खं प्रान्नोति । एवं तर्हि पूर्वान्तकरणाधिकारात्खं न भवति ।

आङ्माङोः ॥४१३॥६२॥ आङ् माङ् इत्येतयोश्छे परतस्तुग् भवति ।

“ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः । एतमातं हितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित् ॥”

ईषच्छाया आच्छाया । क्रियायोगे—आच्छिनत्ति । मर्यादाऽभिविधौः । आच्छायायाः । माङः । माच्छि दत् । माच्छासीत् । “जा पदस्य” [४१३॥६४] इति विकल्पः प्रातः । अनूत्व (तुग्रन्ध) करणं किम् ? आच्छावमानय । आच्छावमानय । स्मरणे द्वित्वं नास्ति । ञ्यमा छत्रमानयति । “गामादाग्रहयोष्वविशेषः” [५०] इति प्राप्तिः । अथवा नेदं प्रत्युदाहरणम् । आङा सहचरितस्य माङो निमंजकस्य ग्रहणादोरप्राप्तिः ।

द्यः ॥४१३॥६३॥ दीसंज्ञस्य छे तुग्भवति । ह्रीच्छति । म्लेच्छति । अपचाच्छायते ।

वा पदस्य ॥४१३॥६४॥ द्यन्तस्य पदस्य छे वा तुग्भवति । कुवलीच्छाया । कुवलीच्छाया । रामीच्छाया । रामीच्छाया । दीसंज्ञकस्य तुग्भवति स चेत्पदस्येति । तेनासामर्थ्येऽपि तुग्विकल्पः सिद्धः । तिष्ठतु कुमारी छत्रं हर देवदत्त ।

अचीको यण् ॥४१३॥६५॥ अचि परत इक्षो यणादेशो भवति । दध्यक्षान । मध्वपनय । “अनचि” [५१४॥१२७] इति द्वित्वम् । मर्त्यः । लाकृतिः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [५०] इति यादीनां न सन्तान्तम् । अचोति किम् ? दधि करोति । मधु कृतम् । इक इति किम् ? भवानन्त । हलो मा भूत् । स्वेऽचि दीवं वक्ष्यति । पारिशोष्यादन्यत्र यण् ।

एचोऽयचायावः ॥४१३॥६६॥ एचः स्थाने अय् अय् आय् आय् इत्येते आदेशा भवन्ति अचि परतः । चयनम् । लवनम् । चायकः । लायकः । कयेतै । पटविह ।

यि त्ये ॥४१३॥६७॥ यकारादौ त्ये अवाद्य आदेशा भवन्ति । ग्राम्यः । माण्डव्यः । गव्यः । नाव्यो हृदः । वीति किम् ? गोभ्याम् । नौभ्याम् । त्य इति किम् ? गोयानम् । नौयानम् । वीति योगविभागः । तेन गोर्युता वध्यपरिमाणे अनादेशो भवति । गव्यूतिः । अयावादेशयोः केचित्प्रतिषेधमिच्छन्ति । तेन रायमिच्छति रैयति ।

क्षिज्योः ॥४१३॥६८॥ क्षि जि इत्येतयोरेचो यि त्येऽयादेशो भवति । क्षेतुं शक्यं क्षय्यम् पापम् । जेतुं शक्यो जय्यः शत्रुः । “शक्ति लिङ्च” [२१३॥१४८] इति व्या भवन्ति । नियमार्थोऽयमारम्भः । धुषु क्षिज्योरेव नान्यस्य धोः । चेयम् । नेयम् । तथापि तुल्यजातीययोरेकारैकारयोर्निवृत्तिः । धोरोकारौकारयोः पूर्वोपावायादेशौ भवतः । लव्यम् । पव्यम् । अवश्यलाव्यम् । अवश्यपच्यम् । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । न्यान्ते ह्यवश्यमोनाश इति ।

शक्नो ॥४।३।६९॥ अयमपि नियमः । शक्तावेव क्षिप्र्योरयादेशो नान्यस्मिन्नर्थे । क्षेयम् ।

धोस्तस्मिन्नेव ॥४।३।७०॥ धोस्तस्मिन्नेव यित्ये व एच् तस्यायादयो भवन्ति । लज्यम् । अवश्यलज्यम् । धोरिति किम् ? मृदो नियमो मा भूत् । माण्डव्यः । गव्यम् । तस्मिन्नित्यस्यातस्मिन्नित्य च “यित्ये” [४।३।६७] इत्यादेशः । तस्मिन्नित्येति किम् ? उपोयते । श्रौयत । लौयमानिश्चैत्रः । कर्मणि लट् । यक् जिन्वम् । गिधोर्य-त्कार्ये तदन्तरङ्गमिति “आवेप्” [४।३।७५] । लटि लावस्थायामडागमोऽन्तरङ्ग इति “अटश्च” [४।३।७८] इत्यैप् । अन्तरङ्गपरिभाषा ह्यनित्या तेन बहिरङ्गत्वेऽप्येप् । लौयमानिरिति प्रत्युदाहरणम् । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । धोरेव तस्मिन्निति नियमो मा भूत् । एवं हि बाभ्रव्य इत्यत्र न स्यात् ।

क्रय्यः स्वार्थे ॥४।३।७१॥ क्रय्य इति निपात्यते स्वार्थे गम्ये । स्वार्थो द्रव्यविनिमयः । क्रय्यः कन्वलः । क्रय्या गौः । क्रय्यार्थे प्रसारितः । अन्वयस्तुसंग्रहायोर्भावे यावत् । क्षिप्र्योरिति नियमादध्यादेशो निपात्यते । स्वार्थे इति किम् ? केवं धान्यं न चास्ति क्रय्यं स्वीकर्तव्यं धान्यं किं तर्हि परकीयम् । क्रय्यार्थे प्रसारितं नास्तीत्यर्थः ।

द्वयोरेकः ॥४।३।७२॥ “खत्यादतः” [४।३।६६] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद् द्वयोः पूर्वपरयोरेको भवतीत्येवोऽधिकारे वेदितव्यः । वक्ष्यति आदेप् । द्वेन्द्रः । द्वयोर्ग्रहणं किम् ? पूर्वपरयोर्युगपदादेशप्रतिपत्त्यर्थम् । इतरथा हि यत्र कानिदेशः सावकाशस्तत्र पूर्वस्य निर्देशः । यत्रेन्निर्देशः सावकाशस्तत्र परस्य । ततश्च पर्यायेण कार्ये स्याद् यथा “सचस्योभौ” [५।४।१०५] इत्यत्र शकारद्वयम् । एवमिहापि कार्यद्वयं माभूदित्येकग्रहणं क्रियते ।

तद्वत् ॥४।३।७३॥ द्वयोरेक इति वर्तते । तयोरिव तद्वत् । तयोर्विद्यमानयोर्यत्कार्यं तत्कृतेऽप्येकादेशे यथा स्वात् । यत्पूर्वमवयवमाश्रित्य कार्यं क्रियते, यच्च परं तत् कृतेऽप्येकादेशो भवति । असति सूत्रेऽवयवग्रहणेन न गृह्येत । क्षोरोदकवत् । पूर्ववयवे प्रयोजनम् । वामोरुरिति मृद ऊरित्यमृदो मृदमृदोरेकादेशो मृद्वद्वति । यथा शक्येत कर्तुं मृद इति स्वादिविधिः । अन्यथा वृक्षः प्लक्ष इत्यादिवेव स्यात् । परवयवे प्रयोजनम्-देवावित्यत्रौकारः सुप् । असुवकारः । सुवसुपोरेकादेशः सुवद् भवति । यथा शक्येत कर्तुम् “सुभिमन्तं पदम्” [१।२।१०३] इति । अन्यथा साधुः पूज्य इत्यादिवेव स्वात् । अधोऽप्येत्यत्र द्वयोरेकादेशोऽपि प्राश्रयस्तुक् सिद्धः । “उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः” [वा०] । तेन उपोह्यते । प्रोह्यते इत्यत्र “गेरुहः प्रः” [५।२।१३२] इति उभयाश्रयः प्रादेशो न भवति । इह कार्यातिदेशोऽभिप्रेतो न रूपातिदेशः । तेन वर्णाश्रये विधौ तद्वद्भावो न भवति । मालामिरित्यत्र पूर्वान्तित्वमाश्रित्य “मिसोऽत ऐस्” [५।१।८८] इति न भवति । जुहावेत्यत्र “यस्य” [४।३।३०] इति ह्यतेनौ कृते “जेः” [४।३।६५] परपूर्वत्वे च तस्य परवद्भावात् “जातो शलः श्री” [५।२।३७] इति न भवति । अस्वै अङ्कः परवद्भावाभावात् । “एङोऽति पदान्तात्” [४।३।६६] इति न भवति । अस्या अङ्क इति सिद्धम् । वल्कणात् स्वाश्रयमपि । तेन ङीडोस्तुक् प्रति परादित्वाभावे “वा पदस्य” [४।३।६४] इति विकल्पः सिद्धः । वृक्षेच्छ्वम् । वृक्षेच्छ्वम् । अपचेच्छ्वम् । अपचेच्छ्वम् । संवेनः कौ जिः । जेः पूर्वत्वम् । तस्य परादित्वाभावे प्राश्रयस्तुक् सिद्धः । समुत् ।

पत्वेऽसद्वत् ॥४।३।७४॥ पत्वे कर्तव्ये एकादेशोऽसद्वद्वति । त्यादेशलक्षणे प्राप्ते प्रतिषेधार्थमिदम् । कोऽय । योऽस्य । कोऽस्मै । कोऽसिचत् । योऽसिचत् । “ह्यलिप्सिचः” [२।१।४६] इत्यद् । “एङोऽति पदान्तात्” [४।३।६६] इत्येकादेशस्यासिद्धत्वादिस्य उत्तरस्य त्यादेशसकारस्य पत्वं प्रसक्तं न भवति । “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इति पत्वप्रतिषेधो न सिध्यति तद्वद्भावेन परादित्वादेकादेशस्य । ननु चैकपदाश्रये पत्वेऽन्तरङ्गे एकादेशस्यासिद्धत्वम् । अनिलौपा परिभाषा । ततोऽक्षचूरित्यत्र बहिरङ्ग ऊट् कणादेशो नासिद्धः । षेऽसद्वदिति सिद्धे पत्वे इति गुरुनिर्देशः किमर्थः ? पादान्तपदाद्योरेकादेशः पत्वेऽसद्वद्वति । नान्यत्रेति

ज्ञापनार्थः । तेन उपसेतुषः पश्य । अनुषुषः पश्य । “वसोजिः” [४।१।१२०] “जेः [४।३।१५] पूर्वत्वम् ।
उकाराकारयोरेकादेशः षत्वेऽसद्वृत्तं भवति ।

आदेप् ॥४।३।७५॥ अवर्णान्तादन्वि परत एव भवति । देवेन्द्रः । गन्धोदकम् । महर्षिः । द्वयोः स्थाने
एकी भवति । “एङि पररूपम्” [४।३।८१] इत्यत्र परग्रहणं पूर्वापेक्षं तेन परस्यान्तरतमो एव श्रवणं परतः
प्रसज्यमान एव परस्यान्तरतमोऽकारः “रन्तोऽणुः” [१।१।४८] इति रन्तो भवति ।

एच्यैप् ॥४।३।७६॥ अवर्णान्तादेन्वि परतो द्वयोरेक ऐव भवति ।

“प्रसिद्धैकसुरैरयस्य सर्वज्ञस्य महौजसः । श्वतीतीपग्यधर्मायै वचः पायान्महौपधम् ॥”

“अचावृद्धिन्वामैवक्तव्यः” [वा०] अचौहिणी । “प्रावृहोदोक्थोचैव्येषु” [वा०] प्रौढः । प्रौढिः ।
प्रेषः । प्रैष्यः । “स्वादांरैरिणोः” [वा०] स्वरं । स्वैरी । लिङ्गविशिष्टस्य स्वरिणो । “क्ते भासे” [वा०]
दुःखार्तः । ऋत इति किम् ? सुखेतः । भास इति किम् ? परमर्तः । स इति किम् ? सुखेनर्तः । “अण-
वशप्रवत्सतरकव्यत्ववसनानामृणे” [वा०] ऋणार्णम् । दशार्णम् । प्रार्णम् । वत्सतरार्णम् । कम्बलार्णम् ।
वसनार्णम् ।

इत्येधत्त्यूद सु ॥४।३।७७॥ एति एधति ऊट् इत्येतैषु परतोऽवर्णान्तादैव भवति । एचीति वर्तमानमेते-
र्विशेषणम् । एधतेर्व्यभिचाराभावात् । ऊट्स्वरूपेण गृह्यते । उपैमि । उपैषि । उपैति । उपैधते । प्रैधते । एङि-
पररूपपवादः । पुरस्तादपवादोऽनन्तरस्य एङि पररूपस्य बाधकः नोत्तरस्य “ओमाङोः” [४।३।८२] इति आ इ पर-
रूपस्य । तेन आ इतः । एतः । उपेतः । ऊट्-वीतः । धीतवान् । एचीत्येव । उपेतः । प्रेतः ।

अटश्च ॥४।३।७८॥ एचीति निवृत्तमचीति वर्तते । अटश्च अचि द्वयोरेक ऐव भवति । ऐक्षिष्ट । ऐहिष्ट ।
औञ्जीत् । औम्भेत् । ऐक्षत् । ऐक्षत् । आध्नेत् । ऐक्षिष्यत् । औम्भिष्यत् । अशब्दोऽवधारणार्थः । अट
एवैचि यथा स्यात् । यदन्यप्राप्नोति तन्मा भूत् । ओङ्कारमैच्छत् । औङ्कारीयत् । “एच्यतोऽपदे” [४।३।७५]
“ओमाङोः” [४।३।८२] इति पररूपं प्राप्तम् । आ उट ओटः ओटमैच्छत् औटीयत् । “ओमाङोः” [४।३।८२]
इति पररूपं प्राप्तम् । उक्तामैच्छत् औक्तीयत् । प्रतिषदोक्तपरिभाषानाश्रयणे “उसि” [४।३।८३] इति
पररूपं प्राप्तम् ।

धावृत्ति नेः ॥४।३।७९॥ आदिति वर्तते । अवर्णान्ताद्देः ऋकारादौ धौ द्वयोरेक ऐव भवति । उपाच्छति ।
प्राच्छति । उपाध्नीति । प्राध्नीति । प्रसज्यमान एवैप् “रन्तोऽणुः” [१।१।४८] इति रन्तो भवति । गेरिति
किम् ? इहर्हति । प्रगता ऋच्छका अस्मिन् देशे प्रर्लको देशः । ऋतीति किम् ? प्रेक्षते । तपरकरणं किम् ?
उप ऋकारीवति उपकारीयति । “वा सुषि” [४।३।८०] इति विकल्पः प्रसज्येत । गेरिति निर्देशाद् धुमहणे
लब्धे धाविति किम् ? धावेव यथा स्यात् “क्लृयकः” [४।३।१०५] इति प्रकृतिभावो भोर्मा भूत् ।

धा सुषि ॥४।३।८०॥ ऋकारादौ सुब्धौ गेरिवर्णान्तस्य वा ऐव भवति । उपार्षभीयति । उपर्षभीयति ।
प्रार्षभीयति । प्रर्षभीयति । “गेरध्वनः” [४।३।८७] इत्यत्र यथा गिरिंशोपलक्षितानां ग्रहणं तथेह मा भूदिति धुमहण-
मनुवर्तते । प्रर्षमं वनम् इत्यत्र न भवति ।

एङि पररूपम् ॥४।३।८१॥ आदिति वर्तते । गेर्धाविति च । अवर्णान्ताद्देः एङादौ धौ पररूपमेकादेशो
भवति । उपेलयति । प्रेलयति । उपोपनि । ऐषि प्राप्ते “वा सुषि” [४।३।८०] इत्यपि वर्तते । उपेलकीयते ।
उपैलकीयते । उपोदनीयति । उपोदनीयति । एङि परमिति सिद्धे रूपग्रहणादिष्टं लभ्यते । “एवे चानियोगे पररूपम्”
[वा०] इहेव । अत्रेव । अनियोग इति किम् ? इहेव भव माऽय गतः । “शकन्वादिषु पररूपम्” [वा०] शक-
अन्धुः शकन्धुः । कर्क अन्धुः कर्कन्धुः । कुलटा । सीमन्तः केशेषु । सीमान्तोऽन्धः । “ओत्वोदयोः से वा
पररूपम्” [वा०] स्थूलोदुः । स्थूलोदुः । विम्बोदुः । विम्बोदुः । “नासिकोदरीदुः” [३।१।४८] इत्यादिना ली । स
इति किम् ? वाक्ये मा भूत् । पश्योष्टं देवदत्त ।

नेच्यात् ॥४१३।६२॥ इच्चि सुटि परतोऽवर्णान्तात्पूर्वस्वं दीर्घं भवति । इन्द्रो । चन्द्रो । विद्ये । अद्वे । इत्यत्र परत्वादुत्तरसूत्रेण प्रतिषेधो न्याय्यः । इच्चिंति किम् ? देवाः । आदिति किम् ? अग्नी ।

द्यो जसि च ॥४१३।६३॥ आदिति नाभिद्धतम् । यन्ताज्जसिचि च परतः पूर्वस्वं दीर्घं भवति । कुमार्यो । कुमार्यः । कामोर्वी । वामोर्वः । विद्ये । सुद्वे । माला इत्यत्र “स्तेको दीः” [४१३।८८] इति दीर्घं द्रष्टव्यम् । य इति सप्तार्धं वचनम् । इच्चि प्रसंज्ञयाऽपि अवर्णस्य यद्यनेन प्रतिषेधः स्थान्नेत्यादिति सूत्रमनर्थकं स्यात् । कवयः । पटव इत्यत्र जसि परत्वादेया भवितव्यम् । देवाः । अग्नी । यावू इत्यत्र “सुटि पूर्वस्वम्” [४१३।८६] इति सुट्प्रहणसामर्थ्याद्दीर्घम् ।

पूर्वाऽमि ॥४१३।६४॥ अकोऽमि परतो द्वयोरेकः पूर्वा भवति । देवम् । कविन् । मालाम् । भानुम् । पूर्वप्रहणं पूर्वस्य दीर्घप्रतिषेधार्थम् । पूर्वरूपं यथा स्यात् । यदि पूर्वः प्रो द्वयोरेकदेशः प्रो भवति अथ दीर्घं दीर्भवति । अनीत्यनुवर्तनान्मकारस्य पूर्वस्वं न भवति । अक इत्येव । रायम् । नावम् । सुटीत्येव । अचिनवम् । अमुनवम् ।

जेः ॥४१३।६५॥ जेरच्चि परतः परः पूर्वा भवति । इष्टः । उधः । गृहीतः । जिविधानतामर्थ्याद्यणादेशो न स्यात् । पूर्वत्वं पुनर्लभ्येत । इदं शकहे शकृद्धर्ममिति वोरधः (ओरचः) ग्रन्थामन्नस्य पूर्वत्वे कृते पुनः पूर्वत्वं न भवति ।

एङोऽति पदान्तात् ॥४१३।६६॥ एङः पदान्तादति परतो द्वयोरेकः पूर्वा भवति । मुनेऽनय । साधोऽनय । एङ इति किम् ? दध्यत्र । अतिंति किम् ? पट्विह । तपरकरणं किम् ? पट्यायादि । पदान्तादिति किम् ? नयनम् । मुनयः ।

इसिङसोः ॥४१३।६७॥ एङोऽति वर्ति । एङो इसिङसोरति परतो द्वयोरेकः पूर्वा भवति । अप-
दान्तोऽयमारम्भः । कवेरागच्छति । कवेः स्वम् । पयोरागच्छति । पयोः स्वम् । इयिङसोरेङश्च यथासंख्यं न भवति । “ओरावश्यके” [१।१।१०२] “ओः पुयस्ये” [५।२।१७८] इति इसिना इसा च निर्देशात् ।

ऋत उत् ॥४१३।६८॥ इसिङसोरति परत ऋत उद्भवति द्वयोरेक इत्येव । कर्तुरागच्छति । कर्तुः स्वम् । द्वयोः स्थान आदेशोऽभ्यन्तरेण व्यपदेशं लभते इति “रन्तोऽणुः” [१।१।४८] इति रन्तवम् । “रात्सः” [५।३।४२] इति सखम् । इसिङसोः सकारस्य वा रिक्त्विसर्जनीयो रन्तत्वं दुरुपपादं चेत् । ऋत इति तपरकरणं किमर्थम् ? “प्रोऽवान्” [१।२।४७] इत्यादावनुकरणस्य दिमावस्य माभूत् । उदिति तपरकरणं स्वप्रहणनिवृत्त्यर्थम् ।

ख्यत्यावतः ॥४१३।६९॥ ख्यत्यात्परयोऽसिङसोरति उद्भवति । ख्यत्यादिति स्त्रीलिङ्गशब्दयोस्तोति-
शब्दयोश्च यणादेशो कृते आगन्तुनाऽऽकोरेणानुकरणनिर्देशः । सख्युरागच्छति । सख्युः स्वम् । पत्युरागच्छति । पत्युः स्वम् । अतीत्यनुवर्तमानेऽत इति स्थानिर्निर्देशो द्वयोरेकरय निवृत्त्यर्थः । ख्यत्यादिति विकृतनिर्देशः किम् ? यणादेशाभावे मा भूत् । अतिस्त्रेरागच्छति । अतिसत्रेः स्वम् । अतिपतेरागच्छति । अतिपतेः स्वम् । “स्वसखि” [१।२।६७] इत्यत्र पर्युदास आश्रितः सखिशब्दादन्यः समुदायः सुसंज्ञो भवति । इदं च विकृत-
निर्देशस्य प्रयोजनम् । सह खेन वतते इति सखः सखमिच्छतीति सखीयति सखीयतेः क्विप् । अतः खम् । “बलि
व्योः खम्” [४।३।५५] इति वकारस्य खम् । यत्नविधिं प्रत्यक्षस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । ननु “वर्णाश्रये नास्ति
स्याश्रयम्” [५०] इति स्थले त्याश्रयस्यायेनापि क्विपो नष्टस्य बलादित्थं नास्ति काहुपसंख्यानमित्यदोषः । इसिङसोः
परतो यणादेशो सख्युरिति भवति । तथा लूत्युः । पूत्युः । लूनमिच्छति पूनमिच्छति । लूनीयतेः क्विबन्तस्य
इसिङसोर्यणादेशः । नत्वस्यासिद्धत्वादुत्वं भवति ।

रेखसोः ॥४३।१००॥ अत इत्यस्यार्थात्कान्ताता । अतः परस्य रेखं भवति अकारे हति च परतः । इन्द्रोऽत्र । यशोऽत्र । इन्द्रो भवति । यशो भाति । रेखाश्रयास्तिसङ्ख्यम् । “ससमुपो रिः” [५।३।०६] इति रेखानुबन्धकरणादिह सक्तस्य (सञ्ज्ञास्य) रेखं न भवति । अरिनाशः । खानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? स्वरत्र । प्रातर्भवति । अद्भसोरिति किम् ? इन्द्र इह । यशः सोमते । अदिति तपरकरणं किम् ? गीयतेः परतो मा भूत् । इन्द्र आयाति । तिष्ठतु पय-आ ३ स्वदत् । “अनृतोऽनन्तस्य” [५।३।१४] इत्यादिना पः । “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४।३।१०३] इति प्रकृतिवचनं ज्ञापकं सन्धिकार्यं पः सिद्ध इति प्रग्रहणेनाग्रहणम् । अत इत्येव । मुनिरसौ । अनुवर्तमानस्यातः तपरकरणं किम् ? स्वग्रहणं माभूत् । देश अत्र । आगच्छ स्थूलशिरा अत्र ।

गोरिन्द्रेऽवङ् ॥४३।१०१॥ अचीति वर्तते । गोः इन्द्रस्येऽचि परतोऽवङादेशो भवति । गवामिन्द्रः गवेन्द्रः । डिङ्करणमन्त्यादेशार्थम् । अचीत्वप्राधान्यात्तदावापि भवति । गवेन्द्रकुलम् ।

विभाषाऽन्त्यत्र ॥४३।१०२॥ इन्द्रशब्दादन्त्यत्र शब्दे योऽच् तस्मिन् विभाषया गोर्यङादेशो भवति । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । गवाजिनम् । गोऽजिनम् । विभाषाग्रहणादिह नित्यं भवति । गवान् ।

प्रकृत्याऽचि दिपाः ॥४३।१०३॥ दिशंज्ञाः पसंज्ञाश्च अचि परतः प्रकृत्या भवन्ति । मुनी इमौ । पट् इह । अधीयेते आगमम् । अमी अत्र । “ईदूदेद्विद्विः” [१।१।२०] “घाः” [१।१।२१] इति च दिशंज्ञाः । पः खल्वपि देवदत्त ३ अत्र त्वमसि । जिनदत्त ३ इदमानय । पविधिराश्रयास्तिसङ्ख्यः । नेति कर्तव्ये प्रकृतिग्रहणं कृत्स्नस्य स्वरसन्धेः प्रतिषेधार्थम् । अचीत्यनुवर्तमाने पुनरङ्ग्रहणं किम् ? परमचमाश्रित्य वक्तव्यं क्रियते तत्र प्रकृतिभावो यथा स्यात् । पूर्वमचमाश्रित्य यत्क्रियते तत्र माभूदित्येवमर्थम् । जानु उ अस्य रजति । जानू अस्य रजति । जान्वस्य रजति । “निरेकाजनाङ्” [१।१।२२] इत्युकारस्य दिशंज्ञा । पूर्वेण सह त्वेऽको दीप्ते कृते । एकादेशो दिग्रहणेन गृह्यते । इति यशादेशस्य प्रकृतिभावः प्राप्तः । “मयो वो” [५।४।१५] इति वकासदेशः ।

विभाषेकोऽस्वे प्रश्न ॥४३।१०४॥ इकोऽत्वेऽचि परतो विभाषया प्रकृत्या भवन्ति प्रादेशश्च प्रकृतिभावे । दधि अत्र । दध्वत्र । कुमारि अत्र । कुमार्यत्र । विभाषाग्रहणं व्यवस्थितविभाषार्थम् । तेन दिपानामस्वेऽचि अनेन प्रकृतिभावविकल्पः प्रादेशश्च न भवति । पट् अत्र । देवदत्ता ३ इहान्वसि । सविधौ च न भवति । व्याकरणम् । न्यायः । न्यासः । कुमार्यर्थः । अस्व इति किम् ? दधीदम् । कुमारीयम् ।

अन्त्यकः ॥४३।१०५॥ अकारे परतोऽको विभाषया प्रकृत्या भवन्ति पश्च भवति वदा प्रकृतिभावः । खद्व अश्यः । खद्वश्यः । माल अश्यः । मालश्यः । त्वेऽपि भवति । पितृ अश्यः । अन्त्यत्र पूर्वैशैव सिद्धम् । व्यवस्थितविभाषानुवर्तनादिह न भवति उपार्थोति । प्राप्नोति । ऋतीति किम् ? दण्डाग्रम् । मालाग्रम् । तपरकरणं किम् ? देवदत्ताया अहकारः देवदत्तवर्गः । दीपयोः परतो मा भूत् ।

षाऽपवदितौ ॥४३।१०६॥ अपवदित्वार्थं पसंज्ञकस्य वा भवति इती परतः । देवदत्त ३ इति देवदत्तेति । सुमंगल ३ इति सुमङ्गलेति । “कूराद्धूते” [५।३।१२] इति पः । “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४।३।१०३] इति नित्यं प्रकृतिभावः प्राप्तो व्यवस्थितविभाषानुवर्तनाद्वाक्वदवच्छिद्य पदं येन शब्दपदार्थतया स्वरूपे व्यवस्थाप्यते तस्मिन्नितौ विकल्पोऽत्रम् । क्वचिद्वनितावपि । वशा ३ इयम् वशेयम् । वत्करणं पकार्यप्रतिषेधार्थम् । अप इत्युच्यमाने परस्यैव प्रतिषेधः स्यात् । ततश्च अग्नी ३ इति । वायू ३ इति । अत्र दिशंज्ञाश्रये प्रकृतिभावे सति त्रिमात्रतायाः श्रवणं न स्यात् । पसंज्ञाश्रयकार्यप्रतिषेधे हि दिशंज्ञाऽश्रयकार्यप्रतिषेधे हि प्रकृतिभावे सति “अनृतोऽनन्तस्य” [५।३।१४] इत्यादिकृतायास्त्रिमात्रतायाः श्रवणं सिद्धम् ।

ई इत् ॥४३।१०७॥ ईदन्तस्य इद् वा भवति । अनितिपरार्थोऽयमारम्भः । लुनीहि ३ इदम् । लुनीहीदम् । पुनीहि ३ इदम् । पुनीहीदम् । “शि वाशीःश्रैषेबु मिहार्कचम्” [५।३।१०२] इति पः ।

दिष्य उन् ॥४॥३॥१०८॥ “एङोऽति पदान्तात्” [४॥३॥१०८] इत्यतः पदग्रहणमनुवर्तते । दिक्विद्येतस्य पदस्योकारादेशो भवति । युभ्याम् । युभिः । परस्येति किम् ? दिवा । दिवे । “भिरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [१०] इति मूढ एव दिवेर्द्विवित्त्वान्न सिद्धस्य ग्रहणं न धोक्तारानुबन्धकस्य । अन्त्युभ्याम् । अन्त्युभिः । दिव्यतेः किप् । “च्छोः छट् च” [४॥३॥१०९] इति छट् । उद्दिशि तपरकरणं किम् ? वाक्याऽर्धमात्रस्य हलः स्थाने आनन्तर्यान्मात्रिक एव भविष्यति । “च्छोः छट् च” इत्यत्र द्वितीयानुवर्गनादूढोऽपि निवृत्त्यर्थं नोपपद्यते । श्वाद्यौर्ध्वं भवतीति श्वावागते निवृत्ते क् (किं) संशक्त्य दिष्य उक्त्वं कृते शु भवतीति “च्वी” [५॥२॥१३५] इति दीर्घ निवृत्त्यर्थम् ।

हल्येतत्तद्वोऽरनञ्सेऽकोः सुखम् ॥४॥३॥१०९॥ सम्भाविति वर्तते । एतत्तद्वोरकारयोर्हलि परतः सुखं भवत्यनञ्से । एष ददाति । स ददाति । हलोति किम् ? एषोऽत्र । सोऽत्र । एतत्तद्वोरिति किम् ? को दाता । यो धन्यः । अनञ्ज इति किम् ? अनेपो ददाति । असो ददाति । अनञ्ज इति प्रसज्यप्रतिषेधः । पशुंदासे हि उत्तर-पदार्थप्रधानवृत्त्यन्तर एव सुखं स्यात् । परमैष ददाति । परमस ददाति । केवलयोरनञ्ज इति किम् ? वाक्ये भक्तयेव । नैष ददाति । तस ददाति । अकोरिति किम् ? एको ददाति । सको ददाति । “तन्मध्यपतित-स्तद्ग्रहणेन गृह्यते” [१०] इति प्रातिः । समग्रणं किम् ? एतौ तौ चरतः । एतत्तद्वोरिति द्वित्वनिर्देशाद् वाया एकः सुर्यश्चेति । ईपो बहुत्वे हि एतत्तेषामिति भूयात् । सुखमिति गमकत्वात्सः ।

सम्पर्गुपात्कृञः सुङ्भूषे ॥४॥३॥११०॥ सम् , परि, उप इत्येतेभ्यः परस्य कृञः सुडागमो भवति भूषेऽर्थे । संस्करोति । समस्करोत् । संस्कारः । अन्तरङ्ग-वेन द्वित्वाडागमाभ्यां प्राक्सुट् । परिष्करोति । “सिक्व-सहसुट्स्तुस्वञ्जाम्” [५॥४॥५२] इति पत्वन् । पर्यस्करोत् । परिचस्कार । उपस्करोति । उपस्करोत् । उपचस्कार । भूष इति किम् ? उपस्करोति ।

समवाये ॥४॥३॥१११॥ संसर्गः समुदायो वा समवायः । तस्मिन् समादिभ्यः कृञः सुङ् भवति । तत्र न संस्कृतमनित्यम् अत्रापि कारणसमवायो गम्यते ।

उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारे ॥४॥३॥११२॥ उपात्परस्य कृञः प्रतिबन्धनं वैकृत वाक्याध्याहार इत्येतेष्वर्थेषु सुङ् भवति । विद्यमानस्य गुणाधानमपूर्वार्जनं वा प्रतियत्नः । तत्र एधोदकस्थोपस्कुरुते । काण्डं शरस्योपस्कुरुते । “प्रतियत्ने कृञः” [१॥४॥६०] इति कर्मणि सा । विकृतत्वं वैकृतम् । तत्र उपस्कृतं भुङ्क्ते । उपस्कृतं गच्छति । वाक्यैकदेशो वाक्यप्रगभ्यमानार्थस्य वाक्यस्य वाक्यावयवस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्याध्याहारः । तस्मिन् उपस्कृतं जल्पति । उपस्कृतनधीते । उपस्कारं व्याचष्टे । पदान्तराण्यध्याहृतानि कथयतीत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? उपकरोति ।

किरतेर्लवे ॥४॥३॥११३॥ उपादिति वर्तते । उपात्परस्य किरतेर्लवविषये सुङ् भवति । उपस्कीर्णं मद्रका लुनन्ति । उपस्कारं मद्रा लुनन्ति । “शब्दाभीक्ष्ण्ये” [२॥४॥८] इति शब्द । “वा चेष्टिवेष्टयोः” [५॥२॥१६३] इत्यतो विकल्पानुवृत्तेराभीक्ष्ण्येऽपि द्वित्वाभावः “युङ्ग्या बहुलम्” [२॥३॥६४] इति बहुलवचनादनाभीक्ष्ण्ये वा शम् । लव इति किम् ? उपकिरति देवदत्तः ।

वधे प्रनेश्च ॥४॥३॥११४॥ प्रतेक्षयाच्च परस्य किरतीः सुङ् भवति वधेऽर्थे । प्रतिस्कीर्णं हि ते वृषल भूयात् । उपस्कीर्णं हि ते वृषल भूयात् । अत्र वधः किरतेरभिधेयत्वेन विवक्षितो न विप्रयतया । तदुक्तम्—

सदारुद्धमिञ्चनेन विभ्रता मृसिंह सैहीमतनुं तनुं त्वया ।

स सुगन्धकास्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुदोधिदारं प्रतिघस्करे नलैः ॥ [शिशु० ११४७]

हतः इत्यर्थः । वध इति किम् ? प्रतिकीर्णं बीजम् । “हनुरव वधः” [२॥३॥६३] इति हनोरचि वध इति भवति ।

चतुष्पाच्छकुनिष्वपाङ्गर्षादौ ॥४॥३॥११५॥ अपात्परस्य किरतेश्चतुष्पात्सु शकुनिषु च यो हर्षादि-
स्तस्मिन् विषये सुङ् भवति । दक्षिणप्रकरणे “किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे” [११२।३३] इत्यत्र स्थितो
हर्षादिर्गणो गृह्यते । हर्षे-अपस्किरते वृषभो हृष्टः । जीविकायाम्-अपस्किरते कुकुरो मन्त्रार्थः । कुलायकरणे-
अपस्किरते एवा आश्रयार्थः । चतुष्पाच्छकुनिष्विति किम् ? अपस्किरति देवदत्तो हृष्टः । हर्षादिति किम् ? अप-
स्किरति धान्यं काकश्चापलेन ।

कुस्तुम्बुरुगोष्पदास्पदाश्चर्याचस्करापस्करापरस्परविष्किरमस्करमस्करिप्रतिष्कशप्र-
स्करावहरिश्चन्द्रपारस्करप्रभृतीनि च ॥४॥३॥११६॥ कुस्तुम्बुरुगभृतीनि पारस्करप्रभृतीनि
च शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुस्तुम्बुरुशब्दो जातौ निपात्यते । कुस्तुम्बुरुर्धान्यकं तृणजातिः ।
तत्फलान्यपि कुस्तुम्बुरुणि । जातेरन्यत्र कुत्सितानि तुम्बुरुणि । कुत्सितानि तिन्दुकोफलानोन्यर्थः ।
गोष्पदशब्दे सुडागमः पत्वं च निपात्यते सेविते । गवां पदमस्मिन् देशे । गावः पश्यन्ते वाऽस्मिन्निति
गोष्पदो देशः । गोष्पदमरण्यम् । असेविते नष्पूर्वस्थ निपात्यते । न विद्यते गवां पदमस्याम् अगोष्पदा
अरण्यानो । सेवितत्वप्रतिषेधे हि यत्र सेवितत्वसम्भवस्तत्रैव स्वादन्ववासम्भवे न स्वादिति पृथगसेवित-
प्रद्वयम् । न विद्यतेऽस्मिन्निति विग्रहात् । प्रमाणे गोष्पदमात्रं क्षेत्रम् । गोष्पदपूर्णं वृद्धो देवः । एतेष्विति किम् ?
गोपदम् । आस्पदमिति प्रतिष्ठायाम् । आस्पदमनेन लब्धम् । अन्यत्र आपदापदम् । आश्चर्यमिच्छन्नेऽर्थे ।
आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । आश्चर्यमाकाशेऽनिबन्धनानि नक्षत्राणि न पतन्ति । आचर्यं कृतमन्यत्र । “चरे-
राङि चागुरी” [वा० २।१।८०] इति यः । अवस्कर इति वर्चस्के । अचपूर्वात्किरतः कमेणि “य्वग्रहवृद्धमोऽच्”
[२।१।५२] इति अच् । कुत्सितं वर्चो वर्चस्कम् अक्षमलम् । तत्तन्मन्त्राद्देशोऽपि तथोक्तः । अवकरोऽन्यत्र ।
अपस्कर इति रथाङ्गे । अपस्कीर्योऽप्यपिपत्करो रथाचयवः । अपकर इत्यन्यत्र । अपरस्पर इति क्रिया-
सातत्ये । अपरस्परः सार्था गच्छन्ति । सततं गच्छन्तीत्यर्थः । आपरे परे चेति तद्धः ।

भ्यान्तेऽश्वावश्यमोनाशस्तुमः कामे मन्तस्यपि । हिते तते समो वा स्वं मांसस्य पचि युद्धघ्नोः ॥

इति समो मकारस्य खे । सतत शब्दाश्च्यवणि गतव्यम् । अपरपराः सार्थाः गच्छन्तीत्यन्यत्र । “विष्किर इति शकुनी
सुडागमो वा निपात्यते । विष्किरतीति विष्किरः विकिरो वा शकुनिः । “जाकृषी” [४।१।१०८] इत्यादिना कः ।
सुङ् पक्षे “सिबुसहसुदस्तुस्वन्जाम्” [५।४।५२] इति क्वम् । मस्करमस्करिणौ वेणुपरिवाजकयोः । मस्करो
वेणुः दण्डो वा हस्तदमनः । मस्करी भित्तुः । मकरो प्राहः मकरी समुद्रः इत्यत्र । अथवा “शमस्य करे शस्त्र-
माहः करिशब्दे प्रादेशश्च निपात्यते वेणुपरिवाजकयोः । प्रतिष्कश इति निपात्यते सहायश्चेत् ।” कश् गति-
शासनशोरित्यस्य प्रतिपूर्वस्य पचायचि सुडागमः पत्वं च निपात्यते । देशान्तस्मिहं व्रजामि भवने त्वं प्रतिष्कशः ।
प्रतिष्कशोऽन्यः । प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ भवत ऋषो चेत् । प्रकण्वो देशः । हरिचन्द्रो माणवक इत्यन्यत्र ।
पारस्करप्रभृतीनां च स्त्री सुडागमो निपात्यते । पारस्करो देशः । कारस्करो वृद्धः । वनस्पतिश्चैत्ररथं पातीति ।
रथस्या नदी । किष्कुः प्रमाणम् । किष्किन्धा गुहा । तद्बृहदतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुङ् तत्त्वं च ।
तस्करः । बृहस्पतिः । तस्करो बृहस्पतिरित्यन्यत्र । अजस्तुदम् । कास्तीरं च नगरम् । अजस्तुदम् कातीरमित्यन्यत्र ।
प्राप्तुम्पतौ सचि कर्तरि । प्रस्तुम्पति गौः । अन्यत्र प्रतुम्पति स्त्री । पारस्करप्रभृतिगङ्गानिगणः ।

प्रायाश्चित्तिचित्तयोः ॥४॥३॥११७॥ प्रायात्परस्योः चित्तिचित्तयोः सुङ् भवति । प्रायस्य चित्तम् प्राय-
श्चित्तम् । प्रायश्चित्तः । “स्तो रचुना रचुः” [५।४।११६] इति सुङ् रचुत्वम् ।

भादाविदमोऽन्वादेशोऽण् ॥४॥३॥११८॥ भादौ परत इदमोऽन्वादेशो भवत्यन्वादेशे । यस्य पूर्वं
क्रियागुणद्वयैः संबन्धः कृतस्तस्यैव पश्चात्क्रियागुणद्वयान्तरेण संबन्धे क्रियमाणोऽन्वादेशोऽनुकथनं भवति ।
क्रियासंबन्धे इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरुपिता । अथो आभ्यां हिंसा च कृता । कुत्साऽशातयोः “भित्सर्वनाम्नोऽङ्गप्रत्ययेः

को दः" [४।१।१३०] इत्यकि कृते साकद्दमो हलि त्वं न भवति । "अनाप्यकः" [५।१।१७०] इत्यत्र अककारस्वेत्यनुवर्तनात् तेनादेशः । गुणसंयन्त्रे इमकस्य छत्रस्य कुलमशीभनेम् अथो अत्व शीलमपि । द्रव्यसंयन्त्रे इमकस्य राजो जनपदो दुर्विहितः अथो अस्य भृत्याश्चावश्याः ।

टौसिष्येनदेतवश्च ॥४।३।११६॥ टा ओस् इप् इत्येतेषु परत एतद् इदमश्च एनदित्यमादेशो भवति अन्वादेशो । एनेन छत्रेण रत्रिरधीता अथो एनेन निपुणमधीता । एनदादेशो कृते लयाद्यत्वम् । दक्षगन्तत्वं नपुंसके प्रयोजयति । एतयोश्छत्रयोश्शोभनं शीलम् अथो एनयो रूपमपि । एतं छत्रं काव्यमध्यापय अथो एनं गणितमपि । एतं जैनेन्द्रमध्यापय अथो एनं तर्कमपि । एतमर्थिनः संयन्त्रे अथो एनं मित्राणि च । इदमः खल्वपि अनेन छत्रेण रत्रिरधीता अथ एनेन निपुणमधीता । अनयोश्छत्रयोः शोभनं शीलम् अथो एनयो रूपमपि । इमं छत्रं काव्यमध्यापय अथो एनं गणितमपि । इह एते अ-म-ने-ते अथ एनद्विहङ्गाश्च । इदमस्मैतोः परतः पूर्वेषामादेशः प्राप्तोऽन्यत्राप्राप्त एनदादेशः ।

द्यावनुप् ॥४।३।१२०॥ द्याविति अनुविति च एतद् द्वितीयमधिकृतं वेदितव्यम् । "ज्योतिरुद्गतौ" [१।२।३६] इति निर्देशात् सामान्येन द्यावनुप् । प्रागोपधिकासाद् द्यावित्यधिकारः । अनुवधिकारः प्रागानङः । वक्ष्यति "कायाः स्तोकादेः" [४।३।१२१] स्तोकानुक्तः । अल्पानुक्तः । "स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं के" [१।३।३४] इति पसः । द्वित्वबहुत्वयोरनभिधानात् सः । अभिधानेन भवति । गोपुचरः । वर्यासुजः इति । द्याविति किम् ? निकान्तः स्तोकाभिःस्तोकः । "आनङ् इन्द्वे" [४।३।१३८] इति द्यावानङादेशः । होतापोतारौ । नेत्रोद्गतारौ । द्यावित्येव । होतारौ । होतृभ्याम् । सुपि भाभूत् । "इकः प्रो ङ्याः" [४।३।१७२] इति प्रादेशो यौ । ग्रामणिपुत्रः । सेनानिपुत्रः । सुपि भाभूत् । ग्रामणीभ्याम् ।

कायाः स्तोकादेः ॥४।३।१२१॥ स्तोकादिभ्यः परस्याः काया अनुव् भवति यौ । "स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं केन" [१।३।३४] इत्यत्र स्थितः स्तोकादिर्गृह्यते । "स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं केन" इति सः । अपादानलक्षणैयं का । काया इति किम् ? स्तोकेन मुक्तः स्तोकानुक्तः । स्तोकादेशेति किम् ? वृकाद्भव वृकमयम् । कथं ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विग्विशेषः । उच्यते रुद्रराजोऽयं गोशब्दवदस्य व्युत्पत्तिः । ब्राह्मणादध्याहृत्यावयवमर्थं वा शंसतीत्येवंशीलाः ब्राह्मणाच्छंसी । अपादाने का । "साधनं कृता" [१।३।२६] इति पसः । "ये कृति बहुलम्" [४।३।१३२] इत्यनुप् ।

भाया ओजस्सहोऽम्भस्तपोऽजसः ॥४।३।१२२॥ ओजप्, सहप्, अम्भप्, तपप्, अजप् इत्येतेभ्यः परस्या भाया अनुव् भवति । अजसा कृतम् । सहसा कृतम् । अम्भसा कृतम् । तपसा कृतम् । "साधनं कृता बहुलम्" [१।३।२६] इति पसः ।

खौ मनसः ॥४।३।१२३॥ खुविष्ये मनसः परस्या भाया अनुव् भवति । मनसा गुप्ता । मनसा गता । करणे भा । द्याविति किम् ? मनोदत्ता ।

आज्ञायिनि ॥४।३।१२४॥ आज्ञायिनि यौ मनसः परस्या भाया अनुव् भवति । मनसा आज्ञानाति-त्येवंशीलो मनसाऽज्ञायी । अस्मावपि यत्नोऽयम् । "पुंसाऽनुजो जनुषान्ध इत्यनुव्वक्तव्यः" [वा०] । अनुजातोऽनुजः । पुंसा हेतुना करणेन वा अनुजः पुंसाऽनुजः । "साधनं कृता" [१।३।२६] इति पसः । यदा पुमांसमनुजातस्तदा पुमनुज इति । जनुषा जन्मसाऽन्धो जनुषान्धः । "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] इति भा । "भा गुणोक्त्याऽर्थेनोनैः" [१।३।२७] इति सः ।

डङ्यात्मनः ॥४॥३॥१२४॥ डङन्ते यो आत्मनः परस्या माया अनुब्रू भवति । आत्मना पञ्चमः आत्मना षष्ठः । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति भा । डङन्तेन भान्तस्य सविधेरिदमेव शापकम् । गम्यगमनक्रियापेक्षया करणे वा भा । आत्मना कृतः पञ्चमः आत्मना षष्ठमः कथमयं प्रयोगः । जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव । वसोऽयम् । आत्मा चतुर्थः । व्यपदेशिवद्भावादन्वपदार्थत्वम् । यथा चाक्षरीरः शिलापुत्रक इति ।
डेः खौ पराच्च ॥४॥३॥१२५॥ ख्रुविपये पराद्यात्मनश्च परस्य डेरनुब्रू भवति । प्रतिपदोक्तस्य डेर्यहणम् । परस्मैभाषः । परस्मैपदम् । आत्मनेभाषः । आत्मनेपदम् । तादर्थ्येऽबुक्ता । आत्मार्थे पदमात्मनेपदम् । सविधेरिदमेव शापकम् । असदर्थार्थ इति विज्ञेतेः प्रकृत्या षष्ठ उक्तः ।

ईपोऽङ्गलः ॥४॥३॥१२६॥ अदस्ताङ्गलन्ताश्च सामर्थ्यान्मृदः परस्या ईपोऽनुब्रू भवति ख्रुविपये । अरण्येतिलकाः । अरण्येनाषकाः । वनेर्किङ्कुकाः । वनेयल्वजकाः । वनेर्हर्षिकुकाः । पूर्वाङ्गलताङ्काः । कूपेपिशाचकाः । “खौ” [१३॥३८] इति षष्ठः । हलन्तत् । त्यन्विभारः । ह्यदिमापकः । युधिष्ठिरः । निपातनाद्बिष्ठिरः । गन्ववादेशोऽन्तरङ्गे कृते हलन्तता न । “अन्तरङ्गानपि विधीन् यद्विरह उज्वाधते” [प०] । अन्यथा नरीकुङ्कुटिकादिषु यणदेशे सत्यनुब्रू प्रसज्येत । अङ्गल इति किम् ? नवां कुङ्कुटिका । भूमिर्नरस्य । भूमपाशः । “अखौ हृद्युभ्यामिग्रथे ईप् तस्यारचानुब्रू वक्तव्यः” [प०] । हृदिष्टृक् । दिविष्टृक् । न वक्तव्यः । वो हि हृदयं स्मृति । “ये कृति बहुषम्” [४॥३॥१२७] इत्यनुब्रू । अ चानुब्रू हृदिति प्रकृत्यन्तरं यत्तस्माद्भवति । “अप्सुमति खौ वक्तव्यम्” [वा०] । अनुमानं “अप्सव्य इत्यादावपि वक्तव्यः” [वा०] । अप्सु भवोऽप्सव्यः । अप्सुवोनिः ।

कारे प्रायः ॥४॥३॥१२८॥ यूथे गृहे क्षेत्रे धान्याद्यं यस्तु रक्षानिदेशार्थं यदवश्यं रात्रे देयं स कारः । तद्वान्विनि यो ईपोऽनुब्रू भवति खौ प्रायः । खाविति कर्ति । अङ्गल इति च । अदन्तात् । रूपे शाणः । मुकुटे कार्षापणः । हले द्विपदिका । हले त्रिपदिका । द्वौ द्वौ पादौ देयौ । “वीप्सादयद्व्यागो बुन्” [४॥३॥१०] इति बुन् । “खौ” [१३॥३८] इति षष्ठः । हलन्ताद्-ह्यदि मापकः । समिधि मापकः । ख्रुविपये पूर्वैर्णैव सिद्धं प्रायोप्रदृशार्थमेतत् । तेन कारे कचिदनुम्न भवति । यूथे पशुः । यूथपशुः । यूथे वृषः । यूथवृषः । “खौ” [१३॥३८] इति षष्ठः । कार इति किम् ? अग्रादिने पशुः । कागदन्वस्य द्यस्य नामैतत् । उप्युपरि पशुदेय इत्यर्थः । “ईपोऽङ्गलः” [४॥३॥१२७] इत्यनेनापि कारग्रहणादिहानुम्न भवति । अङ्गल इत्येव जङ्घाकार्षापणः । मरीकार्षापणः । नदीदोहः । कारसंज्ञा एताः ।

हलि ॥४॥३॥१२९॥ हलादौ कारे यो ईपोऽनुब्रू भवति । स्तूपेशाणम् । नियमार्थमिदम् । हलादावेव नाजादौ । अविकटोरणः ।

मध्यान्तादुरौ ॥४॥३॥१३०॥ मध्य अन्त इत्येतान्याम् ईपोऽनुब्रू भवति गुरौ यौ । मध्येगुरुः । अन्ते गुरुः । सविधेरिदमेव शापकम् । असंज्ञाऽर्थोऽर्थं यत्नः ।

अकामेऽमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गात् ॥४॥३॥१३१॥ मूर्धमस्तकावर्जितात्स्वाङ्गात्परस्या ईपोऽनुब्रू भवति अकामे यो । कण्टेकालः । उरसिलोना । गृहे गडुः । उदरे मणिः । व्यधिकरणात्मपि कचिद्व्यसः । उरसियेमरा इत्यत्र मत्वर्थीयै कृतो उरसीत्वेन योगः । अकाम इति किम् ? मुखे कामोऽस्याः मुखकामा खौ । अमूर्धमस्तकादिति किम् ? मूर्धशिखः । भस्तकशिखः । उभयप्रतिपेधात्स्वरूपग्रहणम् । तेन पर्यायादनुप् । शिखसिशिखः । स्वाङ्गादिति किम् ? पानशीण्डः । स्वाङ्गादिति कर्तुमशक्यम् । मूर्धमस्तकपर्युदात्तेन स्वाङ्ग एव सत्ययात् । तत्क्रियते “अद्वं मूर्तिमद्” इत्यादिपरिभाषिकस्वाङ्गसम्प्रत्ययार्थम् । तेनाप्राणिस्थादनुम्न भवति । मुखे पुद्वा अस्याः मुखपुरुषा शाला । अङ्गल इत्येव । अङ्गुलित्रयः । जङ्घावलिः । वसाविमौ । असंज्ञार्थमारम्भः ।

ये कृति बहुलम् ॥४१३१३२॥ ये कृदन्ते यौ बहुलमीपोऽनुब् भवति । बहुलग्रहणं सर्वधिकल्पसंग्र-
हार्थम् । स्तम्भेरमः । कर्णजपः । “प्राबृह् वर्षाशरत्कालदिवा जेऽनुप्” [वा०] प्राबृजः । वर्षासुजः । शरदिजः ।
कालेजः । दिविजः । न भवति कुरुचरः । मद्रचरः । “हृन्सिद्धवध्नातिस्थेषु च न भवति” [वा०] स्थण्डिलशायी ।
स्थण्डिलवर्ती । “मते” [११२१६८] इति गिन् । साङ्कश्यसिद्धः । काभित्यसिद्धः । चक्रवन्धनम् । चक्रवन्धनम् ।
समस्यः । विप्रमस्यः । कूटस्थः । पर्वतस्थः । समानाधिकरणे च नेष्यते । परमे कारके । “वर्षवरशरवराज्जे द्विधा”
[वा०] वर्षजः । वर्षेजः । क्षरजः । क्षरेजः । शरजः । शरेजः । वरजः । वरेजः । “शयनासवासिष्यकालवाचिनो द्विधा”
[वा०] खशयः । खेशयः । धिलशयः । धिलेशयः । वनवासः । वनेवासः । ग्रामवासः । ग्रामेवासः । नववासी ।
नवेवासी । ग्रामवासी । ग्रामेवासी । अकालवाचिन इति किम् ? पूर्वाह्णेशयः । अपराह्णेशयः । “वन्धे द्विधा”
[वा०] हस्तवन्धः । हस्तवन्धः । स्वाङ्गादिति नित्यं प्रातिः । चक्रवन्धः । चक्रवन्धः । वध्नातो अनुप् प्रतिषेधः प्राप्तः ।
अदल इत्येव । भूमिशयः । गुप्तिवन्धः । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि” [प०] अवनतनकुलस्थितम् । उक्ते
विशीर्णम् । “क्षेपे” [११३१४१] इति पसः । “कचिदन्यत्रापि” । ब्राह्मणाच्छंसी । पूर्वैस्त्वैव प्रपञ्चः ।

भक्तकालतनेकालेभ्यो वा ॥४१३१३३॥ शक्यं कालशब्दे तनशब्दे च परतः कालिवाचिभ्यः परस्या
ईपो वाऽनुब् भवति । भ इति तरतनौ । “साद्री कः” [४११११७] इति वचनात् । पूर्वाह्णाराम । पूर्वाह्णतरे ।
अस्मिंश्च पूर्वाह्णे अस्मिन्नतिशयेन पूर्वाह्णे इति विग्रह्यते । “द्विविभज्ये तरेयसू” [४११११६] इति । अहराभ्यस्य
पूर्वस्य प्रकर्षतरः । अनुप्यदे “किमेन्मिङ् क्लिप्तादामद्वये” [४१२१२०] इति एतदन्तापरौ भ इत्याम् भवति ।
सर्वेषु पूर्वाह्णेषु अतिशयेन पूर्वाह्णे इति विग्रह्यते । “तमेष्ठावतिशयने” [४११११४] इति तमः । पूर्वाह्णारामम् ।
पूर्वाह्णतमे भुङ्क्ते । पूर्वाह्णकाले “विशेषणं विशेष्येणेति” [११३१५२] पसे कृते । पूर्वाह्णकाले पूर्वाह्णकाले गतः ।
पूर्वाह्णे जातो भवो वा पूर्वाह्णतनः । पूर्वाह्णतनः । “वा पूर्वापरवृद्धात्” [३१२११४१] इति तनट् । इदमेव ज्ञापकं मु-
स्ताद् हृदुत्पत्तेः । कालेभ्य इति किम् ? शुक्लतरे । शुक्लतमे । अदल इत्येव । रात्रितयया गतः । अस्यां च रात्रौ
अस्मात्प्रतिशयेन रात्राविति । “त्यग्रहणे चाकायः” [प०] इति कान्तात्परौ भतनौ स्वरूपेण गृह्ये न तदन्तविधिना ।
अपि च “हव्यस्य हृष्टेखयावृत्तामेव” [४१३११६१] इत्यत्राण्ग्रहणेन सिद्धे लेखग्रहणं ज्ञापकं “आचित्यधि-
कारे स्यग्रहणं स्वरूपग्रहणमेव” [प०] ।

दात्या आक्रोशे ॥४१३१३४॥ दात्या अनुब् भवति दौ आक्रोशे गम्यमाने । चौरस्य कुलम् । दासस्य
कुलम् । वृषलस्य भार्या । “ता” [११३१७०] इति पसः । आक्रोश इति किम् ? मोक्षमार्गः । अग्न्याचिह्ने
दासकुलमिति भवति । दात्या इति योगविभागः । “तेन वाक्चिदस्परयद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वनुप्” [वा०] वाचो युक्तः ।
दिशोदण्डः । पश्यतोदरः । “ता चानादरे” [११३१४६] इति ता । “देवानां प्रियादिष्वनुप्” [वा०] देवानां प्रियः ।
दिशोदासः । आमुष्याग्रणः । नडादित्वात्कर्ण । आमुष्यपुत्रिका । आमुष्यकुलिका । मनोजादिपाठाद्भुम् । “शुनः
स्त्री शेषपुच्छलाङ्गुलेषु” [वा०] शुनःशेफः । शुनःपुच्छः । शुनोलाङ्गुलः ।

पुत्रे वा ॥४१३१३५॥ पुत्रे यौ दात्या वाऽनुब् भवति आक्रोशे । दात्याः पुत्रः । दासीपुत्रः । चौराः
पुत्रः । चोरीपुत्रः । पूर्वेण नित्यं प्राप्तः ।

ऋतो विद्यायोनिनवन्धात् ॥४१३१३६॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यासंन्धेभ्यो योनिसम्बन्धेभ्यश्च
परस्यास्ताया अनुब् भवति । सामध्याद्विद्यायोनिनवन्ध यौ । होतुः पुत्रः । होतुन्तेवासी । पोतुः पुत्रः । पोतु-
न्तेवासी । योनिसम्बन्धात् । मातुः पुत्रः । मातुन्तेवासी । पितुः पुत्रः । पितुन्तेवासी । ऋत इति किम् ?
उपाध्यायपुत्रः । मातुलपुत्रः । उपाध्यायशिष्यः । पुत्रशिष्यः । विद्यायोनिनवन्धादिति किम् ? कर्तृपुत्रः ।
कर्तृशिष्यः । विद्यायोनिनवन्धविद्याविति किम् ? होतृग्रहम् । पितृधनम् ।

वा स्वसृपत्योः ॥४३१३७॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यायोनिबंधेभ्यः परस्यास्ताया वाऽनुव् भवति स्वसृपत्योः परतः । मातृष्वसा । मातुः स्वसा । मातुः षसा । पितृष्वसा । पितुः स्वसा । पितुः षसा । उपि “मातृपितृभ्यां स्वसुः” [५१४६६] इति पत्वम् । अन्यत्र “वाऽनुपि [५१४६७] इति वा पत्वम् । दुहितुः पतिः । दुहितृपतिः । स्वसुः पतिः । स्वसृपतिः । पूर्वेषु नित्ये प्राप्ते विकल्पः ।

आनङ् द्वन्द्वे ॥४३१३८॥ ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धादिति वर्तमानम् अर्थात्तान्तं सम्पद्यते । ऋकारान्तानां विद्यायोनिसम्बन्धानां यौ द्वन्द्वस्तत्र यौ पूर्वस्यानङादेशो भवति । होतापोतारौ । नेपथ्यद्रातारौ । प्रशास्ताप्रतिहर्तारौ । एककर्तृकर्मणि विद्याकृतः संबन्धोऽस्ति । योनिसम्बन्धे मातापितरौ । माताननान्दारौ । नकारोच्चारणं किम् ? आ इत्युच्यमाने “रन्तोऽणुः” [१११४८] इति रन्तः स्यात् । ऋत इति किम् ? पितृपितामहौ । विद्यायोनिसम्बन्धादिति किम् ? कर्तृकारयितारौ । सम्बन्धग्रहणं किम् ? पितृभ्रातरौ । नात्र विद्यातो योनितो वा परस्परसंबन्धोऽस्ति । मण्डूकश्रुत्या पुत्रग्रहणमनुवर्ति । तेन पुत्रेऽपि यौ ऋकारान्तस्य आनङ् भवति । पितापुत्रौ । मातापुत्रौ ।

देवताद्वन्द्वे ॥४३१३९॥ देवतावाचिनां च द्वन्द्वे द्यावानङादेशो भवति । इन्द्रावरुणौ । इन्द्रासोमौ । इन्द्राबृहस्पती । सूर्याचन्द्रमसौ । द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणं सहवापनिर्देशार्थम् । तेन ब्रह्मप्रजापतौ, शिवशैश्वर्यौ, स्कन्दविशाखौ इत्येवमादिषु शास्त्रे सहदाननिर्देशाभावात् भवति । इष्टद्वन्द्वपरिग्रहार्थं वा पुनर्ब्रह्मणम् । अत्यन्तसहचरिते लोकविज्ञाते द्वन्द्वशब्दो निपातितः । ततो लोकप्रसिद्धसाध्वर्याणामानङ् भवति । “वायोऽभयत्र प्रतिपेधः श्रूयते” [वा०] अग्निवायू । वाय्वग्नी ।

सोमवरुणेऽग्नेरीः ॥४३१४०॥ सोमवरुण इत्येतयोः परतोऽग्नेरीकारदेशो भवति देवताद्वन्द्वे । अग्नीषोमौ । अग्नीवरुणौ । अन्तस्थानः स्थाने आनङोऽपवाद ईकारः । “स्तुत्सोमौ चाग्नेः” [५१४६५] इति पत्वम् । द्वन्द्वे इत्येव । उच्यते अग्निषोमौ माणवकौ ।

ऐपीत् ॥४३१४१॥ साध्वर्यादैश्च भाजि यौ अग्नेरिकादेशो भवति देवताद्वन्द्वे । अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्या अग्निवरुणौ । अग्निमारुतम् । देवतार्थेऽपि उभयोः पदयोरपि कृते ईत्वानङोरपवाद इकारः । “विष्णोः प्रतिपेधो वक्तव्यः” [वा] अग्निश्च विष्णुश्च देवतेऽस्य अग्नीवैष्णवम् । आनङेव भवति । ऐपीति किम् ? आग्नेद्वः । “नेन्द्रस्य” [५१४०७] इतिथो रैप्रतिपेधः ।

दिवो द्यावा ॥४३१४२॥ दिवो द्यावा इत्ययमादेशो भवति यौ देवताद्वन्द्वे । यौश्च भूर्भुवश्च द्यावाभूमौ । द्यावानङ्ते । द्यावाभूमौ । अनेकाल्पान्तदेशः ।

दिवसश्च पृथिव्याम् ॥४३१४३॥ दिवो दिवस इत्ययमादेशो भवति द्यावा च पृथिव्यां यौ देवताद्वन्द्वे । दिवस्पृथिव्यौ । द्यावापृथिव्यौ । उच्चारणार्थेनाकारेण निर्देशो रित्त्वग्रधानार्थः ।

उपासोषसः ॥४३१४४॥ उपस उपासा इत्ययमादेशो भवति यौ देवताद्वन्द्वे । उपश्च नक्तम् च उपासानक्तम् । उपासानक्ते । नक्तं शब्दो मकारान्तो भिन्नलङ्कोऽकारान्तश्च नपुंसकलिङ्गोऽस्ति ।

मातरपितरौ वा ॥४३१४५॥ मातरपितराविति वा निपात्यौ । मातरपितरौ । यौ ऋकारस्याभावात् निपात्यते । पदे “आनङ् द्वन्द्वे” [४३१३८] इत्यानङ् कृते मातापितरौ ।

स्त्र्युक्तपुंस्काद्वनुरेकार्थेऽङ्प्रियादौ स्त्रियां पुं चत् ॥४३१४६॥ उक्तपुंस्कात्परो यः स्त्रीत्यः तदन्त एकार्थे यौ स्त्रियां वर्तमाने ङङन्तप्रियादिवर्जिते पुं चत् भवति । स्थानेऽन्तरतम इत्यन्तरतमतः पुं शब्देन तुल्यो भवतीत्यर्थः । दर्शनीया भार्या अस्य दर्शनीयभार्याः । शौभनभार्याः । चारुजङ्घः । स्त्री इति किम् ? ग्रामणि कुलं दृष्टित्व ग्रामणिदृष्टिः । उक्तपुंस्कादिति किम् ? माला वृन्दारिकः । तथा द्रुणीभार्याः कच्छपः । वरदाभार्याः

हंसः । ब्रह्माभार्योऽयः । तथा अङ्गारकाः शकुनयः । कालिकाश्चैषां त्रियः । कालिकाभार्य अङ्गारकाः । नहि वृण्यदयः शब्दाः समानावामाकृतौ पुंसि वृत्ताः । पुंवद्भावेऽर्थतः आन्तरतम्ये कच्छमादिप्रयोगः प्रमज्येत । अनुरिति किम् ? वामोरुभार्यः । अनुरिति स्त्रीत्यपदुदासाद् अन्योऽपि स्त्रीत्य एव गृह्यते इति स्त्रीग्रहणमनर्थकं तद्धृतमस्त्रीत्यास्तापि स्त्री पुंवद्भवेतीति साधनार्थम् । ऐडिविडभार्यः । पार्थभार्यः । दारदभार्यः । औसिजभार्य इति सिद्धम् । इडिविड पृथु अनवो राष्ट्रसमानशब्दत्वादपत्यार्थेऽयम् । वरद, उसिज आभ्यां द्वयश्चमयधेत्यादिनाऽयम् । स्त्रियाम् “अतोऽप्याच्यभर्तादेः” [३।१।१५८] इत्यण्योऽयम् । इडिविडभार्या अस्तेति पुंवद्भावे ऐडिविडभार्य इत्यादि । एकार्थ इति किम् ? कल्याण्या माता कल्याणीमाता । अडपियादाविति किम् ? कल्याणी पञ्चमा रात्रयः । कल्याणीपञ्चमः । कल्याणीदशमः । “बृहस्त्रीप्रमाणयोरः” [४।२।११६] इत्यः मानाः । यदि बृहन्ता स्त्री तद्गुणसंविज्ञानादिना प्रधानं तदा पुंवद्भावप्रतिषेधः सान्तरतम्यकानो वेदितव्यः । इह माभूत् कल्याण-पञ्चमीकः पत्न्यः । कल्याणीमनोशः । प्रिया । मनोश । कल्याणी । सुभगा । दुर्भगा । भक्तिः । मत्तिया । स्वा । कान्ता । समा । चपला । दुहिता । वामा इति प्रियादिः । इह भक्तिरत्य हृदभक्तिः । शोभनभक्तिरित्यदौ न पूर्वपदं स्त्रीलिङ्गमेति । तेन प्रियादौ चैव पूर्वस्य ट्वाशंका न कर्तव्या । स्त्रियामिति किम् ? कल्याणी प्रधान-मेषां कल्याणीप्रधानाः । उक्तः पुमान् समानावामाकृतौ अभिन्ने प्रवृत्तिनिमित्ते जात्यादिके येन शब्देन न तथोक्तः । अथवा उक्तः पुमान् यस्मिन्नर्थे त्यादिके स तथोक्तः । तद्वाच्यपि शब्द उक्तपुंस्क इति व्युत्पादनं किमर्थम् । द्रोणीभार्यः । कुटीभार्यः । अत्र द्रोणकुटशब्दौ आकृत्यन्तरे पुलिङ्गौ । कथं गर्गभार्यः, प्रसूतभार्यः । प्रजात-भार्यः इति । अत्राप्येकजात्यपेक्षया कथञ्चित्समानाकृतित्वमूह्यम् ।

तत्सादौ ॥४।३।१४७॥ तत्सादिषु परतः उक्तपुंस्कादन्तः स्त्रीपुंवद्भवति । आदिशब्दः प्रचारवाची । तत् । त्र । तर । तम । चरत् । जातीय । देश्य । देशीय । कल्प । पाश । रूप । था । थम् । दा । हि । थ्य । केषु परतः । तस्यास्ततः । तस्यां तत्र । आद्यतरा । आद्यतमा । पट्वी भूतपूर्वा पटुचरी । पट्वीप्रकारा । पटु जातीया । ईषदसिद्धा पट्वी पटुदेश्या । पटुदेशीया । वृद्धकल्या । याप्या वृद्धा वृद्धपाशा । प्रशस्ता वृद्धा वृद्धरूपा । तथा प्रकृत्या तथा । कया प्रकृत्या कथम् । तस्यां वेलायां तदा । अस्यां वेलायाम् एतर्हि । अज्यर्थं दिताम् अज्यथम् । “अजाविभ्यां थ्यः” [३।४।६] इति थ्यः । द्रच्छब्दात्के पुंवद्भावे च कृते दारदिका । के पुंवद्भावात्परत्वेन प्रादेशः । पट्विका । मृष्टिका । ब्रह्मल्यार्थच्छसि ब्रह्मीभ्यो देहि बहुशो देहि । अल्याम्यो देहि अल्पशो देहि । “गुणवचनात्पतलोः” [वा०] पट्व्या भावः पटुत्वम् । पटुता । गुणवचनमिति किम् ? क्षत्रियात्वम् । क्षत्रियता । कठीत्वम् । कठीता । “भस्य हृत्पठे पुंवद्भावो वक्तव्यः” [वा०] हस्तिनीनां समूहो हस्तिकम् । ईषस्य स्थानिवद्भावाद्द्विषं न स्यात् । अट इति किम् ? श्यैव्याः अपत्यं श्यैनेयः । रोहिणेयः । कथम् अग्नयायै देवता अस्य आग्नेयः ? “अग्निकक्षिभ्यां ङ्” [३।२।२८] इति । “दंसि क्वचित्पुंवद्भावो वक्तव्यः” [वा०] “ङ्णसोऽय” [वा०] । भवत्या इदं भावकम् । भवदीयम् । अवस्थायां पुंवद्भावे “इमुसुक्तः कः” [५।२।५२] इति कादेशः ।

कच्छमानिनोः ॥४।३।१४८॥ कच्छ मानिनि च परत उक्तपुंस्कादन्तः स्त्री पुंवद्भवति । एनीवाचरति एतायते । हरिणीवाचरति हरितायते । मानिनि स्त्री । इमां दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानी देवदत्तः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” [प०] । दर्शनीयां मन्यते देवदत्तां जिनदत्ता दर्शनीयमानिनी । एकार्थं स्त्रीलिङ्गे चैव पूर्वैरेव सिद्धः पुंवद्भावः । दर्शनीयामात्मानं मन्यते दर्शनीयमानिनी स्त्री ।

न बुद्धकोटः ॥४।३।१४९॥ बोद्धतश्च यः ककारस्तदुक्तः स्त्रिया न पुंवद्भावः । बु—पाठिकाभार्यः । कारिकाभार्यः । लाक्षिकीतः । लाक्षिकीपाशा । लाक्षिकीयते । लाक्षिकीमानिनी स्त्री । विलेपिकाया धर्म्यं विले-पिकम् । “ऋन्महिष्यादेः” [३।३।१६४] इत्यसि कृते “भस्य हृत्पठे” [वा०] इति पुंवद्भावः प्राप्तः । पुंवद्भावं हीत्वनिवृत्तिः स्यात् । सामान्येनायं प्रतिषेधः । बुद्धदग्रहणं किम् ? मूकभार्यः । जागरूकभार्यः । वराकभार्यः ।

डट्त्वोः ॥४१३१५०॥ डडिति प्रत्याहारेण डडन्ता खुरच स्त्री न पुंवद्भवति । पञ्चमीभार्यः । दशमीभार्यः । पञ्चमीपाशः । पञ्चमीयते । पञ्चमीमानिनी । स्त्री—दत्ताभार्यः । दानक्रिया व्युत्पत्तिद्वारेण संज्ञाशब्देऽप्युक्तपुंस्त्वगस्ति । दत्तो माणवकः इति पुंवद्भावः प्राप्तः । एवं गुमाभार्यः । दत्तातः । गुमातः । दत्तिकामानिनी । दत्तिकायते ।

जिण्डुवरक्तविकारे ॥४१३१५१॥ रक्तविकारवर्जितेऽर्थे यो हृत् जिण्डु तदन्तस्त्री न पुंवद्भवति । जिण्डु-श्रौत्सीभार्यः । जिण्डु-सौष्णीभार्यः । माथुरीभार्यः । अर्धखार्यो भवा अर्धखारी । “परिमाणस्थानतोऽर्धाद्वा पूर्वस्य” [४१३१५२] नैप् । अर्धखारी मार्यो अस्य अर्धखारीभार्यः । वैयाकरणी मार्यो अस्य वैयाकरणीभार्यः । सौष्णीतः । सौष्णीपाशा । सौष्णीयते । सौष्णीमानिनी । जिण्डुदिति किम् ? तावतीभार्यो अस्य तावन्दार्यः । गन्धे भवा मन्थमा-र्यो अस्य मन्थमार्यः । जिण्डुदमनिण्डु । जिण्डुभ्यापन्वं स्त्री “किरदोः” [३१११४७] इति फिः । “इतो मनुष्यजातेः” [३११५५] इति डी पुंवद्भावः । हृदिति किम् ? पुष्पलादी भार्यो अस्य पुष्पलावभार्यः । अरक्त-विकार इति किम् ? कण्ठकेण रक्ता कण्ठाथी वृद्धतिकाऽस्य कापायवृद्धनिकः । लोहस्थ विकारे लौही ईपा अस्य लौहेषो रथः ।

अमानिनीत्स्वाङ्गात् ॥४१३१५२॥ स्वाङ्गात्परो य ईत् तदन्ता स्त्री न पुंवद्भवति अमानिनी यौ । दीर्घकेशीभार्यः । श्लक्ष्णमुखीभार्यः । दीर्घकेशीतः । दीर्घकेशीपाशा । दीर्घकेशीयते । अमानिनीति किम् ? श्लक्ष्णमुखमानिनी । ईदिति किम् ? प्रयुजघनभार्यः । अकेशभार्यः । “न क्रोडाविबल्लवः” [३१११४६] “सहनम् विद्यमानात्” [३११५०] इति च डीप्रतिषेधः । स्वाङ्गादिति किम् ? पटुभार्यः ।

जातिश्च ॥४१३१५३॥ जातिश्च स्त्री न पुंवद्भवति अमानिनी यौ । कटीभार्यः । बह्वृचीभार्यः । कटीतः । कटीपाशा । कटीयते । “वृद्धं च चरणैः सह” इति वचनादजातिः । अमानिनीत्येव । कटमानी । कटमानिनी । चशब्दः किमर्थः ? “भस्य हृत्पठे” [वा०] इति प्राप्तस्य पुंवद्भावस्य प्रतिषेधो न भवतीत्यनुक्त-समुच्चयार्थः । तेन हस्तिनीनां सनृहो हास्तिकम् ।

पुंवद्यजातीयदेशीये ॥४१३१५४॥ उक्तपुंस्कादन्तः स्त्री पुंवद्भवति यसंशके ते स्त्रीलिङ्गे यौ जानीय-देशीय इत्येतयोश्च परतः । यसे आद्यसूत्रेण पुंवद्भावः सिद्धः । जातीयदेशीययोश्च तनादौ पाठात् । तस्मा-त्प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थं आरम्भः । “न बुद्धकोष्ठः” [४१३१४६] इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति । पञ्चमवृन्दारिका । पञ्च-कजातीया । पञ्चकदेशीया । “डट्त्वोः” [४१३१५०] इत्युक्तं तत्रापि भवति । पञ्चमवृन्दारिका । पञ्चम-जातीया । पञ्चमदेशीया । दत्तवृन्दारिका । दत्तदेशीया । “जिण्डुवरक्तविकारे” [४१३१५१] इत्युक्तं तत्रापि भवति श्रौत्सवृन्दारिका । श्रौत्सजातीया । श्रौत्सदेशीया । सौष्णवृन्दारिका । सौष्णजातीया । “अमानिनीत्स्वाङ्गात्” [४१३१५२] इत्युक्तं तत्रापि भवति । दीर्घकेशवृन्दारिका । दीर्घकेशजातीया । दीर्घकेशदेशीया । “जातिश्च” [४१३१५३] इत्युक्तं तत्रापि भवति । कठवृन्दारिका । कठजातीया । कठदेशीया । पुंवद्भाववचनात्सर्वस्य प्रतिषे-धस्य निवृत्तिः । उक्तपुंस्कादन्तित्वमुवर्तते । उक्तपुंस्कादिति किम् ? मालावृन्दारिका । मालाजातीया । माला-देशीया । कालिकाश्च ता वृन्दारिकाश्च कालिकावृन्दारिका । कालिकाजातीया । कालिकादेशीया । अनूगिति किम् ? वामोरुवृन्दारिका । वामोरुजातीया । वामोरुदेशीया । “अडट्प्रियादौ” [४१३१४६] इत्युक्तम् । तत्राप्यनेन पुंवद्भवति । कल्याणी चासौ पञ्चमी कल्याणपञ्चमी । कल्याणी चासौ प्रिया कल्याणप्रिया । कल्याणमनोज्ञा । अथात्र कथं पुंवद्भावः, मृग्याः क्षीरम् मृगक्षीरम् ; कुकुट्या अण्डम् कुकुटाण्डम् । काक्याः शावः काकशावः ? अस्त्रीलिङ्गस्य पूर्वपदस्य सामान्येन धिवक्षितत्वाददोषः । अस्त्रीत्यान्तापि स्त्री पुंवद्भवतीत्युक्तम् । इडिविट् चासौ वृन्दारिका च ऐडिविडवृन्दारिका इत्यादौ पुंवद्भाव आद्यसूत्रेणैव सिद्धः ।

संज्ञकल्पचेलङ्बुवगोत्रमतहते प्रोऽनेकाच्च ॥४३॥१५५॥ ईदिति वर्तते । अ, रूप, कल्प, चेलङ्, बुव, गोत्र, मत, हत इत्येतेषु परतः उक्तपुंस्कारो य ईकारः स्त्रीत्यस्तदन्तस्थानेकाच्चः प्रो भवति । कुमारितरा । कुमारिता । कुमारिरुपा । कुमारिकल्पा । “तसावी” इति पुंवद्भाव ईकारादन्यत्र सावकाशोऽनेन प्रादेशेन बाध्यते कुमारिचेली । कुमारिबुवा । कुमारिगोत्रा । कुमारिमता । कुमारिहता । चेलङ्शब्दः पचादौ पठ्यते । ब्रूजः शो ब्रुव इहैव निपात्यते । चेलङ् ब्रुवगोत्रशब्दाः कुत्सनशब्दाः । “कुत्स्यं कुत्सनेः” [१३॥४८] इति सः । मतहतभ्यां विशेषणलक्षणो यसः । अनेकाच्च इति किम् ? स्त्रीतरा । स्त्रितरा । “वा मोः” [४३॥१५६] इति विकल्पः । उक्तपुंस्कादिति किम् ? आमलकीतरा । बदरीतरा । अनुक्तपुंस्कादापि क्वाञ्चप्य इत्येते । लक्ष्मितरा । तन्त्रितरा । ईदिति किन् ? दत्तातरा । गुमातरा । स्त्रीत्य इति किम् ? ग्रामणीतरा । सेमानीतरा । वा मोरिति विकल्पे प्राप्ते पुरस्तादपवादोऽयम् ।

वा मोः ॥४३॥१५६॥ सुसंज्ञकस्य वा प्रो भवति अदिपु परतः । अनेन विशेषेण विकल्पे ग्रामे पुरस्तादनेकाच्च ईकारस्य नित्यः प्रादेश उक्तः । ततोऽन्यदुदाहरणम् । एकाच् ईकारः ऊकारः सर्वः । स्त्रितरा । स्त्रिता । स्त्रीतमा । वामोरुतरा । वामोरुतरा । एवं रूपादिष्वपि नेवम् । उक्तपुंस्कादनुरिति निवृत्तम् । एकार्थ इत्येतदनुवर्तते । तेन स्त्रिया हतः स्त्रीहत इत्यत्र न प्रादेशः । कुत्संज्ञकस्य मोर्न भवतीत्येके । लक्ष्मीतरा । लक्ष्मीतमा ।

उगितश्च ॥४३॥१५७॥ उगितश्च परस्य मोर्वा प्रादेशो भवति अदिपु परतः । श्रेयसितरा । श्रेयसीतरा । विदुषितरा । विदुषीतरा । चशब्दः पक्षे पुंवद्भावसमुच्चयार्थः । श्रेयस्तरा । विद्वत्तरा । “अरूप” [४३॥१५८] आदिना नित्यः प्रादेशः प्राप्तः पूर्वसूत्रादिति व्यवस्थितविभागाऽपेक्ष्यते । तेनाच्चतेर्नित्यः प्रादेशः । प्राचितरा ।

आन्महतो जातीये च ॥४३॥१५८॥ आकारादेशो भवति महतो जातीये एकार्थे यौ च परतः । महाजातीयः । महापुरुषः । महतः सन्महत्परमेत्यादिना प्रतिपदोक्ते यौ आत्वं सिद्धम् । एकार्थावर्तनं वसेऽपि प्राप्पणार्थम् । महाप्राणः । महाबाहुः । जातीये चेति किम् ? महतः पुत्रो महत्पुत्रः । आदिति द्विमात्रोच्चारणसुत्तरार्थम् । पुंवद्भावजातीयादिसूत्रे पुंवदिति योगविभागात्पुंवद्भावः । इहादिति योगविभागादात्वम् । तेन “महत्या शास्कारविशिष्टेषु अधिकरणस्येऽपि पुंवद्भावात्मे भवतः” [वा०] महत्या वामो महाप्राणः । महत्याः काशे महाकारः । महत्या विशिष्टो महाविशिष्टः । अमहान् महान् सम्पन्नो महद्भूतश्चन्द्रमा इत्यत्र यौ निवृत्ते “चिञ्चाज्योविः” [१२॥१३२] इति तिसंज्ञा । भूतशब्देन “तिकुआदयः” [१३॥८१] इति षमे कृते गौणत्यान्महदर्थस्वात्त्वाभावः । पूर्वोक्तयोगविभागात्विह महतीशब्दस्य पुंवद्भावः अमहती महती सम्पन्ना महद्भूता कन्या ।

द्वयष्टनः संख्यायामवशीत्योः प्राक्शतात्त्रेख्यः ४३॥१५९॥ द्वि अष्टन् इत्येतयोराकारादेशो भवति संख्यायां यौ प्राक्शतात् वसमशीतिं न वर्जयित्वा, त्रेश्च त्रयमित्यपमादेशो भवति । द्वादश । द्वौ च विशतिश्च द्वाविंशतिः । “जिह्वमशित्यं स्त्रोकाश्चयश्वात्” । अथवा द्वयधिका विंशतिः द्वाविंशतिः । समानाधिकरणाधिकयुक्तां शाकपार्थिवादिबद्धदृष्टव्यम् । अष्टादश । अष्टाविंशतिः । अष्टाविंशत् । त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । त्रयोविंशत् । द्वयष्टनस्येति किम् ? चतुर्दश । संख्यायामिति किम् ? द्विमूली । अष्टमूली । त्रिमूली । समाहारे षसः । “संख्यादी रश्च” [१३॥४७] इति रसंशः । “शत्” [३॥१२५] इति ङोविधिः । अवाशीत्योरिति किम् ? द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । अष्टदशाः । त्रिदशाः । “संख्यावाङ्मोऽबहुगणान्” [४३॥६६] इति ङः सान्तः । द्वयशोतिः । त्रयशीतिः । वसेऽशीतौ च न भवति । प्राक्शतादिति किम् ? द्वयधिकं शतं द्विशतम् । त्रिशतम् । त्रिसहस्रम् ।

वा चत्वारिंशदादौ ॥४॥३॥१६०॥ चत्वारिंशदादौ संख्यायां यौ अवाशोत्योदयोदीनां बहुलं तद्वा भवति ।
 द्वाचत्वारिंशत् । द्विचत्वारिंशत् । द्वापञ्चाशत् । द्विपञ्चाशत् । अष्टाचत्वारिंशत् । अष्टचत्वारिंशत् । अष्टाष्टिः ।
 अष्टप्राष्टिः । नवचत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत् । अवाशोत्योरित्येव । द्विचत्वारिंशः । द्वयसीति ।
 अष्टचत्वारिंशः । अष्टाशीतिः । त्रिचत्वारिंशः । त्रयसीति । प्राक्शतादित्येव । द्विशतम् । “अहनः कपाले
 हविष्यात्वं वक्तव्यम्” [वा०] अहः ८५०० इति । अष्टमु कपालेषु संस्कृतं हृदयं पसः । “संख्यादी रव”
 [११३१७७] इति रमंजः । “संस्कृतं भक्त्वाः” [३१२१११] इत्यण् । तस्य “रस्योवनपत्ये” [३११७७] इत्युप् ।
 हविषीति किम् ? अष्टानां कपालानां समाहारः अष्टकपालं भिन्नोः । पात्रादित्वात्रपुंसकलिङ्गता । “गवे च युक्ते
 अहनः आत्वं वक्तव्यम्” [वा०] अष्टागवेन शकटेन बहति । अष्टौ गावो युक्ता अस्मिन्निति । अस्मादेव निपा-
 तनात् असेऽपि टः सन्तः । युक्त इति किम् ? अष्टानां गवां समाहारः अष्टगवम् । नेदं वक्तव्यम् । आन्महत
 इति आदिति योगविभागादन्वस्थापीति दीर्घेन वा सिद्धेः ।

हृदयस्य हृत्लेखयारुलासेषु ॥४॥३॥१६१॥ हृदयस्य हृदित्ययमादेशो भवति लेख य अण् लस्य
 इत्येतेषु परतः । हृदयं लिखतीति हृत्लेखः । हृदयाय दिप्तं हृदयम् । “प्राण्यङ्गस्थ” [३१४१५] इत्यादिना यः ।
 हृदयस्तेदं हृदयम् । हृदयस्य भावो वा शुभादिषु “हृदयादसे” [३१४१२० ग० सू०] इति पाठादण् । अणि
 षञि वा हृत्लासः । लेख इत्यण्णन्तस्य ग्रहणम् । षञि तु हृदादेशो नेष्यते । हृदयस्य लेखः हृदयलेखः । एवं
 च लेखग्रहणं ज्ञापकम् “द्व्यधिकारे स्वग्रहणे स्वरूपग्रहणं न तदन्तविधिः” [प०] “स्त्रियभेः” [४१३१७६]
 इत्यत्र स्त्रियन्तस्य आदेशाभावात्तीति तदन्तविधिरिष्टः ।

वा टयत्पूरोगशोके ॥४॥३॥१६२॥ टयण् रोग शोक इत्येतेषु परतो हृदयस्य वा हृदित्ययमादेशो-
 भवति । लौटार्थम् । वाटयत्पूरोगशोकेति वाटयण् । “हृत्सिन्धुभगे द्वयोः” [५१२१२४] उदयोरैर् । पक्षे
 गौहृदयम् । हृद्रोगः । हृदयरोगः । हृच्छोकः । हृदयशोकः । ननु हृदयशब्देन समानार्थो हृच्छब्दोऽस्ति
 तेनोभयं सिद्धम् । न सिद्ध्यति । अन्येकपुनरपरेषु हृच्छब्दस्य प्रयोगः प्रसज्येत ।

पादस्य पदाभ्यासिगोपहतेषु ॥४॥३॥१६३॥ पादस्य पद इत्ययमादेशो भवत्याजि आति ग उपहृत
 इत्येतेषु परतः । पादाभ्यासजति पादाभ्यासतति । अजातिभ्यां पाद इण् । वाक्सः । केवलेन आजिशब्देन
 “साधनं कृता” [११३१२६] इति पसः । अतएव निपातनादजेर्विभावाभावः । पदाजिः । पदातिः । पादाभ्यां
 गच्छति पदागः । गमेर्ऽः । पादाभ्यानुपहृतः पदोपहृतः । पदशब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति तेन सिद्धेऽपि पादशब्दस्या-
 सिन् विभवे प्रयोगो भा भूदित्येवमर्थम् ।

पद्ये ॥४॥३॥१६४॥ पादं विध्यन्ति पथाः शर्कराः । “विध्यत्यकरणेन” [३१३१६४] इति यः । ताद-
 र्थ्ये तु “पाद्याय्ये” [४१२१३२] इति निपातनमुक्तम् । पादार्थमुदकं पाद्यम् । कथं पादाभ्यां चरति पदिक इति ?
 “पदादौ” [३१३१३३] पादः पदिति पाठाद्वया सिद्धम् । पूर्वसूत्रे पादस्येति संबन्धलक्षणा ता । तेन पादशब्दस्य
 यो यस्तस्मिन् पदित्ययमादेशो भवति । सामर्थ्यात्पादान्तस्य न भवति । द्वाभ्यां पादाभ्यां क्रीतं द्विपथम् ।
 निपातम् । “पणपादमावाकः” [३१४१३१] इति यः ।

हिमकापिहतौ ॥४॥३॥१६५॥ हिम कापिन् इति इत्येतेषु परतः पादस्य पदित्ययमादेशो भवति । पादस्य
 हिमं पद्विमम् । पत्कापी । वाक्यः । पादाभ्यां इति पद्विति । “साधनं कृता” [११३१२६] इति सः । सिन्
 तदन्तविधिरपि । परमपत्कापी ।

ऋचः शे ॥४॥३॥१६६॥ ऋचः पादस्य शे परतः पञ्चवति । पादं पादं गायत्र्याः संसति पञ्चो गायत्री
 संसति । “संख्यैकाद्वीप्सायाम्” [४१२१४८] इति शस् । ऋच इति किम् ? पादं पादं कार्यापणमस्य ददाति पादशः
 कार्यापणं ददाति । “त्यात्यसभवे त्यस्य ग्रहणम्” [प०] इति शस एव ग्रहणादिह न भवति । पादशंसी गायत्र्याः ।

वा निष्कघोषमिश्रशब्दे ॥४१३१६७॥ निष्क घोष मिश्र शब्द इत्येतेषु परतः पादस्य वा पञ्चवति । पादस्य निष्कः पञ्चिष्कः । पादनिष्कः । पदघोषः । पादघोषः । पन्मिश्रः । पादमिश्रः । “पूर्वाधरसदृश” [११३१२८] इत्यादिना मासः । पञ्चशब्दः । पादशब्दः ।

उदकस्योद घोषश्च खौ ॥४१३१६८॥ उदकस्य उद इत्ययमादेशो भवति घोषश्च तस्योदकस्य लुविपये । उदकस्य नेघ उदमेघो नाम यत्त्वोदमेघिः [पुनः] । उदकं वङ्गीत्युदवाहो नाम यस्योदवाहिः पुनः । अपत्येन पिता लक्ष्यते । उदकस्य घोष उदघोषः । लोहितोदा क्षीरोदा नदी । स्वाविति किम् ? उदकपर्वतः ।

पेयमि ॥४१३१६९॥ पेयमि यौ उदकस्य उद इत्ययमादेशो भवति । उदकेन पिनष्टि उदपेयं पिनष्टि तगरम् । “स्नेहने पिपः” [११३१७०] इति णम् । कथम् उदवास उदवाहनः उदधिरिति ? संग्रहशब्दा अमो पूर्वैण सिद्धाः । कथमुदधिर्यदः ? उपमानाद्भवति ।

वैकहस्त्रि पूर्य ॥४१३१७०॥ एकोऽसहायस्तुल्यजार्त्तयेन यो हल् तदादौ यौ पूर्य उदकस्य वा उद इत्ययमादेशो भवति । उदकस्य कुम्भः उदकुम्भः । उदककुम्भः । उदघटः । उदकघटः । उदपात्रम् । उदकपात्रम् । एकहस्त्रि इति किम् ? उदकस्थालम् । पूर्य इति किम् ? उदकगिरिः । अखाद्यप्राप्ते विभाषेयम् ।

मन्यौदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीवधगाहे ॥४१३१७१॥ मन्य औदन सक्तु विन्दु वज्र भार हर वीवध गाह इत्येतेषु परतः उदकस्य वा उद इत्ययमादेशो भवति । अपूर्वार्थोऽयं यत्नः । उदमन्यः । उदकमन्यः । उदकेनौदनः उदौदनः । उदकौदनः । उदकेन सक्तुः उदसक्तुः । उदकसक्तुः । “भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणम्यजने” [११३१७०] इति भासः । उदविन्दुः । उदकविन्दुः । उदवज्रः । उदकवज्रः । उदमारः । उदकमारः । उदहारः । उदकहारः । उदवीवधः । उदकवीवधः । उदगाहः । उदकगाहः । मन्यभारहारा अण्णन्ता यन्ता वा ।

इकः प्रोऽङ्ग्याः ॥४१३१७२॥ इगन्तस्य यौ वा प्रो भवत्यङ्ग्याः । ग्रामणिपुत्रः । ग्रामणोपुत्रः । यवलुपुत्रः । यवद्वपुत्रः । अलाधु कर्कन्धु दन्धु फलम् । अत्र पूर्वपूर्वस्य प्रादेशो सति उत्तरेण सविधिः । इक इति किम् ? खट्वापादः । मालापादः । अङ्ग्या इति किम् ? गार्गीपुत्रः । दासीपुत्रः । वेति ध्वनिस्थितविभाषाश्रयणादिह न भवति । कारीपगन्धीपुत्रः । कारीपगन्धीपतिः । मित्रं ज्ञेयुनां च न प्रादेशः । काण्डीभूतम् । कुक्षीभूतम् । श्रीकुलम् । भ्रुकुलम् । भ्रुकुंसादीनां तु प्रादेशो भवत्येव । भ्रुकुंसाः । क्वचिदन्यदेव । भ्रुकुंसादीनामकारा-
श्चान्तादेश इत्येते । भ्रुकुंसाः । भ्रुकुटिः ।

त्वे उद्यापो कचिरखौ च ॥४१३१७३॥ त्वे परतो इत्यन्तस्य आबन्तस्य कचित्प्रो भवति खौ च यौ । अजत्वम् । अजात्वम् । रोहिणित्वम् । रोहिणोत्वम् । त्वे छान्दसः प्रयोग इति केचित् । खौ—रेवतिमित्रः । रोहिणिमित्रः । भरणिमित्रः । कचिर भवति । नान्दीकणः । नान्दीघोषः । आबन्तस्य शिलाया बहः शिलवहः । शिलप्रस्थः । शिदापस्थलम् । न च भवति लोपिकाग्रहम् । लोपिकापसङ्गम् । कचिद् ग्रहणं बहुलार्थम् ।

हृति चैका ॥४१३१७४॥ हृति परतो यौ च एका इत्येतस्य प्रो भवति । एकस्या आगतम् एकरूप्यम् । एकमयम् । “हेतुमनुप्याह्वा रूप्यः” [११३१५५] “मयद्” [११३१५६] इति च रूप्यमयदौ । एकस्या भाव एकत्वम् । एकता । गुणवचनत्वे “तसादी” [४१३१७५] त्वतलोर्गुणवचनस्य इति पुंवद्भावेन सिद्धत्वा-
दन्यत्रेदं द्रष्टव्यम् । यौ एकस्या क्षीरम् एकक्षीरम् । एकदुग्धम् । एका म्रिया अस्य एकप्रियः । एकमनोशः ।

मालेयीकेष्टकानां भारितूलचिते ॥४१३१७५॥ माला, इषीका, इष्टका इत्येतेषां प्रो भवति भारितुल चित इत्येतेषु परतः । मालभारी । मालभारिणी । इषीकतूलम् । इष्टकचितम् । क्वचिदित्यनुष्टुप्चेर्मांसादिभि-
स्तदन्तविधिरपि । उत्पलमालभारिणी । मुञ्जेयीकतूलम् । पक्वेष्टकचितम् ।

खित्यभेः ॥४॥३॥१७६॥ खिदन्ते चो अजन्तस्य प्रो भवत्यभेः । कालीमात्मानं मन्यते कालिभग्न्या । रोहिणिम्मन्या । “खरचात्मनः” [२॥२॥७१] इति खश् । खित्यनन्तरः प्रादेशभागास्तीत्युक्तम् । अभेरिति प्रतिषेधान्न खिदन्ते चो पूर्वस्य प्रपरोऽपि “मुमचः” [४॥३॥१७७] इति प्रादेशेन वाच्यते । अभेरिति किम् ? दोषामन्यमहः । दिवामन्या रात्रिः ।

मुमचः ॥४॥३॥१७७॥ पूर्वस्य पदस्याजन्तस्य खिदन्ते चो मुम् भवत्यभेः । प्रियंवदः । वशंवदः । कालिम्मन्या । हरिणिम्मन्या । “विध्वहयोस्तुदः सखम्” [२॥२॥३७] इति सखे कृते मुम् । विधुस्तुदः । अरुस्तुदः । “द्विषन्तपेरम्मद” [२॥२॥३८] इति निपातनाद् द्विषन्तपः । अच इति किम् ? विद्वन्मन्यः ।

अमेकाञ्चोऽभवत् ॥४॥३॥१७८॥ अच इति वर्तते । अजन्तस्य पूर्वपदस्यैकाञ्चोऽम् भवति खिदन्ते चो अमीवादिमन् कार्यं भवति । आत्वपूर्वस्यैवि युवादिप्रयोजनम् । अवर्णान्तस्यामि नास्ति विशेषः । अनवर्णान्त-मुदाहरणम् । गाम्मन्यः । स्त्रीम्मन्यः । स्त्रियम्मन्यः । नृशब्दस्य नरम्मन्यः । श्रियम्मन्यः । भुवम्मन्यः । नावमात्मानं मन्यते नावम्मन्यः । प्रादेशमुमोरयमपवादः । एकाच इति किम् ? लेखाकं मन्यः । अच इत्येव द्विषम्मन्यः । निपातनाद् वाच्यमपुनन्दरौ । अमित्यागमलिङ्गादपरोऽपि मकारः प्रयोगश्रवणार्थः स्फान्तस्तेन निर्दिष्टः । अथेह कथमभिविद्यम्, श्रियमात्मानं कुलं मन्यते इति ? उच्यते—श्रीशब्द आविष्टलिङ्गः स्त्रियामेव वर्तते इति श्रियम्मन्यमिति भवितव्यम् । अन्ये मन्यन्ते स्थलिङ्गान्तरेऽपि वृत्तिर्दृष्टा । यथा प्रष्ठादिशब्दानां पुंयोगात् स्त्रियां वृत्तिः । प्रष्ठी । प्रचरी । गणकी । एवं श्रीशब्दस्य कुले वर्तमानस्य नपुंसकलिङ्गत्वं “प्रो नपि” [१॥१॥७] इति प्रादेशः । अन्तर्हितेशान् “हपः स्वसेः” [५॥१॥२०] इत्युप् । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इति “सुरो धुम्वोः” [१॥४॥१४२] इत्यस्यैवोपोऽमागमो बाधको नोत्तरस्य तेन श्रिमन्यमिति भवितव्यम् । एतच्च नातिश्लष्टम् । वेदः प्रमाणमित्यादौ लिङ्गान्तरं प्रसज्येत ।

सत्यागदास्तोः कारे ॥४॥३॥१७९॥ सत्य, अगद, अस्तु इत्येतेषां कारं चो नुमागमो भवति । सत्यङ्कारः । अगदङ्कारः । अणि ऋजि वा काररूपम् । अस्तुरादेशो नितञ्जकोऽभ्युपगमे वर्तते । अस्तित्वस्य कर्णम् अस्तुङ्कारः ।

रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य ॥४॥३॥१८०॥ रात्रिशब्दस्य कृति चो नुमागमो भवति प्रभाचन्द्रस्य चार्थस्य मतेन । रात्रिचरः । रात्रिचरः । रात्रिमाटः । रात्र्याटः । कृद्ग्रहणायामर्थ्यादयमप्राप्ते विकल्पः । खिति पूर्वनिर्णयेन नित्यं नुमागमः । रात्रिमन्यमहः । रात्रेनन्तरः कृतास्तीति कृदन्तग्रहणम् । ननु रात्रिरिवाचरतीति “आचारे सर्वमृन्मयः क्षिप्” [२॥१॥६ वा०] इति तदन्तात्कृत्विवन्ति । यदि तदर्थं कृद्ग्रहणं स्यात् । रात्रेः क्षिपीति निर्देशं कुर्यात् । किञ्चन्तस्य तु रात्रिशब्दस्य अन्यस्मिन् कृदन्ते मुग्ध स्यात् गौरात्वात् ।

नञोऽन् ॥४॥३॥१८१॥ नञोऽनित्यमप्रादेशो भवति चो । न हिंसा अहिंसा “नञ्” [१॥३॥६८] मुपा इति षष्ठः । अनेकाच्चात्सर्वादिशोऽन् । स्थानिवद्भावेन पदादेशः पदवद्भवति इति नखम् । एवम् अक्रोधः । अस्तैयम् । सानुअन्धकनिर्देशः किमर्थः ? वामनपुत्रः पामनपुत्र इत्यत्र माभूत् । बाधित्येव । न भुङ्क्ते । “नञोऽनुभावे स्तेपे भिङ्ग्युपसंख्यानम्” [वा०] । अकरोपि त्वं जालम् । अपर्चापि त्वं जालम् ।

अचि ॥४॥३॥१८२॥ अजादौ च चो नञोऽन् भवति । अजन्तः । अजादिः । अनुपमो जिनः । पुनर्वचन नखनिवृत्त्यर्थम् । “अद्वोऽनञे” [२॥२॥६०] इति शापकात्रजो नो डमुण् न भवति ।

नभ्राणपान्नवेदानासत्यानमुचिन्नकुलनखनपुंसकनक्षत्रनकनाकनागाः ॥४॥३॥१८३॥ नभ्राद् नपात् नवेदा नासत्या नमुचि नकुल नख नपुंसक नक्षत्र नक नाक नाग इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । न भ्राजते न वा न भ्राजते किन्तु भ्राजत एवेति नभ्राद् । भ्राजतौ कथ्यन्ते चो नञः प्रकृतिभावः । द्वयोर्वा नञोः एको

नशब्दो निपात्यते । न पाति न वा न पाति नपात् । नपुंसकलिङ्गे शत्रन्ते पातो पूर्ववन्निपातनम् । न वेत्ति न या न वेत्ति नवेदाः । “अस् सर्वधुम्यः” [७० सू०] इति विदेस् । “अवसोऽधोः” [४।४।१२] इति दीत्वम् । सत्सु सार्वा सत्या न सत्या असत्या । पुनर्नञ्जे नासत्या । नञः प्रकृतिभावः । पुंस्वपीठं निपातनम् । नासत्या नाम केचित् । न मुञ्चति न वा न मुञ्चति मुञ्चेरौणादिके इति ननुचिः । नास्य कुलमस्ति न वानकुलमस्ति नकुलम् । नास्य खमस्ति न वा न खमस्ति नखः । न क्ली न पुमान् नपुंसकः । स्त्रीपुंसयोर्नपुंसकभावो नञश्च प्रकृतिभावः । न क्षरति न क्षयेते इति वा नक्षत्रम् । क्षतेः क्षीयतेर्वा क्षद्वायो नञश्च प्रकृतिभावः । न कीणाति न क्रामतीति वा नक्रः । क्रीजः क्रमेर्वा इत्थो नञश्च प्रकृतिभावः । अक अग कुटिलयां गतावित्यनयोः पचाद्यचि अकागौ भवतः । नाकः । नागः । नजः प्रकृतिभावः अथवा नास्मिन् कं दुःखमस्ति नाकः । न गच्छतीत्यगः । एरोयां रुदिशब्दानां यथा कयश्चिद् व्युत्पत्तिः ।

एकादशः ॥४।३।१८४॥ एकाद इति निपात्यते द्यौ । एकेन न विंशतिः एकादविंशतिः । एकेन न विंशत् । नवो विंशतेशब्देन “नञ्” [१।३।६८] इति षतः । एकशब्दस्य भावतस्य न विंशतेशब्देन “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इति बहुलवचनाद् मेति योगविभागव्युत्पत्ते कृते एकशब्दस्यादुक् नञश्च प्रकृतिभावो निपात्यते । अदुकः पूर्वान्तकरणं “यरो ङो विभाया ङे” [५।४।१२५] इति विकल्पेन ङार्थम् । एकाद्विंशतिः । एकाद्विंशत् ।

नगो वाऽजीवे ॥४।३।१८५॥ नग इति वा निपात्यते अजीवेऽर्थे । नगा वृक्षाः । नगाः शाल्यः । नगाः पर्वताः । अगा वृक्षाः । अगाः शाल्यः । अगाः पर्वताः । न गच्छतीति मुपि वाचि “गमेङ्” [२।२।४६] वाक्सः । अजीव इति किम् ? अगो देवदत्तः शीतेन ।

सहस्य सः खौ ॥४।३।१८६॥ सहस्य स इत्ययमादेशो भवति खुविपये । खाविति वर्तते । सहाश्रत्येन वर्तते साश्कथम् । सपलाशम् । सशिशपम् । वननाभधेयम् । सरसा दूर्वा । “सेन” [१।३।६०] “सहेति तुल्ययोगे” [१।३।६१] इति षतः । “वा नीचः” [४।३।१६०] इति विकल्पे प्राप्ते अयं विधिः । खाविति किम् ? सहयुध्वा । सहकृत्वा । सहयुद्धवान् । “राज्ञि युधि कृयः” [२।२।८२] “सहे” [२।२।८३] इति कनिप् ।

ग्रन्थान्तेऽधिके ॥४।३।१८७॥ ग्रन्थान्ते अधिके च वर्तमानस्य सहस्य स इत्ययमादेशो भवति । ग्रन्थान्ते हसः । सकलं ज्योतिषमधीते । सनुहूर्तमधीते । कला कलावशेषः मुहूर्तश्च तस्य हचरितो ग्रन्थोऽपि तथोक्तः । कलामन्तं कृत्वा मुहूर्तमन्तं कृत्वा । साकल्यान्तोक्तौ हसः । “हेऽकाले” [४।३।१८६] इति काले प्रतिषेधादनेन सादेशः । अधिके वसः । सह द्रोणेन वर्तते सद्रोणा खारी । समाषः कार्पापणः । सकाकणीको भापः । “वा नीचः” [४।३।१६०] इति विकल्पः प्राप्तः ।

द्वितीयेऽनुपाख्ये ॥४।३।१८८॥ द्वितीयेऽनुपाख्यायमाने सहस्य स इत्ययमादेशो भवति । द्वयोः सहयुक्तयोर्न्यग्भूतो द्वितीयः । स एवाप्रत्यक्षोऽनुपाख्य लङ्कः । साग्निः कपोतः । समूसलः श्रीहिकंसः । सपिशाचा वात्वा । सराक्षसीका शाला । अग्न्यादयोऽप्रत्यक्षेणानुपलभ्यमानाः कपोतादिभिरनुमीयमानत्वादनुपाख्याः । अनुपाख्य इति किम् ? सच्छात्रः सहच्छात्र उपाध्यायः । उपाख्यायत इत्युपाख्यः । “युह्य्या बहुलम्” [२।३।६४] इति बहुलवचनात् “आतो सौ” [२।३।१०६] इति कर्मणि कः ।

हेऽकाले ॥४।३।१८६॥ हसंरुके सहस्य स इत्ययमादेशो भवत्यकालवार्चिनि यौ । सचक्रं घेष्टि । सधुरं प्राज । युगपचक्रे । युगपद्धुरौ । “यौगापद्य” [१।३।५] इति हसः । “ऋक्पूरुषः पथोऽनहे” [४।२।७०] इति पुरोऽकारः सान्तः । अकाल इति किम् ? सहपूर्वाह्णम् । सहापराह्णम् । योगपथे साकल्योक्तौ वा हसः ।

वा नीचः ॥४।३।१६०॥ नीचोऽवयवस्य सहशब्दस्य वा स इत्ययमादेशो भवति यौ । सशिष्यः सहशिष्य आचार्यः । सपुत्रः सहपुत्रः पिता । नीच इति किम् ? सहगुप्त्वा । सहकृत्वा । नात्र समुदायस्य नीचोऽवयवः सह-शब्दः । नीच इति समुदायस्य विशेषणं सहशब्दस्य सर्वत्र विधौ न्यक्तत्वात् । इह सहयुद्धप्रियः । प्रियसहयुधेति च सहस्य सः कस्मान्न भवति । यदत्र शु तदपेक्षया न सहशब्दो नीचोऽवयव इति न भवति ।

नाशिष्यगोवत्सहले ॥४।३।१६१॥ आशिषि सहस्य सादेशो न भवति गोवत्सहलवर्जिते यौ । स्वस्ति सहशिष्याय गुरवे । स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय । अगोवत्सहल इति किम् ? स्वस्त्यस्तु सगवे सङ्गवे । सवत्साय सहवत्साय । सहलाय सहहलाय ।

समानस्य स ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानयर्णवयोवचनबन्धुषु ॥४।३।१६२॥ समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ज्योतिषु, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस् वचन, बन्धु इत्येतैषु परतः । समानं ज्योतिरस्य सज्योतिः । यदि वा समानं च तज्ज्योतिश्च सज्योतिः । “पूर्वापरप्रथम” [१।३।१६३] इत्यादिना यतः । सजनपदः । सरात्रिः । सनाभिः । सनामः । सगोत्रः । सरूपः । सस्थानः । [सवर्णः । सवयाः ।] सवचनः । सबन्धुः । बन्धेऽभिधेयनल्लिङ्गम् । बन्धे च परवर्तिङ्गम् । समानस्येति योगविभागादप्येवमपि सादेशः । तेन सधर्मा । सपक्षः । सगन्धः । सदेशः । समानजातीयः । “जातेरुहो बन्धुनि” [४।२।१८] इति स्वार्थे छः । समाने तीर्थे भवः सतीर्थ्यः । दिगादित्वाद्य इत्येवमादि तिङ्गम् ।

सब्रह्मचारी ॥४।३।१६३॥ सब्रह्मचारीति निपात्यते चरणे गम्यमाने । समानो ब्रह्मचारी समाने ब्रह्मणि व्रतं चरति वा सब्रह्मचारी । समाने आगमे व्रतचारीत्यर्थः ।

सोदर्ये ॥४।३।१६४॥ उदर्यशब्दे यौ समानस्य वा स इत्ययमादेशो भवति । समानोदरे शयितः सोदर्यः । समानोदर्यः । “समानोदरे शयितः” [३।३।२०८] इति यः । कथं युधिष्ठिरसोदरो वृकोदर इति । समानस्येति योगविभागात् ।

दृशदृग्दृक्षवतौ ॥४।३।१६५॥ दृश दृक् दृक्ष वतु इत्येतैषु परतः समानस्य स इत्ययमादेशो भवति । समानो दृश्यते सदृशः । बहुलवचनात्कर्मणि ढगादिः । अन्यथा वा व्युत्पत्तिमात्रं कार्यम् । नमानमात्मानं पश्यति सदृशः । सदृक् । सदृक्षः । “व्यदादौ ढशोऽनालोके टक् च” [२।२।५८] इत्यत्र “समानान्दयोश्च” [वा०] इति वचनादृक्किञ्च भवति । कसोऽन्यस्मादेव निर्देशात् तत्र स्मृत्यः । वतुः समानशब्दात्परतः न सम्भवतीति वतुग्रह-णमुत्तरार्थम् ।

किमिवमोः कीश् ॥४।३।१६६॥ किम् इदम् इत्येतयोः की ईश् इत्येतवादेशौ भवतः दृशादिषु परतः । क इव दृश्यते कमिव पश्यति वा कीदृशः । कीदृक् । कीदृक्षः । किम्परिमाणमस्य कियान् । “किम्” [३।४।१६२] इति वतुर्वकारस्य च घः । अयमिव दृश्यते इममिव पश्यति वा ईदृशः । ईदृक् । ईदृक्षः । इदम्परिमाणमस्य इवान् । “इदमो वो घः” [३।४।१६१] इति वतुर्वकारस्य च घः । “आ सर्वनाम्नः” [४।३।१६७] इत्यात्यस्यापवादोऽयम् ।

आ सर्वनाम्नः ॥४।३।१६७॥ सर्वनाम्न आकाशदेशो भवति दृशदृग्दृक्षवतुषु परतः । स इव दृश्यते तमिव पश्यति वा तादृशः । तादृक् । तादृक्षः । तत्परिमाणमस्य तावान् । “यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः” [३।४।१६०] इति वतुः । यादृक्षः । यादृशः । यावान् । अन्यादृशः । अन्यादृक् । अन्यादृक्षः । आ इति द्विमात्रोच्चारणम् “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपनिवृत्त्यर्थम् । अकारोच्चारणं तु हस्तिनृत्त्यर्थं स्यात् । अन्यशब्दे च शेषः प्रसज्येत । त्यदादेरिति सिद्धे सर्वनाम्न इति ग्रहणम् अन्यशब्दसंग्रहार्थमुत्तरार्थं च ।

विष्वदेवयोश्च षेरद्वयञ्चौ कौ ॥४३१६८॥ विष्वग् देव इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च षेरद्विरादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । विपुवतीति विपुः । विषुमञ्चतीति ऋत्विगादिसूत्रेण द्यौ कृते विष्वक् । विष्वञ्चमञ्चतीति कायागतनिवृत्ते नञ्चम् । वाक्ये सुः । “उगिद्वचाम्” [५४१४६] इति नुम् । हल्ङ्यादिष्वे । स्फान्तत्वे । “षिवत्य-
स्य कुः” [५३१७५] इति नकास्य ङकारः । विष्वद्वयङ् । यद्वयङ् । तद्वयङ् । कद्वयङ् । विष्वदेवयोश्चेति किम् ? वृक्षमञ्चतीति वृक्षाङ् । अञ्चाविति किम् ? विष्वयुक् । देवयुक् । काविति किम् ? विष्वगञ्चनम् । देवाञ्चनम् । ननु कावेवाञ्चतिः केवलो धुर्मवति तर्हि किमहणेन । इदं किमहणं शापकम्—“अन्यत्र धुमहो ध्वादेः समुदाय-
स्य ग्रहणम्” [५०] इति । तेन कृत्क्यादिसूत्रे अयस्कृतमयस्कार इत्यादौ सत्त्वं सिद्धम् । अन्यथेहैव स्यात् । अयस्कृदिति ।

समः समि ॥४३१६९॥ समः समीत्ववमादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । सम्यङ् । सम्यञ्चौ सम्यञ्चः । इका सिद्धे समिगिति घञनम् “अन्त्यसागमशासनम्” [५०] इति शापयति । तेन वान् इत्यदि सिद्धम् ।

तिग्गस्तिर्यङ् ॥४३२००॥ तिसस्तिरित्ययमादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतो यत्राञ्चतेकारस्य खं न भवति । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिर्यग्न्याम् । तिर्यग्भिः । अत्र इति किम् ? तिग्गः । तिग्गचा । अत्र इत्यकारस्य सन् । न विद्यते अञ्चतेर्देशेपविहितमकारस्य खं यस्मिन् । हलुङो नखं तु सर्वसाधारणं न तस्येह पर्युदासः । न त्वत्वं स्वमिति तस्मिन् तिरिमावः “तिरश्च्यपवर्गे” [२४१४५] इति निर्देशात् । ननु च “तिवाक्कार-
काणां कृद्भिः सविधिः” [५०] इति कृदन्ते नैवाञ्चतिना कृत्तौ कृतायां सुबन्तत्वाभावात्कथमञ्चतेर्धुर्मजा । नैर दोषः । अत्रावितितीत्येवमादौ विपये तिवाक्कारकाणामित्यस्य व्यापारो न सर्वत्र ।

सहस्य सधिः ॥४३२०१॥ सहस्य सधिरादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । सध्वङ् । सध्वञ्चौ । सध्वञ्चः । सध्रीचः । सध्रीचा । “अचः” [४३१२५] इत्यलम् । “चौ” इति दीत्वम् ।

द्वयनगोरीद्वयः ॥४३२०२॥ द्विशब्दद्वयवर्णान्ताच्च गोः परस्य अपशब्दस्य ईकारादेशो भवति । द्विगता आपो यस्मिन्निति द्वीपः । प्राक् “परस्यादेः” ईकारः पश्चात् “ऋक्पूरब्धूः” इत्यः सान्तः । “अन्तःशब्दस्य अ(सा)ङ्निविधिष्वेषु गिर्गञ्जोक्तः” [वा०] अन्तर्गता आपोऽस्मिन्नन्तरीपः । समीपम् । वीपम् । इह क्रियायोगाभावाद्गिर्गञ्जोपलक्षितानां प्रादीनां ग्रहणम् । अनगोरिति किम् ? प्रापम् । परापम् । समापम् ।

देशोऽनोरः ॥४३२०३॥ देशाभिधानेऽनोः परस्यापः उकारादेशो भवति । अनुगता आपोऽस्मिन्न-
त्यनूपो देशः । देश इति किम् ? अन्वीपं वनम् । कथं कूपः सूपः अनूप इति ? कुपोदरादिपाठात् ।

दुकारकेऽन्यस्य दुक् ॥४३२०४॥ ह्ये कारके च परतोऽन्यस्य दुगागमो भवति । अन्यस्फेदम् अन्यस्मिन् भवं वा अन्यदीयन् । गहादिपाठान्तरः । अन्यस्य कारकम् अन्यत्कारकम् । अन्यः कारकः अन्यत्कारकः ।

अतामास्थस्याशीराशस्यास्थितोत्सुकोतिरागे ॥४३२०५॥ अतामस्थस्यामास्थस्य चान्यस्य दुगागमो भवति आशिष् आशा आस्था आस्थित उत्सुक ऊति राग इत्येतेषु परतः । अन्या आशीः अन्यदाशीः अन्या आशा अन्यदाशा । अन्या आस्था अन्यदास्था । अन्य आस्थितः अन्यदास्थितः । अन्य उत्सुकः अन्यदुत्सुकः । अन्या ऊतिः अन्यदुतिः । अन्यो रागः अन्यद्रागः । “विशेषणं विशेष्येणेति” [१३१५२] यमः । अतामास्थ-
स्येति किम् ? अन्यस्याशा अन्याशा । अन्येनास्थितः अन्यास्थितः ।

वाऽर्थे द्यौ ॥४३२०६॥ अन्त्यस्य वा दुग् भवति । अन्योऽर्थः, अन्यस्मै अर्थः अन्यदर्थः । अतामास्थ-
स्येत्येव । अन्यस्यार्थोऽन्यार्थः । अन्येनार्थोऽन्यार्थः ।

कत्कोः वेऽचि ॥४३२०७॥ कोः कद्भवति पसंशके सेऽजादौ द्यौ । कुत्सितोऽजः । “तिङ्प्रादयः” [१३१८१] इति पसः । कद्वः । कद्वः । कद्वन्म् । ए इति किम् ? क्वि-भो राजा । अचीति किम् ? कुमाह्वणः । कुवृषः । कत्कोरिति योगविभागाद्विशब्देऽपि भविष्यति । कुत्सितास्त्रयः कव्ययः । “किम्वा त्री-
कद्वत्तयः” [वा०] के त्रयः कव्ययः ।

रथषड्योः ॥४॥३॥२०८॥ रथ वद इत्येतयोः परतः कोः कद् भवति पसे । कुत्सितो रथः कद्भः । कुत्सितो वदः कद्दः ।

तृणे जातौ ॥४॥३॥२०९॥ तृणे द्यौ कोः कद्भवति समुदायेन जाताविधेयानाम् । कत्तूणा नाम जातिः । तस्या अन्यतमः कत्तूणम् । जाताविति किम् ? कुत्सितानि तृणानि कुत्तूणा न ।

का पथ्यक्षयोः ॥४॥३॥२१०॥ कोः का इत्ययमादेशो भवति पथिन् अक्ष इत्येतयोः परतः । कुत्सितः पन्थाः कोपथः । कुत्सितमक्षं कक्षम् । अक्षशब्दस्य अकारान्तस्य कृतमाग्तस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । पस इति निवृत्तम् । कुत्सितेऽक्षिणो अस्य कक्षः । “स्वाङ्गद्वेऽक्षिसन्धः” [४॥२॥११३] इति टः सन्तः । पथ-शब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । तस्य कुपथमिति पे भवति ।

ईपदर्थे ॥४॥३॥२११॥ ईपदर्थे कोः का भवति । ईपकटुकं काकटुकम् । कामधुम् । कालवणम् । “तिकुमादयः” [१॥३॥८१] इति सः । “ककोः पेडधि” [४॥३॥२०७] इति तत्रोपलक्षणमात्रम् । अजादावपि परत्वात्कादेश एव । काम्लम् ।

पुरुषे वा ॥४॥३॥२१२॥ पुरुषशब्दे द्यौ कोः का इत्ययमादेशो भवति वा । कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः । कुपुरुषः । अजाते विकल्पोऽयम् । ईपदर्थे पूर्वनिर्णयेन नित्यं कादेशः ।

कथमुष्णे ॥४॥३॥२१३॥ कोः स्थाने कवरूपं भवति उष्णे परतः का च वा । कथशब्दो नपुंसक-लिङ्गो निर्दिष्टः । कवोऽयम् । कोष्णम् । आत्मा मुक्ते “ककोः पेडधि” [४॥२॥२०७] इति कद्भावे कटुष्णम् । अनीपदर्थे कटुष्णमेव ।

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ॥४॥३॥२१४॥ पृषोदरप्रकाराणि शब्दरूपाणि यथोपदिष्टं साधुनि भवन्ति । यथा तेषु वर्णनाशागमवर्णनिकाराः विशिष्टैः प्रयुक्ता दृश्यन्ते तथैव तेषां साधुत्वमित्यर्थः । उप-दिष्टानतिक्रमेण यथोपदिष्टम् । ये ये उपदिष्टाः इति शीघ्रायां वा हसः । पृषदुदरमस्य पृषोदरः । पृषोदर कन्या । पृषते उद्गानं पृषोद्गानम् । तकारस्य स्वं निपात्यम् । अश्वत्थः । कपित्थः । महित्थः । दधित्थः । अथ इव तिष्ठति कपिरिव तिष्ठति मह्यां तिष्ठति दधीव तिष्ठति । “सुपि” [२॥२॥७] इति स्थः वः । सकारस्य तत्वं निपात्यम् । महीशब्दस्य “त्वे उद्यापोः कश्चित्स्त्री च” [४॥३॥१७३] इति प्रादेशः । वारिवत्को वलाङ्कः । वारि-शब्दस्य वशब्दः परस्य चादेशोऽयं निपात्यम् । जीवनस्य मूतं जीमूतम् । वनशब्दस्य खन् । मत्स्यां रीतीति मयूरः । रीतीरचि दिवं महीशब्दस्य च मयूमावः । शवस्य शयनं शमशानम् । शयशब्दस्य श्मादेशः शयनस्य च शानम् । ब्रुवन्तोऽत्यां सीदन्तीति वृषी । ब्रुवच्छब्दस्य वृमावः सदेर्लङन्तस्य च सीमावः । “यथ उत्वं दत्तदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च” “धाशब्दे तु वा पथ उत्यम्” । षड् दन्ता अस्थ पोडन् । “वयसि दन्तस्य दत्” इति दत्तादेशः । षट् च दश चेति षोडश । षड्भिः प्रकारैः षोडा । षड्यावा । इह षड् दधातीति ङी । आतः के कृते टापि च षड्धा । लाक्षणिक्त्वाद्बुत्वाभावः “दिक्छन्देभ्यस्तीरस्य तारमावः” । दक्षिणत्य तीरम्, दक्षिणतारम् । उत्तरतारम् । “वाचो वादे ङत्वं वलभावश्चात्तरपदस्येति निपात्यते” । वाग्रात्पापत्यं वाङ्मलः । एवमन्येऽप्यूखाः शब्दाः । पिशिताशः । पिशाचः । मुहुः स्वनं लातीति मुसलः । ऊर्ध्वकर्णं उलूकः । मेहनस्य खस्य माला मेखला । कौ जीर्यति कुञ्जरः । ऊर्ध्वं खमस्य उलूखलः ।

“वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरो वर्णविकारनाशौ ।

धूतां सदर्थोऽतिशयेन योगास्तदुच्यते वर्णविधौ निरुक्तम् ॥”

संख्याविसायादेरह्नस्याहन्वा ऊौ ॥४॥३॥२१५॥ संख्या वि साय इत्येवमादेरह्नशब्दस्य अह्नित्ययमादेशो वा भवति ऊौ परतः । द्वयोरह्नोर्मनो द्वयह्नः । “हृदर्थे” [१॥३॥४६] इति षसः । “संख्यादी रश्च” [१॥३॥४७] इति रसंज्ञा । सान्त्वः । “पृभ्योऽङ्गोऽङ्गः” [४॥२॥६०] इत्यत्र भित्तसंख्यादेरित्यनुवर्तनादह्नादेशः ।

भवार्थे आगतस्य कालाद् ऽयः “स्मोवन्पत्ये” [३११७४] इत्युपि डौ कृते “वा छिरयोः [४१४१२४] इति वाऽनोऽजम् । द्यह्नि । द्यह्नि । द्यह्ने । यावत्सु अहस्तु भवो यावदहः । “वतोर्वेत्” [३१४१२०] इत्यत्र वत्-न्तस्य संख्यासंज्ञोक्तः । डौ यावदह्नि । यावदह्नि । यावदह्ने । विगतमहर्व्यहः । “तिकुमादयः” [११३१८१] इति पसः । डौ व्याह्नि । व्याह्नि । व्याह्ने । सायमहः । सायाहः । विशेषणसविधिः । सायंशब्दस्य भिसंज्ञकस्यात एव निपातनान्मकारस्य खम् । अकारान्तस्य सम्भवेऽङ्नादेशो निपात्यः । सायाह्नि । सायाह्नि । सायाह्ने । संख्या-विभागादेरिति किम् ? पूर्वाह्ने गतः । पूर्वमहः पूर्वाहः । विशेषणसविधिः । “अतोऽङ्कः” [५१४१६१] इति णत्वम् ।

दूखे पूर्वस्याणो दीः ॥४१३१२१६॥ ढकाररेफयोः खं यस्मिन् वर्णं स दूखस्तस्मिन् पूर्वस्याणो दीर्भवति । ष्टोऽप्यदोषः । खस्याभावरूपत्वेऽपि पौर्वापर्यं बुद्धिकृतम् । यथा वर्णयोरयौगपथ्येऽपि अचीको यण-त्येकमादौ । लीढमुपगूढं मूढेन । अग्नी रयम् । वायू रथम् । पुना रक्तं वासः । दूख इतीन्निर्देशात् पूर्वस्येति लब्धे पूर्वग्रहणं किम् ? पूर्वमात्रस्य यथा द्यावेव स्यात् । अन्यथा द्यावेव स्यात् । नीरक्तम् । दूरक्तम् । इह न स्याद् अजघाः इति । जघंश्चः लङ्घः सिप् एप् । भग्भावः । धकारस्य जश्त्वम् । “सिपि र्त्वि” [५१३१८१] “दः” [५१३१८२] इति रिः । अण इति किम् ? तुह् तुदः । वृह् वृदः ।

सहिवहोऽस्यौः ॥४१३१२१७॥ सहिवहोरवर्णस्य ओकारादेशो भवति दूखे । सोडा । सोडुम् । सोदव्यम् । वोडा । वोडुम् । वोदव्यम् । अस्येत्यण्ग्रहणादैपि कृतेऽपि भवति । उद्वोडाम् । उद्वोदम् । उद्वोद । उत्पूर्वाद्देर्लुङ् । तसस्ताम् । थसस्ताम् । थस्य तः । “कल्लो कल्लि” [५१३१४४] इति सेः खम् । तत्त्वादेरसिद्धत्वाद् “वजवद्” [५११७६] इत्यादिना प्रागैष । अस्येति किम् ? ऊदवान् ।

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टभिन्नलिङ्गिद्रक्षुधस्वस्तिकस्य ॥४१३१२१८॥ कर्णे यौ लक्षण-वाचिनो दीर्भवति विष्टादीन् वर्जयित्वा । दात्रमिव दात्राकर्णः । शंकृकर्णः । द्विगुणाकर्णः । द्व्यङ्गुलाकर्णः । द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्यङ्गुलम् । “पेङ्गुलेर्भिसंख्यादेः” [४१२१८८] इति सान्तः । लक्षणस्येति किम् ? शोभनकर्णः । शोभनत्वं तत्त्वाख्यानं न तु लक्षणम् । अतएव तत्त्वाख्यानादिहापि न भवति । लम्बकर्णः । अविष्टकर्णः । अथवा लक्षणशब्देन चिह्नविशेषोऽभिप्रेतः स्वामिविशेषसंबन्धज्ञापनार्थम् । पशूनां दात्राकारादि चिह्नं लक्षणम् । तदभावाद्गन्धकर्णादिषु न भवति । अविष्टादेरिति किम् ? विष्टकर्णः । अष्टकर्णः । पञ्चकर्णः । भिन्नकर्णः । लिङ्गकर्णः । लिङ्गकर्णः । लक्ष्मकर्णः । स्वस्तिककर्णः ।

नहिवृत्तिवृथिव्यधिरुचिसहितनिषु कौ ॥४१३१२१९॥ नहि वृत्ति वृथि व्यधि रुचि सहि तनि इत्येतेषु किरन्तेषु परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति । नहि-उपानत् । परीणत् । वृत्-नीवृत् । उपावृत् । वृपि-प्रावृत् । व्यधि-मर्मवित् । हृदयावित् । श्वावित् । रुचि-अतीरक् । अर्भीरक् । कथं मलरक् । श्वेतरक् ? सम्पदादिक्रिपि न भवतीत्यदोषः । अथवा तिकारकदीप्तमिष्यते । सहि-अलसद् । तुरासद् । तनि-परीतत् । “गमः कौ” [४१४१३१] इत्यत्र “गमादीनां कलमिष्यते” [वा०] । क्वाविति किम् ? उपनहनम् ।

गिरिवने किंशुलुककोटराद्योः खौ ॥४१३१२२०॥ गिरि वन इत्येतयोः परतो यथामखं किंशुलुकादीनां कोटरादीनां च दीर्भवति खौ । गिरौ-किंशुलुकागिरिः । अञ्जनगिरिः । नलागिरिः । वने-कोटरावणम् । मिश्रकावणम् । सिध्रकावणम् । किंशुलुककोटराद्योरिति किम् ? कृष्णगिरिः । मद्रसालवनम् । नन्दनवनम् ।

वले ॥४१३१२२१॥ वले त्ये परतः पूर्वस्य दीर्भवति । आसुतीवलम् । दन्तावलः । मत्वर्थं “रजःकृपा-सुतिपरिषदो बलः” [४११३८] “दन्तशिखात् खौ” [४११३६] इति च वलः ।

मतौ बह्वच्छरादेरनजिरादेः ॥४॥३॥२२२॥ मतौ परतः बहुचः शरादीनां च दीर्भवति अजिरादीन् वर्जयित्वा खौ । उटुम्भरावती । मशकावती । वीरणावती । पुष्करावती । उटुम्भरा अस्मिन् देशे सन्ति “तदस्मिन्न- स्तीति देशः खौ” [३।२।५७] इत्यादि प्राप्ते “नद्यां मतुः” [३।२।६५] इति मतुः । शरादीनां शरावती । वंशावती । [शर ।] वंशः । धूनः । अहिः । कपिः । मणिः । हुनिः । शुनिः । इति एतादृशः । बह्वच्छरादेरिति किम् ? हस्तुवती । मधुवती । “खौ” [५।३।३२] इति मतोर्भवम् । अनजिरादेरिति किम् ? अजिरावती । खदिरावती । अलिनवती । चक्रवाकवती । कारण्डवती । खाविति किम् ? बलयवती ।

इको घहेऽपीलोः ॥४॥३॥२२३॥ इगन्तस्य पीलुवर्जितस्य घहे घौ दीर्भवति । खाविति वर्तते । अपीवहम् । मुनीवहम् । पचाद्यजन्तेन बहुशब्देन वासः । इक इति किम् ? पिसडवहम् । अपोलोरिति किम् ? पीलुवहम् । “अपीस्वादेरिति वक्तव्यम्” [वा०] । दावहम् ।

गेः कासे ॥४॥३॥२२४॥ इक इति वर्तते । इगन्तस्य गेः कासे घौ दीर्भवति । नीकामम् । यीकामम् । अनुकासम् । पचाद्यजन्तस्य कासस्वेदं ग्रहणम् । इक इत्येव । प्रकाशते इति प्रकाशः ।

वस्ति ॥४॥३॥२२५॥ वा इत्येतस्य यस्तकार आदेशस्तदादौ परत इगन्तस्य गेर्दीर्भवति । नीत्तम् । नोत्तम् । परीत्तम् । “गेस्तोऽञ्चः” [५।२।१४६] इत्याकारस्य तकारः । दकारच्चेत्स्वस्य एव दीर्घवचनात्मि- द्भवम् । “गेस्तोऽञ्चः” इत्यत्र द्वितकारको वा निर्देशः इति सर्वादेशः । व इति किम् ? द्वितीर्णम् । तति किम् ? निदत्तमिति वेप्यते । इक इत्येव । प्रत्तम् । आत्तम् ।

घञ्यमनुष्ये प्रायः ॥४॥३॥२२६॥ इक इति निवृत्तम् । घञन्ते घौ गेः प्रायो दीर्भवति अमनुष्येऽभि धेये । अपामार्गः । नीमार्गः । नीकलेदः । प्रावारः । “आच्छादने वृजः” [२।३।५०] इति घञ् । मोवारः । “नी बुधान्वे” [२।३।४४] इति घञ् । प्राकारः कर्मणि । अधिकरणे प्रासादः । अमनुष्य इति किम् ? निपीडित्वत्ति- ज्ञिति निपादः । “हलः” [२।३।१०२] इत्याधिकरणे घञ् । “सदोऽप्रतेः” [५।४।४७] इति प्रत्तम् । प्राय इति किम् ? प्रसदनं प्रसादः । निवेशः । प्रकासः । प्रकरणं प्रकारः । वेशादिपूभयम् । प्रतिवेशः । प्रतीवेशः । प्रतिबोधः । प्रतीबोधः । गेरित्येव । चन्दनसारः ।

खाद्यष्टनः ॥४॥३॥२२७॥ खुविषयेऽष्टनित्येतस्य दीर्भवति घौ । आष्टापदः । आष्टावक्रः । आष्टावन्धनः । आष्टाविष्टपः । खाविति किम् ? आष्टमहाप्रातिहायं जिनः । आष्टगुणः सिद्धः । “अष्टनः कपाले हविषि वक्तव्यम्” [वा०] । अष्टसु कपालेषु संस्कृतमष्टाकपालं हविः । संस्कृतार्थे आगतस्याण्डः “रस्यो- वनपत्थे” [३।१।७४] इत्युप् । “गवे च युक्ते” [वा०] । अष्टाभिर्गोभिर्युक्तम् अष्टागवं शकटम् । युक्त- शब्दस्याप्रयोगः । यथा मीमत्सेनशब्दे सेनशब्दस्य ।

चित्तेः कपि ॥४॥३॥२२८॥ चित्तेर्दीर्भवति कपि परतः । एका चितिरस्य एकचित्तीकः । द्विचित्तीकः । त्रिचित्तीकः ।

विश्वस्य वसुराटोः ॥४॥३॥२२९॥ विश्वस्य दीर्भवति वसु राडित्वेतवोः परतः । विश्वतो वस्वस्य विश्वावसुः । विश्वस्मिन् राक्त इति विश्वाराट् । “सत्सूद्विष” [२।२।५६] आदितूत्रेण कियम् । राडिति विवृत- निर्देशो यत्रास्यैतद्रूपं तत्र यथा स्यादिह मा भूत् । विश्वराजौ । विश्वराजः ।

नरे खौ ॥४॥३॥२३०॥ नरे घौ विश्वस्य दीर्भवति खुविषये विश्वा नरो यस्य विश्वानरः । वसेन यसेन वा व्युत्पत्तिः । खाविति किम् ? विश्वे नरा अस्य विश्वनरो राजा ।

ऋषौ मित्रे ॥४॥३॥२३१॥ ऋषावभिधेये मित्रे घौ विश्वस्य दीर्भवति । विश्वाभिप्रो नाम ऋषिः । ऋषाविति किम् ? विश्वमित्रः सुजनः ।

अन्यस्यापि ॥४।३।२३२॥ अन्यस्यापिशब्दस्य वाक्यगत्यपि दीर्भवति । कस्यान्यस्य ? यस्य शिष्टै-
दीर्घं प्रयुक्तम् । “शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्भवति” । श्वादन्तः । श्वादंष्ट्रः । श्वाकर्णः ।
श्वाकुन्दः । श्वावराहः । श्वापुच्छः । श्वापदम् । श्वावराहमिति द्वन्द्वोऽन्यत्र पमो वमो वा । एकश्च दश
चैकादश । केशाकेशि । केशेषु केशेषु च गृहीत्वेदं युद्धं वृत्तम् । “तत्रेदमिति सरूपे” [१।३।८६] इति वसः ।
“ज इच्” [४।२।१२८] इति इन्सान्तः । तिष्ठद्गवादिषु इजन्तस्य हसंज्ञा । अद्यापि पूरुषः । सादनम् ।
नारकः । न भवत्यपि पुरुषः । सदनम् । नरक इति ।

चि ॥४।३।२३३॥ अण इति श्क इति च निवृत्तम् । च् इति अर्धतर्नश्नकाराकागे गृह्यते ।
तस्मिन् परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति । प्राचः पश्य । प्राचा । प्राचे । दधीचः पश्य । दधीचा । दधीचे । मधूचः
पश्य । मधूचा । मधूचे । कर्तृचा । कर्तृचे । “अचञ्च” [१।१।१२] इत्यचः स्थाने दीर्घम् । दधीच इत्यत्र
यणदेशमन्तरङ्गमपि बाधित्वा “अचः” [४।१।१२५] इत्यकारस्य खं भवत्यस्मादिव वचनान् ।

जेः ॥४।३।२३४॥ जेदीर्भवति खौ । कारीप्रगन्धीपुत्रः । कारीप्रगन्धीपतिः । कौमुदगन्धीपुत्रः ।
कौमुदगन्धीपतिः । करीप्रस्येव गन्धो यस्य करीप्रगन्धिः । तस्यापत्यं खौ । आगतस्याखः “व्योऽञ्च रूपान्त्ययोः”
[३।१।६३] इति प्लादेशः । टापू । “वे व्यस्य पुत्रपर्योर्जिः” [४।३।६] इति जिः । जौ कृते अचाकृते एव
जेदीर्घे । अर्धतर्नकुलसिरेषा तद्वनाशः “इङ्गो गोऽङ्गो” [१।३।१७२] इत्ययं प्रादेशः प्राप्तः । प्रादेशाभावे
पक्षे सावकाशमिदं च दीर्घं प्राप्तम् । परत्वादीत्वं भवति । सकृद्गतन्यायेन पुनः प्रसङ्गान्न प्रादेशः ।

इत्यभयनन्दिबिरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः शब्दः समाप्तः ।

[गोः^१ ॥४।४।१॥ हलः ॥४।४।२॥ नाम्यतिसूचतस् ॥४।४।३॥ नुवा ॥४।४।४॥ लोडः ॥४।४।५॥
घेऽको ॥४।४।६॥ सन्तस्फमहतोः ॥४।४।७॥ स्वस्तनमृनेष्टृत्वष्टतृहोत्पोत्प्रशास्तृत्रयाम्
॥४।४।८॥ इन्तन्पूषार्थस्याम् ॥४।४।९॥]

शौ ॥४।४।१०॥ शौ परत इन् हन् पूषन् अर्यमन् इत्येवमन्तानां दीर्भवति । बहुदण्डौनि । बहुसर्वाणि ।
बहुपूषाणि । बहुर्यमाणि । द्वितीवोऽयं नियमः । शावेवेजादीनां दीर्भवति नान्यत्र । दण्डिडनौ । दण्डिडनः ।
वृत्रहणौ । पूषणौ । अर्यमणौ । तदन्तस्यापि न भवति । परमदण्डिडनौ । बहुदण्डिडनौ । बहुदण्डिडनः ।

सौ ॥४।४।११॥ सौ परत इन्नादीनामुडो दीर्भवति । दम्भी । धाम्नी । तपस्वी । वृत्रहा । पूषा । अर्यमा ।
पूर्वेण नियमेनाप्राप्तविध्यर्थमिदम् । अकाचित्येव । हे दण्डिडन् । हे पूषन् । हे अर्यमन् ।

अत्वसोऽधोः ॥४।४।१२॥ साविति वर्तते । अत्वन्तस्य असन्तस्य च क्विर्जिते सौ परतः उडः
दीर्भवत्यधोः । गोमान् । धनवान् । मुक्तवान् । तत्परिमाणमस्य तावान् । अतोर्थवतोऽनर्थकस्य च ग्रहणम् ।
अन्यथा भवद्ग्रहणं कुर्यात् । असा साहचर्याद्वा । अतो रुडो दीत्ववचनसामर्थ्यादीत्वे कृते नुम् । अस्-
सुग्याः । सुस्रोताः । पिबतेरि चेति स्तुवस्तुडिति स्तोत्तुड् । अधोरिति किम् ? इषुमस्यति इष्यः । दपदमस्यति दपदः ।
यत्रेवमधोरिति किमर्थम् ? अतस् इत्येवं वक्तव्यम् ? न । अन्येषां प्रतिषेधार्थम् । पिएडप्रः । चर्मणः । ज्ञापनार्थं

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुटिता । सूत्राणि तु तैनेन्द्रपञ्चाध्यायीसमुक्त्यात्र
निर्दिष्टानि ।

चास्तौदम् । “अनिनस्मिन्प्रहृष्टान्यर्थवता चानर्थकेन च” [प०] इति । अभोरित्थानन्तर्यादसन्तस्यैव प्रतिपेयः । तेनात्र दीत्वम् । गोमन्तमिच्छति गोमत्यतेः क्तिप् । गोमान् । अकाकित्येव । हे गुणवन् । हे मुपयः ।

उस्य किभ्रतोः क्तिप् ॥४॥४॥१३॥ डान्तस्य गोदृढो दीर्भवति कौ भलादौ च क्तिप् परतः । प्रशान् । प्रतान् । प्रशान्भ्याम् । भ्रलि किम् ? शान्तः । तान्तः । क्तितीति किम् ? संशान्तः । तंतान्तः । यद्गु-
पीदम् । डस्येति किम् ? ओदनपक् । पक्तिः । किभ्रलोरिति किम् ? गम्पते । क्तितीति किम् ? यन्ता । वन्तुः ।

हनिङ्गम्यचां सनि ॥४॥४॥१४॥ हन्तेरिङ्गमेरञ्जन्तानां च दीर्भवति सनि भलादौ परतः । जिवांसति । इङ्गमि-अधिजिगांसते । इङ् इति विशेषणं किम् ? संजिगांसते वत्सो मात्रा । अजन्तानां चिचीपति । मुखपति । चिचीरति । उङ् ईन निवृत्तम् । अचश्चेति हानेङ्गम्योर्थोऽन् तस्य स्थाने दोन्वे कृते द्वित्वम् । गोरित्येव । दधि सनोति ।

तनोतेर्वा ॥४॥४॥१५॥ तनोतेः सनि भलादौ वा दीर्भवति । तितांसति । निनंसति । भलीत्येव । तिन-
निरति । “सनीवन्तश्च” [५॥१॥१७] आदिसूत्रे तनिपतिद्विद्वाम् इङ्धिकल्पः ।

क्रमः क्तिव ॥४॥४॥१६॥ वेति वर्तते । क्रमो वा दीर्भवति भलादौ क्त्वात्ये परतः । कान्त्वा । कन्त्वा ।
अचश्चेत्यस्य एङ्गमागेन विशेषणादचः स्थाने दीत्वम् । “ऊस्य” [४॥४॥१३] इत्यादिना नित्यं प्राप्ते विकल्पः ।
भलीत्येव । क्रमित्वाऽकथ्येत्यत्र “आदेशोऽन्तरङ्गस्यापि विशेषाधिकः” [वा०] इति पूर्वे दीत्वस्याप्रवृत्तिः । अनल्लि-
धाविति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्पश्चादपि भलादित्वं नास्ति ।

झोः शूङ्ङेच ॥४॥४॥१७॥ वेति निवृत्तम् । छकारवकारयोः स्थाने श् ऊट् इत्येतावादेशौ भवतो ड-
मंशके परतः कौ हलादौ च क्तिप् । प्रश्नः । विश्नः । “वाण्याद् गावं वजीयः” [प०] इति छे तुकः परत्वात्नित्यत्वा-
द्वा शादेशः । अपि च विच्छेदेऽतिविधेयार्थं नङो डित्करणं शापकं प्रागेव तुकश्छस्य पश्चादादेशाविति । “प्रश्ने
चान्तर्धुरो” [२॥२॥१७] इति निपातनाजिर्न भवति वकारस्य । स्यो नः । सिवेरीणादिको नः । घेरुड एपः पूर्वमूढा-
देशः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [प०] इत्यनित्यमेतत् । तेन यणदेशः । ऊट् एप् । सिवेरीणादिके मकि स्युमः ।
छस्य कौ धर्मपाद् । गोविट् । वकारस्य कौ हिरण्यधूः । अक्षधूः । अक्षधुवौ । अक्षधुवः । छस्य भलादौ पृष्ठः ।
पृष्ठवान् । पृष्ठः । पृष्ठिः । वकारस्य द्यूतः । द्यूतवान् । क्तितीत्येव शुभ्याम् । शुभिः । अत्र दित्क्युत्पन्नं गृह्यते ।
गनु क्तिप्रहणं नानुवर्त्य “दिव डत्” [४॥३॥१०८] इति ऊट उदादेशे कृते सिद्धम् । एवं च “वश्च” [५॥३॥५३]
आदिसूत्रे छकारग्रहणं न कर्तव्यं स्वात् । न चावश्चमुत्तरार्थं क्तिप्रहणमनुवर्त्यम् । प्रपञ्चार्थस्तर्हि वश्चादौ
छकारः । वश्चादिसूत्रेण यत्र पठ्यं नास्ति तत्र अवश्यायः शकारः । प्रश्नः । वांछेः क्तिपि वान् । वांशौ ।
वांशः । गोविशौ । गोविशः । गोविशा । शकारसाहचर्यादूरप्यादेशः टिड्वा ।

ज्वरज्वरस्त्रिव्यविमथां वोङ्ङोः ॥४॥४॥१८॥ ज्वर त्वर स्त्रिवि अवि मव इत्येतेषां धूनां वकारोङ्ङोः
स्थाने ऊडित्ययमादेशो भवति डे कौ भलादौ च परतः । जूः । जुरै । जुरः । जूर्तिः । त्वरः-तूः । तुरौ । तुरः ।
तूर्तिः । तेन “न वा हव्यमत्वर” [५॥१॥१२८] इत्यादिना अनिट्पन्ने तूर्णः । तूर्णं वान् । अण्डं स्त्रीव्यतीति अण्डसूः ।
अण्डसुवौ । अण्डसुवः । सूत्वा । सूतः । सूतवान् । अवि-ऊः । उवौ । उवः । ऊतिः । मनि वर्तमाने अवेष्टित्वं
चेति मनष्टित्वे छे परत ऊट् च । ओम् । मव-भूः । मुवौ । मुवः । मूतिः । क्तितीति निवृत्तम् । तेन ओतुः ।
“सितनिगमिमध्यविधान्कुसिन्धुस्तुः” [उ० सू०] इति तुः । ज्वरज्वरीनामुङ्ङः वकारस्यानन्त्यस्य च ग्रहणम् ।

रः खम् ॥४॥४॥१९॥ रेफात्परयोः झोः खं भवति कौ भलादौ च परतः । हूर्छा-हूः । हुरौ । हुरः ।
हूर्तिः । हूर्णवान् । मूर्छा-मूः । मुरौ । मुरः । मूर्तिः । “अधूमूर्धिमवान्” [५॥३॥५६] इति नत्वप्रतिषेधात् मूर्तः ।
मूर्तवान् । तुर्वी । तूः । तुरौ । तुरः । तूर्णः । तूर्णवान् । तूर्तिः । धुर्वं । धुः । धुरौ । धुरः । धूर्णः । धूर्तिः ।

शङ्कोर्यमपवादः । द्वितीति निवृत्तम् । यदुपि जोहोति । मोमोति । “न पुखेऽने” [१।१।१८] इति गविष्य एवप्र-
तिषेधो न भवति ।

इटीटः ॥४।४।२०॥ इटि परत इट उत्तरस्य खं भवति । इटोऽनेर्मध्ये सामर्थ्यात्तेः खम् । । अटोवीत् ।
अकोषीत् । अग्रहीदित्यत्र “ग्रहोऽस्त्रिष्टि दीः” [५।१।८५] इति दीत्वे कृते इटः स्थानिवद्भावात्तेः खम् ।

असिद्धवच्चाभात् ॥४।४।२१॥ असिद्धवच्चास्त्वं भवति आ भवंशब्दनात् । अत्र शास्त्रे कर्तव्य
इत्यधिकारो वेदितव्यः । आहमिविधौ द्रष्टव्यः । एषि ह्यत्र नित्यत्वादस्य एवस्वभावयोः कृतयोर्भल्लक्षणं
भित्तमप्राप्तमसिद्धत्वाद्भवति । जहोत्यत्र जादेशो कृते “अतो हेः” [४।४।१६] इत्युप् प्राप्नोति असिद्धत्वान्न भवति ।
गतमित्यत्र द्विती भल्लि ङत्वे कृते अतः खं प्राप्तमसिद्धत्वान्न भवति । एवं यथायोगमुत्तमर्ग-नक्षत्रममावेशः ।
आदेशलक्षप्रतिषेधश्च वेदितव्यः । वक्तरणं किम् ? स्वाश्रयमपि यथा स्वात् । देभतुः । देभुः । दम्भेरुपमं-
ख्यानेन लिटः कित्त्वे कृतेऽनु नखस्व सिद्धत्वात् “हल्मध्ये लिङ्यतः” [४।४।१०८] इत्येत्वं भवति । तथा युगागमे
उवादेशो सिद्धः । नभूव । वभूवतुः । वभूवुः । युडागमः “एर्गिवाच्चादुकोऽमुधियः” [४।४।७८] इति यणादेशे
कर्तव्ये सिद्धः । उपदिदीथे । उपदिदीयेते । उपदिदीथिरे । अदप्रहणं किम् ? अभावि रागः । “उङोऽतः”
[५।२।४] इत्यपि कर्तव्ये नकारस्य खं नासिद्धम् । आभादिति किम् ? ररन्धिव । ररन्धिम । हल्मध्ये लिङ्यत
इति एत्वे कर्तव्ये नुमशास्त्वं नासिद्धम् ।

श्नान्नखम् ॥४।४।२२॥ शनात्परस्य नकारस्य खं भवति । व्यनक्ति । दिनस्ति । सशकाग्न्य ब्रह्मणं
किम् ? नन्दिता । नन्दकः । नैतदस्तिमण्डकस्तुत्या द्विद्वमणानुवृत्तेः । द्वितो नात्परस्य खमिष्टम् । इह तर्हि मा भूत् ।
यज्ञानाम् । यज्ञानाम् “नामि” [४।४।३] इति दीत्यात्परस्येन नखमिदं स्वात् । “सुप्” [५।२।१७] इति तु दीन्यं
सन्निपातपरिभाषया वार्यते । स्थानिवद्भावाद्वा नखं प्राप्नोति । प्रश्नानाम्, विज्ञानाम् इत्यत्र लान्तरिण्यत्वात्
भवति । शनादिति शनमो नाटनकारस्य ब्रह्मणम् । न इति ङसो नाशो अकारेणोच्चारणार्थेन निर्देशः ।

हलुङः कृत्यनिर्दिष्टः ॥४।४।२३॥ हल उङो नकारस्य खं भवन्यनिर्दिष्टो गोः द्विती परतः । स्वस्तः ।
स्वस्यते । ध्वस्तः । ध्वस्यते । स्वस्नाति । सनीस्वस्यते । अश्नाति । बनीभ्रस्यते । हल इति जातिप्रदणमपि ।
मग्नः । मग्नवान् । हल इति किम् ? नीतम् । नेनीयते । उङ इति किम् ? गङ्गम् । गान्धने । द्वितीति किम् ?
संसित्वा । मृडादिनियमादकिच्चम् । अनिर्दिष्ट इति किम् ? शङ्क्यते । मङ्क्यते । तपरकरणं किम् ? समिद्धम् ।
हलुङ इति योगविभागः । तेन “लङ्किकम्भ्योः उपतापशरीरविकारयोर्नखम्” । विलगितः । विकर्षितः ।
विलङ्घितः । विकम्पितः इत्यन्यत्र ।

दंशसंज्ञस्यञ्जां शपि ॥४।४।२४॥ दंश सञ्ज्ञ स्वञ्ज्ञ इत्येतेषां शपि परत उङो नकारस्य खं
भवति । दशति । सजति । परिष्वजते ।

रञ्जे ॥४।४।२५॥ रञ्जश्च शपि परत उङो नकारस्य खं भवति । रजति । रजतः । रजन्ति । योग
विभाग उत्तरार्धः ।

गौ मृगरमणे ॥४।४।२६॥ रञ्जेणौ परतो मृगरमणेऽर्थे नकारस्य खं भवति । रजयति मृगान् व्याधः ।
मृगान् रममाणान् दर्शयतीत्यर्थः । “जनीजृक्नसुरञ्जोऽमन्तारथ” इति मित्वाङुङः प्रादेशः । मृगरमण इति
किम् ? रञ्जयति वज्रम् ।

घञि भावकरणे ॥४।४।२७॥ भावकरणाभिधायिनि घञि परतो रञ्जेनकारस्य खं भवति ।
आश्चर्यो रागः । विचित्रो रागः । करणे रजति तेन रागः । भावकरण इति किम् ? रञ्जयस्मिन्निति रङ्गः ।
करणेऽधिकरणे च “हलः” [२।३।१०२] इति घञ् । विनुणि कथं नखम् । रागी । “बुहानुख” [२।२।११८]

आदि सूत्रे त्यजरादि निपातनास्तिद्वयम् । “दशतहः करणे अट्” इति सूत्रे दशेति विकरणनिर्देशेन निपातनम् । अजादिषु पाठाद् दंष्ट्रेति “रजकरजनरजसु नखे यत्नः क्तव्यः” [वा०] “शिल्पिनि ट्ठुः” । युः । औणादिकश्च “अस् सर्वधुस्यः” इत्यस् ।

स्यदाचोदैघौभप्रअथहिमअथाः ॥४॥४॥२८॥ स्यद, अचोद, एध, ओझन्, प्रअथ, हिमअथ इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । स्यद इति स्वन्देर्धञि नखमैवभावश्च निपात्यते जवेऽभिधेवे । गोत्यदः । अश्वस्यदः । कृद्योगे तासः । जवादन्यत्र तैलस्यन्दो धृतस्यन्दः । अचोद इति उन्देरवपूर्वस्य धञि नखं निपात्यते । एध इत्येर्धञि नख-मेर् च निपात्यते । “न धुखेऽगे” [११११८] इति प्रतिषेधो मा भूत् । ओझ इति उन्देरीणादिके मनि नखम् । प्रअथः हिमअथ इति अन्येः प्रपूर्वस्य हिमपूर्वस्य च धञि नखमैवभावश्च निपात्यते । “न धुखेऽगे” [११११८] इत्यत्र इकोऽनुवर्तनादेपः प्रतिषेधो न स्यात् ।

नाञ्जेः पूजे ॥४॥४॥२९॥ अञ्जतेः पूजेऽर्थे नकारस्व खं न भवति । अञ्जितोऽस्य गुणः । नमज्ज-जिनं गतः । “अञ्जेः पूजायाम्” [५१११०१] इति तत्त्वोक्तिर् । हलुङ् इति नखप्राप्तिः । पूज इति किम् ? उदक्तमुदकं कृषात् । अकृत्वा रज्जुम् । “बोदितः” [५१११०४] इत्यनेनेट्पक्षे मृडादिनियमादिकित्त्वम् । अञ्जित्वा । ते “यस्य” [५१११२१] इति प्रतिषेधः । नाञ्जेऽस्त्यनेनैव प्रतिषेधेन नकारः कृतानुवो निर्दिष्टः ।

क्त्वि स्कन्दस्यन्दोः ॥४॥४॥३०॥ क्तवत्ये परतः स्कन्द स्यन्द इत्येतयोर्नकारस्व खं न भवति । स्कत्वा । स्यन्त्वा । स्यन्देः “स्वरति” [५१११६२] इत्यादिनाऽनिट्पक्षे कित्त्वान्नखं प्राप्तम् । इट्पक्षे तु मृडादिनियमादेवाकित्वे सति नखभावाः सिद्धाः । क्तवीति द्वितकारकनिर्देशः । तत्कारादौ क्त्वाथे इति । तेन प्रस्कथ प्रत्ययेत्यत्र “अनल्लिधौ” [११११५६] इति स्थाभिवद्भावाप्रतिषेधालकारादित्त्वं नास्तीति खं भक्त्येव ।

जनशोर्वा ॥४॥४॥३१॥ ज इति वर्णग्रहणम् । जन्तस्व गोर्नशोश्च वा नखं भवति क्तवत्ये परतः । रक्त्वा । रंक्त्वा । भक्त्वा । भंक्त्वा । नद्धा । नंद्धा । नशो “रधादेः” [५१११६३] इति विभाषितेऽनिट्पक्षे “मस्जिनशोर्भलि” [५१११३६] इति नुम् । “हलुङ्” [४॥४॥२३] इति नित्ये नखे प्राप्ते विकल्पः । हल इति जातिग्रहणपक्षे भक्तेरपि नित्यं नखे प्राप्ते भंक्त्वा । अनखपक्षे द्वयोः स्फुटंशामाश्रित्य एकादिसंखम् ।

भञ्जेर्जौ ॥४॥४॥३२॥ भञ्जेः जौ परतो वा नखं भवति । अभाजि । अभञ्जि पापं मुनिना । नखम-प्राप्तमनेन पक्षे विधीयते ।

शास इन् ॥४॥४॥३३॥ गोखडः क्लृप्तीति वर्तते । शासेखड इदादेशो भवति क्लृप्ति परतः । किति-शिष्टा । शिष्टिः । शिष्टः । शिष्टवान् । शिष्ट्यः । “स्तुशासिण्वृद्धुवः क्यप्” [२१११६९] इति क्यप् । किति-शिष्टः । शिष्ट्यः । “शास्यसघसाम्” [५१११४०] इति पत्यम् । अजादावङ्ग्ये वेति नियमो भविष्यति । सामर्थ्यादयं हलादौ क्लृप्ति विधिः । हलीति यदि क्रियेत “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [प०] इति कौ न स्यात् । मित्रं शास्तीति मित्रशीः । आर्यं शास्तीति आर्यशीरिति । शासु अनुशिष्टावित्त्वस्वेह ग्रहणम् । अन्यस्य दीप्त्यस्य विधेरसम्भवात्तेन आङः शासु इच्छायामित्यभ्येत्यं न भवति । आशास्यते । आशास्ते । “लिङ्गशिषि” [२१११४५] इति निर्देशादन्यत्वापि क्वावित्वम् ।

अङि ॥४॥४॥३४॥ अङि परतः शास उङ् इद्वचति । अन्वशिपत् । अन्वशिपताम् । अन्वशिपन् । नियमार्थोऽयमारम्भः । अजादावङ्ग्येव क्लृप्ति नान्वस्मिन् । शशासुः । शासति । जज्ञादित्वात्थसंज्ञा । “अथात्” [५१११४] इत्यदादेशः ।

शा हौ ॥४॥४॥३५॥ शासः शा इत्ययमादेशो भवति हौ परतः । उङ्मपेक्ष्य पूर्वं शास इदित्यवयव-योगलक्षणा ता । सामर्थ्यात् स्थानलक्षणा संपद्यते । अनुशाधि । प्रशाधि । आहाविति यदि सूत्रं क्रियेत

अनेनान्त्यस्य सम्भवादाकारे कृते पूर्वेषु उड इत्ये चानिष्टं रूपं स्यात् । ननुः आत्मे कृते “धि” [५।३।४३] इति सखे च सिद्धं शास्त्रादि उड इति रार्हि निवृत्तम् । अपि च प्रकृतिग्रहणे यङुचन्तस्यापि सचस्य यथा स्यादित्येवमर्थः शादेशः ।

हन्तेर्जः ॥४।४।३६॥ हन्तेर्ज इत्ययमादेशो भवति द्वौ परतः । जहि मनुम् । जहि पापम् । तिपा निर्देशाद् यङुचन्तनिवृत्तिः । जङ्गहीति ।

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनां क्खं भल्लि क्खिति ॥४।४।३७॥ अनुदात्तोपदेशानां गूनां वनतेस्तनोत्यादीनां च इत्य खं भवति श्लाघौ क्खिति परतः । क्खितीति निर्देशात्पूर्वस्याव्यवहितस्य खम् । यन्वा । यतिः । यतः । यतवान् । इत्ये विहृतनिमित्तत्वात् “इस्य” [४।४।१३] इति दीत्वं न भवति । अनुदात्तोपदेशाः यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतयः पट् । वतिः । वनतेः स्त्रियां तौ । तनोत्यादीनां तत्वा । ततिः । ततः । ततवान् । सनोतेरात्वं वक्ष्यति । क्षतः । क्षतवान् । क्खिति । इतः । इथः । अतः । अतथाः । “तनादिभ्यस्तथासोः” [१।४।१४८] इति सेष्प । एतेषां ग्रहणं किम् ? शान्तः । तान्तः । इत्येति किम् ? पक्वयान् । भल्लीत्येव । गम्यते । क्खितीति किम् ? यन्ता । यन्तुम् । उपदेशग्रहणमुत्तरार्थम् । वनतेस्त्रिया निर्देशाद्यङुचन्तस्य निवृत्तिः । वंवातः ।

शया तिपाऽनुबन्धेन निषिष्टं यद्गद्येन च ।

यच्चैकाग्रहणं किञ्चित्पञ्चतानि न यङ्कुपि ॥

तनोतेर्गणनिर्देशादेव वङ्कुचन्तस्य न भवतीति सिद्धे तिपा निर्देशः “द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति” [५०] इति निर्देशनार्थस्तेन सकृदुक्त ऐप् क्वचिन्न भवति । ज्योतीर्ध्वभिहृत्य कृतो ग्रन्थो ज्येतिरः । पुनः क्खितीति ग्रहणं विस्मयार्थम् ।

प्ये ॥४।४।३८॥ प्ये च परतोऽनुदात्तोपदेशादीनां क्खं भवति । प्रहत्य । प्रमत्य । प्रवत्य । प्रतत्य । प्रसत्य । प्रक्षत्य । अमलादावपि विध्यर्थमिदम् ।

वा मः ॥४।४।३९॥ अनुदात्तोपदेशादिषु मकारान्तानां वा क्खं भवति प्ये परतः । प्रयत्य । प्रयम्य । प्ररत्य । प्ररम्य । प्रखत्य । प्रखम्य । प्रगत्य । प्रगम्य । पूर्वेषु नित्ये खे प्राप्ते विकल्पः ।

न किञ्चि दीक्ष ॥४।४।४०॥ किञ्चि परतः अनुदात्तोपदेशादीनां क्खं दीक्ष न भवति । यन्तिः । रन्तिः । नन्तिः । वन्तिः । तन्तिः । क्षन्तिः । अनुदात्तोपदेशादीनामित्येव । शान्तिः । दीत्वं भवायेव ।

गमः क्वौ ॥४।४।४१॥ गमः क्वौ परतो इत्य खं भवति । जनगत् । कलिगत् । मोक्षगतो मुनयः । “वर्णाश्रये नास्ति त्याग्यम्” [५०] इति भलाश्रमावादाप्राप्तं क्खमनेन विधीयते । पूर्वसूत्राश्रयकारोऽनुवर्तते, सोऽत्रानुक्तसमुच्चयार्थः । तेन गमादीनां क्वौ क्खं द्रष्टव्यम् । संयत् । परीतत् । “वागमिङ्” [१।३।८२] इति प्ले कृते “नहिबुद्धि” [४।३।२१६] इत्यादिना परेदीत्वम् ।

वन्त्याः ॥४।४।४२॥ अनुदात्तोपदेशादि निवृत्तम् । इत्येति वर्तते । कान्तस्य गोर्धनि परत आत्वं भवति । विजायत इति विजावा । “मन्थन्कनिव्विचः क्वचित्” [२।२।६२] इति वन् । “वशि” [५।१।११४] इतीट्प्रतिषेधः । अन्तेऽलः स्थाने आत्वम् । एवम् अग्रेमावा । वधिकावा । दीत्वोच्चारणं किमर्थम् ? ओण आपनयन इत्यस्माद्वनि अवात्र । घुण घूर्ण भ्रमणे । व्यावा । इवि व्याप्तौ—यावा । “इदिदोर्नुम्” [५।१।३७] “वलि ङ्योः खम्” [४।३।५५] इति वनि परतो नकारस्य खम् । एतच्च वर्णनिमित्तं नागानिमित्तमिति न धत्तेऽन्वात् “व्युङ्” [५।२।८३] इत्येप् प्राप्तस्तन्तरङ्गत्वस्यादेशो बाधते ।

जनसनखनाम् ॥४१४४३॥ जन सन खन इत्येतेषां ङस्य भलादौ क्किति परत आकारादेशो भवति । जातः । जातवान् । जातिः । सातः । सातवान् । सातिः । खातः । खातवान् । खातिः । सनोतेस्तनादौ पाठस्य “तनादिभ्यस्तथासोः” [११४१४८] इत्यादिकार्यसमवकाशः । इह पठ्यम् च सति एवम् आन्त्यपक्षकाः । भलादौ क्किति ङखादित्वं परत्वात् । ननुभयोः सिद्धत्वे स्पर्धः इह च “असिद्धसदग्राभान्” [४१४१२१] इत्युभयमप्यसिद्धं तत्कथं परत्वम् । अत्रोच्यते “सुमास्यागा” [४१४१६५] आदिसूत्रे हलीति हल्प्रहणं शापकं भवत्यत्र स्पर्धः । तथाहि तत्स्यैतद्वयोजनं हलादादीत्वं यथा स्यात् । अजादौ मा भूत् । गोदः कम्बलदः इति । अस्त्ववापीत्वं तस्यासिद्धत्वात् “इटि चात्” [४१४१६३] खेन सेत्स्यति नार्थं हल्प्रहणेन । तदेतत्स्पर्धे सति सार्थकम् । क्रियमाणे हल्प्रहणे गोद इत्यत्र परत्वादीत्वे “सकृद्गते परनिर्णये विधिर्वाधितो बाधित एव” [५०] इत्याख्यं न त्यादिति मन्यमानो हलीत्याह ।

सनि ॥४१४४४॥ सनि च भलादौ परतो जनादीनां ङस्य आकारादेशो भवति । सिसायति । भलित्वेव । जिजनिषते । सिसनिषति । चिखनिषति । “सर्त्तवन्तर्ध” [५१११६७] इत्यादिनाऽनित्यत्वं सनोतेरेव सन् भलादिः सम्भवति । क्किद्प्रहणंमसम्भवादिह न संवध्यते ।

ये च ॥४१४४५॥ क्कित्तीति वर्तते । क्किति यकारे ल्ये परतो वा जनादीनामाकारादेशो भवति । जायते । जन्यते । जाजायते । जज्जन्यते । श्ये परत्वाद् “ज्ञानोर्जा” [५१२१७७] इति नित्यो जादेशः । सायते । सन्यते । मासायते । संग्न्यते । लायते । खन्यते । चाखायते । चंखन्यते । अभलादावपि यथा स्वादित्त्वारम्भः । क्कित्तीत्येव । जन्यम् । “शकिसहश्च” [२११८६] इति चशब्देनान्येभ्योऽपि यः । श्ये च मान्यम् । खान्यम् । य इति त्यनिर्देशो न वर्णनिर्देशः । तेनेह न भवति सन्यात् । खन्यात् । “किदाशिपि” [२१४८५] इति कित्त्वम् ।

तनोतेर्यकि ॥४१४४६॥ तनोतेर्यकि परतो वा आकारादेशो भवति । तायते । तन्वते । यकीति किम् ? तन्तव्यते । अप्राप्ते विकल्पः ।

सनः क्चित्ति खं च ॥४१४४७॥ सनः क्चित्ति परतः खं भवत्याकारश्च वा । सतिः । मातिः । सन्तिः । “न क्चित्ति दीश्च” [४१४४४०] इति ङखदीत्वयोः प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ।

अगे ॥४१४४८॥ वेति निवृत्तम् । अग इत्ययमधिकारो वेदितव्यः । “लुङ्लङ् लृङ् लृङ्” [४१४१७०] इत्यतः प्राक् यदनुक्रमिष्यामः अग इत्येवं तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति “अतः खम्” [४१४१५०] चिकीर्षिता । अग इति किम् ? चिकीर्षति । ननु भवेत्तु गेप्यतः खम् । शपोऽकारस्य श्रवणं भविष्यति । एवं तर्हि शपोऽकारस्यैव गे खं माभूत् । ननु “शपोऽदादिभ्यः” [११४१४३] इत्युल्लेखनं शापकम् । शपो गे खं न भवति । नैतदस्ति “नोमता गोः” [१११६४] इति त्याश्रयकार्यप्रतिषेधार्थं ता स्यात् । मृष्ट इति । “हल्यैवुप्युतः” [५१२८७] इत्येषो विधानार्थं च । वौति । रौति । तत्वलोश्च खं मा भूत् । वृद्धतेति । “हलो यः” [४१४१५१] वेभिदिता । वेभिदितुम् । गे माभूत् । वेभिद्यते । “शेः” [४१४१५३] कारणा । हारणा । अग इति किम् ? कारयति । हारयति । “सिस्वसीयुत्तासौ ङौ ग्रहाज्जनदशां जिवदिद् च” [४१४१६१] इति अगे सीयुद् । कारिणीश्च । गे मा भूत् । प्रस्तुवीत् । “सोश्च जिश्च” [२११५६] इति यक् प्रतिपिष्यते । इह च क्रियेत द्वियेत । “मिण्यच्चः” [५१२१३] इति यक् ऐपि युक् प्रसज्येत । “इटि चात्खम्” [४१४१६३] पपतुः । पपुः । ययतुः । ययुः । गे मा भूत् । पान्ति । वान्ति । “सुमास्यागाप” [४१४१६५] इत्यादिनेत्वम् । दीप्यते धीयते । गे मा भूत् । अदाताम् । अधाताम् । “जिङ्ग्येत्” [४१४१६६] देयात् । गे मा भूत् । द्यात् । द्यात् । “वाऽस्थः स्फादेः” [४१४१६७] ग्लेयान् । ग्लेयात् । अग इत्येव । विध्यादिलिङि-स्तथात् ।

अस्जोरसोरम्वा ॥४१४४६॥ अस्जो रेफसकारयोर्वा रमादेशो भवति । भर्षा । भ्रष्टा । भर्षुम् । भ्रष्टुम् । भर्षव्यम् । भ्रष्टव्यम् । रसोरिति पुनस्ताया उपादानादादेशोऽयं रसोः स्थाने भवति मित्रोच्चारणसामर्थ्यादसोऽन्त्यात्सरो भवति । रमभावपक्षे स्फादेः सत्वम् । ननु रेफस्यैव रमादेशो वक्तव्यः । द्वयोः स्फसंशमाश्रित्य सत्वेन सिद्धमिति चेदजादौ न सिध्यति । भर्जनम् । भ्रजनम् । भर्गः । भ्रगः । पक्षे “भलां जश् कशि” [५१११२८] इति सकारस्य दत्वम् । रमादेशस्यावकाशोऽङ्किति भ्रष्टा । भर्षा । जैरवकाशो भृजति । इहोभयं प्राप्नोति भृष्टा । भृष्टवानिति । कृताकृतप्रसङ्गिन्नेन नित्यो जिर्भवति । जौ कृते रमादेशो न भवति । उपदेश इत्यनुवर्तनात् । तेनेहापि न भवति वरीभृज्यते ।

अतः खम् ॥४१४५०॥ अगेऽकारान्तस्य खं भवति । चिकीर्षिता । धिनोति । धिनुतः । कुणोति । कुणुतः । इवि दिवि धिवि प्रीणने । कुवि हिंसाकरणयोश्च । “इदिङोर्नुम्” [५११३७] । “धिन्विकुण्वोर च” [२११७५] इति उविकरणः । अकारश्चान्तादेशः । तस्य खे । तपरकरणं किम् ? याता । ऐपोऽवकाशः प्रियमाचष्टे प्रापयति । कारयति । अत्वस्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभयं प्राप्नोति चिकीर्षक इति । दीप्त्यस्यावकाशः परिहृतायते । स्तूयते । अत्वस्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभयं प्राप्नोति चिकीर्ष्यते इति । किमत्र तत्त्वम् ? “पेन्द्रीवाभ्यासमतः खं पूर्वनिर्णयेन” [वा०] “लिप्स्यसिद्धौ” [२११५] इत्यत्र लिप्स्य इति विग्रहनिर्देशात् ।

हलो यः ॥४१४५१॥ हलन्तादगोस्तमस्य यकारस्य खं भवत्यगो । वेभिदिता । वेभिदितुम् । वेभिदितव्यम् । पूर्वैणातः खे कृते ययविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादनेन यत्रम् । तृचमपेक्ष्य “व्युङ्” [५१२३३] एयातोऽतः खस्य स्थानिवद्भावान्न भवति । “न धुखेजो” [११११८] इत्ययं तु प्रतिषेधो हलचोः खे अल्मात्रस्य खे न प्रवर्तते । लोलुबः । देयः इति । अत्र “यङोऽचि” [११११४४] इत्युच्छ्वासं कृतप्रसङ्गेन नित्यम् । अपि तु कृतेऽतः खं शास्त्रं न प्रवर्तते इत्यनित्यम् । तेन हलचोरपि कृते स्थानिवद्भावभावात् “न धुखेजो” [११११८] इत्यनेन प्रतिषेधः । हल इति किम् ? लोलूयिता । पोषूयिता । गोर्निमित्तत्वेन विशेषणादिह न भवति । ईर्ष्यिता । समिष्यिता । अतः खे कृतेऽपि यकारमात्रस्य त्यस्य गुसंज्ञानिमित्तत्वमस्ति यथा अकरोदित्वत्र लिप इकाराभावेऽपि ।

वा क्यस्य ॥४१४५२॥ क्यस्य हल उत्तरस्य वा खं भवत्यगो । समिधिता । समिधिता । दग्धिता । दग्धिता । समिधमिच्छति आत्मनः “स्वेपः क्यच्” [२११६] समिधमिवाचरति “गौशादाचारे” [२११८] इति वा क्यच् । समिदिवाचरतीति “कर्तुः क्यङ् स खं विभाषा” [२११६] इति क्यङ् । तान्येवोदाहरणानि । हलन्तात् क्यखोऽसम्भवः । “नः क्ये” [११२१०४] इति पूर्वपदत्वाभावः ।

शेः ॥४१४५३॥ अगे शेः खं भवति । अततदात् । इयादेशः प्रातः । आटिटन् । इयादेशापवादः “एर्गिवाक् चातुङोऽनुधियः” [४१४७८] इति क्वं प्राप्तम् । कारण । हारणा । ऐप् प्रातः । शीप्स्यति गनि दीत्वं प्राप्तम् । कार्यते । हार्यते “दीरकृद्गो” [५१२१३४] इति दीत्वं प्राप्तम् । कारको हारकः । ऐप् प्रातः । णिङ् कामनम् । कामकः । काम्यते । इयादिभिः सर्वस्य विषयस्यावष्टब्धत्वात्तान्मान्यरूपेण तेषामयमपवादः ।

ते सेटि ॥४१४५४॥ तसंज्ञके सेटि परतो शेः खं भवति । कारितम् । गणितम् । लक्षितम् । संज्ञपितः । श्रुतेः सनि विकल्पितेऽपि “यस्य वा” [५१११२१] इत्यनेन प्रतिषेधः । एकाच इत्यपेक्षणात् । कथं तर्हि विज्ञप्तः प्रचुरिति विकल्पेन “छन्नज्ञाः” [५१११२४] इति निपातनात् । नियमार्थोऽयमारम्भः । त एव सेटि नान्यस्मिन् । कारयिता । हारयिता । ते सेट्ये केयवधारणं न भवति शेः परस्यानित्यत्वात् । व्यावर्त्यस्याभावात् । सेटीति ध्वननात्पूर्वमिडागमः पश्चाद्विणुत्तम् । अन्यथा कृताकृतप्रसङ्गेन नित्ये णिखे कृते “एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्” [५०] कारितमित्यत्र “एकाचोऽनुवात्तात्” [५११११५] इतीदमिति प्रतिषेधः प्रसज्येत ।

अयामन्तत्वाय्येऽनुषु ॥४१४५५॥ शेरयादेशो भवति आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इत्येतेषु परतः । आम् । कारयांचकार । अन्त । गदयन्तः । मण्डयन्तः । “द्विषिभ्यां ऋः” [३० सू०] । “गदिमदिमण्डलिनलिभ्यश्च” [३० सू०] इति ऋः । आलुः । स्तृह्यालुः । आय्यः । स्तृह्याय्यः । “महिषूष-
किस्सृहिभ्य आय्यः” [३० सू०] इत्याय्यः । इत्नुः । स्तनांकनुः । गदयितुः । “स्तनिहृदियुपिगदिमदि-
भ्यो ऐरितुः” [३० सू०] । णिस्सत्यायमपवादः । नेति सिद्धेऽप्यादेश उत्तरार्थः ।

प्ये घिपूर्वात् ॥४१४५६॥ प्ये परतो घिपूर्वाद्धर्णात्परस्व शेरयादेशो भवति । प्रथमप्य । प्रथमप्य ।
ल्यणं कृतवान् प्रलक्षणप्य । प्रस्तनप्य । यङन्ताणिणचि प्रवेविदप्य गतः । ननु प्रादेशटिळात्प्रलक्षणाभावात्
सत्त्वादसिद्धत्वे कथं घिपूर्वाद्धर्णात्परतो णिः । व्याभयत्वात्सिद्धत्वम् । प्रादेशादयो सौ प्ये परतो शेरयादेश इति
वचनाद्वा सिद्धत्वम् । घिपूर्वादिमिति किम् ? प्रहास्य प्रचिकीर्ष्य गतः ।

वाऽऽपः ॥४१४५७॥ आपः परस्य शेः प्ये परतो वाऽप्यादेशो भवति । प्रापय्य प्राप्य गता । स्वादिकस्य
चौरादिकस्य चापेर्ग्रहणम् । सूत्रमप्याप्य गतः इत्यत्र लान्ताणिकत्वाच्च भवति । अपजवस्ते प्रापय्य गतः इत्यत्रैका
देशस्यासिद्धत्वादप्येव भवति ।

क्षियो दीः ॥४१४५८॥ क्षियो दीर्भवति प्ये परतः । आक्षीय । तुकि प्राप्ते दीत्वम् ।

तेऽग्ये ॥४१४५९॥ अण्यार्थे विहिते ते परतः क्षियो दीर्भवति । कः पुनर्यार्थो यः पर्युदस्यते । भावकर्मणो
“तयोर्ष्यक्तत्वायः” [२१४५५] इति वचनात् आक्षीणः । परिक्षीणः । “धिगत्वार्थाच्च” [२१४५८] इति कर्तरि
क्तः । दीत्वे कृते क्षीत इति तत्त्व नत्वम् । इदम् क्षीणं सार्थस्य । क्षीक्तेऽस्मिन्निति “अधिकरण्ये चाण्यार्थाच्च”
[२१४५९] इत्यधिकरणे क्तः । “क्तत्वाधिकरण्ये” [११४७०] इति कर्तरि ना । अप्य इति किम् ? आक्षितमस्य ।
भावे दीत्वामावाजत्वं नास्ति । समो क्षियः सकर्मकत्वे कर्मण्यपि ।

या दैन्याक्रोशे ॥४१४६०॥ अण्यार्थे ते परतो दैन्ये आक्रोशे च गम्ये क्षियो वा दीर्भवति । दैन्ये
क्षितोऽयं क्षीणोऽयं वराकः । आक्रोशे क्षितोऽसि क्षीणोऽसि जाल्म । क्षितायुः । क्षीणायुः । कर्तरि क्तः । अस्य
इत्येव । श्रितं वराकस्य । क्षितं जाल्मस्य ।

सिस्वसीयुट्तासौ ऊौ अहाजभन्द्दशां शिवदिट् च ॥४१४६१॥ सि स्व सीयुट् तासि इत्येतेषु
परतो ङावर्त्ये ग्रहेरजन्तानां हनि दृशि इत्येतवोश्च वा शिवत्कार्यं भवति । यदा शिवद्भावस्तदा इडागमश्च
भवति स्यसिचसीयुट्तासीनाम् । अहाहिषाताम् । अग्रहीषाताम् । “ग्रहोऽङ्गिति दीः” [५११८५]
इत्यत्र प्रकृतस्येते दीत्वम् । ग्राहिष्यते । ग्रहीष्यते । ग्राहिषीष्ट । ग्रहीषीष्ट । ग्राहिता । ग्रहीता । इटो दीत्वाभाव
रेषू च प्रयोजनम् । अजन्तानाम्—अचाविषाताम् । अचेपाताम् । अग्लायिषाताम् । अग्लायिषाताम् । अका-
रिषाताम् । अकृषाताम् । “ङः” [१११८६] इति सेः क्त्विम् । चायिष्यते । चेय्यते । ग्लायिष्यते ।
ग्लाय्यते । कारिष्यते । करिष्यते । चायिषीष्ट । चेयिषीष्ट । ग्लायिषीष्ट । ग्लायिषीष्ट । कारिषीष्ट । कृषीष्ट ।
“ङः” [१११८६] इति लिङः क्त्वं च । चायिता । चेता । ग्लायिता । ग्लायिता । कारिता । कर्ता ।
अनुदात्तादिङागमः । आतो युक्च प्रयोजनम् । अवानिषाताम् । अहसाताम् । अशिवद्भावे “वेङ्गि” [११११९६]
इति वधादेश उदात्तः । अवधिषाताम् । वानिष्यते । हनिष्यते । वानिषीष्ट । वधिषीष्ट । परत्वात् शिवद्भावे
कृते “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] इति वधादेशो न भवति । यत्वं च प्रयोजनम् ।
अदर्शिषाताम् । अदृक्ताताम् । “सि लिङ्दे” [१११८५] इति क्त्विम् । दर्शिष्यते । दृश्यते । “क्त्वङ्गिति
सृजत्थोऽम्” [४१३५१] इत्यमागमः । दर्शिषीष्ट । दृषीष्ट । दर्शिता । द्रष्टा । सिस्वसीयुट्तासाङ्गिति किम् ?
दातव्यम् । दानम् । ङाङ्गिति किम् ? लविष्यति । दास्यति । अहाजभन्द्दशामिति किम् ? पश्यत ओदनम् ।
उपदेश इत्यनुवर्तनात् कारिष्यत इत्यत्र परत्वादेपि कृतेऽपि शिवद्भावः । रामयतैरजन्तस्य शिवद्भावपक्षे

“जिह्वांशमिताम्” [४।४।८६] इति वा दोत्ये कृते द्वे रूपे शामिष्यते । शमिष्यते । नित्यत्वाद्वलाद्यस्यैव बाधित्वा जिह्वादिद् । तस्यासिद्धत्वाणिश्वम् । अन्यत्र शमयिष्यते । जी दृष्टं कार्यं सामान्येनातिदिश्यते । तेन चानिष्यते । अयिष्यते । अय्यापिष्यते इत्यत्र हनिषिङ्गो विवक्षाये वधाद्य आदेशाः लुङि विहितान् न भवन्ति ।

दीङोऽधि क्किति युट् ॥४।४।६२॥ दीङोऽजादौ क्किति परतो युडागमो भवति । उपदिदीये । उपदिदीयाते । उपदिदीयिरे । दीङ् इति कानिदेशोऽचीत्यस्योत्तरत्र सावकाशस्य तां कल्पयति । वचनाश्रुतः सिद्धत्वात् “पुगिवावचाङ्गोऽनुधिपः” [४।४।७८] इति यणादेशो न भवति । अतीति किम् ? उपदीयते । क्कितोति किम् ? उपादानम् । “गागयोः” [५।२।८१] इत्येप् । “मिष्मीन्दीङोऽप्ये च” [४।३।४३] इत्यात्वम् । यङुयन्तादामा भवितव्यमित्यनुबन्धनिर्देशो विस्पष्टार्थः । पूर्वान्तकरणे उपदिदीविष्ये इत्यत्र इणन्तादुरोक्तस्य दत्वं प्रसज्येत ।

इटि चात्वम् ॥४।४।६३॥ इटि अजादौ च क्किति परत आकारान्तस्य गोः स्त्रं भवति । पपिथ । जग्लिथ । “वोषदेश” [५।१।१०८] इत्यादिनेट् । पपतुः । पपुः । तस्थतुः । तस्थुः । गोदः । कम्बलदः । क्किति-प्रपा । संस्था । अचोत्येव । दासीय । ग्लायते । “स्त्रज्जेटः” [२।४।८६] इतीटोऽकारादेशः । अग इत्येप । यान्ति । व्यत्यस्ते । इटीति यद्यविशेषणग्रहणं तदा मेऽप्यातः स्त्रेन भवितव्यम् । व्यत्यस्तोति । एतच्च अगाधिकादेण विवक्षामिव लक्ष्यते ।

ईङो ॥४।४।६४॥ आकारान्तस्य गोरीकारादेशो भवति ये परतः । देयम् । प्रेयम् । ग्लेयम् । “गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०] इति अनित्यमेतत् । “देयसृष्टे” [३।३।२२] इत्येषो निर्देशात् । यत्रेप् क्रियते दीत्वोच्चारणं किमर्थम् ? पीतम् । हीनम् । य इति “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [५०] । ग्लायते । स्लायते ।

भुमास्थामापाहावसां हलि ॥४।४।६५॥ क्कितोति वर्तते । भु मा स्था गा पा हाक् सा इत्येतेषामेकारादेशो भवति हलादौ क्किति परतः । भुसंज्ञानाम् । दीयते । देदीयते । धीयते । देधीयते । पीनं बत्सेन । मा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । “गामादाग्रहणेऽन्विशेषः” [५०] इति । मीयते । स्था-स्थीयते । तेष्टीयते । गा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । मीयते । जेगीयते । अव्यगीष्ट । “लुङ् लुङोर्वा” [१।४।१२२] इति ईङो गादेशः । पा इत्यनुबन्धकरणपिधतेर्ग्रहणम् । पीयते । पेपीयते । पातेस्तु पायते । पानम् । हाक्-अवहीयते । अवजेहीयते । जिहीतेस्तु हायते । हातम् । सा-अवसीयते । अवसेपीयते । हलीति किम् ? ददतुः । ददुः । क्कितोत्येव । दाता ।

लिङ्येत् ॥४।४।६६॥ लिङि परतो भुमादीनामेकारादेशो भवति । देवात् । घेयात् । मेयात् । स्थेयात् । गेयात् । पेयात् । अवहेयात् । अवसेयात् । क्कितोत्येव । दासीष्ट ।

वाऽस्थः स्फादेः ॥४।४।६७॥ आकारान्तस्य स्फादेः स्थावर्जितस्य गोरेकारादेशो भवति वा लिङि परतः । ग्लेयात् । ग्लयात् । स्लेयात् । ग्लयात् । अस्थ इति किम् ? स्थेयात् । अन्यथोभयप्राप्तौ परत्वादेतेन विकल्पः स्यात् । स्फादेरिति किम् ? वायात् । क्कितोत्येव । ग्लासीष्ट । गोरित्येव । निर्यायात् ।

न प्ये ॥४।४।६८॥ वेति नाधिकृतमुत्तरत्र वाग्रहणात् । प्ये परतो भुमादीनां यदुक्तं तत्र भवति । प्रदाय । प्रधाय । प्रमाय । प्रगाय । प्रस्थाप । प्रपाय । अवहाय । अवसाय । ईत्वप्रतिषेधोऽयम् । वचनात् “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते” [५०] इति शपितम् । तेन “दो दङ्गोः” [५।२।१४८] इति दङ्गावः । दधातेर्हि-आदेशः । “हाकः क्त्व” [५।२।१४७] । मास्थास्यतीनामित्येव च न भवति । प्यादेशो कृतेऽनल्लिख्यविति स्थानिवद्भावाप्रतिषेधात्प्राप्तिः ।

वेमेङ्कः ॥४१४६६॥ मेङ्कः ष्वे परतो वा इकारादेशो भवति । अपमित्य । अपमाय । “माहो व्यतीहारे” [२।४।५] इति क्त्वा ।

लुङ्लङ्लङ्यट् ॥४१४७०॥ लुङि लङि लृङि च परतो गोरडागमो भवति । अकार्षीत् । अकरोत् । अकरिष्यत् । ऐक्षिष्ट । औम्भोत् । ऐक्षत । औम्भत् । ऐक्षिष्यत् । औम्भिष्यत् “अटश्च [२।३।७८] इत्यैर् । आसन् आयन् इत्यत्र लावस्थाग्रामडागमेऽन्तरङ्गत्वादैन्यावादेशो च कृतैऽत इत्यनुवृत्तेः “शनसः खम्” [४।४।१०१] यणादेशश्च न भवतः ।

न माङ्योगे ॥४१४७१॥ माङ्योगेऽडागमो न भवति । मा कर्षीत् । मास्म करोत् । मानिरसीत् । मास्म निरस्ताम् । योगग्रहणं किम् ? मा भवान् कर्षीत् । इदमेव ज्ञापकं “माङि लुङ्” [२।३।१५१] इत्यत्र माङ्योगे लुङ् दृष्टव्यः ।

शुभुभ्रुवां ष्वेऽच्युयौ ॥४१४७२॥ शुभु भ्रुः अ इत्येतेषां गूतमिवर्णोवर्णयोरजादौ परत इष् उव् इत्यादेशौ भवतः । श्नु । प्राप्नुवन्ति । राप्नुवन्ति । भु-चिश्चियतुः । चिश्चियुः । लुलुवतुः । लुलुवुः । नियौ । नियः । लुवौ । लुवः । भ्रू । भ्रुवौ । भ्रुवः । निर्दिश्यमानयोरिवर्णोवर्णयोरादेशः । यथा “पादः पङ्” [४।४।११६] इति पाञ्चदस्य पदादेशो न पादन्तस्य । नवति । भवति । नायकः । भावकः इत्यत्र परत्वादेशैरौ । अचीतीमिर्देशाद् व्यवधाने न भवति । विविदतुः । विविदुः । गोरित्येव । स्त्र्यर्थम् । भ्रूवर्थम् ।

चस्याऽस्वे ॥४१४७३॥ चस्येवर्णोवर्णयोरस्वेऽचि परत इयुवौ भवनः । इयेष । इर्यति । पूर्वङ्ग गुणिभिस्तेऽचि आदेश उक्त इति न प्राप्नोति । अस्व इति किम् ? ईपतुः । ईपुः । ऊपतुः । ऊपुः । अचीत्येव । इषाज । उवाच ।

स्त्रियाः ॥४१४७४॥ स्त्रियाश्च इवादेशो भवति अचि परतः । स्त्रिया । स्त्रियः । परमस्त्रियौ । परमस्त्रियः । अलैवानर्थकेन तदन्तविधिः नास्तिधातेन । तेन शस्त्रीशब्दस्य न भवति । स्त्रीणामित्यत्र परत्वान्नुट् । पृथक्करणमुत्तरार्थम् ।

वाग्शसोः ॥४१४७५॥ अग्शसोः परतः स्त्रिया वा इवादेशो भवति । स्त्रियं पश्य । स्त्री पश्य । स्त्रियः पश्य । स्त्रीः पश्य ।

औतः ॥४१४७६॥ आकारादेशो भवति औतोऽम्शसोः परतः । वेति न स्वरिति गां गाः पश्य । गां गाः पश्य च गोशब्दस्य अमि ऐपः पूर्वनिर्णयेनात्वम् । चित्रगुं पश्येत्प्राप्तान्तरङ्गत्वात्प्रादेशो सत्यात्प्राभावः । शमा सदृचरितस्यामो ग्रहणादिह न भवति । अचिनवम् । असुनवम् ।

यणेत्योः ॥४१४७७॥ यणादेशो भवति एत्योश्च परतः । यन्ति । यन्तु । अधियन्ति । अधियन्तु । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [प०] इतीयादेशस्य बाधा नत्वेवैषोः । अयनम् । आयुवः ।

गिवाक्चादुङोऽसुधियः ॥४१४७८॥ गिवाक्चात्परो य उङ् तस्मादुत्तरस्य इवर्णस्य यणादेशो भवत्यचि परतः सुधीशब्दं कर्जयित्वा । गिः-उन्त्यौ । उन्त्यः । परिण्यौ । परिण्यः । वाचः-ग्रामण्यौ । ग्रामण्यः । सेनाण्यौ । सेनाण्यः । चात्-चिच्यतुः । चिच्युः । निन्वतुः । निन्वुः । गिवाक्चादिति किम् ? नियौ । नियः । परमनियौ । परमनियः । उङ् इति किम् ? यवक्रियौ । यवक्रियः । उङ्च गिवाक्चात्परो न भवति । ककारेण व्यवधानात् । असुधिय इति किम् ? सुधियौ । सुधियः । “ध्याप्योर्जिश्च” [उ०सू०] इति क्तिप् जित्वं च ।

सुप्योः ॥४१४७९॥ अजादौ सुपि परतो गिवाक्चात्पूर्वादुङः परस्य उवर्णस्य यणादेशो भवति । सुत्वौ । सुत्वः । सकृत्त्वौ । सकृत्त्वः । खलत्वौ । खलत्वः । शतत्वौ । शतत्वः । सुपीति किम् ? लुलुवतुः । एतदर्थं च योगान्तरम् । गिवाक्चादित्येव । सुवौ । सुवः । लुवौ । लुवः । परमलुवः । उङ् इत्येव कट्प्रुवौ । कट्प्रुवः ।

हन्कारापुनर्वर्षाभ्यो भुवः ॥ ४।४।८०॥ हन् कारा पुनर् वर्षा इत्येतेभ्य उत्तरस्य भुवो यणादेशो भवत्यचि सुप्ति परतः । हन्भ्यौ । हन्स्वः । काराभ्यौ । काराभ्यः । पुनर्भ्यौ । पुनर्भ्यः । वर्षाभ्यौ । वर्षाभ्यः । नियमायोऽवमारभ्यः । एतेभ्यः एत्र भुवो यण् नान्यस्मात् । प्रतिभुवौ । प्रतिभुवः । स्वयम्भुवौ । स्वयम्भुवः । मित्रभुवौ । मित्रभुवः । “भुवः ख्यन्तरे” [२।२।१५२] इति क्तिप् ।

लुङ्लिटोरिक् ॥४॥४॥ सुवो दुगागमो भवति लुङ्लिटोरिक् पतः । अभूवन् । अभूवन् ।
 “स्थेष्टिष्व” [१४१४६] इत्यादिना सेरुप् । मिपोऽमादेशे “सुभ्रवस्योर्मिङ्” [५२१८६] इत्येपि प्रति-
 षिद्धे वृक् । लिटि—अभूव । अभूविथ । अभूवतुः । अभूवुः । णलि थे च पूर्वविप्रतिपेधेनैवोर्तुका शधा । लुङ्-
 लिटोरिति किम् ? व्यतिभविषीष्ट । ओरित्यनुवर्तते तेन यङ्बन्तस्य परत्वादेऽपि कृते न भवति । अगोभ्रवम् ।

हुश्नुवोर्गे वः ॥४१॥ हुश्नु इत्येतयोस्कारस्य वकारादेशो भवन्वजादी मे परतः । जुह्वति । जुह्वतु । चिन्वन्ति । “अहाभक्तशाम्” [४१॥६३] इत्यतो मण्डूकगत्याऽज्यहणमनुवर्तते । तेनाथ उत्तमस्य शनोर्वक्तृदेशः । इह मा भूत्-अनुवन्ति । सञ्जुवन्ति । हुश्नुवोपिति किम् ? श्येयुवति । गेरुवति । वानिग्यनुवर्तनात्प्रसज्येत । ग इति किम् ? जुह्वतुः । जुह्वुः । जुह्वानि चिन्वानीत्यत्र परत्वादेप् ।

गोहेरूढः ॥४॥४॥८३॥ गोह उङ् ऊकारादेशो भयत्यञ्चि परतः । निगूह्यति । निगूहकः । गधु निगूही । निगूहस्ति । निगूहम् । निगूहो वर्तते । गोहेरित्येवं कृत्वा विकृतनिर्देशः किम् ? यत्रास्मैतद्वयं न च यथा स्यादिह माभूत् । निजुगुष्टुः । निजुगुहुः । उङ् इति किम् ? अस्त्यस्य मा भूत् । प्रकृतिग्रहणे षड्बन्तस्य षञ्चि जोगूह इत्यत्र चस्य च मा भूत् । ओरित्यनुवृत्तेः तद्विकारस्य चस्यापि प्रसज्येत । अचोन्वेन । निगोदा । निगोदुम् । ऊ इत्यभिभक्तिको निर्देशः । द्विमात्रध्यायमादेशः । अग्न्यथा एषूप्रतिषेधः क्रियेत ।

दोषो गौ ॥४॥४॥४॥ दोष उहः ऊकारादेशो भवति गौ परतः । दूपयति । दूपयते । दोष इति विकृतप्रहणं किम् ? अपि कृते ऊकारो यथा स्यात् । अन्यथा प्रदूष्य गत इत्यत्र ऊकारस्याभिद्धत्वात्तत्त्वादेशः प्रसज्येत । अपि कृते धिपूर्वत्वं नास्तीत्यप्राप्तिः । णाचिति किम् ? दोषणं दोषः ।

वा चित्तविकारे ॥४१४८५॥ चित्तविकारेऽर्थं दोषो एव परत उच्ये वा ऊक्तागदेशो भवति । चित्तं दूषयति । चित्तं दोषयति । प्रज्ञां दूषयति । प्रज्ञां दोषयति । दोषमात्रेण दोषयतीत्यत्र टिसस्यामिद्वत्त्वादुहः भोः स्थाने विकारो न भवतीत्यप्राप्तिः । चित्तविकार इति किम् ? एकान्तवादप्रयोगं दूषयति । शात्रित्वेव । चित्तस्य दोषः ।

जिणमोर्दोर्मिताम् ॥४१॥ जिणम्परे गौ परतो मितां गूनामुडो वा दीर्भवति । अघटि । अघाटि । घटं घटम् । घाटं घाटम् । अशमि । अशामि । शमं शमम् । शामं शामम् । घटते कश्चित् । शाम्यति कश्चित् । तमन्यः प्रयुङ्क्ते इति सिच् । उड ऐप् । वक्ष्यमाणेन “प्रः” [४१॥५७] इत्यनेन प्रादेशः । औ णमि चानेनोडो वा दीत्वम् । ननु प्रादेश एव विकल्पः । दीरिति किमर्थम् ? न शक्यमेवम् । शमयतेर्णिचि कृते णौ णिखस्य स्थानिवद्भावात् उडः प्रादेशविकल्पो न स्यात् । दीत्वविधौ तु न स्थानिवद्भाव इति जिपरो णिर्मितोऽनन्तर इति दीत्वविकल्पः सिद्धः । अशमि । अशामि । तथा अत्यर्थं शाम्यतीति यङ् । शंशम्यतेर्णिच् । “अतः खम्” [४१॥५७] । “हलो यः” [४१॥५९] इति यखम् । अप्रापि यङोऽकारस्य दीत्वविधिं प्रति न स्थानिवद्भाव इति अशंशामि । नवाऽत्रासिद्धत्वं शक्यम् व्याश्रयत्वात् । णौ हि णिवडोः त्वं जिणम्परे गौ गोर्दोत्वमिति ।

प्रः ॥४॥८॥ नादिति कर्तते । मितां गूनामुङः प्रो भवति गौ परतः । चटयति । व्यययति । जनयति । “जनिवध्योः” इति निङ्कृतोः परत ऐप्प्रतिषेधः उक्तस्ततो अेरन्यदुदाहरणम् । मितामिति किम् ? कामयति । आपयति । चाममति । “न काम्यमिचमाभू” इति भित्संज्ञाप्रतिषेधः । प्रशमय्य गत इत्यत्र णाहुङः प्रादेशः

प्ये परतो गोरयादेश इति व्याश्रयत्वात्प्रादेशस्यासिद्धत्वं न भवति । कथं संक्रामयति । केचिद् केत्यनुवर्तयन्ति । सा च व्यवस्थितविभाषा ततो न दोषः ।

खचि ॥४१४८८॥ खचरे णौ परतो जोरुङः प्रो भवति । युगन्धरः । वसुन्धरः । “भृतृवृजिधारि-
सहितपिदमः खौ” [११२।४४] इति खच् । “स्त्रित्यम्ने” [४१३।१७६] “मुमचः” [४१३।१७७] इति
मुमागमः ।

ह्लादस्ते ॥४१४८९॥ ह्लादस्ते परत उङः प्रो भवति । प्रह्लन्नः । प्रह्लन्नवान् । त इति किम् ?
प्रह्लादयति । ह्लाद इति योगविभाषान्प्रह्लत्तिः ।

छादेर्घे ॥४१४९०॥ छादेर्घे परत उङः प्रो भवति । प्रच्छदः । उपच्छदः । “लिकुप्रादयः” [११३।८१]
इति प्रसः । उरश्छदः । तनुच्छदः । कुथोमे तासः । छद अपवारणे इति चौरादिकः । अत्मात् “पुंस्वो घः
प्रायेण” [११३।१००] इति छे वृत्ते णित्वादिभिरुच्चात् “परेण्डः हृदेषिधौ” [११३।५७] इति स्थानियद्भावो वा
क्वचनसागर्थान्न भवति । ततः उङः प्रादेशः । घ इति किम् ? प्रच्छादनम् । तनुच्छादनम् ।

नानेकगोः ॥४१४९१॥ अनेको गिर्यस्य तस्य छादेरुङः प्रो न भवति । समुपच्छादः । एकगिरमिश्च
छादिः पूर्वेषु प्रादेशं प्रयोजयति ।

मन्त्रेस्किषु ॥४१४९२॥ मन् व इस् कि इत्येतेषु परतश्छादेरुङः प्रो भवति । उञ् । छुञ् । छुदिः
समुच्छद् । उपच्छत् । “सर्वधुभ्यो मन्त्रयी” [उ० सू०] उणादिषु विहितौ । “अस्विंशुचिजूसृषिदादिवृदिभ्य
इस्” [उ० सू०] इति इस् । “छादेर्घे” [४१४।९०] इत्यतः पृथक्करणमनेकगोरपि प्रादेशार्थम् । समुपच्छत् ।
समुपाचिच्छत् । सिवतिधसामि पत्वम् ।

गमहनजनखनघसां किङ्कत्यनङि ॥४१४९३॥ गम हन जन खन घम इत्येतेषां कुङः स्वं भवति
अनाङि किति ङिति परतः । अनङीति किम् ? अगमत् । अघमत् । कङीति किम् ? गमनम् । गमनीयम् ।
अचोत्थेय । गम्यते । हन्यते ।

हुभलभ्यो हेर्धिः ॥४१४९४॥ हु इत्येतेस्मात् शलन्तेभ्यश्चोत्तरस्य हेर्धित्ययमादेशो भवति ।
जुहुधि । शलन्तेभ्यः-छिन्धि । भिन्धि । “शनसः खम्” [४१४।१०१] इत्यस्तस्य अनुस्वारविधिं प्रति न स्थानियत्वम्
इति अनुस्वारपरस्त्वत्वे । भलभ्य इति किम् ? लुनीहि । हेरिति किम् ? युवां जुहुतम् । “भुमास्थागापाहा-
वसां हलि” [४१४।६५] इत्यतो मण्डूकमत्या हल्ग्रहणमनुवर्तते । तेनाह्लादेर्न भवति । रुदिहि । र्वगिहि । अथवा
अथ परत्वादिति कृते “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [प०] । जुहुतात्वं भिन्तात्त्वमिन्वापि
परत्वात्तात्कादेशः ।

जेरुण् ॥४१४९५॥ जेरुत्तरस्य उङ् भवति । अकारि । अलावि । लावस्थायामडागमः । पश्चादुप् ।
खमिति वर्तते । उवग्रहणे सर्वापहारार्थं परत्वादेर्मा भूत् । गोरित्यधिकारात् गोर्निमित्तस्य न्यस्योन्विधानादिह
भवति अपाठि ग्रन्थः । अकारितरामित्यत्र तत्त्वस्यासिद्धत्वाच्च भवति । व्यक्तौ हि पदार्थे प्रतिव्यक्तिः लक्षणं भिद्यते
इति तदेव शास्त्रं तस्मिन् कयमसिद्धमिति नाशंकनीयम् ।

अतो हेः ॥४१४९६॥ अकान्ताद्रोरुत्तरस्य हेरुब्भवति । पच । कृप । गच्छ । अत इति किम् ? युहि ।
रहि । तपरकरणं किम् ? याहि । लुनीहि । ईत्वस्यासिद्धत्वादाकारः । हेरिति वर्तमाने पुनर्हेरिति किम् ? हिरेव यो
हिस्तरयोर् यथा स्वात् इह माभूत् । जीवतात्त्वम् ।

उतस्त्वादस्मात् ॥४१४९७॥ अस्मात्परो य उकारस्तदन्तात्वादुत्तरस्य हेरुब् भवति । चिनु । सुनु ।
तनु । कुरु । तन्वादिषु व्यपदेशिवद्भावावुकारान्तत्वम् । उत इति किम् ? लुनीहि । जानीहि । त्यादिति किम् ?
युहि । रुहि । अस्यादिति किम् ? आप्नुहि । तच्चापुहि ।

वा म्बोः खम् ॥४॥४॥६८॥ अस्फात्परो य उकारस्तदन्तस्य वा खं भवति मकारवकारादौ परतः । सुन्वः । सुनुवः । सुन्मः । सुनुमः । सुन्वहे । सुनुवहे । सुन्महे । सुनुमहे । तन्वः । तनुवः । तन्मः । तनुमः । उचिदि वर्तमाने खग्रहणमन्तेऽलो नाशार्थम् । उत इत्येव । क्रीणीवः । क्रीणीमः । त्यस्येत्येव । युवः । रुवः । अल्पादित्येव । आनुवः । तच्छणुवः । सुनोम्यादिषु परत्वादेप् ।

कृञो ये च ॥४॥४॥६९॥ कृञ उत्तरस्य उतः खं भवति यकारादौ म्बोश्च परतः । कुर्यात् । कुर्याताम् । कुर्युः । कुर्वः । कुर्मः । कुर्वहे । कुर्महे । नित्यत्वात्वे कृते “त्यस्ये त्याभ्रयम्” [१॥१॥६३] इत्येप् । भ्वोरनुकर्षणार्थाच्चकारात् ज्ञापते वेति निवृत्तम् ।

गेऽत उम् ॥४॥४॥७०॥ उत्पान्तस्य करोतेरकारस्य उकारादेशो भवति कृति परतः । कुरुतः । कुर्वन्ति । कुरुयः । कुरुथ । कुर्वः । कुर्मः । उदिति तपरकरणादिकरणमपेक्ष्य व्युङ्गुम्न भवति । ग इति किम् ? भूतपूर्वेऽपि गे यथा स्वात् । अत इति तपरकरणमुत्तरार्थम् ? कृतीत्येव । करोमि । करोपि । करोति । एपि कृते उकारान्तत्वाभावाद्वा न भवति । “अनन्त्यविकारेऽन्त्यस्यदेशस्य” [५०] इति अकुरुतामित्यत्रादौ न भवति ।

श्नसः खम् ॥४॥४॥७१॥ श्नमः अस्तेश्च अतः खं भवति गे कृति परतः । भिन्नः । भिन्दन्ति । छिन्नः । छिन्दन्ति । अत्वस्यासिद्धत्वाद्बुद्धो नकारस्य खं न भवति । अस्तेः स्तः । सन्ति । कृतीत्येव । भिन्दन्ति । अस्ति । श्नस इति श्नमो नष्टमकारस्य पररूपत्वं ज्ञापकं शकन्त्वाद्विषु पररूपं भवति । अत इति तपरकरणस्यानुवृत्तिः किमर्था । आस्ताम् आसन्नित्यत्र लावस्थायामडागमे ऐपि च कृते माभूत् । नभ्वदोऽसिद्धत्वादाकारखं न प्राप्तम् इदमेव तपरकरणं ज्ञापकम् अमाच्छास्त्रस्य कचिद्विद्वत्ता । तेन देभतुः । देभुरित्यत्र नखस्य सिद्धत्वादेत्वचखे भवतः ।

थश्नोरातः ॥४॥४॥७२॥ थसंज्ञकस्य श्ना इत्येतस्य च य आकारस्तस्य खं भवति गे कृति परतः । मिमते । मिमताम् । अमिमत । सज्जिहते । सज्जिहताम् । समज्जिहत् । “चेऽनतः [५॥१॥५] इति भस्त्रादादेशः । लुनते । लुनताम् । अलुनत । पुनते । पुनताम् । अपुनत । हलीत्वं वक्ष्यते । तस्मादन्वि खम् । भुसंज्ञकानां हस्यपि दत्तः । दत्ते । थश्नोरिति किम् ? याति । वान्ति । आत इति किम् ? विभ्रति । इयंति । कृतीत्येव । जहाति । लुनाति ।

हल्यभोरीः ॥४॥४॥७३॥ हलादौ कृति परतः थश्नोरात इकारादेशो भवत्यभोः । सज्जिहतीते । सज्जिहदीर्घ । सज्जिहदीर्घे । सज्जिहदीर्घे । सज्जिहदीर्घे । मिमीते । मिमीपे । मिमीध्वे । मिमीवहे । मिमीमहे । लुनीतः । लुनीथः । लुनीपे । लुनीध्वे । लुनीवहे । लुनीमहे । अभोरिति किम् ? दत्तः । कृतीत्येव । जहाति । लुनाति ।

हरिद्रिः ॥४॥४॥७४॥ इकारादेशो भवति दरिद्रातेर्हलादौ गे कृति परतः । दरिद्रितः । दरिद्रिथः । दरिद्रिवः । दरिद्रिमः । “जक्षित्यादयः” [४॥३॥५] इति यसंज्ञायाम् पूर्वण हलाद्रावीत्वं प्राप्तम् । हलीत्येव । दरिद्रिति । कृतीत्येव । दरिद्राति । “भियो वा” [४॥४॥७५] इत्यतः सिंहावज्जोक्तेन वेति व्यवस्थितविभाषा संवध्यते ततो दरिद्रातेरगविषये बहुलं खं भवति । दरिद्रातीति हरिद्रिः । अदरिद्रित । खे सत्याकायन्दलक्षणौ “यमरमनमातः सख्य” [५॥१॥३२] इति सगिदौ न ।

भियो वा ॥४॥४॥७५॥ भो इत्येतस्य वा इकारादेशो भवति हलादौ गे कृति परतः । विभीतः । विभीतः । विभीथः । विभीथः । विभीथः । विभीवः । विभीमः । विभीमः । हलीत्येव । विभ्यति । ग इत्येव भीतः । भीयते । कृतीत्येव । विभेति ।

हाकः ॥४॥४॥७६॥ हाक्श्च वा इकारादेशो भवति हलादौ गे कृति परतः । जहितः । जहीतः । जहिथः । जहीथः । जहिवः । जहीवः । जहिमः । जहीमः । पदे “हल्यभोरीः” [४॥४॥७३] इतीत्वम् । थस्ये-

स्फुटवर्तनात् हित्वे कृते इत्यादिभिः । अथवा अल्पअयत्नान्तरङ्गत्वात्प्रागेव द्वित्वम् । हलीयम् । जहति । ग इत्येव । हीनः । हीयते । जेहीयते । योगविभाग उत्तरार्थः ।

आ च हौ ॥४१४१०५॥ हाक आकागदेशो भवति इच्च वा हौ परतः । जहादि । जहिहि । जहीहि ।

यि खम् ॥४१४१०८॥ यकारादी गो क्विति परतो हाकः खं भवति । जह्यात् । जह्याताम् । जह्युः । ग इत्येव । हीयते । जेहीयते ।

भ्यसोरेच्च खं हौ ॥४१४१०९॥ भुसंज्ञकानाम् अस्तोश्च हौ परत एकागदेशो भवति चस्य च खम् । देहि । धेहि । एभि । त्रमिति वर्तमाने पुनः खग्रहणं सर्वस्य चस्य नाशार्थम् । अस्तोश्च खं न सम्भवति । “रनसः खम्” [४१४१०९] इत्यखम् । अनेन रुकारस्यैवम् । हाविति वर्तमाने पुनर्हाविति किम् । रूपान्तरापत्तौ माभूत् । दत्तात् । धत्तात् । स्तात् ।

अतो हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥४१४११०॥ हलोर्मध्ये वर्तमानात् एकागदेशो भवति चस्य च खं लिटि क्विति परतः । पेचतुः । पेचुः । शेकतुः । शेकुः । रेणतुः । रेणुः । हल्मध्ये इति किम् ? आटुः । आटुः । त्रपिग्रहणं नियमार्थं वक्ष्यति । अनेक हल्मध्यगतस्य त्रपेरेव नान्यस्य । ततश्चतुः । पप्रथ । पप्रथाने । पप्रथिरे । लिटीति किम् ? पापच्यते । पापच्यते । अत इति किम् ? दिदिचतुः । दिदिचुः । स्फुरस्फुरणं किम् ? शशाचतुः । शशाचुः । क्वितोत्येव । अर्हं पपच । “फलिभजोः” [४१४११२] इति नियमो वक्ष्ये । एतयोरेव लिट्यादेशाद्योरेच्यत्वे भवतो नान्यस्य । बभणतुः । बभणुः । चक्रणतुः । चक्रणुः । नमिनह्योस्तु लिट्-त्वेः प्रागेव नत्वसत्त्वे भवत इति नियमान्न निवृत्तिः । नेमणुः । नेमुः । सेहे । सेहाते । मेहिरे ।

सेटि ॥४१४१११॥ सेटि च लिटि परतो हल्मध्येऽत एत्वं भवति चस्य च खम् । अक्लिभजो यथा स्ना-दिस्वारस्यः । पेचिथ । शेकिथ । नेभिथ । “ओपदेशे” [४१४११०] इत्यादिना वेत् । सेटीति किम् ? पपचथ । लिटीत्येव । पटितः । पटितवान् । अत इत्येव । दिदिदिथ ।

फलिभजोः ॥४१४११२॥ फलि भजि इत्येतयोरेत एत्वं भवति चस्य च खं लिटि क्विति सेटि च परतः । फेलतुः । फेलुः । फेलिथ । भेजतुः । भेजुः । भेजिथ । भेजे । भेजाते । भेजिरे । नियमार्थोऽयमारम्भः । फलिभजोरेव लिट्यादेशाद्योर्नान्यस्य । चक्रणतुः । चक्रणुः । चक्रणिथ । बभणतुः । बभणुः । बभणिथ । फलिभजोर्विकारलक्षण आदेशः अन्यस्यापि विकारादेशादेर्निवृत्तिः शशिद्वयोः प्रतिपेक्षाच्च । तेन प्रकृतिचरं प्रकृतिचरः प्रकृतिजशां प्रकृतिजशो भवन्तीति । नात्र नियमान्निवृत्तिः । तेनतुः । तेनुः । देभतुः । देभुः ।

तृत्रपोः ॥४१४११३॥ तृ त्रपित्वेतयोरेत एत्वं भवति चस्य च खं लिटि क्विति सेटि थलि च परतः । तेरतुः । तेरुः । तेरिथ । “कच्छतृताम्” [४१४११३] इत्येप् । त्रेपाते । त्रेपिरे । “अन्येष्वेति वक्तव्यम्” [वा०] अथतुः । अथुः । उपसंख्यानानेन लिटि क्वित्वम् । इदमपि नियमार्थं सूत्रम् । एभिर्बृत्तस्यातस्तरतेरेव नान्यस्य । विशशतुः । विशशरुः । विशशरिथ । लुलबिथ । अनेककहल्मध्यगतस्य त्रपेरेव नान्यस्य । ततश्चतुः । ततश्चिथ । ममन्थतुः । ममन्थुः । ममन्थिथ ।

घघे राघेः ॥४१४११४॥ राघेर्वेधेऽर्थे हल्मध्येऽवर्णस्यैव भवति चस्य च खं लिटि क्विति सेटि थानि च परतः । परिरेधे । परिरेधाते । परिरेधिरे । कर्मणि द्विविधः । परिरेधतुः । परिरेधुः । परिरेधिथ । वथ इति किम् ? आरराधतुः । आरराधुः । आरराधिथ ।

या जृभ्रम्ब्रसाम् ॥४१४११५॥ जृ भ्रम् ब्रश् इत्येतेषामनो वा एत्वं भवति चस्य च खं लिटि क्विति सेटि च परतः । जेरतुः । जेरुः । जेरिथ । भ्रेमतुः । भ्रेमुः । भ्रेमेथ । ज्रेमतुः । ज्रेमुः । ज्रेमेथ । पते जज-रतुः । जजरुः । जजरिथ । बभ्रमतुः । बभ्रमुः । बभ्रमिथ । तत्रमतुः । तत्रसुः । तत्रमिथ । तृग्रहणादन्य-स्यैभिर्बृत्तस्य न भवतीति जृपोऽप्राप्ते । भ्रेमरादेशादित्वात् त्रसेरनेकहल्मध्यगतान्ताग्राने विकल्पः ।

फणां सप्तानाम् ॥४॥४॥११६॥ फणादीनां सप्तानां वा एत्वं भवति चस्य च खं लिटि क्तिन् सेटि च परतः । फेणुतुः । फेणुः । फेणिथ । फफणुतुः । फफणुः । फफणिथ । रेजुतुः । रेजुः । रेजिथ । रगजुतुः । रराजुः । रराजिथ । रेजे । रेजाते । रेजिरे । वभ्राजे । वभ्राजाते । वभ्राजिरे । भ्रेमे । वभ्रामे । भ्लेसे । बभ्लासे । स्वेमनुः । स्वेमुः । स्वेमिथ । सस्वननुः । सस्वनिथ । स्वेननुः । स्वेनुः । स्वेनिथ । सस्वननुः । सस्वनिथ । सप्तानामिति किम् ? दध्वननुः । दध्वनुः । जज्वलनुः । जज्वलुः । जज्वलिथ ।

न शसददवादीनाम् ॥४॥४॥११७॥ शस दद इत्येतयोर्वादीनां च लिटि क्तिन् सेटि च परत एतन्-
चखे न भवतः । विशशसुतुः । विशशसिथ । दददे । दददाते । दददिरे । वादीनाम्-ववणुतुः । ववणुः । ववणिथ । ववले । ववलाते । ववलिरे ।

भस्व ॥४॥४॥११८॥ भस्वेऽप्यधिकारे वेदितव्यं वा पादपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति “पादः पत्” [४॥४॥११८] इति । द्विपदा । द्विपदे । भस्येति किम् ? द्विपादौ । द्विपादः । धे मसंगा न भवति ।

पावः पद् ॥४॥४॥११९॥ पादस्तस्य गोर्भस्य पदित्ययमादेशो भवति । द्विपदः पश्य । द्विपदा । द्विपदे । द्वौ पादवत्येति वधे “सुसंख्यादेः” [४॥२॥१४०] इति पादस्यातः खन् । “निर्दिश्यमानस्यादेशो भवन्ति” [५०] इति पाच्छब्दस्य पदादेशः । द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति । “संख्यायाः पादशतेभ्यो वीप्सा-
दण्डस्यागो वुन्” [४॥२॥१४०] खं च । वैयाघ्रपद्यः । व्याघ्रस्येव पादौ यस्य “खं पादस्याहस्यादेः” [४॥२॥१३६] इति खन् । गर्गादित्वाच्चन् । भस्येति किम् ? द्विपाद्व्याघ्रान् । द्विपाद्विः । पादवतेः क्तिन्वन्तस्य प्रयोगो नास्ति ।

वसोर्जिः ॥४॥४॥१२०॥ वस्वन्तस्य गोर्भस्य जिर्भवति । उपसेदुपः पश्य । उपसेदुपा । उपसेदुपे । “वस्सद्विधो वसुक्षिणमम्” [१॥२॥८८] इति वसुः । द्वित्वम् । हल्मध्ये लिट्यत इति एङ्वचखे । कादिनिव-
मादिट् । जौ कृते निमित्ताभावादिणिनवृत्तिः । भस्येत्येव । विद्वस्यति । विद्वस्यते । वयन्वयडोः स्वादिक्वा-
भावाद्भसंज्ञा नास्ति । “नः वधे” [१॥२॥१०४] इति नियमात्पदमंज्ञाविरहेण रित्वाद्यभावः ।

श्वयुवमघोनोऽहति ॥४॥४॥१२१॥ श्वन् युवन् मघवन् इत्येतेषां जिर्भवति अहति परतः । शुनः पश्य । शुना । शुने । यूनः पश्य । यूना । यूने । “अनन्त्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [५०] इति यकारस्य न भवति । मघोनः पश्य । मघोना । मघोने । अहतीति किम् ? शीघ्रं मांसम् । यौवनं वर्तते । माघवनम् । शुनो विकारः “प्राणितालादेः” [३॥३॥१०५] इत्यण् । “द्वारादेः” [५॥२॥६] इत्यौव् । यूनो भावः “हायनास्त-
युवादिभ्योऽण्” । मघोन इदम् । उत्तरत्र अन इति योगविभागः । अनन्तानां श्वादीनां जिर्भवति । तेन युवतीः पश्येत्यत्र “मृदग्रहणे जिह्वविशिष्टस्य” [५०] इति न भवति ।

अनोऽखमम्बस्फात् ॥४॥४॥१२२॥ अन्नन्तल्याखं भवति स चेदन् मकारवकारान्तस्फात्परो न भवति । राक्षः पश्य । राक्षे । “पूर्वप्रासिद्धे न स्थानिवत्” इति चुत्वम् । तक्षणः पश्य । तक्षणा । तक्षणे । अन्नन्-
त्येति वचनात् राजकीय इत्यत्र न भवति । अम्बस्फादिति किम् ? धर्मणः । धर्मणे । तत्त्वदृश्चुनः पश्य । तत्त्वदृश्वना । तत्त्वदृश्वने ।

वादिहन्धृतराक्षोऽणि ॥४॥४॥१२३॥ पकारादेशः हन् धृतराजन् इत्येतयोश्चाणि परतोऽकारस्य खं भवति । आक्षणः । ताक्षणः । हन्-ध्रौणध्नः । धार्जध्नः । धृतराजन्-धार्तराजः । अपत्यार्थेऽण् “अनः” [४॥४॥११८] इति अखटिलयोः प्रतिषेधे प्राप्ते सूत्रम् । एतेषामिति किम् ? सामनो धौमनः । ताक्षण्यः । “सेनान्त-
लक्षण” [३॥१॥१४०] इत्यादिना एव ।

या डिश्योः ॥४॥४॥१२४॥ अनोऽकारस्य वा खं भवति जौ शीशब्दे च परतः । राज्ञि । राजनि । लोम्नि । लोमनि । साम्नी । सामनी । दाम्नी । दामनी । भस्येत्यधिकारात् “नपः” [५॥१॥१६] इत्यनेना-
दिष्टः शीशब्दो एखते ।

अचः ॥४॥४॥१२५॥ अच इत्यञ्चेर्नष्टनकारो गृह्यते । तदन्तस्य गोरकारस्य खं भवति । प्रतीचः पश्य । प्रतीचा । प्रतीचे । मधूचः पश्य । मधूचा । मधूचे । मस्येत्येव । प्रत्यञ्चमिच्छति प्रत्यञ्चति । क्यच् । स्वादिष्यभावात्पूर्वस्य भर्षशा नास्ति । अच इति नष्टनकारग्रहणं किम् ? प्रत्यञ्चः पश्य । प्रत्यञ्चा । प्रत्यञ्चे । “नाञ्चेः पूजे” [४॥४॥१२६] इति नखाभावः ।

उदीचः ॥४॥४॥१२६॥ उदः परस्याच ईकारादेशो भवति मस्य । उदीचः पश्य । उदीचा । उदीचे । उदीच्यः । “युप्रागपासुवप्रतीचो यः” [३॥२॥५०] इति यः । अस्त्रापवादोऽयम् ।

आतो धोः ॥४॥४॥१२७॥ आकारान्तस्य धोर्मस्य खं भवति । कीलालपः पश्य । कीलालपा । कीलालपे । शुभयः पश्य । शुभया । शुभये । आत इति किम् ? ग्रामया । ग्रामये । धोरिति किम् ? मालाः पश्य । “जृमश्चः क्वः” [५॥१॥१०३] “धनोरातः” [४॥४॥१०२] इत्यादयः सौत्रा निर्देशाः । मस्येत्येव । क्षीपामि-च्छति क्षीरपीयति ।

विंशतेर्द्वितीति ॥४॥४॥१२८॥ भस्य विंशतेर्द्वितीति परतस्तिशब्दस्य खं भवति । विंशत्या कीतो विंशकः । “विंशतिप्रिषाद्व्यां द्बुरखौ” [३॥४॥२१] इति कुः । तिखे कृते “द्व्यसोऽपवे” [४॥२॥५४] इति पररूपत्वम् । विंशतेः पूरणं विंशं शतम् । विंशतिरधिका अस्मिन्निति “तदस्मिन्नधिकमिति शदशान्ताङ्कः” [३॥४॥१६७] “विंशतेश्च” [३॥४॥१६८] इति डः । आसन्ना विंशतेरिमे आसन्नविंशाः । “संख्येये” [१॥३॥५७] इत्यादिना वसः । “संख्यावाङ्कोऽन्यगुण्यात्” [४॥२॥६९] इति डः सान्तः । द्वितीति किम् ? विंशत्या ।

देः ॥४॥४॥१२९॥ द्विशकस्य द्विती पठतः खं भवति । विंशता कीतः विंशकः । विंशं शतम् । आसन्नाश्चतुर्णांमिमे आसन्नचताः । कुमुद्वान् । नड्वान् । वेतस्वान् । कुमुदान्यस्मिन् देशे सन्ति “कुमुद-नडवेतसाङ्गित्” [३॥२॥६७] इति मनुः । नड्वल्म । नडा अस्मिन् देशे सन्ति “नडशादाङ्गित्” [३॥२॥६८] इति बलः । द्विशकरणसामर्थ्यादभस्यापि देः खम् । अतएव उपसरे जात उपसरजः । मन्दुगया जातः मन्दुरजः । “खे क्वापोः क्वचित्खौ च” [४॥२॥१०३] इति प्रः ।

नोऽपुंसो हति ॥४॥४॥१३०॥ नकारान्तस्य भस्य हति परतष्टिखं भवत्यपुंसः । आग्निशर्मिः । दैवशर्मिः । औद्गलोमिः । ग्राहवादित्वादिङ् । न इति किम् ? वैद्युतोऽग्निः । अपुंस इति किम् ? पुंस इदं पौंसम् । “र्क्षापुं सान्तु-क्त्वात्” [३॥१॥७२] इति अजनुको । हतीति किम् ? शर्मणा । शर्मणे । मस्येव । शर्मण आगतं शर्मरूपम् । शर्ममयम् । “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” [३॥२॥५५] इति रूप्यमवतौ ।

सब्रह्मचार्यदेः ॥४॥४॥१३१॥ सब्रह्मचारिभित्येवमादीनां हति देः खं भवति । सब्रह्मचारिणः शिष्यः सब्रह्मचारः । पीठसर्पिणोऽयं पैठसर्पः । कलापिनोऽयं कलापः । अथवा कलापिना प्रोक्तमधीते शौनकादिषु वैशम्पायनान्तेवासित्वाणिनि प्राप्ते “कलापिनोऽय्” [३॥२॥७६] इत्यण् । “तद्व्येधधीते” [३॥२॥५१] इत्यण् । “उप्योक्तात्” [३॥२॥५४] इत्युप् । “धन्वोमाह्वणानि चात्रैव” [३॥२॥५६] इति अप्येतद्विषयता । कुथुमिनः शिष्यः कौथुमः । तितिलिनः तैतिलः । जजलिनः जाजलः । अन्येषां तैतिलिजजलिशब्दावाचार्यवचनावुपचाद्-ग्रन्थोऽपि तथोक्तः । तमधीते तैतिलः । जाजलः । लाङ्गलिनः शिष्यः लाङ्गलिनमधीते वा लाङ्गलः । शिलालिनोऽयं शैलालः । शिलालिडनोऽयं शैलालः । सुकरसधनोऽयं सौकरसधः । सुपर्वणः सौपर्वः । इनत्तानां “प्रायोऽनपत्ये-ज्जीमः” [४॥२॥५५] इति टिप्पणप्रतिषेधः प्राप्तः ।

श्वाश्मचर्मणां सङ्कोचविकारकोशेषु ॥४॥४॥१३२॥ श्वन् अश्मन् चर्मन् इत्येतेषां संकोच-विकार कोश इत्येध्वर्थेण हति देः खं भवति । शौवः संकोचः । शौवनोऽन्यथ । कथं शौवं मांसम् । “अनः” [४॥२॥५८] इत्यत्र प्रायोमहणानुवृत्तेर्विकारे टिप्पणप्रतिषेधो नेष्यते । अश्मनो विकार आश्मः । आश्मनोऽन्यथ । चार्मः कोशः । चार्मणोऽन्यः ।

टखोरेचाहः ॥४१४१३३॥ अहनित्येतस्य टखोः परतः टः खं भवति । द्वयहः । अहः । द्वे अहनी समाहृतै, त्रयाणामहो समाहारः रसे कृते “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४१२१६३] इति टः सान्तः । “न समाहारे” [४१२१६१] इति अहारेण प्रतिषेधः । द्वे अहनी भूतो भावी वा द्व्यहनीनः । व्यहनीनः । हटयं रसः । “समायाः खः” [३१४१८२] इत्यधिकारे “राज्यहःसंवास्सरात्” [३१४१८४] इति खः । अहो समूहः अहीनः । हन इति बहुवचननिर्देशात्खः । टखोरेवेति किम् ? अहो निर्वृत्तमाहिकम् । “तेन निर्वृत्तः” [३१४१७५] इति प्राग्वतञ्चञ् । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । अह एव टखोरिति मा भूत् । एवं हि मद्राज इति न स्यात् । “खेऽध्वनः” [४१४१६०] इति प्रतिषेधारम्भात् इष्टतोऽवधारणे प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् ।

कद्रघोरोऽस्वयम्भुवः ॥४१४१३४॥ कद्रूशब्दस्य उवर्णान्तस्य च भस्व इति परत ओकारादेशः भवति स्वयम्भूशब्दं वर्जयित्वा । कद्र्वा अपत्यं काद्रवेयः । “स्त्रीभ्यो ङम्” [३१११०६] इति ङम् । “ङे खम्” [४१४१३५] इत्यस्यापवादार्थं कद्रूमहणम् । उवर्णान्तस्य माण्डव्यः । बाअव्यः । औपगवः । कापटवः । अस्व-यम्भुव इति किम् ? स्वायम्भुवं धाम स्वायम्भुवी प्रक्रिया । “तस्येदम्” [३१३१८८] इत्यण् । ओत्वे प्रतिषिद्धे उवादेशः ।

ङे खम् ॥४१४१३५॥ ङे परत उवर्णान्तस्य खं भवति । कामण्डलेयः । शैलवाहेयः । जाम्भेयः । “बाहुन्तकद्रुकमण्डलुभ्यः खौ” [३१११६०] इति ऊत्ये कृते । अपत्यार्थं “चतुष्पादभ्यो ङम्” [३१११२३] इति ङम् । जान्वाः जानेय । “द्वयचः” [३११११०] इति ङम् । इयुवौ परत्वात् खं वाधते । वालात्रेयः । लैलात्रेयः । वत्सग्रीः चतुष्पाद् । लेखाभ्रूः शुभ्रादिः । ङ इति किम् ? कमण्डलवे हिता कमण्डलव्या सृत् ।

यस्य ङ्यां च ॥४१४१३६॥ इवर्णान्तस्यावर्णान्तस्य च खं भवति ङीत्ये इति च परतः । दाक्षी । प्लाथी । “इतो मनुष्यजातेः” [३११५५] इति ङीः । स्वेको दीत्वे क्रियमाणे अतिसखेरागच्छतीत्यत्र दोषः स्यात् । सखीमतिशान्तः अतिसखिः । “स्त्रीगोर्नीचः” [११११८] इति प्रादेशे कृते सम्यक्सखोरेकादेशः सखिशब्दवद्भवतीति “स्वसखि” [११२१६७] इति सुसंज्ञाविरहादेन स्यात् । खे तु न दोषः । अवर्णान्तस्य गौरी । कुमारी । इति-नामेयः । नैवेयः । “इतोऽनिभः” [३१११११] “द्वयचः” [३११११०] इति ङम् । श्रमेतः । अवर्णान्तस्य-दैवदत्तिः । वायुवेगेयः ।

मत्स्योऽङ्यो ङ्याम् ॥४१४१३७॥ मत्स्यशब्दस्य उङ्यो यकारस्य खं भवति ङीत्ये परतः । मत्सी । “गौरावेः” [३१११२३] इति ङेः । मत्स्यस्यापत्यं मत्सी मात्सी । “द्वयम्मगध” [३१११५२] आदिमूत्रेणाण् । तदन्ताङ्योः । ङ्यामवर्णखस्यासिद्धत्वादुङ्यो यकारस्य खम् । अणि परतोऽखस्य व्याश्रयत्वासिद्धन्त्यम् । उङ् इति किम् ? मत्स्यचरी । यग्रहणमुत्तरार्थम् । ङ्यामिति किम् ? मत्स्येत्येदं मात्स्यम् ।

सूर्यागस्त्ययोश्छे च ॥४१४१३८॥ सूर्य अगस्त्य इत्येतयोश्छे ङ्यां च परत उङ्यो यकारस्य खं भवति । सौरीयः । सौरी । आगस्तीयः । आगस्ती । सूर्यागस्त्यशब्दौ केवलौ ङीं न प्रयोजयत इत्यणन्तौ गृह्यते । सूर्यो देवता अत्र सौर्यः तस्यायं सौरीयः । सूर्यस्येयं सौरी । अगस्त्यस्यापत्यम् ऋषित्वादण् । आगस्त्यः । तस्यायं मागस्तीयः । छे ङ्यां चाऽतः खस्यासिद्धत्वादुङ् यकारः । अण्यखस्य व्याश्रयत्वासिद्धत्वं नास्ति । सूर्याय हितः अगस्त्याय हित इति प्राकट्यश्छे नास्त्वन्मिधानात् । छे चेति किम् ? सौर्यं तेजः । आगस्त्यं स्थानम् । उङ् इत्येव । सूर्यमयी ।

तिष्यपुष्ययोर्भाणि ॥४१४१३९॥ तिष्य पुष्य इत्येतयोर्भाणि परत उङ्यो यकारस्य खं भवति । तिष्येण युक्तः कालः तैषः । पौषः । तिष्यपुष्ययोरिति किम् ? तिष्येण युक्तं सैष्यमहः । भाणीति किम् ? पुष्यो देवताऽस्येति पौष्यः ।

हलो हलो ङ्याम् ॥४१४१४०॥ हल उत्तरस्य ह्रस्वकारस्य उङः खं भवति ङ्यां परतः । गार्गी । वात्सी । वाजी । “ययः” [३११११६] इति ङीः । यखविधिं प्रति न स्थानिषदिति हलः परत्वं यकारस्य । हल इत्य-

विशेषेण ग्रहणम् । हतोऽन्यस्य वा हलः परस्य ह्रस्वकारस्य खं भवति । तेन “वृकाद्वेय्यम्” [४।२।४] वावेङी । हल इति किम् ? वायुवेगेयो । ह्रत इति किम् ? भक्ष्याम् । गौरादित्वाब्दीः । दैद्यस्य भार्या वैद्या । इयामिति किम् ? आवटया । अवटस्यापत्यं स्त्री ।

कचञ्चनानाद्भृत्यापत्यस्य ॥४।४।१४१॥ कच चिव इत्येतयोरनाकारादौ च ह्रति परत आपत्यस्य यकारस्य हलः परस्य खं भवति । गार्गीयति । वात्सीयति । गार्गीयते । वात्सीयते । चिव । गार्गीभूतः । वात्सीभूतः । भवति ह्रति-गार्गीणः समूहो गार्गीकम् । वात्सकम् । “ब्रह्मोक्षोद्गोरञ्ज” [३।२।३४] आदिना वुञ् । गार्गीणां सङ्घोऽङ्को वा गार्गीः । वात्सः । अनासीति किम् ? गार्गीयणः । ह्रतीति किम् ? सामान्येनापत्यस्य खं यथा स्यात् । आपत्यस्येति किम् ? साङ्काश्यकः । काम्पिल्यः । सङ्काशेन निवृत्तः । कम्पिलेन निवृत्तः । “बुन्धुण्” [३।२।६०] आदिना एयः । ततो भवार्थे “बन्धयोद्धः” [३।२।६६] इति वुञ् । हल इत्येव । वायुवेगेयः ।

तस्यन्तिकस्य कादेः ॥४।४।१४२॥ तसि परतोऽन्तिकस्य ककारादेः खं भवति । अन्तिकात् अन्तितः आगतः । “तमे परतः तादेः कादेश्चान्तिकस्य खं वक्तव्यम्” [वा०] । अतिशयेन अन्तिकः “तमेष्टावतिशायने” [४।१।११४] इति तमे कृते । अन्तमः । अन्तितमः । “भिसंज्ञकस्य भमात्रे टिखं च वक्तव्यं सायस्त्राति-काद्यर्थम्” [वा०] । सायस्त्रातर्भवः सायस्त्रातिकः । पौनःपुनिकः । आकस्मिकः । शाश्वतिक इत्यत्र “येषां च द्वेयः शाश्वतिकः” [१।४।८५] इति निपातनात् भवति । शाश्वच्छब्दो लक्षणम् । आरातीयः । शाश्वत इत्यादिषु न न भवति । “कालाद्गु” [३।२।१३१] इत्यतः कालादिति योगविभागः । तेन शाश्वच्छब्दस्य दण् ।

विल्वकादेश्छस्य ॥४।४।१४३॥ विल्वकादीनां छस्य खं भवति ह्रति परतः । नडादिषु विल्वकाद्यः पठ्यन्ते कृतकुमारमाः इह निर्दिष्टाः । विल्वया अस्मिन् देशे सन्ति “उक्तरादेश्छः” [३।२।७०] “नडादेः कुक्” [३।२।७१] चागमः । विल्वकीयः । तत्र भवो वैल्वकः । सर्वस्य छस्य खम् । अन्यथा अनर्थकं स्यात् । वैल्वकीयः वैन्नकीयः । वैन्नकः । वैतसकीयः । वैतसकः । तृणकीयः । तार्हकः । इक्षुकीयः । गेजुकः । कपिष्ठलकीयः । कपिष्ठलकः । कपोतकीयः । कपोतकः । “कुञ्जायाः प्रश्च” । कुञ्जकीयः । कोञ्जकः । कुक् छ एव सम्भवति । छस्येति किमर्थम् ? कुको निवृत्तिर्मा भूत् । अन्यथा “सशिवोगशिष्टानामन्यतराप्राये उभयोरप्यपायः” [प०] इति यथा पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य “हृदर्थ” [१।३।४६] इति रसे कृते आगतस्याणो “रस्योवनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्य निवृत्तौ आनुकोऽपि निवृत्तिः । पञ्चेन्द्रः ।

तुरिष्टेमेयस्सु ॥४।४।१४४॥ तृशब्दस्य खं भवति इष्टेमेयस्सु परतः । करिष्ठः । करीयान् । हरिष्ठः । हरीयान् । सर्वे कर्तुमनोऽयमेवाभतिशयेन कर्तृमान् “विन्मतोरुप्” [४।१।१२४] इत्यनेनोप् । “इष्टेयस्यै च सर्वस्य तुः खम्” । अन्यस्य “टेः” [४।४।१४५] इति सिद्धम् । इमन्प्रदणमुत्तरार्थम् ।

टेः ॥४।४।१४५॥ टेश्च खं भवति इष्टेमेयस्सु परतः । पटिष्ठः । पटिमा । पटीयान् । लघिष्ठः । लघिमा । लघीयान् ।

शाधिष्ठवन्मृदः ॥४।४।१४६॥ णौ परत इष्टे इव कार्यं भवति मृदः । पत्यति । लघयति । कर्तुमन्तमाचष्टे करयति । प्रशस्यमान्छटे “आवेप्” [४।३।७५] श्रयति । ज्वयति । वादस्य साधयति । युवानं करोति कनयति । सखिणः सजयति । सर्वत्र “नैकाचः” [४।४।१५४] इति प्रतिषेधः । गुकार्यं निवृत्ते नैप् । एनीमाचष्टे एतयति । “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्भावः । उत्तरत्रापि प्रियनाचष्टे प्रापयति । स्थापयति । गुकार्य-परिभाषाया अनित्यत्वादौपुगागमौ । पृथु प्रथयति । स्थूलस्य स्थवयति ।

स्थूलदूरयुषहस्वन्निप्रजुद्राणां यण इक एप् ॥४।४।१४७॥ स्थूल दूर युषन् हस्व क्षिप्र जुद्र इत्येतेषां यणः खं भवति इक एप् च इष्टेमेयस्सु परतः । स्थविष्ठः । स्थवीयान् । दविष्ठः । दवीयान् । “युष्वाप्ययोः कन्वा” [४।१।१२३] इत्यनादेशपञ्चे-वविष्ठः । ववीयान् । “अमन्त्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इति यकारस्य न भवति । हसिष्ठः । हसीयान् । हसिमा । क्षेपिष्ठः । क्षेपीयान् । क्षेपिमा । क्षोदिष्ठः ।

क्षोदीयान् । क्षोदिमा । ह्रस्वादेशः पृथ्वादौ पठ्यन्ते । वणः परस्य तु “टेः” [४।४।१४५] इति खम् । इक इति किमर्थम् ? क्षेपिष्ठ इत्यत्र अनन्तरस्याप्येव यथा स्यात् । खी ह्रस्वमाचष्टे ह्रस्वति । गुकार्यस्थ निर्धृतत्वात् उङ् एस्म भवति ।

प्रियस्थिरस्फिरयादेशः ॥४।४।१४६॥ प्रिय स्थिर स्फिर इत्येतेषाम् इकागन्तर्वर्णमन्वातस्य अकारादेशो भवति इष्टमेयस्तु परतः । प्रेष्ठः । प्रेयान् । प्रेमा । स्थेष्ठः । स्थेयान् । स्थमा । स्तेष्ठः । स्तेयान् । स्तेमा । प्रियमाचष्टे प्रापयति । स्थापयति । “देवसूत्रे” [३।३।२२] इति निर्देशात् गुकार्यपरिभाषाया अनित्यत्वम् । तेन णिन्नि “क्लिप्त्यचः” [५।२।३] इत्यैप् ।

बहुलगुरुवृद्धप्रदीर्घवृन्दारकारां वंहिगर्वपिञ्चपद्माद्यवृन्दाः ॥४।४।१४७॥ बहुल गुरु वृद्ध नृप दीर्घ वृन्दारक इत्येतेषां वंहि गर् वर्व पिञ्च पद्माद्यवृन्दा इत्येत आदेशा भवन्ति इष्टमेयस्तु परतः । वंहिष्ठः । वंहियान् । वंहिमा । गरिष्ठः । गरीयान् । गरिमा । उरु-वरिष्ठः । वरीयान् । वरिमा । वृद्धस्य ज्यादेश उक्तः । वचनादयमपि भवति । वर्धिष्ठः । वर्धियान् । वधिष्ठः । वधीयान् । वधिमा । वृन्दिष्ठः । वृन्दीयान् । शावपि वंशयति । गरवतीत्यादि योज्यम् । स्फिरवृद्धनृपवृन्दारकवर्जिताः पृथ्वादौ द्रष्टव्याः । अणुण्यचनेभ्योऽपि अतएव वचनात् इष्टेयम् ।

बहोर्भवस्मात्त्वम् ॥४।४।१४८॥ बहोर्भू इत्ययमादेशो भवति अस्माच्च परेषाम् इष्टमेयतां न भवति । भूयान् । भूमा । “परस्यावेः” [१।१।५१] खम् । भूमावत्यासिद्धत्वात् उकारस्यौत्वं न भवति । वदोः पृथ्वादित्वादिमन् ।

यिट् चेषुस्य ॥४।४।१४९॥ इष्टस्य यिडागमो भवति बहोश्च भृगदेशः । भृयिष्ठः । व्यापनादो यिडागमः । इकार उच्चारणार्थः । भूमावस्यासिद्धत्वादौत्वाभावः ।

ज्यादेशसः ॥४।४।१५०॥ ज्यादेशात्यस्स इव आकारादेशो भवति । ज्यायान् । ज्यायांसौ । ज्यायांसः । “प्रशस्यस्य झः” [४।१।११६] “ज्यः” [४।१।१२०] इति ज्यादेशः । प्रकृते खे परस्यादौ कृते “दीर्घवृत्ते” [५।२।१३४] इति पूर्वस्य च दीर्घे सिद्धमिति चेत् “गुकार्ये निर्धृते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०] इति दीर्घं न त्वादित्वाकारवन्तम् ।

ऊरोऽनादेशैः ॥४।४।१५१॥ ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यनादेशमंशकस्य इष्टमेयस्तु परतः । प्रथिष्ठः । प्रथीयान् । प्रथिमा । म्रदिष्ठः । म्रदीयान् । म्रदिमा । अकारान्तो रेफादेशः । उरिदि किम् ? पदिष्ठः । अनादेरिति किम् ? अतिशयेन ऋत्वान् ऋतीयान् “विन्मतोरुप्” [४।१।१२४] इति मतोरुप् । ईयस् । वेगिति किम् ? कुयिष्ठः । कृयिषीयान् । कृयिषीमा ।

पृथुसृद्धोः कृशभृशयोर्हठपरिवृद्धयोश्चरो भवत्येव ।

सिंहावलोकतोऽग्रे प्रायोग्रहणाद्यं नियमः ॥

तेनेह न भवति । मातरमाचष्टे मातयति । परत्वादित्त्वस्यायमपवादः स्यात् । तथा कृतमाचष्टे कृतयति ।

नैकाच्चः ४।४।१५४॥ एकाचो भस्य यदुक्तं तन्न भवति । त्वचिष्ठः । त्वचीयान् । लुचिष्ठः । लुचीयान् । “विन्मतोरुप्” [४।१।१२४] इति मतोरुपि कृते “टेः” [४।४।१४५] इति खं प्राप्तम् । शावपि त्वन्तमाचष्टे त्वचयति । लुचयति । एकाच इति किम् ? अतिशयेन वसुमान् वसिष्ठः । वसीयान् । वसयति । नेति योगविभागः । तेन “राजन्यमनुष्ययूनामके यदुक्तं तन्न भवति” राजन्यानां समूहो राजन्यकम् । मनुष्याणां समूहो मानुष्यकम् । “स्वन्व्यनादृश्यापत्यस्य” [४।४।१४३] इति यखं प्राप्तम् । यूनो मानो यौत्रनिका । मनोसादिपाठाद्गुञ् “नोऽपुंसो हति” [४।४।१३०] इति टिखं प्राप्तम् ।

प्रायोऽनपत्येऽलीनः ४।४।१५५॥ अनपत्यार्थेऽणि परत इन्नन्तस्य यदुक्तं तन्न भवति प्रायः । स्रग्विण इदं स्रग्विणम् । तथा सांकोटिनन् । गांगविणम् । साम्मार्जिनम् । “जिह्वविधौ” [२।३।६६] इति

जिन् । तदन्तात् स्वार्थे “जिनोऽण्” [४।२।२१] इत्यण् । अनपत्य इति किम् ? बाहुवर्तिनोऽपत्यं बाहुवर्तः । अशीति किम् ? मेधाविने हितं मेधावीयम् । प्रायोग्रहणात्स्वचित्प्रतिषेधो न भवति । दण्डिनां समूहो दाण्डम् । छात्रम् ।

औक्षम् ॥४।४।१५६॥ औक्षमिति निपात्यतेऽनपत्ये । उक्ष्ण इदम् औक्षम् । अपत्ये औक्ष्ण इत्येव । “कदिहन्धतराशोऽणि” [४।४।१२३] इत्यखन् । “अनः” [४।४।१५८] इत्यस्यापवादोऽयं योगः ।

गाथिचिदधिकेशिपणिगणिस्फादेः ॥४।४।१५७॥ गाथिन् विदथिन् केशिन् पणिन् गणिन् । इत्येतेषां स्फादेश्च हनो यदुक्तं तत्र भवति । गाथिनोऽपत्यं गाथिनः । वैदथिनः । कैशिनः । पाणिनः । गणिनः । स्फादेः शाङ्गिनः । चाक्रिणः । मोद्विणः । अपत्यार्थेऽन्यणि प्रतिषेधार्थमिदम् ।

अनः ॥४।४।१५८॥ अनपत्य इति निवृत्तम् । सामान्येनाणि परतोऽनो यदुक्तमत्रं टिक् च तन्न भवति । कर्मणा इदं कर्मणम् । साम देवता अस्य सामनः । हंनो विकारो हैमनः । यज्वनोऽपत्यं यज्वनः । प्राय इत्यनुवृत्तेरिक्तेऽपि टिक्भावाः । उपचारादथर्वा ग्रन्थोऽपि तमधीते आश्वर्धणिकः ।

येऽङ्गी ॥४।४।१५९॥ अङ्गावर्धे यकारादौ हृति परतोऽनो यदुक्तं तन्न भवति । सामानि माधुः सामन्यः । वेमन्वः । कर्मण्यः । राजोऽपत्यं राजन्वः । तक्ष्योऽपत्यं तक्ष्यः । “सेनान्तलक्ष्ण” [३।१।१४०] आदिना तक्ष्यो रथः । अङ्गानिति किम् ? सज्यम् । “गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च” [३।४।११४] इति टप्रण् ।

खेऽध्वनः ॥४।४।१६०॥ अध्वनः खे परतो यदुक्तं तन्न भवति । अध्वानमर्लंगामी अध्वनीनः । “यस्त्वाध्वनः” [३।४।१३६] इति खः । खे इति किम् ? प्राथ्वं कृत्वा गतः “गेरध्वनः” [४।२।८७] इत्यकारः सान्तः ।

न मादेरपत्येऽध्वर्मणः ॥४।४।१६१॥ मादेरादेरनो धर्मवर्धित्वत्पत्यार्थेऽपि परतो यदुक्तं तन्न भवति । मुपान्नोऽपत्यं सौषामः । भाद्रसामः । “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिक् भवत्येव । मादेरिति किम् ? सौत्वनः । अपत्य इति किम् ? धर्मणा परिशुतश्चार्मणो रथः । “परिशुतो रथः” [३।२।८] इत्यण् । अध्वर्मण इति किम् ? हैरण्वधर्मणः । प्रायोग्रहणानुवृत्तेर्हितनाम्नो विकल्पः । हितनाम्नोऽपत्यं हितनामः । हितनामनः ।

ब्राह्मेऽजातौ ॥४।४।१६२॥ अपत्य इति वर्तमानं जातेर्विशेषणम् । ब्राह्म इति निपात्यतेऽपत्य-जातेरन्यत्र । ब्राह्मणो (ब्राह्मो) गर्भः । ब्राह्ममकम् । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् । अजाताविति किम् ? ब्राह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः । अपत्यजातिरियम् । अजाताविति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । तेन अपत्यजातेरन्यत्र जाना-वपि निपातनमिष्यते । ब्राह्मण इयं ब्राह्मी औषधिः ।

कर्मः शीले ॥४।४।१६३॥ कर्म इति निपात्यते शीलेऽर्थे । कर्मशीलः कर्मः । “कृत्रादेर्णो” [३।३।१८०] इति णः । स तु “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इत्येव णे टिक्ते सिद्धः । “अनः” [४।४।१५८] इति त्वणि प्रतिषेधः । इदमेव ज्ञापकं “खेऽध्वण् कृतं भवति [५०] इति । तेन चुरा-शीला चौरी । शान्तान्-डी विधिः । शील इति किम् ? वायुक्ते कर्म कर्मणम् । “तद्युक्तात्कर्मणोऽण्” [४।२।४२] इत्यण् ।

दण्डिहस्तिनोः फे ॥४।४।१६४॥ दण्डिन् हस्तिन् इत्येतयोः फकारादौ हृति यदुक्तं तन्न भवति । दण्डिनोऽपत्यं दाण्डिनायनः । हास्तिनायनः । नडादित्वात्फण् ।

वाशिजिह्वाशिनोः फे छे ॥४।४।१६५॥ वाशिन् जिह्वाशिन् इत्येतयोः फे छे च यदुक्तं तन्न भवति । वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः । तिकावित्वात्फिञ् । जिह्वाशिनोऽपत्यं जैह्वाशिनेयः । “शुभादेः” [३।१।११२] इति टण् । “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिक् प्राप्तम् ।

भ्रौणहत्यधैवत्यसारधैवत्यकमैत्रेयहिरण्मयानि ॥४।४।१६६॥ भ्रौणहत्य धैवत्य सारय ऐच्चाक मैत्रय हिरण्मय इत्येतानि निपात्यन्ते । भ्रूणहन् धीवन् इत्येतयोश्चण् तत्त्वं निपात्यते । भ्रूणान् भावो

भौणह्यत् । सङ्गोऽप्यकं “तुल्योऽपि” [१.१.१२६] इति तेष्व एव नान्यत्र हन्तेस्तत्त्वम् । तेनेह न भवति ।
 वार्धने इति । धीनो भावो धैर्यम् । सरयुशब्दस्य अणि परतो यत्नं निपात्यते । सारवं जलम् । इक्ष्वाको-
 रपत्यम् ऐक्ष्वाकः । “राष्ट्रशब्दाद्वाङ्गोऽण्” [१.१.१५०] इति अणि उकारस्य खं निपात्यते । “सस्येयम्” [१.१.१८८]
 इति वा भवार्थे “कोङ्” [१.२.११०] इति वाऽणि । मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः “गृष्ट्वादेः” [१.१.१२४] इति ढणि
 कृते “यादेरिष्” [५.२.१७] यादो युशब्दस्य खं निपात्यते । यादेरियादेशस्तु विदादित्यादजि कृते द्रष्टव्यः । अज-
 न्तस्य सङ्गादिविचक्षायां “सङ्गाङ्गचक्षुषोपेऽभ्यञ्जिजामण्” [१.१.१५५] इति अणि कृते मैत्रेयः सङ्गः ।
 दृश्यन्तस्य सङ्गादौ “वृद्धचरणाक्खित्” [१.१.१६४] इति वुनि मैत्रेयकः सङ्ग इति भवति । हिरण्यस्य विकारः ।
 “मयङ् वैतथोरभक्ष्याण्डायनयोः” [१.१.१०८] इति मयटि कृते वक्षब्दस्य खम् । हिरण्यमयं जिनयम् ।

इत्यभयतन्दिर्विचितायां महावृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

पञ्चमोऽध्यायः

युचोरनाकौ ॥५.१.१॥ यु यु इत्येतयोर्गोनिमित्तभूतयोः अन अक इत्येतावादेशौ भवतः । युवोरित्यु-
 त्पृष्टविशेषणयोः सामान्यग्रहणम् । योरनः । वोरकः । नन्यादेस्तुः नन्दनो रमणः । “युवुतुचौ”
 [१.१.१०६] कारको हारकः । एवमाङ्गको वाङ्गकः । अङ्गेऽपि जानो भवो वेति विपुत्रा “बहुल्लेऽदोरपि”
 [१.२.१०३] इति कुञ् । योः कृत एव ग्रहणं व्याख्यानात् । तेनेह न भवति । उर्णायुः । शुभंयुः । उणादीनां
 बहुलं त्यसंसा तेनेह न भवति युजुः । “भुजिमृद्भ्यां युक्थुर्कौ” [उ० सू० ३.२१] इति युक् ।

आयनेयीनीयियः फढखल्लुग्रां त्यादीनम् ॥५.१.२॥ फ ढ ख ल्लु च इत्येतेषां त्यादौ वर्तमानानां
 निरचाम् आयन् एध् ईन् ईय् ह्य् इत्येते आदेशा यथासंख्यं भवन्ति । “नडादेः फण्” [१.१.१८८] नाढायनः ।
 नारायणः । “स्त्रीभ्यो ढण्” [१.१.१०६] वायुवेगेयः । वासवदत्तेयः । “प्रतिजनादेः खण्” [१.१.२०३] ।
 प्रतिजने साधुः प्रतिजनीनः । ऐर्दयुगीनः । “दोश्छः” [१.२.१६०] वासवीयो ध्वजः । वैश्रवणीया शिविका ।
 क्षत्रस्था पर्यं क्षत्रिवः । त्यग्रहणं किम् ? फक्कति । दौकते । आदिग्रहणं किम् ? जानुदध्नम् । पण्डः । शङ्खः
 इत्यादौ “उणादयो बहुलम्” [१.२.११७] इत्यादेशा न भवन्ति ।

भोऽन्तः ॥५.१.३॥ त्य इत्यनुवर्तते । आदिग्रहणं निवृत्तम् । स्वरितलिङ्गभावात् । भ इति भकारस्य
 त्यावधवस्य अन्त इत्यवमादेशो भवति । जानन्ति । पश्यन्ति । “जुविरिभ्यां भः” [उ० सू०] अरन्तः । वेऽन्तः ।
 त्यस्येति किम् ? उज्झितः ।

अस्थाल् ॥५.१.४॥ यवञ्जकात्परस्य भस्य अत् इत्ययमादेशो भवति । ददति । ददतु । मिमते । मिमताम् ।
 अन्तादेशापवादोऽयम् । न तु केर्जुसः । अददुः । अजजुः ।

देऽन्तः ॥५.१.५॥ दक्षिणये यो भकारस्तस्यानकारान्ताद्दोस्तस्य अदित्ययमादेशो भवति । लुनते ।
 लुनताम् । अलुनत । पुनते । पुनताम् । अपुनत । द इति किम् ? लुनन्ति । पुनन्ति । अनत इति किम् ?
 व्यक्ते । प्लवन्ते । नित्यत्वात् प्रागेव शप् ।

शीङ्गो रुट् ॥५.१.६॥ शीङ्गो गोर्निमित्तभूतस्य भस्य रुडागमो भवति । शेरते । शेरताम् । अशेरत ।
 रुडयं परादिः क्रियते भग्नहणेन ग्रहणं यथा स्वात्तेन “शीङ्गो रो” [५.३.१३०] इत्येप् । परत्वेन रुटि कृते आदिग्रहणं
 निवृत्तेर्मध्येऽपि स्वावधवस्य भस्यादादेशः । सानुकम्भग्रहणं किम् ? यङ्ग्वत्तस्य मा भूत् । व्यतिरोक्ष्यते ।

वेत्तेः सिद्धसेनस्य ॥५११७॥ वेत्तेर्गोत्रनिमित्तभूतस्य ऋस्य रुडागमो भवति सिद्धसेनस्याचार्यस्य मतेन । संविद्यते । संविद्यते । संविद्यताम् । संविद्यताम् । समविद्यत । समविद्यत । “समो गम्प्रच्छि” [१२१२४] इत्यादिना विदेर्दः । तिप्ता निर्देश उच्चिकरणार्थः । तेन “विद् विचारणे” [धा.] इत्यस्य रौद्रादिकस्य ग्रहणं न भवति । विन्दते ।

भिस्रोऽत ऐस् ॥५११८॥ अर्थवशाद्धिमक्तिविपरिणामः । अत इत्यकारान्ताद् गोस्तस्य भिस ऐस् भवति । तुरैः । अतुरैः । अथ “बहौ ऋष्येत्” [५१११८] इति परवादेशं कस्मान्न भवति । इनेऽप्येत्वे भूतस्यै गत्या पुनः प्राप्नोनीहि नित्यनादैम् । एमिति सिद्ध ऐस्प्रवृत्ता किम् ? अतिजरसैः । “तिकुप्रादयः” [११३८१] इति से “स्त्रीगोनीचः” [१११८] इति प्रादेशे च कृते । “एकदेशविकृतमनन्यवत्” [५०] इति जरशब्दस्याः सडादेशः । “सञ्जिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” [५०] इति परिभाषेयमनित्या “कष्टाय” [२१११२] इति जापकात् । अत इति किम् ? सधुमिः । तपरकरणं किम् ? मिथमिः ।

इदमदसोः सकोः ॥५११९॥ इदम् अदस् इत्येतयोः सककारयोरेव भिस ऐस् जायते । इमकैः । “किसर्वनाम्नोऽक् प्राचटेः को दः” [४१११२०] इत्यक् “वः” [५११८२] इति तस्य मत्वम् । अयमः “दादुर्दोमोऽदसोऽसेः” [५११८८] इति दात्परस्य वर्णमात्रस्योत्वं दस्य य मत्वम् । मयोर्गिति किम् ? एमिः । “बहौ ऋष्येत्” [५१११८] इत्येवम् । “इति स्म” [५१११७१] इतीदम् इदः खम् । अयमः “बहोर्वीरेतः” [५११८६] इतीत्वम् । इदमदसोरेव सकोरित्येवमवधारणं भा विज्ञायीति जापनार्थः ।

स्तेनान्छस्ताडसेः ॥५११२०॥ अकारान्ताद्गोः परेषां छप् य छप् इत्येतेषां स्य इन आत् इयेत आदेशा भवन्ति । इन्द्रस्य । चन्द्रस्य । इन्द्रेण । चन्द्रेण । इन्द्रात् । चन्द्रात् । अत इत्येव । कर्त्ता । कर्तुः ।

डेयः ॥५११२१॥ अकारान्ताद्गोस्तस्य डे इत्येतस्य य इत्ययमादेशो भवति । इन्दाय । चन्द्राय । अत इति किम् ? गवे । नवे ।

सर्वनाम्नः स्मै ॥५११२२॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोस्तस्य डे इत्येतस्य स्मै इत्ययमादेशो भवति । सर्वस्मै । तस्मै । अमुस्मै । अत इति किम् ? भवते ।

डसिङ्योः स्मास्मिन्नौ ॥५११२३॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोस्तस्योर्ङिति ङि इत्येतयोः स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ भवतः । सर्वस्मात् । सर्वस्मिन् । यस्मात् । वस्मिन् । अत इत्येव । भवतः । भवति ।

जसः शी ॥५११२४॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोः परस्य जसः शी इत्ययमादेशो भवति । सर्वे । एते । के । दीवप्रङ्गणमुत्तरार्थम् । पयसी । दधिनी ।

औड आपः ॥५११२५॥ आकारान्ताद्गोः औडः शीत्ययमादेशो भवति । आधिति यापुडापोः सामन्त्येन ग्रहणम् । औडिति द्वेपौरुकारस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा । माले लभ्येते । माले पश्य । बहुराजे तिष्ठतः । बहुगदे पश्य । “अनरच आद्” [३१११०] इति डाप् । “अधिपरी अनर्थकी” [११११०] इति निर्देशात् “सोडिनि” [५१११०६] इत्यादिषु स्वशास्त्रगणना द्विदाश्रीयते ।

नपः ॥५११२६॥ नपो गोस्तस्य औडः शीत्ययमादेशो भवति । दधिनी तिष्ठतः । दधिनी पश्य । एवं वने । जले । “नेत्यात्” [४१११२] इति “सुटि पूर्वस्वम्” [४११८६] दीने भवति ।

जशसोः शिः ॥५११२७॥ नपः परयोर्ङि शम् इत्येतयोः शिशित्वयमादेशो भवति । दधीनि तिष्ठन्ति । दधीनि पश्य । एवं मधूनि । वनाणि । धनानि । जसा सच्चरितस्य शसो ग्रहणादिह नेत्यने । पात्रशो ददाति ।

अष्टाभ्य औश् ॥५११२८॥ अष्टन्शब्दात्परस्योर्ङि मशसोरौश् भवति । अष्टौ तिष्ठन्ति । अष्टौ पश्य । अष्टन इति सिद्धे अष्टाभ्य इति कृतात्वस्योच्चारणं किम् ? यनैवान्वं तद्वैवैशभावो यथा स्वात् । ननु नित्यमात्वम् । इदमेवं जापकमात्रविकल्पस्य । अष्ट तिष्ठन्ति । अष्ट पश्य ।

“अतुरक्तः शुचिर्दत्तः श्रुतवान् देशकालविद् ।
वपुष्मान् कान्तिमान् वाग्मी वृत्तः स्वाद्यष्टभिर्गुणैः ॥”

“भौरधिकारे तदन्तस्य च” [५०] इति तदन्तादपि भवति । परमाणौ । प्रधाने कार्यसम्प्रत्यया-
द्वये न भवति । प्रियाग्रान इति । “उचिलः” [५१११६] इति उपि प्राप्ते औशारभ्यो न “सुपो धुसृदोः”
[११११४२] इति । तेन आद्यौ गुणा यस्य सोऽष्टगुणः । ओशिति सिद्धे औशग्रहणं किम् ? अप्यवाचनभ्रते
अप्यन्यतीति । विषयगतनिवृत्ते अप्याविति यथा स्यात् ।

उचिलः ॥११११६॥ इत्संज्ञकादुत्तरखोर्जशसोऽन्भवति । पद् तिष्ठति । पद् पश्य । एवं पञ्च ।
नय । परमपञ्च । प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययादिह न भवति । प्रियवपः । प्रियपञ्चानः ।

नयः स्वमोः ॥१११२०॥ भवति मधुः स्वमोः पूर्वार्थेण तत्त्वम् । मधुपञ्चनयोः स्वमोऽन्भवति ।
दधि पश्य । मधु तिष्ठति । मधु पश्य । तत्कुलमित्यत्र त्यदाद्यत्वं भावित्वा कृताकृतप्रमङ्गित्वेन नित्यवाद्युप-
नम्बत्वे कृते लक्षणान्तरेणाम्भावे सत्यनित्य उप- नैवम् । “यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न
तदनित्यम्” [५०] इति ।

अतोऽम् ॥१११२१॥ अकारान्तादपः परयोः स्वमोरभवति । वनम् । वनम् । तपरकरणां भुतमुत्पा-
र्यम् । मादेशे क्रियमाणे सुपीति दीर्घं स्यात् । अतिजगमं कुलं पर्येति च न स्यात् । “सन्निपातलक्षणो विधि-
रनिमित्तं तद्विद्यातस्य” [५०] इत्यम उक्तं भवति ।

उतरादेः पञ्चकस्य दुक् ॥१११२२॥ उतरादेः पञ्चकस्य दुगागमो भवति त्वमेः परतः ।
कतरत्तिष्ठति । कतरत्पश्य । एवं कलमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् । पञ्चकस्येति किम् ? समन् ।
सिमम् । उतरेण सिद्धे अन्यतरग्रहणं किन्त्यम् ? अन्यतमं वनम् । अनित्यमागमादुत्पासनमित्येकारस्य न
भवति । एकतरं वनम् ।

युष्मदस्मदो ङसोऽश् ॥१११२३॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यामुत्तरस्य ङसोऽश् भवति । नय स्वम् । मम
स्वम् । शिक्करणां सर्वदेशार्थम् ।

ङेसुटोरम् ॥१११२४॥ युष्मदस्मद्व्यां परस्य ङे इत्येतस्य सुटश्च अमित्ययमादेशो भवति । तुभ्यम् ।
मह्यम् । त्वम् । अहम् । युवाम् । आवाम् । यूयम् । वयम् । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । “युवावौ द्वौ”
[५१११५१] । “आवि” [५१११४७] इति द्रव्यात्वम् । इपि पुनः “इपि” [५१११४६] इत्यात्वम् ।

शसो सः ॥१११२५॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यां परस्य शसो नकारादेशो भवति । शुष्मान् । अस्मान् पत्न-
जिनः । “परस्यादेः” [११११५१] इत्यकारस्य नकारः । “स्फान्तस्य खम् [५१११४१] इति सकारस्य खम् ।
“इपि” [५१११४६] इत्यात्वम् । “नश्च पुंसि” [४१३१११] इति नत्वं न भिन्न्यालिङ्गत्वाद्युष्मदस्मदोः ।

भ्यसोऽभ्यम् ॥१११२६॥ युष्मदस्मद्व्यां परस्य भ्यसोऽभ्यमित्ययमादेशो भवति । युष्मभ्यं देवम् ।
अस्मभ्यं देवम् । “खमादेशो” [५१११४३] इति दलम् । “एप्यतोऽपदे” [४१३१८४] इति परस्य वम् ।

अत्कायाः ॥१११२७॥ युष्मदस्मद्व्यां परस्य काया भ्यसोऽदित्ययमादेशो भवति । युष्मदधीते ।
अस्मदधीते ।

ङसेः ॥१११२८॥ युष्मदस्मद्व्याम् परस्य ङसेरादेशो भवति । “त्वमावेके” [५१११५६] । त्वत् । मत् ।

साम आकम् ॥१११२९॥ युष्मदस्मद्व्याम् परस्य साम आकमादेशो भवति । युष्माकम् । अस्मा-
कम् । धाविनं सुष्टं भूतवदुपादाय साम इति निर्देशः कृतः । आकमि कृते सुगुणनिवृत्त्यर्थः । कमि क्रियमाणे

एवं स्यात् । अकम्बकारोच्चारणसामर्थ्यात्पररूपाभावे स्वेऽको दीप्तेन सिद्धमाकारवचनं किम् ? हलन्तादपि तथा स्यात् । शुष्मानाचक्षते शुष्मयन्ति । तेषां शुष्माकम् ।

तुह्योस्तातङ् जाशिषि ॥५१॥३०॥ तु हि इत्येतयोराशिव्यर्थे तातङ्ङादेशो भवति वा । जीवताङ्ङ-
वान् । जीवतु भवान् । जीवतात्त्वम् । जीव त्वम् । तातङ्ङि क्त्वरणमेवैपोब्रुव ईदृश्च प्रतिषेधार्थं नत्वन्ताङ्ङार्थं
व्याख्यातात् । तेन कुरुतात् । मृडात् । ब्रूताङ्ङवानिति सिद्धम् । आशिषीति किम् ? किं करोतु भवान् । कुरु
त्वम् । जीवतात्त्वमित्यत्र “अतो हेः” [४।४।६६] इति स्थानिवद्भावाद्गुप् प्राप्नोति । नैवं “हुम्बल्यो हेधिः”
[४।४।६४] इत्यत्राधिकारे अतो हेरिति पुनर्हिप्रहणाद् हिरूपस्यैव हेष्मभवति । उक्तं च—

“तातङ्ङि क्त्वं संक्रमकृत्स्यादस्यविधिरचेत्तच्च तथा न ।

हेरधिकारे हेरधिकारो नाशविधौ तु शापकम्माह ॥”

प्यस्तिवाक्से त्वयः ॥५१॥३१॥ त्वया इत्येतस्य प्य इत्ययमादेशो भवति तिस्रे वाक्से च । तिस्रे-
प्रकृत्य । वाक्से-उच्चैःकृत्य । नीचैःकृत्याच्चष्टे । तिवाक्स इति किम् ? अकृत्वा । परमकृत्वा ।

यभेऽश्ववृषयोः कदांच सुक् ॥५१॥३२॥ यभविष्ये अश्व वृष इत्येतयोः क्यचि परतः सुम्भवति ।
अश्वस्यति बह्वश्वः । वृषस्यति गौः । यभ इति किम् ? अश्वीयति । वृषीयति देवदत्तः ।

क्षीरलवणयोर्लौल्ये ॥५१॥३३॥ क्षीरलवणयोर्लौल्ये क्यचि परतः सुम् भवति । क्षीरस्यति
माणवकः । लवणस्यति उष्ट्रः । लौल्य इति किम् ? क्षीरीयति । लवणीयति वातकी । यभेऽश्ववृषात्क्यचि स
इति सिद्धे गुरुनिर्देशात् “कचिदन्यत्रापि सुगसुक्च सर्वसृज्यो लौल्ये भवति” । दधिस्थिति । मधुस्थिति ।
दध्यस्थिति । मध्वस्थिति इत्यादि सिद्धम् ।

आन्यास्तसर्वनाम्नः सुद् ॥५१॥३४॥ आन्यान्तास्तसर्वनाम्न आमि परतः सुद् भवति । सर्वेणाम् ।
येणाम् । तेषाम् । केषाम् । सर्वाणाम् । यासाम् । तासाम् । कासाम् । आदिति कानिर्देशः आमीत्यस्योत्तरत्र
सावकाशस्य तानिर्देशं प्रकल्पयति । आदिति किम् ? भवताम् । सर्वनाम्न इत्येव । नराणाम् ।

त्रेख्ययः ॥५१॥३५॥ त्रि इत्येतस्य त्रय इत्ययमादेशो भवत्यामि परतः । त्रयाणाम् । परमत्रयाणाम् ।

प्रेलम्बाप्चतुरो नुद् ॥५१॥३६॥ प्र इत् नु इत्येवंसंज्ञकेभ्य आचन्ताच्चतुःशब्दाच्च आमि परतो
नुद् भवति । प्र-देवानाम् । कवीनाम् । साधूनाम् । इल्-पणाम् । पञ्चानाम् । सु-नदीनाम् । वधूनाम् ।
आप्-विद्यानाम् । बहुराजानाम् । चतुर-चतुरणाम् । “गोरधिकारे तस्य तदन्तस्य च” [५०] इति । परम-
पणाम् । परमपञ्चानाम् । मुख्ये कार्यसंप्रत्ययादिद् न भवति । प्रिययणाम् । प्रियपञ्चानाम् ।

इदिद्धोर्नुम् ॥५१॥३७॥ इकारेतो धोर्नुभागमो भवति । नन्दिता । नन्दिनुम् । कुरिडता । कुरिडनुम् ।
इदिति किम् ? पचति । धोरिति किम् ? अभैस्तीत् । सिरवं त्यः । “विम्बिहुरस्योर च” [२।१।७५] इति
सनुम्कनिर्देशाच्चोत्पत्तेः प्रागेव नुम् । तेन कुरडा । हुण्डा । “सरोर्हलः” [२।३।८५] इत्यः सिद्धः ।
“उबुन्दिदर” [४।०] इति शापकादिरितो नुम्न भवति । भेदनम् ।

शे मुचाम् ॥५१॥३८॥ शे परतो मुचादीनां नुम् भवति आगणपरिसमाप्तेः । मुञ्चति । लुम्पति ।
विन्दति । श इति किम् ? मोक्ष । मोक्षनुम् । एकस्य बहुत्वानुपपत्तेर्मुचादीनामिति विज्ञेयम् । शे इति योग
विभागात् “ह्रस्वादीनां नकारोर्लौ नुम् भवति” । लृम्पति । ह्रम्पति । गुम्पति । उम्भति । शुम्भति । “हल्लुङ्
क्त्विनिर्दिष्टः” [४।४।२३] इति नखम् । पञ्चानुम् ।

मस्तिजनशोर्भेलि ॥५१॥३९॥ मस्तिज नश् इत्येतयोर्नुम्भवति शलादौ परतः । मङ्क्ता । मङ्क्तम् ।
नंश् । मंनुम् । मस्तेर्नुमि कृते “ह्रस्वोऽनन्तराः स्फः” [१।१।३] इति द्वयोस्त्रयाणां वा स्फसंज्ञा । द्वयोः स्फसंज्ञा-

श्रित्य स्फादेः सस्य खम् । नुमोऽनुस्वारपरस्वत्ये । मञ्जीति किम् ? मजनम् । नशिता । मस्तेः “सखां जश् मशे” [५।४।१२८] इति सकारस्य दत्वम् । दस्य च जुत्वं जकारः । “रधादेः” [५।१।६३] वेङ् ।

रधिजभोरचि ॥५।१।४०॥ रधि जभ इत्येतयोः अजादौ परतो नुम् भवति । रन्धयति । रन्धकः । साधुरन्धी । रन्धं रन्धम् । रन्धो वर्तते । जम्भयति । जम्भकः । साधुजम्भी । जम्भो वर्तते । कृताकृतप्रसङ्गित्वेनैषः प्रागेव नुम् । अचीति किम् ? रद्धा । जम्भम् ।

लिटीटी रधेः ॥५।१।४१॥ रधेतुम् भवति इडादौ लिटि परतः । ररन्धिव । ररन्धिम । नुम्विधान-
सामर्थ्यत् “इलुङ् क्लियनिवितः” [४।४।२२] इति नखं न भवति । नित्याथोऽयं योगः । लिट्येव इडादौ
नान्वस्मिन् । रधिता । रधितुम् । विपरीतो नियमः कस्माच्च भवति ? इडादेवेव लिटीति । इह न स्यात् । ररन्धनुः ।
ररन्धुः । नैवं योगविभागादित्यप्रसिद्धेः । लिटीटीति योगः कर्तव्यः । तदनु रधेरिति । रधेलिटीति नुम् भवति ।
रधेरिति पृथक्करणं किमर्थम् ? लिटीटीत्येष्टनियमसिद्धिर्यथा स्यात् । लिट्येवेडादौ रधेतुमिति ।

रभोऽशब्लितोः ॥५।१।४२॥ रभो गोनुम् भवति अजादौ न तु शब्लितोः । आरम्भवामि । आरम्भकः ।
साध्वारम्भी । आरम्भमारम्भम् । आरम्भो वर्तते । अशब्लितोरिति किम् ? आरम्भते । आरंभे । अचीत्येव ।
आरम्भम् । अशब्लितोरित्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः । नञः सापेक्षस्यापि गमकत्वादनुरागभोज्यादिवत्सविधिः ।

लभेः ॥५।१।४३॥ लभेः शब्लिङ्वर्जितेऽजादौ नुम्भवति । आलम्भवति । आलम्भकः । साध्वालम्भी ।
आलम्भमालम्भम् । आलम्भो वर्तते । अशब्लितोरित्येव । आलम्भते । आलेभे । अचीत्येव । लम्भम् । पृथग्यो-
गकरणमुत्तरार्थम् ।

आङो यि ॥५।१।४४॥ आङ्पूर्वस्य लभेर्यकारादौ त्ये परतो नुम् भवति । आलम्भ्या गौर्वाङ्गणेन ।
आङ् इति किम् ? लम्भम् । यीति किम् ? आलम्भा । आलम्भ्य गत इत्यत्र कृतेऽपि नुमि “इलुङ् क्लियनिवितः”
[४।४।२३] इति नखम् । मुम्बन्धनं त्वन्यत्र सावकाशम् ।

उपात्प्रशंसायाम् ॥५।१।४५॥ उपात्परस्य लभेः प्रशंसायामर्थे नुम् भवति यकारादौ । उपलम्भा
भवता विद्या । उपलम्भयानि धनानि । प्रशंसायामिति किम् ? उपलम्भ्यस्माद् वृषलात् किञ्चित् ।

गेः खघञोः ॥५।१।४६॥ गेरुत्तरस्य लभेतुम् भवति खघञोः परतः । सुप्रलम्भः । दुष्प्रलम्भः ।
घञि-प्रलम्भः । उपलम्भः । गेरिति किम् ? ईषल्लभो लाभः । नियमाथोऽयं योगः । गेरेव खघञोः । अथ गेः
खघञोरेव कस्माच्च भवति ‘शप उपलम्भने’ [धा०] इत्यादिनिर्देशात् ।

न सुदुभ्यां केवलाभ्याम् ॥५।१।४७॥ सु दुस् इत्येताभ्यां केवलाभ्यां परस्य लभेतुम् भवति ।
सुलभो दुर्लभः । कृच्छाकृच्छार्थदन्यत्र घञ् । सुलभो दुर्लभः । केवलाभ्यामिति किम् ? सुप्रलम्भः । दुष्प्रलम्भः ।
अतिसुलम्भः । जिग्रहणानुवृत्तेः सुदुसोर्गोर्ग्रहणम् । अतिसुलभमिति कथम् ? “अतिक्रमे चातिः” [१।४।८] इति
अस्तेर्गिसंज्ञाभावात् सुः केवल एव गिः । केवलग्रहणं हि तुल्यजातीयस्य गेर्निवर्तकम् । अक्रियमाणेऽपि केवल-
ग्रहणे सुदुसोः सन्निधाने उच्यमानं कार्यं कथमन्याधिकयोरपि । इदमेव ज्ञापकं क्वचित्केवलस्य सन्निधाने
उच्यमानमन्याधिकस्यापि भवति । तेन “निविश” [४।२।११] इत्यत्र निविशते अभिनिविशत इति सिद्धम् ।

अणिमोर्याङोः ॥५।१।४८॥ अणिपूर्वस्य लभेर्जा नुम् भवति अणिमोः परतः । अलम्भि । अलाभि ।
लम्भं लम्भम् । लाभं लाभम् । अणेरिति किम् ? प्रालम्भि । प्रलम्भं प्रलम्भम् ।

उगिद्वां धेऽघोः ॥५।१।४९॥ उगितां गूनाम् अञ्चतेश्च धे परतो नुम् भवत्यघोः । गोमान् । धन-
वान् । विद्वान् । भेयान् । भवान् । पचन् । पचन्ती । पचन्तः । अञ्चतेः प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । उगिद-
चामिति किम् ? वाक् । वाचौ । वाचः । धे इति किम् ? पचतः पश्य । गोमतः पश्य । अञ्चतिग्रहणं निय-

सार्थम् । उगितकार्यं ध्रुवस्यैव । तेनेह न भवति । उलासत् । पर्यध्वत् । अधोरिति ग्रहणं पर्युदासार्थम् । धोरन्यस्य अधुभूतपूर्वस्य यथा स्यात् । गोमत्यत इति गोमान् । गोमानिवाचरति “कर्तुः क्यङ् सखं विमावा” [२।१।६] इति क्यङि कृते क्विप्यागतनिश्चये अतः के यत्ने च कृते सौ नुम् “अथसोऽधोः” [४।४।१२] इति दीत्वम् ।

युजेरसे ॥५।१।५०॥ युजि इत्येतस्मासे नुम्भवति धे परतः । युज् । युज्जी । युज्जः । “कृत्विग्दृक्” [२।२।५७] इत्यादिना क्विप् । “क्वित्यस्य कुः” [५।३।७५] । अय इति किन् ? अथयुक् । अथयुजो । ‘ससूद्विप्’ [२।२।५६] इत्यादिना क्विप् । “वागसिङ्” [१।३।८२] इति षतः । अत इत्यनर्थकम् । युजे-रस्यमानः कथं तदन्तस्य नुम् । इदमेव ज्ञापकम् “धोरश्चिहारे तदन्तविधिरप्यस्ति” [५०] इति । युजे-रितीकारनिर्देशः किम् ? “युज् समाधौ” [५।०] इत्यस्य ग्रहणं मा भूत् । युजमिच्छति मोक्षाय ।

नपोऽज्जलः ॥५।१।५१॥ नपुंसकलिङ्गत्याजन्तस्य भञ्जन्तस्य च नुम् भवति धे परतः । वनानि । धनानि । दधीनि । मधूनि । उदञ्चिन्ति । सर्पीणि । अज्जल इति किम् ? विमलदिवि । चत्वारि । बहुगिरि । अहानि । “उगिदृषां धेऽधोः” [५।१।४६] इति नुम् बाधित्वा परत्वादनेन नुम् । ददन्ति । जायन्ति । जगन्ति ।

सुपीकोऽचि ॥५।१।५२॥ अजादी नुपि परत इगन्तस्य नपो नुम् भवति । तुम्बुसणे । त्रपुणे । सुपीति किम् ? तुम्बुसणो विकारः तौम्बुसं चूर्णम् । “सङ्-तौम्बोऽरज्यमन्तः” [४।४।१३४] इत्युकारस्त्यौत्वम् । इक इति किम् ? वने । जडे । अञ्चीति किम् ? जनुभ्याम् । अग्रग्रहणमनर्थकम् । इत्यपि नुमि नग्वे कृते सिध्यति जनुभ्यामिति । तथा अतिरान्याम् प्रियतिसुम्यां कुलान्यामित्वपि । रायमतिक्रान्ताभ्यां कुलान्याम् । “तिङ्प्रदायः” [१।३।८३] इति षते कृते । “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशः । प्रियास्तिस्रो ययोः कुलयोरिति विग्रहे षतः । अत्र परत्वानुमं बाधित्वा “रायो हलि” [५।१।१४४] इत्यात्वं तिष्ठमावः । “सङ्गृह्णते परनिर्णये बाधित एव” [५०] इति तिसृशब्दस्य पुनर्नुम् भवति । शुचिशब्दस्यापि नपुंसकलिङ्गविधत्वायामपि परतः पूर्वविप्रतिषेधेन नुटि कृते नुम् । मृदन्तस्य नुमः लम् । “लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्” [५०] इति “इन्हन्पूर्वार्थस्याम्” [४।४।६] “शौ” [४।४।१०] इत्यस्य नियमस्याभावात् “नोकः” [४।४।५] इति दीत्वे कृते सिद्धं शुचीनामिति । यत्र नखं नास्ति तत्र श्रवणं स्यात् । हे जानो । “नोसता गोः” [१।१।६४] इति प्रतिषेधात्कथं नुम् ? इदमेवाग्रग्रहणं ज्ञापकम् । अनित्यः सप्रतिषेधः । तेन कौ प्रत्येपि कृते सिद्धं हे ययो इति । उत्तरार्थं च ।

भादौ चोक्तपुंस्कं पुंवत् ॥५।१।५३॥ अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः । इगन्तं नप् उक्तपुंस्कं भादावजादौ परतो वा पुंवद्भवति । शुचिः साधुः । शुचि साधुवृत्तम् । सृष्टवे । सृष्टिने । सृष्ट्या । सृष्टी । सृष्टश्चक्रिणः । अग्रणि दण्डरत्नम् । पुंवद्भावपदे “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशाभावः । “पूर्णिवावच्छा-दुक्तोऽसुधियः” [४।४।७८] इति वण् च । अग्रण्या । अग्रणिना । अवण्वे । अग्रणिने । अग्रण्यः । अग्रणिनः । अग्रण्योः । अग्रणिनोः । अग्रण्याम् । अग्रणीनाम् । पूर्वविप्रतिषेधेन नुट् । अग्रण्याम् । अग्रणिनि इत्यत्र कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् “छेराम् स्वाग्नीभ्यः” [५।२।११०] इत्याम् । मृदवे मृदुने वल्गाय । कर्ता नरः । कर्तृ कुलम् । कर्त्ता कर्तृणा । कत्रे । कर्तृणे । इक इत्येव । जलपाः पुरुषः । जल्यं कुलम् । जलपेन । विचीदं रूपम् । अञ्चीत्येव ग्रामणिभ्याम् । प्रादेशो भवत्येव । भादाविति किम् ? अग्रणिनी दण्डचक्ररत्ने । उक्तपुंस्कमिति किम् ? त्रपुणे । भादानुक्तपुंस्काद्वेति सिद्धे नपो विकल्पे पुंवद्ग्रहणसामर्थ्याद्-प्रकृतस्यापि प्रादेशस्य विकल्पः । उक्तः पुमान् येन तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्तेऽर्थे तदुक्तपुंस्कं शब्दरूपं गृह्यते । तेन भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसकशब्दस्य विकल्पो न भवति । पीलुने कलाय । पीलुशब्दस्य कृते समुदायः प्रवृत्तिनिमित्तं कले तु तदवयवः ।

सकथ्यस्थिदध्यज्जामनङ् ॥५१॥५४॥ सकथ अस्थि दधि अक्षि इत्येतेषां नपामनजादेशो भवति । सकथ्ना । सकथ्ने । अस्थ्ना । अस्थ्ने । द्य्ना । द्य्ने । अक्ष्णा । अक्ष्णे । भादाचित्येव । अस्थिनी । अचीत्येव । अस्थिभ्यान् । प्रियसकथ्ना व्याधेन । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरपि सकथ्यादीनां नपुंसकानाम् । तदन्तस्य नपुंसकस्थानपुंसकस्य च गोरनजादेशो भवति । केवलानां सकथ्यादीनां व्यपदेशिवद्भावाद्गुन्वम् । “व्यपदेशिवद्भावो न सृदा” [५०] इत्यर्थं परिभाषा त्वधिपया नेहावतिष्ठते । नप इति किम् ? दधिनाम कश्चित् तेन दधिना । लोकप्रसिद्धशब्दानुशासनं द्वीदमिति लोकसिद्धेनानङ् सूपनिर्देशः । मुरीकोऽचीत्येव । नप इति प्रकृतिविशेषमिदं गृह्यमाणविशेषणमिति पुल्लिङ्गः सनुदायोऽनङोऽवकाशः प्रियसकथ्ना पुरुषेण । नुम्स्तु दधिनी सन्धिनी । दध्नेत्वंदौ परत्वादनङ् ।

विदेः शतुर्वसुः ॥५१॥५५॥ भादावजादौ सुपीति निवृत्तम् । विदेः परस्य शतुर्वसुर्वादेशो भवति । विद्वान् । विद्वांसौ । विद्वांसः । विद्वांसम् । विद्वांसौ । विदेरिति कानिदेशाद्विन्दतेनिवृत्तिः । वेत्यनुवर्तत इत्येके । विद्वान् । विद्वस्तौ ।

न थान् ॥५१॥५६॥ नुमनुवर्तते प्रकृतत्वात् । थादुत्तरस्य शतुर्नुम् भवति । ददत् । ददती । ददतः । ददतम् । ददती । जाग्रत् । जाग्रती । जाग्रतः । जाग्रतम् । जाग्रती । “उगिदचां धेऽधोः” [५१॥५६] इत्यस्य प्रतिषेधः ।

चा नपः ॥५१॥५७॥ थादुत्तरस्य नपुंसकस्य शतुर्वा नुम् भवति । ददन्ति कुलानि । ददति कुलानि । जाग्रन्ति कुलानि । जाग्रति कुलानि । “नपोऽङ्मलः” [५१॥५७] इति नुगिवकल्पितः । उगित्त्वक्षणात् “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] इति ।

शीम्बोरात् ॥५१॥५८॥ अवर्णान्ताद् गोः परस्य शतुर्वा नुम् भवति शी सु इत्येतेषोः परतः । तुदती कुले । तुदन्ती कुले । तुदती स्त्री । तुदन्ती स्त्री । याती कुले । यान्ती कुले । याती बहुवा । यान्ती बहुवा । करिष्यती कुले । करिष्यती स्त्री । करिष्यती स्त्री । करिष्यन्ती स्त्री । आदिति किम् ? अदती स्त्री । पन्ती स्त्री । अवर्ण-भावाश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वस्याङ्नुमः पररूपम् “वाणाद् गात्रं यत्नीयः” [५०] इत्यपि नास्ति भिन्नकालत्वात् । समकालं हि यलात्रलं चिन्त्यते । भिन्नकालता च पूर्वमेकादेशः पश्चान्नुम् । एकादेशे कृते व्यपवर्गाभावादवर्णान्ताद्गो-दन्तरस्य शतुरिति न पठते । “आद्यन्तवदेकस्मिन्” [तद्वन् ७३॥७३] इति तद्वद्भावोऽपि न सम्भवति । “उभयत आश्रयणे न सद्भावः” [५०] इति वचनात् । उभयं ह्यप्राश्रयतेऽवर्णान्तो गुः शता च । यद्येकादेशः पूर्वं प्रत्यन्तवद्भवति तदा शता न विद्यते । अथ परं प्रत्यदिदन्तदाऽवर्णान्तो गुर्नास्ति । भूतपूर्वगत्याऽवर्णान्तस्य गौराश्रयणे अदतीत्यादिष्वपि स्यात् । अत्रापि भूतपूर्वगत्या शप् । एवं तर्हि सूत्रसामर्थ्याद्भूतपूर्वगतिराश्रयणीया । अदतीत्यादिषु तु नुम् भवति आदिति निर्देशान् । अन्यथा शीम्बोरित्येव वाच्येन अवर्णस्यासम्भवात् ।

इयशापः ॥५१॥५९॥ इय शप् इत्येताभ्यां परस्व शतुर्नुम् भवति शीम्बोः परतः । दीव्यन्तो कुले । दीव्यन्ती स्त्री । पचन्ती कुले । पचन्ती स्त्री । पुनरारम्भो निवार्यः ।

सावनहुहः ॥५१॥६०॥ वेति निवृत्तम् । अनहुह इत्येतस्य नुम् भवति सौ परतः । अनङ्वान् । हे अनङ्वान् ।

दिच औत् ॥५१॥६१॥ दिव् इत्येतस्य सौ परत ओकारादेशो भवति । द्यौराकृत्ये पुण्येन । हे द्यौः । सुप्ते प्राप्ते परत्वादौकारादेशः । “अनल्लिखी” [११॥५६] इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्पुनर्न सुखम् । अथेह क्रमात्त भवति अक्षर्येति । अत्रान्तरङ्गत्वादूट् । अन्तरङ्गता च ह्यौ वकारस्योङ् क्यन्तस्य सावौकारः । व्युत्पत्तिः “दिवेर्ङिव्” [३० सू०] इति दिव् ।

पथिमथ्यमुच्चाभात् ॥५॥१॥६२॥ पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन् इत्येतेषामाकारादेशो भवति सी परतः । पन्थाः । मन्थाः । ऋभुक्षाः । “अन्तेऽक्षः” [१॥१॥४३] इति नकारस्वात्वम् । “गुर्धे” [५॥१॥६३] इतीकारस्यापि । “स्वेऽङो दीः” [४॥३॥८८] ।

एथे ॥५॥१॥६३॥ पथ्यादीनामवयवस्येकारस्याकारादेशो भवति धे परतः । पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः । पन्थानम् । पन्थानौ । एवं मन्थाः । मन्थानौ । ऋभुक्षाः । ऋभुक्षाणौ । एस्थिन् तपरत्वाभावादिद् कस्मान्न भवत्यस्त्वं पथीरिति ? पन्थानमिच्छति । “स्वेपः क्यच्” [२॥१॥६] । “नः क्ये” [१॥२॥१०४] इति पदत्वम् । मृन्मन्तम् “वीरकृद्गो” [५॥२॥१३४] इति दीत्वम् । पथीक्यैः क्तिप् । “अतः खम्” [४॥४॥५०] । “सखि ज्योः खम्” [४॥३॥५५] इति यखम् । इदानीं धे परत आत्वं प्राप्नोति । “परेऽच्चः पूर्वविधौ” [१॥१॥५७] इति स्थानिवद्भावादकारेण व्यवधानात् भवति । “न पदान्तद्विख” [१॥१॥५८] इत्यादिना तु यखविधमेव प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । आत्वविधिरचायम् । ईविधिं प्रति कस्मान्न स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । ईकारे विधिरोविधिरिति तत्र विग्रहः । धे चायं विधिर्नकारे । “कौ नष्टं न स्थानिवत्” [५०] इति कस्मान्न प्रतिषेधः । तत्रापि “कौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्” [५०] । धे चायं विधिर्न कौ । अवश्यमेवं विज्ञेयम् । अन्वया कौ निमित्तभूते नष्टं न स्थानिवद्भवतीत्युच्यमाने सौरिति न सिध्यति । लवमाचष्टे णिच् । “अतः खम्” [४॥४॥५०] लवतेः क्तिप् । खेः खम् । अत्रापि णिक्त्वमेव द्विनिमित्तम् नातः खम् । ततः “परेऽच्चः पूर्वविधौ” [१॥१॥५७] इति स्थानिवद्भावादकारेण व्यवधानात् स्वस्वात् । “कौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्” [५०] इत्युच्यमाने सर्वस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधाल्लौरिति सिद्धम् ।

थो न्थः ॥५॥१॥६४॥ पथ्यादीनां थकारस्य न्थादेशो भवति धे परतः । उक्तान्वेवोदाहरणानि । त्रयाणामव्यनुवृत्तौ सम्भवात्प्रथिमथोस्यस्य न्थादेशः ।

भस्य टेः खम् ॥५॥१॥६५॥ पथ्यादीनां भसंज्ञकानां टेः खं भवति । पथः पश्य । पथा । पथे । मथः मथा । मथे । ऋभुक्षः पश्य । ऋभुक्षा । ऋभुक्षे । भस्येति किम् ? पथिभ्यम् । भ इत्यनुवर्तमानमरीह न सन्वध्यते ।

पुंसोऽसुङ् ॥५॥१॥६६॥ पुंसोऽसुङ्ङादेशो भवति धे परतः । पुमान् । पुमांसौ । पुमांसः । पुमांसम् । पुमांसौ । च इत्येव पुंसः पश्य । “युनातेर्मुङ्सुक्कौ प्रश्च” [उ. सू.] इति पुंस् ।

गोर्णिन् ॥५॥१॥६७॥ घस्य विभक्तिविपरिणामः । गोशब्दात्परं घं णिङ्ङवति । णिङ्कार्यं भवतीत्यर्थः । गोः । गच्छतीति “गमेङ्गोस्” [उ. सू.] । गावः । सुगौः । इह कस्मान्न भवति ? हे चित्रगो । हे चित्रगवः । विहितविशेषणाददोषः । गोरेकत्वादिष्वर्थेषु विहितं घं णिङ्ङवति । चित्रगुशब्दात्वन्यपदार्थादेकत्वादपि घम् । अतिदेशोऽयं विनापि वतं लभ्यते । यथा गौर्वाहीकः । गौरित्युक्ते गोवदिति गम्यते । एवमिहाप्यणितं त्वं णितमाह । णिङ्ङदिति गम्यते । गोरात्रिति सिद्धे णिङ्ङिति प्रतिपत्तिगौरवं किम् ? कचिदन्यत्राप्यतिदेशो यथा स्यात् । तेन गोशब्दस्य द्यौः । द्यावौ । द्यावः ।

वास्मएणल् ॥५॥१॥६८॥ अस्मदो वा एणल् णिङ्ङवति । अहं पपच । अहं पपाच । अहं चकर । अहं चकार । अस्मदिति विकल्प संज्ञा । “मिङ्ङश्चिरोऽस्मष्टुमदन्याः” [१॥२॥१५२] इति । अस्मदिति किम् ? स पपाच ।

सख्युरकौ ॥५॥१॥६९॥ वेति नानुवर्तते । अकौ यः सखिशब्दस्तस्मात्परं घं णिङ्ङवति । सखायौ । सखायः । सखायम् । सखायौ । अकाविति किम् ? हे सखे ।

अनङ् सौ ॥५॥१॥७०॥ सख्युरनङ्ङादेशो भवति अकौ सौ परतः । सखा । अकावित्येव । हे सखे ।

समस्कृतः । सम्पूर्वस्य कृपः “सम्पूर्णपाकृजः” [५१११०] इति दुट् । पूर्वं कृतिर्न युज्यते । अथाऽतन-
आचिना त्वेनेत्यन्तरङ्गः सुट् । अद्विरङ्गत्वे समकृतेत्यत्र कात्पूर्वमट् स्यात् ।

स्वरतिषूङ्धूञ्स्वूदितः ॥५१११२॥ स्वरति षूङ् पूञ् सूति इत्येतेभ्यः ऊदित्भ्यश्च बलाद्यगस्य
वा इङ् भवति । “लिङ् स्वीरे” [५१११०] इत्येतस्मिन्नम् । वेत्तनुवर्त्तते । इष्टतोऽधिकाराणां प्रवृत्तिनिवृत्ती
इति स्वरतेरप्राप्ते विकल्पोऽन्येषां प्राप्ते । स्वर्ता । स्वरिता । स्वर्तुम् । स्वरितुम् । विसोता । विसविता ।
विघोता । विभविता । सोता । सविता । ऊदितः । विगाढा । विगाहिता । निगोढा । निगूहिता । स्वरतेस्तिपा
निर्देशो यदुच्यन्तनिवृत्त्यर्थः । सरोस्वरिता । सूङ्धूञोरनुबन्धनिर्देशः सुवतिषुवत्योर्विकल्पनिवृत्त्यर्थः । सविष्यति ।
सुविष्यति । स्वरतेः स्यविषये “इवृतः स्वे” [५१११२६] इति परस्वादिट् । स्वरिष्यति । किद्विषयेऽपि परस्वात्
“श्र्युकः किति” [५११११७] इति प्रतिषेधः । सूत्वा । धूत्वा । स्वरत्यादीनां प्रतिपदग्रहणं किम् ? ऊदित एव
ते पठितव्याः । पृथग्ग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम् । अनुबन्धकृतमनित्यं भवति । तेन उपलब्धिः । देशा इत्यत्र
पित्वादङ् दिवान्दीनी भवति । अनुबन्धनिर्दिष्टं यदुच्यन्तस्य न भवति । नोगूहिता ।

रधादेः ॥५१११३॥ रध इत्येधमादिभ्यश्च वा इङ् भवति । रद्धा । रधिता । नंष्टा । नशिता ।
रधादयोऽष्टौ वृत्पर्यन्ताः । प्रकृतस्तेषुः स्याद्विकल्पः, आदिनिवमास्तिटि कथम् ? रधादिषूदात्तानुदात्तपाठमाधान्
“येन नाप्राप्ते तस्य तद्वाचनम्” इत्यस्य न्यायस्यासम्भवात्, अविशेषेण विकल्पः । ररच्च । ररधम् ।
ररन्धिव । ररन्धम् ।

निष्कुषः ॥५१११४॥ निष्पूर्वात्कुषः बलाद्यगस्य वा इङ् भवति । निष्क्रेष्टा । निष्कोष्ठिता ।
“इदुदुकोऽस्यपुम्मुहुसः” [५११२८] इति रेफस्य सत्वम् । हणः पत्वम् । निस् इति किम् ? कोपिता ।
प्रकोपिता ।

इट् ते ॥५१११५॥ निष्पूर्वात् कुषः ते परतः इङ् भवति । निष्कुपितः । निष्कुपितवान् । पुन-
रिङ्ग्रहणं नित्यार्थमन्यथा विकल्पः स्यात् । आरम्भो हि “यस्य वा” [५१११२१] इत्यस्य वाचनार्थो न
नित्यार्थः । केल्युत्तरानुवर्तत एव ।

तीपसहलुभरुपरिषः ॥५१११६॥ तकारादावग्रे परतः इष सह लुभ रुप रिष इत्येतेभ्यो वा इङ्
भवति । पष्टा । एपिता । सोढा । सहिता । लोब्धा । लोभिता । रोप्य । रोपिता । रेप्य । रेपिता । तकारादा-
विति किम् ? एपिष्यति । इपेर्मादिकस्य ग्रहणं सहितादचर्यात् । तेनेतरयोर्विकल्पो न भवति । को
विशेषः ते “यस्य वा” [५१११२१] इति प्रतिषेधो न भवति । इपिताः । इपितवान् । लुभ इत्यविशेषण-
ग्रहणम् ।

सनीचन्तर्द्धभस्जदम्भुस्त्वृश्चिदृग्भस्जपिसनाम् ॥५१११७॥ इयन्तानां धूनाम् ऋध् भस्ज
दम्भु स्त्वृश्चि यु ऊर्णु भस्जपि सन इत्येषां च सनि परतः वा इङ् भवति । दुद्यूपति । दिदेविपति । सस्यूपति ।
सिसेविषति । अनिट्पक्षे “हलन्तात्” [१११८४] इति सनः कित्त्वम् । “छोः शूङ्छे च” [११११७] इत्युट् ।
अणादेशो द्वित्वं च “अणि चाणिस्तोरेव” [५१११८१] इति नियमात् सिवेश्चात् परस्य पत्वं न भवति । ईर्त्तति
आदिदिषति । ऋध्रेः सन् । अन्व इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । “आप्लपृधामीत्” [५१२१५७] इति
ऋकारस्य ईत्वम् । रन्त्वम् । “चस्यात्र खम्” [५१२१६०] इति अर्धिस इति । “न स्फादौ न्दोऽपि” [११२१३]
इति विशब्दस्य द्वित्वम् । “चे चर्त्त्वम्” [५१११२३] इति दः । विभर्त्तति । विभ्रक्षति । विभर्त्तिषति विभ्रजि-
षति । “भस्जो रसोरम्बा” [११११४६] इति रेफसकारयोः वा परो रम् भवति । चिप्सति । धीप्सति । दिदम्भिषति ।
“दम्भ इक्च” [५१२१५८] इति अस्य इत्वमी ईत्वम् । “चस्यात्र खम्” । “हलन्तात्” [१११८४]
इति किरान्नैप् । “एकाचो वशः” [५११५४] इति धत्वम् । “खरि” [५१११३०] इति चर्त्त्वम् । सूस्वृपति ।

सिखरिषति । शिश्रोपति । शिश्रविपति । संयुयूपति । संयिषविपति । इति कृते “द्विवेऽचि” [१११५६] इत्येवनादेशयोः स्थानिवद्भावाद् इति द्विवचम् । प्रोणुं नृषति । प्रोणुं नविषति । प्रोणुं नुविपति । इदृप्ते “वोर्णोः” [१११७७] इति वा द्विवचम् । बुभूर्पति । यदुब्रन्तनिवृत्त्यर्थः शपा निर्देशः । ज्ञाप्सति । जिज्ञप्सविपति । “आप्सृष्टधामीत्” [५११५७] इतीच्छे । सिंसासति । सिंसिपति । “जनसनखनाम्” [४१४१३] “सनि” [४१४१४] इत्यत्वम् । सनीति योगविभागात् “तनिपतिद्विद्वो ग्रहणम्” । तिनांमति । तितंसति । तिर्नपति । पितति । पिपतिपति । दिदरिद्रासति । दिदरिद्रिपति । सनीति किम् ? देविता ।

क्लिशस्तक्त्वोः ॥५११६८॥ क्लिशः त क्त्वा इत्येतयोर्वा इड् भवति । क्लिश्यः । क्लिशितः । क्लिशवान् । क्लिशितवान् । क्लिष्टा । क्लिशित्वा । इदृप्ते क्त्वात्यस्य “क्लिशः” [१११८१] इति क्त्वम् । क्लिश इत्येतस्य क्त्वात्ये स्वरत्यादिना सिद्धो विकल्पः । ते “यस्य वा” [५१११२१] इति प्रतिषेधः प्राप्नोति । क्लिश उपताप इत्यस्य तु तत्त्वोर्नित्यामिति प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ।

पूङ्गः ॥५११६९॥ पूङ्गश्च त क्त्वा इत्येतयोः परतः वेङ् भवति । “श्रुक् किति” [५११११७] इति प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पः । पूतः । पवितः । पूतवान् । पवितवान् । पूत्वा । पवित्वा । इदृप्ते ते “तः सेट् पूङ्” [१११६२] इत्यादिना क्त्वा त्ये तु “सृङ्” [१११८०] आदिनियमेन क्त्वाभावः । सानुबन्धनिर्देशः पूतो निवृत्त्यर्थः । इति सति पवित इत्यनिष्टं स्वात् ।

जुह्वसतेरिट् ॥५११७०॥ जुह्व वसति इत्येताभ्यां त क्त्वा इत्येतयोरिट् भवति । जुधितः । जुधितवान् । जुधित्वा । जुधित्वा । उपितः । उपितवान् । उपित्वा । जुधेः क्त्वात्य “व्युडोऽवो हलः संसृच” [१११६७] इति वा क्त्वम् । तिपा निर्देशो यदुब्रन्तनिवृत्त्यर्थः । वाक्स्तः । वाक्स्तवान् । पुनरिट्प्रदर्शं नित्यार्थम् ।

अञ्च्ये पूजायाम् ॥५११७१॥ अञ्च्यते पूजायामर्थे त क्त्वा इत्येतयोरिट् भवति । चेति निवृत्तम् । अञ्चितः । अञ्चितवान् । अञ्चित्वा गुरुन् गतः । “नाञ्चो पूजे” [४१४२६] इति नत्वाभावः । क्त्वात्ये “वोदितः” [५१११०४] इति विकल्पे ते “यस्य वा” [५१११२१] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । पूजायामिति किम् ? उदक्तमुदकं कृपात् ।

स्वार्थे लुभात् ॥५११७२॥ स्वार्थे विमोहने वर्तमानात् लुभात् त क्त्वा इत्येतयोरिट् भवति । विलुमिताः केशाः । विलुमिता सीमन्ताः । विलुमिताणि पदानि । लुमित्वा । लोमित्वा । क्त्वा त्ये “सीपसह” [५११६६] इति विकल्पे ते “यस्य वा” [५१११२१] इति प्रतिषेधे वचनम् । स्वार्थ इति किम् ? लुब्धो न लभते पुण्यम् । विविधं मोहनं विमोहनमाकुलीभवनामित्यर्थः । लुभादिति शविकरणनिर्देशात् “लुभ गार्थ्ये” [४१०] इत्यस्य निवृत्तिः ।

जृषश्च क्त्वः ॥५११७३॥ जृ षश्च इत्येताभ्यां क्त्वा इत्येतस्येड् भवति । तनितृन्त्यर्थे क्त्व ग्राह्यम् । जर्षित्वा । जरीत्वा । जर्षित्वा । “सृङ्” [१११८०] आदिनियमादक्त्वम् ? जृ इत्येतस्य श्रुक् प्रतिषेधे प्रश्नैरुदित्वात् विकल्पे प्राप्ते सूत्रम् । जृ इति क्त्वादिक्त्वस्य प्रदर्शनं जृषः सानुबन्धकत्वात् । जीर्वा ।

वोदितः ॥५११७४॥ उकारेण धोः क्त्वात्यस्य वा इड् भवति । शान्त्वा । शमित्वा । तांत्वा । तमित्वा । अनिट्पते “इस्य किमलोः किति” [४१४१३] इति दीत्वम् ।

त्यसौ कृतचृतच्छ्रुदतृदनुतः ॥५११७५॥ अग्रे सकराद्यत्यसौ परतः कृत चृत छृद तृद नृद इत्येतैभ्यो वा इड् भवति । कर्त्स्यति । अकर्त्स्यत् । चिक्त्सति । कर्त्तिष्यति । अकर्त्तिष्यन् । चिकर्त्तिषति । चर्त्स्यति । अचर्त्स्यन् । चिचृत्सति । चर्त्तिष्यति । अचर्त्तिष्यत् । चिचर्त्तिषति । छर्त्स्यति । अछर्त्स्यन् । चिछर्त्सति । छर्त्तिष्यति । अछर्त्तिष्यन् । चिछर्त्तिषति । तर्त्स्यति । अतर्त्स्यन् । तितृस्सति । तर्त्तिष्यति । अतर्त्तिष्यन् । तिगर्त्तिषति ।

नत्स्यति । अनत्स्यत् । निगृह्यति । नत्स्यति । अनत्स्यत् । निगृह्यति । मीति किम् ? कर्तृता । अगतिरिति किम् ? अकर्तृत् । अप्रति । विकल्पोऽयम् ।

गमेरियमे ॥५१११०६॥ गमेरिङ् भवति सकादौ मे । इङ्ग्रहणं नित्यार्थम् । गमेरिति मम् । “गम्हृ गृह्य गती” [धा०] । “सनि” [११४११६] इति इङ्गो गमादेशस्य “इङ्ग्रहणः” [वा०] इति वक्तव्येन “इक् स्मरथे [धा०] इत्यस्य “इङ्” [११४१२०] इति “इङ्ग्रहणम्” [धा०] इत्यस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । गमिष्यति । अगमिष्यत् । अनादेशस्येदम् । जिगमिष्यति । इयादेशस्यापीदम् । अधिजिगमिष्यति । “इङ्ग्रहणः” [वा०] । गमेरिति किम् ? एष्यति । म इति किम् ? संगसीष्ट । संगस्यते । संजिगंसते वत्सो मात्रा । अधिजिगंसते । “हनिङ्ग्रह्यचां सनि” [११४११७] इति दीवम् । ए इति चिप्यनिर्देशोऽयम् । ये वो गमिष्यन्त्यस्वस्व सकारादाविङ् भवतीति । तेन हेतुपि कृति चेद् सिद्धः । जिगमिष्यत्वम् । जिगमिष्यता । गमेरिति शोग-विभागो द्रष्टव्यः । तत्र वेति सम्प्रधत्ते । क्वचिदन्वयापि वा सकाराविङ् भवति । संजिगमिष्यता । संजिगमिष्यता । अधिजिगमिष्यता व्यक्तरणम् ।

न वृतादेः ॥५१११०७॥ वृतादेर्मे हण् न भवति । सकारादाविति निवृत्तम् । वत्स्यति । अवत्स्यत् । वृह् । वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवृत्सति । वत्स्यति । अवत्स्यत् । शिष्टवृत्सति । वत्स्यति । अवत्स्यत् । सिवन्त्सति । कल्प्स्यति । अकल्प्स्यत् । चिक्लृप्सति । कल्प्ता । कल्प्तारौ । कल्प्तारः । म इत्येव । वर्तिष्यते “स्वसनोर्वृद्धयः” [११२१८८] “लुटि च क्लृपः” [११२१८९] इति वा मविधिः । वृतादयः पञ्च वृत्पर्यन्ताः । वृत्करणमिहार्थं व्युत्पत्त्यर्थं च । द्विगता अपि हेतवो भवन्तीति । इह कथं विवृत्सत्यम् । अत्रापि मे इति चिप्यनिर्देशान्मोषलक्षितानां वृतादीनां नेङ् भवति । तेन हेतुपि कृति च इडभावः सिद्धः । विवृत्सता । वविष्ये तु विवर्तिष्यन् । विवर्तिष्यितुम् ।

शेषदेशेऽत्वदचसृजिदशस्तासौ नित्यानिटस्थेऽव्यादः ॥५१११०८॥ उपदेशे अकारवद्भवः अजन्तेभ्यः सृजि दशि इत्येतभ्यां च तासौ नित्यानिटभ्यः ये वा इङ् भवति व्या अद इत्येतौ वर्जयित्वा । आदिनियमादिदि प्राप्ते विकल्पः । अत्वान्-पत्ता । पपक्थ । पेचिथ । शक्ता । शशक्थ । शेचिथ । अन्-वाता । वयाथ । वयिथ । चेता । चिचेथ । चिचयिथ । होता । लुहोथ । लुहविथ । स्रष्टा । स्रष्टथ । एर्माजिथ । हृश्-ब्रथा । दद्रष्ट । ददर्शिथ । उपदेश इति किम् ? कर्ता । चकर्पिथ । एतेगमिति किम् ? भेत्ता । विभेदिथ । तस्याविति किम् ? गन्ता । जगन्थ । जगमिथ । नित्यानिट एवोच्यमाने अर्थ गमिर्नित्यानिट भवति । सकारादाविङ्त्वात् “गमेरियमे” [५१११०६] इति । अतोऽस्य विकल्पो न स्यात् । तथा—जिघृह्यति । जगमिथ । लूया । लुलविथ । “सनि ग्रहणम्” [५११११८] “अशुक्रः किति” [५११११७] इति सनि किति च नित्यानिटविधौ न तु तासौ । नित्यग्रहणं किम् ? अङ्गता । अङ्गिता । आनङ्गिथ । निधोता । विधविता । विदुधविथ । तासौ विभाषितेऽतोऽनिटकार्यं मा भूत् । असति तु नित्यग्रहणे पाक्षिकेणापि हीडभावे वऽनिङ्भवत्येव । यथा गुह्ये विभाषितेऽपि अनिटकार्यं “शलोऽनिटोऽदृष्टः कसः” [२१११४०] इति कसः । अचुक्षत् । थ इति किम् ? पेचिम । ययिव । ययिम । अव्याद इति किम् ? व्याता । विव्ययिथ । अत्ता । आदिथ । “तदादेशस्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” [प०] जयसिथ । अत्वदिति तपरकरणं किम् ? राक्ता । रराधिथ ।

ऋतः ॥५१११०९॥ उपदेशे ऋकारान्तात्तासौ नित्यानिटः ये नेङ् भवति । कर्ता । चकर्थ । हर्ता । जहर्थ । स्मर्ता । सस्मर्थ । धर्ता । दधर्थ । तपरकरणमसन्देहार्थम् । यदि विकल्पः त्यादजन्तत्वात् पूर्वणैव सिद्धः । यदि विधिरिष्टः स्यादव्याद इत्येव ऋकारस्य पशुदासः क्रियेत पृथग्योगकरणमनर्थकम् । तस्मात्पारि-शेष्यात् “न वृतादेः” [५१११०७] इत्यतः प्रकृतः प्रतिषेध एवाभिसम्बध्यते । असुटः इत्यनुवर्तते । सङ्गस्करिथ ।

अर्त्तेः ॥५॥१॥१०॥ अर्त्तेः “कृतः” इत्यनेन बहुलं तन्न भवति । अर्त्ता । आरिष । प्रतिपेक्ष-
त्तावन्नाभिसम्बध्यते । कृत इत्येव सिद्धत्वात् । विकल्पोऽपि यदोदः स्यात् “अवद्वन्मृजिदशः” इत्यत्रैवार्त्ते-
र्महणं क्रियेत । ततः सूत्रारम्भसामर्थ्याद् विधिरभिसम्बध्यते ।

स्नोदर्शार्थः ॥५१॥१११॥ नेत्यनुवर्तते । स्नु इत्येतस्माद् दार्थाद्विनिमित्तादंगं इत्यनं भवति । प्रस्नोष्यते । प्रस्नोष्यते । प्रस्नोष्यते । “कौ” [११२॥७] इति दा । “स्नोश्च जिश्च” [२११॥५६] इति लुङि न विः । सुस्नुष्यते इत्यत्र “सनि मत्सुहृथ” [५११॥११] इत्यनेन विहितः । इह कर्म प्रस्नविनेकाचरति प्रस्नविनीयते । नात्र स्नोतिर्दार्थः । किं तर्हि ? वयङ्मो धुः । “रीङ् कृतः [५१२॥१३६] इति रीङ् । दोऽर्थो यस्य सोऽपं दार्थः । दप्रथोऽन इत्यर्थः । कदा न स्नुर्दार्थः । यदा भावकर्मकर्मव्यतिहारा विर्याक्षताः । सति च दे दार्थत्वं तेन कृति न भवति । प्रस्नवितुम् । यदि सति दे दार्थत्वं दे इति चतुर्व्यम् । न दे परतः इत्यानन्तर्ये विज्ञायेत । स्यादिव्यवधाने न स्वान् प्रतिषेधः । दार्थादिति किम् ? प्रस्नविता । प्रस्नवितुम् ।

क्रमः ॥१२।१२२॥ दार्थादिति वर्तते । क्रमश्च दार्थादिणु न भवति । प्रकृत्यते । प्रकृतसोष्ट । प्रचिक्रंसते । प्रचिक्रंरिग्यते । सत्तन्त्रप्रयोगेऽपि क्रमिरेव दार्थः । “सनः पूर्ववत्” [१।२।५८] इति क्रमिसम्बन्धिनो दृश्यानिदेशात् । अत्रापि दार्थत्वं भावकर्मकर्मव्यतिहारा वृत्त्याद्ययोऽर्थाः “वाग्नेः” [१।२।३६] इति शेषयोगश्च । दार्थादित्येव । प्रक्रमित्वम् । प्रक्रमितुम् । सति दे दार्थत्वमिति । “आदात्म्ये” [१।२।३८] इति दः ।

कर्तरि कृति ॥५१११२॥ कमेदार्थाद्विषयात् कर्तरि कृति नेङ् भवति । इह कृतीति वचन-
न.मार्थादस्यासम्भवाद्दार्थादिति । द्विषयादित्यन्तत्वं । अप्रयोगेऽपि दस्य दविषयत्वं पूर्वं तु सत्येव दे-
दार्थत्वं व्याख्येयम् । प्रकृता । उपकृता । प्रतिकृतिता । कर्तरि कृति । प्रकृतित्वम् । उपकृतित्वम् ।
प्रतिकृतिता । दार्थादिति किम् ? निष्कृतिता । “इदुदुकोऽप्यपुंसुदुसः” [५११२८] इति सत्वम् । “इणः षः”
[५११२७] पत्वम् ।

वशि ॥५॥१११४॥ कुन्तीलोकदेशोऽनुवर्तते । वशादौ कृति नेङ् भवति । प्राप्ते प्रतिषेधः । ईश्वरः । दीपः । भस्म । यत्नः । वस्त्र-न ना एव प्रयोजयतीति केचित् । तदशुक्तम् । अन्यत्रापि दर्शनात् । “जमस्ताब्दः” [उ० सू०] । दरब्बः । “मुदिमोर्गः” [उ० सू०] । मुद्गः । गर्गः । “दरिद्रलिभ्यां भः” [उ० सू०] । र्गः । दलभः । कुतीति किन् ? रुद्रिव । रुद्रिम ।

पकाचोऽनुदात्तात् ॥५१॥११५॥ उपदेशे एकाचो धोः अनुदात्तादिण् न भवति । यान्ता । कर्त्ता । पक्ता । एकाचोऽजन्ताः । अदन्तमूदन्तमृदन्तं स्विश्रीडोङ्शीडो ङुकीजौ । थुरुणूणुं लुञ्जु दणुक्श्च वर्जयित्वा । ऊर्णोतेणुं वद्भावादेका-स्त्वन् । आनधिपीष्ट । “आङो यमहनः” [१।२।२३] इति दः । “हनो वध लिङि” [१।४।११४] इति वधादेशः । स चावर्ध्नादित्यत्र ऐप् मा भूदित्यन्त उदात्तश्चोपदिश्यते । स्थानिवद्भावेनानुदात्तो मा भूदित्येवमर्थम् । लघिता । तरिता । श्वयिता । इत्यादि योज्यम् । हलन्ता अनुदात्ता प्रदर्शयन्ते । शक्तिवन्निवम-नयः । धभिः प्रकृत्यन्तरमन्यस्ति । घस्ता । वसतेस्तिपा निर्देशः आच्छादनार्थे निवृत्त्यर्थः । वसिता पदस्थ । वभिरमि-लभयः । वभिरमिनमिगमयः हनिमन्यती । श्वनिर्देशो मगुलेर्निवृत्त्यर्थः । मनिता । दहिदिहिद्रु हिद्रहिनिह्विदि-लिहिदिह्योऽष्टौ । ॥२॥ सहेस्तु “तीपसह” [५।१।१६] इति विकल्पो मृहेरपि । रधादौ दिशिदशिमृशिमृशिरिशि-वशिनिशिकु दालिशिशेशयो दश । १० । राधिरुधिरुधिसाधियुधिव्याधिवन्धिसुधित्तुधिवुध्यतिमिध्नय-शनैकादश । ११ । बुध्यतिसिध्यतोः स्वनिर्देशो भौवादिकयोर्निवृत्त्यर्थः । बोधिता । सेधिता । अकारेताकेतौ । बुधितम् । सिधितम् । शिषिथुपितुषिदुषिपिप्रिथिपिकृषित्प्रिषिद्विषिरिष्य एकादश ॥११॥ आपितपित्वपिलिपिल्लुपि-त्तिपिशपिवपितिपिष्ठुपिष्ठुपितृषिटपयः त्रयोदश ॥१३॥ तुषिटपी रधादिपाटाद्विकृतिपैतौ द्वाः अनुदात्तपाट

अल्पकित्यमागमार्थः । वता । तर्ता । द्रमा । र्मा । अदि (हदि)नुदिनुदिस्कादिदिभिदिशदिक्षुदिपदित्वि-
दिश्वित्विति(विद्यति)विन्तयः पञ्चदश । १५। स्वित्वतीति स्थनिर्देशो अदिपदा स्नेहने इत्यस्य निवृत्त्यर्थः ।
विद्यतिविन्त्योर्विकरणनिर्देशोऽन्वविकरणनिवृत्त्यर्थः । वेदिता शास्त्रस्य । वेदिता वनस्य । केचित्तु विन्दतिभनिट-
मिच्छन्ति । वेत्ता वनस्य । पञ्चविचित्रिचिरिचिसिचिशुचयः षट् । १६। प्रच्छि । १। युजिजिगजिजिभुजिज-
भजिजसृजिसृजित्यजिजिजिमसिजिनिजिभ्रस्जिस्वज्जयश्चतुर्दश । १४। एकाच इति किम् ? वेभिदिता । अस्ययमस्ये
यस्ये च कृते उदात्तः । न त्वेकाच् । नन्वयमप्युपदेशे एकाच् । नैवं वेभिदाल्लेषोपदेशात् । एतेवं
विभिस्ततीत्यत्रापि स्यात् । सन्नतन्स्वेङ्मकस्येव । विभिस्तता । सनि तु परे न भवति । द्वित्वमिति स एवायं
भिदिरेकाजदनुदात्तश्च । यदि वा उपदेशे अयमेकाच् । अनुदात्तादिति किम् ? लविता । लवितुम् । उपदेश इति
किम् ? पेचिव । पेचिम । कथमिदमुदाहरणं युक्तम् । असत्युपदेशाधिकारे एकाचोऽनुदात्तस्य यदि लिटि प्रतिषेधः
सिद्धः स्यात्तदा नियमः स्याच्चक्रवादी । न च लिटि प्रतिषेधः प्राप्नोति, द्वित्वे कृतेऽनेकाचान् । सनि नृपदेशा-
धिकारे उपदेशावस्थायामेकाजित कृत्या प्रतिषेधः सेद्धस्ततो नियमः ।

तितुव्रतथसिसुसरकसेऽग्रहादेः ॥५।१।१६६॥ अस्यापि प्रतिषेधोऽयम् । तितुव्रतथसिसु
सर क स इत्येतेषु परतो नेङ् भवति ग्रहादीन् वर्जयित्वा । तंतिः । क्तिच् । “न क्तिचि द्वाश्च” [४।१।४०] इति
नखदीत्वयोरभावः । सक्तुः । “सितनिगमिममिमसिसच्यविधान्क्रुधिभ्यस्तुः” [३० सू०] । पञ्चम ।
“दाम्नीशस्युयुज” [२।२।१६०] इत्यादिना षट् । हस्तः । “हसिसृगृण्वमिदमिलूपूर्ध्विभ्यस्तुः” [३० सू०]
औणादिकस्यैव तस्य ग्रहणं व्याख्यानात् । के तु हसितमित्येव भवति । काष्ठम् । “हनिक्विर्भारमिकाशिम्यस्थः”
[३० सू०] । कुक्षिः । “प्रुषिप्नुषिसुषिकुष्यशिभ्यः क्सिः” [३० सू०] । इक्षुः । “इष्यशिभ्यो क्सुः”
[३० सू०] “कृषूभ्यो वसरः” । धूसरः । शल्कः । “इणसीकापाशत्वसिमचिभ्यः कः” [३० सू०] । चम्पः ।
“वृन्वदिह्निकमिकविमुचिभ्यः सः” [३० सू०] । अग्रहादेरिति किम् ? निगृहीतिः । अग्रस्तिद्विदिः । निक्कुचितिः ।

अयुक्तः किति ॥५।१।१६७॥ अि इत्येतस्मादुगन्तोभ्यश्च कितीएन भवति । निपठितिः । “स्थियां क्तिः”
[२।३।७५] श्रित्वा । श्रिनः । श्रितवान् । युत्वा । युनः । युनवान् । वृत्वा । वृतः । वृतवान् । उपदेश इत्येव ।
तीर्त्वा । तीर्णः । तीर्णवान् । अयुक्त इति किम् ? श्वयित्वा । श्वेः क्त्वा । अत्र जिरिट् च गुणकप्राप्त्यनुतः ।
परत्वादित् । “सृडादि” [१।१।८०] नियमादकित्वम् । कितीति किम् ? अयिता । ययित्वा । भृशुमित्यत्र गिति
स्तौ कथं प्रतिषेधः कितीत्वत्र गकारोऽपि कृतचत्वो निर्दिष्टः । तस्य पूर्वत्रामिद्वत्त्वमाश्रित्य पूर्वं यिसर्जनोयः कृतो
वया रेख्वा स्यात् । एवमात्रोऽपि “किङ्कति” [१।१।१६] इति गकारप्रश्लेषादेव । ऊर्णो गुणवद्भावः ।
प्रोर्णुत । प्रोर्णुतवान् । एकाच इत्येव । जागरितः । जागरितवान् ।

सनि ग्रहगुहश्च ॥५।१।१६८॥ ग्रह गुह इत्येताभ्याम् उगन्तोभ्यश्च सनि नेङ् भवति । जिवृडिति ।
जुवृडति । ररूपति । “सुवग्रहिरुदधिदः संश्च” [१।१।८२] इति कित्वाजिः । गुहेरुदित्वाद्रिकल्पः प्राप्तः ।
लूजस्सनि “क्किकः” [१।१।८३] इति कित्वं आधित्वा परत्वादित् प्राप्तस्तस्यानेन प्रतिषेधे कलादित्वान् कित्वन् ।
श्रीग्रहणं न प्रयोजयति “श्रियूर्णुभर” [५।१।१७] विकल्पितेद्वत्वात् ततोऽपि “सर्नाङ् वा” [२।१।८६]
इति विकल्पः ।

कृसृभृस्तुद्रुसृध्रुवो लिटि ॥५।१।१६९॥ कृ सृ भृ स्तु द्रु लु भृ इत्येतेभ्यो लिटीण् न भवति ।
चक्रुव । चक्रुम । ससृव । ससृम । बभ्रुव । बभ्रुम । ववृव । ववृम । ववृनङ् । ववृमहे । तुध्रोथ । तुष्टुव ।
तुष्टुम । तुद्रोथ । तुद्रुव । तुद्रुम । सुस्रोथ । सुसुव । सुसुम । शुभ्रोथ । शुभ्रुव । शुभ्रुम । सिद्धे सन्ध्यास्यो
नियमार्थः । कादय एव लिट्यनिस्ततोऽन्ये श्रेयः इति । न तु कादयो लिट्येवानिट इति विपरीतो नियमः ।
“स्वतन्त्रः कर्ता” [१।२।१२५] इत्यादिनिर्देशात् । कृ सृ भृ इति प्रकृतिनियमोऽनुदात्ता एत एवानियो नाभ्ये ।

विभिद्वि । विभिदिम । दद्वि । ददिम । “अयुक्तः किति” [५।१।११७] इति प्रतिषेधे सिद्धे वृद्धहणं स्वनियमार्थम् । वृद्धहोरेबोदात्तेषु लिटि नेङ् । तेन लुलुयिब । लुलुयिम । अय (प्रति) पेधार्थं वृद्धहणं कस्माच्च भवति ? यदि प्रतिषेधः इष्टः स्यात् अधिकारे वृद्धहणं क्रियेत न किदधिकारे । इह करणं शापकं ये प्रतिषेधाभावस्य । ववरिथ । स्तुप्रभृतिग्रहणं तु प्रतिषेधार्थम् । (थ) “बोधदेशे” [५।१।१०६] इति प्राप्तः । वमबोत्तु कुम्भु नियमादि (ट्) प्राप्तः प्रतिषिष्यते । असुट इत्यनुवर्तते । मंचस्कर्ग्व । मंचस्करिम ।

श्वीदितस्ते ॥५।१।१२०॥ श्वयतेरीदिङ्ग्रथश्च ते परतः इण भवति । शृतः । शृतवान् । लग्नः । लग्नवान् । आपीनः । आपीनवान् । श्व ई ईदित ईकारोऽप्यत्र प्रश्लिष्यते । शीङः “तः सेट् पूङ् शीङः” [१।१।३२] इति शापकादिट् । पारिशेष्यादीकारान्तस्य डीङो ग्रहणम् । उड्डीनः । उड्डीनवान् । “ओदितः” [५।३।६३] इति शत्वम् । स्वादय ओदितः ।

यस्य वा ५।१।१२१॥ अस्य वाऽन्यस्मिन्निहुक्तस्तस्य ते परतः इण भवति । रद्धः । रद्धवान् । दृष्टः । दृष्टवान् । द्यूतः । द्यूतवान् । “तनिपतिदरिद्राणाम्” [वा०] इति धेट्सपि पतित इत्यत्र “इसचिद्वृत्तार्त्तपतित” [१।३।२१] इति शापकादिट् ।

आदितः ॥५।१।१२२॥ आकारेणश्च धोस्ते परतः इण भवति । मित्रः । मित्रवान् । म्विघ्नः । म्विघ्नवान् । द्विघ्नः । द्विघ्नवान् । धृष्णः । धृष्णवान् । “समः समि” [४।३।१६६] इत्यत्र क्यन्ते इणागमवचनासिद्धे आदेशयन्त्रेण अचकमनित्यमागमज्ञानाभेति । तेन वात्सः । विश्कत्सः ।

वा भावारम्भयोः ॥५।१।१२३॥ भावे आरम्भे च आदिनो धोस्ते परतो वा इङ् भवति । मित्रमत्स्य । नेदितमत्स्य । प्रमिश्रः । प्रमिश्रितः । द्विघ्नणमत्स्य । द्ध्वेदितमत्स्य । प्रद्विघ्नणः । वेति वोगवेभागात् कर्मणि वा शर्कोरिट् । आदित इति तु न सन्निधीयते । शकितो घटः कर्तुम् । यत्को घटः कर्तुम् । भावो ध्वर्थः । आद्यः क्रियाऽध्ययः प्रेयादिना बोल्यः आरम्भः । भावग्रहणं तस्य विशेषणम् आरम्भो धोः “नवभावे क्” [२।३।१५] इति भावे कः । “कर्तरि चारम्भे” [५।३।५६] इति कर्तरि क्तः ।

दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पृष्टप्रक्षताः ॥५।१।१२४॥ दान्तादयः शब्दाः प्यन्ताद् वा निपात्यन्ते । दान्तः । दानितः । शान्तः । शमितः । पूर्णः । पूर्णितः । दस्तः । दासितः । स्पष्टः । स्पाशितः । छन्दः । छान्दितः । शनः । शापितः । ते वाऽनिट्त्वं निपात्यन्ते । दस्तादेशङः प्रादेशश्च । शमित्योर्गिन्त्ये दीत्वं प्रति न स्यादित्यन् इति “कस्य विवक्तोः विवृति” [४।३।१३] इति दीत्यम् । अन्यत्र मित्ता प्रः । रूपेणु “भरज्ञस्मिन्नाम्” [५।१।६७] इति विकल्पितेयो “यस्य वा” [५।१।१२१] इति प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम् ।

हृष्टापचितौ ॥५।१।१२५॥ हृष्टापचित इत्येतौ वा ते परतो निपात्यन्ते । हृष्टेल्लोमविस्मनप्रनिधा-तेषु वाऽनिट्त्वम् । हृष्टानि लोमानि । हृष्टिजानि लोमानि । हृष्टं लोममिः । हृष्टो देवदरः । हृष्टिनो देवदत्तः । हृष्टा दन्ताः । हृष्टिता दन्ताः । हृष्टेः “बोदितः” [५।१।१०४] इति विकल्पितेयो “यस्य वा” [५।१।१२२] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । अपचितोऽनेन गुरुः । अपचायितोऽनेन गुरुः । चावतेस्ते विभावोऽनिट्त्वं च वा निपात्यन्ते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन क्ते नित्यमपचितिः ।

क्षुब्धस्वान्तध्वान्तलग्नम्लिष्टविरिन्धफाण्टबाढविशस्तधृष्टकष्टघुष्टदृष्टपरिवृढाभ्यर्णवृत्ताः ॥५।१।१२६॥ क्षुब्धादयः शब्दाः स्वान्ता अर्थविशेषे निपात्यन्ते । क्षुब्धो भवति मन्थश्चेत् । दध्यादिकं येन मथ्यते स मन्थः । ननु द्रवद्रव्यसंप्रयुक्ताः सक्तवो मन्थ इह गृह्यते । तदुक्तं “शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताभ्यो-धिवर्णना” इति । क्रियाभिधानेऽन्याभिधाने च न भवति । क्षुभितं मन्थेन । क्षुभिता सेना । स्वान्तमिति भवति मनश्चेत् । स्वनितमन्यत् । स्वान्तमिति निपात्यते तमोऽभिधानं चेत् । ध्वमितमन्यत् । लग्नमिति भवति मन्थश्चेत् । लग्नितमन्यत् । म्लिष्टमिति भवति अविस्पष्टश्चेत् । म्लेच्छितमन्यत् । इत्यमेकारस्य निपातनादिव । विरिन्ध

इति निपात्यते स्वरश्चेत् । विरेभितमन्यत् । इत्यमेतो निपातनात् । फास्यमिति निपात्यते अनायासे । फणितमन्यत् । अग्निना तप्तं सक्तभोष्णं तत्फास्यम् । अथवा यदपक्वमन्नुर्णितमनिप्यन्दितमुदकादिसंशो-
गादिभक्त्यगम् । वादमिति भवति तप्तं (भृशं) चेत् वाहितमन्यत् । वाद् प्रयत्ने इत्यस्यानिश्चयम् ।
विशस्तद्वृत्तयिविति भवतः विवातौ चेत् । विशस्तौ वादौ धृष्टौ वादी प्रगल्भोऽविनीतो वा शम्भुशोः “यस्य वा”
[५।१।१२१] “आदितः” [५।१।१२२] इति च प्रतिषेधे मिद्वे नियमार्थं वैयर्थ्य एवेति । भावारम्भयोर्धृ-
र्वैवात्येऽनभिधानम् । नियमादन्यत्रेत् । विशसितः पशुः । धर्षितः शत्रुणा । कष्टमिति भवति कृच्छ्रे गदने च ।
शृच्छं दुःखं दुःखहेतुश्चोपचारात् । गहनं वनम् । दुपेरविशब्दनेऽनिश्चयं निपात्यते । दुष्टा रज्जुः । दुष्टौ
पादौ । अविशब्दने इति किम् ? अत्रधुषितं वाक्यमाह । शब्देनाभिप्रायनिवेदनं विशब्दनं तदपि धुपेरर्थः ।
अनेकार्थत्वादधूनाम् । दृढ इति स्थूले बल्यति च । दृहिः क्षोऽनिश्चयं न दृखं परस्य च दृखं निपात्यते ।
दृहेर्वा नखवर्जम् । ननु दृहेर्दृखं दृखं च न निपात्यं दृखे दृखे च कृते सिध्यति । नैवम् । दृदिभा । दृदयति ।
परिदृढव्य गतः इत्यत्र पूर्वत्रासिद्धत्वात् “ऊ रोऽनादेर्वेः” [१।४।१५३] इति स्त्वम् “प्ये धिपूर्वात्” [१।४।५६]
इति शेरयादेशश्च न स्यात् । इह च परिदृढत्वापत्वं पारिदृढी कन्येति “ज्योऽभ्रु रूपान्वयोः” [३।१।६३]
इति ज्यः प्रसज्येत । स्थूलवज्रवतीरिति किम् ? दृहितम् । दृहितं वा । परिदृढ इति निपात्यते । प्रशुश्चेत् ।
परिपूर्वस्य बृहेर्दृष्टौ न हलम् । दृखे प्रयोजनं पूर्वोक्तम् । परिदृढव्य गतः इत्यत्र संग्राम युद्धे इति सगोः पाठ्यत्
गिरहितस्य गिनुत्पद्यते । तेन “तिङ्प्रदादयः” [१।३।८१] इति पसे क्वात्वस्य आदेशः । प्रभायिति किम् ?
परिदृढितम् । परिदृढितम् । अभ्यर्ण इति निपात्ये आविर्दूर्ये । अभ्यर्णं शेते । अभ्यर्णा शस्त् । विदूरं
धिप्रकृष्टं ततोऽन्यःसर्वमविदूरं तस्य भाव आविर्दूर्यम् । “नञ्से चतुर” [३।४।११५] इत्यत्र नञ् स इति
योगविभागात्सापेक्षत्वेऽपि टचण् । आविर्दूर्य इति किम् ? अभ्यर्णितश्चौरः शीतेन । वृत्तमित्यव्ययनेऽर्थे निपात्यते ।
वृतेर्ग्यन्तःदिङ्भावो पोरप् च कसे निपात्यते । वृत्तं जैनेन्द्रम् । वृत्तस्तर्को देवदत्तेन । अभ्यवन इति किम् ?
वर्तितो घटः कुम्भकारेण । यदा वृत्तिरकर्मकस्तदाऽस्य श्यन्तस्य वृत्तस्तर्क इति न भवति । यदा तु “तेन
निर्वृत्तः” [३।१।५८] इति ज्ञापकादन्तर्भावितार्थः सकर्मकस्तदा कर्मणि क्तः “यस्य वा” [५।१।१२१] इति
प्रतिषेधाद्वृत्तस्तर्कः । श्यन्तस्य अभ्ययने वर्तित इति भवति ।

सन्निधिभ्योर्दे ॥५।१।१२७॥ सम् नि वि इत्वेवंपूर्वादर्देरिण भवति ते परतः । समर्णः । न्यर्णः ।
वर्णः । सन्निविभ्य इति किम् ? अर्दितः । प्रार्दितः ।

न वा रूप्यमत्वरसंघुपास्वनः ॥५।१।१२८॥ रुपि अन् त्वर संघुप आस्वन् इत्येतेभ्यः ते न वा
इङ् भवति । सघः । सघितः । अभ्यन्तः । अभ्यमितः । तूर्यः । त्वरितः । संघुष्टः पादः । संघुषितः पादः ।
संघुष्टं वाक्यम् । संघुषितं वाक्यम् । आस्वान्तो देवदत्तः । आस्वनितो देवदत्तः । आस्वान्तं मनः ।
आस्वनितं मनः । रूपेः “तीपसहजुभरुपरिपः” [५।१।१६] इति विकल्पेयो “यस्य वा” [५।१।१२१] इति
निषिद्धे अभ्यसः प्राप्ते त्वर “आदितः” [५।१।१२२] इति प्रतिषिद्धे संघुपास्वनोरविशब्दनमनमोरप्राप्ते
सतोऽपि प्राप्ते नेति प्रतिषिद्धायां सर्वत्र वेति विकल्पः ।

हन्तुतः स्ये ॥५।१।१२९॥ हन्तेः ऋकारान्तेभ्यश्च स्ये परत इङ् भवति । हनिष्यति । अहनिष्यत् ।
करिष्यति । अकरिष्यत् । स्वरत्यादि विकल्पं वाधित्वाऽनेन परत्वादित् । स्वरिष्यति । न वेति नानुवर्तते ।

सावज्जे ॥५।१।१३०॥ अज्जे सौ परतः इङ् भवति । आज्जीत् । अज्जिष्ठम् । अज्जिजुः ।
नित्यार्थ आरम्भः । सायिति किम् ? अज्जिता ।

स्तुसुधूओ मे ॥५।१।१३१॥ लु सु धूञ् इत्येतेभ्यः मपरे सौ परतः इङ् भवति । अस्तावीत् ।
असावीत् । अवाधोत् । म इति किम् ? अस्तोष्ट । अतोष्ट । अधोष्ट । अधाविष्ट । धूञो विकल्पः
प्रातः । अकारो धुवर्तनिवृत्त्यर्थः ।

यमरमनमातः सकृ च ॥५१११३२॥ यम रम नम इत्येतेषाम् आकारान्तानां च मपरं सौ परतः सगागमो भवति इट् च । अयंसीत् । अयंसिष्टाम् । अयंसिषुः । व्यरंसीत् । व्यरंसिष्टाम् । व्यरंसिषुः । अनंसीत् । अनंसिष्टाम् । अनंसिषुः । असतीति हलन्तलक्षण ऐप् स्यात् । सति तु “नेटि” [५१११८०] इति प्रतिपिच्यते । आतः—आयासीत् । आयासिष्टाम् । आयासिषुः । म इत्येव । उपायंस्त । उपायंसिताम् । उपायंस्त । अरंस्त । अरंसाताम् । अरंसत ।

स्मिपूङ्गुरञ्ज्यशः सनि ॥५१११३३॥ स्मिड् पूङ् अञ्जू अशूङ् इत्येतेभ्यः सनीड् भवति । सिस्मथिपते । पिपथिपते । अरिरिपति । अजिजिपति । अशिशिपते । पूङ् सन् । “सनि ग्रहगुहरच” [५११११८] इति प्रतिपिडेऽनेनेट् । द्वित्यात्पर एप् “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिकङ्गावेन द्वित्वम् । “ओः पुयञ्छे” [५१११७८] इति इत्वम् । अञ्ज्वशोरुदित्वाद्विकल्पः प्रातः अश्नातेरुदात्तस्य नेह ग्रहणम् ।

किरश्च पञ्चभ्यः ॥५१११३४॥ किरादिभ्यः पञ्चभ्यः सनीड् भवति । उच्चिकरिपति । निजिगिर्पति । दिदरिपते । दिधरिपते । पिपुच्छिपति । “ग्रच्चेः” [४१३१२] इति जिः । पञ्चभ्य इति किम् ? सिभृधति । किरतिगिरत्योः “सनीड् वा” [५१११८६] इति विकल्पः प्राप्तः । “यूतो वा” [५१११८६] इति व्यवस्थित-विभाषाभ्रयणादस्येदो दीर्घं भवति । किर इति आदिशब्दस्य खे “सूत्रेऽस्मिन् सुविधिरिष्टः” [५११११४] इति म्यसः स्थाने डसिः । चकारः सनोऽनुकर्षणार्थः, अन्यथा निमित्ते सन्देहः स्यात् सेरपि पूर्वं श्रुत्वात् अनुक्तसमुच्चयार्थ इति केचित् । तेन क्वचिदप्यत्रापीड् । “लुगृहिपन् मत्तगजोऽभ्यधावत्” ।

रदादेशो ॥५१११३५॥ रदादिभ्यः पञ्चभ्यः बलादौ गो इड् भवति । रोदिति । रुदितः । र्वापति । निःश्वसिति । प्राणिति । जक्षिति । “योऽनितेः” [५१११०४] इति गत्वम् । पञ्चभ्य इत्येव शास्ति । ग इति किम् ? स्वता । स्वतुम् । अन्ये वृदात्ताः । बलादानित्येव । रुदन्ति । स्वपति । रदादेशित्येव कानिदेशो ग इत्यस्येभिर्नदंशस्योत्तरत्र सावकाशस्य तां प्रकल्पयति ।

ईडः रुध्वे ॥५१११३६॥ ईडः सकारादौ ध्वे च गो परतः इड् भवति । ईडिध्व । ईडिध्वे । ईड्वम् ।

ईशः ॥५१११३७॥ ईश इत्येतस्माच्च इड् भवति सकारादौ गो ध्वे च । ईशिध्वे । ईशिध्व । ईशिध्वे । ईशिध्वम् । योगविभागो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।

लिङोऽनन्त्यसखम् ॥५१११३८॥ लिङोऽनन्त्यस्य सखं खं भवति गो । कुर्याताम् । कुर्युः । कुर्यात । “सुट् तथोः” [२१४८०] इति सुट् । सुट्यासुट्सीयुट्सखमनेन । तिपि रदादौ सखेन सिद्धम् । “कृजो वे च” [४१४१६६] इत्युत्तम् । “उसि” [४१४८३] इति पररूपम् । अनन्त्य इति किम् ? कुर्युः । कुर्याः । कुर्यायाः । वत्मसोः “क्षितः सखम्” [२१४८०] तसस्तां थसस्तमिति भवितव्यम् । ग इत्येव । क्रियासुः । कृषीष्ट । “रिङ्यग्लिङ्क्षे” [५१११३७] इति यादौ रिङादेशः । “उः” [१११८६] इति लिङो दे कित्वम् ।

अतो येय् ॥५१११३९॥ अकारान्तस्य गोवृत्तस्य या इत्येतस्य इयादेशो भवति गो । पन्नेत् । दीध्येत् । “वलि ध्योः खम्” [४१३१५५] पन्नेयुः इत्यत्र “उसि” [४१३८३] इति पररूपं न । “वाणादिगावं वलीयः” [५०] इति इयादेशो भवति । “यञ्यतो दीः” [५१११६६] इति दीत्वं सामान्येनोक्तमनवकाशोऽयं विधिर्भवति । अत इति किम् ? चिनुयात् । तपरकरणं किम् ? यायात् । ग इत्येव । चिकीर्ष्यात् । अतः खे पूर्वगत्या स्यात् । वा इत्येतत् “सूत्रेऽस्मिन्” [५११११४] इति डसः खम् ।

डिवातः ॥५१११४०॥ अकारादुत्तरस्य डिद्वयवक्त्यात् इयित्ययमदेशो भवति । पन्ने । पन्नेथे । सन्नेताम् । पन्नेथाम् । डकार इत्यस्य सोऽयं डित् तस्यावयव आत् । “गाङ्कुटादेः” [१११७५] इत्यत्र

द्विदिति । द्वितीयं द्विदिति कार्यतिदेशः । तेन चुकुटिप्रति इत्यत्र सनोऽङित्वाद्दो न भवति । “गोऽपित्” [१११७८] इत्यत्र तु द्विद इव द्विदिति द्रष्टव्यम् । न कार्यतिदेशः । कार्यस्यावयवासम्भवात् । द्विति किम् ? पचावहै । आत इति किम् ? पचन्ति ।

आने मुक् ॥५१११४१॥ अत आने मुगामो भवति । आन इति ईमिर्देशो अत इति कानिर्देशस्य पूर्वसूत्रे कृतार्थस्य ताप्रकृतिं करोतीति आकाशान्तस्य मुक् । पचमानः । वपमानः ।

ईदः ॥५१११४२॥ ईदः उदात्त आनस्य ईकारदेशो भवति । आसीनोऽधीते । आस इति कानिर्देशोऽनवकाश आनस्य तां प्रकल्पयति । परस्यादेरीत् ।

विभक्त्यामाष्टनः ॥५१११४३॥ अष्टन आकारादेशो भवति विभक्त्यां परतः । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः । अष्टासु । अष्टानामित्यष्टन आम्प्रात्वे च कृते नान्तत्वाभावादित्यष्टा नास्ति । कथं नुङ् । “ध्यान्तेस्” [१११३४] इत्यन्तप्रहणमुपदेशार्थमुक्तमित्यदोषः । विभक्त्यामिति किम् ? अष्टमहाप्रानिहायो जिनः । “नोमता गोः” [१११६४] इति प्रलिषेधात्प्राथम्यात् न भवति । कथं “दूतः स्वादप्यभिर्गुणैः” इति ? “अष्टाभ्य औस्” [५१११८] इति कृतस्त्रीच्चारणं शापकम्, यत्रैवत्यं तत्रैवौशभाव इति तेनानित्यभानम् । आ इति विशेषनिर्देशो नकारस्य स्थाने कसञ्चकाकारनिवृत्त्यर्थः । आत्वमिति जातिनिर्देशो प्रमज्येत ।

रायो हलि ॥५१११४४॥ रै इत्येतस्य हलादौ विभक्त्यामाकारादेशो भवति । राः । राभ्याम् । राभिः । राभ्यः । रातु । हलीति किम् ? रायौ । रायः । विभक्त्यामेव । रैत्वम् । रैता ।

युष्मदस्मदोः ॥५१११४५॥ युष्मदस्मदित्येतयोर्हलादौ विभक्त्यां परतः धात्वं भवति । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः । युष्मासु । अस्मासु । “अन्तेऽस्तः” [११११४६] इति दकारस्य भवति ।

इपि ॥५१११४६॥ इपि च विभक्त्यां परतः युष्मदस्मदोरात्वं भवति । स्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । युष्मान् । अस्मान् । “खमादेशे” [५१११४७] इति खे प्राप्ते पुरस्तादपवादोऽयम् । “केसु-दोरम्” [५११२४] इत्यम् । “शसो नः” [५११२५] इति नकारः ।

आचि ॥५१११४७॥ औकारे परतः युष्मदस्मदोरात्वं भवति । युवां । औनेन्द्रमधीकथे । आवाम् अधीयहे ।

यः ॥५१११४८॥ यकारादेशो भवति युष्मदस्मदोर्विभक्त्यां परतः । स्वया । मया । त्वयि । मयि । युत्रयोः । आवयोः । उत्सर्गोऽयम् । आत्वं खं चापवादः । पारिशेष्यादच्यनादेशोऽवतिष्ठते ।

खमादेशे ॥५१११४९॥ आदेशे विभक्त्यां युष्मदस्मदोः खं भवति । आदिश्यत इत्यादेशो विभक्ती । त्वम् । अहम् । यूयम् । वयम् । तुभ्यम् । मह्यम् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । तत् । मत् । युष्मत् । अस्मत् । तव । मम । युष्माकम् । अस्माकम् । विभक्त्यामिति किम् ? युष्मदीयः । “स्ववादि” [११११६६] इति दुसञ्ज्ञा । “दोरम्” [३१२१६०] इति छः । इदं खवचनं शापकम् । अत्रविधिं प्रति द्विपर्यन्तास्यदादयः । तेन भवच्छब्दस्य भवानिति ।

मावधेः ॥५१११५०॥ युष्मदस्मदोर्मकारावधेः सङ्घातस्यदेशो भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । अवधि-प्रहणं किम् ? मान्तस्येति वक्तव्यम् । नैवं शक्यम् । यत्र युष्मदस्मदौ मान्तौ णिनि द्विप्रागतनिवृत्ते तत्रैवादेशाः स्युः । ननु योः “परेऽच्चः पूर्वविधौ” [११११५७] स्थानिवद्भावात्मान्तता नास्ति व्यवधानात् । वचनाच्छ्रुतिवृत्त-मानन्तर्यं विभक्त्याः । अवधिप्रहणे सति दकारान्तयोरपि युष्मदस्मदोर्मवधेः समुदायावयवस्यादेशाः सिद्धा भवन्ति ।

युवाचौ द्वौ ॥५१११५१॥ द्वावित्यन्वर्थप्रहणम् । “एकद्विवचनैकशः” [११२१५५] इत्यन्व-र्थसञ्ज्ञाकरणात् । द्वित्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्द्वौ आव इत्येतावादेशौ भवतः । युवाम् । आवाम् । युवाभ्याम् ।

आवाभ्याम् । युवयोः । आवयोः । मावदेरित्येव । युवकाम् । आवकाम् । अकसहितस्य न भवति । सेऽपि यदा युष्मदस्मदी द्वित्वे वर्तते समुदायः एकत्वे बहुत्वे वा तदापि युवावौ भवतः । न चेत् परत्वाद् “यूयवयौ जसि” [५।१।१५२] “त्वाहौ सौ” [५।१।१५३] “तुभ्यमहौ ऊयि” [५।१।१५४] “तवममौ ऊसि” [५।१।१५५] इत्यादेशान्तरेण बाध्यते । अतिक्रान्तं युवाम् अतियुवाम् । अत्यावाम् । अतिक्रान्तान् युवाम् अतियुवान् । अतिक्रान्तेन युवाम् अतियुवया । अत्यावया । अतिक्रान्तैर्युवाम् अतियुवामिः । अत्यावामिः । अतिक्रान्तेभ्यो युवां देहि वा अतियुवभ्याम् । अत्यावभ्यम् । अतिक्रान्तत् युवां अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तेभ्यो युवाम् अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तानां युवान् अतियुवाकम् । अत्यावाकम् । अतिक्रान्ते युवाम् अतियुवयि । अत्यावयि । अतिक्रान्तेषु युवाम् अतियुवासु । अत्यावासु । यदा समुदायोऽपि द्वित्वे वर्तते तदा सुतरां भवतः । अतिक्रान्तौ युवान् अतियुवाम् । अत्यावामिर्यादि । अपवादविषये न भवतः । अतिक्रान्तो युवाम् अतित्वम् । अत्यहम् । अतिक्रान्ता युवाम् अतियूयम् । अतिययम् । अतिक्रान्ताय युवाम् अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । अतिक्रान्तस्य युवाम् अतित्वम् । अतिमम् । यदा च युष्मदस्मदी एकत्वे बहुत्वे च वर्तते समुदायो द्वित्वे तदापि न भवतः । अतिक्रान्तौ त्वाम् अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तौ युष्मान् अतियुष्मान् । अत्यस्मान् । इत्यप्येवम् । अतिक्रान्ताभ्यां त्वाम् अतित्वाभ्याम् । अतिमान्भ्याम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्याम् । अत्यस्माभ्यां कृतम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्यां देहि । एवम् अतित्वाभ्याम् । अतियुष्माभ्यां विभेति । अतित्वयोः । अतियुष्मयोः स्वम् । अतित्वयोः । अतियुष्मयोर्निधेहि ।

यूयवयौ जसि ॥५।१।१५२॥ युष्मदस्मदोर्जसि परतो यूय वय इत्येतावादेशौ भवतः । यूयम् । वयम् । गोः प्राधान्यासदन्तविधिरप्यत्र । अतिक्रान्तास्त्वां युवां युष्मान् वा अतियूयम् । अतियवम् । परमयूयम् । परमवयम् ।

त्वाहौ सौ ॥५।१।१५३॥ युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व अह इत्येतावादेशौ भवतः सौ परतः । त्वम् । अहम् । परमत्वम् । परमाहम् । अतिक्रान्तास्त्वां युवां युष्मान् वा अतित्वम् । अत्यहम् ।

तुभ्यमहौ ऊयि ॥५।१।१५४॥ तुभ्य मह्य इत्येतावादेशौ भवतः युष्मदस्मदोर्ऊयि परतः । तुभ्यम् । मह्यम् । तदन्तविधिना अतिक्रान्ताव त्वां युवां युष्मान् वा अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । परमतुभ्यम् । परममह्यम् ।

तवममौ ऊसि ॥५।१।१५५॥ युष्मदस्मदोर्ऊसि परतः तव मम इत्येतावादेशौ भवतः । तव स्वम् । मम स्वम् । अतिक्रान्तस्य त्वां युवाम् युष्मान् वा अतित्वम् । अतिमम् । परमतव । परममम् ।

त्वमावेके ॥५।१।१५६॥ एक इत्ययमन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशत्वेन एकत्वे कर्तमानयोर्बुष्मदस्मदोर्मावधेः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः । त्वाम् । माम् । त्वत् । मत् । त्वयि । मयि । अत्रापि यदा युष्मदस्मदावेकत्वे वर्तते समुदायो द्वित्वे बहुत्वे वा तदापि त्वमादेशौ भवतः, यदि “यूयवयौ जसि” [५।१।१५२] इत्यादिभिरादेशान्तरेण बाध्यते । कथं बाधा ? अतीताश्चकारो योगा इहानुवर्तन्ते । ततो बाधा तद्विषयादन्यत्रायं विधिः । अतिक्रान्तौ त्वां तिष्ठतः पश्येति वा अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तांस्त्वाम् अतित्वान् । एवम् अतित्वाभ्याम् । अतितुभ्यं देहि । अतित्वत् । अतित्वयोः । अतित्वाकम् । अतित्वयोः । अतित्वानु । यदा समुदायोऽप्येकत्वे तदा सुतराम् । अतिक्रान्तं त्वाम् अतित्वाम् ।

त्यद्योश्च ॥५।१।१५७॥ त्वमावेक इत्यनुवर्तते । एकार्थविषययोर्बुष्मदस्मदोः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः त्वे यौ च परतः । त्वत्सरो मत्सरः । त्वदीयो मदीयः । त्वप्रधानाः । मत्प्रधानाः । त्वद्वितम् । मदीयतम् । त्वच्छिष्यो मच्छिष्यः । विभक्त्यां परतः पूर्वो योगस्तस्या उपि प्रापणार्थं वचनम् । ननु नानापदाश्रयत्वाद्द्विर्लङ्ग उप् विभक्तीमात्राश्रयत्वादन्तरङ्गत्वामादेशः पूर्वं भविष्यतीत्यनर्थकमिदम् । नानर्थकम् । त्वाह तुभ्यमह्य

तत्र मम विषये प्राप्तरार्थम् । चकारो मविध्वनुकर्षणार्थः । ननु तवममाद्यादेशापवादोऽपि मार्जधत्वं लब्धम् । नैवं शक्यम् । विभक्त्या उपि कृते तवममाद्यादेशाभावात्कृत्स्नयोर्युष्मदस्मदोः स्थाने स्यात् । ननु ग्रहिरंग उच्च-
त्युक्तम् । इदमेव च शब्दोपादानं शापकम् “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उच्च बाधते” [५०] तेन यूपं पुत्रा वस्य
स युष्मत्पुत्रः यूयादेशाभावः । गोमान् प्रियो यस्येति गोमप्रियः इत्यादौ नुमादीनामभावः सिद्धः ।

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥५१॥१५८॥ गोर्विभक्त्या परतः त्रि चतुर् इत्येतयोः स्त्रियां वन्त-
मानयोस्तिसृ चतसृ इत्येतावदेशौ भवतः । तिसृभिः । चतसृभिः । तिसृषु । चतसृषु । स्त्रियामित्येतत् त्रिचतु-
रोरेव श्रुतत्वाद्विशेषणं किमर्थम् ? वदा त्रिचतुरो स्त्रियां वन्तौ समुदायः पुंसि नपुंसके वा तदापि तदन्तर्विधना
तिसृचतसृभावो वया स्यात् । प्रियतिसा । प्रियतिसौ । प्रियतिस्रः । प्रियतिस्र कुलम् । प्रियतिसृणी । प्रियत-
सृणि । वदा तु त्रिचतुरौ पुंसि नपुंसके वा वन्तौ समुदायः स्त्रियां तदा न भवति । प्रियाः त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा
यस्याः स प्रियत्रिः । एत्र प्रियन्त्वाः । स्त्रियामिति किम् ? त्रयश्चत्वारः । त्रीणि । चत्वारि । चकारोऽनुक्त-
समुदायादौऽनुवर्तते । हेन “अधिकेऽपि सौ” । तिसृका ग्रामः ।

रोऽच्युः ॥५१॥१५९॥ तिसृ चतसृ इत्येतयोः ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यचि परतः । तिस्रस्तृष्टन्ति ।
तिस्रः पश्य । चतस्रस्तृष्टन्ति । चतस्रः पश्य । प्रियतिसौ भवम् । “ऋतो ऋधे” [५२॥१०५] इत्येण् शभि
“सुष्टि पूर्वस्थम्” [५१॥८६] दीत्वं छसिङ्सोः “ऋत उत्तः” [५१॥८८] इति उः प्रसज्येत । ननु “मध्येऽपवादः
पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इति ऋतो ऋधे इत्येपः कथं बाधा “स्पद्धे परम्” [५२॥८०] इति
परश्चब्दस्येष्टवाचिवादेरेफादेशः इष्टः । डावेप् । प्रियतिसरि । अथ प्रियतिस्र इत्यादौ कस्यान्तः कस्मान्न भवति ।
समुदायविभक्त्या तिसृभावे इति तथाऽन्तो व्याप्त इति न कप् । अचीति किम् ? तिसृभिः । तिसृणी । नन्वाभि
परत्वादेरेफः प्राप्नोति । नैवम् । “नाम्यतिसृचतसृ” [५१॥९३] इति शापकान्तुष्टि नुमभावौ न स्तः । उरिति
किम् ? “अन्तेऽङ्गः” [११॥१४९] इत्येव सिद्धम् । लरित्यक्रियमाणे “येन नाप्राप्त” न्यायेन तिसृचतसृभाव-
स्यापवादो रेफः स्यात् ।

जराया चाऽसङ् ॥५१॥१६०॥ जराया अचि परतो वा असङ्गदेशो भवति । जरसौ । जरे । जरसः ।
जरसन् । जरसा । जरया । आमि परत्वान्तुडोऽसङ् । जरसाम् । जरसाम् । नुमः परत्वादसङ् । अतिजरसि
तपासीति । प्रादेशे “एकदेशविभक्तमन्यवच्” [५०] इति । अतिजरसं कुलं पश्येत्याश्रमं विभक्तीमपेक्षामङ् ।
अनकारान्तो जातः । स तस्योपो निमित्तं न भवति सखिपादलक्षणत्वात् । अतिजरं तिष्ठति । अतिजरैरित्यत्र सखि-
पानलक्षणादन्मावैस्भावौ । तेन नाऽसङ् । अनित्यैरा परिभाषेति केचित्तेन अतिजरसं तिष्ठति । अति-
जरैरिति ।

त्यदादेरः ॥५१॥१६१॥ अचीति निवृत्तम् । त्यदादीनामकारादेशो भवति विभक्त्याम् । त्यः । त्यौ ।
त्ये । तः । तौ । ते । यः । यौ । एपः । एतौ । इमौ । इमे । अमू । अमी । द्वौ । द्वाम् । त्यदादिषु स्त्रीत्व-
विचक्षायां “भाविनि भूतवदुपचारात्” इति स्वादिमपेक्षया कृते दाप् । तेन स्या सेत्यारिदिसिद्धम् । अत्यविधि
प्रति द्विपर्यन्तास्त्यदादयः । “भवतश्चयसौ” [३२॥११] इति निर्देशात् । तेन भवान् । भवन्ती । भवन्तः । गृह्य-
माणेन त्यदादिना विभक्ती विशेष्यते । तेनाप्रधानानामन्त्वं न भवति । अतितदः । प्राधान्ये तु शोभनः सः सुमः ।
अतिसः । परमसः । सञ्ज्ञाशब्दानां तु त्यदादित्वाभावः सर्वनामान्तर्गतात्वात्त्यदादेः ।

किमः कः ॥५१॥१६२॥ किमित्येतस्य क इत्ययमादेशो भवति विभक्त्यां परतः । कः । कौ । के ।
किमोऽकार एवानुवर्त्यः । पूर्वेषु मकारस्यानेन “अनन्तविकारेऽस्थसदेशस्य” [५०] इतीकारस्यान्वे पररूपवे
च कृते सिद्धमिति चेत् ; न, पूर्वेषु सत्यपि मकारस्यात्वसम्भवे इकारस्यात्वं बाधकमेव स्यात् । तत्रदानमिष दधि-
दानस्य । किञ्च कुत्साद्यर्थे साकेऽपि यथा त्यादिति कादेशः । विभक्त्यामित्येव । किं राजा यो न रक्षति ।

कुक्कौ तयोः ॥५।१।१६३॥ किम् : कु क इत्येतावादेशौ भवतस्तकारादावकारे न परतः । कुतः । क । “कुतसोः” इति सूत्रे सिल्लकरणसामर्थ्यात्पदसञ्ज्ञया भसञ्ज्ञाकार्ये उल्लेखे बाधिते यणादेशेन सिद्धे करूपे साको यया स्यादित्येनमर्थः कादेशः ।

तोः सः साधनन्त्ये ॥५।१।१६४॥ त्यदादीनां तवर्गस्यानन्त्ये सकारदेशो भवति सौ परतः । स्यः । सः एतः । अनन्त्य इति किम् ? कः । सः । त्यदाद्यत्वस्येदमादयोऽवकाशाः । सत्वस्यानन्त्यस्तवर्गः । परत्वाद् दस्य सत्त्वं स्यात् । ननु सत्त्वेऽपि यत्ने सिध्यति । नैवम् “अग्निस्मिन्ग्रहणेऽनर्थकस्यापि ग्रहणात्” [प० ४।४।१२] इति दीर्घं स्यात् । इह च स पुरुष इति हलि सुखे दोषः स्यात् । सा इत्यत्र “अतः” [३।१।४] इति याम्ना स्यात् । तस्माद-
नन्त्य इत्युच्यते । अनेष इत्यत्र नकारस्य कस्मान्न भवति ? “ननोऽन्” [१।१।१०] इति नकारस्य त्यदादिग्रहा-
णेनाग्रहणात् । भवानित्यत्र “स्फान्तस्य खम्” [५।१।४१] इति तस्यस्यासिद्धत्वात्तकारस्य प्राप्नोति । यद्येवं
परस्वत्वस्याप्यसिद्धत्वात्तकारो नास्ति । ततोऽन्तरङ्गत्वादनुस्वार एव स्यात् ।

असौ ॥५।१।१६५॥ असाविति निपात्यते । अदसः सकारस्यौत्वं सौ सुखम् । अन्ववाधनार्थम् । “तोः” [५।१।१६४] इति दस्य च सत्वम् । असौ । हे असौ । स्त्रीपुंसयोरिदम् । सावित्वेव । अदः कुलम् । अदसः परस्य सोरौत्वमेव निपात्यमिति चेत्, न, कुत्साद्यर्थविवक्षायां किं त्यदाद्यत्वे टापि कृते “त्यस्थे क्यार्पादनः” [५।२।५०] इति इत्वं स्यात् । तेन अतकौ स्त्रीति न सिध्येत् । सकारस्य त्वौत्वे याम्नास्तीति न दोषः ।

इदमो मः ॥५।१।१६६॥ इदमित्येतस्य मकारादेशो भवति विभक्त्यां परतः । साविति निवृत्तम् ।
उत्तरत्र साविति निर्देशात् । इमौ । इमे । इमे । इमाः । इमे । इमानि ।

दः ॥५।१।१६७॥

यः सौ ॥५।१।१६८॥ इदमो दस्य यकारादेशो भवति सौ परतः । उत्तरत्र पुंसीति निर्देशान् स्त्रियामयं
विधिः । इयं स्त्री । नपुंसके सुखे नास्ति ।

पुंसीदोऽय् ॥५।१।१६९॥ इदम इद्रूपस्य अयादेशो भवति सौ परतः पुंस्त्वभिधेये । अयम् । परमायम् ।
“पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं पञ्चावैकादेशः” । “नेन्द्रस्य” [५।२।२७] इति ज्ञापकान् ।

अनाप्यकः ॥५।१।१७०॥ इदम इद्रूपस्वाककारस्यान इत्ययमादेशो भवति आपि विभक्त्यां परतः ।
अनेन । परमानेन । अनयोः । अक इति किम् ? इमकेन । इमकयोः । आविति प्रत्याहारः टादिरासुपः पकारेण ।

हलि खम् ॥५।१।१७१॥ हलादावापि परतः अककारस्येदम इद्रूपस्य खं भवति । आम्नाम् । एभिः ।
एभ्यः । एषु । अक इत्येव । इमकेभ्यः । “अन्तेऽज्जः” [१।१।४६] कस्मान्न भवति । “नानर्थकेऽन्तेऽज्जो विधिः”
[प०] । अथवा अर्थवदादिभक्त्यापरिणाम इति पूर्वण सिद्धस्यानोऽन्तेऽल इति नखम् ।

इत्यभवनन्दिनिश्चितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

मृजैरेप् ॥५।२।१॥ गोरित्येतदेवानुवर्तते । मृजेरिक् ऐम्भवति । मर्ष्टा । मृजेरितीग् निर्देशः “धोः स्वरूप-
ग्रहणात्तत्त्वविज्ञानम्” [प०] औणहत्येति तत्त्वनिपातनाज्ज्ञायते । अन्यथा “इनस्तो जियल्लोः” [५।२।३६]
इत्येव तत्त्वं स्यात् । धोर्विहिते ल्ये ऐम्भवति । न मृदस्त्ये तेन कंसपरिमृड्भिरिति । ननु “किरुति” [१।१।१६]
इति प्रतिषेधः सिद्धो नैवम् । क्लृप्तिमित्तयोरेवैपोः स प्रतिषेधः ।

किड्थचि वा ॥५।२।२॥ मृजेरजादौ किड्थि वा ऐम्भवति । परिमृजन्ति । परिमार्जन्ति । परिमृ-
जतुः । परिममार्जतुः । किड्थीति किम् ? परिमार्जनम् । अचीति किम् ? मृष्टः । के तसि वा द्रष्टव्यम् ।

१. प्रतिषु सूत्रस्थास्य वृत्तिस्तुष्टिता ।

अण्यस्यचः ॥५१२॥ इति शिति च परतोऽजन्तस्य गोरैर्भवति । प्राकारः । अघ्यायः । “अघ्या-
यानुवाकयोर्वोप्” [४।१।६४] इति निपातनाद्वच् । कारको हारकः । नात्रकः । लावकः । सन्नायः । सन्नायः ।
अनर्थकमिदम् । अपिरजन्ते अयवोश्च कृतयोः “उङोऽन्तः” [५।२।४] इत्येषा सिद्धम् । मैवं शक्यम् । “गुकार्ये
निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०] इति अपि च सख्युरेव विहितः गौर्जत्रमिश्रत्र चादयादेशाभावादेव सिद्ध्येत् ।
अजग्रहणमनिगर्थं गौरिति । शित्करणं तु गावौ गावः इत्यवादादेषो सति “उङोऽन्तः” [५।२।४] इत्यपि चरि-
तार्थं स्यात् ।

उल्लोडतः ॥५॥२॥४॥ गोरकारस्य उडः ऐद् भवति श्रिति परतः । पाकः । पाठः । पाचकः । पात्रकः । पाचयति । उड इति किम् ? पिपाठयकः । पकाराकारस्य भा भूत् ! अन्त्यस्य पूर्वेण प्राप्नोति । नैधम् । पूर्वविप्रतिषेधेनातः खं भवति । अतः इति किम् ? भेदकः । तपरकरणं मुत्रमुखाधर्मम् ।

हृत्पञ्चामादेः ॥११२॥ अच इत्यनुवर्तते । हृति विवृति परतः अचामादेरच ऐच् भवति । आश्व-
मीभिः । व्रैशुष्टिः । सौलोचनः । सौतारः । “नदीमानुषी” [३।१।१०२] इत्यादिनाम् । अचामिति किम् ? हला
मविचक्षार्थमन्वया । अचामादेनामन्वयः स्यात् । अचामादेनामन्वयस्योद्देश्यस्य चैषः परत्वादादेरपि । त्वाष्ट्रः । जागतः ।
“तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् । “सकृद्गते परनिर्णये बाधितः एव” [प०] पुनः प्रसङ्गविज्ञानपक्षेऽपि न
दोषः । अनुशक्तिकादिषु पुष्करमञ्जुन्दपाद्यात् पोष्करादिः । बाह्यदेरिष् [३।१।८५] । अन्यथा तत्रोभयोः
पदयोरैवार्थपाशोऽनर्थकः स्यात् ।

देविकाशिक्षादीर्घसत्रश्रेयसामाः ॥५१॥ देविकादिभिराद्यन्त्रो विशेषणान् केवलान् नदादीनां च अहणम् । देविकायां भवे दार्चिकमुदकम् । आद्यज्विशेषणाद्देविकुले भवा दार्चिकुलाः शास्त्रयः । शिक्षाया चिकारः शांशपं भस्म । शिक्षापास्थले भवे शांशपास्थलम् । दीर्घसत्रे भवे दार्घ्यसत्रम् । श्रेयोऽधिकृत्य कृतो ग्रन्थः श्रेयसि भवो वा श्रावसः स्थाद्वादः । देविकादीनामदेरच इति किम् ? सुदेविकायां भवा सौदेविकाः । पूर्वार्धिकायां भवः पूर्वशार्चिकः । पूर्वशांशपः । प्राच्यां ग्रामौ । “प्राच्यां ग्रामाणाम्” [५१।१६] इति योरैयसङ्गं अनेनाकारः ।

केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरिय् ॥५१२॥ केकय मित्रयु प्रलय इत्येतेषां यकारादेरियादेशो भवति ह्रस्वि जिगृति परतः । केकयश्चापत्यन् । “राष्ट्रशब्दाद्वाहोऽङ्” [३।१।१५०] । आदेशैः । कैकेयः । मित्रयोर्भावः “वृद्धचरणच्छ्लाघात्याकारावैते” [३।४।१२४] इति कुञ् । लौकिकं तत्र वृद्धं गृह्यते । मित्रेवक-
माश्लान्धते । प्रलयाद्वागतं प्रालेयम् ।

पदे योरैयौव् ॥५।२।८॥ पदे परतः अचामादेरन्वः स्थाने कृतौ यौ यकारवकारौ तयोरैयौव्
इत्येतावदेशौ भवतः दृष्टिं श्रियति परतः । व्याकरणं वेत्तव्येति वा वैवाकरणः । एषं नैवशयिकः “क्लृप्त्यादि-
सूत्रान्तादृण्” [५।२।५२] इति ठण् । शोभना अश्वा अस्येति स्वश्वः । तस्यापत्यं सौवर्गिवः । आदेरेवः
परत्वादैयौवो भवतः । अर्हता प्रोक्तमार्हतं तत्त्वम् । पद इति किम् ? इणः शतरि यत् । यत्तः ह्याया याताः ।
अस्त्यन्वामादेरन्वः स्थाने “यणेश्वोः [५।५।७७] इति यकारो न तु पदे परतः । योरिति किम् ? आश्विवः ।
अन्वामादेरन्वः इति किम् ? अभ्यञ्जनेन चरति आभ्यञ्जनिकः । दाभ्यश्चिवः । इह कस्मान्न भवति द्वे
अशीती भूतो भात्री वा द्व्याशीतिकः ? यत्रैवादेश्च ऐप्राप्तिस्तत्रायं विधिः । अत्र च “संस्त्रायाः संस्त्रा-
संवत्सरस्य” [५।२।२०] इति धोः प्रातिर्न द्विशब्दस्य । योरैपोऽप्ययमपवादः । पूर्वन्थलिन्दे जातः पूर्वन्थलिन्दः ।
“प्राचां ग्रामाणाम्” [५।२।१६] इति प्रातिः ।

द्वारादेः ॥५॥२१॥ द्वार इत्येवमादीनां च श्वोरैबौबित्येतावादेशः । भवतः जिनि हनि परतः । द्वारे नियुक्तः दौनारिकः । नायं पदेऽच्चः स्थाने वकारः इति पूर्वेषाम्प्राप्तिः । अत्र द्वारादिभिर्द्योविंशोऽष्टान्तर्दि-

ग्रहणम् । द्वारपादस्य अपत्यं दौवारपालिकः । “रेवत्यादेष्टु” [३।१।१३४] इति ठण् । स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौवरः । तदादेरपि । स्वराध्याये भवः सौवराध्यायः । व्यल्कसे भवः वैयल्कसः । स्वस्तीत्याह सौवस्तिकः । तदाहेत्यस्मिन्नर्थे ठगुक्तः । स्वर्मयं सौवम् । “कर्ममात्रे दिक्” [वा०] इति दिक् । स्वर्ममनमाह सौवर्ममनिकः । स्वः अध्याय स्वाध्यायः । स्वाध्यायेन चरति सौवाध्यायिकः । अत्रामादेरित्यनुवर्तनादाद्यच्चः समीपत्य यस् एवौवादेशौ स्वशब्दस्यैव । तदादिविधिना सिद्धमिति चेत्, न “स्वशब्देन तदादिविधिरनित्यः” इतीदमेव शापकम् । तेन स्वपतौ साधु स्वापतैर्यमिति । स्वयकृतस्यापत्यं स्वैयकृतः । “कुर्वन्पुण्यकृत्” [३।१।१०३] इत्यण् । स्वादुष्वस्येदं सौवादुष्यम् । शुनो विकारः शौवः सङ्कोचः “स्वाश्मचर्मणां संकोचश्चकार-कोशेषु” [४।४।१३२] इति दिक् । शुनो दंष्ट्रा श्वादंष्ट्रा । “अन्यस्वापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । तत्र भवः शौवादष्टौ मणिः । तथा शौवाहननम् । स्वस्येदं सौवम् । तदादेः स्वग्रामे भवः सौवग्रामिकः । अध्यात्मादित्वाहण् ।

न्यग्रोधस्य केवलस्य ॥५।२।१०॥ न्यग्रोधस्य केवलस्य यो वकारस्तस्य ऐकित्यमादेशो भवति इति जिघ्रति परतः । न्यग्रोधस्यायं नैयग्रोधो दण्डः । केवलस्येति किम् ? न्यग्रोधा अस्मिन्देशे सन्ति “शुभ्रशुभ्र” [३।२।६१] इत्यादि पाठान्तः । ताप् “त्यस्ये क्यार्थो” [५।२।५०] इत्यादिनेत्वम् । न्यग्रोधिकारो भवः न्याग्रोधिकः । अत्र “मस्य ह्यस्ये” [वा०] इति पुंवद्भावाः प्राप्तः । “न बुद्धकोडः” [४।३।१४३] इति प्रतिषेधः । तथा न्यग्रोधमूले भवं न्याग्रोधमूलं तृणम् । ऐत्रेव भवति । ननु न्यग्रोधस्योन्वयमानं कथमन्याधिकस्य स्यात् ? तदन्तविधिना । श्वेवं नार्थः केवलग्रहणेन न्यग्रोधस्य प्राधान्येनाश्रयणात्तदन्तविध्यभावः । एवं तर्हि तदादिनिवृत्त्यर्थं केवलग्रहणम् । अन्यत्रेह तदादिविधिरस्तीति शङ्कते । न्यग्रोधनीति व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । केवलस्यैव । अन्यव्युत्पत्तिपक्षे विध्यर्थं गूढम् ।

न जे ॥५।२।११॥ जे आर्थे कर्मव्यतिहारे जिघ्रति इति यदुक्तं तत्र भवति । व्यात्युक्तो । व्याक्रेषी । व्यापचोरी वर्तते । “कर्मव्यतिहारे जः” [२।३।७६] इति जः । “जान् श्रियाम्” [४।२।२२] इत्यण् । तस्मिन् प्रतिषेधः ।

स्वागतदेः ॥५।२।१२॥ स्वागतादेश्च यदुक्तं तत्र भवति । लागतेन चरति स्वागतिकः । स्वप्वरस्यापत्यं स्वावरीः । स्वङ्गः स्वाङ्गिः । व्यङ्गः व्याङ्गिः । व्यङ्गः व्याङ्गिः । व्यवहारेण चरति व्यावहारिकः । व्यवहारशब्दो न कर्मव्यतिहार एव वर्तते किन्तर्हि लोक्वृत्तेऽपि । ततः पाठः । स्वपतौ साधु स्वापतैर्यम् ।

श्वादेरावतः ॥५।२।१३॥ श्वादेर्गौरिकादौ यदुक्तं तत्र भवति । अतश्च य उत्पद्यते तर्त्तमश्च । चकारमन्तरेणापि समुच्चयो गम्यते । यथा शुधिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति । श्वागन्त्रिः । श्वादंष्ट्रिः । श्वाकर्णः । श्वाशीर्षिः । श्वागणिकः । श्वेव मस्त्रास्य, शुन इव दंष्ट्राऽस्य, शुन इव कर्णावस्य, शुन इव शिरोऽस्य । स्वशिरसोऽपत्यं वाह्यादिपाठादिभ्यः । अजादौ इति शिरसः शीर्षादेश उपसङ्ख्यानानेन । इकार्त्तत्वं व्यपदेशिवद्भावेन । अतो य उत्पद्यते तत्रापि प्रतिषेधः । श्वाभस्त्रेरिदं श्वाभस्त्रम् । श्वाकर्णम् । “इजः” [३।२।८६] इत्यण् । श्वन्शब्दो द्वारादिषु पठ्यते । तस्य तदादिविधिः अस्तीति इदमेव प्रतिषेधवचनं शापकम् । श्वादेरिति किम् ? श्वमिश्रचरति शौविकः । केवलस्य न प्रतिषेधः “नोऽणुं लो हति” [४।४।१३०] इति दिक् । अतएव इति किम् ? श्वाभस्त्रस्येदं शौवाभस्त्रम् । शौवादंष्ट्रो मणिः ।

वा पदान्तस्य ॥५।२।१४॥ श्वादेर्गोः पदशब्दान्तस्य यदुक्तं तत्र भवति वा । किमुक्तम् ? द्वारादौ श्वशब्दस्य तदादिविधिना श्रौशुक्तः । श्वापदानां समूहः श्वापदम् । शौवापदम् । शुन इव पदस्य श्वापदः । “अन्यस्वापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । इकारादौ पूर्वनिर्णयेन नित्यः प्रतिषेधः । श्वापदेन चरति श्वापदिकः । अन्तग्रहणं न कर्तव्यम् । “येनालि विधिस्तदन्तायोः” [१।१।६७] इति स्वयमेव पदान्तस्य श्वादेरित्यनु-

वर्तमानाच्च नान्यस्य कस्यचिद् भवेत्यति । एवं तद्वन्तप्राप्तां शापकमनिरयस्तदन्तविधिः । तेन “सन्त्य-विधौ न तदन्तविधिः” [५०] इति न वक्तव्यम् ।

द्योः ॥५॥२॥१५॥ द्योरित्ययमधिष्ठानो वेदितव्यः । यदित ऊर्ध्वमनुकमिष्यामः द्योरित्येवं तद् वेदितव्यम् । “हमस्ताजिभ्यस्तोः” [५॥२॥१६] इत्यतः प्रत्ययवन्ति । “प्रोष्ठपदाभ्यां जाते” [५॥२॥१७] प्रोष्ठपदासु जातः प्रोष्ठपादो माणवकः । द्योरैष । पूर्वपदस्य तेन न भवति । “येन साप्राप्ते तस्य तद्वन्तम्” [५०] इति न्यायात् । ननु “ईष्येयव्यसाये पूर्वपरयोः” [१॥२॥१८] इति न्यायेन “अवयवाद्दतोः” [५॥२॥१९] इत्यादौ कानिदेशाद् द्योरेव भविष्यति नाथोऽनेन । “प्रोष्ठपदानां जाते” इत्यादौ कानिदेशो नास्ति तदर्थं वचनम् । अन्यथा प्रोष्ठपदादौ निवमो न शक्येत ।

अवयवाद्दतोः ॥५॥२॥१६॥ अवयववाचिनः शब्दादुत्तरस्य श्रुतोद्योराचामादेरच ऐवभवति । पूर्व-
वार्षिकः । अपरवार्षिकः । पूर्वासु वर्षासु जातः । हृदर्थविवक्षायां “हृदर्थेषुसमाहारे” [१॥२॥१७] इति पसः । “कालाट्ठ” [३॥२॥१८] इति ठञ् । ननु कालाट्ठमुत्त । “सन्त्य-विधौ न तदन्तविधिः” [५०] । कथं कालान्तात् ? नैव दोषः । “अतोर्निधिव्यवयवान्” इति तदन्तविधिरुपसङ्ग्यातः । एवं पूर्वहैमनः । अपरहैमनः । “भसन्त्या” [३॥२॥१९] इत्यादिनाम् । “हेमन्तात्तृभ्य” [३॥२॥२०] इति तत्तम् । अवयवादिति किम् ? पूर्वास्वतीतासु वर्षासु जातः पौर्ववर्षः । आपरवर्षः । “प्राग्दोरण्” [३॥२॥२१] । पूर्वशब्दोऽव कालवाची नावयववाची । अत एवावयवसङ्गतादन्तविध्यभावात् “कालाट्ठ” [३॥२॥१८] नेत्यते ।

सुसर्वाङ्गीद्राष्टस्य ॥५॥२॥२०॥ सु सर्वं अर्द्ध इत्येवं पूर्वस्य राष्ट्रावाचिनः शब्दस्य द्योराचामादेरच ऐव भवति । सुपाञ्चालकः । सर्वपाञ्चालकः । अर्द्धपाञ्चालकः । शोभनाः पाञ्चालाः । प्रादिलक्षणाः पसः । सर्वं पाञ्चालाः । “पूर्वकाल” [१॥२॥२१] इत्यादिना यसः । अर्द्धपाञ्चाला इति । “विशेषणं विशेष्येणेति” [१॥२॥२२] पसः । सुपाञ्चालेषु जातः “राष्ट्रावभ्योः” [३॥२॥२३] “बहुत्वेऽदोरपि” [३॥२॥२४] इति वृज् । कथं राष्ट्रादुच्यमानस्तदन्तादुज् । “सुसर्वाङ्गीद्रिक्षाब्देभ्यो जनपदस्य” इति तदन्तविधिरुपसङ्ग्यातः । एवं सुमागधकः । सर्वमागधकः । अर्द्धमागधकः ।

दिशोऽमद्राणाम् ॥५॥२॥२५॥ दिश इत्यनुवर्तते । दिक्षब्दादुत्तरस्य राष्ट्रस्य मद्रर्जितस्य द्योराचामादेरच ऐव भवति । पूर्वपाञ्चालकः । अपरपाञ्चालकः । दक्षिणमागधकः । उत्तरमागधकः । पूर्वेषु पाञ्चालेषु जातः । हृदर्थे पसः । पूर्वोक्तेन तदन्तविधिना वृज् । अमद्राणामिति किम् ? पौर्वमद्रः । “मद्रेभ्योऽण्” [३॥२॥२६] । दिश इति किम् ? पूर्वव्यवभूतेषु पाञ्चालेषु भवः । अणि । पौर्वपाञ्चालः । दिशि यः पूर्वशब्दो वर्तते स दिक्षब्दोऽभिप्रेतो नाक्यवे वर्तमानः । अत एव तदन्तविध्यभावाद् नृन् नास्ति । योगविभाग उत्तरार्धः ।

प्राचां ग्रामाणाम् ॥५॥२॥२६॥ दिश इत्यनुवर्तते । दिक्षब्दादुत्तरे प्राचां देशे ग्रामाणामचामादेरच ऐवभवति । राष्ट्रस्येत्यनुवर्तनात् प्राचामित्याचार्यग्रहणं नाशङ्क्यम् । यदि पूर्वोत्तरपदसमुदायो ग्रामनामधेयस्तदा ग्रामवाचिनो गोरव्यवस्य दिक्षब्दात् परस्य ऐवभवतीत्यभिसम्बन्धः । इत्यत्र तु दिश उत्तरेषां ग्रामाणामिति । पूर्वा चासौ इयुक्तामशमी च “विकलङ्घ्यं ली” [१॥२॥२७] इति पसः । पूर्वयुक्तामशम्यां जातः । अणि । पूर्वयुक्तामशमः । अपरैयुक्तामशमः । “नेष्टस्य” [५॥२॥२८] इति प्रतिषेधवचनं शापकम् । प्राक्पूर्वोत्तरपदयो-
रैवादिकार्यं पश्चादेकदेश इति । एवं पूर्वा चासौ कृष्णमृत्तिका च पूर्वकार्णामृत्तिकाः । अस्तज्यापदे पूर्वस्यामिपु-
कामशम्यां जातः । “हृदर्थे” [१॥२॥२९] इति पसः । “दिगादेरली” [३॥२॥३०] इति रुः । शेषं पूर्ववत् । “अत्र ग्रामग्रहणे नगरस्यापि ग्रहणम्” [वा०] । यथा लोके-अमन्द्यो ग्रामकुक्कुट इति नागरोऽपि न भक्षते । सङ्ग्रापदे पूर्वं च तत्पटलिपुत्रं च । अन्यत्र पूर्वस्मिन् पाटलिपुत्रे जात इति “रोङ्गीतो प्राचाम्” [३॥२॥३०] ।

इति वृज् । पूर्वपाठलिपुत्रकः । अपरपाठलिपुत्रकः । पूर्वकन्वाकुब्जायां पूर्वस्यां कन्वाकुब्जायां वा जातः अणि सो च कृते पूर्वकान्यकुब्जः । ननु चैकमेव पाठलिपुत्रम् । पाठलिपुत्रान्तरस्य व्यवच्छेदस्याभावाद् कथं पूर्वशब्देन विशेष्यते ? पाठलिपुत्रैकदेशे पाठलिपुत्रशब्दो वर्तते इत्यदोषः ।

सङ्ख्यायाः सङ्ख्यासंवत्सरस्य ॥११२२०॥ सङ्ख्यायाः परस्य सङ्ख्याशब्दस्य संवत्सरस्य च धोरचामादेरच ऐव भवति ञ्छिति ह्रति परतः । दिनावतिकम् । त्रिनावतिकम् । द्वाभ्यां गतिभ्यां कीतम् । ह्रदर्थे रसः । “आर्हाद्विण्” [११११७] । तस्य “रादुबलौ” [१११२६] इत्युप् । दिनवतिना द्रव्येण कीतं पुनश्च । अथवा द्वौ च नवतिश्च । “वा चत्वारिंशदादौ” [११११६०] इत्यनात्क् । “सिद्धमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य” [५०] इति नैकवद्भावेऽपि नपुंसकत्वम् । “द्वन्द्वे ध्रुवस्त्रिङ्गम्” [११११०२] दिनवत्या कीतम् । एवं द्वे पठौ भूतो भावी वा द्विपाठिकः । द्विपष्ठ्यादिशब्दो वषेषु सङ्ख्यायेषु वर्तमानः बालवाची । तेन कालाधिकारविहितवृज् । द्वौ संवत्सरौ भूतो भावी वा द्विसंवत्सरिकः । त्रिसंवत्सरिकः । संवत्सरग्रहणं निरर्थकम् । “परिमाणस्याखुशाणे” [५१२१२] इत्येव सिद्धम् । तत्र अशाण इति प्रतिषेधात् त्रैशब्देऽप्यस्य गच्छते गारोहपरिणादलक्षणम् । तेन द्विवैतस्तिकम्, त्रिवैतस्तिकमिति सिद्धम् । एवं तर्हि संवत्सरग्रहणं नाप्यकम् । “परिमाणग्रहणेन कालपरिमाणं गृह्यते” । तेन द्वे समे अधीष्टो द्वैतमिकः । वारैश्च भवति तत्रा द्विवर्षमाश्रयिका । “परिमाणद्विधुषि” [१११२६] “रात्” [१११२२] इति छीर्न भवति । द्वे वर्षे भूता प्राक्स्त-उजः “वर्षादुप् च” [१११८५] “प्राणिन्युप्” [१११८६] ।

वर्षस्याभाविनि ॥११२२१॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । सङ्ख्यायाः परस्य वर्षशब्दस्य अन्तर्गोदस्य ऐव भवति ह्रति ञ्छिति परतः । यद्यभाविन्यर्थे ह्रत्तदैव स्यात् । द्वे वर्षे भूतं द्विपाठिकम् । अभाविनीति किम् ? त्रीणि वर्षाणि भावि त्रैवर्षिकं धान्यम् । ननु द्वे वर्षे अधीष्टो भूतो वा कर्म कारयति द्विपाठिको मनुष्य इति भाविता गम्यते कथं न प्रतिषेधः ? नैयम् ; करिष्यतीति प्रयोगे भाविता गम्यते न तु ह्रदर्थो भावी । ननु मनुष्या विधाने “प्राणिन्युप्” [१११८६] इति ठण् उप कस्मान्न भवति । भूतानिषये सोऽभ्युपगम्यते नधीन्यार्थी । ततो “वर्षादुप् च” [१११८५] इति विकल्प उप् भवति ।

परिमाणस्याखुशाणे ॥११२२२॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । सङ्ख्यायाः परस्य परिमाणस्य समुदायेनार्था गमनानायासशाणे च धोरचामादेरच ऐव भवति । अखुशाण इति विषयलक्षणेऽमीप् । द्विसौत्रणिकम् । द्वाभ्यां सुवर्णभ्यां कीतम् । आर्हाद्विणः “कार्पाणसहस्रसुवर्णशतमानाद्वा” [१११२७] इति वानुप् । एवं द्विगौत्रिकम् । त्रिगौत्रिकम् । बहुनैत्रिकम् । “द्वित्रिहोर्निष्कविस्तात्” [१११२८] इति थोप् । द्विकोडविकम् । द्वाभ्यां कुड्वाभ्यां कीतम् । “रादुबलौ” [१११२६] इत्युप् । द्विकुड्वेन द्रव्येण कीतं पुनश्च । अखुशाण इति किम् ? पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य, पञ्च कलापाः परिमाणमस्य पाञ्चलौहितिकम्, लोहिनीशब्दस्य “वा ठण् ससोः” [ठक्छसोश्च] [४०] इति पुंवद्भावे रूपम् । पाञ्चकलापिकम् । “परिमाणसङ्ख्यायाः सङ्ख्याध्यायने” [१११५३] इति ठगः “रादुबलौ” [१११२६] इति नोप् । द्वैशाणम् । त्रैशाणम् । “द्वित्रिभ्यामण्” [१११३४] इत्यण् । “कुलि- जस्यापि प्रतिषेधो वक्तव्यः” [४०] । द्विकुलिजे प्रयोजनमस्य द्वैकुलिजिकम् ।

प्रोष्ठपदानां जाते ॥११२२३॥ योरिति वर्तते । प्रोष्ठपदानां धोरचामादेरच ऐव भवति जातार्थे ह्रति ञ्छिति परतः । प्रोष्ठपदाभिर्युक्तः कालः । “भायुक्तः कालः” [११२१४] इत्यण् । तस्य “उसभेदे” [११२१५] इत्युप् । उसि युक्तयल्लिङ्गसङ्ख्यातिदेशः । प्रोष्ठपदासु जातः । अण् । तस्य “भेभ्यो बहुलम्” [११२१३] इति बहुलवचनादिहानुप् । प्रोष्ठपादो माणवकः । जात इति किम् ? प्रोष्ठपदासु भवः प्रोष्ठपदो मेघः ।

हृत्तिन्धुभगो द्वयोः ॥११२२४॥ हृत्तिन्धु भग इत्येषु युप् द्वयोः पदयोरचामादेरच ऐव भवति । सुहृदवस्येर्द सौशर्दम् । “हृदयस्य हृदलेखयाशलासेषु” [११२१६१] इति हृद्भावः । अथवा “सुहृददुर्दुर्दौ मित्रा-

मित्रयोः” [४।२।१५०] इत्यनयोर्महणम् । महासिन्धौ भवः माहासैन्धवः । “कच्छादेः” [३।२।१११] इत्यण् । सिन्धुशब्दस्य तत्र तदन्तविधिरपि । सौभाग्यम् । दौर्भाग्यम् । सुभगाया अपत्यं दृष्टि “कस्यास्यादीनामिनङ्” [३।१।११५] सौभाग्यनेयः ।

अनुशक्तिकादेः ॥५।२।२५॥ अनुशक्ति इत्येवमादीनां शब्दानां द्वयोः पदयोरच्चाभादेरच ऐच् भवति । अनुशक्तिकस्येदम् अनुशक्तिकम् । अनुशक्तिकः । अनुहोड-अनुहोडिः । अनुसंधरण-अनुसंधर्गणः । अगारवेणोरिदम् अगारवैणवम् । असिहत्यायां भवम् आसिहात्यम् । अस्यह्य इति केषाञ्चित् पाठः । अस्य-इत्यशब्दोऽस्मिन्निरेत आस्यहात्यम् । “विमुक्तादिभ्योऽण्” [४।१।६५] अस्यहेतीति पाठान्तरम् । अस्यहेतिः प्रयोजनमस्य आस्यहेतिकम् । आध्ययः । आध्यायिः । बध्योगस्यापत्यं बाध्योगः । “विदादिभ्योऽनृप्यानन्तर्येऽण्” [३।१।११५] पुष्करपाण-रौक्मपाणिः । बालुपाणुः-सम्बताहुः । सान्धवाहविः । “बाह्यादेरिष्” [३।१।८५] । कुरुक्-कौरुकात्यः । “गर्गादेरिञ्” [३।१।६४] । कुरुपञ्चालेषु भवः कौरुपाञ्चालः । “प्रातरोरण्” [३।१।६८] । राष्ट्रसमुदायो राष्ट्रग्रहणेन न गृह्यते । तेन “राष्ट्रावधोः” [३।२।१०२] इति वुञ् नास्ति । उडकशुद्ध-ओडक-शौद्धिः । इहलाफ-ऐहलौकिकः । पारलौकिकः । प्रयोजनार्थं वुञ् । सर्वलोकः-सर्वस्मिन् लोके विदितः सार्वलौकिकः । “लोकात्” [३।१।४४] “सर्वात्” [३।१।४५] इति ठण् । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । “सर्वभूमिपृथिवी-भ्यामण्” [३।१।४१] । सार्वपौरुषम् । तस्येदमर्थे प्रायोगिकम् । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । भवार्थे अन्धा-त्मादित्वाट्ठण् । परस्त्री-पारस्त्रीयेयः । ठणि “कस्यास्यादीनामिनङ्” [३।१।११५] । सूत्रनट-सौधनादिः । अभिगममर्हति आभिगामिकः । राजपुरुषात्किञ् । राजपुरुषायणिः ।

देवताद्वन्द्वे ॥५।२।२६॥ देवताद्वन्द्वे च द्वयोः पदयोरच्चाभादेरच ऐच् भवति । आग्निचारुणम् । अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्य । ऐन्विषये “ऐपीत्” [४।३।१४१] इत्यग्नेस्त्वम् । एवम्, अग्निमासतम् । अग्निधानवशादानङ् विषयेऽयं विधिरन्यत्र न भवति । स्कान्दविशाखः । ब्राह्मप्रजापत्यः । तस्येदमर्थे अण् । “द्विति” [३।१।७०] आदिना एवश्च ।

नेन्द्रस्य ॥५।२।२७॥ द्योरिति वर्तते । इन्द्रस्य द्यौरैश्च भवति । आग्नेद्वः । “देवताद्वन्द्वे” [५।२।२६] इति पूर्वपदस्यानङ् । इन्द्रस्य द्यौरैकादेशे कृते “यस्य क्वां च” [४।१।१३६] इत्यग्रे च आदेरच्चाभादेरच ऐच् भवति । इदमेव शापकम् “पूर्वोत्तरपदयोः कार्यमन्तरङ्गमप्येकादेशं बाधते” । तेन पूर्वपदान्-शमादयः सिद्धाः भवन्ति । द्योरिति किम् ? ऐन्द्रान्नः । “अजायत्” [१।३।६६] इत्यत्रेन्द्रस्य वा पूर्वनिपात-रूप्यते ।

द्यो वरुणस्य ॥५।२।२८॥ द्यन्तात्परस्य वरुणशब्दस्यैव न भवति । ऐन्द्रावरुणः । च इति किम् ? आग्निचारुणः । मैशवरुणः । ऐन्विषये “ऐपीत्” [४।३।१४१] इत्यग्नेस्त्वम् पश्चाद्योरैच् ।

प्राचां नगरे ॥५।२।२९॥ प्राच्यभावान्नेति न सम्भव्यते । द्योरिति वर्तते । अर्थवशाद्विभक्तौपरिणामः । प्राचां देशे नगरे द्यौर्द्वयोः पदयोरैच् भवति । सुहानगरे भवः सौहानागरः । पौरुडनागरः । वैराट्नागरः । द्योरिति तत्रानुवर्तनाद्बोद्धव्यात् “प्राचाम्” [३।२।१०१] इति वुञ् भवति । प्राचामिति किम् ? मल्लनगरे भवो मल्लनगरः ।

जङ्गलधेनु यलजे ॥५।२।३०॥ जङ्गल धेनु वलज इत्येतेषु ध्रुव पूर्वपदस्य अच्चाभादेरच ऐच् भवति । पूर्वपदस्येति कथं लभ्यत इति चेत् “वा योः” [५।२।३१] इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् । कुरुजङ्गले भवः कौरु-जङ्गलः । वैश्वधेनवः । सौवर्ग्यवलजः ।

वा द्योः ॥५।२।३१॥ जङ्गल धेनु वलज इत्येतस्य द्योरचामादेरच ऐम्भवति वा । कौरु-
जङ्गलः । कौरुजङ्गलः । वैश्वधेनवः । वैश्वधेनवः । गौरुर्गङ्गलः । गौरुर्गङ्गलः । पूर्वेषु नित्ये
प्राप्ते विकल्पः ।

परिमाणस्याऽनतोऽर्धाद्वा पूर्वस्य ॥५।२।३२॥ परिमाणस्यार्धादुत्तरस्य अनतः स्थाने ऐम् भवति
पूर्वपदस्य तु वा । अर्धद्वौषां पचति आर्धद्वौषिकः । अर्धद्वौषिकः । आर्धकौडविकः । अर्धकौडविकः ।
“पूर्वपदस्य वा” इति वचनाद् युविशेषणं वाग्रहणं नेहाभिसम्भवते । अनत इति किम् ? आर्धप्रस्थिकः । अर्ध-
प्रस्थिकः । अर्धचमसेन क्रीतम् आर्धचमसिकम् । अर्धचमसिकम् ।

प्रवाहणस्य ढे दस्य ॥५।२।३३॥ प्रवाहणस्य ढे परतः द्योरैव भवति पूर्वपदस्य तु वा दान्तस्य
चान्यस्मिन् ढृति णिति परतः । प्रवाहणस्यापत्वं प्रावाहणेयः । “शुभ्रादेः” [३।१।११२] इति दण् । दान्तस्य
प्रावाहणेवस्यापत्वं प्रावाहणेयः । प्रावाहणेयः । प्रावाहणेयश्चेदम् । “बृहच्चरणाञ्जित्” [३।३।६४] इति वृज् ।
प्रावाहणेयकम् । द्योरैपि सत्वसति च नास्ति विशेषः । पूर्वपदस्य विकल्पार्थः ।

नञः शुचीश्वरक्षेत्रकुशलचपलनिपुणनाम् ॥५।२।३४॥ द्योरिपूर्वस्य वेति वर्तते । नञः
परेषां शुचि ईश्वर क्षेत्र कुशल चपल निपुण इत्येतेषामचामादेरच ऐम्भवति पूर्वपदस्य तु वा । न शुचिरशुचिः
अशुचेरिदम् अशौचमाशौचम् । अथवा नास्य शुचिरस्ति अशुचिः । अशुचेर्भावः “ध्यादेरिकः” [३।४।१२१]
इत्यण् । “नञ्सेञ्चतुरसङ्गत” [३।४।११५] इत्यत्र व्याख्यातम् । चतुरादिभ्यो नञ्स एव भावकर्महृद्विधिः ।
अन्येभ्यस्तु नञ्सात्पूर्वमिति । न पठोर्भावः अपाठवम् । तेन नञ्सेमावाभिधायी भ्यो नोक्तः । अनेश्वर्य-
मानैश्वर्यम् । अक्षौत्रज्ञम् । आक्षौत्रज्ञम् । ब्राह्मणादिषु नञ्सावेतौ । अकुशलस्येदम् अकौशलमाकौशलम् ।
अचपलस्येदम् अचापलमाचापलम् । अनिपुणस्येदम् अनैपुणमानैपुणम् । अथपि कुशलचपलनिपुणशब्दा
ब्राह्मणादिषु युवादिषु च पठ्यन्ते तथापि तत्र तदन्तविधेरभावात्तत्र नञ्से वा कृते द्यवर्णनावप्राप्तावाकृति-
गणत्वाद्द्रष्टव्यम् ।

यथातथयथापुरयोः क्रमेण ॥५।२।३५॥ यथातथ यथापुर इत्येतयोः नञ् उत्तरयोः क्रमेण द्वयोर्देशा-
वति । अथाथातथमायथातथ्यम् । अथाथापूर्वमायथापुर्थम् । ब्राह्मणादिषु नञ्सावेतौ । यथातथा यथापुरा
“सुसुषुषा” [१।३।३] इति सविधिः । अयथातथाभावः अयथापुरा भावः इति विग्रहः । सौवर्णान्निर्देशस्येति प्राप्नो
पठितौ । यदि वा “यावद्यथावध्यसादृश्ये” [१।३।६] इति ह्रस्वे कृते पश्चात्तत्र नञ्से । नञ्सेकत्र नञ्सात्पूर्वं त्वविधिः
अन्यत्र नञ्से । तेनोभयं सिद्धमतो स्वर्थमिदम् । न व्यर्थम् । नञ्सात्पूर्वं प्राप्नोतीत्युक्तम् ।

हनस्तोऽजिणलोः ॥५।२।३६॥ ढृतीति निवृत्तम् । अजिणलोरिति प्रतिषेधात् सामान्येन णिणीति
वर्तते । हनस्तकारादेशो भवति णिति परतः अजिणलोः । घातयति । घातकः । “अन्तेऽलः” [१।१।४६]
इति नकारस्य तत्त्वम् । देशघाती । सर्वघाती । “सुपि शीलेऽजाती शिन्” [२।२।६६] नातंघातम् । “णम् षा-
भीक्ष्यवे” [२।४८] इति णम् । द्वित्वम् । घञि घातः । सर्वत्र “हो हन्तेर्णिञ्चि” [५।२।५६] इति कुत्वम् ।
अजिणलोरिति किम् ? अघानि । जघान । इह कस्मान् न भवति वृज् इत्येवमिति वृज्हा । तस्येदं वार्जधनम् ।
“वादिहन्तृतराजोऽणि” [४।४।१२३] इत्यत्रम् । “द्योः स्वरूपग्रहणे तत्त्वविज्ञानम्” [५०] इति द्योरैव भवति ।

आतो शल औः ॥५।२।३७॥ आकारान्ताद्गोदन्तरस्य शल औकारादेशो भवति । पपी । तत्थौ । पा
इत्येतस्मादणलि परतः युगपत्त्रीणि कार्याणि प्राप्नुवन्ति द्वित्वमेकादेश औत्वं च । तत्रैकादेशादनवकाशत्वेन
परमौत्वम् । द्वित्वादपि परत्वादपि । इदानीमपि कृते निमित्तनिमित्तिनोर्विभगाभावात् लिटि परतो द्वित्वनुच्य-
मानं न स्यात् । “द्वित्वेऽचि” [१।१।५६] इति स्थानिवद्भविष्यति । ननु द्वित्वनिमित्ते अचि स्थानिवद्भाव उच्यते

आत्राचो निमित्तत्वं भेदाभावात् । एवं तर्हि “द्विषेऽपि” [१११५६] इति सूत्रे द्वित्व इति योगविभागादिह स्थानिवद्भावः ।

त्रिकृतोर्युक् ॥५१२३८॥ आकारान्तस्य गोः जौ कृति त्रिणिति च परतः युगागमो भवति । अत्रापि । अत्रापि । दायः । धायः । दायकः । धायकः । त्रिकृतोरिति किम् ? ययौ । वयौ । वयौ । शा देवता अस्य अणि शः ।

न सेटस्तासि मोऽधर्मिकमिचमः ॥५१२३९॥ मान्तस्य गोः तासि मेंटः जौ कृति त्रिस्ति च यदुक्तं तत्र भवति । किञ्चोक्तम् ? त्रिणतीयनुवर्तनाद् “उक्तेऽतः” [५१२४] इत्येप् । अशमि । अगमि । अदमि । शमकः । दमकः । तमकः । शमः । तमः । दमः । विश्रमः । कथं सूर्यविश्रामभूमिः ? प्रमादप्रयोग एव । तासि सेट इति किम् ? यामकः । रामकः । म इति किम् ? चारकः । पाटकः । अधर्मिकमिचम इति किम् ? वामः । कामः । आचामः । त्रिकृतोरिति किम् ? शशाम । तताम । कथमुद्यमः । उपरमः ? “अड उद्यमे” [धा०] “वम उपरमे” [धा०] इति निपातनात् ।

जनिवध्योः ॥५१२४०॥ जनि वधि इत्येतयोश्च त्रिकृतोर्यदुक्तं तत्र भवति । अजनि । अवधि । जनकः । वधकः । जनः । वधः । वधिरिति प्रकृत्यन्तरं हलन्तमस्ति । तस्येदं ग्रहणम् । न इनादेशस्यादन्तत्वात् । तेन सिद्धम् । “भक्षकश्चेन्न विद्येत वधकोऽपि न विद्यते” ।

अतिह्रीव्स्तीरीकन्यूरीन्मय्यातां पुग् एवेप् ॥५१२४१॥ गोरिति वर्तते । अति ह्री व्ली री क्यूरी द्मायो इत्येषामाकारान्तानां च गूनां गौ परतः पुग् भवति एव । अतिरिति तिषा निर्देशः ऋकारान्तनिवृत्त्यर्थः । इयति ऋच्छति वा कश्चिन् तं प्रयुङ्क्ते अर्पयति । हेषयति । विलनातेव्लेपयति । रोयते रिणातेश्च रेपयति । निरनुवन्धपरिभाषा नाश्रीयते । क्यूरी क्नोपयति । “वलि व्योः खम्” [५१२४५] इति यत्नम् । “न धु खेऽमे” [११११८] इत्येप्रतिषेधः प्राप्नोति अगनिमित्ते खे स प्रतिषेधः । वर्णनिमित्तं चेदम् । द्मायी द्मापयति । आकारान्तानाम् । दापयति । धापयति । लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषेह नाश्रीयते । ग्लापयति । अप्यापयति । “इकस्ती” [११११७] इत्याश्रयणात् आतः एन् न भवति । पुकः पूर्वान्तकरणं किम् ? दापयतेर्लुङि अदीदपदित्यत्र “शी कच्युक्” [५१२४५] प्रादेशार्थः ।

शाच्छासाक्काव्यावेपां युक् ॥५१२४२॥ शा च्छा सा ह्वा व्या वे पा इत्येतेषां शौ परतः युगागमो भवति । निशावयति । अपच्छाययति । अन्नसाययति । संहाययति । संवावयति । पावयति । शादीनां कृतान्वानां ग्रहणं लाक्षणिकस्यापि पूर्वेण पुकमाख्यातुम् । कापयति । जापयति । वेज एकारान्तनिर्देश “ओवै शोषणे” [धा०] इत्यस्य निवृत्त्यर्थः । वातेस्त्रिकरणादग्रहणम् । पाग्रहणे “पै ओवै शोषणे” [धा०] इत्यस्यापि ग्रहणम् । आकारान्तवर्गात् पृथक् पाटो लाक्षणिकत्वागर्थः इत्यन्ये । पातेर्लुङं वक्ष्यति । युक्ः पूर्वान्तत्वं निशावयतेर्लुङि न्यशीशयदिति प्रादेशार्थम् ।

वो विधूनने जुक् ॥५१२४३॥ वा इत्येतस्य विधूननेऽर्थे जुग्भवति शौ परतः । पक्ष्णेणोपवाजयति । “वज वज गतौ” [धा०] इत्यस्य ययन्तस्य किन्न रूपम् । नैवं वातेर्मुक् स्यात् । विधूनन इति किम् ? आवापयति केशान् । “ओवै शोषणे” [धा०] इत्यस्येदं रूपम् । “धूम्रीजोर्वा जुगिष्यते” इति विधूननवचनं जापकम् ।

पातेर्लुक् ॥५१२४४॥ पातेर्लुगागमो भवति शौ परतः । पालयति शीलं गुरुः । तिषा निर्देशोऽनुच्चिकरणातिवृत्त्यर्थः । यदुग्रन्तनिवृत्त्यर्थश्च । ननु पाल रक्षण इति चौरादिकस्य रूपं भविष्यति । नात्रापि युक्त्यात् ।

लो वा स्नेहद्रवे ॥५॥२॥४५॥ ला इत्येतत्त्व शौ परतः वा लुगागमो भवति स्नेहद्रवेऽर्थे । घृतं विलापयति विलापयति । विलापयति । ला इति लिमातेः द्रवीकरणार्थस्य “विभाषा लिचोः” [११३॥४४] इति कृतात्वस्य धूनामनेकार्थत्वात्लातेश्च स्नेहद्रवे वृत्तिरित्युभयोर्ग्रहणम् । स्नेहद्रव इति किम् ? अथो विलापयति । जलाभिग-
लापयते । लीयतेः कृतात्वात् “लिचोऽधाह्वसन्मानने च” [११३॥४६] इति दः ।

लियो नुक् ॥५॥२॥४६॥ ली इत्येतत्त्व शौ परतः स्नेहद्रवेऽर्थे वा नुग्भवति । घृतं विलीनयति । घृतं विलापयति । लियोऽनात्वपक्षे स्नेहद्रवार्थस्य ग्रहणम् । स्नेहद्रव इत्येव । अथो विलापयति । लो ऐक्यादेशौ । अथ “विभाषा लिचोः” [११३॥४४] इत्यात्वपक्षे एकदेशविकृतस्यानन्यत्वान्नुक् कस्मान्न भवति ? लिय इत्येव ली ई इतीकारप्रश्लोपादीकारान्तस्य नुक् ।

रुहः पः ॥५॥२॥४७॥ रुहः शौ परतः पकारादेशो भवति वा । आरोपयति । आरोहयति स्वर्गं जिन-
धर्मः । अथ “युप रुप लुप विमोहने” [धा०] इति स्यतेः रोपयति, रुहेः रोहयतीति भविष्यति । न शक्यमे-
वम्, आरोपयतीति भविष्यति न शक्यमेवम् । आरोपयतीत्यत्र रुहेरर्थः प्रतीयते न स्यतेः । अनेकार्था एव
इति पादप्रसारिकेया ।

स्कायो वः ॥५॥२॥४८॥ वेति निवृत्तम् । स्कायी इत्येतत्त्व वकारादेशो भवति शौ परतः । स्काययति ।
स्कावयतः । स्कावयन्ति । “अन्तेऽल्लः” [११३॥४९] इत्यन्तस्य ।

शवोऽगतौ तः ॥५॥२॥४९॥ शदेशौ परतः अगतायर्थे तकारादेशो भवति । पुष्पाणि शातयति ।
फलानि शातयति । अगताविति किम् ? गाः शादयति यष्ट्या । “शदृत् शातने” [धा०] इति निपातनात् सिद्ध-
मिति चेत् ; निपातनमवाचकमितरस्य शक्येत । यथा ‘पूर्वकालैक’ [११३॥४९] इत्यत्र पुराणशब्दः
पुरातनशब्दस्य ।

त्यस्थे क्वापीदतोऽसुपोऽयस्तदौ ॥५॥२॥५०॥ त्यस्थे ककारे परतः पूर्वस्य अकास्येकदेशो
भवति असुपो य आप् तस्मिन् यत्तदित्येतौ वर्जयित्वा । कुत्सिता जटा जटिका । मुण्डिका । त्य इति
किम् ? शक्नोतीति शका । तका । धोरथं कः । स्थग्रहणं किम् ? क्यरिका । हारिका । अस्ति स्थ-
ग्रहणे त्वे कीत्युच्यमाने “येनाल्लविधिः” [११३॥५०] इति ककारादावेवं स्यात् । स्थग्रहणे सर्वत्र सिद्धम् ।
कीति किम् ? नन्दना । रमणा । कीतीप्निर्देशः किम् ? “ईप्तेत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [११३॥५०] इति
परस्य मा भूत् । पटुका । मृदुका । आपीति किम् ? कारको हारकः । अत इति किम् ? गौका । नौका ।
तपरकरणं किम् ? बहुलत्वाका । बहुमालाका । “वाऽपः” [५॥२॥५१] इत्यपदेशपक्षे । प्रपक्षे असुवः
कपः परोऽयमाप् । असुप इति किम् ? बहवः परित्राजका अस्यां बहुपरित्राजका मथुरा । “त्यस्ते त्याश्रयम्”
[११३॥५१] इति सुवन्तात्परित्राजकशब्दादयमाप् । ननु च बले समुदायादसुवन्तादावितीत्यं प्राप्नोति, तदमत् ।
असुप इति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । न चाप्सुवन्तादवयवात्परो भवति । पर्युदासे हि दोषः । सुपोऽन्यः असुप्
समुदायस्तस्मादावितीत्यं स्यात् । बहूनि चर्माणि अस्यां बहुचर्मिकेत्यत्र असुवन्तात्कपः परोऽयमावितीत्यम् ।
अयस्तदाविति किम् ? यका । सका । यकां यकां पश्यति तकां तकां कृणीते । इह कथं प्रतिषेधः, यातीति
स्यतीति विचि या सा इति स्थिते के प्रादेशो च कृते यका सका । क्षिपकादावेती द्रष्टव्यौ । ननु कीति
वर्णनिर्देशः तस्यापीति परत्वेन विशेषणं नोपपद्यते आकारेण व्यवधानात् । एकादेशे भविष्यति । एकादेशः
पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीति व्यवधानमेव । एवं तर्हि वर्णनैकेन व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्याद्भवति ।
सङ्घातेन पुनर्व्यवधानमिति । रथानां समूहो रथकट्या पुत्रकाम्यान् पुत्रकाम्या इत्यादौ न भवति ।

वाऽतोऽधोर्यक्ताम् ॥५॥२॥५१॥ अधोर्यो यकारः ककारश्च ताभ्यामुत्तरस्यातः स्थाने यो अकारः
तस्याभ्यसुपः वा इद्भवति । कुत्सिता इवा इभ्यका । इभमर्हतीति “व्यङ्गादेः” [११४॥५१] यः । एवं

क्षत्रियका । क्षत्रियिका । अर्थका । अर्थिका । चटका । चटिका । मूषिका । मूषिका । आत
इति किम् ? साङ्काश्ये भवा साङ्काश्रयका । अधोरिति किम् ? मुनयिका । मुशयिका । मुशोचिका ।
मुषाकिका । सोभनो नयोऽस्या सुनया । “केऽणः” [५२।११५] इति प्रादेशे कृते धोरन्तौ वकारक-
काराद्यम् ताभ्यां परस्व न विकल्पः । यकादिति किम् ? अश्वी । अश्विका । वेति योगविभागः । सा च
व्यवस्थितविभागा । तेन “तारका ज्योतिषि” । तारिकान्या । “आशिपि” जीवतादिति जीवका । नन्दका ।
जीविका नन्दिकाऽन्यत्र । अनुकम्पिता देवदत्ता । के कृते “अनजादौ वा पुत्रम्” [३०] उपक्रम—“देवका”
देवदत्तकान्यत्र । “वर्णका तन्तुविकारे” । वर्णिकान्या । “वर्तका शकुनी प्राचाम्” । वर्तिकाऽन्यत्र । “अष्टका
कर्मविशेषे” । अष्टिका तुलान्यत्र । अष्टौ परिमाणमस्या इति । सूतका । सूतिका । पुत्रका । पुत्रिका ।
वृन्दारका । वृन्दारिका । “क्षिपकादौ न भवत्येव” “क्षिप प्रेरणे” [४०] । ध्रु स्तब्ध । क्षिपतीति
भ्रिषा, के क्षिपका । ध्रुवा, ध्रुवका । यका । सका । इत्येवमादिः क्षिपकादिः दक्षिणान्तिका । इत्यिका
इत्यादावित्यमेव ।

भस्त्रैवाजाहाद्वास्यानां नञ्सेऽपि ॥५२।५२॥ भस्त्रा एषा अजा जा हा स्वा इत्येतेषां नञ्से
असेऽपि आतः स्थाने यो अकारः तस्य वा इद् भवति । भस्त्राशब्दस्य “अनुक्तपुंस्कादाच्च” [५२।५३]
इतीमं विधिं वक्ष्यति । इद् नञ्सादन्त्यवापि प्रतिषेधयिष्यते । अभस्त्रका । अभस्त्रिका । अविद्यमाना
भस्त्रा अस्या इति अभस्त्रा । कुत्सार्थे कः । एषका । एषिका । एतदः सर्वनाम्नोऽकभाविनि सौ “त्यदा-
देरः” [५१।१६१] इत्यत्वम् । प्राक् सुपः टाप् । एतेति विकृतनिर्देशाच्च तत्र विकल्पः । एतिकास्ति-
ष्ठन्ति इत्यत्र नित्यमित्वम् । अजका । अजिका । अनजका । अनजिका । नञ्से कृते कः । जानातीति जा ।
सका । सिका । अजिका । द्वके । द्विके । स्वका । स्विका । अस्वका । अस्विका । एषा द्वे गच्छन्ते
अनुदाहरणे । सुवन्तादापो विहितत्वात् । नञ्सात् पूर्वस्यश्चाद्वा अकि कृते “त्यस्ते त्याग्रयम्” [११।६३] इति
अन्तर्वर्तिनीं विभक्तोमाश्रित्य सुवन्तादाविति न प्राप्तिरित्यस्य । अनेषका । अनेके इति भवति । स्वशब्दस्य
तु आतिशयाख्यायां सर्वनामसञ्ज्ञाकिरहादनास्ति । अकि हि सति तस्य टेः प्राग्भावात्सुबन्तग्रहणेन ग्रहणम् ।
सुवन्तादास्यात् । ज्ञातिविवक्षायां तु न स्वा अस्या कुत्सार्थे कः । अस्वका । अस्विका । अपिग्रहणं किम् ?
नञ्से अस इत्येवास्तु । अन्वस्मिन्नपि मे कश्चिद्भावायम् । बह्वो भस्त्रा अस्या इति के बहुमत्रका । बहु-
मस्त्रिका । निर्मस्त्रका । निर्मस्त्रिका ।

अनुक्तपुंस्कादाच्च ॥५२।५३॥ अनुक्तपुंस्काद्विहितत्वात् स्थाने योऽकारस्तस्य आन्व भवति
इच्च वा । नञ्से असेऽर्गतिं वर्तते । खट्वाका । खट्विका । खट्वाका । मालका । मालिका । मालका ।
मस्त्राका । मस्त्रिका । मस्त्रका । खट्वादिशब्दा नित्यं क्रियामेव वर्तन्ते इत्यनुक्तपुंस्काः । नञ्सेऽपि । अभ-
स्त्राका । अभस्त्रिका । अभस्त्रका । अखट्वाका । अखट्विका । अखट्वाका । परमखट्वाका । परमखट्विका ।
परमखट्वाका । असेऽपि यदा कपि परतः “याऽपः” [५२।१२७] इति प्रादेशस्तदानुक्तपुंस्काद्विहित-
त्वात् स्थाने अकार इत्ययमेव विधिः । अविद्यमाना खट्वाऽस्या अखट्वाका । अखट्विका । यदा न
कप् तदा “र्जागोर्नीचः” [११।१८] इति प्रादेशादुक्तपुंस्कत्वम् । अखट्विका । अतिक्रान्ता खट्वाम्
अतिखट्विका ।

उत्थेकः ॥५२।५४॥ गोर्निमित्तभूत्स्य उत्थ इक इत्ययमादेशो भवति । उत्थेति त्यस्य ग्रहणम् ।
अशैदां व्यति आक्षिकः । शालाक्षिकः । “प्राग्भाट्ठ” [३।३।१२६] दक्षि संस्कृतं दाधिकम् । अप्रधानां
समूहः आपृषिकम् । “कथेष्टः” [८० सू०] कण्ट इत्यादिषु “जणाद्यो बहुलम्” [२।२।१६०] इति
न भवति ।

इत्तुसुक्तः कः ॥५१२।५५॥ इत् उस् उक् इत्येवमन्तात्तकारान्ताच्च गोः परस्य ठस्य क इत्ययमादेशो भवति । सर्पः पण्यमस्य सर्पिष्कः । वार्हिष्कः “कुप्वोस्ते” [५।४।२६] इति रेफस्य सः । “इणः पः” [५।४।२७] इति पत्वम् । धनुः प्रहरणमस्य यजुः पण्यमस्य “प्राप्त्याहुण्” [३।३।१२६] धानुष्कः । यजुष्कः । उक्-निषाहकार्या जातः नैषाहकर्णुष्कः । शस्त्रजम्बुकः । “ओर्देशे ठञ्” [३।२।१६] । “केशणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशः । मातुरागतं मातृकम् । “कन्तञ्ज” [३।२।५२] । तान्तात्—उदशिवत् पण्यमस्य औदशिवत्कः । भवतोऽयं भावत्कः । ननु मांयतं पण्यमस्य मांयित्क इत्यत्र “यस्व ठञ् च” [४।४।१३६] इति खे कृते तान्तादिकस्य स्थानिवद्भावेन कादेशः प्राप्नोति । अजादिति निमित्तस्त्वकारो नाजादिं हन्ति । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” [५०] “अक्षिमुचिहु-सृपिष्छदिच्छदिभ्य इत्” [३० सू०] इत्येवमादिना प्रतिपदोक्तयोरिसुसोर्ब्रह्मादिह न भवति । आशिषा तरति आशिषिकः । उषा चरति औषिकः । “घाकः शासु इच्छायाम्” [४।०] “वस निवासे” [४।०] इत्येताभ्यां क्विपि “लिङ्गाशिषि” [२।४।१६] इति निपातनादित्वम् । “वसोजिः” [४।४।१२०] “शासिचसिधसाम्” [५।४।४०] इति क्वं नप्तेऽपोत्वतोऽपिशब्दवृत्तेः “दोषोऽर्पाण्यते” [३।०] । दोर्भ्यां तरति दौकः ।

चजोः कुत्तुगण्ययोस्तेऽनिटः ॥५१२।५६॥ चकारजकारयोः कुत्वं भवति घिति एवे च परतः । पाकः । त्यागः । रागः । पाक्यम् । योग्यम् । भोग्यम् । न तत्र चकारस्य घिति जकारस्य गो साम्याच्चासङ्ख्यं प्राप्नोति “तेन रक्त् रागात्” [३।२।१] इति ज्ञापकान् स्वरितलिङ्गाभावाद्वा न भवति । तेऽनिटः इति किम् ? कजः । खर्जः । गर्जः । समाजः । परित्राज्यम् । वाच्यम् । अव्यम् । नन्वजेस्तेऽनिट इति कुत्वं प्राप्नोति । नैप दोषः । तेऽनिट इति विद्यमानस्य विशेषणम् । अजेस्तु वीभावेनासत्त्वाद्विशेषणं तस्मात् यमाज इति भवति ।

शुच्युज्योर्घञि ॥५१२।५७॥ शुचि उजिज् इत्येतयोर्घञि परतः कुत्वं भवति । ते सेटाविमौ । शोकः । समुद्रगः । उज्ज्वेदकारोऽपत्ते कुत्वे कृते “उद्ग” इति । चुना योगे वत्वमुक्तं चुत्वाभावे न भवति । अथ समुद्रगतः । समुद्रग इति । गमेर्देन सिद्धम् । एवं तर्हि घञि उद्गोः जकाराभ्युत्पत्तिरर्थम् ।

न्यङ्क्वादेः ॥५१२।५८॥ पूर्वैणाप्राप्ते विधिः । न्यङ्कु इत्येवमादीनां च कुत्वं भवति । “नावन्चेः” [३० सू०] इत्युः । मद्गुः । मत्जेः “भृमृशीतृचरितनिमिज्जभ्य उः” [३० सू०] जश्त्वम् । यस्य दः । भृगुः । भ्रमृजेः “प्रथिमृदिभ्रस्जो जिः सखं च” [३० सू०] इति कुः । तक्रम् । चक्रम् । “स्फायितञ्चि-चञ्चि” [३० सू०] आदिसूत्रेण रक् । मेहतीति मेधः । इगुङ्लक्षणः कः गणपाश्र्वाटे । शुनः पचतीति श्वपाकः । पचादिषु श्वपचशब्दोऽस्ति सोऽपि साधुः । अर्धअवदानिदायाः वनन्तः सञ्ज्ञाशब्दाः । अविहित-लक्षणं कुत्वमिह ज्ञेयम् ।

हो हन्तेर्जिणञि ॥५१२।५९॥ हन्तेर्हकारस्य कुत्वं भवति घिति त्वे नकारे घञि भावकरणे स्वरतः । घानयति । घातकः । सर्वघाती । देशघाती । घातघातम् । घातो वर्तते । नकारे-घ्नन्ति । घन्तु । अघ्नन् । ह इति किम् ? अलोऽन्त्यस्य मा भूत् । हन्तेरिति किम् ? विहारः । जिघतीति किम् ? हतः । कथं यङुङन्तस्य जङुनीति । अत्र “चान्” [५।२।६०] इति कुत्वमिष्यते । धुनिर्देशार्थस्तिप् । जिघद्ग्रहणं हन्तेर्विशेषणं जित्यस्य हन्तेर्यो हकारस्तस्य । नकारो हकारस्य विशेषणम् । नकारे परतोऽनन्तरस्य हकारस्य स चेद् हन्तेरिति औतं चानन्तर्यं घ्नन्तीत्यादाविष्टं स्थानियद्भावादेकेन व्यवधानं नाश्रितम् । वचनप्रामाण्यात् । सङ्ख्यातेन पुनर्व्यवधानम्, हननमिच्छति हननीयति । तस्य ध्वौ हननीयकः ।

चात् ॥५१२।६०॥ चाहुत्तरस्य हन्तेर्हकारस्य कुत्वं भवति । अहं जघन । आणित्वे गलि । जङ्घन्ते । निघांसति । हन्तेर्यश्चः तस्मादपरस्य कुत्वं च निमित्तत्वे तेनेह न भवति । हननीयितुमिच्छति जिहननीयिषति ।

हेरकचि ॥५१॥६१॥ हिनोतेर्हकारस्य चात्परस्य अकचि कुत्वं भवति । प्रजिघाय । प्रजेधीयते । प्रजिघीयति । अकचीति किम् ? प्रजोहयत् । हेर्यन्तात्सुडि “शिभिद्भु” [२११४३] इत्यादिना कच् । णिखम् “शौ कथ्युः” [५१२११५] इति प्रादेशः । शौ कृतं स्थानिवद्भवतीति कचि ह्येणन्दस्य द्वित्वम् । ननु हेः स्वनिमित्ते त्वे चादुत्तरस्य कुत्वमुक्तम् । सक्तं च प्रकृत्यन्तरं कथं कचि प्रातिः । अस्मै प्रतिषेधो शपको स्यधिकस्यापि भवति । प्रहाययितुमिच्छति प्रजिघाययिषति ।

संल्लितोर्जः ॥५१॥६२॥ सनि लिटि च यश्चस्तस्मात्परस्य जेः कुत्वं भवति । जिगीयति । जिगाय । संल्लितोरिति किम् ? जेजीयते । जिगारेर्लिङि जित्वे कृते “प्रराः” [५१२१२] इति शीत्वे कृते एकदेशपरिभाषया जिग्रहणेन ग्रहणं नेष्यते दाक्षिणिकत्वात् । “पुमिवाक्चादुडोऽनुधियः” [५१२१०८] इति यत्वम् । जिज्युः । जिज्युः ।

वा च्ये ॥५१॥६३॥ चिनोतेः संल्लितोः परतः चात्परस्य वा कुत्वं भवति । धर्मं चिचीयति । धर्मं चिचीयते । चिचाय । चिचाय । संल्लितोरित्येव । चेचीयते । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

न वञ्चेर्गती ॥५१॥६४॥ वञ्चेर्गत्यर्थस्य कुत्वं न भवति । वञ्च्यं वञ्चति वाणिजाः । गतौ किम् ? वञ्चयं काष्ठम् । “यस्य वा” [५१११२१] इति “तेऽनितः” [५१२१५] कुत्वं प्राप्तम् । ननु गतावेव वञ्चः पठ्यते । सत्यम् । अनेकार्था धव इत्यन्यत्र मा भूत् ।

एय आचश्यके ॥५१॥६५॥ आचश्यकेऽर्थे एये परतः कुत्वं न भवति । आचश्यकाच्यम् । आचश्य-
सेच्यम् । “आचश्यकाधमर्त्ययोगिन्” [२१३१४६] इत्यधिकृत्य “व्याः” [२१३१४७] इति एयः । मयूरव्यसकादित्वात्सविधिः । “व्यान्ते ह्यवश्यमो नाशः” इति भावम् । आचश्यक इति किम् ? पाक्यम् । सेक्यम् ।

यजित्यजिग्रवचाम् ॥५१॥६६॥ यजि त्यजि प्रवच इत्येतेषां एये परतः कुत्वं न भवति । याज्यम् । त्याज्यम् । प्रजाज्यम् । अनावश्यकार्थमिदम् । प्रवचिग्रहणं शब्दत्वावपि प्रतिषेधार्थम् । प्रवाज्यो नाम पाठविशेषः । अन्ये तु पुनराहुः—प्रपूर्वस्यैव वचेः अशब्दयोः कुत्वप्रतिषेधो यथा स्यात् । अत्यगिपूर्वस्य मा भूत् । अधिवाक्यम् ।

घञोऽशब्दखौ ॥५१॥६७॥ वञोऽशब्दखौ सये परतः कुत्वं न भवति । वाच्यमाह । अशब्द-
खार्यति किम् ? अचवृणितं वाक्यमाह । शब्दस्यैव सञ्ज्ञावाक्यमिति । तदुक्तम्—आख्यातं सविदोपग-
मित्यादि वाक्यम् ।

भुजप्रयाजानुयाजौकप्रयोज्यनियोज्यभोज्यानि ॥५१॥६८॥ भुज प्रयाज अनुयाज ओक
प्रयोज्य नियोज्य भोज्य इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । भुज इति पाणौ । भुज्यतेऽनेनेति भुजः ।
“हलः” [२१३१०२] इति करणे घञ् । प्रकृत्ययोरभावो निपात्यते । भोगोऽन्वः । अथ “भुजो कौटिल्ये”
[धा०] इत्यस्य इगुङ्लक्षणे के रूपम् । न तत्प्रत्ययवहारार्था प्रतीतिः । रुदिशब्देऽप्यनुगमोऽस्ति । यथा
गच्छतीति गौः । प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे । “अकर्तरि” [२१३११] इति घञ् । प्रयागः । अनुयागः । इत्येवा-
न्वत्र । ओक इति भवति । उचः के उच्यतीत्योकः । इगुङ्लक्षणः कः । न्युच्यत्यस्मिन्निति न्योकः ।
“वज्रं कविधानम्” [वा०] इति कः । एप् कुत्वं च निपात्यते । उचित्ते सेट् तदर्थम् । के उच इत्यस्य
रूपस्य निवृत्त्यर्थं वेदम् । द्विवौकस इत्यादिषु “उणादयो बहुलम्” [२१२११७] इति कुत्वम् । प्रयोज्यनि-
योज्यौ शक्यार्थं । प्रयोक्तुं शक्यः प्रयोज्यः । नियोक्तुं शक्यो नियोज्यः । “शकि स्मिक् च” [२१३१४८]
इति एयः । कुत्वामानोऽनेन । प्रयोग्यो नियोज्य इत्येवाभ्यन्त्र । भोज्यमिति भुज पालनान्यवहारयोरित्यस्य
भक्ष्येऽभिधेये । भोज्य ओदनः । भोज्या अपूपाः । ननु भक्षिरयं खरत्रिशदे वर्तते न तु द्रव्यद्रव्ये तत्कथं

भोग्या यवगृणिति । भक्षिरभ्यवहार्येऽपि वर्तते न स्वर्गविशद एव । अन्धः । वायुमत्तः इति । अन्धव-
हरणादन्यत्र न भवति । भोग्या अङ्गिपाः पालनीयाः इत्यर्थः । भोग्यः कम्बलः । इष्टार्थसङ्ग्रहो
निपातनात् । न्युब्ज इति कथं सिध्यति ? न्युब्जिताः शेरतेऽस्मिन्निति न्युब्जो रोगः । “धनर्थे कविधातुम्”
[वा०] इति एतन्तस्य वाऽचि रूपम् ।

कसस्याचि खम् ॥५१२।६६॥ कसस्वाजादौ परतः खं भवति । “अन्तेऽलः” [१।१।४३] इत्यन्तस्य ।
अवुक्षि । अवुक्षाताम् । अधिक्षि । अधिक्षाताम् । दुद्धिदिही स्वरितेतौ । “इगुञ्जः शलोऽनिटोऽञ्जः क्सः”
[२।१।४०] । अचि किम् ? अधुक्षत् । अधिक्षत् । अधुक्षन्तेत्यत्र कसस्य खे कृते “देऽनतः” [५।१।५] इत्यन्तादेशस्य स्थानिवद्भावेन भत्स्यादादेशः प्राप्नोति । “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इत्येकाम्य स्थानिवद्भावेन भवति । पूर्वस्मादपि विधिः पूर्वविधिरित्युक्तम् । कसस्य कितो ग्रहणं किम् ? इह मा भूत् ।
वत्सौ । वत्साः “वृत्तुवदिह निकमिकविमुचिमाभ्यः सः” [३० सू०] ।

वोभुहदिहलिहगुहो दे वन्त्ये ॥५१२।७०॥ दुह दिह लिह गुह इत्येतेभ्यः वसत्य वा उन् भवति दे
दन्त्यादौ परतः । अधुग्ध । अधुग्धाः । अधुक्षत । अधुक्षयाः । अधुग्वम् । अधुक्ष्वम् । अधुद्धि ।
अधुक्षावहि । दिह । अदिग्ध । अधिक्षत् । अलोह । अलिञ्जत । न्यगूढ । न्यघुक्षत् । दुहादिभ्य इति किम् ?
व्यत्यदञ्जत । द इति किम् ? अधुक्षत् । दन्त्य इति किम् ? अधुक्षामहि । त्वमिति वतेमाने उज्जहार्यं
सर्वपहारार्थम् ।

ओतः श्ये ॥५१२।७१॥ ओकारान्तस्य गोः श्ये परतः खं भवति । मिश्रति । अपछयति ।
अवधति । अवश्रति । वोन्ग्रहणमस्वरितत्वान्नाधिकृतम् । श्य इति शिक्करणं किम् ? गव्यम् ।

शमित्यामदो दीः ॥५१२।७२॥ शनादीनामामदो दीर्भवति श्ये परतः । शाम्यति । नाम्यति ।
दाम्यति । शाम्यति । शाम्यति । क्षाम्यति । क्षाम्यति । माद्यति । “अचश्च” [१।१।१२] इत्यचः स्थाने
दीः । आम इति किम् ? अस्वति । श्य इत्येव । भ्रमति । “वा आशम्लाश” [२।१।६६] इत्यादिना वा शप् ।

पिठुक्लम्वाचमां शिति ॥५१२।७३॥ पिठु कलम् आचम इत्येतेषां दीर्भवति शिति परतः ।
पिठ्वति । पिठ्वेत् । कलामति । कलामेत् । आचामति । आचामेत् । कलमः शितीति दीत्ववचनं शवर्थम् ।
चमेराङ्पूर्वस्यैव । केवलस्यान्यपूर्वस्य च मा भूत् । चमति । विचमति ।

क्रमो मे ॥५१२।७४॥ क्रमो मपरे शिति दीर्भवति । क्रामति । क्रामेत् । म इति किम् ? आक्रमते
आदिभ्यः । “ज्योतिरुद्गताषाङ्गः” [१।२।३६] इति दः । शितीत्येव । क्रमिष्यति । ननु सर्वत्र गृह्यमाणेन
शमादिना अज्विशेष्यते । तेनादौऽपि दीत्वं स्यात् । अशाम्यत् । “अन्त्यामावेऽन्त्यसदेशस्य कार्यम्”
[५०] इत्यदोषः । इह सङ्क्रामेति हेरुपि कृते “नोमता गोः” [१।१।६४] इति त्याश्रयकार्यप्रतिषेधाद्
दीत्वं न प्राप्नोति । न दोषोऽयम् । उमता वचनेन नष्टे यो गुस्तस्य कार्ये स प्रतिषेधः । तत्राद्यं क्रमिः
हिक्वचने गुः । किं तर्हि शिति ।

गमिषुयमां छुः ॥५१२।७५॥ गम् इषु यम् इत्येतेषां छो भवति शिति परतः । गच्छति । इच्छति ।
यच्छति । म इति नाधिकृतम् । संगच्छते । इषेरुदितः शब्दिकरणस्य ग्रहणम् । “इष गती” [धा०]
इत्यस्य इष्यति । “इष आभीक्ष्ये” [धा०] इष्णातीति ।

पात्राध्मास्थाम्नादाण्ड्रपृथर्तिसर्तिसदसदां पित्रजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छुपश्यच्छुधौशीय-
सीदाः ॥५१२।७६॥ पा त्रा ध्मा स्था म्ना दाण् द्रष्टि अर्ति सर्ति शद सद इत्येतेषां पिय जिघ्र धम तिष्ठ मन
यच्छ पश्य ऋच्छ धौ शीय सीद इत्येते आदेशा शिति यथासङ्गं भवन्ति । पा-पिचति । पिचतः ।

पित्रन्ति । अत्र “घ्युङ्” [५।२।८३] इति एष्वाभ्यन्ते । अकारान्तोऽयमादेशो अथवा गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तमिति न भवति । घ्रा-जिघ्राति । ध्मा-धमति । स्था-तिष्ठति । म्ना-मनति । दाष् । प्रयच्छति । द्रष्टि इति दृशेस्तिपि “शपोऽदादिभ्यः” [१।१।१४२] इत्यत्र दाप् इति योगविभागाच्छप उप् कृते “अल्पकिति सृजिहशोऽम्” [४।२।५१] इत्यमा निर्देशः । एवमर्तिस्तर्षोरपि ज्ञेयम् । पश्यति । पश्यतः । पश्यन्ति । अर्ति-अच्छति । अनुन्विकरणस्य ग्रहणम् । र्वि । धावति । सन्वर्थाङ्गानात् शैश्च धावादेशो नान्यत्र । संसरति । प्रसस्तीत्यादि । शद्-शीयते । शी-क्षे । “सदेर्गात्” [१।२।५५] इति दः । सद् । सीदति । द्रष्ट्यादीनां तिपा निर्देशो यदुपन्तनिवृत्त्यर्थः । शस्ति शिति प्राप्तः । दर्शत् । अरियत् । ससत् । अतेश्च रिक् । इतरथो रुक् ।

ज्ञाजनोर्जा ॥५।२।७७॥ ज्ञा जन इत्येतयोः जा इत्ययमादेशो भवति शिति । जानाति । जायते । जा इति दीत्वोच्चारणं किम् ? “यव्यतो वीः” [५।२।१६] इत्यत्र मिडीत्यनुवर्तनाद् दीत्वं न स्यात् ।

प्वादेः प्रः ॥५।२।७८॥ पू इत्येवमादीनां प्रादेशो भवति शिति परतः । पुनाति । लुनाति । प्वाद्वो रीत्तीवृदिति यावत् । त्वादीनां समाप्त्यर्थं वृत्करणमेतदिति केचित् । आगण्यन्तः प्वाद्यः । तदुक्तम् । उभयगणपरिसमाप्त्यर्थता वृत्करणस्य न त्रिरुद्ध्यते । किञ्चागणान्तापदे व्रीणानि, व्रीणानि जानातीत्यत्र प्रः त्वान् ।

मिदेरेप् ॥५।२।७९॥ मिदेर्गेरेभ्यश्च शिति । मेद्यति । मेद्यतः । मेद्यन्ति । मिदेरे इक् तस्याव-
नेप् । मिदेरिति किम् ? क्लिद्यति । शितीत्येव । मिद्यते ।

जुसि ॥५।२।८०॥ जुसि परतः इगन्तस्य गोरेप् भवति । कामचारेण विशेषणम् । इका सन्निहितेन गुर्विधेभ्यते । तेन तदन्तत्रिभिः । अजुह्वुः । अविभुः । अविभुः । लङो भिः । शप् उप् । “यक्विसेः” [२।४।८६] इति जुम् । भृजश्चल्फेवम् । इगन्तस्येति विशेषणं किम् ? अनेनिजुः । जुसीति जकारग्रहणं किम् ? जुलुङ् । अथ चिनुयुः सुनुयुरित्यत्र उसीति पररूपे कृते “तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” [५०] इति श्नोः कस्मान्न भवति । अत्र द्वे ङित्वे गाश्रये यासुडाश्रये च । तत्र नाप्राप्ते गाश्रये ङित्व-
निमित्ते प्रतिषेधे एचिर्निहितस्तमेव बाधते । यासुडाश्रये ङित्वनिमित्ते तु प्रतिषेधे प्राप्ते चाप्राप्ते च । अतस्तं न बाधते ।

गागयोः ॥५।२।८१॥ गे चातो च परतः इगन्तस्य गोरेभ्यश्च शिति । तर्गति । नर्गति । करोति । अग्ने-कर्त्ता । भविता । जेता । स्तोता । गागयोरिति किम् ? अग्नित्वम् । अथ सङ्घीति कर्तव्यम् । सनः सकारादारभ्य आ आङो ङकारात्प्रत्याहारः । यदि सङ्घीत्युच्येत अग्निकाम्यतीत्यत्रापि स्यात् । अथ यङीत्युच्येत । शिशयिषत् इत्यत्र न स्यात् ।

जागुरविप्रिणल्लिङ्गिति ॥५।२।८२॥ जागृ इत्येतस्य गोरेभ्यश्च भवति अविप्रिणल्लिङ्गिति परतः । जागर-
यति । जागरकः । साधु जागरी । जागरं जागरम् । जागरो वर्तते । किति-जागरितः । जागरितवान् । ऐन्वि-
षये प्रतिषेधविषये च प्रापणार्थो जागुरेव्निहितोऽन्यत्र पूर्वगौव सिद्धः । नायमेप् सावैपमन्तरङ्गं बाधते । तेन
“ह्ययम्यक्षयश्चस्” [५।१।८१] इत्यादिना जागुरैप्रतिषेधः । जागरयतीत्यादौ “उङोऽतः” [५।२।४] इति पुनरैप्
कस्मान्न भवति ? यदि स्याद्वचनभनर्थकं भवेत् । जागरित इत्यत्र सार्थकमिति चेत् ; एवं तर्हि अणलोः प्रनि-
षेधोऽनर्थकः स्यात् । कृते एपि “उङोऽतः” [५।२।४] ऐपा सिद्धत्वात् । अविप्रिणल्लिङ्गितीति किम् ? जागृविः ।
“जशूस्तुजागृभ्यो कित्” [३० सू०] इति विः । अजागरि । जजागर । ङिति-जागृतः । जागृथः । अवि-
प्रिणल्लिङ्गितीति पयुंदासोऽयम् । विप्रिणल्लिङ्गद्व्योऽन्यत्रायमेव विधीयते तेन विप्रिणल्लिङ्गिति प्रतिषिध्यते । यदि
लक्षणांतरमस्ति भवत्येव । अजागरः । अहं जजागर । प्रसज्यप्रतिषेधे हि दोषः । विप्रिणल्लिङ्गिति न भव-

तीति ततश्च अजागरित्यत्र “जुसि” [५।२।८०] इत्यस्य अहं अजागर । अणित्पक्षे “गागयोः” [५।२।८१] इत्यस्य च प्रतिषेधः स्यात् । अथवा जागुरित्यनेनानन्तराप्तिः प्रतिषिध्यते न “जुसि” [५।२।८०] इत्यादि प्राप्तिः । अथ नञर्थः पर्युदासो नोपपद्यते अभावमात्रस्य वृत्त्यर्थत्वात् । न चोत्तरपदार्थाभावेन विधेर्निमित्तत्वमाश्रयितुं शक्यम् । तदयुक्तम् । यत्रभाव एव वृत्त्या गम्यते कथमबाह्यणादिनास्ये क्षत्रियादेरानयनम् । अथापि स्यात् । कथमुत्तरपदं सादृश्येन विपरीते वर्तते । वृत्तौ वा कर्त्तिपदार्थव्यतिरेकेणान्यपदार्थसम्प्रत्ययादुपसर्जनीभूत-स्वार्थत्वे सत्यवर्षाहेमन्त इत्यत्र “जौगोर्नञः” [१।१।८] इति प्रादेशः प्राप्नोति । अनेकमित्यत्र च द्विवहू स्यात्-मित्येदमसारम् । यथोत्तरपदं स्वार्थे वर्तते । स्वभावतः तथानञ्चतौ परार्थि न कर्त्तिपदार्थकत्वे वर्तिष्यते । यथा च स्वार्थे वर्तमानं नोपसर्जनमेवं परार्थेऽपि सादृश्येन स्वार्थ एवेति कथमुपसर्जनत्वात् प्रादेशप्राप्तिः । अनेकमित्यत्र च एकशब्दः प्रधानभूत उपात्तस्वलिङ्गसंख्य एव परार्थे वर्तते इति द्वित्वबहुत्वयोरभावः । एवं तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधो नञर्थो न युक्तो वृत्त्यभावप्रसङ्गात् । तथाहि क्रियासम्प्रेतमाश्रय नञः उत्तरपदेन सामर्थ्याभावाद्बुद्धिर्न प्राप्नोति । नैष दोषः, वचनाद् भविष्यति । देवदत्तस्य गौर्नस्त्यनभिधानात् भवति । ततो द्वावपि नञर्थौ युक्तौ । यदोत्तरपदं स्वार्थविपरीते तद्वृत्तिं वर्तते तदा नित्यपदार्थत्वात् नोपपन्नं युक्तिरुच्यते । यदा नूत्तरपदं स्वार्थे एव वर्तते तदा नञ् क्रियाप्रतिषेधद्वारेण सामर्थ्यमनुभवन् वृत्तिमाप्नोति ।

व्युङ् ॥५।२।८३॥ चितञ्चस्योङः एच् भवति गागयोः । द्योतते । वर्णते । छेदनम् । भेदनम् । ननु च भेत्ता छेत्ता इत्यत्र त्यादेर्गौरवयवस्य च हलोरानन्तर्ये “स्फेकः” [१।२।१००] इति रुसञ्ज्ञया चितञ्चा बाधिता कथमेप् । उच्यते “असिगृधिष्ठिष्ठिपः क्लुः” [२।२।११६] इति “हलन्तात्” [१।१।८४] इति च क्लुसन्तोः क्लिकरणं शापकम् । त्यादेर्गौरवस्य च हलोरानन्तर्ये “व्युङ्” एच् न व्यावर्तते । पि चासावुङ् च युज्जति यत्र किम् ? भिनत्तीत्यत्र मा भूत् । इको व्युङ् एम्भवतीति सम्बन्धात् प्रसज्येत ।

नेटः ॥५।२।८४॥ इट एच् न भवति । अकण्ठिषम् । अरणिषम् । कण्ठिता । गण्ठिता । अमं द्वादेशे टित्वं चाभित्य पूर्वस्य गुसञ्ज्ञायां “व्युङ्” [५।२।८३] इति एष्प्राप्तः ।

थस्थ मे पित्यच्चि ॥५।२।८५॥ थसञ्चस्य गोर्यो व्युङ् तस्याज्जादौ मे पित्वेच् न भवति । नेनेजानि । अनेनिजम् । वेकिचानि । अवेविचम् । वेविषाणि । अवेविषम् । लोटि लङि च चत्वं “निजामुच्चेप्” [५।२।१७४] । एत्वं बोधुधीति । बोधुजीति । नेमिदीति । मस्येति किम् ? वेदानि । ग इति किम् ? निनेज । अचीति किम् ? नेनेक्ति । विद्वद्ग्रहणमुत्तरार्थम् । अपिति मे द्वितीति प्रतिषेधः सिद्धः । व्युङ् इत्येव जुहवानि ।

सूभ्रवस्योर्मिङि ॥५।२।८६॥ सू भवति इत्येतयोर्मिङि पिति मे एच् न भवति । सुवे । सुवानहै । सुवामहै । अभूवम् । अभूत् । सूग्रहणेन सूतिगृह्यते । सूयतिसुवस्योर्विकरणेन व्यवधानम् । विकरणस्य डित्त्वादेव प्रतिषेधः सिद्धः । मिङीति किम् ? भवति । शक्यन् । भवतेस्तिषा निर्देशो यदुच्यन्तनिवृत्त्यर्थः । बोभवीति । सूवोपलक्षणं चेदं तिषा निर्देशेन सूतेरपि यदुच्यन्तस्य निवृत्तिः । सोपवीति ।

हल्यैषुप्युतः ॥५।२।८७॥ हलादौ पिति मे परतः उपि सति उकारान्तस्य गोर्देर् भवति । एपोऽपवा-दोऽयम् । योमि । योषि । यौति । रोमि । रौषि । रौति । इदमेव शापकम्—पूर्वं विकरणः पश्चाद् गुकार्यम् । अन्यथा पूर्वमेपि सति उकारान्तता न भवेत् । ततः । तरन्तीत्यत्र ऋत इत्वं च स्वात् । अथवा नित्यः शाप् । हलोति किम् ? यवानि । उपीति किम् ? जुहोमि । सुनोमि । उत इति किम् ? एमि । एषि । एति । तपर-करणं किम् ? लोलोति । पित्तीत्येव । युतः । रुतः । हलि पित्तीभिर्देशादव्यक्तहितग्रहणम् । इह मा भूत् । अपि स्तुवाद्वाजानम् । यस्य नेत्येदिहानुवर्त्यमिति केचित् । योयोति । रोरोतीत्यादिसिद्धये ।

प्रोऽर्णोः ॥५।२।८८॥ उर्णोर्त्वा एम्भवति हलादौ पिति मे । प्रोर्णोमि । प्रोर्णोमि । प्रोर्णोषि । प्रोर्णोषि । प्रोर्णोति । हलीत्येव । प्रोर्णवानि । पित्तीत्येव । प्रोर्णतः । पूर्वेषु प्राप्ते विकल्पः ।

हृल्येप् ॥५१२।८६॥ उणोतेर्हलि पिति मे एभ्यसि । प्रौणोः । प्रौणोत् । पुनर्हल्ग्रहणं केवलार्थम् । हलादौ मा भूत् । वेति नाधिकृतम् ।

तृणह इम् ॥५१२।८७॥ तृणह इत्येतस्य गौरमागमो भवति हलादौ पिति मे परतः तृहिरागतश्चम्को गृह्यते । इति कृते इममागमो यथा स्यादिति । तृणेष्टि । तृणेदि । हलीत्येव । तृणहानि । पितीत्येव । तृणदः । अतृणेडित्यथ तिस्रोः “हल्ङापः” [५१३।५९] इत्यादिना खे कृते हलाद्यभावादिभ्यः प्राप्नोति । “त्यस्ते स्याभ्यम्” [१।१।१३] अपि न सम्भवति । वर्णाभ्ये नास्ति त्याभ्यमिति । यथा गवे हितम् गोदितमित्यत्र अचीति वर्णाभ्ये नास्त्यवादेशस्त्याभ्यः । नेदं वर्णाभ्यं कार्यम् । किं तर्हि मिङाभ्यम् । मेडि हल्यदौ परतः । तस्य च त्यस्ते स्याभ्यमित्यवस्थानादिम् ।

ब्रुव ईट् ॥५१२।८८॥ ब्रुव ईडागमो भवति हलि पिति मे । ब्रुव इति कानिर्देशात्परादिगीट् । नलीति । नलीत् । अतदीदिनात् स्यापदेशिकात्प्राप्नोति हल्ङादिवम् । हलीत्येव । ब्रवाणि । पितीत्येव । ब्रूतः । न इत्येव । उवचिथ । ईट् बाधित्वा परत्वादीट् स्यात् । आत्थ इत्यत्र स्थानिकद्वावात्प्राप्नोति “ब्रुव आहश्च” [२।४।७०] इति आहदेशः । सिपश्च यादेशः । “आहस्यः” [५।३।५२] इति हस्य धत्वम् । चर्त्वम् । नायं दोषः । अस्ति त्रिविरयम् । “अनस्त्विधौ” [१।१।५६] इति प्रतिषेधः ।

यङो वा ॥५१२।८९॥ यङुवन्ताद्वा ईङ् भवति हलि पिति मे । अत्रापि यङ् इति कानिर्देशात् परस्य तथा योगः । लालपीति । वावदीति । शाश्वसीति । चोक्रुशीति । “यस्य मे पितृष्वि” [५।२।८५] इत्युङः एप्रतिषेधः । एते लालति । वावन्ति । शाश्वन्ति । चोक्रोष्टि । यङुवन्तात्परस्य हलादौ पितो गस्याभावाच्चनाद्यङुवन्तस्य ग्रहणम् । इदमेव शापकं “यङोऽधि” [१।४।१४४] इत्यत्राविशेषेण यङ् उच् भवति । “चर्करीतम्” इत्यादिषु पठितम् । तस्यादिकार्यम् । “मम्” [१।२।७५] इति मविधिः । “चर्करीतम्” इति यङुवन्तस्य सञ्ज्ञा ।

हल्यस्तेः ॥५१२।९०॥ हलि परतः अस्तेः स्यन्ताच्च ईङ् भवति । अस्तिग्रहणं लङ्गर्थम् । आसीत् । आसीः । स्यन्तात् । अकार्षीः । अलावीत् । अलावीः । पुनर्हल्ग्रहणं केवलार्थम् । इह मा भूत् । अस्ति । वेति नाधिकृतम् । नन्वभूदित्यत्र अस्तेः स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति । अस्तेरिति विसकारको निर्देशः । तेन अस्तेः सकारान्तादीट् ।

रुद्भ्योऽङ्वाऽजस्तेः ॥५१२।९१॥ रुदादिभ्यो जक्षिपर्यन्तेभ्यः अङ्वागमो भवति ईट् च हलि पिति मे । आजक्षेरित्याङमिविधौ द्रष्टव्यः । केवलहल्ग्रहणमनुवर्तते । अरोदत् । अरोदीत् । अत्वपत् । अत्वपीत् । अश्वसत् । अश्वसीत् । प्राणत् । प्राणीत् । अजक्षत् । अजक्षीत् । सर्वत्र लङ् । “णोऽनितेः” [५।४।१०४] इति एत्वम् । आजक्षेरिति किम् ? अजायर्भवान् । एपि रन्तत्वे च कृते “हल्ङापः” [५।३।५९] आदिना खम् । “रुदादेर्गे” [५।१।१३५] इतीटि प्राप्ते तदपवादोऽयम् ।

अदोऽट् ॥५१२।९२॥ अदः अट् भवति हलि पिति मे । आदः । आदत् । केवलहलीति किम् ? अर्ति । पुनरङ्ग्रहणमीयिनवृत्त्यर्थम् ।

यज्यस्ते दीः ॥५१२।९३॥ यजादौ मिङि अकारान्तस्य गोर्दाभ्यति । “सुभवत्योर्मिङि” [५।२।८३] इत्यनुवर्तते । पचामि । पचावः । पच्यामि । पच्यावः । पच्यामः । मिङीति किम् ? धनवान् । केशवः । केशा अस्य सन्ति “केशादौ वा” [१।१।३५] इति वः । यजीति किम् ? पचति । अत इति किम् ? चिनुवः । चिनुमः । तपरकरणं किम् ? क्रीणीवः इत्यत्र माभूत् । नन्वीत्येनात्र भक्तिव्यम् । नैवम् । क्रीणीवः । क्रीणीतः इत्यत्र सावकाशमीत्वं दीत्वेन बाधेत । यजीतीन्निर्देशादव्यवहितस्य गोरन्तस्य दीत्वम् ।

सुपि ॥५।२।६७॥ अकारान्तस्य गोः यजादौ सुपि दीर्भवति । देवाय । देवाभ्याम् । यजीत्येव । देवस्य । सुपीति सु इत्यतः प्रभृति आ सुपः एकारेण ।

बहौ भल्लयेत् ॥५।२।६८॥ भल्लादौ बहौ सुपि परतः अकारान्तस्य गोरेकारादेशो भवति । देवेभ्यः । देवेषु । बह्विति किम् ? देवाभ्याम् । भल्लीति किम् ? देवानाम् । “नामि” [४।४।३] इति दीत्वम् अग्नीनाम्, वायूनामित्यत्र सावकाशम्, इहासति भल्लग्रहणे परत्वादेत्वं स्यात् । यजीत्यस्य निवृत्त्यर्थं च भल्लग्रहणम् । अन्यथा देवेष्विति न स्यात् । अत इत्येव । अग्निभ्यः । तपरकरणं किम् ? खद्वाभ्यः । सुपीत्येव । पचत्वम् ।

ओसि ॥५।२।६९॥ ओसि च परतः अकारान्तस्य गोरेकारादेशो भवति । देवयोः स्वम् । देवयोर्विधेहि ।

आङि चापः ॥५।२।१००॥ आङि ओसि च परतः आचन्तस्य गोरेकारादेशो भवति । आङिति आप्-डापोर्ग्रहणम् । विद्यया । विद्ययोः । बहुराज्या । बहुराजयोः । “अनश्च वात्” [३।१।१०] । “बोद्ध्वं” [३।१।११] इति डाप् । आङिति ठारूपस्य ग्रहणं पूर्वार्च्यसंज्ञानिर्देशेन । आप इति पिट्ग्रहणं किम् ? कीलालपा नरेण । कीलालपोः । विद्यामतनिवृत्ते “आतो धोः” [४।४।१२७] इति खम् । अथातिखट्वेनेत्यत्र “कीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशे कृते स्थानिवद्भावादेत्वं कस्माच्च भवति ? उच्यते “हृङ्वाप” [४।३।५६] इति सूत्रे हृङ्वापो वा इति योगविभागास्तत्त्वार्थो ङ्यापोर्यत्कावे तद्दीत्वभाजोरेव । ननु दीत्वमपि स्थानिवद्भावाद्भवित्यति । “हृङ्वापोर्दीत्वं न स्थानिवत्” [वा०] इति प्रतिषेधः ।

कौ ॥५।२।१०१॥ कौ च परतः आप एत्वं भवति । हे कन्ये । हे बहुराजे । “केरेकः” [४।३।५७] इति खोः खम् ।

प्रोऽम्बार्थम्बोः ॥५।२।१०२॥ अम्बार्थवाचकानां मुसञ्जस्य च प्रो भवति कौ परतः । अम्बार्थाः मातृशब्दपर्यायाः । हे अम्ब । हे अक्क । हे अल्ल । हे अत्त । मुसञ्जस्य । हे गोरि । हे बामोर । “यङो वा” [५।२।६२] इत्यतः मुसङ्कफ्लुत्या बहुत्वार्थो वाशब्दोऽत्र वर्तते । तेन बहुचोऽम्बार्थस्य प्रो न भवति । हे अम्बाले । हे अम्बिके । हे अम्बाडे । “तलन्तस्य ङिक्पोरुभयम्” [वा०] । देवते भक्तिः । देवतायां भक्तिः । हे देवत । हे देवते । छान्दसमेतदिति केचित् । “बसे कौ मातुरदन्तत्वं पुत्रश्लाघायाम्” [वा०] । गार्गी माता अस्पर्शति श्लाघते । हे गार्गीमात । श्लाघाया अन्यत्र । हे गार्गीमातृक । “जातिश्च” [४।३।५३] इति न पुंवद्भावः ।

प्रस्यैप् ॥५।२।१०३॥ प्रान्तस्य गोरेव भवति कौ परतः । हे मुने । हे साधो । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इति न्यायादनन्त्यस्य न भवति । हे युव (बुध) । हे नदि । हे वधु । इत्यत्र प्रादेशवचनसामर्थ्या देव न भवति ।

जसि ॥५।२।१०४॥ जसि परतः प्रान्तस्य सोरेव भवति । मुनयः । साधवः । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इति परिभाषया अनन्तस्येको न भवति बुधा इति ।

अतो ङिधे ॥५।२।१०५॥ ऋकारान्तस्य गोः ङी षसञ्ज्ञके च परतः एन् भवति । मातरि । पितरि । कनेरि । धे । मातरौ । मातरः । मातरम् । मातरौ । पितरः । तपरकरणममन्नेहार्यम् । कृरिति ऋकारान्तः सम्भवति तन्निवृत्त्यर्थम् ।

सोर्ङिति ॥५।२।१०६॥ स्वन्तस्य गोर्ङिति एन् भवति । मुनये । साधवे । मुनेः । साधोः । सोरिति किम् ? सकृदे । पत्ये । असखीति पर्युदासात् “पतिः से” [१।२।६८] इति नियमाच्च मुसञ्ज्ञा नास्ति । ङितीति किम् ? मुनिभ्याम् । सुपीत्येव । पट्वी । कुरुतः । ङीतसोर्ङितोरपि मा भूत् । ङकारश्चासाविच्च ङित् तस्मिन् ङित्यव्यवहितस्य कार्यम् । तेन वृद्धये वेन्वै । इत्येप् (न) व्यवधाने । आङि औङि च न भवति । मत्या । मती । इति ।

अणु सोः ॥५१२।१०७॥ म्यन्ताद्गोः परस्य डितोऽडागमो भवति । मोरित्यकृतार्थः कानिदेशो द्वितीत्यस्य तां प्रकल्पयति । कुमार्यै । वामोर्यै । कुमार्याः । वामोर्याः । परस्य सह “अटश्च” [५१२।७८] इत्यैव वचनात् “एच्यतोऽपदे” [५१२।८४] इति पररूपं न भवति ।

याडापः ॥५१२।१०८॥ आद्यस्तदुत्तरस्य डितो याडागमो भवति । विद्यायै । बहुराजायै । विद्यायाः । “एच्यैव” [५१२।७६] “स्वेको दीः” [५१२।८८] इति दीत्वं वा । इत्यावग्रहणेन दीत्वं न स्थानिवदिति । अतिसंख्याय । पुनर्दीत्वे लाक्षणिकत्वम् ।

सर्वनाम्नः स्याद् प्रश्च ॥५१२।१०९॥ आद्यस्तात् सर्वनाम्नः परस्य डितः स्याडागमो भवति प्रश्च भक्त्यापः । सर्वस्यै । यस्यै । तस्यै । कस्यै । सर्वस्याः । यस्याः । तस्याः । एच्यैव स्वेको दीत्वे । आप इत्येव । भवत्यै । भवत्याः ।

डेराम् म्वाग्नीम्यः ॥५१२।११०॥ “प्रे लिप्सायाम्” [२।३।४२] इति निर्देशात् डेरिति द्विवचनस्य ग्रहणम् । डेरामादेशो भवति म्यन्तादावन्तान्नी इत्येतस्माच्च परस्य । कुमार्याम् । वामोर्याम् । विद्यायाम् । बहुराजायाम् । ग्रामण्याम् । सेनायाम् । “सख्यद्विप” [२।२।५६] इत्यादिना द्विप् । “अग्रग्रामाभ्यां नियो शत्वम्” [वा०] । “पुर्गिवाक्चादुक्तोऽसुधियः” [५।४।७८] इति वत्वम् । अथ डेरामः नुट्कृत्मान्न भवति । परन्वाडडादिभिरागमैर्भवितव्यम् । कृतेष्वपि “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] । इत्यापोर्दीवभाजोः कार्यमुक्तम्” (डषाप) “ग्रहणे दीत्वं न स्थानिवत्” इति च । तेन निष्कौशाम्यौ । अतिसंख्या निर्देशः ।

इदुद्ग्रयाम् ॥५१२।१११॥ इकारोकाराभ्यां मुसञ्जकाभ्यां परस्य डेराम् भवति । बुद्ध्याम् । धेन्वाम् । ननु पूर्वैर्णवाम्सिद्धोऽपार्थक्यमिदम् । “औदच्च सोः” [५।२।११२] इत्यौत्वं स्यात् तच्चविशेषणं वक्ष्यति । मुग्रहणमिहानुवर्तते तेनेदुतो विशेष्येते ।

औदच्च सोः ॥५१२।११२॥ अमुसञ्जकान्वामिदुद्ग्रयां परस्य डेरौकारादेशो भवति सोश्चाकारादेशः । सस्यौ । पत्यौ । सोः मुनौ । साधौ । प्रधानशिष्टमिदुद्ग्रयामौत्वम् । अन्यच्चयश्शिष्टं सौत्वम् । यथा भिक्षां चर गां चानय । गेनयनम् । शास्त्रेऽपि “कर्तुः क्यङ् सखं विभाश” [२।१।६] इति अन्यच्चयश्शिष्टं सख्यम् । तपरकरणां मुत्तमुत्तरार्थम् । अत्ये कृते स्त्रियां दारो निवृत्त्यर्थमित्यन्ये । यपि को दोष इति चेत्, औकारस्य डिग्रहणेन ग्रहणादामादेशयाडागमौ स्वात्मम् । तदमत् । प्रागेव सुबुत्पत्तेः स्त्रीत्येन भाव्यम्, अन्यथा मातैत्यत्र नान्तलक्षणी हीविधिः स्यात् ।

आडो नाऽस्त्रियाम् ॥५१२।११३॥ सोरिति वर्णमानमर्थात् काविभक्त्यन्तं सम्पद्यते । सोरुत्तरस्याङः ना इत्वदेशो भवत्स्त्रियाम् । मुनिना । साधुना । सोरित्येव । सख्या । पत्या । अस्त्रियाभिति किम् ? बुद्ध्या । धेन्वा । आडो ना पुंसीति कर्तव्यम् । वपुषा । जानुनेत्यादि । “सुपीकोऽचि” [५।१।५२] इति नुमैव सिद्धम् । नपुंसके अमुना कुलेनेति न सिद्धयेत् । सुभावस्यासिद्धत्वान्नुभन स्यात् । अस्त्रियामित्युच्यमाने नपुंसकेऽपि नाभावो भवति । ततश्च “न सु षाविधौ” [५।२।२६] इति नाभावे सुभावस्य नासिद्धत्वम् ।

सूत्रेऽस्मिन् सुविधिरिष्टः ॥५१२।११४॥ सूत्रेऽस्मिन् जैनेन्द्रेषु यो विधिः सुपि च विधिरिष्टो भवति । सूत्रावयवेषु सूत्रशब्दो द्रष्टव्यः । उदाहरणम्—“स्त्रीगोर्माचः” [१।१।८] स्त्रीगूनामिति प्राप्तं सुविधिरयम् । “मिहैकार्थे वाः” [१।४।५४] । हल्ङ्यादिना सुखं प्राप्तम् । सुपो विधिरयम् । अथ निति हलन्तात् कथं शाप् । अथमपि सुपो विधिरिष्टः । आ कपः पकारेण सुपो ग्रहणात् ।

शौ कञ्जुडः प्रोऽशास्वकस्युदितः ॥५१२।११५॥ शौ परतः कञ्परे गेरुडः भवति शाप् अक्विण ऋदित् इत्येतान् वर्जयित्वा । अचीकरत् । अजीहरत् । अत्र “शिथिद्रुक्षु” [२।१।४३] इत्यादिना कश्चि कृते द्विर्वचनोद्देशयोः प्राप्तयोः परस्वादुडः प्रादेशः । तत्र कृते “ओः पुयण्ज्ये” [५।२।१७८] इति

ज्ञापकात् णौ कृतं स्थानिवद्भवति । अथ वा “द्वित्वेऽचि” [१११५४] इति स्थानिवद्भावः । कृद्भावाद्यो-
दित्वम् । “घौ कथ्यनङ्खे सन्वत्” [५२१११०] इति सन्वद्भावेनेत्वम् । “घेदीः” [५२११५१] इति दीन्त्वमेव-
अलीलवत् । अपीपवत् । “ओः पुययज्जे” [५२११७८] इति उकारस्येवम् । अथवा ओण् अपनयने
इत्यस्य प्रतिषेधार्थम् । ऋदित्करणं ज्ञापकं द्वित्वात्पूर्वं प्रादेश इति । अन्यथा मा ओणिण्दिभ्यश्च द्वित्वं कृते परेण
रूपेण व्यवधानात् प्रादेशस्याप्राप्तिः । अत एव मा भवानटिठत् अत्र प्रादेशे सति “अचः” [४३१२] इति
द्वित्वम् । णाधिति किम् ? क-युद्धः प्र इत्युभयमाने अलीलवदित्यत्र प्रादेशो वचनमात्मार्थादन्तरङ्गमैषमावादेशं
बाधित्वा नित्यत्वेन शेः स्वं च बाधित्वा कतारस्य स्यात् । इह चापीपचटपीपटविति अनुद्धभूतत्वात् प्रो न स्यात् ।
किम् ? कारयति । हारयति । ननु मितो णौ प्रादेशवचनं ज्ञापकमन्यत्र प्रादेशाभावस्य । यद्येवमचीकगदिन्यादावपि
न स्यात् । अथ प्रवचनाद् भवति । कारयतीत्यादावपि स्थातृद्विशेषहेत्वभावात् । उङः इति किम् ? अचकाङ्क्षत् ।
अनुङ् आकारस्य ना भूत् । अथास्वकव्युदित इति किम् ? अशशस्तत् । परस्य धेरभावात् सन्वद्भावः ।
अकः खन् अक्यम् अक्यमस्यात्तीति अकत्री तस्य नेति । राजानमन्यास्यत् अन्तराजत् । “तच्छांति
तदाचष्टे” इति णिन् । यत्र केवलस्याचः स्वं तत्र “परेऽचः पूर्वविधौ” [१११५७] इति स्थानिवद्भावः ।
हलचोश्चावमादेशः । तदर्थमधिक्यप्रतिषेधः । ननु च अचकोरिदं स्वं कथमनकः खम् । यदत्राकः स्वं
तदाशयः प्रतिषेधः । स्थानिवद्भावस्तु नास्थाशयः । ताधिकारस्तत्रानुवर्तते । तानिर्दिष्टस्याचः स्थानिवद्भावो
न समुदायरूपेण दिव्यस्य । ऋदित् । अहुद्वौकत् । अगुत्रौकत् । इह कथं एवन्ताणिञ्चि प्रादेशः । वादितवन्
प्रयोजितवान् अवीवत्तुवीणां परिवादकेन । णौ णिखस्य स्थानिवद्भाववाद्गुहो न स्यात् । साधित्वत्र
जातिग्रहणाददोषः ।

आजभासभाषदीपजीवमोलपीडो वा ॥५२१११६॥ आज भास भाप दीप जीव मील पीड
इत्येतेषां कन्परे णौ उङः वा प्रो भवति । अवभाजत् । अधिभजत् । अवभाजन् । अवीभस्तत् । अवभापत् ।
अवोभस्तत् । अदिदीपत् । अदीपिपत् । अजिजीवत् । अजीजिवत् । अमीमिलत् । अमिमोलत् । अशि-
पीडत् । अपीपिडत् । पूर्वसूत्रेण प्रादेशे प्राप्ते विकल्पः । वदा प्रः तदा पूर्ववत्सन्वद्भावेनेत्वं घेदीन्त्वम् ।
वेति योगविनागान् कणादीनां विकल्पः । अचकागत् । अचीकणत् । अवभाणत् । अवीभणत् । इत्यादि ।
आजग्रहणं किन् ? आक्ता फण्णादिषु आज इत्यङ्कारेऽस्ति तस्य सिद्धः प्रः । एज् मेज् आज्
दीप्तत्वस्य ऋदितो नेति सिद्धमुभयम् । एवं तर्हि ज्ञापकार्थम् । अन्यत्र “यजराजभाजच्छसां यः”
[५२१५३] इत्यादौ आजग्रहणेन राजिसद्वचरितस्य ऋदितो ग्रहणम् । ऋदितो भागिति भवति ।
भास ऋदित्करणजननर्थकम् ।

खं पिबश्चस्येत् ॥५२१११७॥ पिबतेऽङः णौ कन्परे स्वं भवति चस्य च ईकारादेशः ।
अपीप्यत् । अपीप्यताम् । अपीप्यन् । उङः खं कृते “द्वित्वेऽचि” [१११५४] इति स्थानिवद्भावाद्वित्वम् ।
पिब इति शब्धिकरणान्तो विकृतनिर्देशः । पिबतेरेकदेशो यङ्प्रत्ययनिवृत्त्यर्थः । अयपाकत् । घेरभावात्सन्वद्भावो
न भवति । पातेहन्त्रिकरणत्वात् “पै ओवै शोपणो” इत्यस्य च साक्षरिणिकत्वादेव निवृत्तिः ।

स्थ इत् ॥५२१११८॥ तिष्ठतेः कन्परे णाबुङ् इकारादेशो भवति । अतिष्ठपत् । अतिष्ठयताम् ।
अतिष्ठिपत् । “छुङ्खिलोः प्रतिषदोक्तानि” इत्यादि वचनाद्यङ्प्रत्ययस्य न भवति । अततास्यपत् । ता स्या
इति स्थिते णिञ्चि पुक् कचि द्वित्वं घेरभावात् सन्वद्भावो नास्ति ।

जो वा ॥५२१११९॥ जिघ्रतेः कन्परे णाबुङ् इकारादेशो भवति वा । अजिघ्रिपत् । अजिघ्रिपताम् ।
अजिघ्रिपत् । अजिघ्रपत् । अजिघ्रपताम् । अजिघ्रपत् । चस्य सन्वद्भावेनेत्वम् । अत्रापि यङ्प्रत्ययस्य न भवति ।
अजजपपत् । उभयोर्विकल्पयोर्मध्ये योगा नित्या इति पूर्वी प्रापशादौ नित्यौ ।

उच्चृत् ॥५॥२॥२०॥ कच्यरे णौ ऋवर्णस्य उङः स्याने ऋकारदेशो भवति वा । अनवकाशत्वादन्तरङ्गाणाम् हरारामपवादः । अचीकृतत् । अवीकृतत् । अमीमृजत् । पन्ने इर् । अचकीर्तत् । अर् अववर्तत् । आर । अममार्जत् । “उङः” [५॥१॥७५] इति ऋकारस्येत्यम् । “द्युङः” [५॥२॥८३] एप् । “मृजेरैप्” [५॥२॥९] । ऋकारदेशस्य “रन्तोऽणुः” [१॥१॥४८] इति रन्तत्वं भवति । “अणुदित्स्वस्या-” [१॥१॥७२] इनीमं प्रत्ययाणां सुकृत्वा सर्वगण्यहमे इति ऋकारेणैरि व्यागमनात् ।

देडो दिगि लिटि ॥५॥२॥२१॥ देडो दिग्यादेशो भवति लिटि परतः । वेति निवृत्तम् । अवदिग्यते । अवदिग्विरे । चस्येत्यनुवर्तते । वचनाद्वित्वे कृते चस्य देङश्च यथासङ्गं दिगी आदेशो भवतः । “ऐर्गिवाक्चातुडोऽनुधियः” [४॥४॥७८] इति यणादेशः सिद्धोऽन्यथा हीयादेशः स्यात् ।

ऋतः स्फादेरेप् ॥५॥२॥२२॥ ऋकारान्तस्य गोः स्फादेरेप् भवति लिटि परतः । सस्मरतुः । स्मरसुः । दधरतुः । दधसुः । वचनात्प्राग्दित्वात्स्फादेरिति विशेषणम् । अन्यथा स्फादित्वासम्भवः । प्रतिषेधविषये लिटीदमारभ्यते । सस्मारेस्यादौ ऐच् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन । ऋत इति किम् ? चिद्धिपतुः । चिद्धिपुः । तपरकरणा मसन्देहार्थम् । ऋकारस्याप्युत्तरसूत्रेण विधानात् । स्फादेरिति किम् ? चक्रतुः । चक्रुः । लिटीवेन्द्र । स्मृतः । स्मृतवान् । ननु संचस्करतुः । संचस्करित्यत्र द्विपदाश्रयस्य सुटो बहिरङ्गलक्षणास्वासिद्धत्वात्कथमेप् । नैप दोषः । “पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात्साधनवाचिना त्येन” [५०] इत्यस्मिन् दर्शनेऽन्तरङ्गे सुटि कृते पश्चादेप् । अतएव “स्फादतोऽसुटः” [५॥१॥६१] । “स्फाद्यर्थोरस्फुरेप्” [५॥२॥१३८] इति प्रतिषेध उपपन्नो भवति ।

ऋच्छ्रुत्यताम् ॥५॥२॥२३॥ ऋच्छ्रुत ऋश्च्येत्यस्य ऋकारान्तानां च लिटि एप् भवति । आनच्छ्रुतुः । आनच्छ्रुः । एप् द्वित्वम् । “आघतः” [५॥२॥१७०] इति दीत्यम् । “ततो नुट्” [५॥२॥१७१] इति नुट् । ऋ । आरतुः । आरुः । “अरनोतेः” [५॥२॥१७२] इति नियमानुष्णं न भवति । ऋत् । विचकरतु विचकरुः । निजगरतुः । निजगरुः । वितस्तरतुः । वितस्तरुः । ऋच्छ्रेरन्तरङ्गत्वात् “ञे” [४॥३॥६९] इति तुकि कृते सर्वभाषातः ऋनां तु लिटि किति प्रतिषिद्ध एविवधीयते । निजगारेत्याद्यैर् पूर्वनिर्णयेन ।

शृदृष्ठां प्रो वा ॥५॥२॥२४॥ शृ दृ पृ इत्येषां लिटि वा प्रो भवति । विशश्रुतुः । विशश्रुः । पक्षे पूर्वेष्वेप् । विशशरतुः । विशशरुः । विदद्रुतुः । विदद्रुः । विददरतुः । विददरुः । निषप्रतुः । निषप्रुः । निषपरतुः । निषपरुः । प्रादेशवचनादित्योत्वे न भवतः । ये तु आ पाके, प्रा कुसायां गतौ, प्रा पूरणे इत्येतेषामनेकार्थत्वात् पक्षे प्रयोगादनर्थकमिदमिति मन्यन्ते तेषां प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् ।

केऽणः ॥५॥२॥२५॥ के परतोऽणः प्रो भवति । नदिका । कुमारीका । वामोरुका । कुत्सापथविधत्तायाम् “पुचास्कः” [४॥१॥१२६] इति कः । “स्वार्थिकाः प्रकृतिस्त्रिप्रसङ्गधे अनुवर्तन्ते” [५०] इति यप् । क इति साच्चनिर्देशात्यग्रहणम् । वर्णग्रहणे तदादिविधिः स्यात् । ततश्च नदीकल्पः परीवाहः । कुमारी काम्यतीत्यवपि स्यात् । अण इति किम् ? गोका । नौका । पूर्वेषां शकारेणाण् व्याख्यातः । राका काक इत्यादिषु “उणादयो बहुलम्” [२॥२॥१६७] इति न भवति “कृदाधाराधिकलिभ्यः कः” [३० सू०] “हण्भीकापाशाल्यतिमर्चिभ्यः कः” [३० सू०] इति कायतेः कः । “न कपि” [५॥२॥११६] इति प्रतिषेधादिहाननुबन्धकपरिभाषा नाश्रीयते । तेन निषाहकर्षा जात “ओर्देशो ङप्” [३॥२॥६५] तदादेशे के सानुबन्धकेऽपि प्रादेशः सिद्धो भवति । नैषाहकर्षुकः इति ।

न कपि ॥५॥२॥२६॥ कपि परतोऽणः प्रो न भवति । बहुकुमारीकः । बहुवामोरुकः । “अन्मोः” [४॥२॥१५३] इति कप् सान्तः । खार्थी क्रीतं खारीकम् । काकणीकम् । “खारीकाकर्णीभ्यां कप्” [३॥४॥३०] ।

वाऽऽणः ॥५॥२॥२७॥ कपि परतः आकन्तस्य वा प्रो भवति । बहुखट्वकः । बहुखट्वाकः । बहुदामकः । बहुदामाकः । “शेषाद्वा” [४॥२॥१५४] इति कप् ।

इत्यस्पर्शचोऽयुक् पुमुमोऽङि ॥५॥२॥२८॥ शिव असि पति वचि इत्येषामङि परतः अकार युक् पुम् उम् इत्येते यथासङ्ख्ये भवन्ति । अकार आदेशः शुभादय आगमाः । अश्वत् । “जृश्चि” [२११५०] इत्यादिनाङ् । “अन्तेऽलः” [१११४४] स्थाने अकारस्तस्य पररूपम् । आस्थत् । आस्थताम् । आस्थन् । “वक्त्यसुहयात्तेरङ्” [२११४५] । “अटश्च” [४१३७८] इत्यैर् । अपसत् । अपसताम् । अपसन् । “द्युपुषा” [२११४८] आदिनाङ् । अबोचत् । अबोचताम् । अबोचन् । “आदेप्” [४१३७५] ।

दशुरेप् ॥५॥२॥२९॥ दशि इत्येतस्य गोः ऋवर्णान्तानां च अङि परतः एव भवति । अदर्शत् । अदर्शताम् । अदर्शन् । “वेरितः” [२११४६] इत्युङ् । आस्त । अस्तरत् । “द्युपुषा” [२११४८] आदिना अङ् । अजरत् । अजरताम् । अजरन् । “जृश्चि” [२११५०] इत्यादिनाङ् । जृषः पिङ्गणमङ्यम् । “जराया वा” [५११६०] इति वचनं शापकमुरिति ऋवर्णनिर्देशस्य ।

शीङो गे ॥५॥२॥३०॥ शीङो गे परतः एव भवति । शेते । शयाते । शेयते । ङिति गे विधानमिदम् । शयावहै । शयामहै इत्यत्र सिद्धत्वात् । ग इति किम् ? शिश्ये । सानुवन्तकनिर्देशो यदुवन्तनिवृत्त्यर्थः । शेशीतः । शेयति ।

यि किङित्ययङ् ॥५॥२॥३१॥ यकारादौ किङिति त्वे परतः शीङः अयङ्ङादेशो भवति । शय्यते । शाशय्यते । यङि परत्वेन च द्वित्वाध्यागयङादेशः । ङकारो “ङित्” [१११५०] इत्यन्तादेशार्थः । अकारः उच्चारणार्थः । शय्या । “समजनिषद्” [२१३८१] इत्यादिना कप् । प्रदाय्य । क्तान्तम् । यीति किम् ? शिश्ये । किङीतीति किम् ? शोयम् ।

गेरुहः प्रः ॥५॥२॥३२॥ गेः परस्य ऊहतेः प्रो भवति यकारादौ किङिति पगाः । अभ्युह्यते । समुह्यते । “अचश्च” [११११२] इत्युपपस्थानादूहेरचः प्रादेशः । गेरिति किम् ? ऊह्यते । ऊह इति किम् ? समीह्यते । यीत्येव । समूहितम् । किङित्येव । अभ्यूहः श्लोकः । “केऽणः” [५२११२५] इत्यलोऽणग्रहणमनुवर्तते । तेन आ ऊह्यते ओह्यते । समोह्यते इत्यत्र न भवति । प्रोह्यन् इत्येकादेशो कृते व्यपवर्गाभावात् भवति । तद्वद्भावेन व्यपवर्ग इति चेत् “उभयत आश्रये न तद्वत्तावः” [५०] इति गेः परत्वं नास्ति ।

लिङ्यङेतेः ॥५॥२॥३३॥ एतेर्मेवत्तस्य लिङि यकारादौ किङिति प्रो भवति । उदेयात् । र्मिवात् । आशिषि लिङ् । यासुट् । “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [५११४६] इति सखम् । “वीरकृद्गे” [५२११३४] इति दीत्वम् । तस्यानेन प्रः । कृति गे च दीत्वं न सम्भवति । न गे उदाहरणम् । अभियादित्यत्र स्वेको दीत्वे कृते प्रादेशः । गेरित्येव । ईयात् । अण इत्येव । आ ईयात् णयात् । समेयात् । तिपा निर्देशो असन्देहार्थः ।

वीरकृद्गे ॥५॥२॥३४॥ अकृद्यकारे अगद्यकारे च किङिति गोर्दीर्भवति । “अचश्च” [११११२] इत्युपस्थानादेषा विरोधेन सदन्तविधिः । पण्डितायते । चीयते । चेचीयते । स्तूयते । तोस्तूयते । चीयात् । स्तूयात् । आशिषि लिङ् । अकृदिति किम् ? प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । परत्वादीत्वे तुग्न स्यात् । अग इति किम् ? चिनुयात् । स्तूयात् ।

च्यौ ॥५॥२॥३५॥ च्यौ च त्वे परतः गोर्दीर्भवति । शुचौभवति । पट्टयवति । “कृभ्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वे सम्पत्तिरि च्विः” [४२१५५] इति च्विः । अवयवनिवृत्तिः । “त्यल्ये त्याअयम्” [१११६३] इत्यजन्तस्व दीत्वम् ।

रीङ् तः ॥५॥२॥३६॥ ऋकारान्तस्य गोः च्यौ अकृद्यकारे अगद्यकारे च परतः रीङादेशो भवति । मात्रीभवति । पित्रीभवति । मात्रीयति । पित्रीयति । “स्वेपः क्यच्” [२११६] । मात्रीयते । पित्रीयते । “कतुः क्यच् सखं विभाषा” [२१११६] इति क्यङ् । चेकीयते । जेह्मीयते । किङीतीत्येतदिह निवृत्तम् । तेन पितृयम् । पितुरागतम् “पितुर्यश्च” [३१६५३] वे रीङादेशः सन्निपातलक्षणस्यानित्यत्वात् “यस्य क्वां च” [४१११३६]

इति खम् । उत्तरसूत्रे रिङिहैव कर्तव्यः । तस्य दीर्घः लिङ्गमिति चेत् ; “गुकार्ये निष्पत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०] इति दीर्घं न स्यात् । ऋत इति तपरकरणं किम् ? कोऽप्ये । अन्यथा कीर्णमित्यादौ सावकाशम् ऋत इत्वं रीङ्ग बाधेत । उत्तरार्थमकृद्गे यि इत्येतदनुवर्तते इति ज्ञापनार्थं तपरकरणम् । अन्यथा अनन्तरे ध्वावेवायं विधिः स्यात् । न च मृदन्त ऋकारो निवर्त्योऽस्तीत्यनर्थकं भवेत् ।

रिङ्यगुलिङ्गशे ॥५१२१३७॥ ऋकारान्तस्य गोर्यक् लिङ्ग श इत्येतेषु परतः स्फादेशो भवति । यीति अकृद् इति चानुवर्तमानं सम्भवाद्व्यभिचारान्न लिङ्ग एव विशेषणम् । यकारादावगे द्रव्यम् । यक्-क्रियते । ह्रियते । लिङ्-क्रियात् । ह्रियात् । यीत्येव । कृषीष्ट । हृषीष्ट । अग इत्येव । धिभृयात् । विभ्यादिलिङ्यम् । शे-आद्रियते । “शुभ्रमुवा” [४१४७२] इति आदेशः । ऋत इति तपरकरणं किम् ? किरति । गिरति । रीङ्गिति वर्तमाने रिङ्ग्रहणं पुनर्दीर्घनिवृत्त्यर्थम् ।

स्फाद्यत्योरस्कुरेप् ॥५१२१३८॥ स्फादेर्तेश्च ऋतो यकि लिङ्ग यकारादावगे च परतः एम्भवति स्फादेः कर्जयित्वा । श इत्यसम्भवान्नोक्तम् । स्मर्यते । स्मर्यात् । ध्वर्यते । ध्वर्यात् । अर्यते । अर्यात् । यामुटः “स्फादेः स्फोऽन्ते च” [५१२१३६] इति सखम् । यीत्येव । स्मृपीष्ट । अग इत्येव । इय्यात् । विभ्यादिलिङ् । शप् उप् । द्वित्वम् । “उरः” [५१२१३६] इत्यत्वम् । “प्रोः” [५१२१३६] इति चत्येत्वम् । “चस्यास्वे” [४१४७३] इतीव । अस्कुरिति किम् ? संस्क्रियते । “पूर्वं धुर्मिना युज्यते पश्चात् साधनवाचिना त्येन” [५०] इति पूर्वं मुटि सति प्राप्नोति । अतिरिति ऋच्छतीत्योर्ग्रहणम् ।

यङि ॥५१२१३९॥ यङि च परतः स्फादेर्तेश्च ऋत एव भवति । सस्मर्यते । दाध्वर्यते । अरावर्ते । अर्त्येङ् एप् । “अचः” [४१२१२] इति द्वितीयत्यैकाचो द्वित्वम् । “हलोऽन्तादेः” [५१२१३६१] इति यत्वम् । “दीरकृद् गे” [५१२१३४] इति दीत्वम् । “हन्तेर्हिसायां णोभाषो वक्तव्यः” [४०] । जेष्ठीयते । हिसाया-मिति किम् ? पती जङ्गन्यो ।

ई घ्राध्मोः ॥५१२१४०॥ घ्रा ध्मा इत्येतयोर्यङि परतः ईकारादेशो भवति । जेष्ठीयते । देष्ठीयते । नित्यत्वेन पश्चेन च प्राग् द्वित्वादीकारः । ईकारस्य दीर्घं किम् ? गुकार्यत्वात्पुनर्न स्यात् । उत्तरार्थश्च ।

अस्य च्वौ ॥५१२१४१॥ अवर्णान्तस्य गोः च्वौ परत ईकारादेशो भवति । शुक्लीभवति । माली-भवति । “च्वौ” [५१२१३५] इति दीर्घस्यावमपवादः ।

क्यचि ॥५१२१४२॥ क्यचि परतः अवर्णान्तस्य गोरीकारादेशो भवति । पटीयति । मालीयति । “दीरकृद्गे” [५१२१३४] इति दीर्घं प्राप्तम् । पृथक् सूत्रमुत्तरार्थम् ।

क्षुप्तृङ्गर्धेऽशनायोन्यधनायाः ॥५१२१४३॥ क्षुत् वृद् गर्ध इत्येतैर्नर्थेषु अशनाय उदन्य धनाय इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । अशनायतीत्यात्वं क्यचि निपात्यते क्षुच्चेद्वम्यते । अशनीयतीत्यन्यत्र । उदन्यतोत्यत्र उदकस्योदभावो निपात्यते वृट् चेत् । उदकीयतीत्यन्यत्र । धनायतीत्यात्वं निपात्यते गर्धश्चेत् । धनीयतीत्यन्यत्र ।

घतिस्यतिमास्थां ति कितीत् ॥५१२१४४॥ घति स्यति मा स्था इत्येतेषां तकारादौ किति परत इकारादेशो भवति । निर्दिशतः । निर्दिशतवान् । अवसितः । अवसितवान् । मितः । मितवान् । “गामादाग्रहणे-ष्वविशेषः” [५०] इति मामाङ्मेङ्ग्र ग्रहणम् । स्थितः । स्थितवान् । आग्रस्य “दो दद्मोः” [५१२१४८] इति दद्मावे “भुमास्था” [४१४६५] आदिना सूत्रेणान्येपामीत्वे च प्राप्ते इत्त्ववचनम् । तीति किम् ? दीयते । स्वीयते । कितीति किम् ? अवदाता । अवसाता । घतिस्यत्योस्तिपा निर्देशो यदुक्तनिवृत्त्यर्थः । निर्दादत्तः । निर्दादत्तवान् । अवसासीतः । अवसासीतवान् । दद्माव ईत्वं च भवति । तपरकरणं सुज्ञार्थम् ।

शाच्छोर्विभाषा ॥५१२१४५॥ शा छा इत्येतयोर्विभाषया इकारादेशो भवति तकारादौ किति परतः । निदिशतः । निशितवान् । निशातः । निशातवान् । अपच्छितः । अपच्छितवान् । अवच्छातः । अपच्छातवान् ।

व्यवस्थितविभाष्यम् । तेन श्यतेरित्वं व्रतविषये नित्यमिष्यते । संशितप्रतः साधुः । संशितं यत्नेन सम्यक्संन्यादितं व्रतं यस्य येन वा स एवमुक्तः । संशितः साधुरित्यपि भवति । यः प्रकरणादिना व्रते यत्नवान् गम्यते ।

धावो हि ॥५१२१४६॥ धावः हिरित्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । हितः । हितवान् । अनेकान्त्वात् सर्वस्य स्थाने “हुञ्च” [५१४१५५] इति हित्वात्वे प्राप्ते हिरादेशः । अनुबन्धनिर्देशो यदुबन्तनिवृत्त्यर्थः । देधीतः । देधीतवान् । धेदो लाक्षणिकत्वाभिधृतिः ।

हाकः कित्च ॥५१२१४७॥ हाकः क्त्वात्वे परतः हिरादेशो भवति । हित्वा गतः । हित्वा गच्छति कर्माणि । मोक्षम् । पूर्ववदीधे प्राप्ते हिरादेशः । अनुबन्धनिर्देशस्तु हाडो निवृत्त्यर्थः । यदुबन्तनिवृत्त्यर्थश्च । ईत्वमपि यदुबन्तस्य नेष्यते । क्लीति सौत्रो निर्देशः ।

दो दद्धोः ॥५१२१४८॥ दा इत्येतस्य भुसञ्जकस्य दद् इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । दत्तः । दत्तवान् । दत्त्वा । दत्तिः । द इति किम् ? धीतः । धीतवान् । धेट इदं रूपम् । धावो हिरादेश उक्तः । भोरिति किम् ? दातन् बर्हिः । ते आदेशो सुदत्तमित्यत्र “दस्ति” [५१२१२५] इत्यनेन इगन्तस्य गेदीत्वं स्यात् । दान्तो “दान्तस्य तो नः” [५१२१५१] इति नत्वम् । धान्तो “तथोधोऽधः” [५१२१५१] इति भापः परस्य भत्वम् । धान्ते नास्ति दोषः । दान्तो वास्तु । “दस्ति” [५१२१२५] इत्यत्र द्वौ पक्षौ । दा इत्येवमन्तकारादौ तकारान्ते वा दीत्वम् । तत्र तकारादौ नास्ति दोषः । धान्नपक्षे “खरि” [५१४१२०] इति चत्वं ।

गेस्तोऽञ्चः ॥५१२१४९॥ अजन्तादगेस्तस्य दा इत्येतस्य भुसञ्जकस्य त इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । नीत्तम् । वीत्तम् । परीत्तम् । प्रत्तम् । अवत्तम् । “अन्तेऽञ्चः” [१११४९] इत्याकारस्य तकारः । अकार उच्चारणः । दकारस्य चत्वं । गेरिति कानिर्देशात् “परस्यादेः” [१११५१] इति चेददोषोऽयम् । “अस्य खौ” [५१२१४९] इत्यतो मयङ्कालुत्वा अवर्गस्येति वर्तते । तैनाकारस्य भविष्यति । द्वितकारको वा निर्देशोऽनेकान्त्वात् सर्वस्य स्थाने भवति । गेरिति किम् ? दधि दत्तम् । अच इति किम् ? संदत्तम् । द इत्येव । निधीता गौरवत्त्वेन । भोरित्येव । अवदात्तं मुखम् । द्यतेरित्वात्तो भवति परत्वात् । अवत्तः । अवत्तवान् । ननु च—

अवत्तं विदत्तञ्च प्रवत्तं चाविकर्मणि ।

सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेप्स्यते ॥

तत्कथं सिद्ध्यति । अवादीनां गम्यमानक्रियान्तरविषयत्वेन ददति प्रत्यगित्वात् सिद्धम् । “यच्छिवा-
युक्तस्तं प्रति गीतिसञ्ज्ञको भवति” इति वचनात् । अवहीनमवगतं वा दत्तमवदत्तमिति क्रियान्तरविषयत्वं
योज्यम् । अथ वा “शास्त्रोर्विभाषा” [५१२१४५] इत्यतो मयङ्कालुत्वा व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेः ।

भ्यपः ॥५१२१५०॥ भकारादौ परतः अप् इत्यस्य गोः तकारादेशो भवति । अद्भिः । अदभ्यः । भोति किम् ? अनु । द्वितकारकनिर्देशपक्षे तु पूर्वस्यापि तकारस्य जश्त्वम् । अनेकान्त्वात् सर्वोदेश इति चेन्न । अच इति वर्तते । अचः परस्य भवति । गोमिति विशेषणस्य भादौ सम्प्रत्ययः । तेन पठे न भवति । अवभारः । अवभक्षः ।

स्यगे सः ५१२१५१॥ सकारादावगो परतः सकारान्तस्य गोस्त इत्ययमादेशो भवति । सत्स्यते । अवत्स्यत् । विवत्सति । “अन्तेऽञ्चः” [१११४९] इति वा । “निर्दिश्यमानस्यादेशा” [५०] इति वा सकारस्य तच्चम् । द्वितकारकपक्षे अच इति काविभक्त्यन्तमनुवर्त्यम् ? सीति किम् ? प्रवासः । अग्रे इति

किम् ? आस्ते । वस्ते । स इति किम् ? पद्यति । अशिष्यत इत्यत्र इदः सकारं प्रति भक्त त्वर्थापि सति वचनान्न भवति । द्विसकारको वात्सीति निर्देशः ।

तासस्त्योः खम् ॥५१२।१५२॥ तासोः अस्तेश्च सकारस्य सकारादौ खं भवति । कर्तासि । कर्तामे । अस्तेः—असि । अग इति निवृत्तमसम्भवात् । तासिर्गे विहितः । अस्तेरप्यसौ भूभावेन भवितव्यमिति । व्यतिषे इत्यत्र परत्वात्सखमेकदेशविकृतत्वादन्यात् “रसः खम्” [४।४।१०१] इत्यखम् । त्यमात्रमेव पदम् । पत्वं प्राप्तम् “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इति प्रतिपिद्धम् । “गिमादुभ्यां यच्चस्तेः” [५।४।६८] इति । तत्र पदस्तेति कर्तेति । गिपूर्वस्थस्तेः पदस्य सकारादव्यस्य ईति पदम् ।

रि ॥५१२।१५३॥ रेफादौ स्वे परतः तासस्त्योः सखं भवति । कर्तारौ । कर्तारः । अस्ते रेफादिर्नास्ति ।

पति हः ॥५१२।१५४॥ एकारे परतः तासस्त्योः सकारस्य इकारादेशो भवति । कर्ताहे । कर्ताहः । अस्तेः । व्यतिहे । तपरत्वमसन्देहार्थम् “इदि ह” इति सूत्रे व्यत्यासीति न स्यात् ।

स्सनि मीमाभुरभलभशकपतपदोऽच इस् ॥५१२।१५५॥ सनि सकारादौ परतः मी मा भु रभ लभ शक पत पद इत्येतेषामचः स्थाने इस् भवति । मी इति मीनातिमिनोत्योर्ग्रहणम् । “हनिङ्गम्यचां सनि” [४।४।१४] इति दीप्ते कृते विशेषाभावात् । मिनाति । प्रमित्सति । मा इति “गामादाग्रहणेष्विशेषः” [४०] इति प्रतिपदोक्तपरिभाषा नापेक्षिता । मित्सति । मेङ् । अपमित्सते । माङ्—मित्सते । भु—दिस्सति । धित्सति । आरिप्सते । आलिप्सते । शिङ्गति । पित्सति । प्रपित्सते । अनेकाल्पत्वात्सर्वदेशो मा भूदच इस् विधीयते । द्वित्वम् । “चस्यात्र खम्” [५।२।१६०] इति खलम् । “स्यो सः” [५।२।१५१] इति सकारस्य तत्त्वम् । रभादिषु “स्फादेः स्कोन्ते च” [५।३।४६] इति इसः सखम् । सकारादाविति किम् ? पिपतिषति । “तनिपतिहरिद्रां वेट्” [वा०] । सनीति किम् ? दास्यति । सीयेतद्व्यवहितम् । सनीति द्विसकारको निर्देशः ।

राधोः वधे ॥५१२।१५६॥ राधेः वधेऽर्थे वर्तमानस्य अच इम् भवति सनि सकारादौ । प्रतिरिप्सति श्वानम् । वध इति किम् ? आरिरात्सति ।

आपृक्ष्यधामीत् ॥५१२।१५७॥ आपृ क्षपि श्रुथ इत्येतेषामच ईकारादेशो भवति सनि सकारादौ । ईप्सति । शीप्सति । ईर्त्सति । जपेः पूर्वनिर्णयेन णिन्वे आद्यच ईत्वम् । सकारादावित्येव । जिज्ञपयिषति । अर्दिधिषति । “सनीवन्त” [५।१।४७] इतीदृक्फलः ।

वम्भ इच्छ ॥५१२।१५८॥ दम्भेस्त्र इकारादेशो भवति ईच्च सनि सकारादौ । विप्सति । वीप्सति । दम्भेस्त्रिपक्षे इकारादेशो कृते “हलन्तात्” [१।१।८४] इत्यत्र हल्प्रहणस्य जातिवचनत्वात् सनः कित्त्वे “हलुङ्कः विङ्ग्यनिर्दिष्टः” [४।४।२३] इति नखं मण्भावः । सकारादावित्येव । दिदम्भिषति ।

वा मुचो धेरेप् ॥५१२।१५९॥ मुचेर्धिसञ्चकस्य वा एप् भवति सनि सकारादौ । मोक्षते वत्सः स्वयमेव । मुमुक्षते वत्सः स्वयमेव । आत्मनो मोक्षुमिच्छतीति सन् । वत्सो हि मोक्षुमिष्यमाणो मुञ्चकियां प्रत्यानुकूल्यं यदा प्रतिपद्यते तदा मुमोक्षत्वात् कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितमिति वाच्यकर्माभावात्मुचिरकर्मकः । इह एप् चस्य खम् । अच इत्येतन्निवृत्तम् । अन्यथा “चस्यात्र खम्” [५।२।१६०] इत्यत्र चस्याचः खं स्यात् । धेरिति किम् ? मुमुक्षति कर्माणि मुनिः ।

चस्यात्र खम् ॥५१२।१६०॥ यदेतदनुकूलं सनि सकारादौ मुचेरेपर्यन्तम् एतस्मिन् चस्य खं भवति । तथा चैवोदाहृतम् । यच्चेत ऊर्ध्वमनुकमिष्यामः आपादपरिसमाप्तैश्चस्येत्येतेद्वेदितव्यम् । ननु सनि सकारादावित्यधिकारेणामिसम्बन्धात् सिद्धम् अत्रग्रहणं किम् ? सर्वस्य चस्य खं यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

दलोऽनादेः ॥५१२१६१॥ अनादेर्हलः खं भवति चस्य । हुदौके । तुवौके । पपाच । आदतुः । आट । अनादेर्हलः अच उत्तरस्य चखम् ।

शरः खयि ॥५१२१६२॥ शरः खं भवति खयि परतश्चस्य । चुश्च्योतिषति । तिष्ठासति । पिस्वदिपते । शर इति किम् ? पपाच । एकारो पकारेऽकारस्य मा भूत् । खयीति किम् ? सस्नौ । उचिच्छिषति । उच्छेस्तारङ्गत्वात्किं चुत्वे च कृते चुत्वस्यागिद्धत्वात् सतकारस्य छत्स्य द्वित्वे उचिच्छिषतीति प्राप्तम् । “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वक्ष्यत्यतो द्वित्वे चुत्वं सिद्धम् ।

प्रः ॥५१२१६३॥ प्रो भवति चस्य । पिपामति । निनीपति । हुदौके । हुदौकिपते । “अचश्च” [११११२] इत्यचः प्रादेशः ।

कुहोश्चुः ॥५१२१६४॥ चस्य कवर्गहकारयोः चवर्ग आदेशो भवति । चिकीर्षति । चक्षान । जगाम । जिवत्सति । जुहुवे । जहास । जहार । नादवतो महाप्राणस्य हस्य जुत्वे तादृश एव भकारः । जश्वं जकारः ।

वा कोर्योङि ॥५१२१६५॥ कोश्चस्य यङि वा चुर्मवति । कोरिति यस्य कस्यचिच्छन्दक्रियस्य प्रतप्ते रूपद्वयं सिद्धयति । उष्ट्रश्चोक्ष्यते । उष्ट्रः कोक्ष्यौ । यङीति किम् ? चुकुवे ।

उरः ॥५१२१६६॥ ऋचर्णान्तस्य चस्य अकारादेशो भवति । वष्टते । वष्ट्रे । चक्रे । जहे । अथ नर्तार्थोदी परत्वाद्गुणादिषु कृतेषु ऋकारान्तत्वाभावाच्चस्यत्वं न प्राप्नोति । नैवं शङ्ख्यम्, “चविकारे ष्वपवादा प्र उत्सर्गाच्च बाधस्ते” [५०] इति उरत्वे कृते द्वाद्ययः ।

द्युतिस्वाप्योर्जिः ॥५१२१६७॥ द्युति स्वापीत्येतथोश्चस्य जिर्मवति । दिद्युते । अदिद्युतत् । द्युत्युते । दिद्योतिपते । सनि “द्युङोऽञो हलः संश्च” [११११७] इति विवक्ष्येन किञ्चम् । यदा नास्ति तदा “द्युङः” [५१२१८] इत्येप् । स्वापि-सुष्वापयिषति । सुष्वापयिषतः । सुष्वापयिषन्ति । स्वापेर्ण्यन्तस्य ग्रहणं किम् ? हेतुमति ण्यन्तस्यैव यथा स्यादिह मा भूत् । स्वापं करोतीति णिच् । स्वापयितु-मिच्छति । सिष्वापयिषति ।

व्यथो लिटि ॥५१२१६८॥ व्यथः लिटि परतश्चस्य जिर्मवति । विव्यथे । विव्यथते । विव्यथिरे । ननु वकारस्यापि प्राप्नोति । अनादेरित्यनुवर्तमानं भवति ।

कितीणो दीः ॥५१२१६९॥ लिटि किति परतः इत्यश्चस्य दीर्मवति । ईयतुः । ईयुः । परत्वान् “यथोत्थोः” [४१४७७] इति वणादेशः । तस्य “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावादिकारस्य द्वित्वम् । द्वित्वे एव स्थानिवद्भावो न तु स्वेऽको दीत्वे । कितीति किम् ? इयाय । इययिष । ऐवेपोः । कृतयोः स्थानिवद्भावाद्वित्वम् । “चस्थास्त्रे” [४१४७३] इति यादेशः ।

आद्यतः ॥५१२१७०॥ आदेस्तश्चस्य दीर्मवति लिटि परतः । लिटीति वर्तते । कितीति निवृत्तम् । आदतुः । आटुः । आटिथ । “एण्यतोऽपदे” [४१४८४] इति पररूपत्वे प्राप्ते चस्य दीत्यम् । आदेरिति किम् ? दददे । दददाते । चान्तस्य न भवति । अत इति किम् ? इषेय । उवोप । तपरकरणं किम् ? य उपदेश आकार-स्तस्य प्रादेशे कृते अनेन दीत्वं मा भूत् । “आङि आचामे” [४१०] आच्छतुः । आच्छुरिति । यचनेन दीत्वं स्यात् “ततो नुट्” [५१२१७१] इति नुट् प्रसज्येत ।

ततो नुट् ॥५१२१७१॥ तस्मात् कृतदीत्वान्तुङागमो भवति । आनङ्ग । आनङ्गतुः । आनङ्गः । आनञ्ज ! आनञ्जतुः । आनञ्जुः । नुगिति पूर्वान्तः कर्तव्यः । चस्येति वर्तते । चस्य कृतदीत्वस्य भविष्यति । एवं लघुना निर्देशेन सिद्धे परादिवचने शपकम् “अस्मिन्प्रकरणे पूर्वान्तः आगमः स्वनिमित्तमन्तरेण्यपि क्रियते” तेनाभिलाषावप्यनुस्वारः । श्यम्पते । रंरम्पते ।

अश्नोतेः ॥५१२१७२॥ अश्नोतेश्च कृतदीत्यान्नुङ् भवति । व्यानरो । व्यानराते । व्यानशिरे । नियमार्थोऽयमारम्भः । अश्नोतेरेवाकारोऽङो नुङ् भवति नान्यस्य । आटुः । आटुः । तुल्यजातीयस्य नियमादिह भवत्येव । आनृत्तुः । आनृत्तुः । अश्नोतेरिति विकरणनिर्देशादश्नातेर्न भवति । आशतुः । आशुः ।

भवतेरः ॥५१२१७३॥ भवतेश्चस्य अकारादेशो भवति लिटि परतः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः । स्वतिबभूवे । “बुङ् छिद्युक्” [४१४८१] इति वृणागमः । लिटीत्येव । बुभूषति । बोभूयते । तिषा निर्देशो यङुभन्तनिवृत्त्यर्थः । बोभवाञ्चकर । नैतदस्ति “कास्यनेकाच्यबल्लिख्याम्” [२११३१] इति आमाव्यवहिते लिटि कथं प्रातिः । “इकस्तिषी धुनिर्देशे” इत्यस्य सूचनार्थस्तर्हि ।

निजामुच्ये ॥५१२१७४॥ निजादीनामुचि चस्यैव भवति । बहुवनिर्देशादाद्यर्थो गम्यते । नेनेक्ति । वेवेक्ति । नेनेक्ति इत्यत्र चस्य “विहति” [११११६] इत्येप्रतिषेधो न भवति । धुरूपेण व्यवहितत्वात् । उचीति किम् ? निनेज । निजादयस्त्वो वृत्त्यन्ताः ।

भृजां त्रयाणामिः ॥५१२१७५॥ भृजादीनां त्रयाणामुचि चस्य इकारादेशो भवति । दिभति । मिमीते । सञ्जिहीते । “अन्तेऽलः” [११११६] इति अच इत्वम् । त्रयाणामिति किम् ? जहाति । उचीत्येव । त्रभार ।

प्रोः ॥५१२१७६॥ पिपति इति इत्येतयोः उचि चस्येत्वं भवति । पिपति । पिपृथात् । अपिपः । इयति । इयृथात् । पेपः । अर्तेर्लट् शप् । उच् एप् द्वित्वमिश्रं “चस्यास्त्रे” [४१४७३] इतीय् । “इल्क्यापः” [४१४५६] इति तिषः खम् । अर्दागमः । “अटश्च” [४१४७८] इत्यैप् । उचीत्यनुवर्तनम् । जुहोत्यायोः प्रोपिदं प्रहणम् । अर्तेर्मापत्यामाप प्रयोगः ।

सन्यतः ॥५१२१७७॥ सनि परतश्चस्यात् हत्वं भवति । पिपसति । पिपसति । सनीति किम् ? पपाच । अत इति किम् ? तुष्टूपति । सनि यश्चस्तस्येत्वम् । पापच्यतेः सन् पिपस्यति । तपरकरणं सुस्वार्थम् ।

ओः पुयण्ये ॥५१२१७८॥ उवर्णान्तस्य पवर्गवङ्जकारेषु अवर्णपरेषु सनि परतः इत्वं भवति । पिपावयिषति । विभावयिषति । यण् । मियावयिषति । रिरावयिषति । लिलावयिषति । जु इति मौत्रो धुः । विजावयिषति । प्वादिभ्यो ययैभ्यः सन् । ओरिति वचनं आपकम् “द्वित्रे कर्तव्ये रौ कृतं स्थानिवद्भवति” ननु वचनस्येदं प्रयोजनम् । पिपयिषते विपयिषतीति । “स्मिङ् पुङ् रंज्वाः सनि” [५१११३३] । “सनीवन्त-र्ज्ज्वस्त्र” [५१११३७] इत्यादिना वेट् । एववादेशौ । “द्वित्रेऽचि” [१११५७] इति स्थानिवद्भावाद्वित्वमने-नेत्वम् । यथेतावत् प्रयोजनं स्यात् । पकारयकारग्रहणमेव कथ्येत । पवर्गवङ्जग्रहणमनर्थकं स्वात् । पुयण्योति किम् ? नुनावयिषति । अवर्णपर इति किम् ? लुलूपति ।

सुधुद्रुपुल्लुङ्च्युङो वा ॥५१२१७९॥ सवत्वादीनां चस्य ओः अवर्णपरे यणि परतः सनि वा इकारादेशो भवति । सिन्नावयिषति । सुन्नावयिषति । शिन्नावयिषति । शुन्नावयिषति । दिन्नावयिषति । दुन्नावयिषति । पिन्नावयिषति । पुन्नावयिषति । पिन्नावयिषति । चिन्नावयिषति । मुन्नावयिषति । अवर्णपर इति वचनात् ण्यन्तत्वात् । वचनसामर्थ्यात् सकारादिनैकेन यणो व्यवधानमिहाभितम् । अवर्णपर इत्येव । शुभ्रूपति । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

यङुपोरे ॥५१२१८०॥ यङि यङुपि च परत इगन्तस्य चस्य एप् भवति । नेनीयते । बोभूयते । नेनवीति । बोभवीति । न हि यङुपोऽन्वयोपि चः सम्भवतीत्युक्तत्वेन यङुपसम्प्रत्ययः । “नोमता गोः” [१११३४] इत्याश्रयकार्यप्रतिषेधाद्यङुपि विधानम् ।

दीरकितः ॥५१२१८१॥ अकितश्चस्य पुङ्गुपोदीर्भवति । पाप्यते । पाप्यतीति । पाप्यते । पाप-
तीति । “यङो वा” [५१२१८२] वचनं शापकमविशेषेण यङुपः । अकित इति किम् ? यंयम्यते । यंयमीति ।
ननु दीत्यापवादे परत्वान्नुकि कृते अनजन्तत्वात् कथं दीत्वप्राप्तिः । इदमेवाकित इति वचनं आपयति—“चविका-
रेष्वपवादा नोत्सर्गान् बाधन्ते” [प०] इति । तेन किं सिद्धम् ? मीमांसत इत्यादौ ईत्वं दीत्वेन न बाध्यते । डोटो-
क्यत इति दीत्वेन प्रादेशस्य न बाधा । अचीकरदित्यत्र “वेदीः” [५१२१८३] इत्यनेन “सम्बतः” [५१२१८७]
इत्वं न बाध्यते । अजीगणदिति “ईष्व गणः” [५१२१८४] इत्यनेन “ह्रस्वोऽनादेः” [५१११६१] लस्य
न बाधा ।

नीगवञ्चुसंभुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ॥५१२१८२॥ वञ्चु संभु ध्वंसु भ्रंसु कस पत
पद स्कन्द इत्येतेषां यङुपोश्चस्य नीगागमो भवति । वनीवञ्च्यते । वनीवञ्चीति । सनीवञ्च्यते । सनीवञ्चीति ।
दनीवञ्च्यते । दनीवञ्चीति । वनीभ्रव्यते । वनीभ्रशीति । चनीकस्यते । चनीकसीति । पनीकस्यते ।
पनीकसीति । आपनीकस्यते । आपनीकसीति । चनीकस्यते । चनीकसीति । यङुपि “नोमता गोः” [११११६४]
इति प्रतिषेधात् “ह्रस्वः” [४१४१२३] इति नञ् न भवति । नीगिति दीत्वोच्चारणसामर्थ्यात् प्रादेशः ।
अकित इति दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तकरणम् ।

इस्यातो नुक् ॥५१२१८३॥ इस्त्वान्तस्य गोर्यश्चेऽकागन्तस्तस्य नुगागमो भवति यङुपोः परतः ।
चंभय्यते । चंभयतीति । तन्तय्यते । तन्तयतीति । जङ्गय्यते । जङ्गयतीति । नुको “नश्चापदान्तस्य झलि”
[५१४१८] इत्यनुस्वारस्य परत्वत्वम् । अतएव स्वनिमित्ते भलादौ अनुस्वारो भवतीत्युक्तम् । तेन यंयम्यते ।
रंरम्यते इत्यनुस्वारः । अत्रापि दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तत्वम् । इत्येति किम् ? पाप्यते । अत इति किम् ?
तेतिम्यते । तपरकरणं किम् ? आकारभूतपूर्वस्य मा भूत् । बाभाम्यते ।

जपजभदहदशभञ्जपशाम् ॥५१२१८४॥ जप जभ दह दश भञ्ज पश इत्येतेषां चस्य नुगागमो
भवति यङुपोः परतः । जप्यते । जप्यतीति । जप्यते । जप्यतीति । दन्द्यते । दन्द्यतीति । दंश्यते ।
दंश्यतीति । बभ्यते । बभ्यतीति । पप्यते । पप्यतीति । पश इति सौत्रो ध्रुः । जपदिषु दंशिपयन्तेषु
“लुपसदचर” [१११२१] इत्यादिना यङ् । अन्यत्र क्रियासमभिहारे । दश इति सूत्रनिर्देशाद्यङुप्यपि नञ्
भवतीति केचित् । तद्युक्तम् । विकरणानिर्देशोऽयम् । यथा “पतदशानहः करणे ऋट्” [२१२१६०] इति ।

चरफलोदृच्छोडः ॥५१२१८५॥ चर फल इत्येतयोश्चस्य नुगभवति यङुपोः उडश्च उकारादेशश्चर-
फलोः । चञ्चूर्यते । “ह्रस्वभकुच्छुरः” [५१२१८६] इति दीत्वम् । चञ्चुरीति । पञ्चुल्यते । पञ्चुलीति ।
उडिति तपरकरणं किम् ? चञ्चूर्ति । पञ्चुलीत्यत्र “व्युङ्” [५१२१८३] एमिभूत्यर्थं दीत्वस्यासिद्धत्वादेप्
प्राप्नोति । नन्वेव इव दीत्वस्यापि तपरकरणात् किञ्च निवृत्तिः । अत्रोच्यते—यथा “मेऽत उत्” [४१४१००]
इति तपरकरणे न दीत्वमशक्यं निवर्तयितुम् अभकुच्छुर इति प्रतिषेधारम्भात्तथाऽत्रापि ।

ति ॥५१२१८६॥ लकारादौ चपरतः चरफलोदृङः उकारादेशो भवति । देवचूर्तिः । “क्लिच्त्तौर्त्तौ”
[२१३१५०] इति क्लिच् । एवं चरणं चूर्तिः । फलं फुलितः । पञ्चुला लता । यङुपोश्चस्येति चानुवर्तमान-
मिदं वचनसामर्थ्यात् गामिसम्बध्यते ।

रीगृत्वतः ॥५१२१८७॥ ऋत्वतो गोश्चस्य रीगागमो भवति यङि । यरीव्यते । नरीव्यते । यटि
ऋदुङ् इति क्रियेत । सरोरुज्यते इति न स्यात् । ऋमन इति तर्हि कर्तव्यम् । चिकीर्षत इत्यत्र तु कृताकृत-
प्रसङ्गित्वाद्दतः ईर्भविष्यति । एवं सिद्धे तपरकरणं लाक्षणिकस्यापि रीगर्थम् । तेन यरीव्यते । नरीव्यते ।
परीव्यते ? चेकीयते जेहीयते इत्यत्र कस्मान्न रीगिति चेत् : द्वित्वात् । परत्वेन रीकादेशो कृते ऋकारा-
भावान्न भवति ।

रुग्णिकौ चोपि ॥५१२१८६॥ श्वतो गोश्चस्य वङ्गपि रुग्णिकौ भवतः रीक् च । नर्नर्ति । नरि-
नर्ति । नरीनर्ति ।

श्रुतः ॥५१२१८६॥ ऋकारान्तस्य गोर्वास्तस्य भृञ्चि रुग्णिकौ भवतः रीक् च । तपरकरणसामर्थ्याद्वा
गुर्विशेष्यते । चर्कति । चरिर्कति । चरीकर्ति । जर्हति । जरिहति । जर्हति । “अदोष्ट” [५१२१८५] इत्यञोक्तं
चानुक्लृप्तमपि कचिदुत्तरत्रानुवर्तते तेन रीक् । तपरकरणं किम् ? कृ गृ । चोर्ति । जागर्ति । ननु च “रुग्णिकौ
चोपि” [५१२१८७] इत्यनेनैव तृतीयं सिद्धम् । तत्रापि “कृत्वतः” [५१२१८६] इति तपरकरणमस्ति तेन आक-
र्त्यादौ न भविष्यतीति चेत् ; तत्र तपरकरणं लाक्षणिकार्थमुक्तमिति किरत्यादेर्निवृत्तिर्न स्यात् ।

यौ कच्यनकखे सन्वत् ॥५१२१९०॥ कचपरे विसञ्जके वर्णं यश्चस्तः सनीव कार्यं भवति
अनकखे । “सन्वत्” [५१२१७७] इतीश्वमुक्तम् । कच्यपि तथा अचीकरत् । अपीपद्यत् । “ओः पुयस्ये”
[५१२१७८] कच्यपि तथा । अपीपठत् । अलीलवत् । अजीजवत् । वा स्रवत्यादीनां कच्यपि तथा ।
असिखवत् । असुखवत् । अदिद्रवत् । अदुद्रवत् । ननु इला व्यवधानात् कथं कच्यणे पवर्णः ? वचन-
प्रामाण्यादेकेन व्यवधानमाश्रितम् । घाविति किम् ? अततद्यत् । अत्रभासत् । कचीति किम् ? अहं
पपच । अनकख इति किम् ? स्तनमाख्यत् अतस्तनत् । वनमाख्यत् । अववनत् । “णाविष्टन्मृदः” [५१२१८६]
इति दृष्ट्वायः “तुरिष्टमेवस्तु” [५१२१८७] “टः” [५१२१८८] इति टिप्पणम् । इह कस्मान्न न भवति ।
अचकमतेति कश्चिदप्ये । “वाञ्जी” [२११२७] इति णिङोऽनुत्पत्तिपक्षे कचि कृते । अञोच्यते-नैवं ज्ञातव्यम् ।
अकः खम् अकखम् । अकखेनेति । किं तर्हि ? अक् खं यस्मिन्निमित्तभूते सोऽयमकखो न अकखो अनकखः
तस्मिन् । पयुदासवृत्त्या अनकखनिमित्ते खौ मध्यगते सन्वद्वाच इत्यदोषः । तथा अकः खं यस्मिन्निमित्तभूते
अनकखस्य । न तु शौ गित्त्वमकः खम् । तेन वार्दितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदत् । ननु अजजागरदित्यत्र गकार-
ऋकारे विसञ्जामाश्रित्य प्राप्नोति सन्वद्वाचः । वचनप्रामाण्याद् व्यवधानेऽपि सन्वद्वाचेन भवितव्यम् । सर्व-
धार्पापचदित्यादावपि चस्थानास्तर्था धिना नास्ति । नायं दोषः । वचनप्रामाण्यादिहैकवर्णेन व्यवधानमिष्टं
सङ्गतेन पुनर्व्यवधाने भवति न भवति च । तत्र “स्वर” [५१२१८२] आदीनामित्यापवादार्थमव्यवचनं शपकम् ।
इत्यञ्वातेन व्यवधाने भवति । अचिक्कणत् । अचिक्कणत् इति । अञ्जन्मृद्व्वातेन व्यवधाने तु न भवति । अमीमप-
दित्यादौ “स्सनि मीमा” [५१२१८५] इत्येव विधिः कस्मान्न भवति ? णिजन्तस्य प्रकृत्यन्तरत्वात् ।

येर्दीः ॥५१२१८१॥ चस्य येर्दीर्भवति औ कचपरेऽनकखे । अनीकरत् । अजीहरत् । अबूबुधत् ।
येरिति किम् ? अचिक्कणत् । घात्रित्येव । अथ्यापिपत् । “द्विस्वेऽचि” [१११५६] णिङस्य स्थानिवद्भावात् “अचः”
[५१२१८२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । अत्र कचपरो घिवर्णो नास्ति । कचीत्येव । अहं पपच । यत्र सन्व-
द्वाचो नास्ति तत्र दीत्वमिह मा भूत् । अचकमत । अनकख इत्येव । अचकधत् । “आद्यतः” [५१२१७७]
इत्यतः आदेरिति वर्तते तेनादेशत्व दीर्भवति । न द्वितीयस्यैकाचो यश्चास्तस्येति । प्रौणु नवदिति ।

स्मृदृत्वरप्रथमदस्तृस्पशोऽत् ॥५१२१८२॥ स्मृ दृ त्वर प्रथमद तृ स्पश इत्येतेषां चस्य अदा-
देशो भवति कचपरे यौ परतः । अस्तस्मरत् । अददरत् । अतत्वरत् । अपप्रथत् । अममदत् । अतस्तरत् ।
अपस्पशत् । सन्वद्वावादित्वे प्राप्ते वचनम् । अदिति तपरकरणं येर्दीर्वाचनिवृत्त्यर्थम् । अददरत् ।

या वेष्टिचेष्टयोः ॥५१२१८३॥ वेष्टि चेष्टि इत्येतयोश्चस्य वा अद्भवति कचि परतः । अववेष्टत् ।
अविवेष्टत् । अचचेष्टत् । अचिचेष्टत् । इकारस्थानेनात्वम् ।

ईकञ्च गणः ॥५१२१८४॥ गणयतेश्चस्य ईकारदेशो भवति अच कचि परतः । अजीगणत् ।
अजगणत् । अनकख इति प्रतिषेधात् सन्वद्माचो नास्ति । तदर्थमिदम् । चकारोऽनुकर्षणार्थः ।

इत्यभयनन्दिचिरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

[सर्वस्य द्वे ॥५१३१॥ परे त्रिः ॥५१३२॥ नित्यवीप्सयोः ॥५१३३॥ परेर्वर्जने ॥५१३४॥
उपर्यध्यधसः सामीप्ये ॥५१३५॥ वाक्यादेर्वीध्यस्थासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ॥५१३६॥
एको बवत् ॥५१३७॥ आवाधे च ॥५१३८॥]

.....कश्चिदेवं प्रयुङ्क्ते इत्यावाधः । प्रयोक्तव्या । (?)

यचवुस्तरे ॥५१३९॥ उत्तरे द्वित्वं यस्येव कार्यं भवति । यद्वन्त “प्रकारे गुणोक्तेः” [५१३१०] इति । पटुपटुः । पटुपट्वी । कालककालिका । वसातिदेशे “न वुहत्कौकः” [५१३१४६] इति पुनर्द्भाव-प्रतिषेधः स्यात् । यत्ते तु “पुनर्द्वाजातीयवदेशीये” [५१३१५४] इति भवति । अधिकारेणाऽप्येनमिदम् । उत्तरग्रहणं ज्ञापकार्यम् । अयमधिकारः । “एको बवत्” [५१३१०] इत्यादिलक्षणं चाधिकारश्च । तेन एष तवाञ्जलिरेष तवाञ्जलिः । अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया । आधिक्येऽपि द्वित्वमुक्तम् । “स्यार्थेऽवधार्य-माद्येऽनेकस्मिन् द्वे भवतः” [वा०] अस्मात्सुवर्णादिह भवद्भ्यां मायं मायं देहि । अत्र द्वावेव मायो दीपे न सर्वे मायाः । तेन वीप्सा नास्ति । अवधार्यमाण इति किम् ? इह भवद्भ्यां मायमेकं देहि । “पूर्व-प्रथमयोरतिशये द्वे भवतः” [वा०] पूर्वं पूर्वं पुण्यन्ति । प्रथमं प्रथमं पच्यते । वेत्यधिकाराद्यदा न द्वित्वं तदाऽतिशायिकः । पूर्वतरं पुण्यन्ति । प्रथमतरं पच्यन्ते । “समसप्रधारणायां किम आक्षेपे द्वे भवतः” [वा०] । उभाविमावाढ्यौ कतराकतराऽनयोस्तयोराद्यता । कतमा कतमाऽनयोराद्यता । कीदृशी कीदृशी अनयोराद्यता । कतरः कतरोऽनयोर्विभक्तः । “कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वं सवच्च बहुलम्” [वा०] तत्र वेत्यधिकाररुलम्ब्यते । अत्रवत्तच्चे पूर्वपदस्थान्यशब्दस्य सुरेव । सवद्भावे च मिभूतस्यादेकत्वं परशब्दस्य सुट् । अन्योन्यमिमे ग्रामा भोजयन्ति । अन्योन्यस्य भोजयन्ति । पुत्रादीति गम्यते । एवमितरेतरेषाम् । इतरेतरस्य । परस्परं परस्परस्य भोजयन्ति । “स्त्रीपुंसकयोर्विभक्त्या वाऽऽभावो योस्तु” [वा०] अन्योन्यं नायौ भोजयतः । अन्योन्यां वा । अन्योन्यं कुले भोजयतः । अन्योन्यं वा । अन्योन्यं नायौ भोजयन्ति । अन्योन्यां वा । अन्योन्यं वा कुलानि भोजयन्ति । अन्योन्यं वा । इत्यादि सिद्धम् ।

प्रकारे गुणोक्तेः ॥५१३१०॥ प्रकारे वर्तमानस्य गुणोक्तेर्द्वे भवतः । प्रकारः सादृश्यमिह गृह्यते । उच्यते इत्युक्तिरभिधेयं वस्तु । गुण उक्तिरभिधेयोऽस्येति गुणोक्तिः, तस्य द्वित्वम् । पटुपटुः । परिण्डत-परिण्डतः । पटुपट्वी । परिण्डतपरिण्डता । उत्तरसूत्रे वाग्रहणमिह सिद्धावलोकनेन सम्बध्यते । तेन जातीयोऽपि भवति । पटुजातीयः । मृदुजातीयः । द्वित्वजातीययोर्विभक्त्यमेदे मृदुमृदुजातीय इत्यनिष्टं स्यात् । प्रसार इति किम् ? शुल्को गुणः । अग्निर्माणवकः । गौर्वाहीकः । सदान्गुणवचनो यः प्रकारे कर्ते तस्य द्वित्वम् । अयं तूपमानात्सर्वद्रव्यवचनः ।

प्रियसुखयोर्वीकृच्छ्वे ॥५१३११॥ प्रिय सुख इत्येतयोरकृच्छ्वे वा द्वे भवतः । प्रियप्रियेण ददाति । प्रियेण ददाति । सुखसुखेनाधीते । सुखेनाधीते जैनेन्द्रम् । अप्रयासेनेत्यर्थः । अकृच्छ्वे इति किम् ? प्रियः पुत्रः । सुखो रथः । प्रीणातीति प्रियः । सुखयतीति सुखः ।

यथास्वे यथायथम् ॥५१३१२॥ यथायथमिति निपात्यते यथास्वेऽर्थः । सर्वे ज्ञाता यथायथम् । यथा-स्वभावं यथाऽस्मीयं चेत्यर्थः । यथाशब्दस्य द्वित्वमभावश्चान्ते निपात्यते । यो य आत्मा यो य आत्मीयो वा यथास्वम् । “यावथा” [५१३१६] इति वीप्सायां ह्रस्वः । त्रिसंज्ञकं वा यथायथमिति शब्दान्तरमस्मिन्नर्थे साधुत्वेनान्वाख्यातम् ।

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुटिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्याय्यामनु-सृत्यान् निर्दिष्टानि ।

द्वन्द्वं रहस्यादौ ॥५१३१३॥ द्वन्द्वमिति निपात्यते रहस्यादावर्थे । द्वि औ इत्यस्य द्वित्वे सुब्रुपि पूर्वोत्तरपदयोरिकारस्याम्भावोऽल्वं च निपात्यते रहस्यप्रकारेऽर्थे रहस्याभिधाने । द्वन्द्वं मन्त्रयते । द्वन्द्वं मन्त्रयेते । द्वौ द्वौ रहसि मन्त्रयेते इत्यर्थः । मर्यादावचनादयो विषयत्वेनाभीयन्ते । मर्यादायाम् आसप्तमनरकादधोऽधो द्वन्द्वं नरकपटलाणि हीनानि व्युत्क्रमणं भेदः पृथक्स्थानम् । तत्र द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः । द्विवर्गसम्बन्धेन भिन्ना इत्यर्थः । यज्ञपात्रप्रयोगे, द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । अभिव्यक्तौ, द्वन्द्वं नारदपर्वती । द्वन्द्वं सूर्याचन्द्रमसौ । विधिव्राह्मणौ द्वन्द्वम् । “वा वीप्सायां द्वन्द्वः” वीप्सायां द्वन्द्वं द्वौ द्वौ । वृत्तिविशेषे “कार्ये द्वन्द्वः” [११३।१२] अन्यत्रापि दृश्यते । द्वन्द्वानि सङ्गते । द्वन्द्वं युद्धं कृतम् ! अतएव च रहस्य-मर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिरूपं परिगणनं न कृतम् ।

पदस्थ ॥५१३१४॥ पदस्थेऽथमधिकारो वेदितव्य आ शास्त्रपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति “नखं मृदन्त-स्याकौ” [५१३।३०] इति । राजम्याम् । राजभिः । तथा “स्फाम्तस्य खम्” [५१३।४१] इति पतन् । यजन् । अत्रार्थवशात्पदस्थेत्यवयवे ता द्रष्टव्या । पदस्थेति किम् ? राज्ञे । राजः । भर्मज्ञया नपुंसकलिङ्गा पदसंज्ञा भाष्यते

पदादपादादौ ॥५१३१५॥ पदादिति अपादादविति च एतद्विदित्यमधिकृतं वेदितव्यं प्रागतिङ्गाधि-कारात् । वक्ष्यति “बहोर्वस्नसौ” [५१३।१७] इति । ग्रामो वो दीयते । नगरं नो दीयते । पदादिति किम् ? युष्मस्य ग्रामो दीयते । अपादादविति किम् ?

शान्तिनाथो जिनः सोऽस्तु युष्माकमवशान्तये ।

येन संसारताभीतिरस्माकमिह नाशिता ॥

युष्मदस्मदोऽधिपतास्थस्य चांनावौ ॥५१३१६॥ पदात्परयोरपादादौ वर्तमानयोर्युष्मदस्मदित्वेत-योरभूत्त्वात् स्थितयोर्ग्रामो इत्येतावादेशौ भवतः । युष्मदस्मदिति इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः । ओसः स्थाने ऋकृतः सौत्रवाग्निर्देशस्य । पदस्य सर्वस्येति च वर्तते । यदि वा पदस्येति स्थानलक्षणाऽव ता सम्यग्यते, मर्वस्य पदस्य स्थाने आदेशः । एकवहोरादेशान्तरं वक्ष्यति । अतो द्विविधे विधिः । ज्ञानं वा दीयते । शीलं नो दीयते । ज्ञानं वा रक्षतु । शीलं नो रक्षतु । ज्ञानं वा स्वम् । शीलं नो स्वम् । अविज्ञास्वस्येति किम् ? ज्ञानं युवाभ्यां कृतम् । स्वग्रहणं किम् ? श्रूयमाणविभक्त्यां यथा स्यात् । इह मा भूत् । इति युष्मदुपाध्यायः । पदविधिरयम् । असामर्थ्यं न भवति । आवाभ्यां भाष्यते ज्ञानम् । युवाभ्यां दीयते दानमिति । अथेह सामर्थ्येऽपि कस्मान्न भवति ? ओदनं पच तत्र भविष्यति मम भविष्यतीति । “समाने वाक्ये युष्मदस्मदादेशविधिरिष्यते” । इह तु ओदनं पचत्येकं वाक्यं तत्र भविष्यतीति द्वितीयं वाक्यम् । अवश्यं समानवाक्याधिकार एष्टव्यः । शालीनां ते ओदनं ददातीत्यत्रापि यथा स्यात् । अन्यथा शालीनामित्यस्य ते इत्यनेन सामर्थ्याभावाच्च स्यात् ।

बहोर्वस्नसौ ॥५१३१७॥ बहुन्तयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसु इत्येतावादेशौ भवतस्तस्वेव विभक्तीषु । ज्ञानं वो दीयते । शीलं नो दीयते । ज्ञानं वो रक्षतु । शीलं नो रक्षतु । ज्ञानं वः स्वम् । शीलं नः स्वम् ।

एकस्य ते मे ॥५१३१८॥ एकान्तयोर्युष्मदस्मदोस्ते मे इत्येतावादेशौ भवतः । एक इति त्यः । “स्वग्रहणे यस्मात्स तदादेशग्रहणम्” [प०] । ज्ञानं ते दीयते । शीलं मे दीयते । इपो वक्ष्यति । ज्ञानं तै स्वम् । शीलं मे स्वम् ।

त्वामाविपः ॥५१३१९॥ एकस्येति वर्तते । इनेकान्तयोर्युष्मदस्मदोरुवा मा इत्येतावादेशौ भवतः । ज्ञानं त्वा रक्षतु । शीलं मा रक्षतु ।

न अवाहाऽहवयोगे ॥५१३२०॥ च वा ह अह एव इत्येतैर्योगे युष्मदस्मदोर्वाभावादयो न भवन्ति । ज्ञानं तुभ्यं मम च दीयते । युवाभ्यां आवाभ्यां च दीयते । युष्मस्य अस्मभ्यं च दीयते । ज्ञानं त्वा मां च रक्षतु ।

युवां आवां च रक्षतु । युष्मान् अस्मांश्च रक्षतु । ज्ञानं तव च स्वम् । ज्ञानं मम च स्वम् । युवयोः आक्योश्च स्वम् । युष्माकं अस्माकं च स्वम् । ज्ञानं तुभ्यं मह्यं वा दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यं ह दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यमह दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यमेव दीयते । इत्यादि योज्यम् । योग इति किम् ? ज्ञानं च मे स्वम् । नात्र चादिभिर्युष्मदस्मदोयोगः । किन्तिर्हि ? ज्ञानस्य ।

दृश्यर्थेचिन्तायाम् ॥५३॥२१॥ चिन्तायां वर्तमानैदृश्यार्थैर्धुमिर्योगं युष्मदस्मदोर्वाभ्नावादयो न भवन्ति । अत्र साक्षाद्योगे तद्युक्तयोगे च प्रतिषेधः । ज्ञानं तुभ्यं दीयमानं समीच्यागतो जनः । ज्ञानं मह्यं दीयमानं समीच्यागतः । साक्षाद्योगे ग्रामस्त्वां समीच्यागतः । ग्रामो मां समीच्यागतः । ज्ञानं तव स्वं समीच्यागतः । शीलं मम स्वं समीच्यागतः । सन्दृश्य संचिन्त्य निरूप्येति यावत् । दृश्यर्थेति किम् ? ग्रामस्त्वा मन्यते । अस्ति चिन्तार्थो मन् धुर्न तु दृश्यर्थः । चिन्तायामिति किम् ? ग्रामस्त्वा पश्यति । अत्र चक्षुर्दर्शनं दृशिर्ननेन । तेन न प्रतिषेधः ।

वाऽनन्वादेशो ॥५३॥२२॥ युष्मदस्मदोर्वाभ्नावादयो वा भवन्ति अनन्वादेशो । अन्वादेशः कथनम् । अन्वादेशोऽनुकथनम् । नान्वादेशोऽनन्वादेशः । तत्र विकल्पोऽन्वादेशो नित्यो विधिः । ज्ञानं ते दीयते । ज्ञानं तुभ्यं दीयते । ज्ञानं मे दीयते । ज्ञानं मह्यं दीयते । इत्यादि योज्यम् । अनन्वादेश इति किम् ? अथो ज्ञानं ते दीयते । अथो ज्ञानं मे दीयते । पूर्वं किञ्चिदादिश्य इदमादिश्यते इत्यन्वादेशोऽयम् ।

सपूर्वाया वायाः ॥५३॥२३॥ विद्यमानपूर्वाद् वान्तात्पर्योर्युष्मदस्मदोर्वा वाभ्नावादयो भवन्ति । अनन्वादेशो सामान्येन सिद्धम् । अनन्वादेशार्थमिदम् । अथो आचार्येण ज्ञानं ते दीयते । अथो आचार्येण ज्ञानं तुभ्यं दीयते । इत्यादि ।

बोध्यमसद्वत् ॥५३॥२४॥ बोध्यान्तं पदमसद्वद् भवति । बोध्यमिति मन्धोभनलक्षणाया वाया ग्रहणम् । असद्वद्भावे प्रयोजनम् । बोध्यान्तात्पर्योर्युष्मदस्मदोर्वादेशनिवृत्तिः । देवदत्त तुभ्यं दीयते । देवदत्त मह्यं दीयते । इत्यादि नेयम् । इह च देवदत्त ज्ञानं ते । देवदत्त ज्ञानं मे । “सपूर्वाया वायाः” [५३॥२३] इत्यन्वादेशो विकल्पो न भवति । यत्करणं स्वश्रुत्यनिवृत्त्यर्थं कार्यं प्रत्यसद् भवति ।

नैकार्थे बोध्ये सामान्यवचनम् ॥५३॥२५॥ एकार्थं बोध्यान्ते परतः सामान्यवचनं बोध्यान्तं नासद् भवति किन्तु सद्देव भवति एकार्थः विशेषलक्षणो यस्य तदिदमेकार्थं विशेषवचनमित्यर्थः । कथं ज्ञायते ? सामान्यवचनम् इति निर्देशात् । परस्य विशेषवचनत्वमपेक्ष्य सामान्यवचनत्वं भवति । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो दीयते । क्षत्रिय श्रेणिक त्वाऽर्हन् रक्षतु । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो वर्धताम् । एकार्थ इति किम् ? क्षत्रिय ब्राह्मण युवभ्यां धर्मो दीयते । बोध्य इति किम् ? क्षत्रिय धनवान् मे त्वं देहि । पूर्वस्य सन्ने “सपूर्वाया वायाः” [५३॥२३] इत्येव विधिः प्रसज्येत । सामान्यवचनमिति किम् ? श्रेणिक क्षत्रिय तुभ्यं धर्मो दीयते ।

वा विशेषवचने बहौ ॥५३॥२६॥ विशेषवचने बोध्ये बह्वन्ते परतः सामान्यवचनं वा बोध्यान्तमसद् भवति । देवाः शरण्या वो दीयते । देवाः शरण्या युष्मभ्यं दीयते । “नैकार्थे बोध्ये सामान्यवचनम्” [५३॥२५] इत्यस्यार्थे विकल्पः । सामान्यवचनमित्यनुवृत्तेः परस्य विशेषवचनमनुक्तं सिद्धम् । तत्कृतं स्पष्टार्थमुत्तरार्थं च ।

पूर्वत्रासिद्धम् ॥५३॥२७॥ पूर्वत्र इति असिद्धमिति च एतदधिकृतं वेदितव्यम् आ शास्त्रपरिसमाप्तेः । येन चतुरध्यायी सार्धद्विपादाऽतिक्रान्ता तस्यामयं सार्धद्विपादोऽसिद्धो भवति । इत उत्तरं च उत्तरोत्तरो योगः पूर्वत्र पूर्वत्रासिद्धो भवति । असिद्धवद्भवति । शास्त्रासिद्धत्वेन तदाश्रयं कार्यं न भवतीत्यर्थः । अस्मा उद्धरति सिद्धा अत्र । असा आदित्यः । “व्योः खम्” [५३॥५] इत्यस्य यवत्तशास्त्रस्याऽसिद्धत्वात् “आदेप्”

[४।३।७५] “स्वेऽको दीः [४।३।८८] इति च न भवति । अमुष्मै । अमुष्मात् । अमुष्मिन् । उत्पशास्त्रस्या-
सिद्धत्वात्स्यादयो भवन्ति ।

शुष्किका वन् सुशर्माणः क्षामिमानोजिह्वत् सुर्गाः ।

पक्वमाशीःषु गोलियमान् कुर्वन्ति पिपटीः सुभुत् ॥

शुष्किकेति “शुपि पचेः क्वी” [५।३।६७] इति कादेशः । टाप् । कुत्साद्यर्थे कः । पुनः टाप् ।
“केऽणः” [५।३।१२५] प्रः । कत्वस्यासिद्धत्वात् “जातोऽधोर्यकात्” [५।३।५१] इति विकल्पो न भवति ।
“त्यस्ये क्वापी” [५।३।५०] इति नित्यमित्वम् । यलिति स्थान्तस्यासिद्धत्वान्मृदलान्तं न भवति । सुशर्माण
इति शस्यासिद्धत्वात् नोष्ठः “घेऽकौ” [४।३।६] इति दीत्वम् । हौ जै सै श्रये क्तः । “क्षौ मः”
[५।३।६८] इति मत्वम् । क्षामोऽस्यासीति क्षामी । सोऽस्यासीति क्षामिमान् । मत्वस्यासिद्धत्वात् “समोऽकथो
मसोर्बोऽयवादेः” [५।३।३१] इति मनोर्वत्वं न भवति । ऊदमाख्यत् णिचि लुङि कचि च कृते “अचः”
[४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वे कर्त्तव्ये दत्वादेरसिद्धत्वात् इतिकार्योर्द्वित्वम् । “हलोऽनादेः” [५।३।६९] इति
तत्त्वम् । हकारस्य चुत्वम् । औजिह्वत् । ननु शौ च षड्विखं तस्य स्थानिवद्भावाद्विरुध्यते । अनक्ख इति प्रतिशेधान्
सनीत्वं नास्ति । तत् औजिह्वत् इति भवितव्यमिति केचित् । तदयुक्तम् । णौ कृतं स्थानिवद् भवति । न च दिक् शौ
कृतम् । किन्तु द्विष्टे । ततो “द्वित्वेऽचि” [१।१।५३] इति स्थानिवद्भावात् संयोर्द्वित्वम् । ननु च “पूर्वत्रासिद्धायम-
द्वित्वे” इति वक्ष्यति । तत्कथमसिद्धत्वं दत्वादेः । न । “सर्वस्य द्वे” [५।३।१] इत्येतद्द्वित्वं तत्र गृह्यते । तेन गलो
गल इति लत्वं सिद्धम् । लुङिगिति पितृर्त्वेनीत्यसिद्धत्वात् “हो दी हौऽकः” [५।३।८८] इति दीत्वम् । पक्वमिति
वत्त्वस्यासिद्धत्वात् भक्ति चोः कुत्वम् । आशीःष्विति “रेश्च सुपि” [५।३।२४] इति सत्वस्यासिद्धत्वात् “इको दी
बोऽकः” [५।३।८५] इति दीत्वम् । गोलियमान् इति दत्वस्यासिद्धत्वात् “कयः” [५।३।३१] इति यत्वं न भवति ।
कुर्वन्ति इत्यनुस्वारपरस्वस्यासिद्धत्वात् न नास्ति । पिपटीगिति पक्वस्यासिद्धत्वाद्भित्त्वम् “परेऽचः पूर्वविधौ”
[१।१।५७] इति अतः खस्य स्थानिवद्भाव इति चेत् ; न ; पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवद् इति । सुभुदिति
जश्त्वस्यासिद्धत्वात् भूपन्तस्य वशो भवभावः । शुद्धो हसतीति रेरसिद्धत्वेऽप्युक्तं वचनान् भवति ।
अपवादस्य परस्यापि वचनप्रामाण्यात्तसिद्धत्वम् । वृद्ध इति जश्त्वापवादो रित्वम् । दोग्धा इति दत्वापवादो
धत्वम् । काष्ठतडिति स्थान्तस्वापवादः स्कादिस्त्वम् । येऽत्र कानिर्देशास्तानिर्देशा ईभिर्देशाश्च “रात्सः”
[५।३।४२] । “स्कान्तस्य खम्” [५।३।४१] “कलो कलि” [५।३।४४] इत्यादयस्तेषाम् “ईप्केऽयन्वाये
पूर्वपरयोः” [१।१।६०] “तास्थाने” [१।१।४६] इति च नियमे कर्त्तव्ये नासिद्धत्वम् । “कार्यकालं
संज्ञापरिभाषम्” [५०] इति पूर्वत्वं नास्ति । इह विस्फोट्यम् अवगौर्यम् इत्वेपं बाधित्वा परत्वेन
“हल्यभकुर्धुरः” [५।३।८६] इति दीत्वं नास्ति । “पूर्वत्रासिद्धे नास्ति स्पन्दोऽसत्त्वादुत्तरस्य” । विशेषवचन इति
वर्तते । विशेषेण इदमसिद्धम् । तेन क्वचिदिष्टे विषये सिद्धत्वं भवति । तादृशः एतत्वेऽविधिषु सिद्धः ।
अन्यथा वृक्णाः वृक्णवान् इति भल्लेति पत्वं स्यात् । क्षीवेण तरति क्षीधिकः । द्वयज्जक्ष्णायो न
स्यात् । क्षीव इति बलादित्वादित् स्यात् । छे तुकि पविधिः सिद्धः अग्नाइ इ छवम् । पटाइ
उ छवम् । छे इति किम् ? अग्निचीश्त् । चस्य जश्त्वन्त्वमेत्वतुकोः सिद्धम् । वभणतुः । वभणुः ।
आदेशस्यासिद्धत्वादेत्वं प्राप्नोति । उच्चिच्छिषतीति आदेशस्यासिद्धत्वाच्छे तुक् प्राप्नोति । यद्वित्वे परस्वम्
सिद्धम् । सँव्यतः । सँव्यत्सरः । सँल्लोकम् । सँल्लोकम् । यर इति द्वित्वं न स्यात् । “सर्वस्य द्वे” [५।३।१] इति
द्वित्वे धत्वादयः सिद्धाः । द्रोग्धा द्रोग्धा । द्रोदा द्रोदा । गरोगरः । गलोगल इत्यादि । पत्वादीनामसिद्धत्वात् ।
प्राग्वित्वे पश्चाद्विकल्पे सति रूपवैषम्यं स्यात् । गरोगल इति ।

नखं सुद्विधिकृत्तु कि ॥५।३।२८॥ सुपः स्थाने विधिं सुपि च विधिं कृति विहितं च तुक् प्रत
नखमसिद्धं भवति । विधीयते इति विधिः कार्यम् । ऐस्भावदीत्वादिः । सुपो विधिः सुन्विधिः एको विग्रहः सुवा-

अथो विधिरित्यर्थः । कृतस्तुक् कृतुक् । कृदाश्रयो हि तुक् कृतस्तुगुच्यते । राजभ्याम् । राजभिः । “सुपि” [५।२।६७] इति दीत्वम् । “भिसौऽत ऐस्” [५।१।८] इति च न भवति । वृत्रहभ्याम् । वृत्रहभिः । “पिति कृति तुक्” [४।३।५६] इति तुङ् न भवति । कृतीति किम् ? वृत्रहच्छत्रम् । छे तुगयम् । “सिद्धे सत्कारम्भो नियमार्थः” [५०] । एतयोरेव नखमसिद्धं नात्यत्र । इत्यथम् । राजीयति । राजावला । कृतुकीति न कर्त्तव्यम् । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” [५०] इति तुङ् न भविष्यति । तत् क्रियते आपकार्यम् । “अवयव-नाशिनामतः खं न भवति” इति । अन्यथा तुक् प्राप्तिरत्र नास्ति । नखेऽतः खे च कृते प्रान्तत्वाभावात् । एवं च सुपमेति सिद्धम् । अयं यय पय गती । पयतेर्मणि कृते “वशि” [५।१।११४] इतीति प्रतिषिद्धे “वलि ज्योः खस्” [४।३।५५] इति यस्ते कृतेऽतः खं न भवति । किं च सन्निपातपरिभाषाश्रयणे वृत्रहच्छत्रमिति तुङ् न स्यात् । अथ “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [५०] इत्येव सिद्धं कृतुकीति व्यर्थम् । अनित्यैषा परिभाषा । तेन एषा द्वे इति सिद्धम् । अत्राऽन्तरङ्गं अपि कर्त्तव्ये बहिरङ्गं व्युदाद्यत्वे सिद्धम् । पञ्च नार्य इत्यत्र मृदवस्थाव्यभिचक्षणम् । एकया च संज्ञया अनेकं कार्यं क्रियते इति लोपप्रतिषेधो जशशसोः “उचिजः” [५।१।११६] उपि कृते टापः प्राप्ति-र्नास्त्वलिङ्गत्वात्पदार्थस्य । तेनेहसंज्ञाविधौ नखमसिद्धं न कर्त्तव्यम् ।

न मु टाविधौ ॥५।३।२६॥ मुभावो नासिद्धः सिद्ध एव टाविधौ कर्त्तव्ये । टा इत्येतस्य स्थाने टा इत्येते रिमिश्च यो विधिः स टाविधिरुच्यते । अमुना । अट् टा इति स्थिते व्युदाद्यत्वे “दादुर्दो मोऽसोऽसेः” [५।३।८८] इति उत्वे मत्वे च कृते मुभावस्याऽसिद्धत्वात् “आहो नाऽस्त्रियाम्” [५।२।११३] इति मुलक्षणो नाभावो न स्यात् । सिद्धत्वाद् भवति । नमावेऽपि कृते मुभावस्यासिद्धत्वात् । “यज्यतो दीः” [५।२।६६] “सुपि” [५।२।८७] इति दीत्वं प्राप्नोति । तच्च न भवति । टाविधाविति किम् ? इह अमुना नपि “सुपीकोऽचि” [५।१।५२] इगभावाद्भुन्न भवति । नेति योगविभागविधिसिद्धिः । तेन “इल्लुकः” [४।४।२३] इति नखे कर्त्तव्ये द्वयोः स्फुसंज्ञामाश्रित्य स्फादिसखं सिद्धम् । मग्नः । मग्नवानिति । “धुटः प्राप्तौ रचुत्वं सिद्धम्” । अट् रच्योतति । अटतीत्यट् । जश्त्वं डकारः । सकारश्चुत्वस्यासिद्धत्वात् । “इनाद् धुट् सोऽश्चः” [५।४।१३] इति धुट्स्याम् । रच्योततिः सकारादिः पठ्यते । तथा “अहो नखे कर्त्तव्ये रिरेको सिद्धौ” । अहोभ्याम् । अहोभिः । अहोर्गच्छति । मृदन्तनखं स्यात् । नखं इति विशेषणादस्यवासिद्धत्वम् । दीर्घाश्चस्तेति “मोडः” [४।४।५] “वेऽको” [४।४।६] इति दीत्वम् । अहन् । “रोऽसुपि” [५।३।७८] इति वचनं किविपर्ये साव-काशम् । हे दीर्घाश्चोऽवेति । हे अहः ।

नखं मृदन्तस्याको ॥५।३।३०॥ मृदन्तस्य नखं भवत्यको परतः । पदस्येति वर्तते । किवर्जिते स्वादौ पदस्य योऽवयवो मृदन्तस्तस्य नखं भवतीत्यर्थः । राजभ्याम् । राजभिः । राजत्वम् । राजता । राजतरः । राजतमः । मृदग्रहणं किम् ? जिनेन्द्रान् बन्देरन् । अस्ति पदस्य नकारोऽन्तश्च न तु मृदः । किन्तु विभक्त्याः । अन्तस्येति किम् ? नटाभ्याम् । वनाभ्याम् । अथ पदस्यावयवो नकारो न तु मृदन्तः । पदस्येति किम् ? राजानी । राजानः । राजे । अस्ति मृदन्तो नकारो न तु पदसंज्ञकस्य । अकाविति किम् ? हे राजन् । अकाविति पदार्थे नञ् । तेन “नपुंसके वा प्रतिषेधः” । हे चर्मन् । हे चर्मैति । अकाविति नखप्रतिषेधवचनं आपकम् । त्यस्ते त्याधयन्याये-न कृद्घृक्षिद्यमान्मृत्संज्ञा न निवर्तते । भ्रांज्ञा च न भवति । तेन राजेश्वरं राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इत्यत्र च नखं सिद्धम् । “अनोज्ज्वलसम्बन्धात्” [४।४।१२२] इति भकार्थं च न भवति । हे राजवृन्दारक इत्यादौ क्यन्तयोरनभिधानाद्यसप्तमुद्रायातिकः । तत् उत्तरपदे नखं न वक्तव्यम् ।

ममोङ्भयो मतोर्वोऽयवादेः ॥५।३।३१॥ मकारान्तात् अवर्णान्तात् मकारोङ् । अवर्णोऽहो भवन्ताच्च यवादिर्वर्जितान् उत्तरस्य मतोर्वकारादेशो भवति । मृदो हि मनुर्विहितस्ततः “परस्यादेः” [१।१।५१] इति वत्वम् । तुम्बान् । गुणवान् । विधावान् । मोडः । शमीवान् । दाडिमीवान् । यशस्वान् । भास्वान् । भयः । मरु-

त्वान् । तडित्वान् । उदङित्वान् । “मत्स्ये स्तौ” [१।२।१०८] इति भर्त्तृश । ममोङ्क्षय इति किम् ? अग्निमान् । अयवादेरिति किम् ? यवमान् । ऊर्मिमान् । भूमिमान् । कुमिमान् । मोरु इति । ककुब्धान् । गद्यमान् । हृत्तिमान् । भव इति । शिखिमान् । इक्षुमती । द्रुमती । मधुमात्राम गिरिः । “स्तौ” [५।३।३२] इति प्राप्तेः प्रतिषेधः । आकृतिगणोऽयम् । वृमते इदं नामैतमिति बहिरङ्ग अकारः । तेन क्त्वाभावः । पदविषयस्य क्वम् । ततः शीलवतः शीलवद्भ्य इति च सिद्धम् ।

खौ ॥५।३।३२॥ खुविपये च मतोर्वो भवति । कपोवती । ऋषीवती । मुनीवती । “नद्यां मनुः” [३।२।३५] इति चातुरर्थिको मनुः । “मसौ वङ्गच्छरादेरनजिरादेः” [५।३।२२२] इति दीत्वम् । आसन्दीवाग्राम ग्रामः । आसन्दीवद्विस्थलम् । आसनपर्याव आसन्दीशब्दोऽस्ति । तदुक्तम्—अदुम्बरी राज आसन्दी भवति ।

चर्मणवदष्टीघञ्चक्रीवत्कलीवद्गुमण्वत् ॥५।३।३३॥ चर्मण्वत् अष्टोवत् चक्रीवत् कक्षीवत् गुमण्वत् हृत्केतो शब्दा निपात्यन्ते खुविपये । चर्मणः परस्य मतोर्नुङागमो निपात्यते मृदन्तनगम् । “अट्कुप्वाङ् व्यवाये” [५।४।८६] इति खत्वम् । चर्मण्वती नदी । चर्मण्वतीत्यन्यत्र । अस्तनोऽष्टीभावो क्वं च निपात्यते । अष्टीवानिति कायैकदेशसंज्ञा । अस्त्रिमानित्यन्यत्र । चक्रस्य ईत्वम् । चक्रीवान् । चक्रवानित्यन्यत्र । कक्ष्याया जिर्निपात्यः । “हलः” [५।४।२] इति दीत्वम् । कक्षीवान् । कक्ष्यावानित्यन्यत्र । लवणस्य रुग्णभावो निपात्यते । रुग्णवाग्राम पर्वतः । लवणवानित्यन्यत्र । रुमन् इति शब्दान्तरं वा मतोर्नुङर्थे निपातनम् ।

उदन्वानुद्धौ ॥५।३।३४॥ उदन्वानीति निपात्यते । उदकस्य उदन्भावो मतो निपात्यते । यत्र प्रयोगो दृश्यते । उदन्वानुद्धिः । उदन्वानाश्रमः । अयं तु विशेषः । यदा उदकमस्थास्तोति उदकसम्बन्धमात्र-विशेषा तदा उदकवान् धटः । यदा तु उदकं श्रेयमस्मिन्नस्ति तदा उदन्वान् वट इति ।

राजन्वान् सौराज्ये ॥५।३।३५॥ राजन्वानिति निपात्यते सौराज्ये गम्ये । राजाऽस्मिन्नस्ति प्रशंसाया-मर्थे मनुस्तरपेद्विपात्यते । राजन्वानदेशः । राजन्वती पृथिवी । मुराज्ञो भावः सौराज्यम् । शोभनेन राजा सम्बन्धस्तद्भावे राजवान् इति भवति ।

कृपो रो लोऽकृपादेः ॥५।३।३६॥ कृपेर्धौ रेफस्य लकारादेशो भवति कृपादीन् वर्जयित्वा । र इति एपि कृते यः केवलो रेफः वर्णैकदेशा वर्णद्वयेण गृह्यन्ते इति यश्च ऋकारस्थः तयोरेहि सामान्येन ग्रहणम् । कल्पा । कल्पिष्यते । कल्पयति । क्लृप्तः । क्लृप्तवान् । “लुटि च क्लृपः” [१।२।८६] इत्यादि च शापकम् ऋका-रस्यस्यपि रेफस्य लश्रुतिर्भवतीति । अकृपादेरिति किम् ? कृपा । मिदादित्वाद्ङ् । कृपणः । कर्पूरादय औणा-दिकाः । ये तु प्रतिषेधं नारभन्ते कृपेः कृतजित्वस्य लाक्षणिकत्वादङ्गणमिति तेषां क्तनगौरवं स्यात् ।

रोरयतौ ॥५।३।३७॥ रोयौ रेफस्तस्यायतिपरस्य लत्वम् । प्लायते । पलायते । ननु चायतिपरत्वं रेफस्य न सम्भवति । “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इत्येकदेशस्य स्थानिवद्भावान् । वचनप्रामाण्यपदे-केन व्यवधानमाश्रितम् । एवं च पत्ययते इत्यत्राऽप्यदोषः । सङ्घातेन पुनर्व्यवधानमेव प्रत्ययने इति । ननु वचनस्यावकाशो निलयनं दुलघनमिति भविष्यति । न शक्यमेवम् “पूर्वत्रासित्वम्” [५।३।२७] इति रेफस्या-सिद्धत्वाल्लत्वाभावः । निरयणम् । दुरयणमिति । यदि लत्वं दृश्यते कपिलकादिषु द्रष्टव्यम् ।

ग्री यङि ॥५।३।३८॥ गिरते रेफस्य लत्वं भवति । निवेगिल्यते । निवेगिल्यते । निवेगिल्यते । “लुपसङ्” [२।१।२१] इत्यादिना यङ् । निवेगित्वाच्च । “ङ्को ङी वीङ्ङः” [५।३।८५] इति दीत्वम् । विकरणान्तनिर्देशो गृणातेर्निवृत्त्यर्थः । जेगीर्यते । यङीति किम् ? निगीर्यते ।

विभाषाऽङि ॥५।३।३९॥ गिरते रेफस्य विभाषया लत्वं भवति अजादी परतः । गिरति । गिलति । निगरणम् । निगलनम् । व्यवस्थितविभाषेयम् । “प्रायस्ते नित्यं लत्वम्” [वा०] । गलः कण्ठः । “विषे न

भवत्येव" [वा०] । गरः । निगार्यते । निगाल्यते इत्यत्र "परेऽन्तः पूर्वविधौ" [१११५७] इति सेः स्थानिवद्भावादजादित्वम् । ननु "पूर्वशासिद्धे न स्थानिवत्" [प०] इति प्रतिषेधः प्रान्नोति । "नेर्य परिभाषास्फादि-खलत्वणत्वेषु व्याप्रियते" । अथवा वर्णाश्रयमन्तरङ्गलत्वमगाधयं बहिरङ्गं शिखम् । इयमपत्ते विभाषा । प्राप्त नित्यो विधिः । निजेगिलः । "धोः स्वरूपग्रहणे तस्यविज्ञानम्" [प०] इति मृदस्त्ये न भवति । गिरो गिर इति । विभाषेति योगविभाषादिष्टे कपिलकादौ विकल्पः । कपिरकः । कपिलकः । तिथिरीकम् । तिथि-लीकम् । रोमाणि । लोमानि । "संज्ञाङ्गन्दसोः पूर्वो विधिः" [प०] । "ङलयोः समानविषयत्वं स्मर्यते" [प०] । व्याडः । व्यालः । वारः । वालः । मूरम् । मूलम् । रघुः । लघुः । अरे । अले । असुरः । असुचः । अहुरिः । अहुलिः ।

परेर्षाद्व्योने ॥५१३४०॥ परे रेफस्य विभाषया लर्त्वं भवति वशब्दे अङ्गे योगे च परतः । पग्निः । पलिवः । "धनान्तर्घण" [२३१६६] इत्यादौ परिघशब्दो निपातितः । पर्यङ्कः । पन्थङ्कः । परियोगः । पलियोगः ।

स्फान्तस्य खम् ॥५१३४१॥ स्फान्तस्य पदस्य खं भवति । गोमान् । कुतवान् । इह श्रेयान् भूपान् इति रिक्त्वस्यासिद्धत्वात्स्फान्तस्य खं भवति । इहापि तर्हि पयः शिर इति रिक्त्वस्यासिद्धत्वाज्जश्चं प्रान्नोति । "येन नाप्राप्ते तस्य बाधनम्" [प०] इति रिक्त्वं जश्त्वस्य बाधकमेव । स्फान्तखे पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च रिक्त्वमारभ्यते । दध्यत्र । मध्वत्रेति बहिरङ्गस्य यङ्गादेशस्यासिद्धत्वात्स्फान्तखं न भवति । सप्त इति किम् ? वाक् । अन्तग्रहणं किमर्थम् ? आदौ मध्ये च पदावयवस्य स्फस्य खं मा भूत् । "येनालि विधिस्तदन्ताद्योः" [१११६७] इति तिङ्गे स्वप्नार्थं चान्तग्रहणम् । पदस्थेति किम् ? गोमन्तो । गोमन्तः ।

रात्सः ॥५१३४२॥ स्फान्तस्य पदस्य यो रेफस्त्वस्मादुत्तरस्य सकारस्य खं भवति । "अन्तेऽलः" [१११४६] इत्यन्तस्य । चिकीः । जिहीः । किमपि अलः खे च कृते पदस्यासिद्धत्वात् सखम् । "पूर्वशासिद्धे च न स्थानिवत्" [प०] इत्यजादेशस्य न स्थानिवद्भावः । एवं मातुः । पितुः । "कत उल्" [४१३६८] इत्युत्वम् । द्वयोरैकत्वम् । रन्तत्वम् । "शिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः" [प०] रेकनियमोऽयम् । रादुत्तरस्य सकार-स्यैव खं नान्यस्य । न्यमार्तं । ऊर्कः । लङ्गे किमपि च रूपम् । रादेव सकारस्येत कृत्मात्र नियमः । व्याख्या-नात् । उरःप्रभृतिषु पुमानित्यस्य कृतसखस्य निर्देशाद्वा ।

धि ॥५१३४३॥ धकारादौ च परतः सख्यं खं भवति । आध्वम् । आशाध्वम् । सकारस्य जश्त्वंना-प्येतत्सिध्येत् । श्रुतिकृतविद्योपाभावादिति चेत् ? इह दोषः स्यात् । अलविध्वम् । आलविध्वम् । "वेटः" [५१३६९] इति वा धस्य दत्वम् । यद्यत्र सखं न स्यात् ; तदा सेः पत्वे जश्त्वे च ङकारे धस्य च दत्वं दत्वाभावपक्षेऽपि धकारो न श्रूयेत । अकाराधिपक्षितं शिरः इत्यत्रापि अविशेषेण सखं भवति । "दादेशोर्ध्वः" [५१३४६] इत्यतो धुग्रहणं सिंहावलोकनेन संबध्यते । तेन धोर्विहिते धीत्यभिसम्बन्धादिह न भवति । पयो धावति ।

भलो भलि ॥५१३४४॥ भल उत्तरस्य सकारस्य भलि परतः खं भवति । अभित्त । अभित्थाः । "सिलिङ्गदे" [१११८५] इति कित्वादेशप्रतिषेधः । अवात्तामिति वसतेस्तसस्ताम् । सखस्यासिद्धत्वात् "स्यगे सः" [५१३५३] इति तत्वम् । भल इति किम् ? अमंस्त । भलीति किम् ? अभैत्सम् ।

प्राद्गोः ॥५१३४५॥ प्रान्ताद्गोरुत्तरस्य सकारस्य खं भवति भलि परतः । अकृत् । अकृथाः । अकृत् । अकृथाः । प्राद्विति किम् ? अग्नोष्ट । अग्नोष्ट । गोरिति किम् ? अलाविष्टम् । अलाविष्टम् । अस्ति प्रादिष्टः परः सकारो न तु गोः । भलीति किम् ? अकृत्तातान् । अकृत्तात । "उः" [१११८६] इति

किञ्चादेःप्रतिषेधः । सिंहावलोकनेन धोरिति किम् ? द्विष्टराम् । द्विष्टमाम् । “द्विष्टिचतुर्भ्यः सुच्” [४।२।२५] तदन्तात् अनिशयिते ततमौ “किमेमिङ्मिङ्मात्” [४।२।२०] इत्यादिनाऽम् । “प्राद्वृत्त्यमिङ्गस्ति” [५।४।७३] षत्वम् ।

स्फादेः स्कोऽन्ते च ॥५।३।४६॥ सकारस्य ककारस्य च स्फादेः भलि परतः पदान्ते च यं भवति । भलि पदस्यावयवः पदान्ते च यः स्फस्तदाद्योः स्कोः खं भवतीत्यर्थः । ल्यनः । ल्यनवान् । साधुलक् । तष्टः । तष्टवान् । काष्ठतट् । आचष्टे मुनिर्धम्मम् । वात्यर्थः । शक्यर्थः । इत्यत्राजदेशस्य स्थानिवद्भावान्न स्फादि-
त्वम् । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” [५०] इतीदं “स्फादिस्त्वत्त्वत्वेषु नास्ति” [५०] इत्युक्तम् ।
अथवा बहिरङ्गस्य यणादेशस्यासिद्धत्वान्न स्फादित्वम् । काष्ठशक्स्थानेस्वत्र गोरधिकारात् सिंहावलोकनेन
धोरिति वा न भवति । स्फादेरिति किम् ? न्यस्तः । शक्तः । भलीदं द्रष्टव्यम् । स्क इति किम् ? तर्नति ।
अन्ते चेति किम् ? तद्धिता ।

चोः कुः ॥५।३।४७॥ चवर्गस्य कवर्ग आदेशो भवति भलि पदान्ते च । वक्ता । वक्तुम् ।
वक्तव्यम् । वाक् । “क्वपि त्रवि [२।२।१५७ वा०] इत्यादिना क्वपि दीत्वमजित्वं च । पक्ता । पक्तुम् ।
पक्तव्यम् । साधुपक् । ऋज्वन्त्यत्र अनुस्वारस्य परस्वत्वस्य चासिद्धत्वात् ञकार एव नास्ति । चकारे भलि
कुत्वं न भवति । “युजिक्कुञ्चः” [२।२।५७] इति निपातनान्नखं न भवति । रेफरहितस्य धोः कुञ्चिसमानार्थस्य
नखं भवत्येव । निकुञ्चिरिति ।

हो ढः ॥५।३।४८॥ हकारस्य ढकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । सोढा । सोढुम् । सोढव्यम् ।
ढत्वे कृते परस्य “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] इति षत्वम् । ढत्वम् । “ढो ढे खम्” [५।४।१७] “सहिवहोऽस्यौः”
[४।३।२१७] इत्योत्वम् । अन्ते । परिपट् । सट् विचीदं रूपम् । अन्यथा “नहिवृत्तिवृषिष्यधिरुचिसहि-
तनिषु कौ” [४।३।२१६] इति दीत्वं स्यात् । एवं बोढा । बोढुन् । गुणघट् । विचीदं क्वपि जित्वं स्यात् ।
पृथग् योगकरणमुत्तरार्थम् ।

दादेर्धोर्धः ॥५।३।४९॥ दकारादेर्धोर्धकारस्य षकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । दग्धा । दग्धुम् ।
दग्धव्यम् । कर्मन्धनम् । दोग्धा । दोग्धुम् । दोग्धव्यम् । गोधुक् । पदान्ते ऋवे कृते “एकाचो वशो”
[५।३।५४] इत्यादिना भवन्तस्य वशो भव्यम् । धोरिति किम् ? दामलिट् । धुपाठे यो दादिः स दादेरित्यनेन
गृह्यते । तेन अधोक् इत्यत्र अडागमेऽपि सति दादित्वं सिद्धम् । इह च दामलिङ्गतेः क्वपि षत्वं न भवति ।
दामलिङ्गिति ।

वा द्रु हमुह्णुहृष्णिहाम् ॥५।३।५०॥ द्रुह मुह धुह णिह इत्येतेषां हकारस्य वा षत्वं भवति भलि
पदान्ते च । द्रोघ्रा । मित्रध्रुक् । द्रोढा । मित्रध्रुट् । उन्मोघ्रा । उन्मुक् । उन्मोढा । उन्मुट् । स्नोघ्रा ।
उत्तुक् । स्नोढा । उत्तुट् । स्नेघ्रा । चेलस्निक् । स्नेढा । चेलस्निट् । द्रुहेः पूर्वेण प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते
विकल्पः ।

नहो धः ॥५।३।५१॥ नहोर्धकारस्य धकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । नद्धम् । नद्धव्यम् ।
उपानत् । “नहिवृत्ति” [४।३।२१६] इत्यादिना दीत्वम् । “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] परस्य धत्वं यथा स्यादिति
धकारादेशः कृतः ।

आहस्थः ॥५।३।५२॥ आहो हकारस्य थकारादेशो भवति भलि परतः । धर्ममाथ । नुत्यमाथ ।
“भुव आहश्च” [२।४।७०] इति भुव आहादेशो लडादेशस्य च सिपस्थदेशः । अनेन हस्य षत्वम् ।
“खरि” [५।४।१३०] इति चर्त्वम् । आहस्तकारादेशेनैव सिद्धे थकारस्य “खरि” इति चर्त्वं आपकम् ।

आहो ब्रूयद्गणेन ग्रहणात् ब्रुव ईष्मा भूत् । सलादिवचनाद् वा न भवति । पदान्तत्वं नास्ति । भलीत्येव ।
आहूतुः । आहुः ।

अश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजलृशां षः ॥५१३॥ अश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राज
इत्येतैषां चकारशकारयोश्च यो भवति श्लि पदान्ते च । वषा । मूलवृट् । स्फादिसखम् । “ग्रहिज्यावमि”
[५१३।१२] इत्यादिना जित्वम् । भ्रष्टा । धानाभृट् । सष्टा । तीर्थसृट् । माप्या । कर्मपरिमृट् । यया । देवयट् ।
विचीर्त् रूपम् । राजिभ्राजोः क्तिरेव सलादिः । राष्टिः । भ्राष्टिः । सुराट् । सुभ्राट् । विभ्राट् । प्रष्टा ।
धर्मप्राट् । “क्लिपि वचिप्रच्छायतस्तु कटप्रलुप्रीणां दीरजिरच” [५१३।१५७ पा०] इति क्लिपि दीन्वाक्त्वे ।
“छृषोः शूङ् छे च” [५१४।१७] इत्ययं विधिवक्तः । लिशि । लेष्टा । धर्मलिट् । विश । वेष्टा । स्वर्गविट् ।

एकान्नो वशो भष् भषः रध्वोः ॥५१३॥ धोरेकाचो क्षपन्तस्य योऽवयवस्तस्य यथामङ्ग्यं
भष्भावो भवति भलि सकारे ध्वशब्दे च परतः पदान्ते च । भोत्स्यते । अभुद्वम् । “सिलिङ् दे” [१११।८५]
इति क्त्वंम् । धर्मभुत् । भोक्ष्यते । अयुधम् । गोधुक् । निषोद्यते । न्यधुद्वम् । मन्त्रधुट् । एकाच
इति किम् ? दामलिहमिच्छति दामलिह्यतेः क्लिप् । दामलिट् । अस्त्येकाग्रहणे भषन्तस्य धोरवयवस्य वशो
भष् अत्रापि स्यात् । वश इति किम् ? क्रोत्स्यति । भपन्तस्येति किम् ? दास्यति । रध्वोरिति किम् ? योद्धा ।
योद्धुम् । धकारस्य वकारपरस्य ग्रहणं किम् ? दादद्धि । दध धारणे इत्यस्य यटुपि लोटि “हुभ्रस्यो हेर्धिः”
[५१४।६४] इति धिभावे रूपम् । अयुद्ध । अयुद्धाः इत्यत्र “भली भलि” [५१३।४४] इति सखे कृते “त्यस्ये
त्याश्रयम्” [१११।६३] इति क्त्वाच्च भवति । “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [५०] इत्यदोषः ।

धः ॥५१३॥ धो धातोर्भषन्तस्य वशो भष् भवति भलि परतः । धत्ते । धत्स्य । धद्वे ।
धद्वम् । धत्तः । धत्थः । “पूर्वश्रसिद्धे न स्थानिधत्त” [५०] इति अजादेशस्य न स्थानिधत्तावः । वचन-
सामर्थ्याद्वा श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भषन्तता । धत्थापि जश्त्वमाश्रयस्तिद्धम् । “प्रकृतिग्रहणे यङ् भुवन्तस्यापि
ग्रहणम्” [५०] । धात्तः । धात्थः । भषन्तस्येत्येव । दधाति । दधासि । भलीत्येव । डधे । दधते ।

तथोर्धोऽधः ॥५१३॥ भषन्तादुत्तरयोः तकारथकारयोर्धकारादेशो भवत्यधधातेः । दोग्धा ।
दोग्धुम् । अदुग्ध । अदुग्धाः । योद्धा । योद्धुम् । अयुद्ध । अयुद्धाः । अधः इति किम् ? धत्तः । धत्थः ।

भली जश् ॥५१३॥ भली जश् भवति पदान्ते वर्तमानस्य । पदमध्ये “भली जश् भलि”
[५१४।१२८] इति वक्ष्यति । भलीति निवृत्तम् । नागत्र । मज्जुलिङ्ग । अग्निचिद्व । भलीत्यस्य निवृत्तिः
किम् ? वस्ता । वेष्टव्यम् ।

षट्ठोः कः सि ॥५१३॥ पकारदकारयोः वकारादेशो भवति सकारादौ परतः । वेक्ष्यति । तोक्ष्यति ।
दस्य । लेक्ष्यति । वक्ष्यति । लीति किम् ? पितृष्टि ।

द्रात्तस्य तो नः पूर्वस्य दोऽपृमूर्च्छिमदाम् ॥५१३॥ दकाररेकाभ्यां परस्य तसञ्ज्ञकस्य तका-
रस्य नकारादेशो भवति पूर्वस्य च दकारस्य पृमूर्च्छिमदो वर्जयित्वा । भिन्नः । भिन्नवान् । छिन्नः । छिन्नवान् ।
आस्तीर्णम् । अवगूर्णम् । द्रादिति किम् ? शक्तः । शक्तवान् । तसञ्ज्ञकस्येति किम् ? कर्त्ता । हर्त्ता । त इति
किम् ? मुदितम् । चरितम् । द्रादित्यनेन तकारो विशेष्यते । स चेत्तसञ्ज्ञ इति । तेनेदा व्यवधाने न भवति । पूर्व-
स्येति किम् ? परस्य मा भूत् । भिन्नवद्भ्याम् । भिन्नवद्भिः । “अधिकृत्य कृते ग्रन्थे” [३।३।६१] इत्यादि
निर्देशात् “हृह वर्णकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते” । तेन हनम् कृतमित्यादि सिद्धम् । कृतस्याप्ययं कार्त्तिरिति
बहिरङ्गो रेफः । अपृमूर्च्छिमदामिति किम् ? प्रपूर्तः । मूर्त्तः । मत्तः ।

स्फादेशतो धोर्यखतोऽध्याख्यः ॥५१३॥ स्फादिर्यो धुः आकारान्तः यएवत् तस्मात्परस्य तत-
कारस्य नो भवति ध्या ख्या इत्येतौ वर्जयित्वा । प्रद्राणः । प्रद्राणवान् । स्तानः । स्तानः । ध्या इत्येतस्य

प्रतिषेधात् प्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रिता । स्कादेगिति किम् ? यातः । यातवान् । आत इति किम् ? च्युतः । प्लुतः । धोरिति किम् ? निर्यातः । दुर्यातः । यएवत इति किम् ? स्नातः । प्लातः । अभ्याख्य इति किम् ? ध्यातः । ख्यातः ।

ल्वादेः ॥५।३।६१॥ लू इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य ततकारस्य नो भवति । लूनः । लूनवान् । लीनः । लीनवान् । लू इत्यतः प्रभृति वृद्धिर्न कृत्पर्यन्ता ल्वादयः । तत्र स्तुभित्येवमादिभ्यो नत्वं पूर्वैर्गैव सिद्धम् ।

ऋतश्च केः ॥५।३।६२॥ ऋकारान्तेभ्यो ल्वादिभ्यश्च परस्य केस्तकारस्य नो भवति । ल्वादिभ्यो अत्ये ऋद्ग्रहणं प्रयोजयन्ति । कीर्णिः । गीर्णिः । शीर्णिः । ल्वादिभ्यः । क्निः । लीनिः । मूर्णिः । चूर्णिः । घूर्णिः । इति त्रयं चित्यम् ।

ओदितः ॥५।३।६३॥ ओकारेतरश्च धोः परस्य ततकारस्य नो भवति । लग्नः । लग्नवान् । उद्विग्नः । उद्विग्नवान् । आपीनः । आपीनवान् “प्यायः पी” [४।३।२३] “आङः” [४।३।२४] इति पीमायः । आति-
शेक्षाः स्तारकः ओदितः । दूष् नाशिप्रत्यय इत्यादयो व्रीड् वृणोत्यर्थे इत्येवमन्ता दैवादिकाः । रूनः । रून-
वान् । दूनः । दीनः । उद्धीनः इत्यादि ।

क्षीणः ॥५।३।६४॥ क्षी इत्येतस्मान् कृतदीत्वात्परस्य ततकारस्य नो भवति । तपरकरणमन्ते-
हार्थम् । प्रक्षीणः । प्रक्षीणवान् । “तेऽप्ये” [४।४।५६] इति दीत्वम् । यदा दीत्वं तदाऽनेन नत्वम् । क्षीणोऽसि
जात्यम् । “वा दैन्याक्रोशे” [४।४।६०] इति दीत्वम् । दीत्वनिर्देशः किमर्थः ? क्षितोऽसि जात्यम् ।

श्याञ्चिचोऽस्पर्शनिपादानाजये ॥५।३।६५॥ श्या अञ्चि दिव इत्येतेभ्यः परस्य ततकारस्य नो
भवत्यस्पर्शं अनपादाने अजये यथासङ्गमम् । शीर्त्तं घृतम् । शीने मेदः । “द्रवघनस्पर्शयोः इयः” [४।३।१६]
इति जित्वम् । “हजः” [४।४।२] इति दीत्वम् । अजित्वपक्षे “स्कादेरातो” [५।३।६०] इति नत्वं सिद्धम् ।
अस्पर्श इति किम् ? शीर्त्तं वर्तते । शीतो वातः । शीतमुदकमित्यत्र स्पर्शमिषानद्वारेणैव द्रव्ये वृत्तिः । तेन
नत्वाभावो जित्वं च सिद्धम् । स्पर्शो गुणो गृह्यते । ननु “स्पृश उपतापे” इत्येतस्य स्पर्शो रोगः । तत्र प्रतिशीनः ।
कथं ज्ञायते “द्रवघनस्पर्शयोः” [४।३।१६] इति जित्वे सिद्धे “प्रतेः” [४।३।२०] इति वचनात् । अञ्च ।
समकनौ शकुनेः पक्षी । अगपादान इति किम् ? उदक्तमुदकं कृपात् । व्यक्त इत्यञ्जेः प्रयोगः । दिव । आवूनः ।
आवूनवान् । “द्वोः शृणुष्टे च” [४।४।१७] इत्यूट् । अजय इति किम् ? घृतं वर्तते । क्रीडायामन्युपमानाद्विजि-
गीवा गम्यते ।

निर्वाणोऽवाते ॥५।३।६६॥ निर्वाण इति निपात्यते अवातेऽर्थे । यदि ध्वर्थो वाताधारो न भवतीत्यर्थः ।
निःपूर्वाद्वातेः परस्य ततकारस्य नत्वं निपात्यते । निर्वाणो भुनिः । निर्वाणो दीपः । “धिगत्यर्थाञ्च” [२।४।५८]
इति कर्तरि क्तः । अवात इति किम् ? निर्वातो वातः । निर्वातं वातेन । वातोऽत्र निर्वातक्रियायाः आधारः ।
निर्वाणो दीपो वातेनेत्यत्र दीपाधारो ध्वर्थो वातस्तु करणं तेन नत्वम् ।

शुषिपच्चेः कौ ॥५।३।६७॥ शुषि पचि इत्येताभ्यां परस्य ततकारस्य ककारवकागदेशौ भवतः ।
शुष्कः । शुष्कवान् । पक्वः । पक्ववान् ।

क्षौ मः ॥५।३।६८॥ क्षौ इत्येतस्मात्परस्य ततकारस्य मकारादेशो भवति । क्षामः । क्षामवान् ।

प्रस्त्यो वा ॥५।३।६९॥ प्रपूर्वात्स्त्यायतेः परस्य ततकारस्य मकारादेशो वा भवति । प्रस्तीमः । प्रस्तीम-
वान् । प्रस्तीतः । प्रस्तीतवान् । “मपूर्वस्य स्त्वः” [४।३।१८] इति जिः । “ह्यङः” [४।४।२] इति दीत्वम् ।
यदा मत्वं न भवति तदा “स्कादेरातो धोर्येवतः” [५।३।६०] इत्यस्यासिद्धत्वात् पूर्वं अ । कृते विदतनिमित्तत्वा-

लत्वं न भवति । प्रग्रहणं किम् ? केवलान्यगिपूर्वाच्च न भवति । स्यानः । संस्यानः । लै स्तै इत्यनयोः परस्य ग्रहणं पूर्वस्य सत्त्वाभावात् ।

कुल्लः ॥५१३।७०॥ कुल्ल इति निपात्यते । कुल्लः । कुल्लवान् । अफला विशरण इत्यस्मात्परस्य तत्कारस्य लत्वं निपात्यते । “ति” [५।२।१८६] इति उङ् उत्वम् । कथं फलितः । फलान्यस्य सञ्जातानीति द्रष्टव्यम् । अथवा फल निष्पत्ताश्रित्यस्य इडभाव उङ् उत्वं लत्वं च निपात्यते । कुल्ल विकसन इत्यस्य पचाद्यभि रूपमिति चेत्, नैवं फलेस्ते लत्वमन्तरेण प्रयोगः स्यात् ।

समुक्कः ॥५१३।७१॥ सम् उङ् इत्येताभ्यां परः कुल्लो निपात्यते । समुक्कः । समुक्कवान् । उत्कुल्लः । उत्कुल्लवान् । “सिद्धे सत्याश्भो नियमार्थः” [५०] । समुक्कयामेव गोः । इह मा भूत् । प्रफुल्ल लता ।

क्षीवकृशोल्लाघाः ॥५१३।७२॥ क्षीव कृशः उल्लाघ इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते । क्षीवादिभ्यः क्ते कृते तकारस्य खं निपात्यते । इष्टि वा कृते इत्शब्दस्य । क्षीवः । कृशः । उल्लाघः । अचि इगुङ्लक्षणे के च कृते रूपं सिद्ध्येत् । किं तु कृते क्ते अनिष्टं स्यात् । लाघेर्गिपूर्वस्य ग्रहणं किम् ? अस्यैव गिपूर्वस्य निपातनमन्यस्य मा भूत् । प्रक्षीवितः । परिकृशितः । उदिति विशेषनिर्देशात् अन्यगिपूर्वस्य न भवति । प्रोल्लघितः । परिकृशः इत्यादिषु निपातितस्य शब्दस्य पश्चात् प्रादिसंविधिः । परिगतः कृशः परिकृशः । प्रगतः क्षीवः प्रक्षीवः । नाय गिसञ्ज्ञा । यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गिसञ्ज्ञा भवन्ति ।

व्राघ्राहीनुदोन्दविन्तेर्विभाषा ॥५१३।७३॥ वा घ्रा ही नुद उन्द विन्ति इत्येतैभ्यः परस्य तत्कारस्य विभाषया नत्वं भवति । व्रातः । व्राणः । घ्रातः । घ्राणः । ह्रीतः । ह्रीणः । नुत्तः । नुन्नः । समुत्तः । समुन्नः । विन्तः । विन्नः । ह्री इत्येतस्याप्राप्ते इतरेषां प्राप्ते नत्वं विकल्प्यते । विन्तेरिति श्मभिकरणनिर्देशात् “विद विचारणे” [५०] इत्यस्य ग्रहणम् । तदुक्तम्—

वेत्तेस्तु विदितो ज्ञेयो विद्यतेर्वित्त इत्यते ।

विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च वित्तभोगे तु विन्दते ॥

विभाषेति व्यवस्थितविभाषाविज्ञानम् । तेन—

देवव्रातो गच्छो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः ।

मिथस्तेन विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥

इति सिद्धम् । देवैस्त्रातः देववातः । सञ्जावामपि व्रातेति भवति । प्राण्यङ्के गलः । विपे गर एव । नक्के ग्राहः । “विभाषा ग्राहः” [२।१।११७] इति णः । आदित्यादिषु पचाद्यजेव ग्रहः । इतिदोगे च सद्विधिर्न भवति वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । “लक्षणाहेत्वोः क्रियायाः” [२।२।१०४] इति शतृशानौ न भवतः । “न वा साकाङ्क्षे” [२।२।१४] इत्यनो मसङ्ककलुत्या विभाषाऽनुवर्तते । अनितियोगे नित्यं भवतः । अर्जयन् वसति । अधीयानो वसतीति । ननु चेतिशब्देनैव हेत्वर्थस्य द्योतितत्वात् वर्षतीत्यादौ कथं सद्विधिः ? इदं तद्दुर्गुदाहरणम् “विभाषा लृटः सत्” [२।३।१३] इत्यनेन करिष्यामीति व्रजति क्रियायां तदर्थ्यामितियोगे लृटः सद्विधिर्न भवति । अत्रान्तसमानाधिकरणे अनितियोगे च सद्विधिः । करिष्यन् पश्येति । वान्तसमानाधिकरणेऽपि विकल्प इति केचित् । करिष्यन् पुरुषः । करिष्यति पुरुषः । वातायने नित्यम् । गवाक्षः । प्राण्यङ्के गोऽङ्गम् । अन्यत्रोभयम् । गोघ्नम् । गवाघ्नम् । व्रतविषये नित्यमित्यम् । संशितव्रतः । विधिप्रतिषेधयोर्द्वयभयरूपेण विविधमवस्थितत्वा विभाषया सर्वं लभ्यते । आकृतौ पदार्थे सर्वं लक्ष्यराशिमेकवमुपनीय विधिः प्रतिषेधश्चेति द्वयमुपदिश्यते । व्यक्ती पदार्थे उभयमत्र भवतीति प्रतिपाद्यते ।

वित्तमित्तदूनगूनपूनसितर्णानि ॥५१३।७४॥ वित्त मित्त दून गून पून सित ऋण इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । वित्तमिति “विदुल्लु लाभे” इत्यस्य भोगे प्रतीतौ च निपात्यते । भोगे वित्तमस्य । बहुवित्तः ।

भुङ्क्ते इति भोगो धनादिप्रतीतौ वित्तोऽयं पुरुषः । विन्नमन्यत् । मित्तमिति निपात्यते शकलं चेत् । भिन्नं सण्डमिथ्यर्थः । उक्तञ्च--

तत्त्वमभिधायकं चेन्नृकशस्यानर्थकः प्रयोगः स्यात् ।

सकलेनाप्यभिहिते न भवति तत्त्वं निगमयामः ॥

मिदि क्रिया शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तम् । प्रवृत्तिनिमित्तं तु शकलवजातिः । क्रियाभिधाने भिन्नं शकल-
मित्यपि भवति । दूनः । गूनः । दुग्धोदीत्वं नत्वं च निपात्यते । पूजो विनाशो नत्वम् । पूना यवाः । विनाश
इति किम् ? पूता यवाः । पूतं धान्यम् । सित इति सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्य भवति । सितो ग्रासः स्वयमेव ।
ग्रास इति किम् ? सितो पाशेन शूकरी । कर्मकर्तृकस्येति किम् ? सितो ग्रासो देवदत्तेन । ऋण इति ऋ इत्येत-
स्मात् उत्तमर्णाधमर्णाद्योर्नत्वम् । ऋणं ददाति । ऋणं धारयति । ऋतमन्यत् ।

कित्यस्य कुः ॥५।३।७५॥ कित्यस्यो अस्य तस्य धोः कवर्गोऽन्तादेशः पदान्ते । घृतसृक् । “सृशोऽनुदके
किः” [१।२।५६] इति किवः । एवं यादृक् । तादृक् । युङ् । नस्य कृत्वम् । त्यग्रहणपरिभाषया “केः कुः”
इति सिद्धे कित्यस्यो अस्तेति वसनिर्देशात् असत्यपि क्वौ क्विविधानेनोपलक्षितस्य क्विवन्तस्यापि भवति ।
सहस्रहमिति । इहापि तर्हि स्यात् । रज्जुसृङ्भ्याम् । रज्जुसृङ्भिः । सृगिति निपातनात् क्यन्तोपलक्षणं
नास्तीत्यदोषः । “नशोर्वा” [वा०] । जीवनक् । जीवनट् । क्वपि क्विचि वा । अथवा जीवस्य नाशो जीवनडिति
सम्पदादित्यात्वम् ।

ससजुषो रिः ॥५।३।७६॥ सकारान्तस्य पदस्य सजुष् इत्येतस्य च रिर्भवति । “अन्तेऽलः” [१।१।४२]
इत्यन्तस्य । जश्वापवाधोऽयम् । सर्वज्ञः साधुभिरासेष्यते । सजः । सह जुषा वर्तते “सहेति तुल्ययोगे”
[१।३।१३] वसः । “वा नीचः” [४।३।१२०] इति राहस्य सो भवति । परि पा न्द जुषते इति ऋक् ।

अहन् ॥५।३।७७॥ अह्नित्यस्य पदस्य रिर्भवति । अहोभ्याम् । अहोभिः । दीर्घाहा कालः । हे दीर्घा-
होऽत्र । अह्निति विकृतनिर्देशात् रेरसिद्धत्वेन नत्वं न भवति । वचनं तु हे दीर्घाहोऽत्रेति सावकाशम् ।
हन्तेर्लङि अह्नित्यस्य लाश्रयिण्यत्त्वान्न भवति । “अह्नो रिविधौ रूपराशिरथन्तरेषूपसङ्ख्यानम्” [वा०] इति ।
रोऽसुपीत्यस्य अघ्ननार्थम् अहोरूपम् । अहोरात्रिः । एकदेशविकृतावादिहापि भवति । अहश्च रात्रिश्च
अहोरात्रः । अहो रथन्तरम् अहोरथन्तरम् ।

रोऽसुपि ॥५।३।७८॥ अह्नित्येतस्य रेफदेशो भक्त्यसुपि परतः । अहर्गच्छति । अहर्ददाति । असु-
पीति किम् ? अहोभ्याम् । अहोभिः । ननु अहर्ददातीत्यत्रापि “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६७] इति सुवस्ति ।
एवं तर्हि रेफविधानसामर्थ्यात् अहो रविधौ उपि त्यलक्षणं न भवति । यत्र तु खे तत्र त्याश्रयेण रित्वम् । दीर्घाहा
निदाघः । हे दीर्घाहोऽत्रेति ।

वसुखंसुध्वंस्वनहुहां दः ॥५।३।७९॥ वस्वन्तस्य पदस्य स्रंसु ध्वंसु अनहुह इत्येतेषां च दकारादेशो
भवति । विद्वत्कुलम् । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भिः । उखाया । स्रंसते उखासत् । उखासद्भ्याम् । उखासद्भिः ।
पर्शध्वत् । पर्शध्वद्भिः । स्वनहुत्कुलम् । अनहुद्भ्याम् । अनहुद्भिः । पदस्येति किम् ? अनहुहा । वस्वा-
दीनामिति किम् ? पयोभ्याम् । अनहुहो दत्वप्राप्तिरितरेषां रित्वम् । “ससजुषो रिः” [५।३।७६] इत्यतः सका-
शान्तग्रहणमनुवर्तते । तेन विद्वानिति नकारस्य न भवति । “येन नाप्राप्ते” इति न्यायेन रित्वस्य दत्वं आधकम् ।
स्वान्तखे प्राप्ते चाप्राप्ते च दत्वमतो विद्वानित्यत्र स्फान्तखस्य न आधकम् । अनहुहो वचनसामर्थ्याद् दत्वं न
भवति । तुमो दत्वं वचनसामर्थ्यात् भवति । पदाधिकारादिहापि भवति । विद्वत्काम्यति । “नः खे”
[१।२।१०४] इति नियमाद् विद्वत्स्यतीत्यत्र भसञ्ज्ञा ।

तिपि धोः ॥५१३॥८०॥ तिपि परतः धोः सकारान्तस्य पदस्य दकारादेशो भवति । अन्वकास्त्वान् । अन्वशास्त्वान् । लङ् । “हल्ङ्वापः” [४१३।५६] इति तिपः खम् । तिपीति किम् ? विवपि चकाः । रित्वा-पवादो योगः ।

सिपि रिर्वी ॥५१३॥८१॥ सिपि परतो धोः सकारान्तस्य पदस्य रिर्भवति दकारो वा । अचकास्त्वम् । अचकास्त्वम् । अन्वशास्त्वम् । अन्वशास्त्वम् । दकारस्य विकल्पपक्षे रित्वं सिद्धमेव । रिग्रहणमुत्तरार्थम् । “दः” [५१३।८२] इत्यत्र पक्षे रिर्वथा स्यात् । तिपि सिपि च परतो धुरेव सम्भवति । धुग्रहणमुत्तरार्थम् ।

वः ॥५१३॥८२॥ धोर्दकारान्तस्य पदस्य सिपि परतो रिर्भवति दकारो वा । अभिनस्त्वम् । अभिनस्त्वम् । अजर्घस्त्वम् । अजर्घस्त्वम् । यथ इत्येतस्मात् यङुन् । द्वित्वादिकार्यम् । लङ् सिप् उङ् एप् “एकावः” [५१३।५४] इत्यादिना भण्भावः । हल्ङ्वापः खम् । अश्त्वं दकारः ।

मो नः ॥५१३॥८३॥ धोर्मकारान्तस्य पदस्य नकारादेशो भवति । प्रताम्यतीति प्रतान् । प्रशान् । प्रदान् । नत्वस्यासिद्धत्वाच्च मृदस्त्वान् । न इति किम् ? विद् । भिद् । धोरित्येव । इदम् । किम् । अनयोर्मकारो-च्चारणत्यावकाशः इदमतीत्यादौ “नः क्ये” [११२।१०४] इति पदत्वाभावः । पदस्येत्येव । प्रशामी । प्रशानः ।

म्योः ॥५१३॥८४॥ धोर्मकारस्य मकारवकारयोश्च परतः नकारादेशो भवति । जङ्गन्वः । जङ्गन्मः । अपदान्तार्थ आरम्भः ।

इको दी योरुङ् ॥५१३॥८५॥ रेफवकारान्तस्य धोः पदस्य उङ् इको दीर्भवति । गीः । आशीः । आङ् पूर्वस्य शासोऽनुदात्तेतो ग्रहणादप्राप्तमित्वम् । “आशिषि” [२।४।१४६] इति निपातनाद्भवति । धुर्वी । धुः । धुर्वः पदान्तस्य वकारस्य ऊठा भवितव्यमिति वग्रहणमुत्तरार्थम् । इक इति किम् ? अविभर्भवान् । मकारे अकारस्त्व मा भूत् । वोरिति किम् ? भिद् । छिद् । उङ् इति किम् ? अविभर्भवान् । चस्य वेमा भूत् । धोरिति किम् ? साधुः । मुनिः । पदस्येत्येव । गिरौ । गिरः ।

हल्यभकुर्धुरः ॥५१३॥८६॥ हल्परौ यौ रेफवकारौ तदन्तस्य धोरुङ् इको दीर्भवति मसंज्ञकं कुर्धुरौ च वर्जयित्वा । आस्तीर्यम् । अवगूर्यम् । दीव्यति । सीव्यति । अभकुर्धुर इति किम् ? भस्य धुरं वहतीति धुर्यः । दिवि भवो दिव्यः । विवन्तस्येदं ग्रहणम् । कूर् । कुर्यात् । कृजो विकृतनिर्देशात् चिकीर्षतीत्यत्र दीत्वं भवत्येव । छुर् । छुर्यात् । आशिषि लिङ् । धोरित्येव । चतुर इच्छति चतुर्यति । दिवमिच्छति दिव्यति । त्यस्येनौ रेफव-कारौ । इक इत्येव । गव्यति । “यि त्ये” [४१३।६७] इत्यवादेशः । हल्परविति विशेषणं किम् ? मुर्मुरीयतीत्यत्र मा भूत् । अपदान्तार्थं वचनम् ।

उङि ॥५१३॥८७॥ धोरुङ्भूतो यौ रेफवकारौ तयोरुङ् इकः दीर्भवति । कीर्तयति । हर्षिता । मूर्छिता । तूर्चिता । भूर्चिता । “अचो रहाद् द्वे” [५।४।१२६] इत्यस्यासिद्धत्वादुङ्भूतत्वम् । प्रतिदीप्ता । प्रतिपूर्वादिबः “कन्धुवृषित्वि” [३० सू०] इत्यादिना कन् । “अनोऽलमग्न्यस्फात्” [४।४।१२२] इत्यखम् । “न पदान्तः” [१।१।५८] इत्यादिना स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [५०] इत्यस्यानित्यत्वाच्च दीत्वम् । अथ वाऽत्र “हलि” [४।३।१२६] इति दीत्वम् । तस्य नेति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति । रेफवकारान्तस्य सस्य [भस्य] स प्रतिषेधः । इह कस्मान्न भवति । री गतिरमणयोः । वी गतिप्रजनकात्यशनेषु । रिर्यतुः । [रिर्युः । विव्यतुः । विव्युः । यणादेशस्य] स्थानिवद्भावात् बहिरङ्गलक्षणात्वाद्वा असिद्धत्वमिति न भवति । चतुर्येत्यत्र अतः तस्य बहिरङ्गत्वात् धोरुङ्भूतो रेफो नास्तीति न दीत्वम् । गुणादीनामव्युत्पन्नत्वात् । जिम्रिः । किर्यो । गिर्योरित्यादियु “हलि” दीत्वं न भवति । व्युत्पन्नौ बहुलवचनात् । “जीर्यतेः किरच वः” [३०] । इति किः । “कत इङ्गोः” [५।१।७४] इतीत्वम् । रन्तत्वम् । रेफस्य वकारः । (कृगृभ्यां) “कृ गृ पृ कुटिभिदिभ्यश्च” [३०] इति इः । उङोरिति प्राप्ते उङीति सौधो निर्देशः ।

दादुर्दो मोऽवसोऽसेः ॥५॥३॥८८॥ अदसः असकारस्य दात्परस्य वर्णमात्रस्य उवर्णादेशो भवति
दकारस्य च मकारः । अमुम् । अम् । अम् । अमुना । अमून्याम् । उत्वस्यासिद्धत्वात्प्राक् सन्धिकार्यम् ।
भाव्योपि क्वचित्त्वं गृह्णास्तुतः । ततः “एतन्नेऽन्तरात्” [३१११०] इति सन्धिकार्यमार्गिकयोर्मार्गिको
द्विमात्रिकस्य द्विमात्रिक उकारो भवति । असेरिति किम् ? अदस्यति । “स्वेपः कथञ्च” [२१११६] । असेरिति
यद्यविद्यमानसकारस्येत्युच्यते । अदः कुडम् । अदोऽव इत्यत्रापि स्यात् । एवं तर्हि वः सिर्यस्मिन् सोऽयमभिः ।
अकारीभूतः सिर्यस्मिन्नित्यर्थः । तस्यासेस्त्वम् । तेन त्यदाद्यत्वविषये विधिः । “स्विवदेवयोश्च ऐरद्वयन्वी कौ”
[३११११८] इति अद्रघादेशे कृते दर्शनभेदः । “अन्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [५०] इति परिभाषा नाधिता
तेषाम् “अदे सोऽदौ” परतः उत्वं भवति । अमुद्रयङ् । “पृथङ् मत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत्” । चलीकृप्यते ।
कलृप्तः । कल्पकः । इत्यत्र लाल्यणिकस्य रेफस्य ऋकारस्य च लत्वम् । एवमन्यत्रापि । अमुमुयङ् ।
परिभाषाश्रवणे तु “केचिदस्यसदेशस्य” अदमुयङ् । त्यदाद्यत्र विषय एव मुत्वम् । “नेत्येकेऽनेहि हरयते” ।
अदद्र्यङ्किति चत्वारो भेदाः । दादिति किम् ? अमुषा । अमुयोः । स्त्रियां दौमोः परतः त्यदाद्यत्वे षापि “आङि
षापः” [५१२१००] इति एत्वे अथादेशे च कृते “अन्तेऽङ्” [११११४६] इति यकारस्योत्वं मा भूत् ।

बहावीरेतः ॥५॥३॥८९॥ बहौ निमित्ते लिप्यत्रस्य अदसः दात्परस्यः एतः ईकारादेशो भवति । अमी ।
अमीभिः । अमीभ्यः । अमीषाम् । अमीषु । अथवा बहावित्यर्थनिर्देशः । बहावर्थे वर्तमानस्य अदसः इति ज्ञेयम् ।
पारिभाषिके हि अमी इत्यत्र परत्वासम्भवाच्च स्यात् ।

वाक्यस्य टेः पः ॥५॥३॥९०॥ वाक्यस्य टेः पो भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति “दूराद्धूते”
[५१३१६२] आगच्छ भो देवदत्ता ३ । वाक्यग्रहणं किम् ? अन्त्यस्य यथा स्यात् । पदाधिकारात् सर्वेषां पदानां
मा भूत् । ऐरिति किम् ? “अचश्च” [१११११२] इति अनन्तस्याप्यचो यथा स्यात् । अन्यथा अत्र वाक्ये
विशेष्यमात्रे हलन्तस्य न स्यात् । अचो विशेष्यत्वे सर्वेषामन्तां स्यात् ।

प्रत्यभिवादेऽशूद्रस्यसूयके ॥५॥३॥९१॥ शूद्र स्त्री असूयक विषयवर्जिते प्रत्यभिवादे यद्वाक्यं वर्तते
तस्य टेः पो भवति । अभिवादये देवदत्तोऽहं भो ३ । आयुष्मानेधि देवदत्ता ३ । अत्राभिवाद्यमाने गुरुणा प्रयुक्त-
माशीःपूर्वकं प्रियहितयुक्तं प्रतिवचनम् इत्यभिवादः । अशूद्रस्यसूयक इति किम् ? अभिवादये तुषजकोऽहम् ।
भो आयुष्मानेधि तुषजक । शूद्रे पो न विहितः । अभिवादये गार्ग्यहं भो । आयुष्मती मय गार्गि । स्त्रियां पो न
भवति । अभिवादये स्थाल्यहं भो । आयुष्मानेधि स्थालिन् । अत्र दण्डवदसञ्ज्ञाशब्दे पो न भवति । सञ्ज्ञा-
शब्दे भवत्येव । यदा तु विद्वेष्टयितुकामः सञ्ज्ञामसञ्ज्ञां च तस्य कथयति तदा असूयकोऽयमिति ज्ञाते भिद्यस्य
तुषज स्थालिन् न त्वं प्रत्यभिवादमर्हसीत्युच्यते । लोकव्यवहारप्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाद्वा नामान्तस्य गोत्रान्तस्य
च पविधिः । इह न भवति देवदत्त कुशस्यसि । देवदत्त आयुष्मानेधि । इन्द्रधर्मन् कुशल्वसि । सर्वः पवि-
धिर्वा भवतीति वक्ष्यति । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन “भोराजन्यविशां वा भवति” । अभिवादये देवदत्तोऽहं
भो । आयुष्मानेधि देवदत्त भो ३ । आयुष्मानेधि देवदत्त भो । राजन्यः । अभिवादये इन्द्रवर्माऽहं भो । आयु-
ष्मानेधि इन्द्रधर्मन् । आयुष्मानेधि इन्द्रधर्मन् । विशः । अभिवादये इन्द्रपालितोऽहं भो । आयुष्मानेधि
इन्द्रपालिता ३ । आयुष्मानेधि इन्द्रपालित । भोराब्दस्वाप्राप्ते राजन्यविशोगोत्रत्वाप्राप्ते विकल्पः ।

दूराद्धूते ॥५॥३॥९२॥ दूराद्धूते आह्वाने वर्तमानस्य वाक्यस्य टेः पो भवति । आगच्छ भो देवदत्ता ३ ।
दूराद्धूत इति किम् ? आगच्छ भो जिनदत्त । प्रयत्नविशेषेण आह्वाने अत्र शब्दः श्रूयते तद्दूरमिह नास्ति ।
हूतग्रहणं सम्बोधनमात्रोपलक्षणम् । तेनेहापि पः सिद्धः । सक्तून् पितृ देवदत्ता ३ इति । सूत्रे दूरादिति “तेभ्य
इप् च” [११३१४३] इति कः ।

हैह्ययोगे हैहयोः ॥५।३।६३॥ है हे इत्येतयोः प्रयोगं हैहयोः पो भवति दूरान्धूते । है३ जिनदत्त । जिनदत्त है३ । है३ जिनदत्त । जिनदत्त है३ । पुनर्हैहयोर्ग्रहणं किम् ? अन्यस्य मा भूत् । हैहयोरेव यथा स्यात् । प्रथमं हैह्यग्रहणम् अनन्तयोरपि यथा स्यात् । अन्यथा वाक्यस्य देः प्राप्नोति । सूवारम्भस्तु अगृतोऽनन्तस्येत्यादिबाधकः सम्भाव्येत । प्रयोगग्रहणादनर्थक्योरपि भवति । आगच्छ मो माणव है३ देवदत्त इति ।

अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः ॥५।३।६४॥ ऋकारवर्जितस्य रोरनन्तस्यापि अन्यस्यापि देः एकैकस्य पो भवति । है३देवदत्त । हे देवदत्त३ । अनृत इति किम् ? कृष्णमित्रा३ । रोरिति किम् ? देवदत्तस्य वकारात्परत्र माभूत् । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् ।

ओमभ्यादाने ॥५।३।६५॥ अभ्यादानं प्रारम्भः । ओमित्येव शब्दः अभ्यादाने पो भवति । ओ३ मृगं पवित्रम् । ओ३मृगमृगमगाभिनं प्रणमत । अभ्यादान इति किम् ? ओं भो ददाति । अवमोमशब्दः प्रतिश्रवणे वर्तते ।

आ हेः पृष्ठप्रत्युक्तां ॥५।३।६६॥ पृष्ठप्रत्युक्तौ हेः पो भवति वा । अकार्षीः कटं देवदत्त ! इति पृष्ठः अकार्षी ही३ । अकार्षी हि । अलावीः केदारं देवदत्त ! अलाविषं ही३ । अलाविषं हि । हेरिति किम् ? करोमि ननु । पृष्ठप्रत्युक्ताविति किम् ? देवदत्तः कटं करिष्यति । प्रत्युक्तानि किम् ? देवदत्त कटमकार्षीहि । वेति योगविभागः । तेन सर्व एव परिधिः साक्षमनिच्छता वा प्रयोक्तव्यः ।

विचार्यं पूर्वम् ॥५।३।६७॥ विचार्यं पूर्वं पविधिमापद्यते । अर्हन्तुं३ रुन्तुं । स्वाणुर्तुं३ पुरुषो नु । द्वयोर्वहूनां वा वाक्यानां पूर्वस्य देः पो भवति ।

प्रतिश्रवणे ॥५।३।६८॥ प्रतिश्रवणे च वाक्यस्य देः पो भवति । प्रतिश्रवणं श्रवणाभिमुख्यं प्रतिज्ञानम् अभ्युपगमश्चात्रिशेषेण गृह्यते । श्रवणाभिमुख्ये देवदत्त भो किमात्थ३ इति । प्रतिज्ञाने कृतकः शब्दो भोः । एवं भवितुमर्हती३ । अभ्युपगमे भोज्यं मे देहि भोः । हन्त ते दास्यामी३ ।

पूजिते ॥५।३।६९॥ पूजिते च वाक्यस्य देः पो भवति । शोभनः खल्वसि अग्निभूता३इ । पय३उ । कात्रेपि च कृते “पुत्रोऽदेः” [५।३।१०४] इत्यादिना आकार इदुती च । अथवा शोभनः खल्वसि देवदत्ता३ इत्युदाहरणम् ।

चिदित्युपमार्थे ॥५।३।१००॥ चिदित्येतस्मिन्नुपमार्थं प्रयुज्यमाने वाक्यस्य देः पो भवति । अग्निश्चिदावा३इत् । राजाचिद्व्या३इत् । चिदिति किम् ? राजेव ब्रूयात् । अग्निर्माणवको भायात् । इवशब्दस्य प्रयोगाप्रयोगयोरुपमार्थोऽस्ति । न तु चिच्छब्दः । उपमार्थ इति किम् ? कथञ्चिद्वयीपि । कुच्छेऽव चिच्छब्दः । इतिकरणं किम् ? चिच्छब्दस्य मा भूत् । वाक्यस्य टेर्ग्रथा स्यात् ।

कोपाऽसूयासम्मतौ औ वा ॥५।३।१०१॥ कोपा असूया सम्मति इत्येतेष्वर्थे औ परतः पो भवति वा । कोपे-माणवका३ । माणवक । अविनीतका३ । अविनीतक । इदानीं शास्यमि जालमा३ । अतूयायाम्-माणवका३ । माणवक । अभिरूपका३ । अभिरूपक । शोभनः खल्वसि माणवक । कुत्सन-मसूयान्तर्भूतं तत्कार्यत्वात् । शाक्तीका३ । शाक्तीक । याष्टीका३ । याष्टीक रिक्ता ते शक्तिः । “वाक्यादेर्बो-ध्यस्य” [५।३।६] इत्यादिना द्वित्वम् । वेति व्यवस्थितविभाषा विज्ञानात् कोपकार्ये भर्त्सने च पर्यायेण पः । चौर । चौरा३ । वृषल । वृषला३ । चौरा३ । चौर । वृषला३ । वृषल । ज्ञानयिष्यामि त्वाम् । पन्थ यिष्यामि त्वाम् । भर्त्सने च मिडः साकाङ्क्षस्याङ्गयुक्तस्य देः पविधिरद्वित्वं च । अङ्ग कुजा३ अङ्ग व्याहरा३ इदानीं शास्यसि जालम् । मिड इति किम् ? अङ्ग देवदत्त । साकाङ्क्षस्येति किम् ? अङ्ग पच । नैतत्पर-माकाङ्क्षति । भर्त्सन इत्येव । अङ्ग पठ पुस्तकं ते दास्यामि ।

क्षियाशीः प्रैषेण मिडन्तमाकाङ्क्षम् ॥५१३॥१०२॥ क्षिया क्षेपः । इत्याशंसनमाशोः । अमत्कारः पूर्विका व्यापारणा प्रैषः । क्षियादिषु मिडन्तमाकाङ्क्षं पविधि लभते । क्षियायाम्-स्वयं ह स्मेन याती इ उपाध्यायं पदाति गमयति । स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते इ उपाध्यायं सकृन् पाययति । भुङ्क्ता इति मिडन्तमाकाङ्क्षकम् । आकाङ्क्ष्यमपि मिडन्तमाकाङ्क्षग्रहणसामर्थ्यात् । सुवन्ते मिडैवाकाङ्क्षा । आशिपि—पुत्राश्च लप्सीष्ठा इ वनं च । अत्र लप्सीष्ठा इत्यादि गण्यमानमिः लप्सीस्य पविधिः । तात नर्कं चाध्वे गोष्ठाः इ जैनेन्द्रं च । प्रैषे-त्वं ह पूर्वग्रामं गच्छा इ देवदत्तो दक्षिणं व्रजतु । आकाङ्क्षमिति किम् ? दीर्घमायुः स्तु । प्रैष इत्यत्र “प्रादूहोढोऽध्वेपैष्येणु” [५१३।१०६ वा०] इत्यनेन णङि परस्मादपवाद ऐप् ।

अनन्तस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ॥५१३॥१०३॥ प्रश्ने आख्याने च अनन्तस्यापि मिडन्तस्य अन्त्यस्यापि यस्य कस्यचित् पदस्य टेः पो भवति । प्रश्ने-आगमः इ पूर्वात् ग्रामान् अग्निभूता इ इ । पटा इ उ । आख्याने-आगमः इ पूर्वात् ग्रामान् मोरः । अत्र सर्वेषामपि पदानां पदान्ते केचित् पमिच्छन्ति ।

एचोऽदेः पूर्वस्यापरस्येदुतौ ॥५१३॥१०४॥ एचः अदिसञ्ज्ञकस्य पप्रसङ्गे पूर्वस्यार्थस्य आकारः पो भवति परस्य चार्द्धस्य इदुतौ भवतः । “एचोऽदेःसर्वेदुपरः” इति मिडे गुहसूत्रकरणं किम् ? इदुतौः पो न भवति । प्रश्नान्तपूजितप्रत्यभिवादेषु पदान्तस्य च एचः पो भवतीति शापनार्थम् । प्रश्नान्ते अगमः इ पूर्वाग्रामान् अग्निभूता इ इ । पटा इ उ । पूजिते—शोभनः स्वस्वसि अग्निभूता इ इ । पटा इ उ । प्रत्यभिवादे-आयुष्मानेधि अग्निभूता इ इ । पटा इ उ । परिगणनं किम् ? दस्यो इ दस्यो वातयिष्यामि त्वाम् । आगच्छ भो अग्निभूते इ । पदान्तस्येति वचनादिह न भवति । मद्रं करोमि गौ इरिति । पूजिते पः । आदिति किम् ? अपाक्ता इ मोदनं कन्ये इ । प्रश्ने पविधिः ।

स्वार्थस्य सन्धौ ॥५१३॥१०५॥ अर्थवशाद्विभक्तीपरिणामः । इदुतोर्चि परतः यकारवकारादेशौ भवतः सन्धौ विवक्षिते । आ अथ्यापरिसमाप्तेः सन्धावित्यधिकारः । अग्ना इ किन्द्रम् । पटा इ उदकम् । सिद्धः पविधिः सन्धाविति ज्ञापितं पुरस्तात् । तेन “अचीको यण्” [५१३।१०५] इति यत्र यणादेशो नास्ति तदर्थमिदम् । अचीति किम् ? अग्ना इ इ गतम् । पटा इ उ गतम् । सन्धाविति किम् ? अग्ना इ इ इन्द्रम् । पटा इ उ उदकम् ।

इत्यभयनन्दिधिरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

पुमः खय्यम्परे सोऽनुस्वारपूर्वः ॥५१४॥१॥ पुमिवेतस्याम्परे खयि परतः सो भक्त्यनुस्वारपूर्वः । पुमिति पुंसः स्फान्तखे कृतेऽनुकरणम् । खयीति प्रत्याहारसाहचर्यत् अमोऽपि प्रत्याहारग्रहणम् । पुंस्कामा । पुंश्चन्दी । पुंस्पृचा । पुंस्कोकिलः । पुंसि कामोऽस्याः । पुमांसं चलयतीत्यादि ज्ञेयम् । सकारस्यासिद्धत्वादित्यं न । खयीति किम् ? पुंदासः । पुंगवः । अम्पर इति किम् ? पुंक्षीरः । अनुस्वार इति विन्दोः सञ्ज्ञा पूर्वः कृता । पुङ्ख इत्यत्र पुंशब्दस्यानर्थकत्वादग्रहणम् ।

नश्छव्यप्रशान् ॥५१४॥२॥ नकारान्तस्य पदस्य अम्परे छवि परतः सो भक्त्यनुस्वारपूर्वः प्रशान्शब्दं वर्जयित्वा । भवाँश्छादयति । भवाँश्छाकरीयति । भवाँश्छुडति । भवाँश्चरति । भवाँष्ठीकते । भवाँस्तरति । छवीति किम् ? भवान् करोति । अप्रशानिति किम् ? प्रशान् चिनोति । “मो नः” [५१३।१०३] इति नत्वस्यासिद्धत्वात् सखाभावः । अम्पर इत्येव । भवान् त्सरकः । त्सरौ कुशलः । “आकर्षादेः कः” [३।३।१०] इति कः ।

भयद्गवधघवतो वा रिः काववस्यौ ॥५१४॥३॥ भवत् भगवत् अथवत् इत्येतेषां कौ परतः वा रिर्भवति । यदा रिस्तदा अवशब्दस्यौकारः रित्वं प्रति भवदादीनां स्थानार्थस्तानिर्देशः सोऽर्थावशब्दापेक्षयाऽव-

यवार्थः सम्पद्यते । अवस्येति निर्देशात् “नामधेयान्तेऽङो विधिः” [५०] इति वा सर्वस्य स्थाने ओकारः । हे भोः । हे भवन् । हे भगोः । हे भगवन् । हे अधोः । हे अधवन् । भवच्छब्दो “भातेर्हवन्” [३० सू०] इति डवत्यन्तः । तेन विशेषवाचित्वात्सम्बोधनम् । “सृष्टमह्नो लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” [५०] इतीयं परिभाषा विभक्त्यविषये नेष्यत इति स्त्रियां विधिर्न भवति । हे भवति । हे भगवति । हे अधवति । भो इति भिन्नसंज्ञकं शब्दान्तरमस्ति तस्यायं प्रयोगः । भो सुन्दरि । भो भो नरेन्द्राः सुखमाध्वम् ।

ओवपूर्वस्य योऽशि ॥५१४४॥ शिरिति वर्तमानो विपरिणम्यते । ओकारपूर्वस्यावर्णपूर्वस्य च रेः यकारादेशो भवति अशि परतः । भोयत्र । भगोयत्र । अधोयत्र । भोयाहि । भगोयाहि । अधोयाहि । अवर्णपूर्वस्य-सर्वज्ञयास्ते । देवायासते । नरा गच्छन्ति । अनन्तरसूत्रेण निवर्तितस्य ओकारस्य ग्रहणादिह न भवति । गोरत्र । पटोरत्र । ओदपूर्वस्येति किम् ? मुनिरत्र । अशीति किम् ? वृक्षस्तत्र । छुनीति सत्त्वस्यासिद्धत्वाद्यत्वं प्रसज्येत । रेरित्येव । पुनरत्र ।

व्योः खं वा ॥५१४५॥ वकारयकारयोरशि परतः खं भवति वा । पदस्येत्यनेन विशेषणत्वादान्तयोर्व्योः सञ्ज्ञातव्यम् । पट इह । पटविह्वल वृक्षा अत्र । वृक्षावत्र । वकारसाहचर्याद्यकारस्याविशेषेण खम् । भो अत्र । भोयत्र । सर्वज्ञ आस्ते । सर्वज्ञयास्ते । देवा आसते । देवायासते । ते आसते । तयासते ।

हलि ॥५१४६॥ अशीति वर्तते । व्योः खं भवति अशि हलि परतः । नित्यार्थ आरम्भः । देवा यान्ति । वाता वान्ति । वकारादौ “वलि व्योः खम्” [४१३।५५] इत्यनेन यखं नाशङ्कनीयम् । तस्मिन् यकारस्थासिद्धत्वात् । अशीति हलो विशेषणं किम् ? वृक्षवृक्षेतीत्यत्र मा भूत् । वृक्षा वनतीति वृक्षवन् । वृक्षवनमाचष्टे णिच् । वृक्षवयतेः पुनः क्विप् । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” [५०] इति गोः स्थानिवद्भावो नास्ति । अशि तु हलि खं भवत्येव । वृक्ष हसति ।

मोऽनुस्वारः ॥५१४७॥ अशीति निवृत्तम् । मकारान्तस्य पदस्य अनुस्वारो भवति हलि परतः । व्रतं रक्षति । वस्रं शृणोति । अयं षडिकः । स्वर्गे साधयति । पादं हन्ति । हलीत्येव । इदमत्र । पदान्तस्येत्येव । रन्त्यते ।

नङ्चापदान्तस्य भलि ॥५१४८॥ नकारस्य मकारत्व चापदान्तस्यानुस्वारो भवति भलि परतः । यशांसि । तितांलति । अनुस्वारस्यासिद्धत्वात् “सन्तस्फमहतोः” [४१४।७] इति दीत्वम् । मकारस्य-रन्त्येन । अधिजिगांसते । “सनि” [११४।११६] “इकः” [११४।१२०] इति गमादेशः । अपदान्तस्येति किम् ? हे राजन् भवान् स्वास्यति । भल्लीति किम् ? राजन्यः । गम्यः ।

सम्राट् ॥५१४९॥ सम्राडिति निपात्यते क्यन्ते राजतौ परतः । समो मकारस्य मकार एव निपात्यते । “सस्सृष्टिप” [२।२।५६] आदि सूत्रेण क्विप् । सम्राट् सगरः ।

हि म्परे वा ॥५१४१०॥ म इति वर्तते । हकारे मकारपरे परतः मकारस्य चानुस्वारो भवति । किं हलयति । किं हलयति । कथं हलयति । कथं हलयति । प्वल हल हल चलन इत्यस्य णिच् “ज्वल-हल हलनमामगे वा” [१० सू०] इति मित्यञ्ज्ञा । हीति किम् ? कथं स्मरसि । म्पर इति किम् ? किं ज्वलयति ! प्राप्ते विकल्पोऽयेम् । वाग्रहणं बहुलार्थम् । तेन “यवक्षपरे हकारे मकारस्य वा यवला भवन्ति” । किं ह्यः । किं ह्यः । किं ह्यः हलयति । किं हलयति । किलैह्लादयति । किं ह्लादयति ।

नपरे नः ॥५१४११॥ नकारपरे हकारे परतः मकारस्य वा नकारादेशो भवति । किन् हुते । किं हुते । कथन्हुते । कथं हुते ।

ऊणोः कुक्कुक्छुरि ॥५१४१२॥ डकारणकारयोः पदान्ते वर्तमानयोः वा कुक्कुक् इत्येतावतागमा भवतः शरि परतः । प्राड्क छेते । प्राड्छेते । पदान्ताज्भयः परस्य छुत्वार्थं पूर्वान्तकरणम् । प्राड्छण्डे । प्राड्-

परङ्गे । प्राङ्स्ताये । प्राङ्साये । कुकः पूर्वान्तत्वात् परस्य “नाथस्ते” [५।४।०६] इति पाठप्रतिषेधः ।
 टुकू—सुपण्ट् शेते । सुपण् शेते । सुपण्ट् परङ्गे । सुपण् परङ्गे । सुपण्ट् साये । सुपण्साये । टुकः पूर्वान्तत्वं
 परस्य “पदस्य दोः” [५।४।११] इत्यादिनियमात् ण्वुत्वाभावः ।

[उनां धुट् सोध्यः ॥५।४।१३॥]

नशिश्नुकु ॥५।४।१४॥ नकारस्य पदान्तस्य शकारे परतो वा तुगागमो भवति । अत्रापि कृतार्थं
 पूर्वान्तत्वम् । भवाञ्छेते । भवाञ्छेते । भवाञ्छेते ।

[मयो वोञ्च्युजः ॥५।४।१५॥]

ऊमो नित्यं ऊमुट् प्रात् ॥५।४।१६॥ प्रात्परो यो ऊम् तदन्तात्परस्याचो नित्यं ऊमुट् भवति ।
 क्रुङ्क्वास्ते । सुगणिह । कुर्वन्नास्ते । प्रादिति किम् ? प्राङ्क्वास्ते । अचीत्येव । कुङ्क्वास्ते । ननु परमदण्डिना-
 वित्यत्र कस्मान्न भवति । अत्र हि “व्यस्ये व्याधयम्” [१।१।१३] इत्यवयवविभक्तीमाश्रित्य पदान्तत्वमस्तीति चेत् ;
 नायं दोषः—त्याश्रयलक्षणेन पदत्वमुत्तरपदे एव भवति नान्यत्र । कथमिति चेत्, “भमद्गवदधवतः” [५।४।३]
 इति निर्देशात् । अन्यथा अधवत्तकारस्यापि जश्त्वं स्यात् । एवं च पीतपयसौ सुराजानावित्यत्र रित्वनस्ते न भवतः ।

ढो ढे खम् ॥५।४।१७॥ ढकारस्य ढकारे परतः खं भवति । ऊढिः । गूढम् । लौढम् । पदान्ते
 ढकारस्यासम्भवात् वचनात्पदमध्ये विधिः । नन्विह सम्भवति मधुलिङ्गदौकत इति । दन्वस्यासिद्धत्वात्
 जश्त्वमत्र भविष्यति । ननु मध्येऽपि ढत्वस्यासिद्धत्वात्परो ढकारो नास्ति तथ यदि वचनाद्दुःखम् । पदान्तेऽपि
 स्यात् । पदमध्ये श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भवति । पदान्ते न श्रुतिकृतं नापि शास्त्रकृतमानन्तर्यम् ।
 जश्त्वस्य सिद्धत्वात् ।

रो रि ॥५।४।१८॥ रेफस्य रेफे परतः खं भवति । नीरक्तम् । दूरक्तम् । अग्नीरथः । इन्दूरथः ।
 पुना रक्तं वासः । “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [५०] इतीयं परिभाषा नेहाश्रीयते “रेरच सुपि”
 [५।४।२४] इति शापकात् । तत्र रेरेच सुपीति नियमो वक्ष्यते । इह यदि निरनुबन्धकस्य रेफस्य ग्रहणं स्यात्
 इदमेव तत्रानुवर्तते । इति रेः प्राप्ताभावान्नियमोऽनर्थकः स्यात् । इह पदस्यावयवो यो रेफः तस्य खं भवतीत्या-
 श्रयणादपदान्तरस्यापि रेफस्य खं भवति । अजर्घा इति अर्घृध् इत्यस्माद्यकुवन्ताल्लङः सिप् । “इहक्यापः”
 [४।३।५९] इति सिपः खम् । “ज्युङ्कः” [५।२।८३] एप् । रन्तत्वम् । “सखो जश्” [५।३।५७] इति धकारस्य
 दत्वम् । “सिपि रिर्वा” [५।३।८१] “दः” [५।३।८२] इति ढकारस्य रित्वादेशः । अत्र रो रीति पूर्वस्य
 खं परस्य विसर्जनीयः । एवं स्पष्टैर्यङुवन्तस्य अपात्पाः । रो रीति निर्देशात् “रादिफः” [३० सू०] इति
 विधानमनित्यम् । “ढो ढे खम्” [५।४।१७] इति निर्देशात् “वर्णाकारः” [३० सू०] अप्यनित्यः ।

विरामे विसर्जनीयः ॥५।४।१९॥ विरामविषये रेफान्तस्य पदस्य विसर्जनीयादेशो भवति । देवः ।
 कविः । साधुः । स्वः । अक्षः । विराम इति किम् ? अग्निरत्र । प्रातरत्र । बाधुर्वाति । विरतिः वर्णस्यानुच्चारणं
 विरामः । विसर्जनीय इति अयोगवाहेषु बिन्दुद्वयस्य सञ्ज्ञा ।

शर्परे खरि ॥५।४।२०॥ शर्परे खरि परतः रेफान्तस्य विसर्जनीय आदेशो भवति । पुरुषः स्वरुकः ।
 नरः स्वरति । “खवि” [५।४।२५] सत्वस्यायमपवादः ।

कुण्वोः ॥५।४।२१॥ शर्परे खरोति वर्तते । खरि यौ कुपू तयोः शर्पयोः परतः रेफस्य विसर्जनीय
 आदेशो भवति । वासः क्षौमम् । अद्भिः प्लातम् । ननु पूर्वेण सिद्धे किमर्थमिदम् । अस्मिन्ननुच्यमाने स
 पुरस्तादपवादः सन् ऋक् ऋग्योरेव बाधकः स्यात् न खवि सत्वस्य । कुण्वोरित्यनेनारभेण ऋक् ऋग्योर्बाधा ।
 पूर्वेण खवि सत्वस्येति ।

२कःपौ ॥५॥४॥२२॥ शर्पर इति निवृत्तम् । खरीति वर्तते । इष्टत्वात् । शरि यौ कुपू तयोः परतः रेफस्य २ कः प इत्येतावदेशौ भवतः विसर्जनीयश्च । कः करोति । कः करोति । कः खनति । कः खनति । कः पचति । कः पचति । कः फलति । कः फलति । केवलौ जिह्वामूलीयोपध्यानीयावुच्चारयितुमशक्यौ ककारपकारा उच्चारणार्थौ । इह वृकुट्यो भवः नाकुट्यः । वृषतेरपत्यं नार्पत्य इति रेफस्य बहिरङ्गत्वान्नायं विधिः । ननु सति विसर्जनीये अन्तरङ्गेऽस्य प्रतिबन्धित्वाद्बहिरङ्गत्वम् । विसर्जनीयश्चासिद्धः । कथं तन्मूलपरिभाषाव्यापारः । नैष दोषः । ईपासिद्धमसिद्धं क्वचित् सिद्धमित्याश्रयणाद्विसर्जनीयः सिद्धः ।

शरि सश्च ॥५॥४॥२३॥ शरि परतः रेफस्य सकारादेशो भवति विसर्जनीयश्च । कश्चेते । कः शेते । कण्वकते । कः क्वकते । कश्चरति । कः चरति ।

रेश्च सुपि ॥५॥४॥२४॥ सुपि परतः रेश्च सकारादेशो भवति विसर्जनीयश्च । चकारं विसर्जनीयानु-कर्षणार्थः । शरीत्यनुवर्तते । सुपीति ईपो बहोर्ग्रहणम् । पयस्सु । पयःसु । सर्पिषु । सर्पिःषु इत्यत्र सत्वपक्षे “नुमशर्वावाये” [५॥४॥२८] इति परस्य पत्वे कृते पूर्वस्य पदान्तत्वात् “नान्वन्ते” [५॥४॥३६] प्रतिषेधे सति प्लुत्वम् । विसर्जनीयपक्षे परस्य पत्वम् अयोगवाहस्य शर्ग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वस्य सिद्धे नियमार्थमिदम् । रेरेव सुपि सत्वविसर्जनीयौ नान्वस्य । गीर्षु । धूपु । सुप्येव रेरेति कस्मान्न नियमः । “सस्तेऽद्युस्थस्य” [५॥४॥३३] इति सकारद्वयनिर्देशात् ।

क्ष्वि ॥५॥४॥२५॥ रोरीत्यतो रेफमात्रमनुवर्तते । विसर्जनीय इति निवृत्तम् । क्ष्वि परतः रेफस्य सकारादेशो भवति । कश्चिनुति । कश्चिनीयति । कश्चिडति । कश्चरति । कश्चिक्ते । कश्चरति । पुनश्चरति ।

कुप्नोस्त्ये ॥५॥४॥२६॥ स इति वर्तते । पदान्तरेफस्य सकारादेशो भवति कवर्गपवर्गादौ त्ये परतः । “पाशकल्पकाम्याः प्रयोजयन्ति” [वा०] । गायं पयः । पयस्पाशम् । अयस्पाशम् । “वाप्ये पाशः” [४॥१॥११०] इति पाशः । ईषदसिद्धं पयः पयस्कल्पम् । अयस्कल्पम् । “आसिद्धौ देशदेशीयकल्पाः” [४॥१॥१२६] इति कल्पः । महोरस्कः । पयस्कम् । पयस्काम्यति । कुप्नोरिति किम् ? पयोभ्याम् । नन्वत्रापि पवर्गत्वात् प्राप्नोति । खरीत्यनुवर्तनात् भवति । त्ये इति किम् ? अयः करोति । पयः पिबति । “उज्ज आर्जवे” इत्यस्योपध्यानीयोऽप्यने कुन्वविषये “उपध्यानीयस्य सत्त्वं वक्तव्यम्, द्वित्वप्रतिषेधश्च” [वा०] अभ्युदगः । समुदगः । उब्जिजिपतीति । दकारोऽप्यने तु कुत्वादभ्यत्र । असिद्धकारणे “व उद्गोः” [वा०] इति वचनात् यत्त्वत्वासिद्धत्वात् “न स्फादौ न्द्रोऽयि” [४॥३॥३] इति द्वित्वप्रतिषेधः । उब्जिजिपति । “अत्राक्सिस्त्वकस्येति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । प्रातःकल्पम् । मुहुः काम्यति । “रेरेव काम्ये वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । गीः काम्यति । धूः काम्यति ।

इणः पः ॥५॥४॥२७॥ इण उत्तरस्य सकारस्य पकारादेशो भवति कवर्गपवर्गादौ त्ये परतः । सर्पिष्कल्पम् । सर्पिष्कः । सर्पिष्काम्यति । “कुप्नोस्त्ये” [५॥४॥२६] इत्यनेन निर्भृत्तस्य सकारस्य पत्वमनेन विधीयते इति लक्षणमिदमभिकारश्च । इत ऊर्ध्वं यत्सत्त्वं विधीयते तस्य इण उत्तरस्य पत्वं भवतीत्येतदधिक्रियते ।

इदुदुङोऽत्यपुंमुहुसः ॥५॥४॥२८॥ त्ये हि पूर्वस्य सिद्धमत्यायोऽयमारम्भः । इकारोकारोङोः रेफस्य सकारादेशो भवति कुप्नोः परतः त्यपुंमुहुसो वर्णयित्वा । “निदुर्बहिराविष्वतुःआदुषः प्रायः प्रयोजयन्ति” निष्कृतम् । निष्पीतम् । बहिष्कृतम् । बहिष्पीतम् । आविष्कृतम् । आविष्पीतम् । चतुष्कुण्डिका । चतुष्कण्टकः । चतुर्षु कण्टकेषु भवः इत्यण् । हृदयं स्ते कृते “रस्योबनपत्ये” [३॥१॥७४] इत्यण् उप् । प्रादुर्कृतम् । प्रादु-ष्पीतम् । सर्वत्र “इणः पः” [५॥४॥२७] इत्यनुवर्तनात् पत्वम् । तपरकरणं किम् ? गीः करोति । अत्यपुंमुहुस इति किम् ? मुनिः करोति तपम् । पटुः पठति । पुंस्कामा । मुहुःकामा । ननु पुंस्कामेत्यत्र रेफाभावात् प्रतिषेधोऽनर्थकः । लक्षणान्तरेण सत्वस्य विधानाच्च पत्वप्रतिषेधोऽप्युक्तः । नैष दोषः । उक्तं हि भाष्ये अविशेषण सत्वमुक्त्वा

“इयः षः” [५।४।३७] इति पत्वं विधीयते इति प्राप्तिरस्ति । इह मातुः करोति । पितुः करोतीति “रास्वः” [५।३।४२] इति सकारस्य खे कृते नायं त्यस्य रेफ इति कस्मान्न पत्वंम् । कस्कादिषु भ्रानुपुत्रग्रहणं शापकमेकादेशानिमित्तकस्य न भवति । नैकुल्यम् । दौषपुरुष्यम् । बहीरेकृतम् इत्यत्र बहिरङ्गत्वादप्यत्रिचोरसिद्धत्वात्पत्वंम् ।

नमःपुरसोस्त्योः ॥५।४।२६॥ त्व इति निवृत्तम् । नमम् पुरम् इत्येतयोस्तिसंज्ञकयोः रेफस्य सकारादेशो भवति कुब्धोः परतः । नमस्कृता । नमस्कृतुम् । नमस्कृतव्यम् । पुरस्कृता । पुरस्कृतुम् । पुरस्कृतव्यम् । नमः शब्दस्य “साक्षादादिः” [१।२।१४३] इति तिसंज्ञा वर्तते ।

तिरसो वा ॥५।४।३०॥ तिरसो रेफस्य वा सकारादेशो भवति कुब्धोः परतः । तिरस्कृता । तिरस्कृत्य । तिरः कृत्य । “तिरोऽन्तर्द्धौ” [१।२।१४०], “वा कृञि” [१।२।१४१] इति तिसंज्ञा । इह तिरस्तिसंज्ञकस्येति विशेषणं विषयद्वारकम् । तेनान्तर्द्धौ विषये “वा कृञि” इति सञ्ज्ञाविरहेऽपि सत्वम् । तिरस्कृत्वा । तिरः कृत्वा । तिसंज्ञकस्येति किम् ? तिरः कृत्वा काण्डं गतः । नात्रान्तर्द्धिः प्रतीवते । अन्तरेण कृत्वा गत इत्यर्थः । अन्वयोऽमीन्येन गच्छति ।

सुचः ५।४।३१॥ सुजन्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्य वा सकारादेशो भवति कुब्धोः परतः । द्विष्करोति । द्विष्पचति । त्रिष्करोति । त्रिष्पचति । चतुष्करोति । चतुष्पचति । अन्यस्मिन् पदे “ऋषौ च” [५।४।२२] इत्येव विधिः । द्विष्करोति । द्विष्करोतीत्यादि योज्यम् । द्वौ वारौ करोतीति विग्रह “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्” [४।२।२५] इति सुच् । द्वित्रिभ्यां परस्य अल्पपुष्पुहसः इति प्रतिषेधादप्राप्तं चतुःशब्दस्य तु “इदुदुक्” [५।४।२८] इति प्राप्तं सत्त्वं विकल्प्यते । “इयः षः” [५।४।२७] इत्यधिकारात्पत्वंम् ।

इसुसोः सामर्थ्ये ॥५।४।३२॥ इस् उस् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति सामर्थ्ये सति कुब्धादिना । सर्पिष्करोति । सर्पिः करोति । सर्पिष्यति । सर्पिः पिबति । धनुष्करोति । धनुःकरोति । धनुष्यति । धनुः पतति । सर्पिर्धनुःप्रभृतयः शब्दा इसुसन्ता व्युत्पाद्यन्ते इति दर्शने त्यस्य नेत्यप्राप्ते अव्युत्पत्तौ “इदुदुक्” [५।४।२८] इति प्राप्ते विकल्पः । सामर्थ्ये इति किम् ? तिष्ठतु सर्पिः पिबतु पयः । ननु पदाधिकारे समर्थपरिभाषाव्यापागन् सामर्थ्यग्रहणं किम् ? कवर्गपयवर्गादिना धुना व्यपेक्षालक्षण एव सामर्थ्ये यथा स्यादित्येवमर्थम् । इह मा भूत् । सर्पिःकालकम् । यजुः पीतकमिति । सापेक्षमसमर्थमिति नायं पक्षस्तत्र स्थितः । तेनेहापि समकत्वालत्वम् । देवदत्तस्य सर्पिष्करोति ।

सस्तेऽद्युस्थस्य ॥५।४।३३॥ इसुसो रेफस्याद्युस्थस्य सकारादेशो भवति । सर्पिष्कुरिडका । सर्पिष्पात्रम् । धनुष्काण्डः । धनुष्यति । पुनः सग्रहणं नित्यार्थम् । अद्युस्थस्येति किम् ? परमसर्पिःकुरिडका । पूर्वेषाण्यत्रैकाकीभावे विकल्पो न भवति । यदा तु व्यपेक्षा सामर्थ्यम् ; तदा द्युस्थस्यापि पूर्वेण विकल्पः । परमसर्पिष्करोति । परमसर्पिः करोति । इदमेवाद्युस्थस्येति प्रतिषेधवचनं शापकम् “इसुसोः” [५।४।३२] इत्यत्र “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः” [५०] इति नियमाभावादधिकस्यापि ग्रहणम् ।

कृकमिकंसकुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽतोऽभेः ॥५।४।३४॥ कृ कमि कंस कुम्भ कुशा कर्णी पात्र इत्येतेषु परतः अकारत उत्तरस्य रेफस्याद्युस्थस्य सकारादेशो भवति । कृकम्भोः सर्वेत्यान्तयोर्ग्रहणम् । अयस्कारः । यशस्कारः । तपस्कारः । यशस्कारः । अयस्कान्तः । अयस्कंसः । पयस्कंसः । कंस इति कमेरव्युत्पत्तिपक्षे पृथग्रहणम् । अयस्कृम्भः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” [५०] अयस्कृम्भी । पयस्कृम्भी । गौरादित्वाङ्गी । अयस्कृशा । पयस्कृशा । अय इव कर्णावस्थाः “नासिकोदरौष्ठ” [३।१।४८] आदिना ङी । अयस्कर्णी । पयस्कर्णी । शुनस्कर्णस्तु “कस्कादौ” [५।४।३६] । अयस्पात्रम् । पयस्पात्रम् । अयस्पात्री । पयस्पात्री ।

कुक्कभादिग्रहणं किम् ? पयःपानम् । अत इति किम् ? गीःकारः । धूःकारः । तपरकरणं किम् ? माः कामः । भस्कर इति “कस्कादौ” । अमेरिति किम् ? प्रातःकारः । स इत्येव । यशः करोति । अद्युस्थ-त्येत्येव । परमपशःकारः । कमेरणिङन्तस्य सूत्रे निर्देशः किम् ? अयस्कान्तः ।

शिरोऽधसोः पदे ॥५१४३५॥ शिरस् अवधस् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति पदशब्दे परतः । शिरस्पदम् । अवधस्पदम् । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । से इत्येव । शिरसः पदम् । अद्युस्थस्येव । परमशिरःपदम् ।

कस्कादौ ॥५१४३६॥ कस्क इत्येवमादिषु रेफस्य सकारादेशो भवति । यथा ते तत्र पठ्यन्ते तथैव तेषां साधुत्वम् । कस्कः । किम् : तसन्तस्य वीप्सायां द्वित्वम् । कौतस्कुतः । समुदायस्यामृत्येऽपि वचनात् तत आगत्येऽर्थेऽण् । भातुषुत्रः । सेऽपि “कृतौ विद्यायोनिस्सम्बन्धात्” [५१२।१३६] इत्यनुप् । “इणः पः” [५१४।२७] इति पत्वम् । शुनस्कर्णः । असञ्ज्ञायां “ताया आफोरो” [५१२।१३४] इत्यनुप् । सञ्ज्ञायां तु श्वकर्ण इति । सद्यस्कालः । सद्यस्त्रीः । सम्पदादित्वात् कियप् । तत्र भयः सद्यस्कः । तप्तस्काण्डम् । अयस्काण्डम् । तपस्काण्डम् । मेदस्यण्डः । आकृतिगणोऽयमविहितलक्षणं सत्वमिति द्रष्टव्यम् ।

इण्कोः सः पः ॥५१४३७॥ इणः कवर्गाच्चोत्तरस्य सकारस्य पत्वं भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । वदवति “त्यादेशयोः” [५१४।३६] । मुनिषु । देवेषु । गीर्षु । वान्तु । प्राङ्क्षु । उदङ्क्षु । सिपेन । सुष्वाप । हणोरिति किम् ? यास्यति । “क्षियात्रीःप्रैषेषु” [५१३।१०२] इति निर्देशादिगुपरेण गकारेण गृह्यते । स इति स्थानिर्निर्देशो रेफस्य स्थानित्वनिवृत्त्यर्थः । पुनः पयग्रहणं कुप्वोरित्यस्य निवृत्त्यर्थम् । उत्तरत्र “नामन्ते” [५१४।७६] इति प्रतिषेधात् पदस्येत्येतदनुवर्तमानमिह विशेषणरूपेण सम्बन्ध्यते ।

नुमृश्वर्वावायेऽपि ॥५१४३८॥ नुमृश्ववावे शर्ल्ववावे अव्यवायेऽपि इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य पकारादेशो भवति । सर्पीणि । श्वनूणि । अत्र नुमादेशो नुम् । तैनेह न भवति । पुंसु । शर्ववाये । सर्पिण्यु । धनुष्यु । रेः सत्त्वे कृते वरस्य पत्यम् ।

[त्वादेशयोः ॥५१४।३६॥ शास्वस्त्रसाम् ॥५१४।४०॥ वणि चाणिस्तोरेव ॥५१४।४१॥ सस्त्रिस्त्रिस्त्रिः ॥५१४।४२॥ प्राक् सितादटापि ॥५१४।४३॥ स्थादेशेन चस्य ॥५१४।४४॥ गोः सूजसूतोस्तुस्तुभः ॥५१४।४५॥]

.....म इति पत्वे य.....माश्रीयते । अमितप्रावित्यत्र चत्स्य टवर्गः स्यात् । चस्य च गोः परस्य सत्त्वं भवतीदमपि नियमार्थवचनम् । अभिषिषिद्धति । परिषिषिद्धति । अत्र द्विः प्रयोगो द्वित्वं गोः सिच इत्येव पत्वं सिद्धम् । “सिद्धे सत्यास्मभो निचमाय ।” स्थादीनामेव वक्ष्यमाणानां चस्य पत्वम् । चेन च व्यवाये-नाभ्येयां सुनोत्यादीनाम् । अभिषुपति । अभिसिषासति । स्थादीनां चस्यैवेति न शङ्क्यम्.....ये विधान-मनर्थं स्यात् ।

स्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ॥५१४।४६॥ गैरिति वर्तते । गोः परेषां स्था से नय सेध सिच् सञ्ज स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य पत्वं भवति । अभिष्ठास्यति । परिष्ठास्यति । अत्र व्यवाये-अभ्यष्ठात् । पर्यष्ठात् । चेन च व्यवाये-अमितप्रा । अभिषेणयति । अभ्यषेणयत् । अतिषिषेणयति । अत्रादेशसकारा-भावादप्राप्ते विधिः । सेध इति मौवादिकस्य ग्रहणम् । अभिषेधति । निषेधति । अभ्यषेधत् । न्यषेधत् । चस्य च । अभिषिषेध । निषिषेध । अभिषिष्वति । अभ्यषिष्वत् । चेन च व्यवाये-अभिषिषिद्धति । अभिपजति ।

१. प्रतिषु [] कोष्ठकाभ्यन्तगतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुष्टिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्र पञ्चाध्याय्यामनुसूत्याग्र निर्दिष्टानि ।

अभ्यषजत् । चेन च व्यवाये-अभिषिष्यत् । अभिष्वजतै । अभ्यष्वजत् । चेन च व्यवाये । अभिषिष्वज्-
 जतै । गेरित्येव । दधि सिञ्चति ।

सदोऽप्रतेः ॥५१४॥ अप्रतैर्गोः परस्य सदेः सकारस्य घृत्वं भवति । अभिषीदति । निषीदति । अभिषीदत् । न्यषीदत् । चस्य । अभिषिपत्यति । अभिषसादेत्यत्र “सदिस्ववृत्त्योः परस्य लिटि” [५१४॥५॥] इति धोः वृत्त्वप्रतिषेधः । अप्रतैरिति किम् ? प्रतिसीदति ।

स्तम्भेः ॥५॥४॥४॥ गेरिणः परस्व स्तम्भेः सकारस्य पत्वं भवति । अभिष्टम्भाति । प्रतिष्टम्भाति । अभ्यष्टम्भात् । पर्यष्टम्भात् । चेन च व्यवये-अभिष्टम्भ । प्रतिष्टम्भ्यते । स्तम्भिः सौत्रो धुः । तस्य अक्षोपदेशत्वाद्वाप्राप्ते प्रतिविद्धे वा पत्वे सूत्रं प्रतिसङ्गमहार्थम् । उत्तरार्थं च पृथक्करणम् ।

आलम्बनाविदूरेऽवात् ॥५४॥४६॥ अनिर्णय आरम्भः । अवाद्गेरुत्तरस्य स्तम्भेः सकारस्य पत्यं भवति आलम्बने अविदूरे चार्थे । अवष्टभ्य आस्ते । अवष्टम्नाति । अवाष्टम्नात् । अवतष्टम्भ । अविदूरे-अवष्टम्भे सेने । अवष्टम्भा शस्त् । आलम्बनाविदूरे किन् ? अवस्तम्भो वृषभः । विदूरप्रतिपेक्षात्तानिदूरमात्तन्त्रं च सङ्गृहीतम् ।

वैश्वस्य स्वनोऽश्वने ॥५॥४॥५॥ वैश्वस्योत्तरस्य स्वनः सकारस्य पत्वं भवत्यशनेऽर्थे । विष्वण्णति ।
मशब्दमशनातीत्यर्थः । अवष्वणति । व्यष्वणत् । अयाव्यणत् । चेन च व्यवाये-विष्ववाण । अवष्ववाण ।
विष्वण्वते । अश्वन इति किम् ? विस्वनति । अवस्वनति मृदङ्गः । नावाभ्यवहारविशेषः ।

परिनिधिभ्यः सेवसितसयण् ॥३॥१६॥ परि नि हि इत्येकेभ्यः एतेषां सेव सित सय इत्येतेषां सकारस्य पो भवति । सेव इति भौवादिकः सेवार्थो ध्रुवश्चते । परिषेवते । निषेवते । विषेवते । पर्येषेवत । न्येषेवत । व्येषेवत । चेन व्यधये-परिषिषेविषते । परिपितः । निषितः । विषितः । परिषयः । निषयः । विषयः । षिज वन्धन इत्यभ्य सान्तस्याजस्तस्य च ग्रहणम् । केचित्तु-सह (योगाकरणाभियमार्थमपि) अहणमिच्छन्ति । एतेभ्य एव परस्य पञ्चमिति । सेवादीनां स्वरितत्वाभावाद्यथासङ्ख्यं न भवति ।

मित्रसहसुदस्तुस्वञ्जाम् ॥५१॥५२॥ परेनिविभ्यः परेषां सिव सह सुट् स्तु स्वञ्ज इत्येतेषां सका-
रस्य षो भवति । परिषौन्यति । निषीड्यति । विषीड्यति । परिग्रहते । विग्रहते । निग्रहते । सुट् परिमेव प्रयो-
जयति । परिष्कर्ता । परिष्करोति । “संपर्युपात्कृणः सुट् भूषे” [४।३।११०] इति सुट् । तस्यानादेशत्वादप्राप्ते
इतरयोर्नादान्त इति प्रतिप्रिद्धं पत्ये वचनम् । गेः परयोः पत्यसिद्धः स्तुस्वञ्जोर्ग्रहणमुत्तरार्थम् । अटो व्यवाये
विकल्पो यथा स्यात् ।

वाऽऽटा ॥५॥४॥५॥ सिवादीनामटा व्यवाये वा पो भवति । परिनिवेसिति वर्तते । पर्यधीव्यत् । न्यगी-
व्यत् । पर्यसीव्यत् । न्यसीव्यत् । व्यधीव्यत् । पर्यपहत । व्यसीव्यत् । न्यपहत । व्यपहत । पर्यसहत । न्यसहत ।
व्यसहत । पर्यष्टौत् । न्यष्टौत् । व्यष्टौत् । पर्यस्तौत् । न्यस्तौत् । व्यस्तौत् । पर्यवजत । न्यवजत । व्यवजत ।
पर्यस्वजत । न्यस्वजत । व्यस्वजत । सिवुसहसयामप्राप्ते स्तुस्वज्जेः प्राप्ते विभाषा ।

निव्यभ्यनुपदेः स्यन्वोऽजीवे ॥५१॥५४॥ नि वि अभि अनु परि श्येतेभ्यः परस्य स्यन्देः सकारस्य वा पञ्च भवत्यजीवे । परिष्यन्दते । निष्यन्दते । विष्यन्दते । अभिष्यन्दते । अनुष्यन्दते । विस्वन्दते । अभिस्वन्दते । परिस्वन्दते जलम् । अजीव इति किम् ? अनुस्वन्दते मत्स्यः । अजीव इति पर्युदासोऽयम् । जीवा जीवसमुदायो जीवादन्यो भवतीति विकल्पः सिद्धः । अनुष्यन्दते मत्स्योदके । अनुस्वन्दते । अप्राप्ते विकल्पः ।

वेः स्कन्दोऽस्ते ॥१५॥१५॥ वेरुत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा पत्वं भवत्यने परतः । विष्कन्ता । विष्क-
न्तुम् । विष्कन्ता । विस्कन्तुम् । अत इति किम् ? विस्कन्नः । विस्कन्नवान् ।

पठे ॥१४४५६॥ परेवत्तस्व स्फुटः सकारस्य कः पठं भवति । परिष्कन्ता । परिष्कन्ता । तसञ्ज्ञ-
केऽपि यथा स्वादिति योगविभागः । परिष्कणः । परिष्कन्नः ।

परिष्कन्वः प्राच्यभरतेषु ॥१४४५७॥ प्राच्यभरतेषु परिष्कन्द इति निपात्यते । पचाद्यचि पूर्वेषु पक्षे
प्राप्तस्य पत्वस्थाभावो निपात्यते । परिष्कन्दो वहति । प्राच्यभरतेष्विति किम् ? परिष्कन्दः । परिष्कदः ।

स्फुरिस्फुटयोर्निनिवेः ॥१४४५८॥ निस् नि वि इत्येतैभ्यः परयोः स्फुरि स्फुलि इत्येतयोः सकारस्य वा
प्रकारो भवति । शर्व्ववायेऽपि पत्वम् । निःस्फुरति । निःस्फुरति । निष्फुरति । निस्फुरति । विष्फुरति । दिस्फुरति ।
निःस्फुलति । निःस्फुलति । निष्फुलति । निस्फुलति । विष्फुलति । विस्फुलति ।

वेः स्कम्भेः षः ॥१४४५९॥ वेरुत्तरस्य स्कम्भातेः सकारस्य षकारो भवति । विष्कम्भाति । विष्कम्भकः ।
पुनः प्रहणं नित्यार्थम् । स्कम्भिः सौत्रो धुः षोपदेशः ।

इणः पीध्वलुङ्लिटां धो गोर्धः ॥१४४६०॥ इणन्ताद्गोर्धत्तरेषां पीध्वलुङ्लिटां धकारस्य दकारादेशो
भवति । च्योपीद्वम् । लोपीद्वम् । अच्योद्वम् । अलोद्वम् । “धि” [५१३।४३] इति सखम् । चङ्गद्वे ।
वङ्गद्वे । “ङ्” [५११।११४] आदिनेट्प्रतिषेधः । इण इति किम् ? कवर्गान्मा भूत् । पक्षीध्वम् । यक्षीध्वम् ।
पौध्वलुङ्लिटांमिति किम् ? स्तुध्वे । स्तुध्वम् । लिङ्गिति कर्तव्यं पीध्वमिति किम् ? अधीयीध्वम् । स्तुपीध्वम्
इत्यत्र मा भूत् । ध इति किम् ? च्योपीद्वमित्यत्र परस्यादेर्माभूत् । गोरिति किम् ? परिवेविशीध्वम् । अत्र धोः
पकारस्य ईध्वंशब्दस्य च समुदायः पीध्वंशब्दो न तु गोः परः । अर्धवद्ग्रहणपरिभाषा चानित्या । तेन
“अनिनस्मन्ग्रहणाम्यर्थवता स्नानर्थकेन” [५०] इति सिद्धम् ।

वेट् ॥१४४६१॥ इणन्ताद्गोर्धत्तरो यः इट् ततः परेषां पीध्वलुङ्लिटां धकारस्य दकारादेशो वा
भवति । इट् पक्षे परत्वं श्रुतिकृतमाश्रीयते । लविपीध्वम् । लविषीध्वम् । इट् इणग्रहणेन ग्रहणान् । पूर्वेषु नित्ये
प्राप्ते । अलविध्वम् । अलविष्वम् । सेरिडागमो न लुङ् इति तद्ग्रहणाभावाद् व्यवधानमस्तीत्यप्राप्ते लुलुविध्वे ।
लुलुविध्वे । अत्र लिट् एवेडागम इति प्राप्तौ विकल्पः । इणन्ताद्गोरित्येव । आसिपीध्वम् । उपदिदीध्वे इत्यत्र
“दीङोऽचि विङ्गति युट्” [४।४।६२] इति युटि कृते इणन्ताद्गोरानन्तर्यमित्समुदायमस्तेन युटा विहतमिति
दत्तं न भवति । तस्मात् नित्यो विधिः । अस्ति खत्रेणन्ताद्गोर्धत्तरो लिट् तत्सम्बन्धो च यकारः । एवं तर्हि वेति
व्यवस्थितविभाषा पूर्वमवलोक्यते । ततोऽत्रापि विकल्पः ।

सेङ्गुलेः सङ्गः ॥१४४६२॥ अङ्गुलेरुत्तरस्य सङ्गसकारस्य पठं भवति से । सङ्ग इत्यत्र “सूत्रेऽस्मिन्
सुन्विधिरिष्टः” [५।२।११४] इति डसः स्थाने सुः । अङ्गुलिषङ्गो दृढः । अङ्गुलिषङ्गा यवागूः । भावे
कर्मणि च यप् । इत्येव अङ्गुलेः सङ्गः । अङ्गुलिपदात्परस्य पदस्य पत्वारम्भादिभक्त्या व्यवधानेऽपि
प्रसज्यते ।

भीरोः स्थानम् ॥१४४६३॥ भीरोरुत्तरस्य स्थानसकारस्य पठं भवति से । मीरुस्थानम् । स इत्येव ।
भीरोः स्थानम् । अधिकारणे युट् । पृथग्योगकरणं स्यादर्थम् ।

ज्योतिरायुषः स्तोमः ॥१४४६४॥ ज्योतिष् आयुष् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्तोमसकारस्य पो भवति ।
ज्योतिःष्टोमः । आयुःष्टोमः । “शरि सरच” [५।४।२३] इति विसर्जनीयः सत्यं वा । तस्य ष्टुत्वम् । ज्योतिः
स्तोमस्य दाहकम् ।

स्तुत्सोमौ चाग्नेः ॥१४४६५॥ अग्नेरुत्तरयोः स्तुत् सोम इत्येतयोः स्तोमस्य वः सकारस्तस्य मे पो
भवति । अग्निष्टुत् । विवञ्चत्तेन वाक्यः । अग्नीष्टोमौ । “गौणमुत्तरयोर्मुख्ये सप्तत्यचात्” [५०] इह न भवति ।
अग्निगुणसोमगुणौ अग्निसोमौ मनुष्यौ । अत एवाग्नेरीत्वाभावः । अग्निष्टोमः । व्युत्पत्तिपक्षे “नाद्यन्ते”
[५।४।७६] इति प्रतिषेधः प्राप्तः ।

मातृपितृभ्यां स्वसुः ॥५१४६६॥ मातृपितृभ्यां परस्य स्वसृजकारस्य षो भवति । मातृष्वसा । पितृष्वसा । अनादेशसकारोऽयम् । स इत्येव । वाक्ये न भवति । मातुः स्वसा । पितुः स्वसा ।

आऽनुपि ॥५१४६७॥ अनुपि से मातृपितृभ्यामुत्तरस्य स्वसृजकारस्य वा षो भवति । मातुःष्वसा । मातुः स्वसा । पितुःष्वसा । पितुः स्वसा । तथा अनुप् ।

गिप्रादुभ्यां यन्यस्तेः ॥५१४६८॥ स इति निवृत्तम् । गेरिणः प्रादुःशब्दाच्चोत्तरस्य अस्तेः सकारस्य यकारादौ अजादौ च पत्वं भवति । अभिष्यात् । निष्यात् । प्रादुःष्यात् । अभिषन्ति । निषन्ति । प्रादुःषन्ति । गिप्रादुभ्यामिति किम् ? दाघ स्यात् । मधु स्यात् । यचोति किम् ? अनुस्वः । अनुस्मः । अस्तेरिति किम् ? केवलं सकारं क्रियावाचिनं प्रति गिसञ्ज्ञायां पत्वमत्र स्यात् । अनुस्ते इति अनुस्वः । अनुस्वः अपत्यम् आनुसेयः । “चतुष्पाद्भ्यो ङम्” [३१११२३] इति ङम् । “ङे खम्” [४१४१३५] इति ऊकारस्य खम् । प्रादुःशब्दस्य तु कुम्बस्तिष्वेव प्रयोगात् प्रत्युदाहरणं नास्ति ।

निर्दुस्सुवेः सुपिसृतिसमाः ॥५१४६९॥ निट् दुस् सु वि इत्येतेभ्यो गिप्य उत्तरेषां सुपिसृतिः समानां सकारस्य षो भवति । निःश्रुतः । दुःश्रुतः । सुश्रुतः । विपुतः । निःपूतिः । दुःपूतिः । सुपूतिः । विपूतिः । निःपमः । दुःपमः । सुपमः । विपमः । “गिप्रकण्ठे सर्वत्र सुदुभ्यां योरो पत्वं नेप्यते” इति वचनम् । “सुदुसोः प्रतिषेधो नुंविधिनस्वपत्यण्वेषु” इति वचनात् । सम इति सर्वादिषु पठ्यते । तस्य “सम एव अवैकल्ये” [धा०] इत्यनेन व्युत्पत्तिपक्षेऽपि ग्रहणम् । सृतिरिति सृतेः सृत्यतेः सुवतेश्च वयन्तमेव रूपं समशब्दसाहचर्याद्गृह्यते । तेन विमृतामित्यादौ पत्वं न । सुपीति विकृतनिर्देशादिद्वा मा भूत्-विस्वन इति । वितुष्वपेत्यत्र तर्हि कस्माच्च भवति । “हलोऽनादेः” [५१२१११] इति स्वे कृते पश्चाच्चिर्गतिः सुपिरत्र नास्ति । नैत्र युक्तः समाधिः । हलोऽनादेः स्वात्प्राग्भिर्भवतीत्युक्तम् । एकदेशविकृतस्य चानन्यत्वात् सुपिरेवायमिति प्राप्नोति । स्यादीनामेव चस्य नान्येषामित्यपि नास्ति । सुनोत्यादिषु स नियमो निर्वाकः । एवमप्यनर्थकोऽयं सुपिः । द्विःप्रयोगेऽपि द्वित्वे समुदायस्यैवार्थवत्ता न केवलस्य धोर्नापि चस्य । विषुपुपतुर्विदुषुपुषिष्वत्र “पूर्वत्रासिद्धीयमद्विष्वे” [५०] इति सुपिः पत्वभूतो द्विरुच्यते । रोरित्वेव । निर्गता सृतिः निःसृतिः ।

विकुशमीपरेः स्थलम् ॥५१४७०॥ वि कु शमी परि इत्येतेभ्यः परस्व स्थलसकारस्य पत्वं भवति । विष्ठलम् । कुष्ठलम् । विकृ यदि तिसञ्ज्ञौ तदा स्थलशब्देनाजन्तेन “विकृमादयः” [११३१८१] इति सः । अतिसञ्ज्ञा चेत्तप्तः । शमिष्ठलमिति सञ्ज्ञायां “स्वे ङ्यापोः क्वचित् खौ च” [४१३१७३] इति परिष्ठलम् ।

अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमेवहिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ॥५१४७१॥ अम्बा अम्ब गो भूमि सव्य अप द्वि वि कु शेकु शङ्कु अङ्गु मञ्जि पुञ्जि परमे वहिर्दिवि अग्नि इत्येतेभ्यः उत्तरस्य स्थासकारस्य षो भवति । अम्बाष्ठः । सञ्ज्ञायां तु “स्वे ङ्यापोः क्वचित् खौ च” [४१३१७३] इति प्रादेशे सत्यम्बाष्ठः । अम्बाष्ठः । गोष्ठः । गावत्तिष्ठन्वदिमन्निति घञर्थे कविधानम् । भूमिष्ठः । सव्येष्ठः । सारथिः । अपष्ठः । द्विष्ठः । त्रिष्ठः । कौ कुलितं तिष्ठतीति कुष्ठः । शेकुष्ठः । अङ्गुष्ठः । अङ्गुष्ठः । मञ्जिष्ठः । पुञ्जिष्ठः । परमेष्ठः । वहिष्ठः । दिविष्ठः । अग्निष्ठः । सर्वत्र “सुपि” [२१२१७] “स्थः” [२१२१८] इति कः । स्थ इत्यकारान्तो निर्देशः किम् ? गोस्थानम् । गोस्थितिः । अथ सव्येष्टा सारथिः । परमेष्टी विधिः । “परमे कित्” [७० सू०] इति इति च कथं पत्वम् ? मुणामादिष्वेतौ द्रष्टव्यौ । “ये कृति बहुलम्” [४१३१३२] इतीपोऽनुप् ।

सुपामादिषु च ॥५१४७२॥ सकारस्य षो भवति । स्यतेर्मनि साम । शोभनं सामाऽस्व सुपामा । एत्वं निःषागा । दुःषामा । सुषेधः । निःषेधः । दुःषेधः । “सुः पूजायां न गिति” [११४१७] इति षोः निरुपोश्च क्रियान्तरविपक्वादिगित्वमिति गितलक्षणं पत्वं नास्ति । गित्वेऽपि सेधतेः “सेधो गर्ता” [५१४१७६]

इति प्रतिषेधो मा भूत् । सुषन्धिः । निःषन्धिः । दुःषन्धिः । अयमनादेशसकारः । सुष्टु । दुष्टु । तिष्ठते-
रौणादिकः कुः । अत्र “नाद्यन्ते” [५।४।७३] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । गौरिसन्धः । “असिसन्ध्यां विधः”
[७० सू०] इति विधः । गौर्याः सवधीव सक्तिय यस्येति वसे “स्वाङ्गाद्देवस्य सक्थः” [४।२।११३]
इति टः सन्तः । अन्तः । “नोऽर्णस्ये दृति” [४।२।१३०] इति टित्त्वात् “ले क्वायोः” [४।२।१७३] इत्यादिना
प्रादेशः । प्रतिष्ठाका । प्रतिपूर्वात् स्नातेः “आतो गौ” [२।३।८८] इति कः । वाप् । तदन्तात् स्वार्थे कः ।
पुनष्टाप् “कैऽणः” [५।२।१२५] इति । प्रत्ययस्थेत्यादिनेत्वम् । नौवेविका । दुन्दुभिमेवनम् । सञ्ज्ञेया ।
“एति सञ्ज्ञायामगकारात्” [४० सू०] । हरिषेणः । साधुषेणः । णीति किमर्थः ? हरिसन्धिः ।
सञ्ज्ञायामिति किम् ? पृथ्वी सेनाऽस्य पृथुसेनः । अगकारादिति किम् ? विध्वक्सेनः । इण्कोटिवेवासर्वसेनः ।
“नक्षत्राणा एतिसञ्ज्ञायामगकारात्” [४० सू०] । रोहिण्येणः । रोहिण्येनः । भरणिषेणः । भरणिसेनः ।
अगकारादित्येव । शलभिषक्सेनः । अविहितलक्षणे पत्वमिह द्रष्टव्यम् ।

प्रादुष्ट्यमिडस्ति ॥५।४।७३॥ प्रादुष्टरस्य अमिडः सकारस्य यो भवति तकारादौ इति परतः ।
सर्पिष्ठरम् । सर्पिष्ठमन् । चतुष्टयम् । सर्पिष्ठा । सर्पिष्ठ्वम् । सर्पिष्ठो विभेति । पदान्तेऽपि पत्वार्थमिदम् । प्रादिति
किम् ? गीस्तरा । धूस्तरा । इतीति किम् ? सर्पिस्तत्र । अमिड इति किम् ? भिन्दुस्तराम् । छिन्दुस्तराम् ।
तकारादाविति किम् ? सर्पिस्ताद् भवति । पूर्वस्य मा भूत् । परस्य “सात्” [५।४।७७] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः ।

निसस्तपतावनासेवने ॥५।४।७४॥ निसः सकारस्य तपतौ परतः यो भवत्यनासेवनेऽर्थः । सुहुर्महुः
क्रियायाः सेवनमासेवनम् । निष्टहं सुवर्णम् । निस्तप्ता अरातयः । सङ्कत्ता इत्यर्थः । अनासेवन इति
किम् ? निस्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । सुहुर्महुस्तपतीत्यर्थः । इदमप्यन्ते विधानार्थम् । धुनिर्देशार्थस्तिषा निर्देशः ।

निष्णातनदीष्णातप्रतिष्णाताभिनिष्ठानकपिष्ठलप्रष्टविष्टरगविष्ठिरयुधिष्ठिराः ॥५।४।७५॥
निष्णात नदीष्णात प्रतिष्णात अभिनिष्ठान कपिष्ठल प्रष्ट विष्टर विष्टार गविष्ठिर युधिष्ठिर इत्येते शब्दा
निपात्यन्ते । “निनदीभ्यां स्नातस्य कौशले पत्वम्” । निष्णातः काव्यकरणे । नदीष्णातः । नदीस्नाने
कुशल इत्यर्थः । निस्नातनदीस्नातावन्यत्र । योपि “सुपि” [२।२।७] “स्थः” [२।२।८] इति योगविभागात्के
कृते नदीष्ण इति । तस्य सुषामादिषु पत्वम् । प्रतिष्णातं भवति सूत्रं चेत् । प्रतिस्नातमन्यत् । अभिनिष्ठानो
भवति वर्णश्चेत् । अभिनिष्ठ्यां परस्य स्तन ध्वन इत्यस्य कर्तरि घञि रूपम् । अभिनिःस्तन्यत इति अभिनि-
ष्ठानो विसर्जनीयः । अभिनिःस्तानोऽन्यः । कपिष्ठलो भवति गोत्रशब्दश्चेत् । कपिष्ठलोऽपत्यं यस्य कपिष्ठलिः ।
आद्यः पुमानपत्यस्तन्तेः प्रवर्तयिता लोके गोत्रम् । ततोऽन्यः कपिस्थलम् । प्रष्ट इति प्रात् स्थस्य पत्वमग्रे
ग्रामिणि प्रतिष्ठते इति प्रष्टो देवदत्तः । प्रष्टो गौः । प्रस्थ इत्यन्यत्र । अग्रेग्रामिणीत्यत्र “कुमति” [५।४।६७]
इति खत्वम् । “न भाभूपूज्कमिगमि” [५।४।११३] इति गेः कुस्थस्य प्रतिषेधः । “वेः स्तरस्य वृक्षसन्धोः
पत्वम्” । विष्टरो वृक्षः । विष्टरमासनम् । विस्तर इत्यन्यत्र । “वेः स्तारस्य छन्दोनाम्नि पत्वम्” । विष्टारः
पङ्क्तिछन्दः । विष्टारः बृहती छन्दः । “छन्दः खौ” [२।३।३२] इति घञ् । पदस्य विस्तार इत्यन्यत्र ।
“गवियुधिपूर्वस्य स्थिरस्य सञ्ज्ञायां पत्वम्” । गविष्ठिरो युधिष्ठिरो गोशब्दादहल्ान्तादपि निपातनादीपोऽनुप् ।
गविस्थिरो युधिस्थिर इत्यन्यत्र ।

नाद्यन्ते ॥५।४।७६॥ पदस्य आदावन्ते च पत्वं न भवति । दधि सिञ्चति । मधु सिञ्चति । अग्निस्तत्र ।
वायुस्तत्र । “इण्कोः” [५।४।३७] “व्यादेशयोः” [५।४।३६] इति पत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः ।

सात् ॥५।४।७७॥ सादित्येतस्य च पत्वं न भवति । अग्निसात् । मधुसात् ।

सिचो यङि ॥५।४।७८॥ सिचो यङि परतः पत्वं न भवति । सेसिच्यते । “स्वादेशयोः”
[५।४।३६] इति प्राप्तिः । अथामिसेसिच्यते परिसेसिच्यते इत्यत्र गिलक्षणं पत्वं कस्मान्न भवति ? “येन

नाप्राप्तव्यायेन" [५०] "नाद्यन्ते" [५१४।७६] इत्यस्यैव प्रतिषेधस्य बाधकं गिलक्षणं न सिद्धो यङीत्यस्य । अथवा "पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" [५०] इति यङि सर्वत्र प्रतिषेधः । यङीति किम् ? परिधिषिद्धति ।

सेधो गतौ ॥५१४।७६॥ सेधतेर्गत्यर्थस्य पत्वं न भवति । अभिसेधति । प्रतिसेधति गाः । "स्यासेन-यसेध" [५१४।७६] इत्यादिना प्राप्तस्य प्रतिषेधः । गताविति किम् ? प्रतिषेधति पापम् । निवारयतीत्यर्थः ।

निस्तब्धप्रतिस्तब्धौ ॥५१४।८०॥ निस्तब्ध प्रतिस्तब्ध इतीमौ शब्दौ निपात्येते । निस्तब्धः । प्रतिस्तब्धः । के परतः "स्तम्भेः" [५१४।८०] इति प्राप्ते प्रतिषेधः ।

सोढः ॥५१४।८१॥ सहेः सोढभूतस्य पत्वं न भवति । परिसोढ । परिसोढुम् । एवं निसोढ । विसोढ । परिनिविभ्यः "सिधुसहसुदसुस्वज्ञाम्" [५१४।८२] इत्यनेन प्राप्तिः । सोढभूतस्य ग्रहणं किम् ? परिषहते । निषहते । सोढ इति सहेः सोढभूतस्यानुकरणं कृत्वा निर्दिष्टः ।

स्तम्भुसिधुसहं कचि ॥५१४।८२॥ स्तम्भु सिधु सह इत्येतेषां कचि परतः पत्वं न भवति । अभ्यतस्तम्भत् । पर्यतस्तम्भत् । "स्तम्भेः" [५१४।८२] इत्यटा चेन च व्यव्याये गिनिमित्तं प्रतिषिध्यते । सिधुसहोस्तु परिनिविभ्यः परधोः "वाड्या" [५१४।८३] इति विकल्पः प्राप्तः । पर्यसीषिवत् । न्यसीषिवत् । पर्यसीषहत् । न्यसीषहत् । सर्वत्र गिमुक्ताणि च क्रियते । गिलक्षणस्य पत्यस्यार्थं प्रतिषेधो न तु "व्यादेशयोः" [५१४।८६] इत्यनेन चादुत्तरस्य व्यवहितत्वात् ।

सुजः स्यसनोः ॥५१४।८३॥ सुनोतैः सकारस्य स्य सन् इत्येतयोः परतः पत्वं न भवति । अभिसोध्यते । परिसोध्यते । अभ्यसोध्यत । पर्यसोध्यत । सनि । सुसृषति । नैतद्युक्तम् । "यणि चाणिस्तोरेष" [५१४।८४] इति नियमाश्रयाप्राप्तिः । इदं तर्हि अभिसुसृषति । अत्रापि "स्वादेश्येन धस्य" [५१४।८४] इति नियमादप्राप्तिः । तत्रोक्तम् । गिनिमित्तं स्यादीनामेव पत्वं नान्यस्थेति । किंचि तद्युदाहरणम् । अभिसुसृः । रित्वे विसर्जनीये च कृते "यणि" [५१४।८४] इति नियमाभावाच्चात्परस्य प्राप्तं पत्वं प्रतिषिध्यते । स्यसनोरिति किम् ? सुप्राव ।

सदिस्वञ्ज्योः परस्य क्षिटि ॥५१४।८४॥ सदि स्वञ्जि इत्येतयोर्क्षिटि परस्य पत्वं न भवति । अभिषसाद् । निषसाद् । अभिषस्वञ्जे । निषस्वञ्जे । "क्षिटि स्वञ्जोर्वा न खं भवतीत्युपसंख्यातव्यम्" [वा०] अभिषस्वञ्जे । विषस्वञ्जे । सदेश्चेन व्यव्याये "सदोऽप्रतेः" [५१४।८५] इति स्वञ्जेस्तु "स्यासेनय" [५१४।८६] इत्यादिना पत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः ।

धो नो णः समाने ॥५१४।८५॥ पदस्येति वर्तमानं समान इत्यनेन समानधिकरणं जायते । पकाररेफाभ्यामुत्तरस्य नकारस्य नकारादेशो भवति समाने पदे चेन्निमित्तनिमित्तिनौ भवतः । कुष्णाति । मुष्णाति । आसीर्याम् । विस्तीर्याम् । समान इति किम् ? मुनिर्नयति । साधुर्नयति स्वर्गम् । "धिन्विहृयन्मोर च" [२।१।७५] इत्यत्र एत्वनिर्देशात् ऋकारादपि परस्य एत्वं भवति । तिसृणाम् । मातृणाम् । पकारग्रहणमुत्तरार्थम् । अव्यवाये षट्वेनापि सिद्धमेतत् ।

अट्कुप्वाङ्व्यवायेऽपि ॥५१४।८६॥ अट् कु पु आङ् इत्येतैर्व्यवाये अव्यवायेऽप्यनेन पकाररेफाभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णो भवति । अट् । बर्णेण । कृपेण । गिरिणा । मेरुणा । कु । निष्केण । शुष्केण । अर्केण । मूर्खेण । बर्गेण । शीर्षेण । पु । पुष्पेण । सर्पेण । दर्पेण । रेकेण । गर्भेण । दर्भेण । धर्मेण । आङ् । पर्याणदम् । निराणीतम् । अङ्ग्रहणेनैव सिद्धे आङ् ग्रहणं "पदव्यवायेऽपि" [५१४।९१६] अस्य बाधनार्थम् । अङ्गारिष्ये-केनाकेन च व्यव्याये एत्वं ज्ञातव्यम् । उभयथा वाक्यपरिसमाप्तेराश्रयणात् । यथा गर्गः सह न भोक्तव्यमेकेनाके-नेन च सह न भुज्यते । इह कथं एत्वम् बृंहणम् । बृंहणीयम् । "तृह् स्तृह् तृह् हिंसार्थः" । तृंहणम् । तृंहणीयमिति । अनुस्वारस्यायोगवाहत्वादङ्ग्रहणेन ग्रहणमिति ज्ञत्वम् । तदुक्तम्—“अयोगवाहो यत्रेहस्तत्र तत्र

तदा भवेत्” इति । “रिवि रवि गती” इत्यस्य । रिव्वनम् । रिव्वनीयम् । सत्यरत्नाभावादनुस्वारो नाम्नीति एत्वाभावः । तृप्पणम् । तृप्पणीयमित्यत्र परस्वत्वस्यासिद्धत्वादनुस्वारोऽस्तीति एत्वं भवति ।

पूर्वपदात् खावगः ॥१४८७॥ खु इति वर्तते । पकाररेफवतः पूर्वपदात् अगकारान्तात् उत्तरस्य नकारस्य शो भवति खुविषये । पुष्पणन्दी । श्रीणन्दी । श्रीनन्दिशब्दस्य चुभ्नादिषु णत्वं निरिद्धम् । खरणमः । बाघ्रीणसः । खाविति किम् ? शुष्कनासिकः । दीर्घनासिकः । अग इति किम् ? अगवनम् । चुभ्नादिषु नृनग्न-तृप्नोतिशब्दयोः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् ऋकारस्याद्रेफादञ्ज्ज्ञेन व्यवहितत्वात् पदस्य एत्वं भवतीति एत्त्वप्राप्तिः । नियमाधोऽयं योगः । पूर्वपदात्खावेय नान्यत्र । अथ पूर्वपदादेव खाविति कस्मान्न नियमो भवति । एवं सति खु-नियमः स्यात् । अखुविषये पूर्वेषु एत्वसिद्धेः “वाङ्मादादनम्” [५।४।१२] इत्याचारम्भोऽनर्थकः स्यात् । अत्र से कृते समुदाय्या विभक्ती तथा समुदायस्यैकपदत्वे पूर्वेषु प्राप्तिरस्तीति नियमो घटते । पूर्वपदत्वं तु स्मर्वमाणाव-यवापेक्षम् । पूर्वपदशब्दश्च सम्बन्धिशब्दः । तेनोत्तरपदस्थस्य नकारस्य एत्वं नियमो निवर्तयति न पूर्वपदस्थस्य नापि त्यस्यस्य । कण्ठप्रियः । खारपायणः । कण्ठं प्रियमस्य । खरपस्यापत्यमिति विग्रहः । अग इत्यनन्तरस्य प्रतिषेधः प्राप्नोतीति चेत् ; तत्र को दोषः ? खौ चाखौ च पूर्वेषु एत्वं स्यात् । एवं तर्हि अग इति योगविभागः । तेन विधिनियमयोः प्रतिषेधः ।

वनं पुरगामिश्रकासिद्धकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः ॥१४८८॥ खाविति वर्तते । पुरगा मिश्रका सिद्धका शारिका कोटरा अग्र इत्येतेभ्यः परं वनं विनम्यते । विनाम इति प्रत्यणत्वयोः सञ्ज्ञा । पुण्या-दणम् । मिश्रकावणम् । सिद्धकावणम् । शारिकावणम् । कोटरावणम् । तासे कृते पूर्वपदस्य “गिरिवने किंशुलुक-कोटराग्रोः खौ” [४।३।२२०] इति दीत्वम् । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । “राजदन्त” [४।३।१६] आदित्वात्पूर्वनिपातः । “ईषोऽद्भजः” [४।३।१२७] इत्यनुप् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” । एतेभ्य एव वनं विनम्यते नान्येभ्यः । मनोहरवनम् । अथ पुरगादिभ्यो वनमेव विनम्यते नान्यदिति कस्मान्न नियमः । एवं सति पुरगादिनियमः स्यात् । वनं त्वनिदत्तं तस्य खौ पूर्वणैव एत्वं सिद्धमित्युत्तरसूत्रे खावपि प्रादिभ्यः परं वनं विनम्यत इत्यपिशब्दोऽनर्थकः स्यात् । ज्ञायते पुरगादिभ्य एव वनं विनम्यते इति नियमः । पुरगादीनां कृतदीत्वानामुच्चारणं किम् ? यत्रैव दीत्वं तत्रैव एत्वं यथा स्यात् । इदमेव ज्ञापकमनित्यं चो दीत्वमिति तेन लभ्यकर्णः । विद्धकर्णः । अलिङ्गकः । कमलङ्गकः इत्येवमादि सिद्धम् ।

प्रान्तर्निःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ण्यखदिरपीयूषाभ्योऽखावपि ॥१४८९॥ प्र अन्तर् निम् शर इक्षु प्लक्ष आम्र कार्ण्य खदिर पीयूषा इत्येतेभ्यः परं वनं विनम्यते अखावपि खावपि च । प्रथणम् । अन्त-र्वणम् । निर्धणम् । शरवणम् । इक्षुवणम् । प्लक्षवणम् । कार्ण्यवणम् । खदिरवणम् । पीयूषावणम् । प्रणं वनम्, अन्तर्गतं वनम्, निर्गतं वनमिति विग्रहः । शरश्यादिषु तासः । ये ओषधिवनस्पतिशब्दा न भवन्ति तेभ्यः अखौ खौ च पूर्वभ्यामप्राप्ते विधिः । ओषधिवनस्पतिशब्देभ्यस्तु खावप्राप्ते विधिः । अत्रां नृत्तरसूत्रेण विग्रहो प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । अपिशब्दस्य पूर्वसूत्रे प्रयोजनमुक्तम् ।

विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ॥१४९०॥ ओषधिवनस्पतिशब्देभ्यः परं वनं विभाषा विनम्यते । ओषधिभ्यः—दूर्वावणम् । दूर्वावनम् । ब्रौहिवणम् । ब्रौहिवनम् । वनस्पतिभ्यः—करीरवणम् । करीरवनम् । आरुक्वणम् । आरुकवनम् । व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणात् द्वयद्वयस्वद्वययोर्विकल्पः । तेनेह न भवति । भद्रदारु-वनम् । “ईरिकादिभ्यश्च न भवति” [वा०] । ईरिकावनम् । तिमिरवनम् । समीरवनम् । खौ पुरगादिभ्य एव वनं विनम्यते इत्यखाविधं विभाषा । खौ त्वसिद्धत्वान्निवृत्तेन बाध्यते । यदि खावपि प्रयोगोऽस्ति विभाषेति योगविभाषास्ति यमवाचा द्रष्टव्या । बहुत्वनिर्देशः पर्यायार्थः । इह वनस्पतिग्रहणे वृक्षाणामपि ग्रहणम् । यतः—

“कर्त्ता वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पकश्चोपगाः ।”

पुष्पपले अन्यतरच्चोपगच्छन्ति ये ते वृक्षाः । तत्र यो वनस्पतिः स वृक्षो भवत्येव । वृक्षस्तु नावश्यं वनस्पतिरिति वनस्पतिग्रहणं कृतम् । एतेभ्य इति किम् ? शिरीषवनम् । शिरीषाणामदूरभवो आमः तस्य वनम् । “वरणादेः” [३।२।६२] इत्युप् । उपि कृते “युक्तवदुसि लिङ्गसङ्ख्ये” [१।१।६८] इत्यनेन लिङ्ग-सङ्ख्ययोरेवातिदेशो न वनस्पतित्वस्येति शक्यताभावः ।

अतोऽङ्कः ॥५।४।६१॥ अकारान्तापूर्वपदादुत्तरस्य अह्नो नकारस्य शत्वं भवति । पूर्वाहणः । अप-राहणः । “पूर्वापरप्रथम” [१।३।५३] आदि सूत्रेण पसः । “राजाहःसखिभ्यष्टः” [१।२।६३] इति टः । “एभ्योऽङ्कोऽङ्कः” [५।२।१०] इत्यह्नादेशः । अत इति किम् ? निरहः । दुरहः । निर्गतमहः । दुष्टमहः । तपरकरणं किम् ? परावृत्तमहः पराह्नः । अह्न इति सूत्रं वृत्तिप्रदितैकदेशो वान्तः । “सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्टः” [५।२।११४] इति तास्थाने वानिर्देशाद् व्याख्येयः । अह्न इति अकारान्तनिर्देशाद्दीर्घाह्ना शरादित्वत्र न भवति । दीर्घाण्यहान्कस्यामिति यत् “बोद्ध्वे” [३।१।६१] इति वा डीविधिः ।

वाह्यावाहनम् ॥५।४।६२॥ कालवामान्ये बोद्धव्यं वाह्यम् । वाह्यादुत्तरस्य वाहनस्य शत्वं भवति । ऊह्यतेऽनेनेति वाहनम् । प्रजादित्वात् स्वार्थिकोऽण् । अतो वा निपातनादुच्चे दीत्वम् । इच्छुवाहणम् । शरवाह-णम् । कर्मणि तासः । वाह्यादिति किम् ? सुखाहनम् । सुखात्मिकमित्यर्थः । एवं नखाहनः । नात्र वाह्यापरं वाहनम्, किन्तु वाहनात् । वाह्यावाहकसम्बन्धे शत्वं भवत्येव । सुखाहणम् । नखाहणम् । यौ पूर्वेण सिद्धं शत्वं नखाहण इति ।

पानं देशे ॥५।४।६३॥ पाननकारस्य शत्वं भवति देशे गम्ये । सर्वत्र पूर्वपदस्थान्निमित्तादिति वर्तते । कपाययोगाः गान्धारयः । क्षीरपाणाः आन्ध्राः । क्षीरपाणाः द्रमिणाः । सुरापाणाः प्राच्यः । अतिशयोक्तं गम्यते । तात्स्थान्ताच्छ्रमिति मनुष्याभिधाने देशाभिधानेन । पीयते इति पानम् । “युद्ध्या बहुलम्” [२।३।६४] इति कर्मणि युट् । कपायं पानमेवमिति कर्तरि ता । देश इति किम् ? दक्षिणपानम् । क्षीरपाना गोपालकाः ।

चा भावकरणे ॥५।४।६४॥ भावे करणे च यः पानशब्दस्तत्रकारस्य वा शत्वं भवति । भावे-क्षीर-पाणम् । क्षीरपानं वर्तते । करणे-पीयतेऽनेनेति पानः । वारिपाणः । वारिपानः कंसः । वेति योगविभागाद्विनि-तयादिषु वा शत्वम् । चक्रणदी । चक्रनदी । चक्रणिगम्भा । चक्रनितम्भा ।

मृदन्तनुम्विभक्त्याम् ॥५।४।६५॥ मृदन्ते नुमि विभक्त्यां च यो नकारः तस्य पूर्वपदस्थान्निमित्ताद् वा शत्वं भवति । मृदन्ते-मापवापिणौ । मापवापिनौ । व्रीहिवापिणौ । व्रीहिवापिनौ । “प्रायोऽभीक्ष्ये” [२।२।६६] इति णिन् । नुमि । मापवापाणि । मापवापानि । “लक्षणाप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव” [५०] इति नुमो मृदन्तग्रहणेनग्रहणम् । विभक्त्याम्-मापवापेण । मापवापेन । व्रीहिवापेण । व्रीहिवापेन । नियमाद-प्राप्ते विकल्पः । पूर्वपदादिति वर्तते तेन सम्बन्धादुत्तरपदं यन्मृत्सज्जं तदन्तस्य विकल्पः । तेनेह न भवति । गर्गणां भगिनीः गर्गभगिनीति । वदा तु गर्गभगशब्दान्मन्वर्थीय इन् तदा शत्वं भवत्येव । गर्गभगिणीति । “पूर्वपदास्वा-वगः” [५।४।६७] इत्यनेनोत्तरपदस्थस्य नकारस्य शत्वं निवार्यते । न त्यस्यस्येत्युक्तम् । यथा मानृभोगीण इत्यत्र समुदायस्य समानपदत्वे । पुरुवारिणी इत्यत्र विकल्पस्य बहिरङ्गत्वादसिद्धत्वाच्चादिसूत्रेण नत्वम् । मापवापिणा मापवापिना इत्यत्र पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य विधिरिति । मृदन्तत्वाद्विकल्पः । वेति व्यवस्थितविभागाऽनुवर्तनादिह न भवति । आचार्ययूना । क्षत्रिययूना । प्रपक्वानि । परिपक्वानि । दीर्घाङ्गी शरादिति ।

एकान्छौ णः ॥५।४।६६॥ एकान्छौ पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य मृदन्तनुम्विभक्तीनकारस्य शकारो भवति । ब्रह्महणौ । इवहणौ । क्षीरपाणि । सुरापाणि । क्षीरपेण । सुरापेण । “प्रातः कः”

[२।२।३] इति कः । सुरासीभ्योः पिबः” [२।२।३] इति टक् । पुनर्ग्रहणं निवृत्त्यर्थम् ।

कुमति ॥५।४।६७॥ कवर्गवति च यौ मृदन्तनुम्बिभक्तीनकारस्य णत्वं भवति । इच्छुयुगिणौ । कस्युगिणौ । इच्छुयुगेण । अनेकाण्वर्थे वचनम् । काविति सिद्धे कुमतीति मत्वर्थोऽयः किम् ? अकवर्गादावपि यौ प्रापणार्थम् । अन्यथा “येनास्ति विधि” न्यायेन कवर्गादावेव स्यात् ।

गेरसेऽपि विकृतेः ॥५।४।६८॥ गेरुत्तरस्य सामर्थ्याद्धोर्विकारस्यासेऽपि शो भवति । असे । प्रणमति । परिणमति । से-प्रणायकः । परिणायकः । विक्रियसे इति विकृतिः नकारः । अवववविकारे समुदायस्य धोर्विकारे ययैकदेशाऽलङ्कारेऽलङ्कृतो देवदत्त इति । ततो विकृतं प्रति क्रियायोगित्वात् प्रादीनां सित्वम् । गेरिति किम् ? मुनिर्नयति स्वर्गम् । प्रगता नायका अस्माद्गमात् प्रनायको ग्रामः । अपिग्रहणं किम् ? से पूर्व-पदात् खाविति नियमात् णत्वं न स्यात् । ननु णत्वस्यासिद्धत्वाच्च नियमप्राप्तिः । इदमेवापिग्रहणं आपकम् । “न योगे योगोऽसिद्धोऽपि तु प्रकरणे प्रकरणमसिद्धं भवति” । तेन निष्कृतं दुष्कृतमित्यत्र “इणः षः” [५।४।२७] इति पत्वे क्रियमाणे “इबुवुठः” [५।४।२८] इति सत्वं नासिद्धम् । विकृतेरिति किम् ? प्रनृत्यति । प्रनर्तकः । अयमौपदेशिको नकारो न तु “णो नः” [४।३।५४] इत्यनेन विकृतः । “नृतिनन्दिनक्षिनाष्टनाभ-दःर्जम्” इति वचनम् ।

नशेः शः ॥५।४।६९॥ नशेः शकारान्तस्य णत्वं भवति । प्रणश्यति । परिणश्यति । प्रणाशकः । परिणाशकः । श इति किम् ? प्रनष्टः । प्रनश्यति । शकारस्यैवेति नियमात् णत्वाभावः । नशेरेव शकारान्तस्येति कृत्मान्न नियमः । अन्यस्य शकारान्तस्यासम्भवात् । सम्भवे वा णत्वोपदेशादेव व्यावृत्तिः । णत्वोपदेशो हि “णो नः” [४।३।५४] इति विकृतिद्वारेण णत्वार्थः ।

नेर्गदन्तपतपद्भुमास्यतिहन्तिधातिवातिद्रातिप्तातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोत्तिदेग्धिषु ॥५।४।१००॥ गिश्वास्त्रिमित्तात् परस्य नेर्नेनकारस्य णत्वं भवत्यसेऽपि गदादिषु परतः । प्रणिगदति । परिणिगदति । सेऽपि । प्रणिगदिता । परिणिगदिता । प्रणिनर्दति । परिणिनर्दति । प्रणिनदिता । परिणिनदिता । प्रणिपतति । प्रणिपतिता । प्रणिपन्नै । प्रणिपत्ता । सुसञ्ज्ञे-प्रणिददाति । प्रणिददाता । प्रणिदधाति । प्रणिधाता । मा इति माडूमेद्धोर्ग्रहणम् । प्रणिमिमीते । प्रणिमाता । मेडः कृतात्वस्यैव ग्रहणम् । प्रणिमास्यते । प्रणिमाता । “मीष् हिंसायाम्” । “डुमिष् प्रचेपणे” इत्यनयोः “मिष्मीष्दीकां व्ये च” [४।३।४३] इति कृतात्वयोः “मा माने” इत्यस्य च न ग्रहणम् । अस्य शेषत्वेनोत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषाऽतः सर्वमिदं लभ्यते । प्रणिष्यति । प्रणिषाता । प्रणिहन्ति । प्रणिहन्ता । प्रणिष्याति । प्रणिष्याता । प्रणिवाति । प्रणिवाता । प्रणिद्राति । प्रणिद्राता । प्रणिप्ताति । प्रणिप्ताता । प्रणिवपति । प्रणिवप्ता । प्रणिवहति । प्रणिवोदा । प्रणिशाम्यति । प्रणिशामिता । प्रणिचिनोति । प्रणिचेता । प्रणिदेग्धि । प्रणिदेग्धा । गदादिष्वीभिर्देशादनन्तरस्य कार्यमित्यटा व्यावाये कथं णत्वम् । प्रणयगदत् । परिणयगददिति । अडागमश्च गोर्धिहितो विकरणान्तश्च गुरशक्यो गदग्रहणेन ग्रहीतुमिति । नैव शेषः । अड्व्यवाये इति मण्डूक्युक्त्या सम्बध्यते । तिपा निर्देशा यडुबन्तनिवृत्त्यर्थः ।

धाऽपान्तेऽकखादौ ॥५।४।१०१॥ गेरिति वर्तते । अककारान्ते अककारखकारादौ धौ परतः गिश्वा-स्त्रिमित्ताद्वा नेर्णो भवति । प्रणिपचति । प्रणिपचति । परिणिपिनति । परिणिपिनति । अपान्त इति किम् ? प्रणिपेष्टा । अन्तग्रहणमुपदेशार्थमिहापि न भवति । प्रणिपेक्षति । प्रच्छेदश्चकारान्तत्वाद् भवति । प्रतिप्रष्टा । अकखादाविति किम् ? प्रणिकरोति । प्रणिखादति । अचापि अकखोरिति सिद्धे आदिग्रहणमुपदेशार्थम् । प्रणि-चकार । प्रणिचखाद ।

ह्रिय्योर्लुभोः ॥५१४१०२॥ हि धी इत्येतयोर्धौ ननौ तयोर्लुभं भवति गित्वाभिनिस्तात् । ग्रहियोति । ग्रहियुतः । प्रमीणाति । प्रमीणीतः । एबीत्वयोः कुतयोः एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्तत्त्वम् ।

आनि ॥५१४१०३॥ आनीत्वेतस्य धोः परस्य णो भवति । आनिं प्रति गित्वाभावादिह गिग्रहणं आदि-
मात्रोपलक्षणम् । प्रवपाणि । प्रापयाणि । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषयाऽर्थवत् एव नेग्रहणादिह न भवति । प्रवृद्धा
वपा येषां तानि प्रवपानि मांवाणि । आनीत्यविभक्तीको निर्देशः ।

लोऽनितेः ॥५१४१०४॥ लोः परस्यानितेनकारस्य णो भवति । प्राणिनि । पर्यणिनि । अङ्गव्यायेऽपि ।
पर्याणीत् । पुनर्याग्रहणमपवादविषयेऽपि णत्वार्थम् । हे प्राण ! इति । कथन्तस्य किः । “अन्तस्य”
[५१४११५] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । तिपा निर्देशो यङ्गन्तनिवृत्त्यर्थः ।

सचस्योभौ ॥५१४१०५॥ सचस्यानितेऽभौ नकारौ विनश्येते । गेरिति वर्तते । प्राणिणिपति । पर-
णिणिपति ! पराणिणत् । अत्र द्वित्वे कृते चरुणेण व्यवधानाद्धोर्नकारस्य न प्राप्नोतीत्येवमर्थं सूत्रम् । उभौ-
ग्रहणं किमर्थम् ? यावता पूर्वनकारस्य पूर्वसूत्रेण णत्वं सिद्धम् । धोस्त्वारम्भसामर्थ्यान्नकारस्य व्यवधानेऽपि भवि-
ष्यति । नापि द्वितीयस्य णत्वमुच्यमानं पूर्वस्यापवादः । सचस्येति असन्निदेशात् । अन्यथा चादित्येवोच्येत । निय-
मार्थं तद्व्युभौग्रहणम्-गेरनन्तरमुभयोरेव णत्वं न तृतीयस्य । प्राणिणिपयतेः लुङि कर्त्तुं च कृते पुनः कर्त्तुं द्वित्वे
सति प्राणिणिपयत् । ननु च “पूर्वप्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वचनान् कृतणत्वस्य द्वित्वे सति उभयोर्णत्वं लभ्यत
इति नाथोऽनेनेति उभौग्रहणार्थं तर्हि सूत्रं कर्तव्यम् । न च “पूर्वप्रासिद्धीयमद्वित्वे” इतीदं सर्ववियमम्
अन्यथा औजिदित्यत्र दत्वधत्वध्रुवदृक्त्वानामसिद्धत्वाभावात् इति इत्येतस्य द्वित्वं न स्यात् ।

हन्तेरघः ॥५१४१०६॥ घर्त्तित्वे हन्तेर्नकारस्य णो भवति । गेरिति वर्तते । ग्रहण्यते । परिहणनम् ।
अन्तःशब्दस्य गिसञ्ज्ञोक्ता । अन्तर्हण्यते । अन्तर्हणनम् । उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषायालोकनात् देशविषये
न भवति । अन्तर्हणनो देशः । अघ इति किम् ? प्रघ्नन्ति । प्राघानि । “घनान्तर्घण” [२१३।६६] आदि
सूत्रे अन्तर्घणादीनां निपातनाणत्वम् । अघ इति योगविभागात् । हन्तेर्ग्रहणस्यैव णत्वम् । तेनेह न भवति ।
वृत्रघ्न इति । सञ्ज्ञायां “पूर्वपदाप्लावगः” [५१४।८७] इति णत्वं प्राप्तम् । असञ्ज्ञात्वे “पूजाज् षी शः”
[५१४।६६] इति ।

वा म्योः ॥५१४१०७॥ मकारवकारयोः परतः हन्तेर्नकारस्य वा णत्वं भवति । ग्रहण्यः । ग्रहण्यः ।
ग्रहण्यः । ग्रहण्यः । वाग्रहणं पूर्वविधीनां नित्यार्थम् ।

कृत्यचः ॥५१४१०८॥ कृत्यो यो नकारः तस्याच उत्तरस्य णो भवति स चेन्नकारपरो भवति गित्वा-
भिनिस्तात् । कृतीति नकारस्य विशेषणं नाचः । कृत्यश्चकाच्चाचः परस्य नकारस्य णत्वं भवतीत्यर्थः । प्रया-
णम् । प्रवहणम् । प्रयायमाणम् । प्रयाणीयम् । अप्रयाणिर्हन्त ते वृपल । प्रयाणिणः । ग्रहीणः । ग्रहीणवान् ।
अन्तःशब्दस्य गित्वे अन्तर्याणम् । अन्तर्यणम् । वेति व्यवस्थितविभाषाभिसम्बन्धादिह न भवति । अन्तरयनो
देश इति । इहापि भवति । निर्विणः प्राजाजीदिति । अच इति किम् ? प्रभुग्नः ।

खोर्षा ॥५१४१०९॥ ख्यन्ताद्यो विहितः कृत्यस्थस्याच उत्तरस्य नकारस्य वा णत्वं भवति । गेरिति
वर्तते । प्रयापणम् । प्रयापनम् । ननु प्रयाप्यमाण इत्यत्र यका व्यवहितत्वात् कथं कृतो णत्वम् ? अङ्गव्याय इति
वर्तते । ख्यन्ताद्विहितस्य कृतो व्यव्यायेऽपि णत्वं भविष्यति । पूर्वण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

हलश्चेजुङः ॥५१४११०॥ इजुङः सर्वस्य हलन्तत्वात् हल्ग्रहणमादिविशेषणम् । हजादेरिजुङो धोः
परस्य कृति नकारस्य वा णत्वं भवति गेरितिस्तात् । प्रकोपणम् । प्रकोपनम् । प्रमोहणम् । प्रमोहनम् । “कृत्यचः”
[५१४।१०८] इति नित्ये प्राप्ते विकल्पः ।

[संनुम इजादेः ॥५।४।१११॥ निलनिकनिन्दो वा ॥५।४।११२॥ न भाभूपकमिगमिध्या-
यीवेपाम् ॥५।४।११३॥ घात् पदान्तात् ॥५।४।११४॥ अन्तस्य ॥५।४।११५॥ पदव्यवायेऽपि
॥५।४।११६॥]

लुभ्नादिषु ॥५।४।११७॥ लुभ्ना इत्येवमादिषु शब्देषु नकारस्य गणारादेशो न भवति । लुभ ।
लुभ्नाति । नृप । नृनोति । इदमेव ज्ञापकम् । नृपिः स्वादावर्प्यस्ति । एकदेशविकृतस्यानन्वयान् लुभ्नातः ।
लुभ्नाति । नृनुतः । नृनुवन्ति । विकरणान्तनिर्देशः किम् ? जोषणम् । लणम् । नन्ति । नन्दन नग इत्येतेषां
“पूर्वपदात्तावगः” [५।४।८७] इति शब्दं प्राप्तम् । हरिनन्दी । हरिनन्दनः । गिरिनगरम् । नर्त्तन नटन गहन
निवेश निवास अग्नि अनूप एतान्युत्तरपदानि सङ्ग्राह्यामेव । परिनर्त्तनम् । परिनन्दनम् । भरीनटनः । परिगहनम् ।
शरनिवेशः । शरनिवासः । शराग्निः । दर्भान्पनम् । आचार्यभोगीनः । “आचार्यादणत्वं च” [ग० सू०] ।
आचार्यानी । “चतुर्हार्थानी वक्षसि द्रष्टव्या” [वा०] । “ईरिकादीनि च वनोत्तरपदानि सञ्ज्ञायाम्” [वा०] ।
ईरिका । तिमिर । समीर । कुवेर । हरि । कर्मार । इति ईरिकादिः । आचार्ययूना । क्षत्रिययूना । दीर्घाङ्नी
शरदिति । अविहितलक्षणो शत्वप्रतिषेधः लुभ्नादिषु द्रष्टव्यः ।

न नृतेर्यङि ॥५।४।११८॥ नृतेर्यङि शत्वं न भवति । नरीनृत्यते । नरीनृत्येते । नरीनृत्यन्ते । व्यङ्गे ।
त्याश्रयात् । नर्गति । नरिनर्ति । नरीनर्ति ।

स्तोः श्चुना श्चुः ॥५।४।११९॥ सकारतवर्गयोः शकारश्चवर्गाभ्यां योगे शकारश्चवर्गो भवतः । अत्र
स्थान्यदेशवोर्यथानस्यम्, स्थानिनिमित्तयोस्तु नेत्येते । “शात्” [५।४।१२३] इति तवर्गस्य चत्वे प्रतिनिधायक्यते ।
सकारस्य शकारेण । विनाढ्यशोभते । तस्यैव चवर्गेण । धन्यश्चिनोति पुण्यम् । ओन्नश्च । तुश्चति पापम् ।
मुनिश्चिन्नन्ति कर्मवन्धम् । तवर्गस्य शकारेण । अग्निश्चिच्छेते । कृत्वमसिद्धमिति शे च्त्वम् । पूर्वेषां शकारेण ।
“शात्” [५।४।१२३] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तवर्गस्य चवर्गेण । तत्त्वविच्चिनोति । तत्त्वविच्छादयति । तत्त्वविज-
यति । परिच्छेदः । मवाञ्चकारीयति । श्वाविति सिद्धे श्चुनेति निर्देशः शादिति प्रतिषेधश्च ज्ञापकः । परेषां
पूर्वेषां च लुना योगे च्त्वमिति । तेन राज्ञः । याञ्जा । “मस्तिन्नशोर्भक्ति” [५।१।३६] इति निर्देशान् मज्जति ।
भृज्जतीत्यत्र च्त्वमे कर्तव्ये जश्चं नाभिद्धम् ।

पुनः पुः ॥५।४।१२०॥ सकारतवर्गयोः पकारतवर्गान्दां योगे पकारतवर्गो भवतः । अत्रापि “न तोः पि”
[५।४।१२२] इति प्रतिषेधात् स्थानिनिमित्तयोर्यथासङ्ख्याभावः । सकारस्य पकारेण । कण्ण्डे । तस्यैव तवर्गेण ।
अश्वशीकते । पुच्छटक्वयति । तवर्गस्य पकारेण परेषां प्रतिषेधं वक्ष्यति । पूर्वेषां पेष्टा । पेष्टुम् । तवर्गस्य तवर्गेण ।
बृहट्ठक् । अट्ठ अट्टे । तकारोपदेशः क्वयि पदान्तलो च कृते अवगणार्थः । मरुट्ठक्वयति । अट्टु । अट्टुति ।
श्वविद्धौकते । भवाण्यकारोयति ।

पदस्य टोर्नाम्नवतिनगरी ॥५।४।१२१॥ पदस्य टोः परेषां नाम्नवति नगरी इत्येतेषां दुत्वं भवति ।
पण्यम् । पण्यवतिः । पण्यण्यः । नियमार्थमिदम् । पदान्तयोः परस्य नाम्नवतिनगरीत्यस्यैव नान्वत्येति ।
तत्त्वामृतलिङ् तरति दुःखम् । पदान्तस्यैव नियमादिहाप्रतिषेधः । ईड् सूतो । ईड् । पदत्येति वर्तमाने पुनः
पदस्येति ग्रहणमन्तार्थम् । ननु तथापि नाम्नवतिनगरीषु परतः पूर्वस्य पदान्तत्वसिद्धेः पदस्येति किमर्थम् ?
अतुल्यजातीयस्य सकारस्यापि परस्य पदत्वनिश्चित्यथा स्यात् । मधुलिङ् सीदति ।

न तोः पि ॥५।४।१२२॥ तवर्गस्य पकारे यदुक्तं तन्न भवति । दुत्त्वमुक्तम् । तीर्थङ्गणोदशः ।
भवान्यण्डः ।

१. प्रसिद्ध [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिः खण्डिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायी-
मनुसूत्यान् निर्दिष्टानि ।

शात् ॥५॥४॥१२३॥ शकारात् परस्य तवर्गस्य यदुक्तं तन्न भवति । किमुक्तम् ? चुत्वम् । प्रश्नः । चिश्नः । पदान्तस्य शकारत्वाभावात् अपदान्ते प्रतिषेधः ।

ख्शः शो यो चा ॥५॥४॥१२४॥ ख्श इत्येतस्य शकारस्य यकारो भवति वा । आख्याता । आख्याता । पर्याख्यानमिति यत्वस्यासिद्धत्वात् “कृत्यचः” [५॥४॥१०८] इति णत्वं नास्ति । वेति योगविभागः । तेन चुना योगे “च उब्जे” इति लब्धम् । उब्जिता । उब्जितुम् । उब्जितव्यम् ।

यरो डो विभाषा डे ॥५॥४॥१२५॥ पुनः पदत्वेति सामर्थ्यात् पदान्त इति लभ्यते । यरः पदान्तस्य विभाषया ङादेशो भवति डे परतः । सुयाङ् नयति । सुयाङ् नयति । परमुलः । वड्मुखः । सन्नयनम् । सदनयनम् । ककुम्भखलम् । ककुम्भखलम् । पदान्तस्येति किम् ? सञ्च । स्मृनाति । वेत्यनुवृत्तौ विभाषाग्रहणं व्यवस्थार्थम् । तेन त्वे नित्यं भवति । वाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । परणाम् । वाचो विकारः । “नित्यं दुशरादेः” [३॥३॥१०६] इति मयङ् । त्वचः आगतं “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” [३॥३॥५५] । “मयट्” [३॥३॥५६] इति मयट् ।

अचो रहाद् डे ॥५॥४॥१२६॥ अच उत्तरौ यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो विभाषया द्वे रूपे भवतः । अर्कः । अर्कः । तर्कः । तर्कः । ब्रह्मन् । ब्रह्मन् । सद्यम् । सद्यम् । अच इति किम् ? इतुते । विभाषेत्यनुवृत्तेर्व्यवस्था । शरोऽचि द्वित्वन्न भवत्येव । आदर्शः । वर्षति । तप्तम् । “रहौ निमित्तभूतौ द्वित्वस्य न च निमित्तिकार्यं निमित्तस्य” । तेनेह न भवति । भद्रहृदः ।

अनचि ॥५॥४॥१२७॥ रहादिति निवृत्तम् । अच इति वर्तते यर इति च । अच उत्तरस्य यरो विभाषया द्वे भवतः अनचि । दध्यन्न । दध्यन्न । मध्यन्न । मध्यन्न । अच यकारवकाशे निमित्तम् । अनचीति यदि पर्युदासः हलप्रहणं कर्तव्यम् । एवं तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । अनचि नेति । तेन हल्यवसाने च द्वित्वम् । वाक्क् । वाक्क् । त्वक्क् । त्वक्क् । अच इत्येव । स्नातम् । स्नातम् । व्यवस्थितविभाषाधिकारात् “अप्रभृतिषु च भवति” [वा०] । इन्द्रः । राष्ट्रम् । “यणः परस्य मयोऽचि विकल्पः” [वा०] । उल्का । उल्का । बल्मीकः । बल्मीकः । “शर उत्तरस्य स्वयः” [वा०] । स्थाली । स्थाली । “स्वय उत्तरस्य शरोऽपि” [वा०] । अप्सरः । अप्सरः । “पुत्रादिनी त्वमसि पापे इत्याक्रोशे नेष्यते” [वा०] । “द्विमात्रापरस्यापि” [वा०] । पात्रम् । सूत्रम् ।

भलां जश् भशि ॥५॥४॥१२८॥ भलां वर्णानां जशादेशो भवति भशि परतः । लब्धा । दोग्धा । अहुडाः । अपदान्तार्थे आरम्भः । भर्षति किम् ? दध्महे ।

चे चत्वं ॥५॥४॥१२९॥ चे वर्तमानानां भलां चत्वं भवति जश्च च । चित्तनिपति । चिच्छेद । चिद्वक्कायिषति । तिष्ठसति । पशुकृत्यते । जिघत्सति । बुभुत्सते । डुटौके । दधौ । प्रकृतिचरं प्रकृतिचरः प्रकृतिजशां प्रकृतिजशो भवन्ति । अभिज्ञरूपा इत्यर्थः । चिचीषति । टिटीके । ततार । पपी । जिजनिपते । बुबुधे । डिडेप । ददौ । सर्वत्र “स्थानेऽन्तरतमः” [१॥१॥४०] इति व्यवस्था ।

खरि ॥५॥४॥१३०॥ भलां खरि परतः चर्षवति । मेत्ता । मेत्तुम् । विभिर्वति ।

विरामे वा ॥५॥४॥१३१॥ विरामे वर्तमानानां जलां वा चत्वं भवति । वाक् । वाग् । मधुलिङ् । मधुलिङ् । तत्त्वभुत् । तत्त्वमुद् । ककुप् । ककुप् ।

यय्यनुस्वारस्य परस्त्वम् ॥५॥४॥१३२॥ ययि परतः अनुस्वारस्य परस्त्वं भवति । शङ्खितः । अञ्जितः । हिमिडतः । शान्तः । कुपन्तीत्यत्र एत्वप्राप्तेरसिद्धत्वादनुस्वारः । परस्त्वम् । तत्त्वमसिद्धत्वात्पश्चादपि णत्वभावः । ययीति किम् ? रिरसते ।

वा पदान्तस्य ॥५॥४॥१३३॥ पदान्तस्यानुस्वारस्य वा परस्त्वत्वं भवति ययि परतः । शुद्धं ऋगेति । शुद्धरोति । ययीत्येव । त्वं शोषे ।

तेर्लि ॥५१४१३४॥ तवर्गस्य लकारे परतः परस्वत्वं भवति । तडिल्लोला । भवॉल्लोकेशः । नकारस्य नासिक्यो लकारः । वेति नाधिकृतम् ।

स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः ॥५१४१३५॥ स्था स्तम्भ इत्येतयोदः परयोः पूर्वस्य स्वं भवति । उत्थातुम् । उत्थातव्यम् । उत्ताम्भिता । उत्ताम्भितुम् । उत्ताम्भितव्यम् । उद इति कानिर्देशात् परस्यादेः अघोषस्य शकारस्य लकारः । स्थास्तम्भोरिति किम् ? उत्तिवन्नः । पूर्वस्येति किम् ? परत्वनिवृत्त्यर्थम् । उद इति किम् ? संस्थितिः । उद इति योगविभागः कल्पनीयः । तेन स्कन्देरपि रोगे पूर्वत्वम् । उदस्कन्दो नाम रोगः ।

भय्यो हः ॥५१४१३६॥ भयः पदान्तादुत्तरस्य हकारस्य पूर्वस्वं भवति । मुयाग्भसति । मभुलिङ्हरति । धर्मविदितम् । ककुब्भसति । महाप्राणस्योष्मणः स्थाने तादृश एव पूर्वचतुर्थो भवति । “चतुष्टयं समन्तभद्रस्य” [५१४१३७] इति वक्ष्यति तेन विष्णुः । मुयाग् इति । मभुलिङ् हरति । धर्मविद् हितम् । ककुब्भसति । भय्य इति किम् । प्राङ् इति ।

शश्छोऽटि ॥५१४१३७॥ शयः पदान्तादुत्तरस्य शकारस्य अटि परतश्छकारो भवति । वाक्छोभते । धर्मविच्छेते । ककुप्छोभते । पक्षे न भवति । वाक् शोभते । धर्मवित् शेते । ककुप्शोभते । केचित् शश्छोऽमीति पठन्ति । तेन तच्छ्लोकः । तच्छ्रवसनमिति ।

हलो यमां यमि खम् ॥५१४१३८॥ हल उत्तरेणां यमां यमि परतः स्वं भवति । शय्या इत्यत्र “समज” [२।३।८१] आदिसूत्रेण कयपि अयच्छि च कृते द्वौ वकारौ । क्रमजस्तृतीयः । मध्यमस्यानेन खम् । पक्षे न भवति । शय्या । आदित्य इत्यत्र अपत्यार्थे द्वौ वकारौ । “सास्य देवता” [३।२।१६] इति तृतीयः । क्रमजश्चतुर्थः । मध्यमस्य मध्यमयोर्वा खम् । हल इति किम् ? अन्नम् । यमामिति किम् ? अर्घ्यं मभु । अर्घमर्हति । अर्घ्यार्थे वा । “पाद्यार्घ्ये” [४।२।३२] इति निपातनम् । यमीति किम् ? शार्ङ्गम् । यथासंख्यविज्ञानादिह न भवति । पित्र्यम् ।

भरो भरि स्वे ॥५१४१३९॥ हल उत्तरस्य भरो भरि स्वे परतः स्वं भवति । प्रत्तमवर्त्तमित्यत्र “ने स्तोऽचः” [५।२।१४६] इत्याकारस्य तकारे कृते त्रयस्तकाराः । क्रमजश्चतुर्थः । मध्यमस्य मध्यमयोर्वा स्वं विकल्पावलोकनात् । मरुत्त इत्यत्र मरुच्छ्रुत्स्य गित्वोपसंख्यानं सामर्थ्यादनन्तादपि तकारे कृते चत्वा रस्तकाराः । क्रमजः पञ्चमः । मध्यमस्य मध्यमयोर्मध्यमानां वा खम् । भर इति किम् ? शार्ङ्गम् । भरीति किम् ? प्राप्नोति । स्वे इति किम् ? तर्त्ता । यथासंख्यान्तिद्धमिति चेत् । उज्जिता । शिपिद । पिण्ड इत्यत्र चतुर्थेऽपि स्वे तृतीयस्य स्वं यथा स्वात् ।

चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ॥५१४१४०॥ शयो ह इत्यादि चतुष्टयं समन्तभद्राचार्यस्य मतेन भवति नान्येषां मते । तथा चैवोदाहृतम् ।

इत्यभयनन्दिनिरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पञ्चमस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः समाप्तः । समाप्तश्च पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ प्रशस्तिः

क्षिप्तमतं जयताञ्जितदुर्मतं सकलसत्त्वहितं सुमतिप्रदम् ।

नयश्चक्राङ्कितमिष्टविशिष्टवाग्भवभयात्तपवारणवारिदम् ॥१॥

पाणिनिना यद्युक्तं लपितं कृत्वाष्टकं मोहात् ।

तद्विद् निरस्तं निखिलं श्रीगुरुभिः पूज्यपादाख्यैः ॥२॥

जगन्नाथनाम्ना द्वितीयाभिधानात्सर्ता वादिराजार्थमोपाख्यसाधोः ।

जनभ्याः सुतेनापि वीराभिधायाः दयादानपूजादिसंशुद्धमूर्तेः ॥३॥

जैनेन्द्रशब्दशास्त्रं स्वोपक्रमतो नरेन्द्रकीर्तिसुगुरोः ।

अन्ते लिखितं पठितं पाठितमपि भारतीभवत्या ॥४॥

जीवोऽस्त्वगुरुत्त्वमेवमुशनाः काव्याङ्क्यं भास्करो

मित्रः च विश्वक्षणत्वमगमन्निन्दुः सुधाधामताम् ।

गीर्वाणत्वमस्तन्तर्ता सुरगणाः शेषो वृषा जिष्णुतां

जैनेन्द्रं समधीत्य शब्दविलयं श्रीपूज्यपादोदितम् ॥५॥

पूज्यपादापराख्याय नमः श्रीदेवनन्दिने ।

व्यधायि पञ्चकं येन सूत्रं जैनेन्द्रमूलकम् ॥६॥

महावृत्तिकृते तस्मै नमोऽस्त्वभयनन्दिने ।

यद्वाक्यादभया धीराः शब्दविद्यासु सन्ततम् ॥७॥

स्रष्टा इष्ट्वा सुसृष्टिं स्तुतिमकृत मुखैश्चाथ जैनेन्द्रशाब्दीं

जिह्वाभूयस्वभावादुरगपतिरतोऽध्येति नात्येति पारम् ।

रीक्षां दुःखावर्तीक्षां निजमद्वयशगाः प्राप्पुरिन्द्रादयोऽपि

कृत्वेमां देवनन्द्री विविधसुरगणैः पूज्यपादाङ्क्योऽभूत् ॥८॥

प्रमाणमकलङ्क्यं पूज्यपादीयलक्षणम् ।

धानेज्यं च सत्कार्यं रत्नत्रयमुदाहृतम् ॥९॥

इति प्रशस्तिः सम्पूर्णा शुभम्भवतु

जैनेन्द्रसूत्राणामकारादिक्रमः

अ	अतिक्रमे चातिः	१।४।८	अनक्तलृप्त्यमर्षे	२।३।१२१	
अकथितञ्च	१।२।१२१	अतैः	२।२।१२३	अनश्न चोत्	३।१।१०
अकर्तरि	२।३।१८	अतोऽनादेशैः	५।१।८३	अनाप्यकः	५।१।१७०
अकर्मको धिः	१।२।२	अतोऽप्राच्यभर्गादिः	३।१।१५८	अनाश्नाननूत्तानौ	२।२।६०
अकामेऽमूर्धमस्तकात्	४।१।१३१	अतोऽम्	५।१।२१	अनितावनुकरणम्	१।२।१३३
अक्षयैन्दुः	१।१।६८	अतो येव्	५।१।१३६	अनीचः	३।१।१७
अगो	१।४।१०६; ४।४।४८	अतो हल्मध्येऽनादेशादेः	४।४।११०	अनुकम्पायाम्	४।१।१३२
अग्नौ चेः	२।२।७८	अतो हेः	४।४।६६	अनुक्तपुंस्कादाच्च	५।२।५३
अङि	४।४।३४	अतोऽङ्गः	५।४।६१	अनुक्ते	१।४।१
अङ्गस्यादेष्टुण्	४।१।१६२	अत्कायाः	५।१।२७	अनुचलगामां	३।४।१३८
अचः	४।३।२; ४।४।१२५	अत्वात्	५।१।४	अनुदात्तेतोऽपस्त्वदीप-	२।२।१३१
अचश्च	१।१।१२	अत्वसोऽधोः	४।४।१२	अनुदात्तोपदेशवर्ति-	४।४।३७
अचि	४।३।१८२	अदेष्टेप्	१।१।१६	अनुपदेशोऽदः	१।२।१३६
अचित्तइत्तिधेनोष्ठक्	३।२।३६	अदेशकालाद्वण्	३।३।७१	अनुशक्तिकदिः	५।२।२५
अचीको यण्	४।३।६५	अदोऽट्	५।२।६५	अनृतोऽनन्तस्याप्येकै-	५।४।६४
अचो रहाद् द्वे	५।४।१२६	अदोऽनन्ते	२।२।६०	अनोऽखममस्तकात्	४।४।१२२
अजायत्	१।३।९९	अद् बाह्यादेरिञ्	३।१।८५	अनोधैः	१।२।४५
अजायतष्टाप्	३।१।४	अद्वौ त्रिककुद्	४।२।१४७	अन्तरादेष्टुञ्	३।३।३५
अजाविभ्यां थः	३।४।६	अधिकरणे चावर्थाच्च	२।४।५६	अन्तरान्तरेण योगे	१।४।३
अजीवे	४।२।१००	अधिकृत्व कृते ग्रन्थे	३।३।६१	अन्तस्य	५।४।११५
अजीवेऽद्गणः	४।२।७२	अधिपरी अनर्थको	१।४।१०	अन्तेऽलः	१।१।४९
अञ्चेः पूजायाम्	५।१।१०१	अधीत्याऽदूराख्यानाम्	१।४।८१	अन्त्यादचष्टिः	१।१।६५
अञ्चेरु	४।१।६६	अधीष्टे	२।३।१४२	अन्येतेतादिः	१।१।७३
अटश्च	४।३।७८	अधुना	४।१।८३	अन्धूधसोः	४।३।२५
अटकुवाह्व्यायेऽपि	५।४।८६	अधु मृत्	१।१।५	अन्यथैकैकभूमिर्ध-	२।४।१३
अडवू चोपादेः	४।१।१३६	अध्यावानुयाकयोर्वोप्	४।१।६४	अन्यपदार्थेऽनेकं कम्	१।१।८६
अण्	४।१।३०	अध्यायिग्यदेशकालात्	३।३।१८८	अन्यस्यापि	४।३।२३२
अणि	३।२।१२२	अध्वर्युक्रतुरनप्	१।४।८०	अन्येभ्योऽपि	२।२।१५७
अणुदित्स्यतामनो	१।१।७२	अनः	४।२।११०; ४।४।१५८	अन्यव्यानुलोभ्ये	२।४।८६
अणौ धेः प्राप्तिर्कृत्कात्	१।२।८५	अनङ् सौ	५।१।७०	अपथम्	१।४।१०७
अण् कुटिलिकायाः	३।३।१४१	अनचि	५।४।१२७	अपादानेऽहीयहोः	४।२।५०
अण् भोः	५।२।१०७	अनद्यतने लङ्	२।२।६२	अपे क्लेशतमभोः	२।२।४८
अतः खम्	४।४।५०	अनद्यतने लुट्	२।३।१४	अपे च लषः	२।२।१२१
अताभास्वस्वादी-	४।३।२०५	अगन्तरस्यापि	५।३।१०३	अपो नञ्पान्नानृभ्याम्	३।२।१२

अप् चाशिष्यायुष्यमद्र-	१।४।७७	असंख्यं शिः	१।१।७४	आतो घोः	४।४।१२७
अप् तदर्थार्थलिहित-	१।३।३१	असिद्धवदनाभात्	४।४।२१	आधर्वणः	१।३।१०१
अप्राणिजातेः	१।४।८२	असौ	५।१।१६५	आदितः	५।१।१२२
अभिजनः	३।३।६४	अस्ताति	४।१।१०४	आदेप्	४।३।७५
अभिनिदिदभृतोऽणो यज्	४।२।७	अस्तिब्रूओमून्वी	१।४।१२४	आदेरेकाचो द्वे	४।३।१
अभिनिदिशश्च	१।२।११९	अस्यात्	२।३।८४	आदेनैप्	१।१।५
अभिनिष्क्रमति द्वारम्	३।३।६०	अस्य चो	५।२।१४१	आद्यतः	५।२।१७०
अमानिनीस्वाङ्गात्	४।३।१५२	अस्थिदिस्वदिसहेः	५।४।४६	आधमर्ष्यं चेनः	१।४।७४
अमावस्या वा	२।१।१०३	अहः	१।४।१०५	आचारोऽधिकरणः	१।२।११६
अमेकाचोऽम्यत्	४।३।१७८	अहस्सर्वैक देशसंख्यात्	४।२।८६	आनङ् द्वन्द्वे	४।३।१३८
अम्राम्रगोभूमिसंस्थाप-	५।४।७१	अहन्	५।३।७७	आनि	५।४।१०३
अयद्यभिज्ञोक्तौ लृट्	२।२।६३	आ		आने मुक्	५।१।१४१
अयामन्तास्वाव्येनुषु	४।४।५५			आन्महतो जातीये च	४।३।१५८
अर्जुनाद् युन्	३।३।७३	आकर्षादेः कः	३।३।१७	आपृष्णुधामीत्	५।२।१५७
अर्तिह्रींस्तीरोक्नूयीक्षमा-	५।२।४६	आकालोऽच् प्रदीपः	१।१।११	आपपदम्	३।४।१३३
अर्तोः	५।१।११०	आक्रोशे नञ्यनिः	२।३।६३	आशोधे च	५।३।८
अर्थेतावत्वे च	१।४।६१	आक्रोशोऽवन्त्योर्महः	२।३।४१	आमः	१।४।१४९
अर्धान्व	४।२।१०३	आक्तेः शीलधर्मसाधुत्वे	१।२।११२	आमीयुवोः	१।२।९४
अर्शआदेरः	४।१।५०	आङः	४।३।२४	आमेतः	२।४।७६
अर्हः	२।२।१७	आङः स्पष्टं	१।२।२६	आम्यात् सर्वनाम्नः सुट्	५।१।३४
अलङ्कुर्वनिराकुञ्	२।२।११४	आङि चापः	५।२।१००	आम्यत् तत्कृञः	१।२।५६
अल्पाख्यायाम्	४।२।१३७	आङि वमिषसिक्तीङि-	२।२।१२५	आयनेयीनीयियः फट्	५।१।२
अल्पान्तरम्	१।३।१००	आङि शीले	२।२।१६	आयस्थानेभ्यश्च	१।३।४९
अल्पे	४।१।१४१	आङो दोऽव्यसने	१।२।१४	आयामिना	१।३।१३
अत्रकयः	३।३।१७०	आङो नाऽन्नियाम्	५।२।११३	आर्हाङ्	३।४।१७
अवयवाहतोः	५।२।१६	आङो यमहनः	१।२।२३	आलम्बनाविदूरेऽवात्	५।४।४६
अवारपारात्यन्तानु-	३।४।१३६	आङो यि	५।१।४४	आवल्यात्	३।१।५
अविच्छेदे	१।३।२६	आङ्माङोः	४।३।६२	आवश्यकधर्मपर्ययोः	२।३।१४६
अव्यक्तानुकरणादनेका-	४।२।६१	आङ्काङो	२।३।६०	आवि	५।१।१४७
अद्	४।१।७२	आ च त्वान्	३।४।१११	आशितम्भवः	२।२।४३
अंशाला	१।४।१००	आ च हौ	४।४।१०७	आशिषि	२।१।१२३
अश्नोतेः	५।२।१७२	आ चार्थवेदसत्यानाम्	२।१।२३	आशिषि नाथः	१।४।६२
अश्कथाग्रहयणीभ्यां	३।२।१७	आच्छादने वृजः	२।३।५०	आशिषि लिङ्लोटौ	२।४।४६
अश्मपत्यादेः	३।१।६६	आशाश्रिनि	४।३।१२४	आशिषि हनः	२।२।४७
अश्ववङ्गौ पूर्वम्	१।४।१०३	आतः	२।४।६०	आश्वयुज्या वुज्	३।३।२०
अश्वादेः फञ्	३।१।६६	आतः कः	२।२।३	आषाढाश्च	३।३।८
अषड्ज्ञासितं वभिन्नः	४।२।१६	आतो गौ	२।१।१०६; २।३।८८	आ सर्वनाम्नः	४।३।१६७
अष्टाभ्य औश	५।१।१८	आतो णल औः	५।२।३७	आसिद्धौ देशदेशीय	४।१।१२६

आहस्यः	५।३।५२	इपा च प्राप्तापन्ने	१।३।२०	उगिदचां धेऽधोः	५।१।४९
आहि च दूरे	४।१।१०१	इपि	२।४।३८ ; ५।१।१४६	उगिदन्मान्ही	३।१।६
इ		इप् तच्छ्रितातीतपतित-	१।३।२१	उङः	५।१।७५
इकः प्रोऽङ्ग्याः	४।३।१७२	इन्नेन	१।४।४०	उङि	५।३।८७
इकस्तौ	१।१।१७	इधे प्रतिकृतौ कः	४।१।१५०	उङोऽतः	५।२।४
इको दी वीरङ्गः	५।३।८५	इष्टादेः	४।१।२२	उच्चनीचाबुदात्तानुदात्तौ	१।१।१३
इको घहेऽपीलोः	४।३।२२३	इसुसुक्तः कः	५।२।५२	उच्चरोऽधेः	१।२।४६
इगुङः शलोऽनितो-	२।१।४०	इसुसोः सामर्थ्ये	५।४।३२	उज्जुहोत्यादिभ्यः	१।४।१४५
इग्यणो जिः	१।१।४५	ई		उज्	१।१।२५
इङः	१।४।१२० ; २।३।२०	ई उत्	४।३।१०७	उणादयोऽन्यत्राभ्याम्	२।४।६२
इङानं दः	१।२।१५१	ई प्राध्मोः	५।२।१४०	उणादयो बहुलम्	२।२।१६७
इच्छा	२।३।८३	ईच गणः	५।२।१६४	उतास्त्वादस्फात्	४।४।९७
इच्छार्थे लिङ् लोटौ	२।३।१३३	ईटीटः	४।४।२०	उताप्योः पृथ्योक्तौ लिङ्	२।३।१२८
इच्छोद्बोधेऽकच्चिति	२।३।१२६	ईडः रुवे	५।१।१३६	उत्करादेशङ्गः	३।२।७०
इजः	३।२।८८	ईतः पुङ् नित्यम्	४।३।४९	उत्तरपथेनाहृतं च	३।४।७३
इजो बङ्गचः प्राच्यभरतेषु	१।४।१३७	ईदासः	४।४।१२६	उत्तरपद्ं यु	१।३।१०५
इटि चात्त्वम्	४।४।६३	ईदुदः	४।४।१२३	उत्तराच्च	४।१।१०२
इट् तै	५।१।६५	ईदूदेद् द्विदिः	१।१।२०	उत्तादेरज्	३।२।७१
इडविजः	१।१।७६	ईधे	४।४।६४	उदः	१।२।६१
इणः घः	५।४।२७	ईपञ्जः	४।१।७६	उद ईहे	१।२।१९
इणः घीत्वंछुङ्लिट्	५।४।६०	ईपात्र वाक्	२।१।६६	उदकस्योदयोश्च लौ	४।३।१६८
इण्को सः घः	५।४।३७	ईपि चोपपीडसधकर्षः	२।४।३५	उदन्वानुदघौ	५।३।३४
इतोऽनिजः	३।१।१११	ईपोऽङ्गलः	४।३।१२७	उदिकूले रुजिवहोः	२।२।३४
इतो मनुष्यजातेः	३।१।५५	ईष्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः	१।१।६०	उदि ग्रहः	२।३।३४
इदम इग्	४।१।६६	ईपुष्टौषडैः	१।३।१५	उदि पुष्टयोतिभिजः	२।३।४५
इदमदसोः सकोः	५।१।६	ईत्रधिकरणे च	१।४।४४	उन्योर्गः	२।३।२७
इदमो मः	५।१।१६६	ईत्रधिके	१।४।१७	उपज्ञाते	३।३।८४
इदमो वो घः	३।४।१६१	ईत्रिविशेषणे वे	१।३।१०१	उपज्ञोपक्रमं तदायुक्तौ	१।४।६७
इदमो हः	४।१।७७	ईवमयोर्विभाषा	१।४।१५३	उपत्यकाधित्यके	३।४।१५५
इदमो हि	४।१।८२	ईयसश्च	४।२।१५६	उपदंशो भाषाम्	२।४।३३
इदिदोर्नुम्	५।१।३७	ईशः	५।१।१३७	उपमानात्	४।२।६६ ; ४।२।१३८
इदुदुङ्गोऽत्यपु सुहुसः	५।४।२८	ईश्वरः	३।४।४२	उपर्यध्यधसः सामीप्ये	५।३।५
इदुदुभ्याम्	५।२।१११	ईश्वरेऽधिना	१।४।१८	उपर्युपरिध्यात्पश्चात्	४।१।६७
इदुगोभ्याः	१।१।१०	ईपदर्थे	४।३।२११	उपाजेऽन्वाजे	१।२।१४२
इदुदरिङ्	४।४।१०४	उ		उपाज्जानुनीविकर्णात्	३।३।३६
इम्	४।१।१६	उः	१।१।८६	उपात्	१।२।८१
इनः क्षियाम्	४।२।१५२	उगावादेयः	३।४।२	उपात्प्रतियत्नवैकृत्	४।३।११२
इनहनपूषार्मणाम्	४।४।६	उगितश्च	४।३।१५७	उपात्प्रशंसायाम्	५।१।४५

उपान्यालुङ्	१।१।६६	अतः	५।१।१०६; ५।१।१०६	एचैप्	४।३।७६
उपान्मन्त्रकरणे	१।२।२०	अतः एकादेरेप्	५।२।१२२	एजेः खशः	२।२।३२
उपेन	१।४।१६	अत इडोः	५।१।७४	एत ऐ	२।४।७६
उप्चोलादेः	३।१।१५६	अत उत्	४।३।९८	एतदः	४।१।७१
उप्ते	३।३।१६	अतश्च केः	५।३।६२	एति हः	५।२।१५४
उप्प्रोक्तात्	३।२।५४	अतष्ठञ्	३।३।५२	एतेतौ थोः	४।१।७०
उप्फले	३।३।२२१	अतो ङिधे	५।२।१०५	एत्येधत्थुत् सु	४।३।७७
उग्रिष्ठः	५।१।१६	अतोरेण्	३।४।९९	एधा	४।१।१०६
उग्रुष्टुव्	१।१।६२	अतो विद्यायोनि-	४।१।१३६	एप्यतोऽयदे	४।३।८४
उमात्वम्	३।४।१६५	अत्यकः	४।३।१०५	एभ्योऽहोऽहः	४।२।६०
उरः	५।२।१६६	अतिगदधृक्क्षन्दिगुणि-	२।२।५७	एकः	२।४।७३
उरःप्रभृतिभ्यः कप्	४।२।१५१	अदुडोऽक्लृपिचूतैः	२।१।६२	एगिवाक्चादुडो-	४।४।७८
उश्चत्	५।२।१२०	अदुशनस्परुदंशोऽनेह-	५।१।७१	एध्व	५।१।६३
उरसोऽण् च	३।३।२००	अन्महिष्प्रादेरेण्	३।३।१६९	एमे	२।४।८१
उरसोऽग्रे	४।२।९५	अन्मोः	४।२।१५३	एवाक्कः	४।१।१२६
उषासोषसः	४।३।१४४	अप्रौ मित्रे	४।३।२३१	ऐ	
उष्ट्राद् वुञ्	३।३।११६	ए		ऐपीत्	४।३।१४१
उसभेदे	३।२।५	एकः	३।१।७६	ओ	
उसि	४।३।८३	एकः किः	१।४।५६	ओः पुयण्ज्ये	५।२।१७८
उसि मे	१।४।५३	एकगोपूर्वाङ्गन् नित्यम्	४।१।४४	ओजः सहोम्भसा वर्तते	३।३।१५०
उसिलौ च देशे	४।१।३२	एकदिक्	३।३।८१	ओत्	१।१।२३
उस्मनुष्ये उपमेये	४।१।१५२	एकद्विबहवश्चैकजः	१।२।१५५	ओतः श्ये	५।२।७१
ऊ		एकविभक्ति	१।३।९४	ओदपूर्वस्य योऽशि	५।४।४
ऊधसः	३।१।१३	एकस्य ते मे	५।३।१८	ओदितः	५।३।६३
ऊधसोऽनङ्	४।२।१३२	एकस्य सकृत्	४।२।२६	ओमभ्यादाने	५।३।९५
ऊम् (उँ)	१।१।२६	एकाचोऽनुदात्तात्	५।१।११५	ओमाहोः	४।३।८२
ऊरुतः	३।१।५६	एकाचो वशो भप् क्षणः	५।३।५४	ओरावश्यके	२।१।१०२
ऊरुयोरिवे	३।१।५८	एकाच्च	४।१।१४९	ओदेशे ठञ्	३।२।६५
ऊ रोऽनादेशेः	४।४।१५३	एकाच् औ णः	५।४।६६	ओपधेरजातौ	४।२।४३
ऊर्णाहंशुभंभ्यश्च युस्	४।१।६२	एकादाकिञ्चासहाये	४।१।११३	ओसि	५।२।६६
ऊर्ध्वं शुविपूरोः	२।४।३१	एकान्तः	४।३।१८४	औ	
अ		एको बवत्	५।३।७	औशम्	४।४।१५६
अकूपूरब्धूःपथोऽनवे	४।२।७०	एळि पररूपम्	४।२।८१	औह आपः	५।१।१५
अगयनादेशचाण्	३।३।४७	एळोऽति पदान्तात्	४।३।६६	औतः	४।४।७६
अचः शे	४।३।१६६	एङ् प्रादेशे	१।१।७०	औदच्च सोः	५।२।११२
अचः सामयजुर्भ्याम्	४।२।५४	एचोऽदेः पूर्वस्यात्परस्ये	५।३।१०४	क	
अच्छत्युताम्	५।२।१२३	एचोऽयवायावः	४।३।६६	कशंभ्याम्	४।१।६०
अणो व्यैः	१।३।३७	एचोऽशित्वाः	४।३।३८	कसाटन्	३।४।२२

कः खौ	३।३।१११	कर्तुः क्वङ् सखं विभाषा	२।१।१६	काण्डाण्डादीरः	४।१।३७
ककुदस्यावस्थायां खन्	४।२।१४६	कर्तृकरणे भा	१।४।१६	काण्डात् क्षेत्रे	३।१।२८
कन्नि स्तग्नेः	४।३।१४	कर्तृकर्मणोः कृति	१।४।६८	का पथ्यक्षयोः	४।३।२१०
कच्छाग्निवक्त्रवर्तयोः	३।२।१०४	कर्तृकर्मणोर्भूङ्	२।३।१०५	का भीमिः	१।३।३२
कच्छादिः	३।२।१११	कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तौ	१।२।३२	काभ्यः	२।१।७
कटिनान्तप्रसारनस्थानेषु	३।३।१८६	कर्त्राज्यम्	१।२।१२०	कायाः स्तोकादेः	४।३।१२१
कवङ्करदक्षिणास्थाली-	३।४।६६	कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्न	२।४।३०	कायास्तम्	४।१।७३
करोमनःश्रद्धावस्ते	१।२।१३३	कर्मठः	३।४।१५६	कारके	१।२।१०६
कण्डवादेयक	२।१।२५	कर्मणि थ	१।३।७६	कारे प्रायः	४।३।२२८
कतरकतमौ समर्थौ	१।३।५८	कर्मणि च्वाण्	२।३।१०	कार्मः शीले	४।४।१६३
कतिः संख्या	१।३।३३	कर्मणि चैवे	२।४।३२	कार्यार्थोऽप्रयोगीन्	१।२।३
कत्को घेऽचि	४।३।२०७	कर्मणि भूतौ	२।२।२७	कार्यपणसहस्रसुवर्णशत-	३।४।१०७
कन्यादेर्द्वकञ्	३।२।७५	कर्मणि यत्पशत्कर्त्तृङ्	२।३।६८	कार्यपणाद् वा प्रतिश्च	३।४।१३
कथादेष्टुण्	३।३।२०६	कर्मणि इनः	२।२।७४	कालप्रयोजनाद् रोगस्य	४।१।१६
कद्रूयो रोऽस्त्रयम्भुवः	४।४।२३४	कर्मणोन् विक्रियः	२।२।८०	कालविभागेऽनहोगात्रा-	२।३।११३
कन्धापलदनगरग्राम-	३।२।११८	कर्मणीप्	१।४।२	कालसमयेवेलासु तुम्	२।३।१४३
कन्यायाः	३।२।६७	कर्मणोपेयः सम्प्रदानम्	१।२।१६१	कालाः	१।३।२५
कन्यायाः कर्मान् च	३।१।१०५	कर्मण्यभ्याख्यायाम्	२।२।७९	कालाच्च	४।२।३९
कन् पी च	५।४।२२	कर्मण्यण्	२।२।१	कालाद्वज्	३।२।१३१
कपिशतेर्द्वज्	३।४।११७	कर्मण्यधिकरणे	२।३।७४	कालात्साधुपुण्यत्पच्य-	३।३।१८
कपिजोधादाङ्गिरसे	३।१।६६	कर्मण्यक्षेपे इतिविदः	२।४।१५	कालाद्यः	३।४।१००
कमृत्योर्णिङ्गीयङ्	२।१।२८	कर्मण्यक्रोशे कृजः	२।४।११	कालाच्चन्यविच्छेदे	१।४।४
करणाधिकरणयोः	२।३।६६	कर्मण्यालमि	२।१।५३	काला मेयैः	१।३।६७
करणे	२।४।२४	कर्मवेषाद्यः	३।४।९४	काले	४।१।६३
करणे यजः	२।२।७३	कर्मव्यतिहारे वः	२।३।७६	कालेऽधिकरणे सुजर्थे	१।४।६७
कर्कलोहिताङ्गीकण्	४।१।१६४	कर्माव्ययने वृत्तम्	३।३।१८१	कालेभ्यः	३।४।७४
कर्णललाटभूषणे कः	३।३।४१	कर्मेवाधिशीङ्स्थासः	१।२।११७	कालेभ्यो भद्रवत्	३।२।२९
कर्णेऽकर्तरि	१।४।३३	कलापिनोऽण्	३।३।७६	काश्यादेष्टुञ्जिटी	३।२।६२
कर्णे लक्षणस्थानिष्टा-	४।३।२१८	कलाप्यशक्तयवयुसाद्	३।३।२३	कासूगोणोभ्यां तरट्	४।१।१४५
कर्तरि	१।३।७६	कल्याणयादीनामिन्ङ्	३।१।११५	कास्यनकाप्त्याल्लट्थाम्	२।१।३१
कर्तरि कृञ्	२।४।५२	क्व उष्णे	४।३।२१३	किङ्कलास्त्यथे लृट्	२।३।१२२
कर्तरि कृति	५।१।११३	कण्टाय	२।१।१२	किङ्कलसर्वनाम्नो-	४।१।६८
कर्तरि स्तेन	१।३।७७	कस्कादौ	५।४।३६	किञ्चित्तदो निर्धारणे	४।१।१४७
कर्तरि चर्षिदेवतयोः	२।२।१६४	कस्ये	३।२।२०	किञ्चिद्वद्वृत्तः	२।२।२८
कर्तरि चारम्भे ताः	२।४।५६	कास्यपारशौ	३।३।१२५	किञ्चले लिङ्ग्यौ	२।३।१२०
कर्तरि जे	१।२।८	काऽपादाने	१।४।३७	किञ्चले लिप्तायाम्	२।३।४
कर्तरि शप्	२।१।६४	काकिनादः कुक्	३।१।१४५	किञ्चलो दीः	५।२।१६९
कर्तरीवे	२।२।६७	काऽऽङ्गा मर्यादावचने	१।४।२०	किदन्तः	१।१।५४

किदाशिपि	२।४।८५	कुशलयुक्तेन चासेनायाम्	१।४।४८	कौन्त्यासुरिमारुहकात्	३।१।२२
किमः	३।४।१६२	कुशामाच्छुः	४।१।१५६	कौ वेतो	१।१।२४
किमः कः	५।१।१६२	कुशिरब्जेः इयो मे वा	२।१।६०	कौशल्येन्यः	३।१।१४२
किमिदंभ्यां थन्	४।१।६०	कुसीददशैकादशादृष्टौ	३।३।१५४	कौशेण्या दण्	३।३।११५
किमिदमोः कीश्	४।३।१९६	कुस्तुम्भुरगोप्यदा	४।३।११६	किङ्कति	१।१।१६
किमेमिङ्किभक्तदामद्वये	४।२।२०	कुहोश्चुः	५।२।१६४	किङ्कत्वन्नि वा	५।२।२
किमोऽः	४।१।७८	कुक्कमिक्कसकुम्भकुशा	५।४।३४	कुक्ष्यचतु रः	१।६।२८
किरतेर्लवे	४।३।११३	कुजः करणे एयुद्	२।२।५५	कस्याधिकरणो	१।४।७०
किरतेर्हर्षजीविकाकुला-	१।२।३३	कुजः श च	२।३।८२	कादनत्यन्तो	४।२।१९
किरश्च पञ्चभ्यः	५।१।१३४	कुजो द्वितीयतृतीयशम्भ-	४।२।६२	कादल्पे	३।१।४४
किसरादेष्टुद्	३।३।१७२	कुजो मित्ययोगेऽभ्यासे	१।२।६७	किचत्तौ खौ	२।३।१५०
कुम्बौ तयोः	५।१।१६३	कुजो ये न	४।४।६६	कोनाहोरात्रभेदाः	१।३।३६
कुदारश्चावात्	३।४।१५०	कुजो हेतुशीलानुलोभ्ये	२।२।२५	कन्वा	१।३।८५
कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः	४।१।१४३	कुज्जनादेरुः	२।१।७४	क्वि स्तन्दस्थदोः	४।४।३०
कुरङ्गोणस्थलभाजनाग	३।१।३७	कुतलव्यक्तीतराभूताः	३।३।१४	क्यङ्मानिनोः	४।३।१४८
कुरङ्गपाय्यसंचाय्य	२।१।१०५	कुति	१।३।७१	क्यच्चि	५।२।१४२
कुत्वा हुरः	४।१।१४४	कुतो ग्रन्थे	३।३।८५	क्यव्यनाङ्भृत्यापत्त्यस्य	४।४।१४१
कुत्साऽशातयोः	४।१।१३१	कुत्यनः	५।४।१०८	क्यवो वा	१।२।८६
कुत्स्ये कुत्सनेः	१।३।४८	कुदमिङ्	२।१।८०	कनूकभाटिसूचान्तादृण्	३।२।५२
कुत्स्यवन्तिकुम्भ्यः	३।१।१५७	कुद्भृताः	१।१।६	कम्भः	५।१।११२
कुव्योः	५।४।२१	कुम्भस्त्रियोगेऽतत्तत्त्वे-	४।२।५५	कम्भः क्विच	४।४।१६
कुव्योस्त्ये	५।४।२६	कुपो रो लेऽकृपादेः	५।३।३६	क्रमादेर्बुन्	३।२।५३
कुमति	५।४।६७	कुवृषिभृजां यशोभद्रस्य	२।१।९९	कमिदमो यङः	३।२।१३४
कुनद्वध्याम्	४।२।१०७	कुस्तम्भस्तद्रु सु थुवो	५।१।११६	क्रमो मे	५।२।७४
कुमारः भ्रमणादिभिः	१।३।६५	कु धान्ये	२।३।२८	क्रयः स्वार्थे	४।३।७१
कुमारश्चीर्ष्योर्णिन्	२।२।४६	कैक्यामित्रद्युप्रलयानां	५।२।७	क्रये	२।२।६१
कुसुदन डवेतर्भाङ्ङन्	३।२।६७	केऽणः	५।२।१२५	क्रियामभ्ये केपौ	१।४।६
कुम्भपद्यादिः	४।२।१४१	केदाराद्यञ्च	३।२।३५	क्रियायोगे गि	१।२।१३०
कुन्दयुगन्धरेभ्यो वा	३।२।१०८	केनौ वि (चि) क्	३।४।१५३	क्रियासमन्विहारे लोट् तस्य	२।४।१२
कुर्वादेर्द्वयः	३।१।१३६	केरेडः	४।३।५७	क्रीङ्जेर्णौ	४।३।४२
कुर्बुण्यप्रकवृणोः	३।१।१०३	केशाद्वो वा	४।१।३५	क्रीडाजीविकयोर्नित्यम्	१।३।८०
कुलटया वा	३।१।११६	केशाश्चाभ्यां यञ्छौ वा	३।२।४०	क्रीडोऽनुपर्याङः	१।२।१५
कुल्यकोऽङोऽण्	३।३।१२६	क्रीडोऽण्	३।२।११०	क्रीतव्यपरिभाषात्	३।३।११४
कुल्यङ्कज् च	३।१।१२७	कोपायूयासम्भतौ	५।३।१०१	क्रीतस्करणादेः	३।१।४३
कुलाज्जिदेर्बुज्	३।३।८७	कोऽविद्यावादेः	४।२।३५	कथमण्डार्थात्	२।२।१३३
कुलिजाञ्च	३।४।५४	क्री	५।२।१०१	क्रीडयादेः	३।१।६५
कुल्मापादण्	४।१।१५	क्रीडिङ्ग्यासस्थयोः	१।४।१४१	क्र्यादेः रना	२।१।७६
कुशलः	३।३।१५	क्रीपिङ्गलङ्गलिपदादण्	३।३।१००	क्लिशः	१।१।८१

किलशस्तवतोः	५।१।६८	खावन्यपदार्थे	१।३।१८	गाण्डधजगास्तौ	४।१।३६
यवसो वीणायां च	२।३।६८	खावन्तः	४।३।२२७	गाथिविदधिकेसिपणि	४।४।१५७
किमत्वत् कुः	५।३।७५	खित्यमेः	४।३।१७६	गावदः	२।३।५३
क्वप्	२।२।६३	खेऽध्वनः	४।४।१६७	गिप्रातुभ्यां यऽन्वऽस्तेः	५।४।६८
क्षत्राद् यः	३।१।१२५	खेयराजसूयसूर्यमृषोद्य	२।१।६४	गिरिनदीपौर्णमात्याग्रहा-	४।२।११२
क्षिण्योः	४।३।६८	खेऽलंकर्मपुरुषात्	४।२।१५	गिरिधने किञ्चलुककोटग	४।३।२२०
क्षिप्रन्वने लृट्	२।३।१०६	खौ	१।३।३८; २।४।२६;	गिरेश्वरः शस्त्रजीविषु	३।३।६५
क्षिवाशीः प्रेषेणु	५।३।१०२		३।३।८६; ३।४।५७;	गुणात्मस्यादेः	४।२।६३
क्षियो रीः	४।४।५८		४।१।१५१; ५।३।३२	गुणे श्रीवत्तल्यास्त्रियाम्	१।४।३४
क्षीणः	५।३।६४	खौ कन्थोशीनरेषु	१।४।६६	गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः	३।४।११४
क्षीवकरोल्लाघाः	५।३।७२	खौ मनसः	४।३।१२३	गुणोक्ते स्तोऽलक्षस्फोडः	३।१।३०
क्षीणलवणबोर्लोत्वे	५।१।३३	खौ विभाषा कुण्	२।३।६०	गुणोक्त्येवत्	१।३।६६
क्षीरहविषो श्रुतम्	४।३।२२	खौ शरदो वृण्	३।३।३	गुपभूपविच्छिपणि-	२।१।२६
क्षीराब्दण्	३।२।१५	खौ भ्रमणाश्चत्थाभ्याम्	३।२।६	गुपतिज्जिह्वः सन्	२।१।३
क्षुत्तृगर्भेऽशनायो-	५।२।१४३	ख्यत्पादतः	४।३।६६	गृष्ट्यादेः	३।१।१२४
क्षुद्रजांथाः	१।४।८४	खशः शो यो वा	५।४।१२४	गेः	४।२।११९
क्षुद्राभ्यो वा	३।१।१२०	ग		गेः काशे	४।३।२२४
क्षुद्रवसतेरिट्	५।१।१००	गत्यर्भवदेऽच्छः	१।२।१३८	गेः खल्लाघाः	५।१।४६
क्षुब्धस्त्रान्तध्वान्तलन-	५।१।१२६	गत्यरः	२।२।१४७	गेः सुभ्रसुसोस्तुलुमः	५।४।४५
क्षुब्धादिषु	५।४।११७	गदमदचरमोऽङाः	२।१।८७	गेऽत उल्	४।४।१००
क्षुभ्रयः	२।३।३३	गम्भनावक्षेपसेवाऽन्याय-	१।२।२७	गे यक्	२।१।६३
क्षेपाव्यथातिग्रहवक्तृ-	४।२।५१	गम्भस्येकपूतिसुसुरभि-	४।२।१३६	गेरध्वनः	४।२।८७
क्षेपे	१।३।४१	गनः	२।२।४५	गेरयतौ	५।३।३७
क्षेपे किमः	१।३।५९	गमः क्यौ	४।४।४१	गेरसेऽपि विकृतेः	५।४।६८
क्षेमप्रियमद्रेऽण् च	२।२।४२	गमहनजनजन-	४।४।९३	गेरुहः प्रः	५।२।१३२
क्षै मः	५।३।६८	गमिषुवमां छः	५।२।७५	गे स्तोऽन्वः	५।२।१४९
क्वस्याचि खम्	५।२।६६	गमेरिण् मे	५।२।१०६	गेहं कः	२।१।११८
ख		गमो वा	१।१।८७	गोः	४।४।१
खं पादस्याहस्यादेः	४।२।१३६	गम्भीराञ्जयः	३।३।३३	गोखलरथात्	३।२।४३
खं पिवश्चस्येत्	५।२।११७	गम्यादिर्वत्स्यति	२।३।१	गोवावयवात्	३।१।६४
खः	३।१।१२८	गर्गदेयञ्	३।१।६४	गोधावा शारः	३।१।११८
खच्चि	४।४।८८	गर्तधुगहादिभ्यश्छः	३।२।११४	गोधयसोर्गः	३।३।११८
खट्वाऽक्रमे	१।३।२३	गर्हे	२।३।१२५	गोऽपित्	१।१।७८
खमादेशी	५।१।१४६	गवाश्वादीनि च	१।४।८७	गोब्रह्मवर्चसाल	३।४।३६
खरि	५।४।१३०	गष्टक्	२।२।११	गोयवाग्वपदानी	३।२।११३
खश्चात्मनः	२।२।७१	गाऽगयोः	५।२।८१	गोरहृदुपि	४।२।९४
खारीकाकर्णभ्यां कप्	३।४।३०	गाङ्कुटादेरङ्गिण्डित्	१।१।७५	गोरिन्द्रे ऽवङ्	४।३।१०१
खार्था वा	४।२।१०४	गाङ्गुलिङि	१।४।१२१	गेर्णित्	५।१।६७

गोत्रीहेः शङ्कपुरोडाशे	३।३।१३
गोहे रुद्धः	४।४।८३
गौणादाचारे	२।१।८
गौणयुथकी	२।१।१२०
गौ भोः किः	२।३।७३
गौरदेः	३।१।२३
गौ स्वः	२।३।२१
गौष्टीनाश्वीनकौपीन-	३।४।१४१
ग्रन्थान्तेऽधिके	४।३।१८७
ग्रहिज्यावयिक्यधिवशि	४।३।११
ग्रहेरः	२।२।१३
ग्रहोऽलिटि दीः	५।१।८५
ग्रहोऽवे वर्षप्रतिवन्दे	२।३।४७
ग्रामकौटान्धां तदणः	४।१।६७
ग्रामजनग्रन्थुसहायेभ्य-	३।२।३७
ग्रामराष्ट्रयोऽण्ठौ	३।२।१२७
ग्रामाण्यन्धोः	३।३।३७
ग्रामाद्याख्यौ	३।२।७४
ग्रामस्तुतः क्विप्	२।२।१५६
ग्रीचान्धोऽण् च	३।३।३२
ग्रीष्मवसन्ताद्वा	३।३।२१
ग्रीष्मावरसमाद् बुज्	३।३।२४
ग्रो वडि	५।३।३८
ग्रोऽवात्	१।२।४७
ग्लहोऽन्ते	२।३।५७
ग्लाम्निस्थः कस्तुः	२।२।११५

घ

घञि भावकरणे	४।४।२७
घञ्यभनुष्ये प्रायः	४।३।२२६
घनान्तर्घणप्रघणप्रघाणो	२।३।६९
घस्तुलुङ्घञ्मनकन्तु-	१।४।१११
घेदीः	५।२।१६१
घेली	४।१।१३५
घोषदादेशुन्	४।१।६६
घौ कच्यनक्त्वे सन्तत्	५।२।१६०
घ्यादेरिकः	३।४।१२१
घ्युङः	५।२।८३

घो वा	५।२।११६
ङ	
ङमुदात्तेतो दः	१।२।६
ङमो निय डमुद् प्रात्	५।४।११६
ङसिङ्सोः	४।३।६७
ङसिङ्योः स्मरिस्मनौ	५।१।१३
ङसेः	५।१।२८
ङस्थ क्विभलोः किङति	४।४।१३
ङस्वातो नुक्	५।२।१८३
ङिङ्स्योरतः	१।१।४३
ङित्	१।१।५०
ङितः सखम्	२।४।८०
ङिति प्रश्च	१।२।६६
ङिदातः	५।१।१४०
ङौलौ	३।१।१२
ङः खौ परान्च	४।३।१२६
ङेरान् म्वाप्नोभ्यः	५।२।११०
ङैर्यः	५।१।११
ङेमुयोरम्	५।१।२४
ङौ	१।२।७
ङणोः कुक्कुक्षि शरि	५।४।१२
ङणामृदः	३।१।१

च

चक्षः गङ्गाज्	१।४।१२५
चजोः कुधिएययोस्तौ	५।२।५६
चटकाण्यैरः	३।१।११७
चतुरनहुहोर्वा	५।१।७२
चतुरशरैरन्त्रिकुक्षेः	४।२।१२२
चतुष्टयं समन्तभद्रस्य	५।४।१४०
चतुष्पाङ्गकुनिध्वपाद्	४।३।११५
चतुष्पाद् गर्भिण्याः	१।३।६१
चतुष्पाद्भ्यो हज्	३।१।१२३
चरणानामनूर्त्तौ	१।४।७६
चरणेभ्यो धर्मवत्	३।२।३८
चरति	३।३।१३२
चरफलोद्वचोङः	५।२।१८५
चरेः	२।२।१२२
चरेष्टः	२।२।२१

चर्मणोऽज्	३।४।१४
चर्मणवद्वीवच्चक्रीवद्	५।३।३३
चर्मोदस्योः पूरेः	२।४।१७
चल्यथार्थात्	१।२।८४
चरवाच खम्	५।२।१६०
चस्याऽस्वे	४।४।७३
चस्यैयां लिटि	४।३।१३
चान्	५।२।६०
चादिरसत्वे	१।२।१२८
चायः कीः	४।३।१६
चार्थे द्वन्द्वः	१।३।६२
चि	४।३।२३३
चितेः कपि	४।३।२२८
चित्रार्थे	२।३।१२६
चिदित्युपमार्थे	५।३।१००
चिन्तिपूजिकभिकुम्भ-	२।३।८७
चित्कुरोर्णौ	४।३।४६
चे चर्त्वम्	५।४।१२६
चेलोपु वनोपेः	२।४।१९
चोः कुः	५।३।४७
चिडाज्ज्यादिः	१।२।१३२
च्यौ	५।२।१३५

छ

छः	३।२।२३
छकारकेऽभ्यस्य दुक्	४।३।२०४
छगलिनो दिनिण्	३।३।८०
छत्रादेशः	३।३।१८०
छदिसर्पध्वलेर्दज्	३।१।१२
छन्दः खौ	२।३।३२
छन्दसा निमित्ते	३।३।१९९
छन्दसो यः	३।३।४६
छन्दोगौक्थिक्याशिक-	३।३।६७
छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव	३।२।५६
छवि	५।४।२५
छश्चाभ्यमित्रात्	३।४।१४०
छश्चायुषात्	३।३।१३७
छादेशे	४।४।९०
छाया बहुनाम्	१।४।९८

लै	४।३।६१	जीविकोपनिषदाविं	१।२।१४८	अ	
लैदादेनित्यम्	३।४।६२	जुमि	५।२।८०	अ इच्	४।२।१२८
ल्योऽनुप्रवचनादेः	३।४।१०४	जुपोऽन्	२।२।८७	अस्वर्गितः कर्त्तव्ये फले	१।२।६८
ल्लुवोः ल्लुङ्गे च	४।४।१७	जुप्रश्च कः	५।१।१०३	आन् क्षिपाम्	४।२।२२
ज		जृश्चिस्तम्भुञ्चुञ्चु-	२।१।५०	अिकुतो मुक्	५।२।३८
जान्नित्यादयः	४।३।५	जः	४।३।९५; ४।३।२३४	अिणमोर्दीर्मितान्	४।४।८६
जङ्गलधेनुवसजे	५।२।३०	जः	१।२।५३	अिणमोर्वाङो	५।१।४८
जनपद ठस्	३।२।६१	जाकृप्रौगुहः कः	२।१।१०८	अियगजाप्रावृन्मुञ्चि-	१।४।३०
जनशोर्वा	४।४।३१	शाम्प्रार्थभेरणि कर्त्ता गौ	१।२।१२२	अिनोऽण्	४।२।२१
जनसनखनाम्	४।४।४३	जावनोर्जा	५।२।७७	अिन्नभिषिधौ	२।३।६६
जनिषध्याः	५।२।४०	जीप्तास्थेयोत्तौ	१।२।१८	अिहौ	२।१।६२
जनेर्ङः	२।२।८४	जोऽगेः	१।२।७१	अिस्ते पदः	२।१।५१
जन्यधेनुप्यान्नवश्यवन्व-	३।३।१६५	जोऽपह्वे	१।२।४०	अितः कः	२।२।१६५
जयजमदहृदशभञ्जपशाम्	५।२।१८४	जो स्वार्थे करणे	१।४।५८	अेखः	४।४।६५
जम्वा वोश्च	३।३।१२३	ज्यः	४।१।१२०; ४।३।३५	अिण्यचः	५।२।३
जय्यलभ्यकार्यमुकरम्	३।४।९२	ज्यादेवसः	४।४।१५२	अिण्यद्दृढः क्विकारे	४।३।१५१
अरया वासङ्	५।१।१६०	ज्योतिरासुषः स्तोमः	५।४।६४	ट	
कल्पभिषकुट्टलुण्ट-	२।२।१३८	ज्योतिरुद्गतावाङः	१।२।३६	टस्त्रोरेवाहः	४।४।१३३
अश्शमोः शिः	५।१।१७	ज्योत्स्नातमिलाष्टङ्गिणी-	४।१।४०	टगमनुष्ये	२।२।५०
अतः शौ	५।१।१४	ज्वरत्वरस्त्रिविभवां वोङोः	४।४।१८	टाबुन्नि	३।१।१६
असि	५।२।१०४	अवलितिकसन्तारणः	२।१।११३	टिङ्गागज् ट्ठगज् क्वरपः	३।१।१८
आगुः	२।२।१३६	भ		टिदादिः	१।१।५३
आगुरविअणलुङिति	५।२।८२	भकाल्तनेकालेभ्यो वा	४।३।२३३	टिहंरे	२।४।६५
जातमहद्वृद्धादुक्तः	४।२।७८	सयो हः	५।४।२३६	टेः	४।४।२२६; ४।४।१४५
जातरूपेभ्यः परिमाणे	३।३।१०४	सरूपकल्पचेलङ्गु वगोत्र	४।३।१५५	टैलियेनदेतदश्च	४।३।११९
जातिनाम्नः कः	४।१।१३७	सरो क्षरि स्वे	५।४।१३६	ट्कण् कापिण्याः	३।२।७८
जातिश्च	४।३।१५३	सलां अश् भशि	५।४।१२८	ट्वितोऽधुः	२।३।७१
जातुययदायदौ लिङ्	२।३।१२३	भलिकः	१।१।८३	ट	
जातेरयोङः	३।१।५३	भल्लो जश्	५।३।५७	टञ् क्वचिन्ध	३।२।२६
जातेर्वात्	३।१।४५	सलो हलि	५।३।४४	टङ्भस्त्रादेः	३।३।१३९
जातेश्लो बन्धुनि	४।२।१८	भल्लयकिति सृष्टशोऽन्	४।३।५१	टण्डौ	३।२।६४
जायापत्योर्लङ्गणे	२।२।५१	भावनिष्ठोक्तौ कुजः	२।४।४४	टश्चावयसि	३।४।८१
जायाया निङ्	४।१।१३५	भि विभक्त्यम्वासद्वर्थ	५।१।३।५	टश्येकः	५।२।५४
जासनिग्रहणनाटकाथ-	१।४।६३	भिसर्वनाम्नोऽक्प्राक्टेः	४।१।१३०	टाञ्चि द्वितीयात्परोऽचः	४।१।१३६
जिह्वामूलाङ्गुलेश्च्यः	३।३।३८	भेर्जुस्	२।४।८८	टेनावतः	४।१।४१
जीवति वंशये युवाऽस्त्री	३।१।८१	भेस्तुद्	३।२।८१	टोऽगारान्तात्	३।३।१८७
जीवाकृते ग्रहिकृजः	२।४।२१	भोऽन्तः	५।१।३	ड	
जीविकार्थेऽप्ये	४।१।१५३			डः	२।२।४६

डयो ग्रहणे कः	४।१।११	शुभुनी	२।१।१०६	तदस्यास्यस्मिन्निति मनुः	४।१।२३
डयो वयसि	४।१।५३	खोर्व्याः	२।१।८२	तदस्यास्मिन्निति	३।४।१५
डट्प्रवोः	४।३।१५०	त		तद्वच्छति पथिवूतयोः	३।३।५९
डट्शाल्मनः	४।३।१२५	तः	३।३।१०२; २।२।८५	तद्दीयते नियुक्तम्	३।३।१८४
डट्क्षीप्रमाणोरः	४।२।११६	तः सेट् पूङ्क्षीङ्स्विन्	१।३।६२	तद्भरति बहव्यावहति	३।४।४६
डट्धर्माः	३।४।४७	तद्वाः स्वार्थे	२।१।७२	तदुक्तात् कर्मणोऽण्	४।२।४२
डट् गुणवृत्तार्थ-	१।३।७५	ततः आगतः	३।३।४८	तदयोजको हेतुः	१।२।१२६
डतरादेः पञ्चकस्य टुक्	५।१।२२	ततो नुट्	५।२।१७१	तद्वत्	४।३।७३
डनाट् धुट् सोश्चः	५।४।१३	ततो मूनि	३।१।८०	तद्वहतिरथ युगप्रासङ्गान्-३।३।१६१	
डाजर्हस्येतावतः	४।३।८५	तत्र	१।३।४०	तद्वाचि धौ वाऽयदि	२।३।१३१
डाजर्लोहितात् कथम्	२।१।११	तत्र जातः	३।३।१	तद्वैत्यधीते	३।२।५१
डिक्त्तः किञ्चः	२।३।७०	तत्र दीयते भववत्	३।४।८९	तनादिभ्यस्तथामोः	१।४।१४८
ड		तत्र नियुक्तः	३।३।१८६	तनोतेर्गकि	४।४।४६
दणि खम्	३।१।१२२	तत्र भवः	३।३।२८	तनोतेर्वा	४।४।१५
दण् च मण्डकात्	३।१।१०८	तत्र विदितः	३।४।४३	तपःसहस्राभ्यां विनिनी	४।१।२६
देः खम्	४।४।१३५	तत्र साधुः	३।३।२०२	तपस्तपःकर्मकर्य कर्मवत्	२।१।५१
दो दे खम्	५।४।१७	तत्रेदमिति सरूपे	१।३।८६	तपोऽनुसारे च	२।१।५६
दूये पूर्वस्याणो दीः	४।१।२१६	तत्रेव	३।४।१०८	तप्तान्ववाद्ब्रह्मः	४।२।८४
दूण्	३।१।११६	तत्रोद्भूतमन्त्रेभ्यः	३।२।१०	तप्तभीप्रो भूतो भूतो भावोऽण्	७६
द		तत्प्रकृतौक्तौ मयट्	४।२।२८	तप्तसोऽयसमन्वात्	४।२।८१
णम् चाभीक्ष्यये	२।४।८	तत्प्रत्यनुमीपलोमकुलात्	३।३।१५१	तप्तेष्टावतिशावने	४।१।११४
णम्यपगुरो वा	४।३।४५	तथोर्धोऽथः	५।३।५६	तयोर्व्यक्तस्वार्थः	२।४।५५
णाविप्रबन्धुदः	४।४।१४६	तद्	४।१।८५	तरति	३।३।१३०
णित्वः	१।२।७२	तदर्थः नोक्तौ	४।३।५९	तत्रकममकावेकार्ये	३।२।१२३
णिश्चिद्रुश्रुकमेः कर्तरि कच्	२।१।४३	तदन्ता धवः	२।१।२६	तत्रममौ इति	५।१।१५५
णोः	२।३।७७; ४।४।५३	तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ	३।४।११	तद्व्यानीयो	२।१।८३
णोर्भीस्मेर्हेतुभावे	१।२।६४	तदईति	३।४।६०	तस्	३।३।८२
णोर्वा	५।४।१०९	तदहे वत्	३।४।१०६	तसादौ	४।३।१४७
णो नः	४।३।५४	तदस्मिन्नधिकमिति	३।४।१६७	तसेः	४।१।७४
णोऽनितेः	५।४।१०४	तदस्मिन्नं प्राये लौ	४।१।१४	तस्मै प्रभवति सन्तापदेः	३।४।६५
णौ कञ्चुङः प्रोऽशा	५।२।११५	तदस्मिन्नस्तीति देशः लौ	३।२।५७	तस्मै हितम्	३।४।४
णौ गमजाने	१।४।११८	तदस्मिन् युद्धे ओवृ	३।२।४८	तस्य	३।४।१०६
णौ मृगरमणे	४।४।२६	तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभ	३।४।४६	तस्य दक्षिणायज्ञाख्यात्	३।४।८८
णौ सक्चोः	१।४।१२३	तदस्य पण्यम्	३।३।१७१	तस्य धर्मम्	३।३।१६८
ण्यः	२।१।१०१	तदस्य ब्रह्मचर्यम्	३।१।८७	तस्य निवासादूरभवौ	३।२।५६
ण्य आवश्यके	५।२।६५	तदस्य संजानं तारका-	३।४।१५७	तस्यन्तिकस्य कादेः	४।४।१४२
ण्यासश्चन्थिघट्टिवन्दि-	२।३।८९	तदस्य सोदम्	३।३।२७	तस्य पूरणे डट्	४।१।१
ण्योऽतिथेः	४।२।३३	तदस्वांशवस्नेभूतयः	३।४।५५	तस्य चापः	३।४।३६

तस्य विकारः	३।३।१०२	तुन्दादेरिलः	४।१।४३	त्यदादि	१।१।६९
तस्य व्याख्याना इति च	२।३।४२	तुभ्यमह्यौ ङीप्	५।१।१५४	त्यदादेरः	५।१।११६
तस्य शतृशानाववैकार्थे	२।२।१०२	तुमर्याद् भावे	१।४।२५	त्यदादौ दृशोऽनलोके ङक्च	२।२।११८
तस्य समूहः	३।२।३२	तुमीच्छायां धोर्दोप्	२।१।५	त्ययोश्च	५।१।१५७
तस्यापचयम्	३।१।७७	तुमेककर्तृके	२।३।१३४	त्यस्ये कयापीदतोऽमुषो	५।२।५०
तस्येदम्	३।३।८८	तुरिहमेयस्सु	४।४।१४४	त्यादेशयोः	५।४।३६
ता	१।३।७०	तुस्योस्तातङ्ङाशिणि	५।१।३०	त्रपुञ्जनुनोः पुक्	३।३।१०६
ता चानादरे	१।४।४६	तूदीवर्मतीभ्यां ङण्	३।३।६८	त्रसिगृधिधृषिज्ञिषः कनुः	२।२।११६
ताऽतसर्थे स्येन	१।४।३९	तृणीमि भुवः	२।४।४८	त्राघ्नाहीनुदोन्वित्ते-	५।३।७३
तादी भः	४।१।११७	तृजकान्यां योगे	१।३।७८	त्रिचतुरोः स्त्रियां तिगु-	५।१।१५८
ताया आक्रोशे	४।३।१३४	तृज्वाङ्वाङ्	२।३।१४५	त्रेः	३।३।१४४
ताया रूप्यश्च	३।४।१४३	तृणह इन्	५।२।६०	त्रेन् कल्याः	३।२।४४
ताया व्याश्रये	४।२।५३	तृणे जातौ	४।३।२०६	त्रेस्तृ च	४।१।७
ता शेषे	१।४।५७	तृन्	२।२।११३	त्रेस्त्रयः	५।१।२५
तासस्त्योः खम्	५।२।१५२	तृण्यत्वोः क्रियान्तरे	२।४।४२	त्रमावेके	५।१।१५६
तासामाप्तरास्तद्धलचः	१।२।१५८	तृतपोः	४।४।११३	त्रयपादाने	२।४।३७
तास्थाने	१।१।४६	तृश्चरेवे घञ्	२।३।१०१	त्रामाविषः	५।३।१६
ता हेतौ	१।४।३५	तेऽण्ये	४।४।५९	त्याहौ सौ	५।१।१५३
ति	१।२।१३१; ५।२।१८६	ते द्वयः	४।२।९	त्ये ह्यापोः क्वचित्त्रौ	४।३।१७३
तिकाक्त्यादिभ्यो ङन्द्धे	१।४।१४०	तेन	१।३।६०		
तिकादेः क्तिप्	३।१।१४१	तेन क्रियानुक्त्ये	३।४।१०७	थ	
तिकित्येऽदौ जग्धिः	१।४।११०	तेन क्रीतम्	३।४।२५	थः	४।३।४
तिकुप्रादयः	१।३।८१	तेन दीव्यति लनति	३।३।१२७	थचित्तेः	२।४।८६
तिकुव्रतथसिसुरक्ते-	५।१।११६	तेन निर्वृत्तः	३।२।५८; ३।४।७५	थस्त्रोगतः	४।४।१०२
तितिरिक्तरत्तुगण्ड-	३।३।७८	तेन प्रोक्तम्	३।३।७६	थस्य	४।३।३०
तिपि धोः	५।२।८०	तेन द्वाकथाचरस्ताभ्यां	३।४।६१	थस्य रो पित्यचि	५।२।८५
तिरश्च्यपत्रां	२।४।४५	तेन रक्तं रागात्	३।२।१	थासः से	२।४।६६
तिरसस्तिर्यखे	४।३।२००	तेन वित्तश्चुप्सुचणौ	३।४।१४६	थो न्यः	५।१।६४
तिरसो या	५।४।३०	तेश्च दृप् थ	१।४।४३		
तिरोऽन्तर्द्धौ	१।२।१४०	तेभ्यो भवति वा	२।३।१३६	द	
तिष्ठ्यवादखौ	३।३।११२	तेरसंख्यादेः	४।१।६	दंशसंज्ञस्वजां शप्	४।४।२४
तिष्ठद्वादीनि च	१।३।१४	ते विमक्त्यः	४।१।६१	दः	५।३।८२
तिष्ठ्यपुनर्वसूनां भद्वद्धे	१।१।६६	ते विशतेडिति	४।४।१२८	दक्षिणादा	४।१।१००
तिष्ठ्यपुनर्वसूनां भद्वद्धे	१।१।६६	ते सेटि	४।४।५४	दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्वक्	३।२।७७
तिष्ठ्यपुनर्वसूनां भद्वद्धे	१।१।६६	तोः सः सावनन्त्ये	५।१।१६४	दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे	४।२।१३७
तीवस्य ङिति	१।१।४४	तोर्लि	५।४।१३४	दक्षिणोत्तराधरादान्	४।१।६८
तीपसहस्रभरुपरिषः	५।१।१६	तौ तद्	२।२।१०५	दक्षिणोत्तराभ्यामनम्	४।१।६४
तुण्डवतिचलेर्मः	४।१।५६	त्यः	२।१।१	दण्डादेः	३।४।६४
तुन्दशोकयोः पीरमृजाप-	२।२।१०	त्यखे स्वाश्रयम्	१।१।६३	दण्डहस्तिनो ल्के	४।४।१६४
				दध्नष्टक्	१।२।१३

दन्तशिखात्वी	४।१।३६	दीरकुद्गो	५।२।१३४	द्यतिस्वनिमास्यां ति	५।२।१४४
दम्भ इच्च	५।२।१५८	दुन्वोरगौ	२।१।११६	द्यावनुप्	४।२।१२०
दयायासः	२।१।३३	दुसो दग्	३।१।१३१	द्याकृधियीनुनाशी-	३।२।२७
दस्ति	४।३।२२५	दुहानुरुधदुपद्वियद्गुह-	२।२।११८	दुतिस्वाप्योर्जिः	५।२।१६७
दाक्षः	२।२।५	दुहो पश्च	२।२।६	द्युत्पुपादित्तिन्ति-	२।१।४८
दाज धाव्योर्वा	२।१।११२	दूरादभूते	५।३।६२	द्युद्भ्यो लुङि	१।२।८७
दादुर्दोमोऽदसोऽसेः	५।३।८८	दूरान्तिकार्थेस्ता न	१।४।४२	द्युद्भ्यां मः	४।१।३४
दादेर्धोर्धः	५।३।४६	दृतिक्लृप्तिकलमित्यस्त- ३।३।३१		द्युप्रागपाशुदक्प्रतीचो	३।२।८०
दाधा भवपित्	१।१।२७	दृतिनाथयोः पशौ दृजः	१।२।२०	द्योः	५।२।१५
दाधेष्टसिद्धसदो रुः	२।२।१४२	दृन्कारापुनर्वर्पाभ्योऽभुवः	४।४।८०	द्योः स्वं चाऽजिनस्व	४।१।१३८
दानीम्	४।१।८४	दृशदृग्दृशवतौ	४।२।१६५	द्यो जमि न	४।३।६३
दान्तशान्तपूर्णदस्त	५।१।१२४	दृशुरेप्	५।३।१२६	द्यो वरुणस्य	५।२।२८
दामन्यादेशङ्गः	४।२।५	दृशो कञ्चिन्	२।१।८१	द्रव्यचनस्पर्शयोः श्वः	४।३।१६
दामझयनात् संख्यादेः	३।१।१४	दृश्यर्थे चिन्तायाम्	५।३।२१	द्रव्यं भव्ये	४।१।१५८
दाम्नीशसत्तुजस्तुद-	२।२।१६०	दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि	४।१।७६	द्रान्तस्य तो नः पूर्वन्त्र दो	५।३।५६
दासगोप्नी सम्प्रदाने	२।५।६०	देडो दिमि लिटि	५।२।१२१	द्रिः	३।१।१७६
दिक्छन्दाऽन्यारादितरत्ते	१।४।३८	देऽनतः	५।१।५	द्रुवङ्गुलेः	४।२।११४
दिक्छन्देभ्यो वाकेभ्योऽ	४।१।१२	देयमृगो	३।३।२२	द्रे अक्षुत्तेनैवाभियान्	१।४।१३३
दिक्संख्यं स्त्रौ	१।३।४५	देये वा च	४।२।६०	द्रोः	३।३।११९
दिगादेश्चौ	३।२।८४	देवताद्वन्द्वे	४।३।१३९; ५।२।२६	द्रोगपर्वतजीवन्ताद् वा	३।१।६२
दिगादेश्चैः	३।३।२९	देवतान्तात्तदर्थे यः	४।२।३१	द्वन्द्वं रदस्यादौ	५।३।१३
दिगादेश्चण् च	३।२।१२६	देवपथादिभ्यः	४।१।१५४	द्वन्द्वमगोशदेः	३।४।२२३
दित्यदित्यादित्यपतिधोर्ध्वः	३।१।७०	दे वा	२।१।४७	द्वन्द्वान्मुदहयो गर्धे	४।२।१०८
दिवः कर्म	१।२।११५	देवास्तत्	४।२।३४	द्वन्द्वान्छः	३।२।७
दिव उत्	४।३।१०८	देविकशिशापादीर्घसञ्चय- ५।२।६		द्वन्द्वाद्विन् वैरर्मथुनकयोः	३।३।६३
दिव औत्	५।१।६१	देविकुशो गौ	२।२।१२६	द्वन्द्वे	१।१।३६
दिवश्च	१।४।६७	देशेऽनोरः	४।२।२०३	द्वन्द्वे ध्रुवल्लिङ्गम्	१।४।१०२
दिवसश्च पृथिव्याम्	४।३।१४३	देहाङ्गात्	३।३।३०	द्वन्द्वे मुः	१।३।६८
दिवादेः श्वः	२।१।६५	दैकान्यकिञ्चत्तदः काले	४।१।८०	द्वन्द्वोपतापमर्हान्प्राण-	४।१।५१
दिवाधिमानिशाप्रभाभा-	२।२।२६	देवयगिशोचिबुधिसात्य	३।१।६६	द्वयोरेकः	४।३।७२
दित्रो यावा	४।३।१४९	दोः कलोडः	३।२।११७	द्वारादेः	५।२।६
दिशोऽन्तराले	१।३।८८	दोः प्राचाम्	३।२।६६	द्वितीयेऽनुपाख्ये	४।३।१- ८
दिशोऽमद्राणाम्	५।२।१८	दो दम्भोः	५।२।१४८	द्विक्कुम्भाज्जदकोश-	३।१।१५३
दीः	१।२।१०१	दोपो गौ	४।४।८४	द्विचिन्नुर्ध्वः सुच्	४।२।२५
दीडोऽन्त्रि विडति युच्	४।४।६२	दोष्टम् सौवीरेण प्रायः	३।१।१३६	द्विचिपुरुपादायुपः	४।२।७७
दीपजनमुपूरितायिण्या-	२।१।५२	दोरछः	३।२।९०	द्विचिवहोर्निःकविस्तान्	३।४।२८
दीप्पुपोक्तिशाने हवि-	१।२।४३	द्यः	१।१।२१	द्विचिभ्यां मूर्ध्निः	४।२।११५
दीरकितः	५।२।१८१	द्यः	४।३।३६	द्विचिभ्यां वा	३।४।१६७

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः	४।२।१०५	धूमादेः	३।२।१०५	न ते नासिकायाः स्त्री	३।४।१५१
द्वित्रिभ्यामण् च	३।४।३४	धेः १।२।२१; १।२।३०; १।२।४१		न थान्	५।१।५६
द्विधेर्वमुञ्	४।१।१०८	धेऽकौ	४।४।६	न थास्मदः	२।४।७१
द्वित्वेऽचि	१।१।५६	धोर्यङ् क्रियासमभिहारे	२।१।१९	न द्यङमाश्रान्तेवासिपु	३।३।६८
द्विदण्ड्यादिः	४।२।१२६	धोस्तस्मिन्नेव	४।३।७०	न दधिपयश्चादीनि	१।४।६०
द्विप्राप्ती परे	१।४।६९	ध्वपाये ध्रुवमपादानम्	१।२।११०	नदीभिश्च	१।३।६७
द्विविभज्ये तरेवम्	४।१।११६	ध्वर्गनाचः कर्मणि	१।४।२४	नदीमानुपीभ्योऽदुभ्य-	३।१।१०२
द्विपः	२।४।६२	ध्वाङ्क्षैः	१।३।४२	नद्यादेर्वञ्	३।२।७६
द्विपोऽरी	२।२।१०६	ध्वादेः पस्तः	४।३।५३	नद्याभ्तुः	३।२।६५
द्विस्तावास्त्रिस्तावानुगमम्	४।२।८६			न द्वयचः प्राच्यभरतेपु	३।२।८६
द्वीपादनुसमूहे यञ्	३।२।१३०	न		न धुखेऽगो	१।१।६८
द्वेस्तीयः	४।१।६	नः क्ये	१।२।१०४	नन्दिग्रहिपचिभ्यो ल्यु	२।१।१०७
द्वयचः	३।१।११०	न कपि	५।२।११६	नपः	५।१।१६
द्वयचोऽणः	३।१।१४३	नक्तंरात्रिमहोभ्यो दिवम्	४।२।७६	नपः स्वमोः	५।१।२०
द्वयजृचः	३।३।४४	न किञ्चि दोश्च	४।४।४०	न पदान्तद्विन्वरेवलोप	१।१।५८
द्वयजृगधकम्बिङ्गसूरग-	३।१।१५२	न कोटादिग्रहचः	३।१।४६	नपरे नः	५।४।११
द्वयनगैरीदपः	४।३।२०२	नखं मृदन्तश्वाकौ	५।३।३०	नपोऽञ्भलः	५।१।५१
द्वयघनः संखयामवाऽ	४।३।१५६	नखं मुञ्चिभि कृत्तुकि	५।३।२८	नपो वा	४।२।१११
		नखमुखात्स्त्री	३।१।५१	न प्ये	४।४।६८
		न स्त्री	४।२।१५५	न प्रतिपदम्	१।३।७३
धः	५।३।५५	न गतिर्हिसार्थेभ्यः	१।२।६	न विस्तारचितकम्बल्यात्	३।१।२७
धनुपः	४।२।१३३	नगरात्कुत्सादाद्ययोः	३।२।१०६	न धे	१।१।३७
धन्वयोऽः	३।२।६६	न गोपवनादेः	१।४।१३८	न ध्याभ्य आसम्	१।२।६१
धर्मं चरति	३।३।१६२	नगो वाऽजीवे	४।३।१८५	न ध्यावे क्तः	३।३।९५
धर्मपथ्यर्थन्यावादनपेते	३।३।१९८	न च्वाहृदैवयोगे	५।३।२०	न भामूपकमिगमिन्	५।४।११३
धर्मशीलवर्णास्तात्	४।१।५५	न जी जिः	४।३।३१	न भ्रान्नपान्नवदनास्त्य-	४।३।१८३
धर्मात् केवलादन्	४।२।१२५	न क्षितलोकस्वार्थतृत्तान्	१।४।७२	नमः पुरसोऽस्योः	५।४।२६
धात्रो हिः	५।२।१४६	न ज्ञ्	१।३।६८	नमः शान्तु	२।१।५८
धात्रपोत्रे	२।२।१६१	न ज्ञः	४।२।६७	नमः स्वास्तस्वाहास्वधाऽ	१।४।२६
धान्यप्ररोहणे खञ्	३।४।१२७	न ज्ञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञ-	५।२।३४	न माङ्-योगे	४।४।७१
धावृति गेः	४।३।७९	न ज्ञे	५।२।११	न मादेरपथ्येऽवर्मणः	४।४।१६१
धारीडः शत्रुकृच्छ्रिणि	२।२।१०८	न ज्ञोऽन्	४।३।१८१	नमिकम्पिस्मजस्कमहि-	२।२।१४८
धारेरुत्तमर्गः	१।२।१६२	न ज् दुस्सोः सक्थिहृते-	४।२।१२३	न मु दाविधौ	५।३।२९
धि	५।३।४३	न ज् विरूपत्रिभ्यश्चतुरः	४।२।७५	नमोवरिद्विश्चित्रः क्यच्	२।१।१६
धिगन्थ्यर्थान्च	२।४।५८	न ज् से चतुरस्रगतलक्षण	३।४।११५	न मेस्तो वा	४।३।८६
धिविदुण्भ्योर च	२।१।७५	न ज् शदादाङ्ङित्	३।२।६६	न यदनाकाङ्क्षे	२।४।९
धुयोमे त्याः	२।४।१	न डादेः कुक्	३।२।७१	न रुधः	२।१।५५
धुरो दण् च	३।३।१६२	न डादेः कण्	३।१।८८	न रे स्त्री	४।३।२३०

न लङ्लुट् सामीप्याव्यु-२।३।१११	नासिकाया नश्चात्स्थू- ४।२।११८	नीलपीतादकौ ३।२।२
न लिङि ५।१।८७	नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्त- ३।१।४८	नुमशर्व्ववायेऽपि ५।४।३८
न वञ्चेर्गतौ ५।२।६४	नासिकयो ङः १।१।४	नुवा ४।१।४
न वर्जने १।४।१२६	नास्तिकास्तिकद्वैष्टिकाः ३।३।१७८	नृत्यस्थयोर्बुज् ३।२।१२२
न वा रुध्यमत्वरसंयुता ५।१।१२८	निमनिक्षनिन्दो वा ५।४।११२	नृतेर्यङ् ५।४।११८
न या श्वेः ४।३।२७	निः १।२।१२७	नेच्यात् ४।३।६२
न या साकाङ्क्षे २।२।६४	निष्ठावस्थे वसति ३।३।१९०	नेटः ५।२।८४
न विस्ताचितकम्बलान् ३।१।२७	निजामुच्येप् ५।२।१७४	नेष्टि ५।१।८०
न वृद्धकोटः ४।३।१४६	नित्यं गतिविशेषे २।१।२७	नेन्द्रस्य ५।२।२७
न वृतादेः ५।१।१०७	नित्यं दुःशरादेः ३।३।१०६	नेर्गदनदपतपदभुमा- ५।४।१००
न व्यो लिङि ४।३।३६	नित्यम् ३।३।१४५	नेर्विड्विरीमौ ३।४।१५२
न शशदद्वादीनाम् ४।४।११७	नित्यव्योस्योः ५।३।३	नेल् स्वलादेः ३।१।८
नशः श ५।४।९९	निन्दहिंसकिलशलाह- २।२।१२७	नैकाचः ४।४।१५४
नश्च पुंसि ४।३।६१	निपानमाहावः २।३।६१	नैकार्थ्ये बोध्ये सामान्य- ५।२।३५
नश्चापदान्तस्य झलि ५।४।८	निमित्तं संयोगोत्पादौ ३।४।३७	नोङः ४।४।५
नश्चम्यप्रशान् ५।४।२	निमूले कवः २।४।२२	नोङस्थफात् क्त्वा १।१।६५
नश्श तुक् ५।४।१४	नियोऽवोदोः २।३।२५	नोऽपुंसो ह्रति ४।४।१३०
न समाहारे ४।२।६१	निरभ्योः पूर्वोः २।३।२६	नोमता गोः १।१।६४
न सामेः ४।२।१३	निरेकाजनाङ् १।१।२२	नोऽसे मट् ४।१।२
न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम् ५।१।४७	निर्दुस्सुवेः सुपिस्त्रुलिसमाः ५।४।६६	नौ गदनदपटस्वनः २।३।६७
न सेट्स्तासि मोऽवमि- ५।२।३६	निर्धारणे १।३।७४	नौ णश्च २।३।५४
न स्कादौ न्द्रोऽधि ४।३।३	निर्वाणोऽवाते ५।३।६६	नौ द्वयचष्टः ३।३।१३१
न स्वतत्किमः ४।२।६६	निर्वृत्ते ऽक्षयूतादेः ३।३।१४२	नौ धर्मविषयीताभ्यस्ता- ३।३।१६७
नहिङ्गतिवृषिभ्यश्चि- ४।३।२१६	निकासचित्तिदारीरोपसमा- २।३।३६	नौ बुधान्ये २।३।४४
नहो धः ५।३।५१	निविदाः १।२।११	न्यग्रोधस्य केवलस्य ५।२।१०
नाञ्चेः पूजे ४।४।२६	निव्यभ्यनुपरेः स्यन्दोऽ- ५।४।५४	न्यङ्क्वादेः ५।२।५८
नाडीवन्धोः स्त्राङ्गे ४।२।१५८	निशाप्रदोषाभ्याम् ३।२।१३४	न्यायपरिणायपर्यायः २।३।३६
नातोऽम् त्वकायाः १।४।१५२	निषेधेऽलंखल्वोः क्त्वा २।४।४	प
नायन्ते ५।४।७६	निष्काञ्छतसहस्रान्तात् ४।१।४५	पक्षातिः ३।४।१४५
नाधार्थ्ये अर्थे २।४।४७	निष्कुषः ५।१।६४	पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ३।३।१५७
नानेकगोः ४।४।६१	निष्णातनदीष्णातप्रतिष्णा ५।४।७५	पक्षिविशतिर्विशचत्वा ३।४।५८
नानोः १।२।५४	निष्प्रवाणिः ४।२।१५६	पक्ष्योः ३।१।५७
नामन्याऽऽदिशिग्रहः २।४।४३	निसः श्रेयसः ४।२।८२	पञ्चदशती वर्गे वा ३।४।५८
नाम्यतिसुचतस्र ४।४।३	निसस्तपतावनसेवने ५।४।७४	पणः परिमाणे २।३।५५
नावो रात् ४।२।१०२	निसंयुपाद् हः १।२।२५	पणपादमापाद्यः ३।४।३१
नाशः खम् १।१।६१	निसब्धप्रतिस्तब्धौ ५।४।८०	पण्यावयव्यावल्यायोपस- २।१।८८
नाशिष्यगोवत्सहले ४।३।१६१	नीगञ्चुस्सुध्वंसुध्वंसु- ५।२।१८२	पतिः से १।२।६८
नासिकादौ धेट्भ्यः २।२।३३	नीतौ च तदुक्तान् ४।१।१३३	पतिवत्यन्तवत्यौ ३।१।३१

पत्नी	३।१।३३	परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः	२।३।१९	पातेर्लुक्	५।२।४४
पत्यन्तपुरोहितादेर्ण्यः	३।३।१२८	परिमाणासंख्यायाःसङ्ख-	३।४।५६	पात्राद् घश्च	३।४।६५
पत्रात्	३।३।६१	परिमाणादधुदुपि	३।१।२६	पात्रेसमितादयश्च	१।३।४३
पत्रादण्	३।३।९०	परिमुखम्	३।३।१५२	पादः पत्	४।४।११६
पथः कट्	३।४।७१	परिभृतो रभः	३।२।८	पादम्याङ्यमाङ्यसपरि-	१।२।७३
पथः पन्थः	३।३।६	परिव्यवक्रियः	१।२।१२	पादस्य पदाज्यातिगोप-	४।३।१६३
पथिमध्यभुक्षामात्	५।१।६२	परिषदो ण्यः	३।३।१६५; ३।३।२०५	पादो वा	३।१।१५
पथो वा	४।२।६८	परिस्वन्दः प्राच्यभस्तेषु	५।४।५७	पाद्यार्थे	४।२।३२
पथो वुन्	३।३।१६	परेः	५।४।५६	पानं देशे	५।४।६३
प मृत्कर्तृपदपात्र-	१।४।१२३	परेः लुङिङित् (पद-)	२।२।११९	पापाण्ये कुत्स्यैः	१।३।४९
पथ्यतिथिवसतिस्वपते-	३।३।२०७	परेऽचः पूर्वविधौ	१।१।५७	पाय्यसान्तस्यनिकाय-	२।१।१०४
पदद्योर्गुल्लति	३।३।१६०	परेर्वाङ्मयोगे	५।३।४०	पाशयणपुरायणचन्द्राय	३।४।६८
पदकजविशस्त्रशो घञ्	२।३।१५	परेर्वर्जने	५।३।४	पारे मध्ये तथा वा	१।३।१५
पदव्यवायेऽपि	५।४।११६	परेर्वा	४।३।३७	पाशरूपवीणातुलश्लोक-	२।१।२२
पदस्य	५।३।१४	परोक्षे सिट्	२।२।६५	पाशादेर्यः	३।२।४१
पदस्य दोर्नाम्नबतिनगरी	५।४।१२१	परोऽचो मित्	१।१।५५	पिच्छास्मद्	२।४।७८
पदादपादादौ	५।३।१५	परोपात्	१।२।३५	पिष्टं चिः	३।४।१५४
पदार्थसम्भावनानुज्ञा	१।४।६	परो म्रिः	५।३।२	पिति कृति तुक्	४।३।५६
पदास्थैरिवाङ्मवक्ष्येषु	२।१।१८	परोवरपरंपरपुत्रपौत्र-	३।४।३३५	पितुर्यश्च	३।३।५३
पदे योरैयौव्	५।२।८	परोः भुवोऽवज्ञाने	२।३।५१	पितृव्यमातुलमातामह-	३।२।३१
पद् ये	४।३।१६४	परो यज्ञे	२।३।४३	पिष्टात्	३।३।११०
पन्थो ण नित्यम्	३।४।७२	परो वादिङ्गिपरट्	२।२।१२८	पीलया वा	३।१।१०७
परः	२।१।२	पर्यादिष्टट्	३।३।१३३	पुंस्त्री घः प्रायेण	२।३।१००
परकालैककर्तृकात्	२।४।७	पर्यपाङ्गद्विरखवः कया	१।३।१०	पुंयोगात् खोरगोपाल-	३।१।३८
परम्	१।३।६५	पर्यमिम्याम्	४।१।७५	पुंवद्यजातीयदेशोये	४।३।१५४
परस्परान्योन्येनरेतरे	१।२।१०	पर्यातिवचनेऽलमर्थे	२।४।५१	पुंसि चाङ्गर्चाः	१।४।१०८
परस्यादेः	१।१।५१	पर्यायार्हणोत्पत्तौ वुण्	२।३।६२	पुंसोदोऽय्	५।१।१६९
परानुक्तेजः	१।२।७६	पर्वतात्	३।२।११६	पुंसोऽमुङ्	५।१।६६
परावरयोगे	२।४।६	पश्वादेरण्	४।२।६	पुच्छभाण्डचीवरारिणङ्	२।१।१७
परावराधमोत्तमादेः	३।२।१२५	पल्लवादेः	३।२।८६	पुण्यसुदिवाभ्यां नप्	१।४।१०६
परिक्रयणम्	१।२।११३	पत्यराजहस्तिभ्यो वर्चसः	४।२।८०	पुण्यैकाभ्याम्	४।२।६२
परित्राया दण्	३।४।१६	पशुध्वजः समुदोः	२।३।५६	पुत्राच्छ वा	३।४।४०
परिणाऽक्षशलाकासंख्याः	१।३।८	पाककर्णपर्णपुष्पफलमूल	३।१।५४	पुत्रान्ताद्वा	३।१।१४६
परिनिविभ्यः सेवसितसयाम्	५।४।५१	पाकमूले पीलुकर्ण-	३।४।१४४	पुत्रे वा	४।३।१३५
परिपन्थं तिष्ठति	३।३।१५८	पात्राध्माधेट्टशः शः	२।१।११०	पुमः ख्यम्परे सोऽनुस्वा-	५।४।१
परिभूजिद्विबित्रीणव-	२।२।१४०	पात्राध्मास्थान्नादाण्	५।२।३६	पुरायावतोर्लट्	२।३।२
परिमाणस्याखुशाणे	५।२।२२	पाणिघताडधराजघाः	२।२।५३	पुरि लुङ् वा	२।२।६८
परिमाणस्थानतोऽर्धाद्वा	५।२।३२	पाण्डोर्भ्यण्	३।१।१५५	पुरुषहस्तिनोऽण् च	३।४।१५९

पुरुषाङ्गण	३।४।६	पौत्रादि वृद्धम्	३।१।७८	प्रयच्छति गह्वर्यम्	३।३।१५३
पुरुषात् प्रमाणे वा	३।१।२९	प्यस्तिवाक्से क्त्वः	५।१।३१	प्रयोजनम्	३।४।१०२
पुरुषे वा	४।३।२१२	प्यायः पी	४।३।२३	प्रवहः	१।२।७८
पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सुः	२।२।२३	प्ये	४।४।३८	प्रवाहणस्य ते नस्य	५।२।३३
पुरोडाशाङ्गम्	३।३।४५	प्ये धिपूर्वात्	४।४।५६	प्रशंसायां रूपः	४।१।१२५
पुरोऽस्तं भिः	१।२।१३७	प्ये च	४।३।३४	प्रशंसेऽहं	२।२।१११
पुवः खौ	२।२।१६३	प्रः	४।४।८७; ५।२।१६३	प्रशंसोक्त्या	१।३।६२
पुवादुत्	५।१।८५	प्रकारे पुण्येतेः	५।३।१०	प्रशस्त्यस्य अः	४।१।११९
पुस्करादेर्देशे	४।१।५६	प्रकारे या	४।१।८६	प्रश्ने चान्तर्युगे	२।२।९७
पुष्यसिद्ध्यौ भे	२।१।६६	प्रकारोक्तौ जातीयः	४।१।१२८	प्रसहनेऽधेः	१।२।२८
पूगाञ्ज्योऽग्रामणीपूर्वात्	४।२।१	प्रकृत्याऽधि दिवाः	४।३।१०३	प्रसितोत्सुकाभ्यां भा च	१।४।५२
पूङः	५।१।९६	प्रकृतेः टः	३।४।१०१	प्रस्थो वा	५।३।६६
पूङ्यजोः शानः	२।२।१०६	प्रकृत्यगर्हं मन्यकर्मण्य-	१।४।२७	प्रस्थपुरवहान्तात्	३।२।१००
पूजाकुत्सयोर्भ्यत्यवः	३।१।८४	प्रचये वा	२।४।३	प्रस्थैप्	५।२।१०३
पूजिते	५।३।६६	प्रजने वातेः	४।३।४७	प्रहरणम्	३।३।१७६
पूतकतोरै च	३।१।३६	प्रजने सुः	२।३।५८	प्रहरणमिति क्रीडायां णः	३।२।४६
पूष्णोद् वा	४।२।१४६	प्रजामेधादम्	४।२।१२४	प्रहासे मन्यवान्च युष्म-	१।२।१५४
पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराण	१।३।४४	प्रज्ञादेः	४।२।४४	प्राक्कणश्छः	३।४।१
पूर्वत्रासिद्धम्	५।३।२७	प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः	४।१।२८	प्राक्तेर्वाऽसमः	२।१।८१
पूर्वपदात्खाद्यमः	५।४।८७	प्रतिकण्डललामार्थात्	३।३।१६१	प्राक्सितादटापि	५।४।४३
पूर्वम्	१।३।६७	प्रतिजनादेः खञ्	३।३।२०३	प्राग्द्रोरण्	३।१।६८
पूर्वश्च	४।३।६	प्रतिज्ञाने समः	१।२।४८	प्राग् धोस्ते	१।२।१४६
पूर्वात्	४।१।२०	प्रतिपदमेति ठश्च	३।३।१६३	प्राग्याहण्	३।३।१२६
पूर्वादयो नव	१।१।४२	प्रतियत्ने कृञः	१।४।६०	प्राग्वत्प्रञ्	३।४।६१
पूर्वान्यायेतरेतरापरावरो	४।१।८७	प्रतियोगे कायास्तसिः	४।२।४६	प्राचां कटादेः	३।२।११५
पूर्वापरप्रथमचरम-	१।३।५३	प्रतिश्रवणे	५।३।६६	प्राचां ग्रामाणाम्	५।२।१६
पूर्वावरसहशकलहनिपुण	१।३।२८	प्रतेः	४।३।१०	प्राचां नगरे	५।२।२६
पूर्वावराधराणां पुरव-	४।१।१०३	प्रतेरुरस ईपः	४।२।८५	प्राचामिजोऽतौल्वलिभ्यः	१।४।१३२
पूर्वाङ्गणापराङ्गणाऽऽर्धमूल-	३।३।५	प्रत्यन्ववात्सामलोभनः	४।२।७१	प्राणितालादेः	३।३।१०५
पूर्वे कर्तरि	२।२।२४	प्रत्यभिवादेऽश्चद्रस्यस्यके	३।६।१	प्राणितूर्यसेनाज्ञानां द्रव्य	१।४।७८
पूर्वोऽमि	४।३।६४	प्रत्यम्यतिक्षिपः	१।२।७७	प्राणिन्युप्	३।४।८६
पृथग्विनानानामिर्वा	१।४।४१	प्रत्याङ्भवः	१।२।५५	प्राण्यङ्करथललयवमापद्वय-	३।४।५
पृथ्वादेर्वेमन्	३।४।११२	प्रथने वावशब्दे	२।३।११	प्राण्यङ्गादातो वाऽलः	४।१।२४
पृथोदरादीनि यथोप-	४।३।२१४	प्रथमचरमतयात्पार्धकति-	१।१।४१	प्राण्योषधिबृक्षेभ्योऽवयव	१।१।१०३
पेषमि	४।३।१६६	प्रपूर्वस्य स्यः	४।३।१८	प्रात्	४।३।५८
पैलादेः	१।४।१३१	प्रभवति	३।३।५७	प्रातर्निःशरेक्षुप्लक्षाम्	५।४।८६
पोटायुवतिस्तोक-	१।३।६०	प्रमाणसन्धोः	२।४।३६	प्रादारम्भे	१।२।३८
पोरुद्धोऽनपिर्वापरिपि-	२।१।८५	प्रमाणे द्वयसङ्घटन-	३।४।१५८	प्रादिः	१।२।१२६

प्रादुर्गोः	५।३।४५	पेनादिलश्च	४।१।२६	भक्तिः	३।३।७०
प्रादुर्भूत्यामङ्गलि	५।४।७३	फेरञ्च च	३।१।१३७	भक्ष्यालाभ्यां मिश्रणव्य-	१।३।३०
प्राध्वं वन्धे	१।२।१४७	ब		भजो रिवः	२।२।६५
प्रायश्चित्तिचित्तयोः	४।३।११७	बन्धोऽधिकरणे	२।४।२०	भजभासमिदो नुरः	२।२।१४४
प्रायोऽनर्पयेऽणीनः	४।४।१५५	बन्धौ वे	४।३।१०	भज्जेजौ	४।४।३२
प्रायो (व आ) भीक्षये	२।२।६९	बलादेर्मनुर्वा	५।१।५७	भर्गात् त्रैगतं	३।१।१००
प्रावृष एरयः	३।२।१३६	बले	४।३।२२१	भवतश्चण्डुसौ	३।२।६१
प्रावृषष्ठः	३।३।२	बहावीरेतः	५।३।८६	भवति	२।४।७१
प्रियवशे वदः खञ्	२।२।३६	बहुत्वेऽदोरपि	२।२।१०१	भवेरः	५।२।१७३
प्रियस्थिरस्फिरयन्दरः	४।४।१४८	बहुपूराणसङ्घस्य	४।१।४	भवद्भगवदघवतो वा रिः	५।४।३
प्रसूतः साधुकारिणि	२।१।१२२	बहुलं खौ	१।४।१२६	भवद्बद्धा तस्माद्यौ	२।३।१०७
प्रे	२।२।४	बहुलं गुरुवृद्धतृप्रदीर्घं	४।४।१४९	भव्योपप्रयत्ननीयो-	२।४।५३
प्रेङ्क्षु भवः	२।३।२६	बहुलापिन्यालादौ	४।१।४६	भसन्त्याद्युत्तुम्योऽङ्गार्वा-	३।२।१३७
प्रेलपसृष्टमथवदवसः	२।२।१२६	बहोर्धौ वाससौ	४।२।२७	भक्षैवाजाज्ञात्वात्मानां	५।२।५२
प्रे लिप्सायाम्	२।३।४२	बहोर्वस्नसौ	५।३।१७	भस्य	४।४।११८
प्रेल्वान्वतुरो नुट्	५।१।३६	बहौ भल्येत्	५।२।६८	भस्य टेः खम्	५।१।६५
प्रे वणिजाम्	२।३।४८	बह्वचो नृगोर्वा टः	४।१।१३४	भागावश्च	३।४।६८
प्रं सजोरिन्	२।२।१३६	बह्वादेशः	३।३।१८२	भा गुणोक्त्याऽर्धेनोर्नः	१।३।१७
प्रै प्रातिसर्गप्राप्तकाले	२।३।१३६	बह्वल्पाच्छस्कारकादा	४।२।४७	भागे चानुप्रतिपरिण	१।४।२२
प्रोः	५।२।१७६	बह्वादेः	३।१।३१	भाऽनुलोपमाभ्यां तुल्यार्थः	१।४।७६
प्रो धि च	१।२।६६	बह्वचो बहुलं ठञ्	३।३।४३	भादाविदमोऽन्वादेशे	४।३।११८
प्रो नयि	१।१।७	बादान्तिकयोः साधनेदौ	४।१।२२	भादौ वोक्तुंस्कं	५।१।५३
प्रोऽप्रार्थम्भोः	५।२।१०२	बाहन्तकटुकमण्डलुभ्यः	३।१।३०	भायुक्तः कालः	३।२।४
प्रोष्ठपदानां जाते	५।२।२३	भिमेतेर्हेतुभये	४।३।४८	भाया श्रीजस्तो	४।३।१२२
प्रोष्ठैरयजत्पदः	४।२।१२१	बिल्वकादेशस्य	४।४।१४३	भार्थे	१।४।१४
प्लक्षादिभ्योऽण्	३।३।६२२	बुध्यन्तश्चनेऽप्रदुस्त्रोर्णः	१।२।८३	भावकर्म डि०ः	१।१।३०
प्लादेः प्रः	५।२।७८	वृहदिका	४।२।१४	भाववाचिनः	२।३।६
फ		बोध्यमसद्वत्	५।३।२४	भावादिसः	३।३।१४३
फट्	३।१।२०	ब्रह्मणस्त्वः	३।४।१२६	भावे	२।३।१७
फणां सप्तानाम्	४।४।११६	ब्रह्मणो राष्ट्रेभ्यः	४।२।१०६	भावेऽगौ	२।२।६२
फण्फिजोर्वा	३।१।७६	ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्तिप्	२।२।७५	भावे त्वन्तलौ	३।४।११०
फलिभजोः	४।४।११२	ब्राह्मणमाणववाडवान्	३।२।४२	भासे	१।१।३८
फलेप्रह्लात्मभरिक्कुक्षि-	२।२।३१	ब्राह्मोऽजातौ	४।४।१६२	भिदादेः	३।२।३३
फलान्याष्टः	३।३।६	ब्रुव आहश्च	२।४।७०	भिदासेनादाये	२।२।२२
फाण्टाहतेर्णः	३।१।१३८	ब्रुव ईट्	५।२।६१	भियोद्व्यौ नदे	२।१।६५
फाल्गुनीश्रवणकार्तिकी	३।२।१८	भ		भिल्लिल्लो नदीदेशो-	१।४।८३
फिरदोः	३।१।१४७	भक्ताण्यः	३।३।२०४	भिवः कुक्कुकी	२।२।१५३
फुल्लः	५।३।७०	भक्तादाऽण्	३।३।१८५	भियो वा	४।४।१०५

भिलोऽत ऐस्	५।१।८	मदजनहलात्करण-	३।३।२०१	मानां एत्यमथायुसण-	२।४।६८
भोमादयोऽपादाने	२।४।६१	मंष्ट्रभ्योऽण्	३।२।८५	माने क्यः	३।३।२२०
भीरोः स्थानम्	५।४।६३	मधुमज्जोर्वाह्णकौशिकयोः	३।१।६५	मान्वधदानशान्भ्यो श्रीश्च	२।४।१४
भीहीभृदुवामुज्ज्वत्	२।१।३५	मधूपशुचिसुकादः	४।१।३३	मालेयीकेष्टकानां भारि-	४।३।१७५
भुजप्रयाजानुयाजौकप्रयोज्य-	५।२।६८	मध्यान्तादगुरौ	४।३।१३०	मावधेः	५।१।१५०
भुजोऽदौ	१।२।६३	मध्यान्मः	३।२।२२८	मासाद् वयसि खञ्	३।४।७७
भुमास्थागापाहक्त्वा	४।४।६५	मध्वे पदे निवचने	१।२।१४५	मिडः	४।१।११५
भुवः खड्गस्तरे	२।२।१५२	मध्वादेः	३।२।६६	मिडस्त्रिशोऽस्मन्गुण-	१।२।१५२
भुस्थोरिः	१।१।६१	मनः	२।२।७०	मिडैकार्थे वा	१।४।५४
भूतपूर्वं चरद्	३।४।१४२	मनस्पुरनस्थनत्याधाने	१।२।१४४	मिड्शिदराः	२।४।६३
भूतवन्चाशंसायाम्	२।३।१०८	मनुष्यादिव्यख्यात्	३।२।१०७	मिध्मीञ् दीङां ष्वे च	४।३।४३
भूते	२।२।७२; २।३।११६	मनो डाण्व	३।१।६	मितनस्परिमाणे पञ्चः	२।२।३६
भूयद्वये	२।१।९०	मनोरुश्चक्षुश्चेतोरहोर-	४।२।५६	मिदेरेप्	५।२।७६
भूवादयो धुः	१।२।१	मनोरौ च	३।१।५१	मिध्मश्चलषोऽनुतल्लाल-	२।४।८२
भूयाऽपरिमहेऽलमन्तः	१।२।१३५	मनोर्जातौ पुक् चाऽजौ	३।१।१४८	मिध्वस्ममृमिध्वस्थानित्त-	१।४।६४
भृग्विकृतसवशिष्टगोत-	१।४।१३६	मन्त्रेस्त्विधु	४।४।६२	मुक्तापेतापोदपनितापत्र-	१।३।३३
भृगां त्रयाणामिः	५।२।१७५	मन्थौदनसरुत्रिन्दुवज्र-	४।३।१७१	मुष्टमिध्वश्चलक्षणावण-	२।१।१८
भृजोऽलौ	२।१।६३	मन्माभ्यां लौ	४।१।५८	मुद्रादण्	३।३।१४८
भृतृवृजिधारिसहि-	२।२।४४	मन्वन्कनिध्वनः क्वचित्	२।२।६२	मुमनः	४।३।१७७
भृशादेश्चौ हलो भुवि	२।१।६०	मम्	१।२।७५	मुपगृह्णद्विदः संश्च	१।१।८२
भेभ्यो बहुलम्	३।३।१३	ममोड्झयो मतोर्धोऽ-	५।३।३१	मृगोत्तरपूर्वात्तकथनः	४।२।१०१
भेपजानन्तावसथेतिहाद्व्यः	४।२।३०	मयद्	३।३।५६	मृजेरेप्	५।२।१
भौरिकार्यैपुकार्यादिभ्यो	३।२।४७	मयद्द्वैतयोरभक्षाच्छा-	३।३।१०८	मृदमृदगुधकुथवदवतः	१।१।८०
भ्यपः	५।२।१५०	मयूरव्यंसकादवश्च	१।३।६६	मृदन्तनुम्विभक्त्याम्	५।४।६५
भ्यसोऽन्वम्	५।२।२६	मयो वोऽन्वुजः	५।४।१५	मृदस्तिकः	४।२।४५
भ्रतजोरसोरम्वा	४।४।४६	मस्जिनशोर्भलि	५।१।३६	मृदो लुङ्लिङोश्च	१।२।५७
भ्राजभासमापदीपनीच-	५।२।१६६	महतोऽज् खञौ	३।१।१३०	मृधः परेः	१।२।७६
भ्रातरि च ज्याधमि	३।१।८२	महाराजप्रोष्ठपदाभ्यां टण्	३।२।३०	मृधः स्वाधे	१।१।९३
भ्रातृव्यश्च	३।१।१३३	महाराजात्	३।३।७२	मेघर्तिमयेपु कृजः	२।२।४१
भ्रूवो धुक्	३।१।११४	महेन्द्राद् प्राणी च	३।२।२४	मेर्निः	२।३।७५
भ्रीगद्व्यधैवत्यसार-	४।४।१६६	माङि लुङ्	२।३।१५१	मो नः	५।३।८३
भ्यसोरेच स्वं हौ	४।४।१०१	माङो व्यतिहारे	२।४।५	मोऽनुस्वारः	५।४।०
म		माणवचरकात् खञ्	३।४।१०	मौ डाचि नित्यम्	४।३।८७
		मातरपितरौ वा	४।३।१४५	म्योः	५।३।८४
मङ्कुक्षमर्माद्वाऽण्	३।३।१७५	मातृपितृभ्यां स्वसुः	५।४।६६	य	
मतिबुद्धिपूजार्थाच्च	२।२।१६६	मातृपितृभ्यां स्वसुः	५।४।६६	यः	३।४।७८; ५।१।१४८
मती ब्रह्मच्छुरादेर-	४।३।२२२	माथद्युपद्वयनुपदाक्रन्दं	३।३।१५६	यः सौ	५।१।१६८
मत्वर्थे स्त्री	१।२।१०८	मानपश्वङ्गयोः कोपी	४।१।११२	यत्नावचनः	३।४।१३९
मत्स्योङ्यो ङ्याम्	४।४।१३७				

यत्नौ वाऽशब्दे	३।३।४०	यसः	२।१।६७	येनास्ति विधिस्तदन्तादौः	१।१।६७
यगु दुहः	२।१।५७	यस्कादिभ्यो वृद्धे	१।४।१३४	येषां च द्वेषः शाश्वतिकः	१।४।८५
यङि	५।२।१३६	यस्य ड्वां च	४।४।१३६	योगाद्यश्च	३।४।६६
यङुहोरेण्	५।२।१८०	यस्य वा	५।१।१२१	योहो सपोत्तमाद् वुञ्	३।४।१२२
यङोऽचि	१।४।१४४	याचितापमित्यात्कण्	३।३।१४६	योऽचोऽरासुयुवः	२।१।८४
यङो वा	५।२।१९२	याजकादिभिः	१।३।७२	योजनं याति	३।४।७०
यच्चि भः	१।२।१०७	याद्यापः	५।२।१०८	यो यङः	२।२।१५५
यच्चयत्रयोः	२।३।१२४	यान्ये पाशः	४।१।११०	योऽर्धात्	३।२।१२४
यजयाचयतविच्छ्रप्रच्छ्र	२।३।७२	यावति विन्दजीयः	२।४।१६	योऽसंख्यापरिमाणा-	३।४।३८
यजिजपिवददशामूकः	२।२।१३५	यावद्यथायधृत्यसादृश्ये	१।३।६	यौनमौलाद् वुञ्	३।३।५१
यजितविप्रवचाम्	५।२।६६	यामुण् मो ङित्	२।४।८४	य्वावचि सन्धौ	५।३।१०५
यजतिविभ्यां धत्वजौ	३।४।६७	यि किङ्कत्ययङ्	५।२।१३१	य्वग्रहवृद्धगमोऽच्	२।३।५२
यज्ञः स्तुवः	२।३।२३	यि खम्	४।४।१०८	य्वौ ह्याख्यौ मुः	१।२।९२
यजः	३।१।१६	यिद् धङ्	४।३।१५३		र
यजजोः	१।४।१३५	यित्ये	४।३।६७	रः खम्	४।४।१६
यजिजोः	३।१।९०	युक्तबहुसि लिङ्गसंख्ये	१।१।६८	रत्ते	४।२।१८
यज्यतो दौः	५।२।६६	युग्यं पत्रे	२।१।१००	रक्षत्युच्छ्रिति	३।३।१५५
यगेल्योः	४।४।७७	युजातः	२।३।१०६	रङ्गोः	३।२।७६
यतः प्रतिदाप्रतिनिधी	१।४।२२	युजेरसे	५।१।५०	रजःकृष्यासुतिपरिपदो	४।१।३८
यतश्च निर्धारणम्	१।४।४९	युजोऽयजपात्रे मेः	१।२।६०	रज्जेः	४।४।२५
यत्तदेतेभ्यः परिमाणे	३।४।१६०	युद्	२।३।६७	रथवदयोः	४।२।२०८
यत्थे तदादि गुः	१।२।१०२	युङ्ख्या बहुलम्	२।३।९४	रथाद्यः	३।३।८६
यत्समवाऽनुः	१।३।१२	युवा खलतिपलितवलि-	१।३।६३	रषादेः	५।१।९३
यथातयवथापुरयोःक्रमेण	५।२।३५	युवात्पयोः कन् वा	४।१।१२३	रधिमभोरन्च	५।१।४०
यथातययोःसूत्राप्रत्युक्ती	२।४।६४	युवावौ द्वौ	५।१।१५१	रन्तोऽणुः	१।१।४८
यथामुखसम्मुखस्य	३।४।१३१	युवोरनाकौ	५।१।१	रन्तब्धेऽः	२।४।८६
यथासेख्ये समाः	१।२।४	युष्मदस्मदोः	५।१।१४५	रभोऽशन्तिदोः	५।१।४२
यथास्ये यथायथम्	५।३।१२	युष्मदस्मदोऽकङ्खञ्	३।२।१२१	रश्मौ	२।३।४६
यद्भावाद् भावगतिः	१।४।४५	युष्मदस्मदो ङसोऽश्	५।१।२३	रस्योवनपत्ये	३।१।७४
यमेऽश्ववृषभयोः क्वचि	५।१।३२	युष्मदस्मदोऽविपत्तास्थस्य	५।३।१६	राजदन्तादौ	१।३।६६
यमः सन्निव्युपे च	२।३।६६	यूतिजुतिसातिहेतुर्कीर्तयः	२।३।७८	राजन्यादेर्बुञ्	३।२।४६
यमः सूचने	१।१।८६	यूनस्तिः	३।१।६२	राजन्वान् सौराज्ये	५।३।३५
यमरमनमातः सकृ च	५।१।१३२	यूनि	३।१।७५	राजश्वशुराद्यः	३।१।१२६
यय्यनुस्वारस्य परस्वम्	५।४।१३२	यूयवयौ जसि	५।१।१५२	राजाहःसन्निभ्यष्टः	४।२।६३
यरो ह्यो विमात्रा डे	५।४।१२५	ये कङ्गाराः	१।३।१०४	रातः क च	३।२।११६
यवदुत्तरे	५।३।६	येऽहौ	४।४।१५६	राशि युधि कृजः	२।२।८२
यवयवकषट्ठिकाद्यः	३।४।१२६	ये वा	४।४।४५	राहद् च	३।४।५३
यश्चोरसः	३।३।८३	येनाङ्गविकारेत्यभ्मावौ	१।४।३१		

रात् ३।१।२५; ३।४।७६	लक्षणहेतोः २।२।१०४	लुङ्लुङोर्वा १।४।१२२
रात्राहौ पुंसि १।४।१०४	लङ्गणेनाभिमुखवेऽभिप्रती १।३।११	लुटि च क्लृपः १।२।८६
रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य ४।३।१८०	लङो वा २।४।६१	लुटोऽन्यस्य द्वारौरसः १।४।१५४
रात्र्यहःसंवत्सरात् ३।४।८४	लट् २।२।६६	लुपसदचरजमजमदह- २।१।२१
रात्रसः ५।३।४२	लभेः ५।१।४३	लूधूसूखनर्तिसहचरश्चः २।१।१६२
रादुबलौ ३।४।२६	लभपतपदस्य भूषणहन- २।२।१३७	लृट् २।३।११
राद् भूतबलेः ३।४।८३	लस्य २।४।६३	लोकात् ३।४।४४
राधो वधे ५।२।१५६	लाक्षारोचनाशकलकर्दमा- ३।२।३	लोट् २।३।१३८
रायो हलि ५।१।१४४	लालाटिककौककुटिकौ ३।३।१६७	लोढो लङ्वात् २।४।७२
राष्ट्रवत्तद्वतां सर्व- ३।३।७५	लिङ् २।३।१३५	लोढर्थलक्षणे २।३।६
राष्ट्रशब्दाद् राशोऽञ् ३।१।१५०	लिङः सीयुट् २।४।८३	लोमपामादिभ्यां शनौ ४।१।२७
राष्ट्रावधोः ३।२।१०२	लिङाशंसोक्ती २।३।११०	लो मम् १।२।१५०
राश्रावारपाराधखौ ३।२।७३	लिङाशिषि २।४।६६	लोभोऽन्तर्द्विभ्याम् ४।२।११७
राष्ट्रे ३।२।४५	लिङोऽन्यस्यसखम् ५।१।१३८	लो वा स्नेहद्वे १।१।४५
रि ५।२।५३	लिङ् चौर्ध्व- २।३।७; २।३।१४०	लोहितादिसकलान्तात् ३।१।२१
रीङ्यग्लिङ्शो ५।२।१३७	लिङ् यदि २।३।१४४	लोहितान्मणौ ४।२।३६
रीगृत्वतः ५।२।१८७	लिङ्येत् ४।४।६६	ल्यदेः ५।३।६१
रीङ्गतः ५।२।१३६	लिङ्येतैः ५।२।१३३	
रुग्णिकौ चोपि ५।२।१८८	लिङ्येदौ ५।१।६०	व
रुचलार्थाद्धेयुञ्च २।२।१३०	लिङ्येतौ लृङ्क्रियावृत्तौ २।३।११५	वः कौ ५।१।७३
रुजर्थश्च भाववाचिमोऽ- १।४।६२	लिट् २।४।६५	वक्त्यमुल्यातैरङ् २।१।४५
रुदादेर्गे ५।१।१३५	लिटस्लभ्योरेशिरे २।४।६७	वचने गृधिवच्चेः १।२।६५
रुद्भ्योऽङ्वाजज्ञेः ५।२।९४	लिटि वा १।४।११२	वाचिस्वपिषजादीनां- ४।३।११
रुधितुदादिभ्यां शनम्शौ २।१।४७	लिटि वेजो यः ४।३।३२	वचोऽशब्दखौ ५।२।६७
रुहः पः ५।२।४७	लिटोति रधेः ५।१।४१	वञ्चिलुङ्यत्तुपि- १।१।६६
रुण्यद्योर्यः ३।२।८३	लिङस्कात् कित् १।१।७६	वतयडात् ३।१।९७
रुण्यहिन्मदुण्याः ४।१।४६	लिङ्क्चि धोः ४।३।७	वतोरिथुक ४।१।५
रेरङ्गशोः ४।३।१००	लिङ्यङोः ४।३।२६	वतोर्वेद् ३।४।२०
रेवत्याम्भण ३।१।१३४	लिङ्वात् कृञि २।१।३६	वत्साद्वा ३।३।१२
रेश्च सुपि ५।४।२४	लिप्स्यसिद्धौ २।३।५	वत्सोच्चाश्चर्षभेभ्यस्त- ४।१।१४६
रेवतिकादेश्छः ३।३।९६	लिव्यविन्दधारिपारि- २।१।१११	वदः सुपि क्यप् च २।१।८६
रोगापनये ४।२।५४	लियोऽधाष्ट्यसम्मानने च १।२।६६	वदोऽपात् १।२।६९
रोडीतोः प्राचान् ३।२।१०१	लियो नुक् ५।२।४६	वधे प्रतेश्च ४।३।११४
रोऽच्युः ५।१।१५६	लुङ् २।२।९१	वधे राधेः ४।४।२१४
रोमन्थतपःशब्दवैरकल- २।१।१४	लुङि १।४।५१	वनं पुरगामिश्रकासिङ्का ५।४।८८
रो रि ५।४।१८	लुङ्येयोर्गाः १।४।११७	वनहिरण्ये कामे ४।१।६७
रोऽसुपि ५।३।७८	लुङ्लङ्लङ्वात् ४।४।७०	वनाऽङ्गशो रश्च ३।१।७
रोति मृगः ३।३।२६	लुङ्लिटोर्द्वक् ४।४।८१	वण्याः ४।४।४२
ल		
लः कर्मणि च भावे २।४।५४		

वयःशक्तिशीले	२।२।१०७	वा क्यस्य	४।४।५२	वा निष्कथोपमिश्रशब्दे	४।३।१६७
ववसि	२।२।१५	वाक्यस्य टेः पः	५।३।६०	वा नीचः	४।३।१६०
ववसि दन्तस्य दन्तु	४।२।१४२	वाक्यादेशोऽवस्थासूर्या-	५।३।६	वाऽनुदात्तस्यर्तुः	४।३।५२
वयस्तिलुताः	४।१।६१	वाऽक्षः	२।१।७१	वाऽनुपि	५।४।६७
वयस्तुलाभ्यां सम्मिती	३।३।१६६	वा स्त्री	४।२।१३४	वाऽन्यस्मिन् मपिहं स्थ-	३।१।८३
वयस्यनन्त्ये	३।१।२४	वागमिह	१।३।८२	वाऽऽपः	४।४।५७ ; ५।२।१२७
वयोवाक्प्रणिजात्यु-	३।४।११६	वाऽगे	२।१।२७	वा पदस्य	४।३।६४
वरणादेः	३।२।६२	वाऽगेः	१।२।३९	वा पदान्तस्य	२।१।१४ ; ५।४।१३३
वरुणभवशर्वरुडेन्द्र-	३।१।४२	वा गौ	१।४।६६	वा परावराभ्याम्	४।१।६५
वर्गान्तात्	२।३।३६	वाऽग्रेप्रथमपूर्व	२।४।१०	वा परे	२।३।११४
वर्जनेऽपपरिभ्याम्	६।४।२१	वा धावेद्वाशासः	१।४।१४७	वाऽभवदितौ	४।३।१०६
वर्णहृतादेष्टव्यं च	३।४।११३	वाङ्मिह्लुचोः	२।३।४६	वा पूर्वापरादहनात्	३।२।१४०
वर्णाद् बहुलं तो नस्तु	३।१।३६	वा द्विश्योः	४।४।१२५	वा बहूनां जातिप्रश्ने	४।१।१४८
वर्णोर्नाहर्दूपायोग्यानाम्	१।४।८६	वाचंयमासूर्यं पश्योग्रं पश्यं	१।२।३८	वा भादि	१।२।८४
वर्णे नित्ये	४।२।३७	वा चत्वारिंशदादौ	४।३।१६०	वा भावकरणे	५।४।९४
वर्णो बुद्धि	३।२।६८	वाचस्तदर्थायाः	४।२।४१	वा भावाभ्यायोः	५।१।२२३
वर्त्यत्यवस्य	१।४।७३	वा चित्तविकारे	४।४।८५	वाऽभ्यवात्	४।३।२१
वर्त्यत्यवरेऽवमे	१।३।११२	वाचेः	५।२।६३	वाभ्राशब्दाशभ्रमुक्तम्	२।१।६६
वर्षप्रमाणे	२।४।१८	वाचो ग्मिन्	४।१।४८	वा मः	४।४।३६
वर्षस्याभाविति	५।२।२१	वा जति	१।१।४०	वाऽमर्त्ये	३।२।१२०
वर्षादुप च	३।४।८५	वा जृम्भमुत्रसाम्	४।४।११५	वाऽमावास्यायाः	३।३।७
वलाधगस्येद्	५।१।८४	वाऽञ्चरेदिक्स्त्रियान्	४।२।१७	वा मुचो धेरेप्	५।२।१५६
वलि व्योः खन्	४।३।५५	वाऽटा	५।४।५३	वा मोः	४।३।१५६
वशि	५।१।११४	वा स्थणुरोगशोके	४।३।१६२	वा म्योः	५।४।१०७
वसुधसुखंस्वनहुहां दः	५।३।७६	वाऽऽटकाचितपात्रास्त्रः	३।४।५२	वा म्योः खम्	४।४।६८
वसोऽनूपाध्याङः	१।२।११८	वा तरुमृगतृणधान्यव-	१।४।८८	वाभ्यासोः	४।४।७५
वसोर्जिः	४।४।१२०	वातातीक्ष्णसाम्नां कुक्	४।१।५२	वाभ्युपिबुधस्यो थः	३।२।२६
वस्तेर्दञ्	४।१।१५५	वाऽतोऽधोर्यकात्	५।२।५१	वा रोगतपयोः	३।२।१३३
वसनकर्वाविकपाटः	३।३।१३६	वा दिक्सवे	१।१।३६	वाऽर्थे द्यौ	४।३।२०६
वसनद्रव्याभ्यां टकौ	३।४।५०	वा दैन्याक्रोशे	४।४।६०	वा लिटि	१।४।१२७
वस्तदिणो वसुलिङ्गम्	२।२।८८	वा द्योः	५।२।३१	वाऽवरस्य	४।२।१०५
वहाभ्रे लिङ्	२।२।३५	वा द्रुहनुहभुहृणिहाम्	५।३।५०	वा वाग्म्ये	१।२।७४
वा	१।२।६५ ; १।३।६	वा धेः	१।२।८२	वा विवधवीरवात्	३।३।१४०
वा कथमि लिङ् च	२।३।११६	वा धेः श्योः	२।१।४४	वा विपादे	१।२।४६
वा कदाकलौः	२।३।३	वाऽनद्यतने हिः	४।१।८६	वा विशेषवचने वही	५।३।२६
वा कृजधिः	१।४।१६	वा नपः	५।१।५७	वाऽवृद्धादौः	३।१।१४४
वा कृजि	१।२।१४१	वाऽनभ्यादेशे	५।३।२२	वावेष्टिचेष्टयोः	५।२।१६३
वा कोर्यङ्	५।२।१६५	वा नाभ्यः	१।१।७१	वाशि	५।१।११४

वाशिजिह्वाशिनीः फे. दे. ४।४।१६५	विज्रमायामेधाखजः ४।१।४७	वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ञ्कः ३।१।८७
वाऽशेषात् २।३।११७	विन्मलोरुप् ५।१।१२४	वृद्धेऽन्यनुप् ३।१।७३
वा श्यावारोकात् ४।२।१४४	विपराजैः १।२।१३	वृद्धोक्षोष्णोरभ्रराजन्य- ३।२।३४
वाऽघान्तेऽकखादी ५।४।१०१	विपूयविनीयजित्वा- २।१।६७	वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत् १।३।५७
वाष्पोष्णकेनाह्रुमे २।१।१३	विपस्योऽजौ लः २।२।१५६	वृषभोपनहो व्यः ३।४।१३
वा समीपे १।४।६२	विमत्ती १।२।१५७	वृषाकप्यग्निकुसित- ३।१।४०
वाऽसुपि ४।३।८०	विमत्ते का १।४।५०	वृतो वा ५।१।८६
वा सुपो बहुः प्राक्त् ४।१।१२७	विमक्त्यामाह्ननः ५।१।१४३	वेः शालशङ्कटौ ३।४।१४८
वा से ३।१।३५	विभाषा ग्रहः २।१।११७	वेः स्कन्दोऽतै ५।४।५५
वाऽस्थः स्कादेः ४।४।६७	विभाषाऽच्चि ५।३।३६	वेः स्कम्मेः पः ५।४।५९
वा स्वसृप्तयोः ४।३।१३७	विभाषाऽन्यत्र ४।३।१०२	वेः स्वार्थे १।२।३७
वाऽस्वाङ्गादेः ३।१।४६	विभाषा लियोः ४।३।४४	वेष्टि १।४।१२६
वा समरणल् ५।१।६८	विभाषा लृटः सत् २।३।१३	वेजो वयिः १।४।११३
वाऽऽहिताग्न्यादौ १।३।१०३	विभाषेकोऽस्ते प्रश्च ४।३।१०४	वेञ्च प्रश्नाख्याने २।३।६१
वाहीकप्रामेभ्यः ३।१।६३	विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ५।४।६०	वेटः ५।४।६१
वा हेः पृष्ठप्रत्युक्तौ ५।३।६६	विमुक्तादिभ्योऽण् ४।१।६५	वेतनादेर्जीवति ३।३।१३५
वाह्याद् वाहनम् ५।४।९२	विरामे वा ५।४।१३१	वेत्तेः सिद्धसेनस्य ५।१।७
विशंतिकात् ३।४।२९	विरामे विसर्जनीयः ५।४।१६	वेरितः २।१।४९
विशतिर्निशदभ्यां ड्बुरलौ ३।४।२१	विरोधि चानाभ्ये १।४।८६	वेमैः ४।४।६९
विंशतेश्च ३।४।१६८	विशिपतिपदिस्कन्धो- २।४।४१	वेवे स्थानान्तात् ४।२।१६
विंशत्यादेर्वा ४।१।१०	विशेषणं विशेष्येणेति १।३।५२	वेश्च स्वनोऽज्ञाने ५।४।५०
विकर्णकुपीतकात्का- ३।१।११३	विश्वदेवयोश्च टेर ४।३।१६८	वैकशालायाष्टः ४।१।१६३
विकर्णशुक्लगलात् ३।१।१०६	विश्वजनात्मभोगान्तात् ३।४।७	वैकहलि पूर्ये ४।३।१७०
विकुशमीपरेः स्थलम् ५।४।७०	विश्वस्य वसुराटोः ४।३।२२६	वैकाद्वयमुञ् ४।१।१०७
विचार्य पूर्वम् ५।३।९७	विसमाप्तौ क्तोऽनञ् १।३।५५	वैनोऽदूरेऽकायाः ४।१।६६
वित्तभित्तदूनगून- ५।३।७४	विसारिणो मत्स्ये ४।२।२३	वैशाखाघाटयष्टिकैका- ३।४।१०३
विदाकुर्वन्तु वा २।१।३७	वीप्सेत्थम्भूतलक्षणे- १।४।११	वैषमोक्षसर्वसः ३।२।८२
विदाभ्योऽमृष्यानन्तर्वे- ३।१।६३	वुञ्छण्कठेजदरण्य- ३।२।६०	वोक्तं न्यक् १।३।६३
विदूराज्यः ३।३।५८	वुञ्छुतुमौ क्रियायां तदर्थाया २।३।८	वोह्वे ३।१।११
विदेः शत्रुर्वसुः ५।१।५५	वृकाष्टेऽण्यण् ४।२।४	वोदये ४।३।१०४
विदो लटो वा २।४।६९	वृजिमद्रात्कः ३।२।१०६	वोदश्चितः ३।२।१४
विद्भिच्छिदः कुरः २।२।१४५	वृत्तिसर्गतायने क्रमः १।२।३४	वोदितः ५।१।१०४
विधिनिमन्त्रणामन्त्र- २।३।१३७	वृद्धचरणाक्छलाघाऽ- ३।४।१२४	वोदुडो भावारभ्योःशपः १।१।६४
विध्यत्यकरणेन ३।३।१६४	वृद्धचरणज्जित् ३।३।९४	वोपकादिभ्यः १।४।१३९
विध्वंस्योस्तुदः सखम् २।२।३७	वृद्धराजाख्येभ्यो- ३।३।७४	वोपदेशोऽत्वदचसृजि- ५।१।१०८
विनज्म्यां नाजौ न सह ३।४।१४७	वृद्धलिया ज्ञेये यश्च ३।१।४५	वोपयमे १।१।९०
विनयादेष्टण् ४।२।४०	वृद्धस्य ४।१।१२१	वोन्दुहदिहलिहगुहो दे ५।२।७०
विन्दिच्छु २।२।१५०	वृद्धादङ्कवत् ३।३।५४	वोमोर्णात् ३।३।११७

वोर्णुः	५।१।८२	शकि सहश्च	२।१।८६	शास इत्	४।४।३३
वोर्णोः	१।१।७७ ; ५।२।८८	शकि हस्तिकवाटे	२।२।५२	शास्वस्वसान्	५।४।४०
वोर्धात्	४।२।१२१	शक्तियष्टेष्टीकण्	३।३।१७७	शा है	४।४।३५
वो वा किति	४।२।३३	शक्तौ	४।२।६६	शिखाया बलः	३।२।६८
वो विधूनने जुक्	५।२।४३	शशिङकादेर्व्यः	३।३।६६	शिखाशालाशम्भूर्णाश्रियां	४।२।८८
वोषजाग्रविदात्	२।१।३४	शतमानविंशतिसहस्रवत्	३।४।२४	शित्तर्वस्य	१।१।५२
वोशीनरेषु	३।२।६४	शतादस्वार्थेऽसे टयौ	३।४।१८	शि धम्	१।१।३१
वो कषविचलसकथ-	२।२।१२०	शतादिमासार्धमाससंबल-	४।१।८	शिरोऽधसे पदे	५।४।३५
व्यः	४।२।३६	शताद्या	३।४।३२	शिलाया लः	४।१।१५६
व्यक्तवाक्समुक्तौ	१।२।४४	शार्दगात्	१।२।५६	शिल्पम्	३।२।१७४
व्यजोऽप्रजयोः	१।४।१२८	शदोऽगती तः	५।२।४६	शिल्पिनि ट्युः	२।१।११९
व्यञ्जनैरुपसिक्ते	३।३।१४६	शपोऽशदिभ्यः	१।४।१४३	शिवादिभ्योऽण्	३।१।१०१
व्यतुल्याख्या अजात्या	१।३।६४	शब्दकर्मणो वेः	१।२।२६	शिशुकन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्र-	३।३।६२
व्यथो लिटि	५।२।१६८	शब्दददुरं करोति	३।३।१५६	शीङो रो	५।३।१३०
व्यधमदजपोऽगौ	२।३।६४	शब्दे च	१।२।१२३	शीङोऽधिकरणे	२।२।२०
व्यवहृपणोः सामर्थ्ये	१।४।६४	शमित्यामर्धधिभिन्	२।२।११७	शीङोरुट्	५।१।६
व्यस्य वा कर्तरि	१।४।७५	शमित्यामदो दीः	५।२।७२	शीम्योरात्	५।१।५८
व्याः	२।३।१४७	शमि धोः लौ	२।२।१६	शीर्षच्छेदाद्यश्च	३।४।६३
व्याडश्च रमः	१।२।८०	शम्भाष्टलज्	३।३।१०७	शीलम्	३।३।१७६
व्याघ्रैरुपमेयोऽतद्योगे	१।३।५१	शरः खयि	५।२।१६२	शुक्राद् घः	३।२।२१
व्यामिश्रः स्वरितः	१।१।१४	शरद्वच्छुनकदर्भाद्	३।१।६१	शुन्युज्योर्घञि	५।२।५७
व्युङोऽवो हलः संश्च	१।१।९७	शरि सश्च	५।४।२३	शुण्डिकादिभ्योऽण्	३।३।५०
व्युत्पः	१।२।२२	शर्करादिभ्योऽण्	४।१।१६१	शुद्धाप्रान्तशुभृषव-	४।२।१४५
व्युदः काकुदान्तात्	४।२।१४८	शर्कराया वा	३।२।६३	शुनोऽतैः	४।२।६८
व्युपेशीङोऽन्त्ये	२।३।३७	शर्परे खरि	५।४।२०	शुभादेः	३।१।११२
व्युष्टादेरण्	३।४।६०	शलालुनो वा	३।३।१७३	शुषिपचेः क्तौ	५।३।६७
व्यो लं वा	५।४।५	शरछोऽटि	५।४।१३७	शुष्कचूर्णभक्षेषु पिपः	२।४।२०
वज्रयनः क्यप्	२।३।८०	शसि	५।१।२५	शूलोलाद्यः	३।२।१२
वज्रवद्वोऽतः	५।१।७६	शसो नः	५।१।२५	शृङ्खलकोदरिकसस्वकां-	४।१।१७
व्रते	२।२।६८	शम्भजीविसङ्घाज्यऽवाही	४।२।३	शृवन्द्योरारुः	२।२।१५२
वश्चभ्रस्जसृजमृजयजरा	५।३।५३	शाकलाद्या	३।३।६६	शूद्रां प्रो वा	५।२।१२४
व्रातस्कादस्त्रियाम्	४।१।२	शाखादेर्यः	४।१।१५७	शो मुञ्चाम्	५।१।२८
व्रीहिशालेर्दन्	३।४।१२८	शाच्छासाङ्गाव्याधेयां युक्	५।२।४२	शेबलमुपरिविशाल-	४।१।१४०
व्रीह्यादेः	४।१।४२	शाच्छोर्दिभात्रा	५।२।१४५	शेषाद्या	४।२।१५४
श		शाशात्	३।४।३३	शेषे	२।३।१२ ; ३।२।७२
शकलादिभ्यो ष्टुडे	३।२।८७	शात्	५।४।१२३	शेषेऽयदौ लुट्	२।३।१२७
शकवृषशाग्लामटरभ-	२।४।५०	शालातुरकूचनाराच्छुण्यौ	३।३।६६	शेषोऽग एव	२।४।९४
शकि लिङ् च	२।३।१४८	शालाद् गीखरात्	३।३।११	शेषौ गुणवचनादेव	४।१।११८

शौ	४।४।१०	वे कृति बहुलम्	४।३।१३२	सकथ्यद्विदध्यक्षामनङ्	५।१।५४
शौनकादिभ्यश्छन्दसि	३।३।७७	वेऽङ्कुलेभिसंख्यादेः	४।२।८८	सकलेशे	२।४।४०
शनसः खम्	४।४।१०१	वे प्यस्य पुत्रपत्न्योर्जिः	४।३।६	सकलशिश्वौ	३।१।५२
शनान्नखम्	४।४।२२	षोऽन्यः	१।४।६५	सक्युरकौ	५।१।६६
शनुधुभ्रुवां खोरचीध्रुवौ	४।४।७२	शुना धुः	५।४।१२०	साङ्घाङ्कुलक्षणयोषे-	३।३।६५
रथरथः	५।३।५९	क्षिप्रुक्शब्दाधमा शिति	५।२।७३	सङ्घेऽनूद्धे	२।३।४०
स्याऽञ्चिदिवोऽत्पर्यापा-	५।३।६५	ध्यान्तेल्	१।१।३४	सचस्योमौ	५।४।१०५
स्याद्व्यधास्तुसंमुलिह-	२।१।११४	ष्योऽङ्कु रूपान्त्ययो वृद्धे	३।१।६३	सत्यागतास्तोः कारे	४।३।१७९
श्यैनपाततैलपाता	३।२।५०	प्रो नो णः समाने	५।४।८५	सत्सुद्विषदुद्दुयुक्विद-	२।२।५६
श्राद्धं भुक्तं ठोऽनेन	४।१।१८	स		सदादशनादरथोः	१।२।१३४
श्राद्धे शरदः	३।२।१३२	संक्षयोः	१।२।६२	सदिस्वज्योः परस्य लिटि	५।४।८४
श्रिणीभुवोऽगौ	२।३।२४	संख्यः	२।२।६	सदोऽप्रतेः	५।४।४७
श्रुवः शृ	२।१।७०	संख्यादी रश्च	१।३।४७	सद्योद्यैषमः परेयविपर-	४।१।८८
श्रुवोऽनिट्	२।२।८९	संख्यापरिमाणे कृतिश्च	३।४।१६३	सनः किञ्च खं च	४।४।४७
श्रुस्मृदशः सनः	१।२।५२	संख्यावाङ्कोऽबहुगणान्	४।२।६६	सनः पूर्ववत्	१।२।५८
श्रेण्यादि कृतैः	१।३।५४	संख्यायाः कोऽतिशतः	३।४।१६	स नष्ट	१।४।९३
श्रुकः किति	५।१।११७	संख्यायाः पादशतेभ्यो	४।२।१०	सनाशंसमिक्ष ठः	२।२।१४६
श्लिषः	२।१।४१	संख्यायाः संख्यासंवत्स-	५।२।२०	सनि	१।४।११६; ४।४।४४
श्लिषशीङ्स्थासवसज-	२।४।५७	संख्याया अवयवे तयट्	३।४।१६४	सहिप्रहगृहश्च	५।१।११८
श्वगणाद्वा	३।३।१३४	संख्याया गुणस्य नि-	३।४।१६६	सनिमीमाधुरभलभ-	५।२।१५५
श्वयुवमघोनोऽद्विति	४।४।१२१	संख्याया ध्वम्यावृत्तौ कृत्व	४।२।२४	सनीङ् वा	५।१।८६
श्वसस्तुट् च	३।२।१३५	संख्याया विधार्थे धा	४।१।१०६	सनीवन्तर्द्धअस्जदभ्यु-	५।१।९७
श्वसो वसीयसश्च	४।२।८३	संख्या वंश्येन	१।३।१६	सनुमः इजादेः	५।४।१११
श्वदेरावतः	५।२।१३	संख्याविसायादेरहन्	४।३।२१५	सन्कचोर्णौ	४।३।२८
श्वारमचर्मणां संकोच-	४।४।१३२	संख्ये संख्यया भ्यासजा	१।३।८७	सन्तस्फमहतोः	४।४।७
श्वीदितस्ते	५।१।१२०	संख्यैकाद्वीप्सायाम्	४।२।४८	सन्धौ	४।३।६०
श्व्यस्पद्वचोऽधुक्	५।२।१२८	संज्ञा लुः	१।१।२६	सन्निविभ्योऽर्द्धे	५।१।१२७
ष		संज्ञो भा	१।४।१८	सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं	१।३।५६
षट्कृतिकतिपयचतुरां धुक्	४।१।३	संवत्सराग्रहायणीभ्यां	३।३।२५	सन्यदोः	४।३।८
षटोः कः सिः	५।३।५८	संशयमापन्नः	३।४।६९	सन्यतः	५।२।१७७
षणि चास्मिन्स्तोरेव	५।४।४१	संस्तुष्टे	३।३।१४७	सन्तिटोर्जोः	५।२।६२
षणमासाशयश्च	३।४।८०	संस्तुतं भक्षाः	३।२।११	सपत्न्यादौ	३।१।३४
षत्वेऽसद्वत्	४।३।७४	संस्तुतम्	३।३।१२८	सपूर्वात्	४।१।२१
षम्	१।३।१६	संहारोद्यावानाया-	२।३।१०३	सपूर्वाया वायाः	५।३।२३
षष्ठाष्टमाद् मागे अः	४।१।१११	संहितशफलक्षणवामादेः	३।१।५६	सब्रह्मचारी	४।३।१६३
षात् पदान्तात्	५।४।११४	सः	१।३।२	सब्रह्मचर्यादेः	४।४।१३१
षादिहन्धृतराशोऽणि	४।४।१२३	स एषां ग्रामणीः	४।१।१२	सभाऽराजामनुष्यात्	१।४।६९
षिद्भिदादिभ्योऽङ्	२।३।८६	सकृत्स्तम्भे वत्सबीक्षोरिः	२।२।२९	समः	२।२।६८

समः समि	४।३।१६६	सरजसोर्वहीवपदशीवा-	४।२।७६	साधुनिपुणेनार्वाभीवप्रते	१।४।५१
समजनिषदनिपदमन-	२।३।८१	सरोरिजादेः	२।१।३२	सन्ताः	४।२।६५
समयस्तदस्य प्राप्तम्	३।४।९७	सरोऽनोऽश्यामायसः	४।२।९६	साम आकम्	५।१।२९
समयासपत्रानिष्पत्रा-	४।२।६४	सरोर्हलः	२।३।८५	सामान्येनोपमानम्	१।३।५०
समर्थः पदविधिः	१।३।१	सर्वकृलाभ्रकरीषेषु कषः	२।२।५०	सामि	१।३।२४
समर्थात् प्रथमाद् वा	३।१।६७	सर्वचर्मणः कृतः	३।४।१३०	सायञ्चिरं प्राहृणोप्रगे-	३।२।१३६
समवायात् समवैति	३।३।१६४	सर्वत्राग्निकलिभ्यां टण्	३।२।२८	साल्वावयवप्रत्यग्रथ-	३।१।१५४
समवाये	४।३।१११	सर्वनाम्नः स्मै	५।१।१२२	साल्वेयगान्धारिभ्याम्	३।१।१५१
समां समां विज्ञायते	३।४।१३७	सर्वनाम्नः स्थाट् प्रश्चभ्	२।१।०९	सावज्जेः	५।१।२३०
समागत्य स च्योतिर्ज-	४।३।१६२	सर्वनाम्नो आ न	१।०।३६	सावनहुः	५।१।६०
समानोदरे शयितः	३।३।२०८	सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण्	३।४।४१	सावैभ्ये	५।१।७७
समापनात्सादेः	३।४।८२	सर्वस्य द्वे	५।३।११	साऽस्मिन् पौर्णमासीति	३।२।१६
समायाः लः	३।४।१०५	सर्वस्य सो वा दि	४।१।८१	साऽस्य देवता	३।२।१९
समिपृचिसृजिवरः	२।२।१२४	सर्वाण्यो वा	३।४।८	सिक्ताशर्कराभ्याम्	४।१।३१
समि मुष्टौ	२।३।३५	सर्वात्	३।४।४५	सिन्नो यङि	५।४।७८
समिपुत्रुवः	२।३।२२	सर्वादिः सर्वनाम	१।१।३५	सिति	१।२।१०५
समुदः	५।३।७१	सर्वाङ्गीनानुपदीनायान्	३।४।१३४	सिद्ध शुक्लपक्ववन्धैः	१।३।३६
समुदाहृत्यमोऽग्रन्थे	१।२।७०	सर्वैकाभ्यां खः	३।३।१६३	सिद्धिरनेकान्तात्	१।१।१
समूले इनश्च	२।४।२३	ससजुषो रिः	५।३।७६	सिद्धौ भा	१।४।५
समूहवच्च बहुषु	४।२।२६	सस्थानक्रियं स्वम्	१।१।२	सिद्धादेः	४।१।२५
समोऽकूजे	१।२।१६	सस्तौ प्रशंसे	४।२।४६	सिध्यतेरज्ञाते	४।३।४२
समो गम्यच्छिस्वृच्छि-	१।२।२४	सस्मे लङ् च	२।३।१५२	सिन्ध्वपकरादण्	३।३।४
समो भया	१।२।५०	सस्सेऽद्युस्थस्य	५।४।३३	सिन्ध्वदेरण्	३।३।६७
सम्यदा चाभिविधौ	४।२।५८	सहनञ्विद्यमानाद्	३।१।५०	सिपि रिवा	५।३।८१
सम्यर्युपात्तुः सुद्धभूये	४।३।११०	सहस्य सः खौ	४।३।१८६	सिष्ठु ङि	२।१।३८
सम्यादिनि	३।४।६३	सहस्य सभिः	४।३।२०१	सिलिङ् दे	१।१।८५
सम्प्रति	२।२।१०१	सहार्थेन	१।४।३०	सिधुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्	५।४।५२
सम्प्रतेरस्मृतौ	१।२।४२	सहिवहोऽस्थौः	४।३।२१७	सिस्वसीयुट्तासी डौ	४।४।६१
सम्प्रत्यः	३।१।१२६	सहे	२।२।८३	सुः पूजायां न गिति	१।४।७
सम्प्रदानेऽपु	१।४।२३	सहेति तुल्ययोगे	१।३।६१	सुकर्मपापमन्त्रपुण्ये कृञ्	२।२।७६
सम्प्राज्जानुनो जः	४।२।१३०	साक्षादादिः	१।२।१४३	सुखदुःखयोर्वा कृन्धे	५।३।११
सम्प्रोदश्च कटः	३।४।४६	सात्	५।४।७७	सुखादेः	४।१।५४
सम्बोधने	२।२।१०३	सात्तद्विषयात्	४।१।१६०	सुखादेः स्वभोगे	२।१।६५
सम्बोधने बोध्यम्	१।४।५५	सादेः	३।१।२२६	सुचः	५।४।२१
सम्भवत्यवहरति पचति	३।४।५१	साद्वा कात्स्न्ये	४।२।५७	सुजः स्वसनोः	५।४।८३
सम्भावनेऽलमि स्थानि	२।३।१३०	साधकतमं करणम्	१।२।११४	सुजो यज्ञसंयोगे	२।२।११०
सम्माननोऽञ्जनोपनयन	१।२।३१	साधनं कृता बहुलम्	१।३।२६	सुटि पूर्वस्वम्	४।३।८६
सम्राट्	५।४।९	साधने स्वार्थे	१।२।१५३	सुट् तथोः	२।४।८७

सुहृत्पः	१।१।३२	सोदः	५।४।८१	स्थानीवादेशोऽनल्लिधौ	१।१।५६
सुधातुरकञ्च	३।१।८६	सोमवदणोऽग्नेरीः	४।३।१४०	स्थानेऽन्तरतमः	१।१।४७
सुपश्च	१।२।१५६	सोमादृष्यण्	३।२।२५	स्थादेशेन चस्थ	५।४।४४
सुपि	२।२।७; ५।२।१६७	सोमे सुजः	२।२।७७	स्थासेनयसेधसिचसञ्ज-	४।४।४६
सुपि शीलेऽजातौ किन्	२।२।६६	सोर्द्धिति	५।२।१०६	स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः	५।४।१३५
सुपीकोऽचि	५।१।५२	सोऽस्य निवासः	३।३।६३	स्थूलदूरयुवहस्वक्षिप्र-	४।४।१४७
सुपो भेः	१।४।१५०	सौ	४।४।११	स्थूलादिभ्यः प्रकारेत्तौ	४।२।११
सुपो धुमृदोः	१।४।१४२	सौ मे	५।१।८८	स्थेष्ण्विबभूभ्यः सेमे	१।४।१४६
सुप्योः	४।४।७६	स्तम्भेरमकर्णेजपो	२।२।१८	स्थेशभासपिक्तसो वरः	२।२।१५४
सुप् सुपा	१।३।३	स्तम्भुसिबुसहा कचि	५।४।८२	स्थोऽवविप्राञ्च	१।२।१७
सुभगादयस्थूलपलित-	२।२।५४	स्तम्भुस्तुम्भुस्तम्भुस्तु-	२।१।७७	स्नेहने पिपः	२।४।२७
सुभिमङ्गन्तं पदम्	१।२।१०३	स्तम्भेः	५।४।४८	स्नोर्दार्थात्	५।१।१११
सुयजोर्वनिप्	२।२।८६	स्तुते धातुः	४।२।१५७	स्नोश्च अश्च	२।१।५६
सुराशीध्वोः पिबः	२।२।१२	स्तुत् सोमौ चानेः	५।४।६५	स्पर्द्धं परम्	१।२।६०
सुषामादिषु च	५।४।७२	सुशासिष्णुदुलुषः क्यप्	१।१।१९१	सृशमृशकृषतृपदपो वा	२।१।३९
सुसंख्यादेः	४।२।१४०	स्तुसुधुओ मे	५।१।१३१	सृशोऽनुदके किबः	२।२।५६
सुसर्वाद्वाष्ट्रस्य	५।२।१७	स्तैषसख्ये	३।४।११६	सृष्टिगृहिपतिदयि-	२।२।१४१
सुहरितनृणसोमाज-	४।२।१२६	स्तोः श्चुना श्चुः	५।४।११६	स्फादतोऽसुटः	५।१।६१
सुहृद्वुहृदौ मित्रा-	४।२।१५०	स्तोकान्तिकदूरार्यकृच्छ्रं	१।३।३४	स्फादेः स्कोऽन्ते च	५।३।४६
सूक्तसाम्नोश्छः	४।१।६३	स्तोके प्रतिना	१।३।७	स्फादेरातो धोर्यवतोऽ	५।३।६०
सूत्रात्कोडः	३।२।५५	स्त्रियाः	४।४।७४	स्फाद्यत्योस्फुरेप्	५।२।१३८
सूत्रेऽस्मिन् सुबिधि-	५।२।११४	स्त्रियां क्तिः	२।३।७५	स्फान्तस्य खम्	५।३।४१
सूभवधोर्मिङ्कि	५।२।८६	स्त्रियां खौ	४।२।१४३	स्फायः स्तीस्ते	४।३।१७
सूर्पाद्वा	३।४।२५	स्त्रियाम्	३।१।३	स्फायो वः	५।२।४८
सूर्यागस्त्ययोश्छे च	४।४।१३८	स्त्रियामृप्	३।१।६८	स्फुरिस्फुर्योर्धञि	४।३।४०
सुघस्यदः कमरः	२।२।१४३	स्त्री	१।२।६३	स्फुरिस्फुर्योर्निर्निवेः	५।४।५८
सुजीण्णशः कवरप्	२।२।१४६	स्त्रीगोर्नीचः	१।१।८	स्फेहः	१।२।१००
सुज्ज्वलग्रथशुचलष-	२।१।१३२	स्त्रीधेनुवाग्दारात्पुंसनङ्	४।२।७३	स्मिङ्गः	४।३।५०
सुरियरे	२।३।१६	स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्	३।१।७२	स्मिपृङ्ग्वशः सनि	५।१।१३३
सेऽङ्गुले सङ्गः	५।४।६२	स्त्रीभ्यो ढण्	३।१।१०६	स्मृहत्वरप्रथमस्तुस्पर्शो-	५।२।१६२
सेटि	४।४।१११	स्त्रोऽयज्ञे	२।३।३०	स्मे	२।२।१००
सेधो गतो	५।४।७९	स्त्रुक्तपुंस्कादनुरेथार्थे	४।३।१४६	स्मे लोट्	२।३।१४१
सेनान्तलक्षणकारिभ्य	३।१।१४०	स्थः	२।२।८	स्मदर्थदवेशां कर्मणि	१।४।५६
सेनाया वा	३।३।१६६	स्थः कः	२।२।६४	स्थगे सः	५।२।१५१
सेनासुराच्छायाशाला-	१।४।१०१	स्थ इत्	५।२।११८	स्थतासी लृलुटोः	२।१।३०
सेह्यं पिच्य	२।४।७४	स्थागापापचो भावे	२।३।७८	स्थदावोदैधौचमश्रयहिम-	४।४।२८
सेवलसुपरिविशाल-	४।१।१४०	स्थायिङ्गलः	३।२।१०	स्थसनोर्दुद्भ्यः	१।२।८८
सोः प्रातर्दिवाश्चसः	४।२।१२०	स्थानान्ताङ्गम्	३।३।१०	स्थसौ कृतवृत्तच्छद-	५।१।१०५

स्वेनान्वस्ताडसेः	५।१।१०	हनो नघ छिदि	१।४।११४	हिमकाप्रिहतौ	४।३।१६५
स्तुभ्रुस्तुङ्गुडो वा	५।२।१७६	हन्तेरघः	५।४।१०६	हि म्परे वा	५।४।१०
स्वतन्त्रः कर्ता	१।२।१२५	हन्तेर्जः	४।४।३६	हिम्योर्नुनोः	५।४।१०२
स्वनहसोर्वा	२।३।६५	हस्त्युस्तङ्गादेः	३।३।१३८	हीने	१।४।१५
स्वपितृषोर्नजिङ्	२।२।१५१	हरितायमः	३।१।८९	हीवमानपापयोगान्	४।२।५२
स्वपिस्वमिवेषां यञि	४।३।१५	हरीतक्यादेः	२।३।१२४	हुस्तल्यो ह्यर्थिः	४।४।६४
स्वयं स्तेन	१।३।२२	हलिः	२।३।१०२; ४।४।२	हुस्तुवोर्गेवः	४।४।८२
स्वरतिषूधून्सूयूदितः	५।१।६२	हलन्तात्	१।१।८४	हुक्तोर्न वा	१।२।१२४
स्वरितैनाधिकारः	१।२।५	हलश्चेजुङः	५।४।११०	हुमोऽनुत्सेवे	२।२।१४
स्वसखि	१।२।६७	हलसीराहण्	३।३।६२	हुतः	३।१।६१
स्वसुरछः	३।१।१३२	हलामचः	५।१।७८	हुति चैका	४।३।१७४
स्वसुरछणुः	३।१।१२१	हलि	४।३।१२६; ५।४।६	हुत्वचामादेः	५।२।५
स्वलूनप्तृनेष्टृवृक्षतृ	४।४।८	हलि स्तम्	५।६।१७१	हुतस्तन्धुभगे द्वयोः	५।२।२४
स्वागतदेः	५।२।१२	हलुङः किङ्कत्यनिदितः	४।४।२३	हुदयस्य हुल्लेखवाण्	४।३।१६१
स्वाङ्गाद्वेक्षिसकञः	४।२।११३	हलोऽनन्तराः एकः	१।१।३	हुदर्थ्युसमाहारे	१।३।४६
स्वाङ्गान्नीचोऽस्कोङः	३।१।४७	हलोऽनादेः	५।२।१६१	हुदुस्यप्	१।१।६
स्वाङ्गोतस्त्ये कृमुवः	२।४।४६	हलो यः	४।४।५१	हुष्टापचितौ	५।१।१२५
स्वाङ्गेऽभुवे	२।४।३९	हलो वमां यमि खम्	५।४।१३८	हुसोऽवे	२।१।११५
स्वाङ्गेषु प्रसिते	४।१।१३	हलो हुतो ङधाम्	४।४।१४०	हेऽकाले	४।३।१८६
स्वादावधे	१।२।१०६	हलङ्ग्यापो घः सुसिप्त्यः	४।३।५६	हेतावनुना	१।४।१३
स्वादुमि णम्	२।४।१२	हल्यमकुर्तुरः	५।३।८६	हेतुफलयोर्लिङ्	२।३।१३२
स्वादेः शनुः	२।१।६६	हल्यभोरीः	४।४।१०३	हेतुमति	२।१।२४
स्वाभाविकत्वाभिधान-	१।१।१००	हल्यस्तेः	५।२।६३	हेतुमनुयाद् वा रूपः	३।३।५५
स्वामीश्वराधिपति-	१।४।४७	हल्येतत्तदोरनप्रसेऽकोः	४।३।१०६	हेतौ	१।४।३२
स्वार्थे	२।१।४२	हल्येष्	५।२।८६	हेमन्तात्तवम्	३।२।१३८
स्वार्थे लुभात्	५।१।१०२	हल्यैभुष्युतः	५।२।८७	हेरकचि	५।२।६१
स्वीकृतावुपायमः	१।२।५१	हविरपूपादेर्वा	३।४।३	हे शरदादेः	४।२।१०६
स्वीषद् दुसिङ्छाङ्	२।३।१०३	हशश्चतोलङ्	२।२।९६	हेदेप्रयोगे हेहयोः	५।३।६३
स्वेको दीः	४।३।८८	हश्च	१।४।६४	हो ङः	५।३।४८
स्वेपः क्यञ्	२।१।६	हस्तादाने चेरस्तेये	२।३।३८	होत्राभ्यश्छः	३।४।१२५
स्वेपु पुषः	२।४।२६	हस्ते पाणौ स्वीकृतौ	१।२।१४६	हो हन्तोर्त्रिणि	५।२।५९
स्वोवामौ	२।४।७७	हस्ते वतिर्ग्रहः	२।४।२५	हो हलः शनः शानः	२।१।७८
स्वोवसमौट्छष्टाभ्यामिस्	३।१।२	हाकः	४।४।१०६	ह्यक्षराश्चसजायिगिश्च्ये-	५।१।८१
ह		हाकः क्तिञ्	५।२।१४७	ह्रस्वे	४।१।१४२
हः	१।३।४	हान्	१।४।१५१; ३।३।३४	ह्रलादस्ते	४।४।८६
हनः सिः	१।१।८८	हायनः	२।१।१२१	ह्रालिप्तिचः	२।१।४६
हनश्च वधः	२।३।६३	हायनान्त्युवादिभ्योऽण्	२।४।१२०	ह्रावामः	२।२।२
हनस्तोऽणिगलोः	५।२।३६	हिसार्थादेककर्मकात्	२।३।३४	ह्रो जिः	४।३।२९
हनिङ्गाम्यन्त्रां सनि	४।४।१४	हितमस्मै भक्षाः	३।३।१८३	ह्रो जिश्च न्यभ्युपविषु	२।३।५९
हन्तः स्ये	५।१।१२९				

जैनेन्द्रवार्तिकानामकारादिक्रमः

अ	अनौ कर्मणि वाच्यभिधानम्	२।२।८४
अकाकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्	अन्तशब्दस्य अ(सा)ङ्गिविधिष्वेषु गितञ्शोक्ताः	३।२।०२
अकृतसन्धीनां शेषलार्दानामिति वक्तव्यम्	अन्तादिमो वक्तव्यः	३।२।१३६
अक्षप्रकरणे तूष्णीमः काम् वक्तव्यः	अन्नन्तस्य नलं स्त्रियां वा वृत्तिः	१।४।६३
अज्ञादूहिन्यामैववक्तव्यः	अन्यत्रापि दृश्यते	१।४।३
अगोरस्त्यूर्यत्योर्बचनम्	अन्यस्मिन्नपि वाचि दृश्यते कारकान्तरेऽपि च	२।२।८४
अग्नीधः शरणे वाच्ये रण् वक्तव्यो भसञ्ज्ञा च	अन्यादेष्टव्यं वक्तव्यः	३।२।१२६
अग्रग्रामाभ्यां नियो णत्वम्	अन्येभ्योऽपि भवतीति वक्तव्यम्	४।२।१४५
अग्रतस् आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्	अपुरोति वक्तव्यम्	४।१।४२
अमपणनाङ्गिः	अण्प्रत्ययदादिति वक्तव्यम्	४।१।५१
अङ्गान्नकण्ठेभ्यो वा प्रतिषेधः	अप्सव्य इत्यादावपि वक्तव्यः	४।३।१२७
अजातेरिति वक्तव्यम्	अप्सुमति चाखौ वक्तव्यम्	४।३।१२७
अजिघ्रौ भवादीनामुपसंख्यानं नपुंसकं क्तादिनि-	अभयाच्चेति वक्तव्यम्	२।२।४१
वृत्त्यर्थम्	अमितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेषूपसंख्यानम्	१।४।३
अयदृशोकाकोटापोटातोटापुष्टाभ्योऽपीति केचिन्	अभ्यर्हितस्य च	१।३।१००
अणिओरप्यङ्गणगोत्रमात्राद्युवत्यस्थोपसंख्यानम्	अरण्याण्यो वक्तव्यः	३।२।१०७
अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्	अर्णसः खं च	४।१।३५
३।४।९०; ४।१।१८	अर्थातिदेशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता सिद्धा	३।१।६८
अण्प्रकरणे ज्योस्तादिभ्य उपसंख्यानम्	अर्थाद्वाऽसन्निहिते वर्तमानादिन्वक्तव्यः	४।१।५६
४।१।३०; ४।१।५०	अर्धाच्चेति वक्तव्यम्	३।४।२२
अतन्निमित्तादपि सभाहारलक्षणाद् राटुच् वक्तव्यः	अर्धे चोत्तरपदे केवलस्यार्धस्य पञ्चभावो वक्तव्यः	४।१।९७
अत्यन्तापह्वे लिङ् वक्तव्यः	अर्धोत्तरपदस्य च दिक्छन्दस्य पञ्चभावो वक्तव्यः	४।१।६७
अत्यादयः कान्ताद्यर्थे इपा	अर्हतो नुम् च	३।४।११४
अत्र ग्रामग्रहणे नगरस्यापि ग्रहणम्	अलावृत्तिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्	३।४।१४६
अत्राभिसञ्ज्ञकस्येति वक्तव्यम्	अल्पाच्च मेधाया इति वक्तव्यम्	४।२।१२४
अद्यर्थेषु अदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः	अल्पील्वादेरिति वक्तव्यम्	४।३।२२२
अधर्माच्चेति वक्तव्यम्	अवयवयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः	१।४।३८
अधिकरणविचाले चेति वक्तव्यम्	अवादयः कृष्टाद्यर्थे भवा	१।१।८१
अधिकरणो प्यखे का वक्तव्या	अवादिभ्यस्तनेरिति वक्तव्यम्	२।१।११४
अनजादौ द्वितीयादयः परस्य वा खं वक्तव्यम्	अवाधयोः (अवोऽधसोः)सत्त्वच्चेति वक्तव्यम्	३।२।१२८
अनजादौ वा खुखम्	अवान्तरदीक्षादिभ्यो ङिन्वक्तव्यः	३।३।८७
अनुब्राह्मणादिन्वक्तव्यः	अघनः कपाले हविष्यात्वं वक्तव्यम्	४।३।१६०
अनुवाकादवश्चेति वक्तव्यम्	अघनः कपाले हविषि वक्तव्यम्	४।३।२२७
अनुसूलक्षयलक्षणेभ्यश्च ठण्		

अष्टाक्षरवारिशतो ङबुद्धिनौ च वक्तव्यौ	३।४।८७	उगित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति	
अस्मिन्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्यः		वक्तव्यम्	१।१।६७
उपसंख्यानम्	३।३।१५६	उत्तानादिषु च कर्तृषु	२।२।२०
अहो विविधौ रूपरात्रिरथन्तरेषूपसंख्यानम्		उत्पातेन ज्ञायमानेऽन्वक्तव्या	१।४।२६
	४।२।८६; ५।३।७७;	उदीच्यग्रामात् प्रस्थयोरण् वक्तव्यः	३।२।९०
आ		उपध्मानीयस्य सत्त्वं वक्तव्यं द्वित्वप्रतिषेधश्च	५।४।२६
आख्यातमाख्यातेन सतत्ये	१।३।६६	उपमानात् पक्षपुच्छाभ्यामिति वक्तव्यम्	३।१।४८
आख्यानशब्दात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।२४	उपवस्त्रादिभ्य उपसंख्यानम्	३।४।९९
आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च	३।२।५२	उप् स्थानान्तदजिनान्ताच्च वक्तव्यः	३।३।३५
आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति कृदुभ्रत्यापत्तिः		उभयत आश्रयणे न तदन्तावः	४।३।७३
प्रकृतिवच्च कारकमिति	२।१।२४	उभयवैतसोः कार्यो त्रिगुपर्यादिषु त्रिगु । कृतद्वित्वेऽपि-	
आङ्निवृत्तिश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्याशयाम्	२।१।२४	पा योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥	१।४।३
आङ्पूर्वादञ्जेः सञ्ज्ञायां क्यवक्तव्यः	२।१।६१	उवर्णादिलत्व च खं वक्तव्यम्	४।१।१३९
आचारे सर्वमृद्भ्यः क्त्वा भवतीत्येके		उसाख्यायिकाभु बहुलमिति वक्तव्यम्	३।३।६१
	२।१।६; ४।३।१८०		
आचार्यादणत्वं च	३।१।४९	अ	
आदिभ्य उपसंख्यानम्	२।४।४६	अकारलृकारयोः स्वसञ्ज्ञा वक्तव्या	१।१।२
आदेशेति वक्तव्यम्	३।२।१२८	अकारान्तत्वादिभ्यः क्तिस्तवद्भवतीति वक्तव्यम्	२।३।७५
आपदादिपूर्वपदात्कालान्ताद् ठञ्जिठौ वक्तव्यौ	३।२।६२	अणदशप्रत्ययान्तरका वल्लभान्तायामृगणे	४।३।७६
आर्यक्षत्रियाभ्यामपुंवयोगे वेति वक्तव्यम्	३।१।४२	अनुनक्षत्राणां समानाक्षराणामानुपूर्व्येण	
		वक्तव्यम्	१।३।१००
इ		अहते भासे	४।३।७६
इज उपसंख्यानमजात्यर्थे कर्तव्यम्	३।१।५५; ३।१।६६	ए	
इएवदिकः	५।१।१०६	एकधुराशब्दात्स्वस्योत्त्वक्तव्यः	३।३।१६३
इन्प्रकरणे बलाद्वाहूपूर्वादुपसंख्यानम्	४।१।५६	एकाक्षरपूर्वपदानां घोः खं वक्तव्यमवपः	४।१।१३९
इन्सिद्धमन्धातिस्थेषु च न भवति	४।३।१३२	एचो द्वितीयत्वे तदादेः खं वक्तव्यम्	४।१।१३६
इवोपमानपूर्वस्य शुखं वा	४।२।१६	एवे चाभियोगे पररूपम्	४।३।८१
इषोऽनिच्छायां धुञ् वक्तव्यः	२।३।८६	एहीडादयोऽन्यपदार्थे	१।३।६६
इह तदस्मै दीयते इति वक्तव्यम्	३।४।४६	ऐ	
इह प्रकरणे राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्य राजन्य-		ऐन्द्रीत्वाभ्यासमतः खं पूर्वनिर्णयेन	४।४।५०
पत्यवदिति वक्तव्यम्	३।१।१५५	ओ	
ई		ओजोऽप्सरसोर्नित्वं पयसस्तु विभाज्या सखम्	२।१।६
ईकण् च	३।१।७०	ओत्तोष्ठयोर्वा से पररूपमुपसंख्यास्यते	३।१।४८; ४।३।८१
ईदुपमानपूर्वस्य शुखं वक्तव्यम्	१।३।८६	ओदनशब्दाद्वक्तव्यः	३।३।१८२
ईयसो बसे पुंवद्भाववचनम्	४।२।१५६	ओनवत्यादेः कच्प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।४३
ईयसो बसे प्रतिषेधो वक्तव्यः	१।१।८	क	
ईर्ष्यतैस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्	४।३।३	कणादीनां तृतीयत्यैकाचो द्वित्वं भवति	४।३।३
उ		कदरमणिशरविषेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम्	३।१।४८
उगन्तादियेभ्योः खं वक्तव्यम्	४।१।१३६		

जैनेन्द्रयार्तिकानामकारादिक्रमः

४४६

कम्बलश्चौप्रा कृणोऽर्थे (कम्बलाच्च प्राकठयोऽर्थे)		गमयतेः कालहरणे	१।२।१४
नित्यं यो वक्तव्यम्	३।४।३	गमादीनां ह्रस्वमिष्यते	४।३।२१९
करणादिति वक्तव्यम्	३।४।३५	गम्भीरबहिर्देवपञ्चजनेभ्य इति वक्तव्यम्	३।३।३३
करणे स्तोकाल्पकृच्छ्र कतिपयेभ्योऽसत्त्वचनेभ्यो		गवे च युक्ते	४।३।२२७
भाके वक्तव्ये	१।४।४१	गवे च युक्ते श्रष्टनः श्रात्वे वक्तव्यम्	४।३।१६०
कर्मव्यतिरेके सर्वानाम्नां द्वित्वं च यन् बहुलम्	३।३।६	गान्धर्वादिभ्यो वेति वक्तव्यम्	३।२।४५
कायामजातवभिधानम्	२।२।८४	गुणक्रियाछायासादृश्ये हसो वक्तव्यः	१।३।६
कायुक्तात्परादध्वनो वा वेप् च वक्तव्ये	१।४।३७	गुणवचनात्त्वलोः	४।३।१४७
कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसञ्ज्ञा ह्यकर्मणाम्	३।३।१५८	गुणवचनेभ्यो मत्वर्थीयस्योऽवक्तव्यः	४।१।२३
कालभावाध्वभिः कर्मभिः सकर्मकवद्भवति	२।४।५८	गृह्णात्युच्चेति वक्तव्यम्	४।१।११
किमो वा त्रौ कद्वक्तव्यः	४।३।२०७	गेरस्यत्यूह्योर्वेति वक्तव्यम्	१।२।२४
कुत्सायामयं योगो वक्तव्यः	४।१।४९	गोष्ठादयस्या स्थानादिषु पशूनामिति वक्तव्यम्	२।४।१५०
कुत्सायामिति वक्तव्यम्	२।२।८०	ग्रामाच्चेति वक्तव्यम्	३।२।७५
कुलकुक्षिग्रीवाभ्यो यथासङ्गं श्वास्यलङ्कारेण्विति		ग्लाज्याहाम्यो निः स्त्रियां वक्तव्यः	२।३।७५
वक्तव्यम्	३।२।७५	घ	
कुलिञ्जस्थपि प्रतिषेधो वक्तव्यः	५।२।२२	घनर्थे कविधानम्	५।२।६८
केवलाभ्याच्चेति वक्तव्यम्	३।४।३०	घनर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहिनियुध्यर्थे	
कृष्णोदकपाण्डुपूर्वाया भूमेरुत्वोऽवमिष्यते । गोदा-		कर्तव्यम्	२।३।५२
वर्ग्यश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥	४।२।७१	ङ	
बलान्यर्थधुप्रयोगोऽवक्तव्यः	१।४।२६	ङ्यापोर्दीर्घं न स्थानिवत्	५।२।१००
सूर्येन्विषयस्य कर्मणोऽवक्तव्यः	१।४।४४	च	
क्रियाविशेषणविवक्षायां भाके न भवतः	१।४।४४	चतुरश्रज्यावाद्यक्षरशु (स्य) खं	
क्रोशशतयोजनशतयोदपसंख्यानम्	३।४।७०	चेति वक्तव्यम्	४।१।३
विलन्नस्य चिल्लिलौ लश्चक्षुषीति वक्तव्यम्	३।४।१५४	चतुर्थादचः परस्य खं वक्तव्यम्	४।१।१३६
क्वचिद्दृष्टे सामनि जाते चार्थे योऽवोऽण्		चतुर्मासाण्यो यज्ञे तत्रभवे वक्तव्यः	३।४।८७
विधीयते स च द्विद्ववर्तति वक्तव्यम्	३।२।७२	चतुर्हायनी वयसि द्रष्टव्या	५।४।११७
निवपिवचिप्रच्छाद्यतस्तुकदप्रुबुध्रीणां दीरजिश्च	२।२।१५७	चरणाद्धर्माभाययोः	३।२।३८
लुद्रजन्तुपतापाभ्यां श्लेषते	४।१।२५	चरणाद्धर्माभाययोरेवेत्यते	३।३।६४
ख		चरेराडि चागुराविति वक्तव्यम्	२।१।८७
खय उत्तरस्य शरोऽपि	५।४।१२७	चातुर्मास्यानां यखं च ड्बुडिनौ च वक्तव्यौ	३।४।८७
खलादिभ्य इन् वक्तव्यः	३।२।४४	चित्राकरणे च प्राप्त्वर्थे णिच् वक्तव्यः	२।१।२४
खुरस्तराभ्यां वा नस् वक्तव्यः	४।२।११८	चिरपक्ष्मपरारिभ्यस्तनो वक्तव्यः	३।२।१३६
ग		चीवरादर्जने परिधाने वा	२।१।१७
गच्छतौ परदारादिभ्य इत्समर्थेभ्यः	३।३।१५६	चुलादेशश्च वक्तव्यः	३।४।१५४
गजाच्चेति वक्तव्यम्	३।२।३७	चूर्णादिन्वक्तव्यः	३।३।१४७
गणिकायाः यञ्च वक्तव्यः	३।२।३५	ज	
गल्यर्थानां चेष्टायामसम्प्राप्ताङुमे	१।२।१११	जटाघटाकालेभ्यः क्षेपे	४।१।२५
		जम्बा हरीतक्यादिषु च उप्ति लिङ्गमेव उक्तवद्-	
		भवति न वचनम्	३।३।१२४

जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति १।३।६६	तमे परतः तादेः कादेश्चान्तिकस्य खं वक्तव्यम् ४।४।१४२	
जागतैरज्ञौ वक्तव्यौ २।३।८३	तलन्तस्य डिक्योरुभयम् ५।२।१०२	
जातन्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः ३।१।४५	तसादिषूभशब्दस्य उभयादेशो वक्तव्यः ४।१।९१	
जिज्ञासावैरूप्यार्जनिशानेषु यथाक्रमं सन्निष्यते २।१।४	तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् ४।२।४६	
जिह्वाकार्यहरितकार्ययोर्न भवत्येव १।१।७१	तस्य ह्रस्वदे ३।४।२६; ३।१।४	
जीवितपरिणाम इति च वक्तव्यम् ३।४।५६	ताभ्यामेव पितरि ङामहः ३।२।३१	
ज्योत्स्नातमिस्त्राभ्यां णिद् भवति पक्षे ४।१।५०	तीथान्तास्त्वार्थे वा ईकण् वक्तव्यः ३।२।८	
झ		
झिसंख्यादेरिति वक्तव्यम् १।४।१०७	तुरभुजयोरच २।२।४५	
झिसंज्ञकस्य समात्रे टिखं च वक्तव्ये सायमप्राति- कायर्थम् ४।४।१४२	तृत्यर्थे तूपसंख्यानम् १।३।७५	
झेर्ममात्रे टिखम् १।४।८५; ४।२।१२०; ५।२।६	तृत्यर्थे योगे उपसंख्यानम् १।२।३०	
ञ		
जियकोः प्रतिषेधे णिअन्धिअन्धिब्रूजां दविधौ धीनां चोपसंख्यानं कर्तव्यम् २।१।५६	तेन वाकिदकपस्यद्ध्यो युक्तिदण्डहरेध्वनुप् ४।३।१३३	
ट		
ठण् लुप्तोश्च ४।३।१४७	त्रिचतुर्थ्यां हायनस्य एत्वमपि वयसीष्यते ३।१।१४	
ठण् प्रकरणे तदस्मिन्वर्तते इति नवयज्ञादिभ्य उप- संख्यानम् ३।२।३०	त्रिप्रभृतिषु न भवति ५।४।१२७	
ठेनोः समानकालप्रहरणं वक्तव्यम् ४।१।१९	ड	
ड		
डटो वा उव्वक्तव्यः ४।१।११	दाणश्च सा चेदर्थेऽशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम् १।२।५०	
डट् स्तोमे वक्तव्यः ३।४।१५८	दिक्छन्दमात्रादयमेनो वक्तव्यः ४।१।६६	
डुप्रकरणे मितद्रुप्रभृतीनामुपसंख्यानम् २।१।१५६	दिग्भूर्जपदस्य अ.परस्य परचनार्थो वक्तव्यः ४।१।९७	
ढ		
ढेऽपि क्वचिद् पुंवद्भावो वक्तव्यः ४।३।१४७	दिग्धसहपूर्वाच्च अत्यो भवति २।२।२०	
ण		
णत्वविधौ गेर्नस उपसंख्यानम् ४।२।११९	दुःशब्दे वाचि शासित्युभिदशिधृषिमृषिभ्यः युज् भवति २।३।१०६	
णिअन्धिअन्धिअन्धिब्रूजां दविधौ धीनाञ्च २।१।४३	दूतवणिभ्यां यो वक्तव्यः ३।४।११६	
त		
तः पूर्वमसदृश्यां मत्वर्थे ४।१।५६	दृष्टे सामनि वृद्धादङ्कवद्वक्तव्यम् ३।२।७३	
तच्चरतीति च महानाम्यादिभ्य उपसंख्यानम् ३।४।८७	देवस्य यज्ञौ ३।१।७०	
ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम् ३।४।७०	देवानां प्रियादिष्वनुप् ४।३।१३४	
तदन्ताद्वेति वक्तव्यम् ४।१।५६	देवासुरादिभ्यो वुनः प्रतिषेधो वक्तव्यः ३।१।६३	
तनिर्पतिद्विदां वेट् ५।२।१५५	दुश्चोभयाद्वक्तव्यः ४।१।८७	
तपसो मञ्चेति वक्तव्यम् २।१।१४	द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ३।३।६२	
थ		
तच्चरतीति च महानाम्यादिभ्य उपसंख्यानम् ३।४।८७	द्वित्रे गोयुगः ३।४।१५०	
ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम् ३।४।७०	द्वित्रहन्ताच्च करणात्प्रतिषेधो वक्तव्यः ३।४।३५	
तदन्ताद्वेति वक्तव्यम् ४।१।५६	द्विमात्रात्परस्यापि ५।४।१२७	
तनिर्पतिद्विदां वेट् ५।२।१५५	द्विषः शतुर्वा वचनम् १।३।७५ ; १।४।७२; ३।२।१०६	
तपसो मञ्चेति वक्तव्यम् २।१।१४	द्व्यक्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः १।३।१००	
ध		
तच्चरतीति च महानाम्यादिभ्य उपसंख्यानम् ३।४।८७	धमुजन्तात् स्वार्थे डो वक्तव्यः ४।१।१०८	
ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम् ३।४।७०	धेनोर्नञ्-पूर्वाया नेष्यते ३।२।३६	
तदन्ताद्वेति वक्तव्यम् ४।१।५६	न	
तनिर्पतिद्विदां वेट् ५।२।१५५	नञ्चतुर्थ्यो शार्थे २।१।२४	
तपसो मञ्चेति वक्तव्यम् २।१।१४	न	

नभोऽनुभावे क्षेपे मिङ्युपसंख्यानम्	४।३।१८१	पुरान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।३।३५
ननौ पृष्ठप्रतिवचने भूतमात्रे लट् वक्तव्यः	२।२।१००	पुरुषाद् वधधिकारसमूहतैर्नकृतैश्चिति वक्तव्यम्	३।४।९
नभोऽङ्गिरोमनुषां वत्युपसंख्यानम्	१।२।१०७	पुष्पमूलेषु बहुलम्	३।३।१२४
नशब्दे नुशब्दे च वाचि पृष्ठप्रतिवचने भूते वा		पूर्वपदस्य च ठाजादौ अनजादौ च खं वक्तव्यम्	
लट् वक्तव्यः	२।२।१००		४।१।१३६
नाभि नमश्च	३।४।२	पूर्वप्रथमयोरतिशये द्वे भवतः पूर्वमासादण्	
निन्दाक्षमारोगापनवेद्यु यथाक्रमं सन्निधौ	२।१।३	वक्तव्यः	३।२।३०
निमित्तात्कर्मसंयोगे ईव्यक्तव्या	१।४।४४	पृच्छतौ सुस्नातादिभ्य इरसमर्थेभ्यः	३।३।१५६
निमिमीलियां खाचोरात्वप्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।४३	पृथिव्या जाजौ	३।१।७०
निरादयः कान्ताद्यर्थे कया	१।३।८१; १।४।१०२	पौङ्गोपुत्रादिभ्यश्छौ वक्तव्यः	३।२।२३
निसो गत इति वक्तव्यम्	३।२।८१	प्यले कर्मणि का वक्तव्या	१।४।३७
निसो देशे	२।२।४६	प्यादेशोऽन्तरङ्गस्यापि विधेर्वाधिकः	४।४।१६
नुप्रच्छिभ्यां च	१।२।१४	प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवः	३।४।१५०
नृतरयोरैच	३।१।२३	प्रकृत्याके राजन्यमनुष्ययुवानः	३।४।१२३
नेतुर्नक्षत्रे उपसंख्यानम्	४।२।११६	प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्	२।४।४; ४।३।१२४;
नेर्भुव इति वक्तव्यम्	३।२।८१		४।३।१२५
प			
पञ्चजनशब्दादुपसंख्यानम्	३।४।७	प्रथमाधिकारं द्वितीयस्यापि वृद्धेऽप्यनुव्यक्तव्यः	३।३।६३
पद्यछान्दसा एतौ शब्दास्तदत्रापि नस् वक्तव्यः	४।२।११८	प्रभूतादिभ्यश्च	३।३।१५६
परिचर्यापरिसर्यामृगयाणां निपातनं वक्तव्यम्	२।३।८३	प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यावाक्षापि संशये मात्रङ्-	
परिपाश्वर्चाच्चेति वक्तव्यम्	३।३।१५२	वक्तव्यः	३।४।१५८
परेर्वा	२।३।८९	प्रमाणशब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसङ्गादीनां ध्वंसनं	
परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन		वक्तव्यम्	३।४।१५८
दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः	२।२।६२	प्ररोहणे शाकटशाकिनौ	३।४।१५०
पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे अपा	१।३।८१; ४।२।१५	प्रश्नाख्यातयोश्च का वक्तव्या	१।४।३७
पश्वा एस् वक्तव्यः	३।२।३६	प्राणिनीति वक्तव्यम्	४।२।७६
पाणिग्रहीत्यादीनां गुर्वनुज्ञातैर्न लौ वक्तव्यः	३।१।४५	प्राण्यङ्गे नित्यं लत्वम्	५।३।३६
पाणौ समवशब्दे च सृजेण्यौ वक्तव्यः	३।१।६२	प्रादयो गताद्यर्थे च कया	१।३।८१; १।३।८६
पात्रादिभ्यश्च प्रतिषेधः	१।४।९३	प्रादूहोदोद्वे षैष्येषु	४।३।७५; ५।३।१०२
पादाकल्पकाम्याः प्रयोज्यन्ति	५।४।२६	प्राबृङ् वर्षाशरत्कालदिवां नेऽनुप्	४।३।१३२
पाशाद्विमोचने	२।१।२२	फ	
पिच्छादेशचेति वक्तव्यम्	४।१।२६	फलवर्हाभ्यामिनः	४।१।५६
पिशाचाच्चेति वक्तव्यम्	४।१।५२	फिक्वप्यत्र भवतीति वक्तव्यम्	३।१।१३८
पुंसाऽनुजो अनुषान्ध इत्यनुव्यक्तव्यः	४।३।१२४	ब	
पुच्छाच्चेति वक्तव्यम्	३।१।४८	बन्धे द्विधा	४।३।३२
पुच्छादुदसने पर्वसने वा	२।१।१७	बलादूलः	४।१।५६
पुण्याहवाचनादिभ्य उव्यक्तव्यः	३।४।१०५	बसे कौ मातुरदन्तत्वं पुत्रशलाघायाम्	५।२।१०२
पुत्रादिनी त्वमसि पापे इत्याक्रोशे नेष्यते	५।४।१२७	बहिषष्टिखं सञ्च	३।१।७०

बहुवचनियमः	१।३।१००
ब्राह्मशुद्धिर्भवेति वक्तव्यम्	३।२।७८
चित्त्वचनादिभ्यो नित्यमुस् न भवतीति वक्तव्यम्	३।२।४५
ब्रह्मचर्यमित्यस्मिन्नर्थे महानाम्नादिभ्य उप- संख्यानम्	३।४।८७
ब्रह्मणि वदेरिन् वक्तव्यः	२।२।६६
ब्रह्मवर्चसादिभ्योऽपि वक्तव्यम्	४।२।८०

भ

भक्षिरहिसार्थः कर्मसंज्ञो न भवतीति वक्तव्यम्	१।३।१२२
भगे दारेः खञ् वक्तव्यः	२।२।४०
भस्य हस्यदे	३।१।२१; ३।१।६४; ४।१।१६१; ४।३।१४७; ४।३।१५३; ५।२।१०
भाण्डात्सञ्चयने परिचयने वा	२।१।१७
भ्रातृश्च ज्ञायसः	१।३।१००
भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यां शिष्यत इति न वक्तव्यम्	१।१।१००

म

मणिप्रभृतिभ्य इति वक्तव्यम्	४।१।३५
मणीषादिषु नेष्यते	१।१।२०
मधुकमरिचयोः स्थलपूर्वादण् वक्तव्यः	३।४।७३
मध्यादीवो वक्तव्यः	३।३।६५
मध्यो मध्यन्दिनश्चास्मादुप् स्वाभ्नो ह्यजि- नात्तथा	३।३।३५
महच्छब्दस्योपसंख्यानम्	१।२।१३०
मदया घासकारविशिष्टेषु व्यधिकरणत्येऽपि पुंवद्भावा- त्वे भवतः	४।३।१५८
महाजनाद्वक्तव्यः	३।४।७
महिषाच्चेति वक्तव्यम्	३।२।६७
मासाद्भृतित्यान्तपूर्वपदाद्वो वक्तव्यः	४।२।११७
मुखपार्श्वतमोरीयः कुग्जनस्य परस्य च । ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मरुमीयौ च ह्रतौ मतौ ॥	३।३।३५
मूलविभुजादिभ्यः	३।४।८८
मूलान्ताच्च टाप्	३।१।४
मूल्यादिति च वक्तव्यम्	३।४।३५
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य भवतीशब्दस्य ग्रहणे- ठण्छसोः	३।२।६१
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्	४।२।१५६

य

यत्रादीनामेकवद्वित्वयोर्वा तासे इति वक्तव्यम्	१।४।१३५
यणः परस्य मयोऽचि विकल्पः	५।४।१२७
यतश्चाध्यकालपरिच्छेदस्ततः का वक्तव्या	१।४।३७
यथेष्टं सुवृत्तम् वक्तव्यम्	४।३।३
यमाच्चेति वक्तव्यम्	३।१।७०
यवनालिङ्ग्याम्	३।१।४२
यवाद्दोषे	३।१।४२
यस्य प्रकरणे वातपित्तश्लेष्मसन्निपातेभ्यः शमनकोप- नयोऽपसंख्यानम्	३।४।३६
येषां च पाकनिमित्तः शोषः तेभ्यश्च उस् फले	३।३।१२४

र

रजकरजनरजस्तु नखे यत्नः कर्तव्यः	४।४।२७
रणिषिभ्याम्भ्यमञ्जक्तव्यः	२।३।५२
रयसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरुपसंख्यातः	३।३।८६
रयसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरपीध्यते	३।३।१९७
रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्	४।१।३३
रविधिर्नगपांशुभ्याम्	४।१।३३
रसादिभ्यो मत्तुर्वक्तव्यः	४।१।२३
राञ्च ऋसनं वक्तव्यम्	३।४।१५८
राजन्यादिभ्यो वा धुञ् उस्वक्तव्यः	३।२।४५
राजाचार्याभ्यां भोगान्ताभ्यां नित्यमिति वक्तव्यम्	३।४।८
राष्ट्राभिधाने बहुत्वे उस्वक्तव्यः	३।३।४५
रूपाद्दर्शने	२।१।२२
रेरेव काम्ये वक्तव्यम्	५।४।३६

ल

लिटि स्वञ्जेर्वा न खं भवतीत्युपसंख्यानम्	५।४।८४
लोमश्चापत्वेषु बहुषु	३।१।७०
लोहितशब्दात्स्त्रीत्वस्य परत्वाद्गेनेन केन बाधनं वक्तव्यम्	४।२।३६

व

व उद्गोः	५।४।२६
वटकेभ्य इन्वक्तव्यः	४।१।१४
वर्णाभानुपूर्व्येण	१।३।१००
वर्षक्षरक्षरबराज्जे द्विधा	४।३।१३२
वलप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते इति वक्तव्यम्	४।१।३८
वशेर्यङि प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।१५
वस्त्रात् समाच्छादने	२।१।१८

वा गोमयेष्विति वक्तव्यम्	३।२।१०७	व्यासवरुहनिषादचण्डालविम्बादीनामिति वक्तव्यम्	३।१।८६
वा ठण् लसोः [ठक् लसोश्च]	५।२।२२	प्रताद्भोजने तन्निवृत्तौ च	२।१।१८
वाततिलसाधेषु अजतुदजहातिभ्यः स्तवक्तव्यः	२।२।३२	श	
वा तदन्तवाललललानामूह् च	४।१।२५	शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्	१।१।६१
वातात्समूहे तन्न सहते इति च	४।१।५६	शकटादण् वक्तव्यः	३।३।१६१
वा प्रियस्य	१।३।१०१	शकन्धादिषु पररूपम्	४।३।८१
वाक्चन्त इति वक्तव्यम्	१।४।९३	शतस्रद्वाद्पञ्च	३।२।२३
वाग्देशाधो वक्तव्यः	३।२।७२	शतषष्टिभ्यां पथष्टिकः	३।२।५२
वायोऽभयन्न प्रतिषेधः इष्यते	४।३।१३६	शन्शतोर्हिनिर्वक्तव्यः	३।४।१५७
वारिजङ्गलस्थलकान्तराजशङ्कपूर्वपदादिति वक्तव्यम्	३।४।७३	शप उपलम्भन इति च वक्तव्यम्	१।२।१५
वा लिप्तायामिति वक्तव्यम्	१।२।२०	शययसवासिष्वकालत्राचिनो द्विवा	४।३।१३३
वा समर्थायाः संख्याया गुणस्य निमेषे वर्तमानयोः	३।४।१६९	शर उत्तरन खरः	५।४।१२७
विकारे स्नेहे तैलः	३।४।१५०	शसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्	४।१।११६
विद्यामाननक्षत्र (विद्या च नाङ्गक्षेत्र)		शिखेर्जिज्ञासायां दो वक्तव्यः	१।२।१५
वर्मत्रिपूर्वा	३।२।५२	शीतोष्णतृतेभ्यस्तन्न सहत इत्यालुर्वक्तव्यः	४।१।५६
विद्याशक्षणकल्पसूत्रान्तादकल्यादेः	३।२।५२	शीर्षाञ्जनः	४।१।४२
विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा स्वं वक्तव्यम्	४।१।१३६	शीलादिप्रकरणे धाञ्कुसृजनिनदिभ्य इलिट् वक्तव्यः	२।२।१५५
विपरीताच्चेति वक्तव्यम्	३।४।१३६	शीलिकामिभक्ष्याचरीक्षित्त्वमिभ्यो णो वक्तव्यः	२।२।१
विभाजयितुर्णिखञ्च	३।३।११६	शीले को मलं च	४।१।१३०
विरोधेऽण् वक्तव्यः	३।४।११४	शुनः खौ शोफपुच्छलाङ्गलेषु	४।३।१३४
विंशतेश्चेति वक्तव्यम्	३।४।१५८	शुभिरुचिभ्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।१९
विशसितुरिटः खञ्च	३।३।१६६	शुद्राञ्चामहत्पूर्वात् जातिश्चेत्	३।१।१४
विशिष्टीरिपादिष्विप्रकृतेरनात्सपूर्वपदादुप- संख्यानम्	३।४।१०४	शृङ्गवृंदाभ्यामारको वक्तव्यः	४।१।५६
विषेन भक्ष्येव	५।३।३६	शृङ्गातेर्वायुवर्षयोर्ध्वं वक्तव्यः	२।३।२०
विष्णोः प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।१४१	शेषे विभाषा	१।४।६९
विस्तारे पटः	३।४।१५०	श्रद्धादिभ्योऽण् वक्तव्यः	३।४।१०५
विहायसो विहं च	२।२।४६	श्रन्त्येश्चेति वक्तव्यम्	४।४।११३
विहायसो विहादेशः खञ्च वा द्विवक्तव्यः	२।२।४५	श्रविष्ठाषादाभ्यां छुजिति वक्तव्यम्	३।३।८
वीप्सायां वा हसो वक्तव्यः	१।३।५	श्रुयजीषिस्तुभ्यः क्रियां करणे युङ्ग्राधनार्थं क्तिर्वक्तव्यः	२।३।७९
वीरात्तेजसि यः	३।४।११४	ष	
वृद्धवदिति वक्तव्यम्	४।२।७	ष्ठीवतिष्वक्षतिष्ठयायतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।५३
वृद्धाश्चेति वक्तव्यम्	३।२।३४	स	
वृद्धाद्वृद्धवदिति वक्तव्यम्	४।२।७	संबोद्धः संवहितुभावश्च स्वे वक्तव्यः	३।३।८८
(वृ) ङेष्ट्रिणि वृधुषिभावो वक्तव्यः	३।३।१५३	संस्कृते शून्यः	३।४।१५०
वेः ख्यादेशो वक्तव्यः	४।२।११६		

स एव डामहो मातरि वाच्चायां टिञ्च	३।२।३१	सुदुरेधधिकरणे डो वक्तव्यः	२।२।४६
सकर्मकादिति वक्तव्यम्	१।२।५४	सु [शु] नोजिर्वाचदीत्वम्	३।४।२
सग्योश्च कु धिट्टु ह्योः	१।२।११२	सुब्धनाञ्च तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति	४।३।३
सङ्ख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्	३।२।५५	सुसर्वाद्धदिकृद्देश्यो जनपदस्य सूत्रान्ताद-	
सङ्ख्याया अल्पीयसो वाचिकायाः	१।३।१००	कल्पादेरिष्यते	३।२।५२
सञ्ज्ञायामण् वक्तव्यः	३।४।८७	सेनाङ्गफलक्षुद्रजीवितकर्मगृणधान्यपाक्षणां	
सत्प्राक्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पाष्टाप्	३।२।४	प्रकृत्यर्थबहुत्वे एकवद्भावः	१।४।८८
समसप्रधारणायां किम आक्षेपे द्वे भवतः	५।३।६	सेनाङ्गेषु बहुत्वे	१।४।७८
समानाञ्च तदादेश्च अध्यामादिषु चेष्ट्यते ।		सौवीरेषु मिमलशब्दायणफिजौ वक्तव्यौ	३।१।१३८
ऊर्ध्वाद्माञ्च देहाञ्च लोकोत्तरपदादपि ॥	३।३।३५	स्तोमे डो वक्तव्यः	३।४।५६
समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्	२।२।५८; ४।३।१९५	स्त्रियामण्यत्वे उवक्तव्यः	३।१।११७
समिधामाधाने टेन्यण् वक्तव्यः	३।३।८८	स्त्रीनपुंसकयोर्विभक्त्या वाङ्मभावो ङोऽस्तु	५।३।९
समूहे कटः	३।४।१५०	स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः	३।४।१०५
सम्पदादिभ्यः क्त्रिपि वक्तव्यः	२।३।७५	स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्	१।२।१४; १।२।२२
सम्पूर्वाद्देति वक्तव्यम्	२।१।९३	स्वादीरेरिणोः	४।३।७६
सम्भञ्जानिनशरणपिण्डेभ्यः फलाष्टाप्	३।१।४	स्वार्थेऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन् द्वे भवतः	५।३।९
सम्भूयोऽम्भसोः सखं च	३।१।८५	स्वार्थे द्वयसन्मात्रतौ बहुलं वक्तव्यौ	३।४।१५८
सर्वजनाट्टण् लश्च वक्तव्यः	३।४।७		
सर्वत्र मोरजादिप्रसंगे यः	३।१।७०	ह	
सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः	१।३।१०१	हनो वा वध इति च वक्तव्यम्	२।१।८६
सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः	१।१।३६	हन्तीत्यपि वक्तव्यम्	३।३।१५८
सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुंवद्भावः	१।३।८८	हन्तेर्हिंसायां ध्नीभावो वक्तव्यः	५।२।१३९
सर्वमद्यर्थकार्यमर्धेन भवतीति वक्तव्यमधिकरणे		हरतेर्गतिताच्छील्ये	१।२।२५
तविधं मुक्त्वा	१।२।१२२	हस्तसीराट्टण् वक्तव्यः	३।३।१६१
सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे	३।४।११४	हलिकृत्योरकारान्तता शिञ्चा योगे निपात्यते	२।१।१८
सर्वसादेरसान्चोप्	३।२।५२	हायनाद्वयसि स्मृतः	३।१।१४
सर्वादेश्चेति वक्तव्यम्	४।१।५६	हितशब्दयोगे उपसंख्यानम्	१।४।२६
सर्वञ्च बहुलम्	१।२।१०	हिमाञ्चैलुः	४।१।५६
सहाय्यद्वेति वक्तव्यम्	३।४।१२२	हिमारण्ययोर्महत्वे	३।१।४२
सहितसहाय्याञ्चेति वक्तव्यम्	३।१।५६	हृदवाञ्चालुर्वा वक्तव्यः	४।१।५६
सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्	२।१।१४	हृदयोःप्रतिपेभो वक्तव्यः	१।२।६
		होत्रायाः स्वार्थे को [छो] वक्तव्यः	३।४।१२५

जैनेन्द्रपरिभाषणामकारादिक्रमः

अ	ग
अखौ दृद्ध्युभ्यामिदर्थे ईप् तस्याश्चानुवक्तव्यः ४।३।१२७	शुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम् ४।४।६४; ४।४।१५२; ५।२।३; ५।२।१३६
अनन्तविकारेऽन्त्यसदेशस्य ४।३।३१; ४।४।१०० ४।४।१२१; ४।४।१४७; ५।१।१६२; ५।३।८८	गौरविकारे तदन्तस्य च ५।१।१८; ५।१।३६ गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययात् ५।४।६५
अनिश्वमागमशासनम् ४।३।१६९	च
अनिनस्मिन्ग्रहणेष्वर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिः ३।१।६; ४।४।१२; ५।१।१६४; ५।४।६०	चविकारेष्वपवादा प्र उत्सर्गाच्च बाधन्ते ५।२।१६६; ५।२।१८१
अन्तरज्ञानपि विधीन् बहिरङ्ग उवाचते ४।३।१२७; ५।१।१५७	ङ
अन्तरज्ञानपि विधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते ४।४।६८	ङल्योः समानविषयत्वं स्मर्यते ५।३।३९
अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशस्य कार्यम् ५।२।७४	ण
अन्यत्र ध्रुमहणे ध्वादेः समुदायस्य ग्रहणम् ४।३।१९८	णोऽप्यण् कृतं भवति ४।४।१६३
असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे १।१।५८; ४।३।५५; ४।३।६५; ४।४।१७; ५।३।२८; ५।३।८७	त
उ	तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ५।१।८० तदादेशास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ५।१।१०८ तन्मव्यपतितास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ४।३।१०९
उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः ५।१।५८; ५।२।१३२	तिवाक्कारकणां प्राक्सुबुक्तेः कृद्भिः सविधिः १।३।८२; ३।१।४३; ४।३।१६६
ए	त्यग्रहणे यस्मात् तदादेः १।१।८; ५।३।१८; त्यग्रहणे चाकायः ४।३।१३३ त्यात्यसंभवे त्यस्य ग्रहणम् ४।३।१६६
एकदेशविकृतस्थानन्यत्वात् ४।४।५४; ५।१।८; ५।१।१६०;	द
एकपदश्रयत्वेनान्तरज्ञानपि जग्व्यादिविधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते १।४।११०	द्याचित्यधिकारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणमेव ४।३।१३३ द्यावधिकारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणं न तदन्तविधिः ४।३।१६१
एकानुग्रन्थग्रहणे न द्वयनुग्रन्थकस्य २।१।६	द्विवर्द्धं सुबद्धं भवति ४।४।३७
क	ध
कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम् १।१।४५; १।२।६०; ५।३।२७	धोरधिकारे तदन्तविधिरप्यस्ति ५।१।५० धोः स्वरूपग्रहणात्तत्त्वविज्ञानम् ५।२।१; ५।२।३६; ५।३।२६
कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् १।१।६; १।२।२२; १।२।२६; १।३।४१; २।३।७६; ३।१।१८	न
कथौ नष्टं न स्थानिवत् ५।१।६३	नविवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः १।३।६८
ग्रामादाग्रहणेष्वविशेषः १।४।१४६; ४।३।६२; ४।४।६५; ५।२।१४४; ५।२।१५५	

नानर्थकेऽन्तेऽलोऽन्यविधिः	४।३।८५; ५।१।१७१; ५।४।३	येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि	५।१।८३
नानुबन्धकृतं ह्यन्तत्वम्	२।४।५	ल	
नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः	१।१।१३	लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रपिपदोक्तस्यैव	५।१।५२; ५।४।९५
निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य	४।३।१०८; ४।४।६४ ५।४।१८	लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वालिङ्गस्य	५।२।२०
निर्दिश्यमानस्थादेशा भवन्ति	४।४।११६; ५।२।१५१	व	
प		वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्	४।३।९९; ४।४।३३; ४।४।४१; ५।२।५४
पुरस्तादपवादाः अनन्तरान्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्	२।१।४६	वर्णाद्गावं बलीयः	१।१।७८; १।४।११३; ४।३।३३; ४।४।१७; ५।१।१३६
पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात्साधनवाचिना त्येन	५।२।१२२; ५।२।१३८	व्यपदेशितद्वावो न मृदा	५।१।५४
पूर्वत्रासिद्धोपमद्वित्वे	५।४।६६	स	
पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्	५।३।३६; ५।३।४६; ५।३।५५; ५।४।६	सकृद्गते परनिर्णये विधिर्वाधितो बाधित एव	१।२।९०; ४।४।४३; ४।४।६५; ४।४।९४; ५।१।५५; ५।१।५७; ५।२।५; ५।२।११०
प्रकृत्यापवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते	१।४।१२३	सञ्ज्ञाछन्दसोः पूर्वो विधिः	५।३।३९
प्रकृतिग्रहणे यदुक्तस्य ग्रहणम्	५।१।८५; ५।३।५५	सञ्ज्ञाविधौ त्यग्रहणात्तदन्तविधिर्नास्ति	१।१।६; १।१।२०; २।१।२६
प्रकृतिवदनुकरणं भवति	२।४।४६	सन्त्यविधौ न तदन्तविधिः	१।१।६७; ५।२।१६
म		सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य	१।१।६४; २।१।३२; ५।१।८; ५।१।२१; ५।२।५५; ५।३।२८
मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्	१।१।५३; २।१।१११; २।३।७६; ४।३।१७८; ४।४।७७; ५।१।१५६	सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यभावः	१।१।६; ३।१।७; ४।४।१४३
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्	१।३।६३; ४।२।६३; ४।३।१४८; ४।४।१२१; ५।४।३; ५।४।३४	सिद्धे सत्त्वारम्भो नियमार्थः	१।१।६; ५।३।२८; ५।३।४२; ५।३।७१
य		स्कादिखलत्वणत्वेषु नास्ति	५।३।४६
यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्वते न	५।१।२०	स्वार्थिका प्रकृतिलिङ्गसङ्ख्ये अनुवर्तन्ते	५।२।२५
तदन्तित्वम्	५।२।१५; ५।३।४१		
येन नाप्राप्ते तस्य तद्बाधनम्			

जैनेन्द्र-गणपाठसूची

अ	अ	कर्णादि:	३।२।६०	तिकादि:	३।२।१४९
अक्षयूतादि:	३।३।१४८	कल्याण्यदि:	३।२।११५	तुन्दादि:	४।२।४३
अङ्गुल्यादि:	४।२।१६२	कृष्णादि:	५।४।३६	तृणादि:	३।२।६०
अज्जादि:	३।२।४	काशादि:	३।२।६०	तौल्य्यादि:	१।४।१३२
अपूषादि:	३।४।३	काश्यादि:	३।२।६२	त्यदादि:	१।१।६९; ५।२।१६१
अरीहणादि:	३।२।६०	किसरदि:	३।२।१७२	द	
अर्धर्चादि:	१।४।१०८	कुञ्जादि:	३।२।८७	दण्डादि:	३।४।६४
अर्सादि:	४।२।५०	कुमुदादि:	३।२।६०	दक्षिणमन्त्रादि:	१।४।६०
अश्वादि:	३।२।६०	कुम्भपत्रादि:	३।२।८७	दामन्यादि:	३।२।२६
अश्वपत्यादि:	३।२।६६	कुर्वादि:	३।२।११९	ददादि:	३।४।११३
अश्वदि:	३।२।१६	कुलाकादि:	३।२।८७	देनपत्रादि:	४।२।१५४
आ		कुशाश्वदि:	३।२।६०	द्वारादि:	५।२।९
आहिताभ्यादि:	१।३।१०३	कौशल्यादि:	३।२।१४२	द्विदण्ड्यादि:	४।२।१२६
इ		क्रोडादि:	३।२।४६	ध	
इन्द्रजननादि:	३।३।६२	क्रौल्यादि:	३।२।६५	धूमादि:	३।२।१०५
इष्टादि:	४।२।२२	कुम्भादि:	५।४।११७	न	
उ		ग		नडादि:	३।२।८८; ३।२।७९
उगवादि:	३।४।२	गर्गादि:	३।२।६३	नद्यादि:	३।२।७६
उणादि:	२।२।१६७	गवाश्वदि:	१।४।८७	प	
उत्तरादि:	३।२।७०	गहादि:	३।२।११४	पक्षादि:	३।२।६०
उत्सङ्गादि:	३।३।१३८	गृष्ट्यादि:	३।२।१२४	पर्वादि:	३।२।१३३
उत्सादि:	३।२।७९	गोपवनादि:	१।४।१३९	पश्चादि:	४।२।६
उद्गानादि:	३।४।१६६	गोपालकादि:	३।२।३८	पलयादि:	३।२।८६
उपकादि:	१।४।१३९	गौरादि:	३।२।२३	पात्रेसमितादि:	१।२।४३
उरः प्रभृति	४।२।१५१	घ		पामादि:	४।२।२७
ऊ		घोषदादि:	४।२।६६	पारस्करादि:	४।२।११६
ऊर्वादि:	१।२।१३२	च		पाशादि:	३।२।४९
ऋ		चादि:	१।२।१२८	पुरोहितादि:	३।४।११८
ऋश्यादि:	३।२।६०	छ		पुष्करादि:	४।२।५६
क		छेदादि:	३।४।६२	पूर्वादि:	१।२।४२
कच्छादि:	३।२।१११	त		पृथ्वादि:	३।४।११२
कष्टादि:	१।३।१०४	तारकादि:	३।४।१५७	पैलादि:	१।४।१३१
कल्यादि:	३।२।७५	तालादि:	३।२।१०५	प्रज्ञादि:	४।२।४४
कथादि:	३।२।२०६	ति रुक्मिणवादि:	१।४।१४०	प्रादि:	१।३।८१

मेलादिः	३।२।६०	रेवत्यादिः	३।१।१३४	शुभ्रादिः	३।१।११२
प्लष्टादिः	३।३।१२२	रैवतिकादिः	३।३।९९	शौण्डादिः	१।३।३५
व		ल		शौनकादिः	३।३।७७
वहादिः	३।१।३१	लोमादिः	४।१।२७	श्वादिः	५।२।१३
वाह्यादिः	३।१।८५	लोहितादिः	३।१।२१	श्रेण्यादिः	१।३।५४
वाहाणादिः	३।४।११४			स	
वीत्यादिः	४।१।४२	व		सख्यादिः	३।२।६०
भ		वरणादिः	३।२।६२	सङ्काशादिः	३।२।६०
भर्गादिः	३।१।१५८	वराहादिः	३।२।६०	सन्तापादिः	३।४।६५
भस्त्रादिः	३।३।१३६	वलादिः	३।२।६९; ४।१।५७	सपत्न्यादिः	३।१।३४
भिन्नादिः	३।२।३३	वाकिनादिः	३।१।१४५	सब्रह्मचार्यादिः	४।४।१३१
भीमादिः	३।४।६१	विदादिः	३।१।६३	मर्गदिः	१।१।३५
म		विनयादिः	४।२।४०	साक्षादादिः	१।२।१४३
मनोशादिः	३।४।१२३	विमुक्तादिः	४।१।६५	सिध्मादिः	४।१।२५
मयूरव्यंसकादिः	१।३।६६	वेतनादिः	३।३।१३५	सिन्ध्वादिः	३।३।६७
महिष्यादिः	३।३।१६९	व्याघ्रादिः	१।३।५१	सुखादिः	४।१।५४
य		श		सुतङ्गमादिः	३।२।६०
यवादिः	५।३।३१	शकलादिः	३।२।८७	सुषामादिः	५।४।७२
यत्कादिः	१।४।१३४	शशिङ्कादिः	३।३।६६	स्थूलादिः	४।२।११
याजकादिः	१।३।७२	शरदादिः	४।२।१०६	स्वत्तादिः	३।१।८
यावादिः	४।२।३५	शरादिः	३।३।१०६	स्वागतादिः	५।२।१२
युवादिः	३।४।१२०	शर्करादिः	४।१।१६१	ह	
र		शास्त्रादिः	४।१।१५७	हरितादिः	३।१।८६
राजदन्तादिः	१।३।९६	शिवादिः	३।१।१०१	हरीतक्यादिः	३।३।१२४
राजन्त्यादिः	३।२।४६	शुशिङ्कादिः	३।३।५०	हस्त्यादिः	४।२।१३६

जैनेन्द्र-संज्ञासूची

अ		क		त	
जैनेन्द्रसंज्ञा	पाणिनिसंज्ञा	जैनेन्द्रसंज्ञा	पाणिनिसंज्ञा	जैनेन्द्रसंज्ञा	पाणिनिसंज्ञा
अधिकरणः	अधिकरणम्	करणम् [१।२।११४]	करणम्	तः [१।१।२८]	निष्ठा
[१।२।११६]		कर्त्ता [१।२।१२४]	कर्त्ता	ता [१।२।१५८]	पठौ
अनुदात्तः	अनुदात्तः	कर्म [१।२।१२०]	कर्म	ति [१।२।१३१]	गतिः
[१।१।११३]		का [१।२।१५८]	पञ्चमी	त्यः [२।१।१]	प्रत्ययः
अभ्याः [१।२।१५२]	प्रथमपुरुषः	किः [१।४।५६]	सम्बुद्धिः		ध
अप् [१।२।१५८]	चतुर्थी			थः [४।३।३]	अभ्यस्तम्
अपादानम्	अपादानम्				द
[१।२।११०]		खम् [१।१।६१]	लोपः	दः [१।२।१५१]	आत्मनेपदम्
अस्मद् [१।२।१५२]	उत्तमपुरुषः	खुः [१।१।२६]	संज्ञा	दिः [१।१।२०]	प्रगल्भम्
				दीः [१।१।११]	दीर्घः
इ		ग		दुः [१।१।६८]	वृद्धम्
इत् [१।२।३]	इत्	गि [१।२।१३०]	उपसर्गः	ध्रु [१।३।१०५]	उत्तरपदम्
इप् [१।२।१५८]	द्वितीया	गुः [१।२।१०२]	अङ्गम्	द्रिः [४।२।६]	तद्राजः
इल् [१।१।३४]	षट्			द्वन्द्वः [१।२।६२]	द्वन्द्वः
		घ		द्विः [१।२।१५५]	द्विवचनम्
ई		घि [१।२।१९९]	लघु		ध
ईप् [१।२।१५८]	सप्तमी			धम् [१।१।३१]	सर्वनामस्थानम्
		ङ		धिः [१।२।२]	अकर्मकः
उ		ङः [१।१।४]	अनुनासिकः	धुः [१।२।१]	धातुः
उङ् [१।१।६६]	उपधा	ङिः [१।१।३०]	भावकर्म		न
उञ् [१।१।६२]	श्लुः			नप् [नपुंसकलिङ्गस्य संज्ञा प्राच्याम्]	
उदात्तः [१।१।१३]	उदात्तः	चः [४।३।६]	अभ्यासः	निः [१।१।२२]	निपातः
उप् [१।१।६२]	लुक्			न्यक् [१।३।६२]	उपसर्जनम्
उल् [१।१।६२]	लृप्	ज			प
		जिः [१।१।४५]	सम्प्रसारणम्	पः [१।१।११]	प्लुतः
ए				पदम् [१।२।१०३]	पदम्
एकः [१।१।१५५]	एकवचनम्	झ		प्रः [१।१।११]	ह्रस्वः
एप् [१।१।१६]	गुणः	झिः [१।१।७४]	अव्ययम्		
ऐ		ट			
ऐप् [१।१।१५]	वृद्धिः	टिः [१।१।६५]	टिः		

व	य	स
वम् [१।३।८६]	यः [१।३।४४] कर्मधारयः	संख्या [१।३।३३]
बहुः [१।२।१५५]	युष्मद् [१।२।१५२] मध्यमपुरुषः	सः [१।३।२]
बोध्यम् [१।४।५५]		सत् [२।२।१०५]
	र	सम्प्रदानम्
भ	रः [१।३।४७]	[१।२।१११]
भः [१।२।१०७]	रुः [१।२।१००]	सर्वनाम [१।३।३५]
भा [१।२।१५८]	व	सुः [१।२।९७]
सु [१।३।२७]	वा [१।२।१५८] प्रथमा	स्कः [१।३।३]
	वाक् [२।१।७६] उपपदम्	स्वम् [१।३।२]
म	विभक्ती [१।२।१५७] विभक्तिः	स्वरितः [१।३।६४]
मम् [१।२।१५०]	व	ह
सुः [१।२।९२]	वम् [१।३।१६]	हः [१।३।४]
सूत्र [१।३।५]	तत्पुरुषः	हृत् [३।३।६१]
		तद्धितम्

जैनेन्द्र और पाणिनि-व्याकरणकी तुलनात्मक सूत्र-सूची

जैनेन्द्र-सूत्र- संख्या	पाणिनि-सूत्र- संख्या	जैनेन्द्र-सूत्र- संख्या	पाणिनि-सूत्र- संख्या	जैनेन्द्र-सूत्र- संख्या	पाणिनि-सूत्र- संख्या
१।१।१	×	१।१।३३	१।१।२३	१।१।६५	१।१।६४
१।१।२	१।१।९	१।१।३४	१।१।२४	१।१।६६	१।१।६५
१।१।३	१।१।७	१।१।३५	१।१।२७	१।१।६७	{ १।१।५२ १।१।७२
१।१।४	१।१।८	१।१।३६	१।१।२८	१।१।६८	१।१।७३
१।१।५	१।२।४५	१।१।३७	१।१।२९	१।१।६९	१।१।७४
१।१।६	१।२।४६	१।१।३८	१।१।३०	१।१।७०	१।१।७५
१।१।७	१।२।४७	१।१।३९	१।१।३१	१।१।७१	×
१।१।८	१।२।४८	१।१।४०	१।१।३२	१।१।७२	{ १।१।६९ १।१।७०
१।१।९	१।२।४९	१।१।४१	१।१।३३	१।१।७३	१।१।७२
१।१।१०	१।२।५०	१।१।४२	१।१।३४-३६	१।१।७४	१।१।७३
१।१।११	१।२।२७	१।१।४३	७।१।१६	१।१।७५	१।२।१
१।१।१२	१।२।२८	१।१।४४	×	१।१।७६	१।२।२
१।१।१३	१।२।२९, ३०	१।१।४५	१।१।४५	१।१।७७	१।२।३
१।१।१४	१।२।३१	१।१।४६	१।१।४६	१।१।७८	१।२।४
१।१।१५	१।१।१	१।१।४७	१।१।५०	१।१।७९	१।२।५
१।१।१६	१।१।२	१।१।४८	१।१।५१	१।१।८०	{ १।२।७ १।२।८
१।१।१७	१।१।३	१।१।४९	१।१।५२	१।१।८१	१।२।९
१।१।१८	१।१।४	१।१।५०	१।१।५३	१।१।८२	१।२।१०
१।१।१९	१।१।५	१।१।५१	१।१।५४	१।१।८३	१।२।११
१।१।२०	१।१।११	१।१।५२	१।१।५५	१।१।८४	१।२।१२
१।१।२१	१।१।१२	१।१।५३	१।१।५६	१।१।८५	१।२।१३
१।१।२२	१।१।१४	१।१।५४	१।१।५७	१।१।८६	१।२।१४
१।१।२३	१।१।१५	१।१।५५	१।१।५८	१।१।८७	१।२।१५
१।१।२४	१।१।१६	१।१।५६	१।१।५९	१।१।८८	१।२।१६
१।१।२५	१।१।१७	१।१।५७	१।१।६०	१।१।८९	१।२।१७
१।१।२६	१।१।१८	१।१।५८	१।१।६१	१।१।९०	१।२।१८, १९
१।१।२७	१।१।२०	१।१।५९	१।१।६२	१।१।९१	१।२।२०
१।१।२८	१।१।२६	१।१।६०	१।१।६३	१।१।९२	१।२।२१
१।१।२९	×	१।१।६१	१।१।६४	१।१।९३	१।२।२२, २३
१।१।३०	×	१।१।६२	१।१।६५	१।१।९४	
१।१।३१	१।१।४२	१।१।६३	१।१।६६	१।१।९५	
१।१।३२	१।१।४३	१।१।६४	१।१।६७	१।१।९६	

१।१।९६	१।२।२४, २६	१।२।३३	×	१।२।७१	१।२।७६
१।१।९७	१।२।२५	१।२।३४	१।२।३८	१।२।७२	१।२।७७
१।१।९८	१।२।२६	१।२।३५	१।२।३९	१।२।७३	१।२।७८
१।१।९९	१।२।२७	१।२।३६	१।२।४०	१।२।७४	१।२।७९
१।१।१००	×	१।२।३७	१।२।४१	१।२।७५	१।२।८०
अध्याय १ पाद २		१।२।३८	१।२।४२	१।२।७६	१।२।८१
१।२।१	१।३।१	१।२।३९	१।३।४३	१।२।७७	१।३।८२
१।२।२	×	१।२।४०	१।३।४४	१।२।७८	१।३।८३
१।२।३	१।३।२	१।२।४१	१।३।४५	१।२।७९	१।३।८४
१।२।४	१।३।१०	१।२।४२	१।३।४६	१।२।८०	१।३।८५
१।२।५	१।३।११	१।२।४३	१।३।४७	१।२।८१	१।३।८६
१।२।६	१।३।१२	१।२।४४	१।३।४८	१।२।८२	१।३।८७
१।२।७	१।३।१३	१।२।४५	१।३।४९	१।२।८३	१।३।८८
१।२।८	१।३।१४	१।२।४६	१।३।५०	१।२।८४	१।३।८९
१।२।९	१।३।१५	१।२।४७	१।३।५१	१।२।८५	१।३।९०
१।२।१०	१।३।१६	१।२।४८	१।३।५२	१।२।८६	१।३।९१
१।२।११	१।३।१७	१।२।४९	१।३।५३	१।२।८७	१।३।९२
१।२।१२	१।३।१८	१।२।५०	१।३।५४	१।२।८८	१।३।९३
१।२।१३	१।३।१९	१।२।५१	१।३।५५	१।२।८९	१।३।९४
१।२।१४	१।३।२०	१।२।५२	१।३।५६	१।२।९०	१।३।९५
१।२।१५	१।३।२१	१।२।५३	१।३।५७	१।२।९१	१।३।९६
१।२।१६	१।३।२२	१।२।५४	१।३।५८	१।२।९२	१।३।९७
१।२।१७		१।२।५५		१।२।९३	१।३।९८
१।२।१८	१।३।२३	१।२।५६	१।३।६०	१।२।९४	१।३।९९
१।२।१९	१।३।२४	१।२।५७	१।३।६१	१।२।९५	१।३।१००
१।२।२०	१।३।२५	१।२।५८	१।३।६२	१।२।९६	१।३।१०१
१।२।२१	१।३।२६	१।२।५९	१।३।६३	१।२।९७	१।३।१०२
१।२।२२	१।३।२७	१।२।६०	१।३।६४	१।२।९८	१।३।१०३
१।२।२३	१।३।२८	१।२।६१	×	१।२।९९	१।३।१०४
१।२।२४	१।३।२९	१।२।६२	१।३।६५	१।२।१००	१।३।१०५
१।२।२५	१।३।३०	१।२।६३	१।२।६६	१।२।१०१	१।३।१०६
१।२।२६	१।३।३१	१।२।६४	१।२।६७	१।२।१०२	१।३।१०७
१।२।२७	१।३।३२	१।२।६५	१।२।६८	१।२।१०३	१।३।१०८
१।२।२८	१।३।३३	१।२।६६	१।२।६९	१।२।१०४	१।३।१०९
१।२।२९	१।३।३४	१।२।६७	१।२।७०	१।२।१०५	१।३।११०
१।२।३०	१।३।३५	१।२।६८	१।२।७१	१।२।१०६	१।३।१११
१।२।३१	१।३।३६	१।२।६९	१।२।७२	१।२।१०७	१।३।११२
१।२।३२	१।३।३७	१।२।७०	१।२।७३	१।२।१०८	१।३।११३

१।२।१०६	१।४।२३	१।२।१४७	१।४।७८	१।३।२५	२।१।२८
१।२।११०	१।४।२४	१।२।१४८	१।४।७९	१।३।२६	२।१।२९
१।२।१११	१।२।३२	१।२।१४९	१।४।८०	१।३।२७	२।१।३०
१।२।११२	१।४।३५	१।२।१५०	१।४।८१	१।३।२८	२।१।३१
१।२।११३	१।४।४४	१।२।१५१	१।४।१००	१।३।२९	२।१।३२
१।२।११४	१।४।४२	१।२।१५२	१।४।१०१	१।३।३०	२।१।३४, ३५
१।२।११५	१।४।४३	१।२।१५३	१।४।१०५, १०७, १०८	१।३।३१	२।१।३६
१।२।११६	१।४।४५	१।२।१५४	१।४।१०६	१।३।३२	२।१।३७
१।२।११७	१।४।४६	१।२।१५५	१।४।१०७	१।३।३३	२।१।३८
१।२।११८	१।४।४८	१।२।१५६	१।४।१०८	१।३।३४	२।१।३९
१।२।११९	१।४।४७	१।२।१५७	१।४।१०९	१।३।३५	२।१।४०
१।२।१२०	१।४।४९	१।२।१५८	१।४।१०४	१।३।३६	२।१।४१
१।२।१२१	१।४।५१	१।२।१५८	X	१।३।३७	२।१।४३
१।२।१२२ } १।२।१२३ }	१।४।५२	अध्याय १ पाद ३		१।३।३८	२।१।४४
१।२।१२४	१।४।५३	१।३।१	२।१।१	१।३।३९	२।१।४५
१।२।१२५	१।४।५४	१।३।२	२।१।३	१।३।४०	२।१।४६
१।२।१२६	१।४।५५	१।३।३	२।१।४	१।३।४१	२।१।४७
१।२।१२७	१।४।५६	१।३।४	२।१।५	१।३।४२	२।१।४८
१।२।१२८	१।४।५७	१।३।५	२।१।६	१।३।४३	२।१।४९
१।२।१२९	१।४।५८	१।३।६	२।१।७, ८	१।३।४४	२।१।५०
१।२।१३०	१।४।५९	१।३।७	२।१।८	१।३।४५	२।१।५१
१।२।१३१	१।४।६०	१।३।८	२।१।९	१।३।४६	२।१।५२
१।२।१३२	१।४।६१	१।३।९	२।१।१०	१।३।४७	२।१।५३
१।२।१३३	१।४।६२	१।३।१०	२।१।११	१।३।४८	२।१।५४
१।२।१३४	१।४।६३	१।३।११	२।१।१२	१।३।४९	२।१।५५
१।२।१३५	१।४।६४, ६५	१।३।१२	२।१।१३	१।३।५०	२।१।५६
१।२।१३६	१।४।६५	१।३।१३	२।१।१४	१।३।५१	२।१।५७
१।२।१३७	१।४।६७, ६८	१।३।१४	२।१।१५	१।३।५२	२।१।५८
१।२।१३८	१।४।६८	१।३।१५	२।१।१६	१।३।५३	२।१।५९
१।२।१३९	१।४।७०	१।३।१६	२।१।१७	१।३।५४	२।१।६०
१।२।१४०	१।४।७१	१।३।१७	२।१।१८	१।३।५५	२।१।६१
१।२।१४१	१।४।७२	१।३।१८	२।१।१९	१।३।५६	२।१।६२
१।२।१४२	१।४।७३	१।३।१९	२।१।२०	१।३।५७	२।१।६३
१।२।१४३	१।४।७४	१।३।२० } १।३।२१ }	२।१।२१	१।३।५८	२।१।६४
१।२।१४४	१।४।७५	१।३।२२	२।१।२२	१।३।५९	२।१।६५
१।२।१४५	१।४।७६	१।३।२३	२।१।२३	१।३।६०	२।१।६६
१।२।१४६	१।४।७७	१।३।२४	२।१।२४	१।३।६१	२।१।६७

१।३।६३	२।१।६७	१।३।१०१	२।२।१५	१।४।३३	२।३।२४
१।३।६४	२।१।६८	१।३।१०२	२।२।३६	१।४।३४	२।३।२५
१।३।६५	२।१।७०	१।३।१०३	२।२।३७	१।४।३५	२।३।२६
१।३।६६	२।१।७२	१।३।१०४	२।३।३८	१।४।३६	२।३।२७
१।३।६७	२।२।५	१।३।१०५	×	१।४।३७	२।३।२८
१।३।६८	२।२।६	अध्याय १ पाद ४		१।४।३८	२।३।२९
१।३।६९	२।२।७			१।४।३९	२।३।३०
१।३।७०	२।२।८	१।४।१	२।३।१	१।४।४०	२।३।३१
१।३।७१	×	१।४।२	२।३।२	१।४।४१	२।३।३२
१।३।७२	२।२।९	१।४।३	२।३।३	१।४।४२	२।३।३४
१।३।७३	×	१।४।४	२।३।४	१।४।४३	२।३।३५
१।३।७४	२।२।१०	१।४।५	२।३।५	१।४।४४	२।३।३६
१।३।७५	२।२।११	१।४।६	२।३।७	१।४।४५	२।३।३७
१।३।७६	२।२।१४	१।४।७	१।४।६४	१।४।४६	२।३।३८
१।३।७७	२।२।१५	१।४।८	१।४।६५	१।४।४७	२।३।३९
१।३।७८		१।४।९	१।४।६६	१।४।४८	२।३।४०
१।३।७९	२।२।१६	१।४।१०	१।४।६७	१।४।४९	२।३।४१
१।३।८०	२।२।१७	१।४।११	×	१।४।५०	२।३।४२
१।३।८१	२।२।१८	१।४।१२	×	१।४।५१	२।३।४३
१।३।८२	२।२।१९	१।४।१३	×	१।४।५२	२।३।४४
१।३।८३	२।२।२०	१।४।१४	×	१।४।५३	२।३।४५
१।३।८४	२।२।२१	१।४।१५	×	१।४।५४	२।३।४६
१।३।८५	२।२।२२	१।४।१६	×	१।४।५५	२।३।४८
१।३।८६	२।२।२४	१।४।१७	२।३।९	१।४।५६	२।३।४९
१।३।८७	२।२।१५	१।४।१८		१।४।५७	२।३।५०
१।३।८८	२।२।२६	१।४।१९	२।३।१०	१।४।५८	२।३।५१
१।३।८९	२।२।२७	१।४।२०		१।४।५९	२।३।५२
१।३।९०	२।२।२८	१।४।२१	२।३।११	१।४।६०	२।३।५३
१।३।९१		१।४।२२		१।४।६१	२।३।५४
१।३।९२	२।२।२९	१।४।२३	२।३।१२	१।४।६२	२।३।५५
१।३।९३	१।२।४३	१।४।२४	२।३।१४	१।४।६३	२।३।५६
१।३।९४	१।२।४४	१।४।२५	२।३।१५	१।४।६४	२।३।५७
१।३।९५	×	१।४।२६	२।३।१६	१।४।६५	२।३।५८
२।३।९६	२।२।३१	१।४।२७	२।३।१७	१।४।६६	२।३।५९
१।३।९७	२।२।३०	१।४।२८	२।३।२२	१।४।६७	२।३।६४
१।३।९८	२।२।३२	१।४।२९	२।३।१८	१।४।६८	२।३।६५
१।३।९९	२।२।३३	१।४।३०	२।३।१९	१।४।६९	२।३।६६
१।३।१००	२।२।३४	१।४।३१	२।३।२०, २१	१।४।७०	२।३।६७, ६८
		१।४।३२	२।३।२३	१।४।७१	

१।४।७२	२।३।६६	१।४।११०	२।४।३६	१।४।१४७	२।४।७८
१।४।७३	२।३।७०	१।४।१११	{ २।४।३७ २।४।३८	१।४।१४८	२।४।७९
१।४।७४		१।४।११२		१।४।१४९	२।४।८१
१।४।७५	२।३।७१	१।४।११३	२।४।४०	१।४।१५०	२।४।८२
१।४।७६	२।३।७२	१।४।११४	२।४।४१	१।४।१५१	
१।४।७७	२।३।७३	१।४।११५	२।४।४२	१।४।१५२	२।४।८३
१।४।७८	२।४।२	१।४।११६	२।४।४३	१।४।१५३	२।४।८४
१।४।७९	२।४।३	१।४।११७	२।४।४४	१।४।१५४	२।४।८५
१।४।८०	२।४।४	१।४।११८	२।४।४५	अध्याय २ पाद १	
१।४।८१	२।४।५	१।४।११९	२।४।४६	२।१।१	३।१।१
१।४।८२	२।४।६	१।४।१२०	२।४।४७	२।१।२	३।१।२
१।४।८३	२।४।७	१।४।१२१	२।४।४८	२।१।३	३।१।५
१।४।८४	२।४।८	१।४।१२२	२।४।४९	२।१।४	३।१।६
१।४।८५	२।४।९	१।४।१२३	२।४।५०	२।१।५	३।१।७
१।४।८६	२।४।१०	१।४।१२४	२।४।५१	२।१।६	३।१।८
१।४।८७	२।४।११	१।४।१२५	२।४।५२, पू३	२।१।७	३।१।९
१।४।८८	२।४।१२	१।४।१२६	२।४।५३	२।१।८	३।१।१०
१।४।८९	२।४।१३	१।४।१२७	X	२।१।९	३।१।११
१।४।९०	२।४।१४	१।४।१२८	२।४।५४	२।१।१०	३।१।१२
१।४।९१	२।४।१५	१।४।१२९	२।४।५५	२।१।११	३।१।१३
१।४।९२	२।४।१६	१।४।१३०	२।४।५६	२।१।१२	३।१।१४
१।४।९३	२।४।१७	१।४।१३१	२।४।५७	२।१।१३	३।१।१५
१।४।९४	२।४।१८	१।४।१३२	२।४।५८	२।१।१४	{ ३।१।१५ ३।१।१७
१।४।९५	२।४।१९	१।४।१३३	२।४।५९, द१	२।१।१५	
१।४।९६	२।४।२०	१।४।१३४	२।४।६०	२।१।१६	३।१।१८
१।४।९७	२।४।२१	१।४।१३५	२।४।६१	२।१।१७	३।१।१९
१।४।९८	२।४।२२	१।४।१३६	२।४।६२	२।१।१८	३।१।२०
१।४।९९	२।४।२३	१।४।१३७	२।४।६३	२।१।१९	३।१।२१
१।४।१००	२।४।२४	१।४।१३८	२।४।६४	२।१।२०	३।१।२२
१।४।१०१	२।४।२५	१।४।१३९	२।४।६५	२।१।२१	३।१।२३
१।४।१०२	२।४।२६	१।४।१४०	२।४।६६	२।१।२२	३।१।२४
१।४।१०३	२।४।२७	१।४।१४१	२।४।६७	{ २।१।२२ २।१।२३	३।१।२५
१।४।१०४	२।४।२८	१।४।१४२	२।४।६८		
१।४।१०५		१।४।१४३	२।४।६९	२।१।२४	३।१।२६
१।४।१०६	X	१।४।१४४	२।४।७०	२।१।२५	३।१।२७
१।४।१०७	२।४।२९	१।४।१४५	२।४।७१	२।१।२६	३।१।२८
१।४।१०८	२।४।३०	१।४।१४६	२।४।७२	२।१।२७	३।१।२९
१।४।१०९	२।४।३१	१।४।१४७	२।४।७३	{ ३।१।२८ ३।१।३०	३।१।३०
१।४।११०	२।४।३२	१।४।१४८	२।४।७४		

रा११२६	रा११३२	रा११६७	रा११७१	रा१११०१	×
रा११३०	रा११३३	रा११६८	रा११७२	रा१११०२	रा१११२५
रा११३१	रा११३५	रा११६९	रा११७३	रा१११०३	रा१११२६
रा११३२	रा११३६	रा११७०	रा११७४	रा१११०४	रा१११२७
रा११३३	रा११३७	रा११७१	रा११७५	रा१११०५	रा१११३०, १३१, १३२
रा११३४	रा११३८	रा११७२	रा११७६	रा१११०६	रा१११३३
रा११३५	रा११३९	रा११७३	रा११७७, ७८	रा१११०७	रा१११३४
रा११३६	रा११४०	रा११७४	रा११७८	रा१११०८	रा१११३५
रा११३७	रा११४१	रा११७५	रा११८०	रा१११०९	रा१११३६
रा११३८	रा११४३, ४४	रा११७६	रा११८१	रा११११०	रा१११३७
रा११३९	×	रा११७७	रा११८२	रा१११११	रा१११३८
रा११४०	रा११४५	रा११७८	रा११८३	रा११११२	रा१११३९
रा११४१ } रा११४२ }	रा११४६	रा११७९	रा११८४	रा११११३	रा१११४०
रा११४३	रा११४८	रा११८०	रा११८५	रा११११४ }	रा१११४१
रा११४४	रा११४९	रा११८१	रा११८६	रा११११५ }	रा१११४२
रा११४५	रा११५२	रा११८२	रा११८७	रा११११६	रा१११४३
रा११४६	रा११५३	रा११८३	रा११८८	रा११११७	रा१११४४
रा११४७	रा११५४	रा११८४	रा११८९	रा११११८	रा१११४५
रा११४८	रा११५५	रा११८५	रा११९०	रा११११९	रा१११४६, १४७
रा११४९	रा११५६	रा११८६	रा११९१	रा१११२०	रा१११४७
रा११५०	रा११५७	रा११८७	रा११९२	रा१११२१	रा१११४८
रा११५१	रा११५८	रा११८८	रा११९३	रा१११२२	रा१११४९
रा११५२	रा११५९	रा११८९	रा११९४	रा१११२३	रा१११५०
रा११५३	रा११६०	रा११९०	रा११९५	अध्याय २ पाद २	
रा११५४	रा११६१	रा११९१	रा११९६		
रा११५५	रा११६२	रा११९२	रा११९७	रा१२१	रा१२१
रा११५६	रा११६३	रा११९३	रा११९८	रा१२२	रा१२२
रा११५७	रा११६४	रा११९४	रा११९९	रा१२३	रा१२३
रा११५८	रा११६५	रा११९५	रा११९०	रा१२४ }	रा१२४
रा११५९	रा११६६	रा११९६	रा११९१	रा१२५ }	रा१२५
रा११६०	रा११६७	रा११९७	रा११९२	रा१२६	रा१२६
रा११६१	रा११६८	रा११९८	रा११९३	रा१२७ }	रा१२७
रा११६२	रा११६९	रा११९९	रा११९४	रा१२८ }	रा१२८
रा११६३	रा११७०	रा१२००	रा११९५	रा१२९	×
रा११६४	रा११७१	रा१२०१	रा११९६	रा१२१०	रा१२५
रा११६५	रा११७२	रा१२०२	रा११९७	रा१२११	रा१२८
रा११६६	रा११७३	रा१२०३	रा११९८	रा१२१२	रा१२८
		रा१२०४	रा११९९		[पा०]

रा२।१३	रा२।९	रा२।४६	रा२।५१	रा२।८७	रा२।१०४
	[वा०]	रा२।५० } रा२।५१ }	रा२।५२, ५३	रा२।८८ } रा२।८९ }	{ रा२।१०७, १०८ }
रा२।१४	रा२।९	रा२।५२	रा२।५४	रा२।९०	रा२।१०९
रा२।१५	रा२।१०	रा२।५३	रा२।५५	रा२।९१	रा२।११०
रा२।१६	रा२।११	रा२।५४ }	{ रा२।५६ रा२।५७ }	रा२।९२	रा२।१११
रा२।१७	रा२।१२	रा२।५५ }		रा२।९३	रा२।११२, ११३
रा२।१८	रा२।१३	रा२।५६	रा२।५८		
रा२।१९	रा२।१४	रा२।५७	रा२।५९	रा२।९४	रा२।११४
रा२।२०	रा२।१५	रा२।५८	रा२।६०	रा२।९५	रा२।११५
रा२।२१	रा२।१६	रा२।५९	रा२।६१	रा२।९६	रा२।११६
रा२।२२	रा२।१७	रा२।६०	रा२।६२	रा२।९७	रा२।११७
रा२।२३	रा२।१८	रा२।६१	रा२।६३	रा२।९८	रा२।११८
रा२।२४	रा२।१९	रा२।६२	रा२।७४	रा२।९९ }	{ रा२।११८ रा२।१०० }
रा२।२५	रा२।२०	रा२।६३	रा२।७५	रा२।१०१	रा२।११९
रा२।२६	रा२।२१	रा२।६४	रा२।७६	रा२।१०२	रा२।१२४
रा२।२७	रा२।२२	रा२।६५	रा२।७७	रा२।१०३	रा२।१२५
रा२।२८	X	रा२।६६	रा२।७८	रा२।१०४	रा२।१२६
रा२।२९	रा२।२४	रा२।६७	रा२।७९	रा२।१०५	रा२।१२७
रा२।३०	रा२।२५	रा२।६८	रा२।८०	रा२।१०६	रा२।१२८
रा२।३१	रा२।२६	रा२।६९	रा२।८१	रा२।१०७	रा२।१२९
रा२।३२	रा२।२८	रा२।७०	रा२।८२	रा२।१०८	रा२।१३०
रा२।३३	{ रा२।२९ रा२।३० }	रा२।७१	रा२।८३	रा२।१०९	रा२।१३१
रा२।३४	रा२।३१	रा२।७२	रा२।८४	रा२।११०	रा२।१३२
रा२।३५	रा२।३२	रा२।७३	रा२।८५	रा२।१११	रा२।१३३
रा२।३६	रा२।३३, ३४	रा२।७४	रा२।८६	रा२।११२	रा२।१३४
रा२।३७	रा२।३५	रा२।७५	रा२।८७	रा२।११३	रा२।१३५
रा२।३८	रा२।३६, ३७	रा२।७६	रा२।८८	रा२।११४	रा२।१३६
रा२।३९	रा२।३८	रा२।७७	रा२।८९	रा२।११५	रा२।१३८, १३९
रा२।४०	रा२।४२	रा२।७८	रा२।९०		
रा२।४१	रा२।४३	रा२।७९	रा२।९१	रा२।११६	रा२।१४०
रा२।४२	रा२।४४	रा२।८०	रा२।९२	रा२।११७	रा२।१४१
रा२।४३	रा२।४५	रा२।८१	रा२।९३	रा२।११८ }	{ रा२।१४२ रा२।११९ }
रा२।४४	रा२।४६	रा२।८२	रा२।९४	रा२।१२०	रा२।१४३
रा२।४५	रा२।४७	रा२।८३	रा२।९५	रा२।१२१	रा२।१४४
रा२।४६	रा२।४८	रा२।८४	रा२।९६	रा२।१२२	रा२।१४५
रा२।४७	रा२।४९	रा२।८५	रा२।१०७		
रा२।४८	रा२।५०	रा२।८६	रा२।१०८		

रा०११२३	रा०११४२	रा०११६१	रा०११८१, १८३	रा०१३१	रा०१३३
रा०११२४	रा०११४२	रा०११६२	रा०११८४	रा०१३२	रा०१३४
रा०११२५	रा०११४२	रा०११६३	रा०११८५	रा०१३३	रा०१३५
रा०११२६	रा०११४५	रा०११६४	रा०११८६	रा०१३४	रा०१३५
रा०११२७ } रा०११२८ }	रा०११४६	रा०११६५	रा०११८७	रा०१३५	रा०१३६
रा०११२९	रा०११४७	रा०११६६	रा०११८८	रा०१३६	रा०१३७, ३८
रा०११३०	रा०११४८	रा०११६७	रा०११	रा०१३७	रा०१३८
रा०११३१	रा०११४९	अध्याय २ पाद ३		रा०१३८	रा०१४०
रा०११३२	रा०११५०	रा०११	रा०१३	रा०१३९	रा०१४१
रा०११३३	रा०११५१	रा०१३२	रा०१३४	रा०१४०	रा०१४२
रा०११३४	रा०११५०	रा०१३३	रा०१३५	रा०१४१	रा०१४५
रा०११३५	रा०११६६	रा०१३४	रा०१३६	रा०१४२	रा०१४६
रा०११३६	रा०११६५	रा०१३५	रा०१३७	रा०१४३	रा०१४७
रा०११३७	रा०११५४	रा०१३६	रा०१३८	रा०१४४	रा०१४८
रा०११३८	रा०११५५	रा०१३७	रा०१३९	रा०१४५	रा०१४९
रा०११३९ } रा०११४० }	रा०११५६ रा०११५७	रा०१३८	रा०१४०	रा०१४६	रा०१५०
रा०११४१	रा०११५८	रा०१३९ } रा०१४१ }	रा०१४१	रा०१४७	रा०१५१
रा०११४२	रा०११५९	रा०१४२	रा०१४२	रा०१४८	रा०१५२
रा०११४३	रा०११६०	रा०१४३	रा०१४३	रा०१५०	रा०१५४
रा०११४४	रा०११६१	रा०१४४	रा०१४४	रा०१५१	रा०१५५
रा०११४५	रा०११६२	रा०१४५	रा०१४५	रा०१५२	रा०१५६, ५७, ५८
रा०११४६	रा०११६३	रा०१४६	रा०१४६	रा०१५३	रा०१५९
रा०११४७	रा०११६४	रा०१४७	रा०१४७	रा०१५४	रा०१६०
रा०११४८	रा०११६७	रा०१४८	रा०१४८	रा०१५५	रा०१६६
रा०११४९	रा०११६८	रा०१४९	रा०१४९	रा०१५६	रा०१६९
रा०११५०	रा०११६९	रा०१५०	रा०१५०	रा०१५७	रा०१७०
रा०११५१	रा०११७२	रा०१५१	रा०१५१	रा०१५८	रा०१७१
रा०११५२	रा०११७३	रा०१५२	रा०१५२	रा०१५९	रा०१७२
रा०११५३	रा०११७४	रा०१५३	रा०१५३	रा०१६०	रा०१७३
रा०११५४	रा०११७५	रा०१५४	रा०१५४	रा०१६१	रा०१७४
रा०११५५	रा०११७६	रा०१५५	रा०१५५	रा०१६२	रा०१७५
रा०११५६ } रा०११५७ }	रा०११७७, १७८	रा०१५६	रा०१५६	रा०१६३	रा०१७६
रा०११५८	रा०११७९	रा०१५७	रा०१५७	रा०१६४	रा०१७९
रा०११५९	रा०११८०	रा०१५८	रा०१५८	रा०१६५	रा०१८२
रा०११६०	रा०११८१	रा०१५९	रा०१५९	रा०१६६	रा०१८३
		रा०१६०	रा०१६०	रा०१६७	रा०१८४

रा.रा.दि.म.	रा.रा.दि.पू.	रा.रा.१०२	रा.रा.१२१	रा.रा.१४०	रा.रा.१६४
रा.रा.दि.ह.	रा.रा.दि.म.७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७	रा.रा.१०३	रा.रा.१२२	रा.रा.१४१	रा.रा.१६५
		रा.रा.१०४	रा.रा.१२६	रा.रा.१४२	रा.रा.१६६
		रा.रा.१०५	रा.रा.१२७	रा.रा.१४३	रा.रा.१६७
		रा.रा.१०६	रा.रा.१२८	रा.रा.१४४	रा.रा.१६८
		रा.रा.१०७	रा.रा.१२९	रा.रा.१४५	रा.रा.१६९
रा.रा.७०	रा.रा.म.८	रा.रा.१०८	रा.रा.१३०	रा.रा.१४६	रा.रा.१७०
रा.रा.७१	रा.रा.म.९	रा.रा.१०९	रा.रा.१३१	रा.रा.१४७	रा.रा.१७१
रा.रा.७२	रा.रा.म.१०, ११	रा.रा.११०	रा.रा.१३४	रा.रा.१४८	रा.रा.१७२
रा.रा.७३	रा.रा.म.१२	रा.रा.१११	रा.रा.१३५	रा.रा.१४९	रा.रा.१७३
रा.रा.७४	रा.रा.म.१३	रा.रा.११२	रा.रा.१३६	रा.रा.१५०	रा.रा.१७४
रा.रा.७५	रा.रा.म.१४	रा.रा.११३	रा.रा.१३७	रा.रा.१५१	रा.रा.१७५
रा.रा.७६	} रा.रा.म.१५	रा.रा.११४	रा.रा.१३८	रा.रा.१५२	रा.रा.१७६
रा.रा.७७		रा.रा.११५	रा.रा.१३९	अध्याय २ पाद ४	
रा.रा.७८	रा.रा.म.१७	रा.रा.११६	रा.रा.१४०	रा.रा.१	रा.रा.१
रा.रा.७९	रा.रा.म.१८	रा.रा.११७	रा.रा.१४१	रा.रा.२	रा.रा.२
रा.रा.८०	रा.रा.म.१९	रा.रा.११८	रा.रा.१४२	रा.रा.३	रा.रा.३
रा.रा.८१	रा.रा.म.२०	रा.रा.११९	रा.रा.१४३	रा.रा.४	रा.रा.४
रा.रा.८२	रा.रा.म.२१	रा.रा.१२०	रा.रा.१४४	रा.रा.५	रा.रा.५
रा.रा.८३	रा.रा.म.२२	रा.रा.१२१	रा.रा.१४५	रा.रा.६	रा.रा.६
रा.रा.८४	रा.रा.म.२३	रा.रा.१२२	रा.रा.१४६	रा.रा.७	रा.रा.७
रा.रा.८५	रा.रा.म.२४	रा.रा.१२३	रा.रा.१४७	रा.रा.८	रा.रा.८
रा.रा.८६	रा.रा.म.२५	रा.रा.१२४	रा.रा.१४८	रा.रा.९	रा.रा.९
रा.रा.८७	रा.रा.म.२६	रा.रा.१२५	रा.रा.१४९	रा.रा.१०	रा.रा.१०
रा.रा.८८	रा.रा.म.२७	रा.रा.१२६	रा.रा.१५०	रा.रा.११	रा.रा.११
रा.रा.८९	रा.रा.म.२८	रा.रा.१२७	रा.रा.१५१	रा.रा.१२	रा.रा.१२
रा.रा.९०	रा.रा.म.२९	रा.रा.१२८	रा.रा.१५२	रा.रा.१३	रा.रा.१३
रा.रा.९१	रा.रा.म.३०	रा.रा.१२९	रा.रा.१५३	रा.रा.१४	रा.रा.१४
रा.रा.९२	रा.रा.म.३१	रा.रा.१३०	रा.रा.१५४	रा.रा.१५	रा.रा.१५
रा.रा.९३	रा.रा.म.३२	रा.रा.१३१	रा.रा.१५५	रा.रा.१६	रा.रा.१६
रा.रा.९४	रा.रा.म.३३	रा.रा.१३२	रा.रा.१५६	रा.रा.१७	रा.रा.१७
रा.रा.९५	रा.रा.म.३४	रा.रा.१३३	रा.रा.१५७	रा.रा.१८	रा.रा.१८
रा.रा.९६	×	रा.रा.१३४	रा.रा.१५८	रा.रा.१९	रा.रा.१९
रा.रा.९७	रा.रा.म.३५	रा.रा.१३५	रा.रा.१५९	रा.रा.२०	रा.रा.२०
रा.रा.९८	रा.रा.म.३६	रा.रा.१३६	रा.रा.१६०	रा.रा.२१	रा.रा.२१
रा.रा.९९	रा.रा.म.३७	रा.रा.१३७	रा.रा.१६१	रा.रा.२२	रा.रा.२२
रा.रा.१००	रा.रा.म.३८	रा.रा.१३८	रा.रा.१६२	रा.रा.२३	रा.रा.२३
रा.रा.१०१	रा.रा.म.३९	रा.रा.१३९	रा.रा.१६३	रा.रा.२४	रा.रा.२४

[illegible]

[illegible]

३।४।९३	पू।१।६६	३।४।१३०	पू।२।५	३।४।१६७	पू।२।४५
३।४।९४	पू।१।१००	३।४।१३१	पू।२।६	३।४।१६८	पू।२।४६
३।४।९५	पू।१।१०१	३।४।१३२	पू।२।७	३।४।१६९	पू।२।४७
३।४।९६	पू।१।१०२	३।४।१३३	पू।२।८	अध्याय ४ पाद १	
३।४।९७	पू।१।१०३	३।४।१३४	पू।२।९, १३, १४	४।१।१	पू।२।४८
३।४।९८	पू।१।१०४	३।४।१३५	पू।२।१०	४।१।२	पू।२।४९
३।४।९९	पू।१।१०५	३।४।१३६	पू।२।११	४।१।३	पू।२।५०
३।४।१००	पू।१।१०७	३।४।१३७	पू।२।१२	४।१।४	पू।२।५१
३।४।१०१	पू।१।१०८	३।४।१३८	पू।२।१५	४।१।५	पू।२।५२
३।४।१०२	पू।१।१०९	३।४।१३९	पू।२।१६	४।१।६	पू।२।५४
३।४।१०३	पू।१।११०	३।४।१४०	पू।२।१७	४।१।७	पू।२।५५
३।४।१०४	पू।१।१११	३।४।१४१	पू।२।१८, १९, २०, २१, २२, २३	४।१।८	पू।२।५७
३।४।१०५	पू।१।११२	३।४।१४२	पू।२।१९	४।१।९	पू।२।५८
३।४।१०६	पू।१।११७	३।४।१४३	पू।२।२०	४।१।१०	पू।२।५९
३।४।१०७	पू।१।११८	३।४।१४४	पू।२।२१	४।१।११	पू।२।६०
३।४।१०८	पू।१।११९	३।४।१४५	पू।२।२२	४।१।१२	पू।२।६१
३।४।१०९		३।४।१४६	पू।२।२३	४।१।१३	×
३।४।११०	पू।१।१२०	३।४।१४७	पू।२।२४	४।१।१४	पू।२।६२
३।४।१११	पू।१।१२०	३।४।१४८	पू।२।२५	४।१।१५	पू।२।६३
३।४।११२	पू।१।१२२	३।४।१४९	पू।२।२६	४।१।१६	पू।२।६४
३।४।११३	पू।१।१२३	३।४।१५०	पू।२।२७	४।१।१७	४।१।६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३
३।४।११४	पू।१।१२४	३।४।१५१	पू।२।२८	४।१।१८	पू।२।६५
३।४।११५	पू।१।१२५	३।४।१५२	पू।२।२९	४।१।१९	पू।२।६६
३।४।११६	पू।१।१२६	३।४।१५३	पू।२।३०	४।१।२०	पू।२।६७
३।४।११७	पू।१।१२७	३।४।१५४	पू।२।३१	४।१।२१	पू।२।६८
३।४।११८	पू।१।१२८	३।४।१५५	पू।२।३२	४।१।२२	पू।२।६९
३।४।११९	पू।१।१२९	३।४।१५६	पू।२।३३	४।१।२३	पू।२।७०
३।४।१२०	पू।१।१३०	३।४।१५७	पू।२।३४	४।१।२४	पू।२।७१
३।४।१२१	पू।१।१३१	३।४।१५८	पू।२।३५	४।१।२५	पू।२।७२
३।४।१२२	पू।१।१३२	३।४।१५९	पू।२।३६	४।१।२६	पू।२।७३
३।४।१२३	पू।१।१३३	३।४।१६०	पू।२।३७	४।१।२७	पू।२।७४
३।४।१२४	पू।१।१३४	३।४।१६१	पू।२।३८	४।१।२८	पू।२।७५
३।४।१२५	पू।१।१३५	३।४।१६२	पू।२।३९	४।१।२९	पू।२।७६
३।४।१२६	पू।१।१३६	३।४।१६३	पू।२।४०	४।१।३०	पू।२।७७
३।४।१२७	पू।२।१	३।४।१६४	पू।२।४१	४।१।३१	पू।२।७८
३।४।१२८	पू।२।२	३।४।१६५	पू।२।४२	४।१।३२	पू।२।७९
३।४।१२९	पू।२।३	३।४।१६६	पू।२।४३	४।१।३३	पू।२।८०

४।१।३१	प्रा।१।१०४	४।१।६८	प्रा।३।२	४।१।१०७	प्रा।३।४४
४।१।३२	प्रा।१।१०५	४।१।६९	प्रा।३।३	४।१।१०८	प्रा।३।४५
४।१।३३	प्रा।१।१०७	४।१।७०	प्रा।३।४	४।१।१०९	प्रा।३।४६
४।१।३४	प्रा।१।१०८	४।१।७१ } ४।१।७२ }	प्रा।३।५	४।१।११०	प्रा।३।४७
४।१।३५	प्रा।१।१०९	४।१।७३	प्रा।३।७	४।१।१११	प्रा।३।५०
४।१।३६	प्रा।१।११०	४।१।७४	प्रा।३।८	४।१।११२	प्रा।३।५१
४।१।३७	प्रा।१।१११	४।१।७५	प्रा।३।९	४।१।११३	प्रा।३।५२
४।१।३८	प्रा।१।११२	४।१।७६	प्रा।३।१०	४।१।११४	प्रा।३।५५
४।१।३९	प्रा।१।११३	४।१।७७	प्रा।३।११	४।१।११५	प्रा।३।५६
४।१।४०	प्रा।१।११४	४।१।७८	प्रा।३।१२	४।१।११६	प्रा।३।५७
४।१।४१	प्रा।१।११५	४।१।७९	प्रा।३।१४	४।१।११७	×
४।१।४२	प्रा।१।११६	४।१।८०	प्रा।३।१५	४।१।११८	प्रा।३।५८
४।१।४३	प्रा।१।११७	४।१।८१	प्रा।३।१६	४।१।११९	प्रा।३।६०
४।१।४४	प्रा।१।११८	४।१।८२	प्रा।३।१६	४।१।१२०	प्रा।३।६१
४।१।४५	प्रा।१।११९	४।१।८३	प्रा।३।१७	४।१।१२१	प्रा।३।६२
४।१।४६	प्रा।१।१२०	४।१।८४	प्रा।३।१८	४।१।१२२	प्रा।३।६३
४।१।४७	प्रा।१।१२१	४।१।८५	प्रा।३।१९	४।१।१२३	प्रा।३।६४
४।१।४८	प्रा।१।१२४	४।१।८६ } ४।१।८७ }	प्रा।३।२२	४।१।१२४	प्रा।३।६५
४।१।४९	प्रा।१।१२५	४।१।८८	प्रा।३।२३	४।१।१२५	प्रा।३।६६
४।१।५०	प्रा।१।१२७	४।१।८९	प्रा।३।२४, २५	४।१।१२६	प्रा।३।६७
४।१।५१	प्रा।१।१२८	४।१।९०	×	४।१।१२७	प्रा।३।६८
४।१।५२	प्रा।१।१२९	४।१।९१	प्रा।३।२७	४।१।१२८	प्रा।३।७०
४।१।५३	प्रा।१।१३०	४।१।९२ } ४।१।९३ }	प्रा।३।२८	४।१।१२९	प्रा।३।७१, ७२
४।१।५४	प्रा।१।१३१	४।१।९४	प्रा।३।२८	४।१।१३०	प्रा।३।७३, ७४
४।१।५५	प्रा।१।१३२	४।१।९५	प्रा।३।२९	४।१।१३१	प्रा।३।७६
४।१।५६	प्रा।१।१३५	४।१।९६	प्रा।३।३०	४।१।१३२	प्रा।३।७७
४।१।५७	प्रा।१।१३७	४।१।९७	प्रा।३।३१, ३२	४।१।१३३	प्रा।३।७८
४।१।५८	प्रा।१।१३९	४।१।९८	प्रा।३।३४	४।१।१३४	प्रा।३।७९
४।१।५९ } ४।१।६० }	प्रा।१।१४०,	४।१।९९	प्रा।३।३५	४।१।१३५	प्रा।३।८०
४।१।६१ }	२२३	४।१।१००	प्रा।३।३६	४।१।१३६	प्रा।३।८१
४।१।६२	प्रा।१।१४०,	४।१।१०१	प्रा।३।३७	४।१।१३७	प्रा।३।८२
४।१।६३	प्रा।१।१४१	४।१।१०२	प्रा।३।३८	४।१।१३८	प्रा।३।८३
४।१।६४	प्रा।१।६०	४।१।१०३	प्रा।३।३९	४।१।१३९	प्रा।३।८४
४।१।६५	प्रा।१।६१	४।१।१०४	प्रा।३।४०	४।१।१४०	प्रा।३।८५
४।१।६६	प्रा।१।६२	४।१।१०५	प्रा।३।४१	४।१।१४१	प्रा।३।८६
४।१।६७	प्रा।१।६५	४।१।१०६	प्रा।३।४२	४।१।१४२	प्रा।३।८७

જા૧૧૪૫	પ્રા૩૧૦	જા૨૧૮	પ્રા૪૧૬	જા૨૧૫૬	પ્રા૪૧૫૧
જા૧૧૪૬	પ્રા૩૧૧	જા૨૧૯	પ્રા૪૧૦	જા૨૧૫૭	પ્રા૪૧૫૨
જા૧૧૪૭	પ્રા૩૧૨	જા૨૨૦	પ્રા૪૧૧	જા૨૧૫૮	પ્રા૪૧૫૩
જા૧૧૪૮	પ્રા૩૧૩	જા૨૨૧	પ્રા૪૧૫	જા૨૧૫૯	પ્રા૪૧૫૪
જા૧૧૪૯	પ્રા૩૧૪	જા૨૨૨	પ્રા૪૧૪	જા૨૧૬૦	પ્રા૪૧૫૫
જા૧૧૫૦	પ્રા૩૧૬	જા૨૨૩	પ્રા૪૧૬	જા૨૧૬૧	પ્રા૪૧૫૭
જા૧૧૫૧	પ્રા૩૧૭	જા૨૨૪	પ્રા૪૧૭	જા૨૧૬૨	પ્રા૪૧૫૮
જા૧૧૫૨	પ્રા૩૧૮	જા૨૨૫	પ્રા૪૧૮	જા૨૧૬૩	પ્રા૪૧૫૯
જા૧૧૫૩	પ્રા૩૧૯	જા૨૨૬	પ્રા૪૧૯	જા૨૧૬૪	પ્રા૪૧૬૦, ૬૧, ૬૨, ૬૩, ૬૪, ૬૬, ૬૭,
જા૧૧૫૪	પ્રા૩૧૦૦	જા૨૨૭	પ્રા૪૨૦		
જા૧૧૫૫	પ્રા૩૧૦૧	જા૨૨૮	પ્રા૪૨૧		
જા૧૧૫૬	પ્રા૩૧૦૨	જા૨૨૯	પ્રા૪૨૨	જા૨૧૬૫	પ્રા૪૧૬૮
જા૧૧૫૭	પ્રા૩૧૦૩	જા૨૩૦	પ્રા૪૨૩	જા૨૧૬૬	પ્રા૪૧૬૯, ૭૦
જા૧૧૫૮	પ્રા૩૧૦૪	જા૨૩૧	પ્રા૪૨૪	જા૨૧૬૭	પ્રા૪૧૭૧
જા૧૧૫૯	પ્રા૩૧૦૫	જા૨૩૨	પ્રા૪૨૫	જા૨૧૬૮	પ્રા૪૧૭૨
જા૧૧૬૦	પ્રા૩૧૦૬	જા૨૩૩	પ્રા૪૨૬	જા૨૧૬૯	પ્રા૪૧૭૩
જા૧૧૬૧	પ્રા૩૧૦૭	જા૨૩૪	પ્રા૪૨૭	જા૨૧૭૦	પ્રા૪૧૭૪
જા૧૧૬૨	પ્રા૩૧૦૮	જા૨૩૫	પ્રા૪૨૮, ૨૯	જા૨૧૭૧	પ્રા૪૧૭૫
જા૧૧૬૩	પ્રા૩૧૦૯	જા૨૩૬	પ્રા૪૨૦	જા૨૧૭૨	પ્રા૪૧૭૬
જા૧૧૬૪	પ્રા૩૧૧૦	જા૨૩૭	પ્રા૪૨૧	જા૨૧૭૩	પ્રા૪૧૭૭
અધ્યાય ૪ પાદ ૨		જા૨૩૮	પ્રા૪૨૨	જા૨૧૭૪	
જા૨૧	પ્રા૩૧૧૨	જા૨૩૯	પ્રા૪૨૩	જા૨૧૭૫	
જા૨૨	પ્રા૩૧૧૩	જા૨૪૦	પ્રા૪૨૪	જા૨૧૭૬	
જા૨૩	પ્રા૩૧૧૪	જા૨૪૧	પ્રા૪૨૫	જા૨૧૭૭	
જા૨૪	પ્રા૩૧૧૫	જા૨૪૨	પ્રા૪૨૬	જા૨૧૭૮	પ્રા૪૧૭૮
જા૨૫	પ્રા૩૧૧૬	જા૨૪૩	પ્રા૪૨૭	જા૨૧૮૦	
જા૨૬	પ્રા૩૧૧૭	જા૨૪૪	પ્રા૪૨૮	જા૨૧૮૧	
જા૨૭ } જા૨૮ }	પ્રા૩૧૧૮	જા૨૪૫	પ્રા૪૨૯	જા૨૧૮૨ } જા૨૧૮૩ }	
જા૨૯	પ્રા૩૧૧૯	જા૨૪૬	પ્રા૪૩૦	જા૨૧૮૪	
જા૨૧૦	પ્રા૪૧, ૨	જા૨૪૭	પ્રા૪૩૨	જા૨૧૮૫	પ્રા૪૧૮૧
જા૨૧૧	પ્રા૪૩	જા૨૪૮	પ્રા૪૩૩	જા૨૧૮૬	પ્રા૪૧૮૨
જા૨૧૨	પ્રા૪૪	જા૨૪૯	પ્રા૪૩૪	જા૨૧૮૭	જા૨૧૮૩, ૮૪
જા૨૧૩	પ્રા૪૫	જા૨૫૦	પ્રા૪૩૫	જા૨૧૮૭	પ્રા૪૧૮૫
જા૨૧૪	પ્રા૪૬	જા૨૫૧	પ્રા૪૩૬	જા૨૧૮૮	પ્રા૪૧૮૬
જા૨૧૫ } જા૨૧૬ }	પ્રા૪૭	જા૨૫૨	પ્રા૪૩૭	જા૨૧૮૯	પ્રા૪૧૮૭
જા૨૧૭	પ્રા૪૮	જા૨૫૩	પ્રા૪૩૮	જા૨૧૯૦	પ્રા૪૧૮૮
		જા૨૫૪	પ્રા૪૩૯	જા૨૧૯૧	પ્રા૪૧૮૯
		જા૨૫૫	પ્રા૪૪૦	જા૨૧૯૨	પ્રા૪૧૯૦

४।२।६३	पू।४।६१	४।२।१३०	पू।४।१२६	४।३।८	दा।१।९
४।२।६४	पू।४।६२	४।२।१३१	पू।४।१३०	४।३।६	दा।१।१३
४।२।६५	पू।४।६३	४।२।१३२	पू।४।१३१	४।३।१०	दा।१।१४
४।२।६६	पू।४।६४	४।२।१३३	पू।४।१३२	४।३।११	दा।१।१५
४।२।६७	पू।४।६५	४।२।१३४	पू।४।१३३	४।३।१२	दा।१।१६
४।२।६८	पू।४।६६	४।२।१३५	पू।४।१३४	४।३।१३	दा।१।१७
४।२।६९	पू।४।६७	पू।२।१३६	पू।४।१३५	४।३।१४	दा।१।१८
४।२।७०		४।२।१३७	पू।४।१३६	४।३।१५	दा।१।१९
४।२।७१	पू।४।६८	४।२।१३८	पू।४।१३७	४।३।१६	दा।१।२०
४।२।७२	पू।४।६९	४।२।१३९	पू।४।१३८	४।३।१७	दा।१।२१
४।२।७३	पू।४।७०	४।२।१४०	पू।४।१४०	४।३।१८	दा।१।२२
४।२।७४	पू।४।७१	४।२।१४१	पू।४।१४१	४।३।१९	दा।१।२३
४।२।७५	पू।४।७२	४।२।१४२	पू।४।१४२	४।३।२०	दा।१।२४
४।२।७६	पू।४।७३	४।२।१४३	पू।४।१४३	४।३।२१	दा।१।२५
४।२।७७	पू।४।७४	४।२।१४४	पू।४।१४४	४।३।२२	दा।१।२६
४।२।७८	पू।४।७५	४।२।१४५	पू।४।१४५	४।३।२३	दा।१।२७
४।२।७९	पू।४।७६	४।२।१४६	पू।४।१४६	४।३।२४	
४।२।८०	पू।४।७७	४।२।१४७	पू।४।१४७	४।३।२५	
४।२।८१	पू।४।७८	४।२।१४८	पू।४।१४८	४।३।२६	दा।१।२८
४।२।८२	पू।४।८०, १११, ११२	४।२।१४९	पू।४।१४९	४।३।२७	दा।१।२९
४।२।८३	पू।४।८१	४।२।१५०	पू।४।१५०	४।३।२८	दा।१।३०
४।२।८४	पू।४।८२	४।२।१५१	पू।४।१५१	४।३।२९	दा।१।३१
४।२।८५	पू।४।८३	४।२।१५२	पू।४।१५२	४।३।३०	दा।१।३२
४।२।८६	पू।४।८४	४।२।१५३	पू।४।१५३	४।३।३१	दा।१।३३
४।२।८७	पू।४।८५	४।२।१५४	पू।४।१५४	४।३।३२	दा।१।३४
४।२।८८	पू।४।८६	४।२।१५५	पू।४।१५५	४।३।३३	दा।१।३५
४।२।८९	पू।४।८७	४।२।१५६	पू।४।१५६	४।३।३४	दा।१।३६
४।२।९०	पू।४।८८	४।२।१५७	पू।४।१५७	४।३।३५	दा।१।३७
४।२।९१		४।२।१५८	पू।४।१५८	४।३।३६	दा।१।३८
४।२।९२		४।२।१५९	पू।४।१५९	४।३।३७	दा।१।३९
४।२।९३	पू।४।९०	अध्याय ४ पाद ३		४।३।३८	दा।१।४०
४।२।९४	पू।४।९१	४।३।१	दा।१।१	४।३।३९	दा।१।४१
४।२।९५	पू।४।९२	४।३।२	दा।१।२	४।३।४०	दा।१।४२
४।२।९६	पू।४।९३	४।३।३	दा।१।३	४।३।४१	दा।१।४३
४।२।९७	पू।४।९४	४।३।४	दा।१।४	४।३।४२	दा।१।४४
४।२।९८	पू।४।९५	४।३।५	दा।१।५	४।३।४३	दा।१।४५
४।२।९९	पू।४।९६	४।३।६	दा।१।६	४।३।४४	दा।१।४६
४।२।१००	पू।४।९७	४।३।७	दा।१।७	४।३।४५	दा।१।४७

જા રા ૪૬	દા રા ૫૪	જા રા ૮૪	દા રા ૯૩	જા રા ૧૧૭	૧૫૬, ૧૫૭
જા રા ૪૭	દા રા ૫૫	જા રા ૮૫	દા રા ૯૮	જા રા ૧૧૭	×
જા રા ૪૮	દા રા ૫૬	જા રા ૮૬	દા રા ૯૯	જા રા ૧૧૮	રા રા ૩૨
જા રા ૪૯	દા રા ૫૭	જા રા ૮૭	દા રા ૧૦૦	જા રા ૧૧૯	રા રા ૩૪
જા રા ૫૦	દા રા ૫૮	જા રા ૮૮	દા રા ૧૦૧	જા રા ૧૨૦	દા રા ૧
જા રા ૫૧	દા રા ૫૯	જા રા ૮૯	દા રા ૧૦૨	જા રા ૧૨૧	દા રા ૨
જા રા ૫૨	દા રા ૬૦	જા રા ૯૦		જા રા ૧૨૨	દા રા ૩
જા રા ૫૩	દા રા ૬૧	જા રા ૯૧	દા રા ૧૦૩	જા રા ૧૨૩	દા રા ૪
જા રા ૫૪	દા રા ૬૨	જા રા ૯૨	દા રા ૧૦૪	જા રા ૧૨૪	દા રા ૫
જા રા ૫૫	દા રા ૬૩	જા રા ૯૩	દા રા ૧૦૫	જા રા ૧૨૫	દા રા ૬
જા રા ૫૬	દા રા ૬૪	જા રા ૯૪	દા રા ૧૦૬	જા રા ૧૨૬	દા રા ૭, ૮
જા રા ૫૭	દા રા ૬૫	જા રા ૯૫	દા રા ૧૦૭	જા રા ૧૨૭	દા રા ૮
જા રા ૫૮		જા રા ૯૬	દા રા ૧૦૮	જા રા ૧૨૮	દા રા ૧૦
જા રા ૫૯	દા રા ૬૬	જા રા ૯૭	દા રા ૧૦૯	જા રા ૧૨૯	
જા રા ૬૦	દા રા ૬૭	જા રા ૯૮	દા રા ૧૧૦	જા રા ૧૩૦	દા રા ૧૧
જા રા ૬૧	દા રા ૬૮	જા રા ૯૯	દા રા ૧૧૧	જા રા ૧૩૧	દા રા ૧૨
જા રા ૬૨	દા રા ૬૯	જા રા ૧૦૦	દા રા ૧૧૨	જા રા ૧૩૨	દા રા ૧૩
જા રા ૬૩	દા રા ૭૦	જા રા ૧૦૧	દા રા ૧૧૩, ૧૧૪	જા રા ૧૩૩	દા રા ૧૪
જા રા ૬૪	દા રા ૭૧	જા રા ૧૦૨	દા રા ૧૧૪	જા રા ૧૩૪	દા રા ૧૫
જા રા ૬૫	દા રા ૭૨	જા રા ૧૦૩	દા રા ૧૧૫	જા રા ૧૩૫	દા રા ૧૬
જા રા ૬૬	દા રા ૭૩	જા રા ૧૦૪	દા રા ૧૧૬	જા રા ૧૩૬	દા રા ૧૭
જા રા ૬૭	દા રા ૭૪	જા રા ૧૦૫	દા રા ૧૧૭	જા રા ૧૩૭	દા રા ૧૮
જા રા ૬૮	દા રા ૭૫	જા રા ૧૦૬	દા રા ૧૧૮	જા રા ૧૩૮	દા રા ૧૯
જા રા ૬૯		જા રા ૧૦૭	દા રા ૧૧૯	જા રા ૧૩૯	દા રા ૨૦
જા રા ૭૦	દા રા ૭૬	જા રા ૧૦૮	દા રા ૧૨૦	જા રા ૧૪૦	દા રા ૨૧
જા રા ૭૧	દા રા ૭૭	જા રા ૧૦૯	દા રા ૧૨૧	જા રા ૧૪૧	દા રા ૨૨
જા રા ૭૨	દા રા ૭૮	જા રા ૧૧૦	દા રા ૧૨૨	જા રા ૧૪૨	દા રા ૨૩
જા રા ૭૩	દા રા ૭૯	જા રા ૧૧૧	દા રા ૧૨૩	જા રા ૧૪૩	દા રા ૨૪
જા રા ૭૪	દા રા ૮૦	જા રા ૧૧૨	દા રા ૧૨૪	જા રા ૧૪૪	દા રા ૨૫
જા રા ૭૫	દા રા ૮૧	જા રા ૧૧૩	દા રા ૧૨૫	જા રા ૧૪૫	દા રા ૨૬
જા રા ૭૬	દા રા ૮૨	જા રા ૧૧૪	દા રા ૧૨૬	જા રા ૧૪૬	દા રા ૨૭
જા રા ૭૭	દા રા ૮૩	જા રા ૧૧૫	દા રા ૧૨૭	જા રા ૧૪૭	દા રા ૨૮
જા રા ૭૮	દા રા ૮૪	જા રા ૧૧૬	દા રા ૧૨૮, ૧૪૪, ૧૪૫,	જા રા ૧૪૮	દા રા ૨૯
જા રા ૭૯	દા રા ૮૫	જા રા ૧૧૭	૧૪૬, ૧૪૭,	જા રા ૧૪૯	દા રા ૩૦
જા રા ૮૦	દા રા ૮૬	જા રા ૧૧૮	૧૪૮, ૧૪૯,	જા રા ૧૫૦	દા રા ૩૧
જા રા ૮૧	દા રા ૮૭	જા રા ૧૧૯	૧૫૦, ૧૫૧,	જા રા ૧૫૧	દા રા ૩૨
જા રા ૮૨	દા રા ૮૮	જા રા ૧૨૦	૧૫૨, ૧૫૩,	જા રા ૧૫૨	દા રા ૩૩
જા રા ૮૩	દા રા ૮૯	જા રા ૧૨૧		જા રા ૧૫૩	દા રા ૩૪

[illegible]

~~४।३।१८~~	४।३।२०		४।३।२२	४।३।२४		४।३।२६	४।३।२८, २९
४।३।१८	४।३।२१		४।३।२३	४।३।२५		४।३।२७	४।३।३०
४।३।१९	४।३।२२		४।३।२४	४।३।२६		४।३।२८	४।३।३१
४।३।२०	४।३।२३		४।३।२५	४।३।२७		४।३।२९	४।३।३२

୪୮୩୩୨	୬୮୩୩୩	୪୮୩୩୦	୬୮୩୩୧	୪୮୩୩୦୩	୬୮୩୩୧୩
୪୮୩୩୩ } ୪୮୩୩୪ }	୬୮୩୩୪	୪୮୩୩୧	୬୮୩୩୨	୪୮୩୩୦୮	୬୮୩୩୧୮
୪୮୩୩୫	୬୮୩୩୫	୪୮୩୩୨	୬୮୩୩୩	୪୮୩୩୦୯	୬୮୩୩୧୯
୪୮୩୩୬	୬୮୩୩୬	୪୮୩୩୩	୬୮୩୩୪	୪୮୩୩୧୦	୬୮୩୩୨୦
୪୮୩୩୭	୬୮୩୩୭	୪୮୩୩୪	୬୮୩୩୫	୪୮୩୩୧୧	୬୮୩୩୨୧
୪୮୩୩୮ } ୪୮୩୩୯ }	୬୮୩୩୮	୪୮୩୩୫	୬୮୩୩୬	୪୮୩୩୧୨ } ୪୮୩୩୧୩ }	୬୮୩୩୨୨
୪୮୩୪୦	୬୮୩୩୯	୪୮୩୩୬	୬୮୩୩୭	୪୮୩୩୧୪	୬୮୩୩୨୩
୪୮୩୪୧	୬୮୩୪୦	୪୮୩୩୭	୬୮୩୩୮	୪୮୩୩୧୫	୬୮୩୩୨୪
୪୮୩୪୨	୬୮୩୪୧	୪୮୩୩୮	୬୮୩୩୯	୪୮୩୩୧୬	୬୮୩୩୨୫
୪୮୩୪୩ } ୪୮୩୪୪ }	୬୮୩୪୨	୪୮୩୩୯	୬୮୩୪୦	୪୮୩୩୧୮	୬୮୩୩୨୬
୪୮୩୪୫	୬୮୩୪୩	୪୮୩୪୦	୬୮୩୪୧	୪୮୩୩୧୯	୬୮୩୩୨୭
୪୮୩୪୬	୬୮୩୪୪	୪୮୩୪୧	୬୮୩୪୨	୪୮୩୩୨୦	୬୮୩୩୨୮
୪୮୩୪୭	୬୮୩୪୫	୪୮୩୪୨	୬୮୩୪୩	୪୮୩୩୨୧	୬୮୩୩୨୯
୪୮୩୪୮	୬୮୩୪୬	୪୮୩୪୩	୬୮୩୪୪	୪୮୩୩୨୨	୬୮୩୩୩୦
୪୮୩୪୯	୬୮୩୪୭	୪୮୩୪୪	୬୮୩୪୫	୪୮୩୩୨୩	୬୮୩୩୩୧
୪୮୩୫୦	୬୮୩୪୮	୪୮୩୪୫	୬୮୩୪୬	୪୮୩୩୨୪	୬୮୩୩୩୨
୪୮୩୫୧	୬୮୩୪୯	୪୮୩୪୬	୬୮୩୪୭	୪୮୩୩୨୫	୬୮୩୩୩୩
୪୮୩୫୨	୬୮୩୫୦	୪୮୩୪୭	୬୮୩୪୮	୪୮୩୩୨୬	୬୮୩୩୩୪
୪୮୩୫୩	୬୮୩୫୧	୪୮୩୪୮	୬୮୩୪୯	୪୮୩୩୨୭	୬୮୩୩୩୫
୪୮୩୫୪	୬୮୩୫୨	୪୮୩୪୯	୬୮୩୫୦	୪୮୩୩୨୮	୬୮୩୩୩୬
୪୮୩୫୫	୬୮୩୫୩	୪୮୩୫୦	୬୮୩୫୧	୪୮୩୩୨୯	୬୮୩୩୩୭
୪୮୩୫୬	୬୮୩୫୪	୪୮୩୫୧	୬୮୩୫୨	୪୮୩୩୩୦	୬୮୩୩୩୮
୪୮୩୫୭	୬୮୩୫୫	୪୮୩୫୨	୬୮୩୫୩	୪୮୩୩୩୧	୬୮୩୩୩୯
୪୮୩୫୮	୬୮୩୫୬	୪୮୩୫୩	୬୮୩୫୪	୪୮୩୩୩୨	୬୮୩୩୪୦
୪୮୩୫୯	୬୮୩୫୭	୪୮୩୫୪	୬୮୩୫୫	୪୮୩୩୩୩	୬୮୩୩୪୧
୪୮୩୬୦	୬୮୩୫୮	୪୮୩୫୫	୬୮୩୫୬	୪୮୩୩୩୪	୬୮୩୩୪୨
୪୮୩୬୧	୬୮୩୫୯	୪୮୩୫୬	୬୮୩୫୭	୪୮୩୩୩୫	୬୮୩୩୪୩
୪୮୩୬୨	୬୮୩୬୦	୪୮୩୫୭	୬୮୩୫୮	୪୮୩୩୩୬	୬୮୩୩୪୪
୪୮୩୬୩	୬୮୩୬୧	୪୮୩୫୮	୬୮୩୫୯	୪୮୩୩୩୭	୬୮୩୩୪୫
୪୮୩୬୪	୬୮୩୬୨	୪୮୩୫୯	୬୮୩୬୦	୪୮୩୩୩୮	୬୮୩୩୪୬
୪୮୩୬୫	୬୮୩୬୩	୪୮୩୬୦	୬୮୩୬୧	୪୮୩୩୩୯	୬୮୩୩୪୭
୪୮୩୬୬	୬୮୩୬୪	୪୮୩୬୧	୬୮୩୬୨	୪୮୩୩୪୦	୬୮୩୩୪୮
୪୮୩୬୭	୬୮୩୬୫	୪୮୩୬୨	୬୮୩୬୩	୪୮୩୩୪୧	୬୮୩୩୪୯
୪୮୩୬୮	୬୮୩୬୬	୪୮୩୬୩	୬୮୩୬୪	୪୮୩୩୪୨	୬୮୩୩୫୦
୪୮୩୬୯	୬୮୩୬୭	୪୮୩୬୪	୬୮୩୬୫	୪୮୩୩୪୩	୬୮୩୩୫୧
୪୮୩୭୦	୬୮୩୬୮	୪୮୩୬୫	୬୮୩୬୬	୪୮୩୩୪୪	୬୮୩୩୫୨
୪୮୩୭୧	୬୮୩୬୯	୪୮୩୬୬	୬୮୩୬୭	୪୮୩୩୪୫	୬୮୩୩୫୩
୪୮୩୭୨	୬୮୩୭୦	୪୮୩୬୭	୬୮୩୬୮	୪୮୩୩୪୬	୬୮୩୩୫୪
୪୮୩୭୩	୬୮୩୭୧	୪୮୩୬୮	୬୮୩୬୯	୪୮୩୩୪୭	୬୮୩୩୫୫
୪୮୩୭୪	୬୮୩୭୨	୪୮୩୬୯	୬୮୩୭୦	୪୮୩୩୪୮	୬୮୩୩୫୬
୪୮୩୭୫	୬୮୩୭୩	୪୮୩୭୦	୬୮୩୭୧	୪୮୩୩୪୯	୬୮୩୩୫୭
୪୮୩୭୬	୬୮୩୭୪	୪୮୩୭୧	୬୮୩୭୨	୪୮୩୩୫୦	୬୮୩୩୫୮
୪୮୩୭୭	୬୮୩୭୫	୪୮୩୭୨	୬୮୩୭୩	୪୮୩୩୫୧	୬୮୩୩୫୯
୪୮୩୭୮	୬୮୩୭୬	୪୮୩୭୩	୬୮୩୭୪	୪୮୩୩୫୨	୬୮୩୩୬୦
୪୮୩୭୯	୬୮୩୭୭	୪୮୩୭୪	୬୮୩୭୫	୪୮୩୩୫୩	୬୮୩୩୬୧
୪୮୩୮୦	୬୮୩୭୮	୪୮୩୭୫	୬୮୩୭୬	୪୮୩୩୫୪	୬୮୩୩୬୨
୪୮୩୮୧	୬୮୩୭୯	୪୮୩୭୬	୬୮୩୭୭	୪୮୩୩୫୫	୬୮୩୩୬୩
୪୮୩୮୨	୬୮୩୮୦	୪୮୩୭୭	୬୮୩୭୮	୪୮୩୩୫୬	୬୮୩୩୬୪
୪୮୩୮୩	୬୮୩୮୧	୪୮୩୭୮	୬୮୩୭୯	୪୮୩୩୫୭	୬୮୩୩୬୫
୪୮୩୮୪	୬୮୩୮୨	୪୮୩୭୯	୬୮୩୮୦	୪୮୩୩୫୮	୬୮୩୩୬୬
୪୮୩୮୫	୬୮୩୮୩	୪୮୩୮୦	୬୮୩୮୧	୪୮୩୩୫୯	୬୮୩୩୬୭
୪୮୩୮୬	୬୮୩୮୪	୪୮୩୮୧	୬୮୩୮୨	୪୮୩୩୬୦	୬୮୩୩୬୮
୪୮୩୮୭	୬୮୩୮୫	୪୮୩୮୨	୬୮୩୮୩	୪୮୩୩୬୧	୬୮୩୩୬୯
୪୮୩୮୮	୬୮୩୮୬	୪୮୩୮୩	୬୮୩୮୪	୪୮୩୩୬୨	୬୮୩୩୭୦
୪୮୩୮୯	୬୮୩୮୭	୪୮୩୮୪	୬୮୩୮୫	୪୮୩୩୬୩	୬୮୩୩୭୧
୪୮୩୯୦	୬୮୩୮୮	୪୮୩୮୫	୬୮୩୮୬	୪୮୩୩୬୪	୬୮୩୩୭୨
୪୮୩୯୧	୬୮୩୮୯	୪୮୩୮୬	୬୮୩୮୭	୪୮୩୩୬୫	୬୮୩୩୭୩
୪୮୩୯୨	୬୮୩୯୦	୪୮୩୮୭	୬୮୩୮୮	୪୮୩୩୬୬	୬୮୩୩୭୪
୪୮୩୯୩	୬୮୩୯୧	୪୮୩୮୮	୬୮୩୮୯	୪୮୩୩୬୭	୬୮୩୩୭୫
୪୮୩୯୪	୬୮୩୯୨	୪୮୩୮୯	୬୮୩୯୦	୪୮୩୩୬୮	୬୮୩୩୭୬
୪୮୩୯୫	୬୮୩୯୩	୪୮୩୯୦	୬୮୩୯୧	୪୮୩୩୬୯	୬୮୩୩୭୭
୪୮୩୯୬	୬୮୩୯୪	୪୮୩୯୧	୬୮୩୯୨	୪୮୩୩୭୦	୬୮୩୩୭୮
୪୮୩୯୭	୬୮୩୯୫	୪୮୩୯୨	୬୮୩୯୩	୪୮୩୩୭୧	୬୮୩୩୭୯
୪୮୩୯୮	୬୮୩୯୬	୪୮୩୯୩	୬୮୩୯୪	୪୮୩୩୭୨	୬୮୩୩୮୦
୪୮୩୯୯	୬୮୩୯୭	୪୮୩୯୪	୬୮୩୯୫	୪୮୩୩୭୩	୬୮୩୩୮୧
୪୮୪୦୦	୬୮୩୯୮	୪୮୩୯୫	୬୮୪୦୦	୪୮୩୩୭୪	୬୮୩୩୮୨
୪୮୪୦୧	୬୮୩୯୯	୪୮୩୯୬	୬୮୪୦୧	୪୮୩୩୭୫	୬୮୩୩୮୩
୪୮୪୦୨	୬୮୪୦୦	୪୮୩୯୭	୬୮୪୦୨	୪୮୩୩୭୬	୬୮୩୩୮୪
୪୮୪୦୩	୬୮୪୦୧	୪୮୩୯୮	୬୮୪୦୩	୪୮୩୩୭୭	୬୮୩୩୮୫
୪୮୪୦୪	୬୮୪୦୨	୪୮୩୯୯	୬୮୪୦୪	୪୮୩୩୭୮	୬୮୩୩୮୬
୪୮୪୦୫	୬୮୪୦୩	୪୮୪୦୦	୬୮୪୦୫	୪୮୩୩୭୯	୬୮୩୩୮୭
୪୮୪୦୬	୬୮୪୦୪	୪୮୪୦୧	୬୮୪୦୬	୪୮୩୩୮୦	୬୮୩୩୮୮
୪୮୪୦୭	୬୮୪୦୫	୪୮୪୦୨	୬୮୪୦୭	୪୮୩୩୮୧	୬୮୩୩୮୯
୪୮୪୦୮	୬୮୪୦୬	୪୮୪୦୩	୬୮୪୦୮	୪୮୩୩୮୨	୬୮୩୩୯୦
୪୮୪୦୯	୬୮୪୦୭	୪୮୪୦୪	୬୮୪୦୯	୪୮୩୩୮୩	୬୮୩୩୯୧
୪୮୪୧୦	୬୮୪୦୮	୪୮୪୦୫	୬୮୪୧୦	୪୮୩୩୮୪	୬୮୩୩୯୨
୪୮୪୧୧	୬୮୪୦୯	୪୮୪୦୬	୬୮୪୧୧	୪୮୩୩୮୫	୬୮୩୩୯୩
୪୮୪୧୨	୬୮୪୧୦	୪୮୪୦୭	୬୮୪୧୨	୪୮୩୩୮୬	୬୮୩୩୯୪
୪୮୪୧୩	୬୮୪୧୧	୪୮୪୦୮	୬୮୪୧୩	୪୮୩୩୮୭	୬୮୩୩୯୫
୪୮୪୧୪	୬୮୪୧୨	୪୮୪୦୯	୬୮୪୧୪	୪୮୩୩୮୮	୬୮୩୩୯୬
୪୮୪୧୫	୬୮୪୧୩	୪୮୪୧୦	୬୮୪୧୫	୪୮୩୩୮୯	୬୮୩୩୯୭
୪୮୪୧୬	୬୮୪୧୪	୪୮୪୧୧	୬୮୪୧୬	୪୮୩୩୯୦	୬୮୩୩୯୮
୪୮୪୧୭	୬୮୪୧୫	୪୮୪୧୨	୬୮୪୧୭	୪୮୩୩୯୧	୬୮୩୩୯୯
୪୮୪୧୮	୬୮୪୧୬	୪୮୪୧୩	୬୮୪୧୮	୪୮୩୩୯୨	୬୮୩୩୯୦
୪୮୪୧୯	୬୮୪୧୭	୪୮୪୧୪	୬୮୪୧୯	୪୮୩୩୯୩	୬୮୩୩୯୧
୪୮୪୨୦	୬୮୪୧୮	୪୮୪୧୫	୬୮୪୨୦	୪୮୩୩୯୪	୬୮୩୩୯୨
୪୮୪୨୧	୬୮୪୧୯	୪୮୪୧୬	୬୮୪୨୧	୪୮୩୩୯୫	୬୮୩୩୯୩
୪୮୪୨୨	୬୮୪୨୦	୪୮୪୧୭	୬୮୪୨୨	୪୮୩୩୯୬	୬୮୩୩୯୪
୪୮୪୨୩	୬୮୪୨୧	୪୮୪୧୮	୬୮୪୨୩	୪୮୩୩୯୭	୬୮୩୩୯୫
୪୮୪୨୪	୬୮୪୨୨	୪୮୪୧୯	୬୮୪୨୪	୪୮୩୩୯୮	୬୮୩୩୯୬
୪୮୪୨୫	୬୮୪୨୩	୪୮୪୨୦	୬୮୪୨୫	୪୮୩୩୯୯	୬୮୩୩୯୭
୪୮୪୨୬	୬୮୪୨୪	୪୮୪୨୧	୬୮୪୨୬	୪୮୩୩୯୦	୬୮୩୩୯୮
୪୮୪୨୭	୬୮୪୨୫	୪୮୪୨୨	୬୮୪୨୭	୪୮୩୩୯୧	୬୮୩୩୯୯
୪୮୪୨୮	୬୮୪୨୬	୪୮୪୨୩	୬୮୪୨୮	୪୮୩୩୯୨	୬୮୩୩୯୦
୪୮୪୨୯	୬୮୪୨୭	୪୮୪୨୪	୬୮୪୨୯	୪୮୩୩୯୩	୬୮୩୩୯୧
୪୮୪୩୦	୬୮୪୨୮	୪୮୪୨୫	୬୮୪୩୦	୪୮୩୩୯୪	୬୮୩୩୯୨
୪୮୪୩୧	୬୮୪୨୯	୪୮୪୨୬	୬୮୪୩୧	୪୮୩୩୯୫	୬୮୩୩୯୩
୪୮୪୩୨	୬୮୪୩୦	୪୮୪୨୭	୬୮୪୩୨	୪୮୩୩୯୬	୬୮୩୩୯୪
୪୮୪୩୩	୬୮୪୩୧	୪୮୪୨୮	୬୮୪୩୩	୪୮୩୩୯୭	୬୮୩୩୯୫
୪୮୪୩୪	୬୮୪୩୨	୪୮୪୨୯	୬୮୪୩୪	୪୮୩୩୯୮	୬୮୩୩୯୬
୪୮୪୩୫	୬୮୪୩୩	୪୮୪୩୦	୬୮୪୩୫	୪୮୩୩୯୯	୬୮୩୩୯୭
୪୮୪୩୬	୬୮୪୩୪	୪୮୪୩୧	୬୮୪୩୬	୪୮୩୩୯୦	୬୮୩୩୯୮
୪୮୪୩୭	୬୮୪୩୫	୪୮୪୩୨	୬୮୪୩୭	୪୮୩୩୯୧	୬୮୩୩୯୯
୪୮୪୩୮	୬୮୪୩୬	୪୮୪୩୩	୬୮୪୩୮	୪୮୩୩୯୨	୬୮୩୩୯୦
୪୮୪୩୯	୬୮୪୩୭	୪୮୪୩୪	୬୮୪୩୯	୪୮୩୩୯୩	୬୮୩୩୯୧
୪୮୪୪୦	୬୮୪୩୮	୪୮୪୩୫	୬୮୪୪୦	୪୮୩୩୯୪	୬୮୩୩୯୨
୪୮୪୪୧	୬୮୪୩୯	୪୮୪୩୬	୬୮୪୪୧	୪୮୩୩୯୫	୬୮୩୩୯୩
୪୮୪୪୨	୬୮୪୪୦	୪୮୪୩୭	୬୮୪୪୨	୪୮୩୩୯୬	୬୮୩୩୯୪
୪୮୪୪୩	୬୮୪୪୧	୪୮୪୩୮	୬୮୪୪୩	୪୮୩୩୯୭	୬୮୩୩୯୫
୪୮୪୪୪	୬୮୪୪୨	୪୮୪୩୯	୬୮୪୪୪	୪୮୩୩୯୮	୬୮୩୩୯୬
୪୮୪୪୫	୬୮୪୪୩	୪୮୪୪୦	୬୮୪୪୫	୪୮୩୩୯୯	୬୮୩୩୯୭
୪୮୪୪୬	୬୮୪୪୪	୪୮୪୪୧	୬୮୪୪୬	୪୮୩୩୯୦	୬୮୩୩୯୮
୪୮୪୪୭	୬୮୪୪୫	୪୮୪୪୨	୬୮୪୪୭	୪୮୩୩୯୧	୬୮୩୩୯୯
୪୮୪୪୮	୬୮୪୪୬	୪୮୪୪୩	୬୮୪୪୮	୪୮୩୩୯୨	୬୮୩୩୯୦
୪୮୪୪୯	୬୮୪୪୭	୪୮୪୪୪	୬୮୪୪୯	୪୮୩୩୯୩	୬୮୩୩୯୧
୪୮୪୫୦	୬୮୪୪୮	୪୮୪୪୫	୬୮୪୫୦	୪୮୩୩୯୪	୬୮୩୩୯୨
୪୮୪୫୧	୬୮୪୪୯	୪୮୪୪୬	୬୮୪୫୧	୪୮୩୩୯୫	୬୮୩୩୯୩
୪୮୪୫୨	୬୮୪୫୦	୪୮୪୪୭	୬୮୪୫୨	୪୮୩୩୯୬	୬୮୩୩୯୪
୪୮୪୫୩	୬୮୪୫୧	୪୮୪୪୮	୬୮୪୫୩	୪୮୩୩୯୭	୬୮୩୩୯୫
୪୮୪୫୪	୬୮୪୫୨	୪୮୪୪୯	୬୮୪୫୪	୪୮୩୩୯୮	୬୮୩୩୯୬
୪୮୪୫୫	୬୮୪୫୩	୪୮୪୫୦	୬୮୪୫୫	୪୮୩୩୯୯	୬୮୩୩୯୭
୪୮୪୫୬	୬୮୪୫୪	୪୮୪୫୧	୬୮୪୫୬	୪୮୩୩୯୦	୬୮୩୩୯୮
୪୮୪୫୭	୬୮୪୫୫	୪୮୪୫୨	୬୮୪୫୭	୪୮୩୩୯୧	୬୮୩୩୯୯
୪୮୪୫୮	୬୮୪୫୬	୪୮୪୫୩	୬୮୪୫୮	୪୮୩୩୯୨	୬୮୩୩୯୦
୪୮୪୫୯	୬୮୪୫୭	୪୮୪୫୪	୬୮୪୫୯	୪୮୩୩୯୩	୬୮୩୩୯୧
୪୮୪୬୦	୬୮୪୫୮	୪୮୪୫୫	୬୮୪୬୦	୪୮୩୩୯	

४।४।२४४	६।४।२५४	५।२।२४	७।२।२३	५।२।५२	७।२।३२
४।४।२४५	६।४।२५५	५।२।२५	७।२।२८	५।२।५३	७।२।३४
४।४।२४६	६।४।२५५ वा०	५।२।२६	७।२।२९	५।२।५४	७।२।३५
४।४।२४७	६।४।२५६	५।२।२७	७।२।३०	५।२।५५	७।२।३६
४।४।२४८	६।४।२५७	५।२।२८	७।२।३१	५।२।५६	७।२।३८
४।४।२४९		५।२।२९	७।२।३२	५।२।५७	७।२।३९
४।४।२५०	६।४।२५८	५।२।३०	७।२।३३	५।२।५८	७।२।४०
४।४।२५१	६।४।२५९	५।२।३१	७।२।३४	५।२।५९	७।२।४१
४।४।२५२	६।४।२६०	५।२।३२	७।२।३५	५।२।६०	७।२।४२
४।४।२५३	६।४।२६१	५।२।३३	७।२।३६	५।२।६१	७।२।४४
४।४।२५४	६।४।२६३	५।२।३४	७।२।३८	५।२।६२	७।२।४५
४।४।२५५	६।५।२६४	५।२।३५	७।२।३९	५।२।६३	७।२।४६
४।४।२५६	६।४।२७३	५।२।३६	७।२।४०	५।२।६४	७।२।४७
४।४।२५७	६।४।२६५,	५।२।३७	७।२।४१	५।२।६५	७।२।४८
	२६६	५।२।३८	७।२।४२	५।२।६६	७।२।४९
४।४।२५८	६।४।२६७	५।२।३९	७।२।४३	५।२।६७	७।२।५०
४।४।२५९	६।४।२६८	५।२।४०	७।२।४५	५।२।६८	७।२।५१
४।४।२६०	६।४।२६९	५।२।४१	७।२।४७	५।२।६९	७।२।५२
४।४।२६१	६।४।२७०	५।२।४२	७।२।५१	५।२।७०	७।२।५३
४।४।२६२	६।४।२७१	५।२।४३		५।२।७१	७।२।५४
४।४।२६३	६।४।२७२	५।२।४४	७।२।५२	५।२।७२	७।२।५८
४।४।२६४	६।४।२७४	५।२।४५	७।२।५३	५।२।७३	७।२।६९
४।४।२६५		५।२।४६	७।२।५४, ५५	५।२।७४	७।२।७०
४।४।२६६		५।२।४७	७।२।५८	५।२।७५	७।२।७१
अध्याय ५ पाद २		५।२।४८	७।२।५९	५।२।७६	७।२।७२
५।२।१	७।२।१	५।२।४९	७।२।६०	५।२।७७	७।२।७३
५।२।२	७।२।२	५।२।४०	७।२।६१	५।२।७८	७।२।७४, ७५
५।२।३	७।२।३	५।२।४१	७।२।६२	५।२।७९	
५।२।४	७।२।४	५।२।४२	७।२।६३	५।२।८०	७।२।७४
५।२।५	७।२।५	५।२।४३	७।२।६४	५।२।८१	७।२।७५
५।२।६	७।२।६	५।२।४४	७।२।६५	५।२।८२	७।२।७६
५।२।७	७।२।७	५।२।४५	७।२।६६	५।२।८३	७।२।७७
५।२।८	७।२।८	५।२।४६	७।२।६७	५।२।८४	७।२।७८
५।२।९	७।२।९	५।२।४७	७।२।६८	५।२।८५	७।२।७९
५।२।१०	७।२।१०	५।२।४८	७।२।६९	५।२।८६	७।२।८०
५।२।११	७।२।११	५।२।४९	७।२।७०	५।२।८७	७।२।८१
५।२।१२	७।२।१२	५।२।५०	७।२।७१	५।२।८८	७।२।८२
५।२।१३	७।२।१३	५।२।५१	७।२।७२	५।२।८९	७।२।८३

[illegible]

प्रा० ३२६	अ० ३२४	प्रा० ३३७	अ० ३३७	प्रा० ३०४	अ० ३०६
प्रा० ३३०	अ० ३२५	प्रा० ३३८	अ० ३३९, ६२	प्रा० ३०५	अ० ३१०
प्रा० ३३१			६४, ६८	प्रा० ३०६	अ० ३११
प्रा० ३३२	अ० ३२६, २७	प्रा० ३३९	अ० ३३९	प्रा० ३०७	अ० ३१२
प्रा० ३३३	अ० ३२८, २९	प्रा० ३४०	अ० ३४०	प्रा० ३०८	अ० ३१३
प्रा० ३३४	अ० ३३०	प्रा० ३४१	अ० ३४१	प्रा० ३०९	अ० ३१४
प्रा० ३३५	अ० ३३१	प्रा० ३४२	अ० ३४२	प्रा० ३१०	अ० ३१५
प्रा० ३३६	अ० ३३२	प्रा० ३४३	अ० ३४३	प्रा० ३११	अ० ३१७
प्रा० ३३७	अ० ३३४	प्रा० ३४४	अ० ३४४	प्रा० ३१२	अ० ३१८, ११९
प्रा० ३३८	अ० ३३५	प्रा० ३४५	अ० ३४५		
प्रा० ३३९	अ० ३३६	प्रा० ३४६	अ० ३४६	प्रा० ३१३	अ० ३२०
प्रा० ३४०	अ० ३३७	प्रा० ३४७	अ० ३४७	प्रा० ३१४	×
प्रा० ३४१	अ० ३३८	प्रा० ३४८	अ० ३४८	प्रा० ३१५	अ० ३२१
प्रा० ३४२	अ० ३३९	प्रा० ३४९	अ० ३४९	प्रा० ३१६	अ० ३२२
प्रा० ३४३	अ० ३४०	प्रा० ३५०	अ० ३५०	प्रा० ३१७	अ० ३२४
प्रा० ३४४	अ० ३४१	प्रा० ३५१	अ० ३५१	प्रा० ३१८	अ० ३२५
प्रा० ३४५	अ० ३४२	प्रा० ३५२	अ० ३५२	प्रा० ३१९	अ० ३२६
प्रा० ३४६		प्रा० ३५३	अ० ३५३	प्रा० ३२०	अ० ३२७
प्रा० ३४७	अ० ३४३	प्रा० ३५४	×	प्रा० ३२१	अ० ३२८
प्रा० ३४८	अ० ३४४	प्रा० ३५५	अ० ३५५	प्रा० ३२२	अ० ३२९
प्रा० ३४९	अ० ३४५	प्रा० ३५६	अ० ३५६	प्रा० ३२३	अ० ३३०
प्रा० ३५०	अ० ३४६	प्रा० ३५७	अ० ३५७	प्रा० ३२४	अ० ३३१
प्रा० ३५१	अ० ३४७	प्रा० ३५८	अ० ३५८	प्रा० ३२५	अ० ३३२
प्रा० ३५२	अ० ३४८, ४९	प्रा० ३५९	अ० ३५९	प्रा० ३२६	अ० ३३४
प्रा० ३५३	अ० ३५०	प्रा० ३६०	अ० ३६०	प्रा० ३२७	अ० ३३५
प्रा० ३५४	अ० ३५१	प्रा० ३६१	अ० ३६१	प्रा० ३२८	अ० ३३७, ११८, ११९, २०
प्रा० ३५५	अ० ३५२	प्रा० ३६२	अ० ३६२		
प्रा० ३५६	अ० ३५३	प्रा० ३६३	अ० ३६३	प्रा० ३२९	अ० ३३६
प्रा० ३५७	×	प्रा० ३६४	अ० ३६४, ११	प्रा० ३३०	अ० ३३७
प्रा० ३५८	अ० ३५४	प्रा० ३६५	अ० ३६५	प्रा० ३३१	अ० ३३८
प्रा० ३५९	अ० ३५५	प्रा० ३६६	अ० ३६६	प्रा० ३३२	अ० ३३९
प्रा० ३६०	अ० ३५६	प्रा० ३६७	अ० ३६७	प्रा० ३३३	अ० ३४०
प्रा० ३६१	अ० ३५७	प्रा० ३६८	अ० ३६८	प्रा० ३३४	अ० ३४१
प्रा० ३६२	अ० ३५८	प्रा० ३६९	अ० ३६९	प्रा० ३३५	अ० ३४२
प्रा० ३६३	अ० ३५९	प्रा० ३७०	अ० ३७०	प्रा० ३३६	अ० ३४३
प्रा० ३६४	अ० ३६०	प्रा० ३७१	अ० ३७१	प्रा० ३३७	अ० ३४४
प्रा० ३६५	अ० ३६१	प्रा० ३७२	अ० ३७२	प्रा० ३३८	अ० ३४५
प्रा० ३६६	अ० ३६२	प्रा० ३७३	अ० ३७३	प्रा० ३३९	अ० ३४६
		प्रा० ३७४	अ० ३७४	प्रा० ३४०	अ० ३४७

ପ୍ରା. ୧୪୦	ତା. ୩୨	ପ୍ରା. ୧୭୮	ତା. ୮୦	ପ୍ରା. ୨୧୧	ତା. ୨୫
ପ୍ରା. ୧୪୧	ତା. ୩୨	ପ୍ରା. ୧୭୯	ତା. ୮୧	ପ୍ରା. ୨୧୨	X
ପ୍ରା. ୧୪୨	ତା. ୩୩	ପ୍ରା. ୧୮୦	ତା. ୮୨	ପ୍ରା. ୨୧୩	ତା. ୨୬
ପ୍ରା. ୧୪୩	ତା. ୩୪	ପ୍ରା. ୧୮୧	ତା. ୮୩	ପ୍ରା. ୨୧୪	ତା. ୨୭
ପ୍ରା. ୧୪୪	ତା. ୪୦	ପ୍ରା. ୧୮୨	ତା. ୮୪	ପ୍ରା. ୨୧୫	ତା. ୨୮
ପ୍ରା. ୧୪୫	ତା. ୪୧	ପ୍ରା. ୧୮୩	ତା. ୮୫	ପ୍ରା. ୨୧୬	ତା. ୨୯
ପ୍ରା. ୧୪୬	ତା. ୪୨	ପ୍ରା. ୧୮୪	ତା. ୮୬	ପ୍ରା. ୨୧୭	ତା. ୩୦
ପ୍ରା. ୧୪୭	ତା. ୪୩	ପ୍ରା. ୧୮୫	ତା. ୮୭, ୮୮	ପ୍ରା. ୨୧୮	ତା. ୩୧
ପ୍ରା. ୧୪୮	ତା. ୪୬	ପ୍ରା. ୧୮୬	ତା. ୮୮	ପ୍ରା. ୨୧୯	ତା. ୩୨
ପ୍ରା. ୧୪୯	ତା. ୪୭	ପ୍ରା. ୧୮୭	ତା. ୮୯	ପ୍ରା. ୨୨୦	ତା. ୩୩, ୮
ପ୍ରା. ୧୫୦	ତା. ୪୮	ପ୍ରା. ୧୮୮	ତା. ୯୦	ପ୍ରା. ୨୨୧	ତା. ୩୪, ୧୦
ପ୍ରା. ୧୫୧	ତା. ୪୯	ପ୍ରା. ୧୮୯	ତା. ୯୧	ପ୍ରା. ୨୨୨	ତା. ୩୫
ପ୍ରା. ୧୫୨	ତା. ୫୦	ପ୍ରା. ୧୯୦	ତା. ୯୨	ପ୍ରା. ୨୨୩	ତା. ୩୬
ପ୍ରା. ୧୫୩	ତା. ୫୧	ପ୍ରା. ୧୯୧	ତା. ୯୩	ପ୍ରା. ୨୨୪	ତା. ୩୭
ପ୍ରା. ୧୫୪	ତା. ୫୨	ପ୍ରା. ୧୯୨	ତା. ୯୪	ପ୍ରା. ୨୨୫	ତା. ୩୮
ପ୍ରା. ୧୫୫	ତା. ୫୪	ପ୍ରା. ୧୯୩	ତା. ୯୫	ପ୍ରା. ୨୨୬	ତା. ୩୯
ପ୍ରା. ୧୫୬	ତା. ୫୪ ନା. ୦	ପ୍ରା. ୧୯୪	ତା. ୯୬	ପ୍ରା. ୨୨୭	ତା. ୪୦
ପ୍ରା. ୧୫୭	ତା. ୫୫	ଅଧ୍ୟାୟ ୫ ପାଠ ୩		ପ୍ରା. ୨୨୮	ତା. ୪୧
ପ୍ରା. ୧୫୮	ତା. ୫୬			ପ୍ରା. ୨୨୯	ତା. ୪୨
ପ୍ରା. ୧୫୯	ତା. ୫୭	ପ୍ରା. ୨୦୧	ତା. ୯୩	ପ୍ରା. ୨୩୦	ତା. ୪୩
ପ୍ରା. ୧୬୦	ତା. ୫୮	ପ୍ରା. ୨୦୨	ତା. ୯୪	ପ୍ରା. ୨୩୧	ତା. ୪୪
ପ୍ରା. ୧୬୧	ତା. ୬୦	ପ୍ରା. ୨୦୩	ତା. ୯୫	ପ୍ରା. ୨୩୨	ତା. ୪୫
ପ୍ରା. ୧୬୨	ତା. ୬୧	ପ୍ରା. ୨୦୪	ତା. ୯୬	ପ୍ରା. ୨୩୩	ତା. ୪୬
ପ୍ରା. ୧୬୩	ତା. ୬୨	ପ୍ରା. ୨୦୫	ତା. ୯୭	ପ୍ରା. ୨୩୪	ତା. ୪୭
ପ୍ରା. ୧୬୪	ତା. ୬୩	ପ୍ରା. ୨୦୬	ତା. ୯୮	ପ୍ରା. ୨୩୫	ତା. ୪୮
ପ୍ରା. ୧୬୫	ତା. ୬୪	ପ୍ରା. ୨୦୭	ତା. ୯୯	ପ୍ରା. ୨୩୬	ତା. ୪୯
ପ୍ରା. ୧୬୬	ତା. ୬୫	ପ୍ରା. ୨୦୮	ତା. ୧୦୦	ପ୍ରା. ୨୩୭	ତା. ୫୦
ପ୍ରା. ୧୬୭	ତା. ୬୬	ପ୍ରା. ୨୦୯	ତା. ୧୦୧	ପ୍ରା. ୨୩୮	ତା. ୫୧
ପ୍ରା. ୧୬୮	ତା. ୬୭	ପ୍ରା. ୨୧୦	ତା. ୧୦୨	ପ୍ରା. ୨୩୯	ତା. ୫୨
ପ୍ରା. ୧୬୯	ତା. ୬୮	ପ୍ରା. ୨୧୧	ତା. ୧୦୩	ପ୍ରା. ୨୪୦	ତା. ୫୩
ପ୍ରା. ୧୭୦	ତା. ୭୦	ପ୍ରା. ୨୧୨	ତା. ୧୦୪	ପ୍ରା. ୨୪୧	ତା. ୫୪
ପ୍ରା. ୧୭୧	ତା. ୭୧	ପ୍ରା. ୨୧୩	ତା. ୧୦୫	ପ୍ରା. ୨୪୨	ତା. ୫୫
ପ୍ରା. ୧୭୨	ତା. ୭୨	ପ୍ରା. ୨୧୪	ତା. ୧୦୬	ପ୍ରା. ୨୪୩	ତା. ୫୬
ପ୍ରା. ୧୭୩	ତା. ୭୩	ପ୍ରା. ୨୧୫	ତା. ୧୦୭	ପ୍ରା. ୨୪୪	ତା. ୫୭
ପ୍ରା. ୧୭୪	ତା. ୭୪	ପ୍ରା. ୨୧୬	ତା. ୧୦୮	ପ୍ରା. ୨୪୫	ତା. ୫୮
ପ୍ରା. ୧୭୫	ତା. ୭୫	ପ୍ରା. ୨୧୭	ତା. ୧୦୯	ପ୍ରା. ୨୪୬	ତା. ୫୯
ପ୍ରା. ୧୭୬	ତା. ୭୬	ପ୍ରା. ୨୧୮	ତା. ୧୧୦	ପ୍ରା. ୨୪୭	ତା. ୬୦
ପ୍ରା. ୧୭୭	ତା. ୭୭	ପ୍ରା. ୨୧୯	ତା. ୧୧୧	ପ୍ରା. ୨୪୮	ତା. ୬୧
ପ୍ରା. ୧୭୮	ତା. ୭୮	ପ୍ରା. ୨୨୦	ତା. ୧୧୨	ପ୍ରା. ୨୪୯	ତା. ୬୨

प्रा० १५६	कार० ४२	प्रा० १५५	कार० ८७	प्रा० ४२७	कार० ३६
प्रा० १६०	कार० ४३	प्रा० १६६	कार० ८३	प्रा० ४२८	कार० ४१
प्रा० १६१	कार० ४४	प्रा० १७७	कार० ८८	प्रा० ४२९	कार० ४०
प्रा० १६२	कार० ४४ वा०	प्रा० १८८	कार० ९९	प्रा० ४३०	कार० ४२
प्रा० १६३	कार० ४५	प्रा० १९९	कार० १००	प्रा० ४३१	कार० ४३
प्रा० १६४	कार० ४६	प्रा० १००	कार० १०१	प्रा० ४३२	कार० ४४
प्रा० १६५	कार० ४७	प्रा० १०१	कार० १०३	प्रा० ४३३	कार० ४५
	४८, ४९	प्रा० १०२	कार० १०४	प्रा० ४३४	कार० ४६
प्रा० १६६	कार० ५०	प्रा० १०३	कार० १०५	प्रा० ४३५	कार० ४७
प्रा० १६७	कार० ५१, ५२	प्रा० १०४	कार० १०७	प्रा० ४३६	कार० ४८
प्रा० १६८	कार० ५३	प्रा० १०५	कार० १०८	प्रा० ४३७	कार० ५७
प्रा० १६९	कार० ५४	अध्याय ५ पाद ४		प्रा० ४३८	कार० ५८
प्रा० १७०	कार० ५५	प्रा० ४१	कार० ४, ६	प्रा० ४३९	कार० ५९
प्रा० १७१		प्रा० ४२	कार० ७	प्रा० ४४०	कार० ६०
प्रा० १७२		प्रा० ४३	X	प्रा० ४४१	कार० ६१
प्रा० १७३	कार० ५६	प्रा० ४४	कार० १७	प्रा० ४४२	कार० ६२
प्रा० १७४	कार० ५७, ५८, ५९, ६०	प्रा० ४५	कार० २०	प्रा० ४४३	कार० ६३
प्रा० १७५	कार० ६२	प्रा० ४६	कार० २२	प्रा० ४४४	कार० ६४
प्रा० १७६	कार० ६६	प्रा० ४७	कार० २३	प्रा० ४४५	कार० ६५
प्रा० १७७	कार० ६६	प्रा० ४८	कार० २४	प्रा० ४४६	
प्रा० १७७	कार० ६८	प्रा० ४९	कार० २५	प्रा० ४४७	कार० ६६
प्रा० १७८	कार० ६९	प्रा० १०	कार० २६	प्रा० ४४८	कार० ६७
प्रा० १७९	कार० ७२	प्रा० ११	कार० २७	प्रा० ४४९	कार० ६८
प्रा० १८०	कार० ७३	प्रा० १२	कार० २८	प्रा० ४५०	कार० ६९
प्रा० १८१	कार० ७४	प्रा० १३	कार० २९	प्रा० ४५१ } कार० ७०	
प्रा० १८२	कार० ७५	प्रा० १४	कार० ३०, ३१	प्रा० ४५२ }	
प्रा० १८३	कार० ७६	प्रा० १५	कार० ३३	प्रा० ४५३	कार० ७१
प्रा० १८४	कार० ७७	प्रा० १६	कार० ३२	प्रा० ४५४	कार० ७२
प्रा० १८५	कार० ७८	प्रा० १७	कार० ३३	प्रा० ४५५	कार० ७३
प्रा० १८६	कार० ७७, ७९	प्रा० १८	कार० ३४	प्रा० ४५६	कार० ७४
प्रा० १८७	कार० ७८	प्रा० १९	कार० ३५	प्रा० ४५७	कार० ७५
प्रा० १८८	कार० ८०	प्रा० २०	कार० ३५	प्रा० ४५८	कार० ७६
प्रा० १८९	कार० ८१	प्रा० २१	कार० ३७	प्रा० ४५९	कार० ७७
प्रा० १९०	कार० ८२	प्रा० २२		प्रा० ४६०	कार० ७८
प्रा० १९१	कार० ८३	प्रा० २३	कार० ३६	प्रा० ४६१	कार० ७९
प्रा० १९२	कार० ८४	प्रा० २४	कार० ३६	प्रा० ४६२	कार० ८०
प्रा० १९३	कार० ८५	प्रा० २५	X	प्रा० ४६३	कार० ८१
प्रा० १९४	कार० ८६	प्रा० २६	कार० ३८	प्रा० ४६४	कार० ८२

अथ जैनेन्द्रधुपाठः

प्रप्रणम्य जिनं भक्त्या संसंश्रित्याभिधागमम् ।

उपोषपाद्यते धूनामुदुत्कृष्टा मया स्थितिः ॥ १ ॥

धुः	अर्थः	धुः	अर्थः	धुः	अर्थः
भूः	सत्तायाम्	पदै	कुत्सिते शब्दे	लौकङ्	गती
एधै	वृद्धौ	यतीङ्	प्रशने	त्रौकङ्	
स्पदँ	संघर्षे	युतङ्	दीप्तौ	व्यस्कै	
गार्दँ	प्रतिष्ठालिप्ता-	लुतङ्		नष्कै	
गार्दँ	ग्रन्थेषु	त्रिथङ्	याचने	मस्कै	
वधुङ्	प्रतीयाते	वेथङ्		तिकै	
नाथङ्	यान्त्राशीरुप-	अथिङ्	शैथिल्ये	टिकै	
नाथङ्		प्रथिङ्	कौटिल्ये	टीकङ्	
दधै	वारणे	कथै	श्लाघायाम्	रचिङ्	
आर्यै	बन्धने	शीकङ्	सेचने	लधिङ्	
स्कुदिङ्	आप्रवणे	लोकङ्	लोचने	अधिङ्	गत्याक्षेपे
शिवदिङ्	शैत्ये	श्लोकङ्	संघाते	वधिङ्	
वदिङ्	स्तुत्यभिवादनयोः	द्रेकङ्	शब्दीस्ताद्रे	मविङ्	कैतवे च
भदिङ्	प्रियसुखयोः	प्रेकङ्		राष्टङ्	सामर्थ्ये
मदिङ्	स्तुतिमोदमदस्वप्न-	रेकङ्	शंकायाम्	लाष्टङ्	
	गतिषु	शकिङ्		द्राष्टङ्	आवासे च
स्पदिङ्	किञ्चिच्चलने	अकिङ्	लङ्गणे	श्लष्टङ्	कथने
किशदिङ्	परिदेवने	वकिङ्	कौटिल्ये	पथै	सेवायाम्
मुदै	हर्षे	मकिङ्	भस्मने	लोचङ्	दर्शने
ददै	दाने	ककै	लौल्ये	शचै	व्यक्तायां वाचि
दहौङ्	पुरीषोत्सर्गे	कुक्कै	यहीती	श्वचै	गती
कुदै	कीडायाम्	वृक्कै		श्वचिङ्	
खुदै		चकै	तृप्तिप्रतिवातयोः	कचै	बन्धने
गुदै		सेकङ्		कचिङ्	दीप्तौ च
गुदै		सेकङ्		मचै	कल्कने
उदै		शेकङ्		मचिङ्	भारणोच्छ्राय-
पूदै		श्लेकङ्			पूजासु च
हादै	माने	अकिङ्	गती	पचिङ्	व्यक्तीकरणे
ह्लादिङ्	क्षरणे	श्लेकिङ्		पुचै	प्रसादे
ग्वदै	शब्दे	ककिङ्		तिजौङ्	अमानिशानयोः
स्वदै	सुत्रे	श्वकिङ्		ईजै	गतिकुत्सनयोः
स्वदै	आस्वादे	त्रकिङ्		अृजै	गतिस्थानोर्जनेषु
स्वादि					

श्रुजिङ्	मर्जने	मटिङ्	शोके	मानै	पूजायाम्
भृचीङ्		कठिङ्		पनै	स्तुतौ
एजङ्	दीप्तौ	भुठिङ्	पलायने (पालने)	पणै	व्यवहारे च
भ्रंजङ्		एठै		पुणै	अमणौ
भ्राजै		हेठै	विनाशायाम्	घूर्णै	
वर्जै		गुणैङ्		घिणिङ्	प्रदणौ
अट्टै	हिंसातिक्रमयोः	तिपुङ्	स्तुतौ	पुणिङ्	
पट्टै		ऐपुङ्		वृणिङ्	क्रोधे
स्फुटै		तैपुङ्	कम्पे च	भामै	
चेष्टै		ग्लेपुङ्		क्षमूपै	सहने
गोष्ठै	संघाते	हुनेपुङ्	चलने	कभुङ्	कान्तौ
लोष्ठै		केपुङ्		अयै	गतौ
हुडिङ्		खेपुङ्		वयै	
पिडिङ्		गेपुङ्		जयै	
शडिङ्	रुजायां च	भ्लेपुङ्	गती	मयै	
हिडिङ्		कपिङ्		पयै	
कुडिङ्		मेपुङ्		नयै	
वडिङ्		रेपुङ्		रयै	
मडिङ्	वेष्टने	त्रपूपै	लजायाम्	पयै	रक्षायां च
वेष्टै		रेभुङ्		रेवुङ्	
भडिङ्	परिभाषायाम्	रभिङ्	शब्दे	तयै	
मडिङ्		अभिङ्		रयै	
तुडिङ्		अभिङ्	अवससे	उयीङ्	तन्तुसन्ताने
भुडिङ्		लभिङ्		पूयीङ्	
चडिङ्	कोपे	कवुङ्	वर्णे	क्षमायीङ्	
तडिङ्		क्लीवुङ्		स्वामीङ्	
कडिङ्		चीवुङ्	अधाष्ट्ये च	ओप्यायीङ्	दृढौ
खडिङ्		शीवुङ्		तापुङ्	
हेडुङ्	अनादरे	चीभुङ्	मदे	कनूयीङ्	सन्तानपालनयोः
वाडुङ्		शल्भै		कलै	
दाडुङ्		वल्लभै	भोजने	कल्लै	
धाडुङ्		गल्लभै		वल्लै	
श्लाडुङ्	विशरणे	जभिङ्	धाष्ट्ये	वल्लै	संवृत्तौ
पडिङ्		जृभिङ्		वल्लै	
अठिङ्	गतौ	ष्ठभिङ्	गात्रविनामे	गल्लै	कपे
वठिङ्		स्कभिङ्		मल्लै	
	एकचर्यायाम्	श्रुभुङ्	स्तम्भे	मल्लै	धारणे

भल्लै	दानहिंसापारमाषयेषु	कासुङ्	शब्दकुत्सायाम्	गुङ्	अव्यक्ते शब्दे
भल्लै		गासुङ्	शब्दे	गाङ्	
कल्लै	संख्याशब्दयोः	भासै	दीप्तौ	च्युङ्	गती
तैवृङ्		रासुङ्		ड्युङ्	
देवृङ्	देवने	काशुङ्	कौटिल्ये	मुङ्	रोपे च
देवृङ्		णसै		णुङ्	
पेवृङ्	सेवने	भ्वसै	मये	स्यैङ्	अविध्यंसने
शेवृङ्		आङ्	इच्छायाम्	रङ्	
केवृङ्	सेवने	असुङ्	प्रमादे	धृङ्	प्रतिदाने
खेवृङ्		असुङ्	अदने	मिङ्	
गेवृङ्	सेवने	ग्लसुङ्	चेष्टायाम्	दङ्	रक्षणे
ग्लेवृङ्		ईहै	वृद्धौ	त्रैङ्	
पेवृङ्	सेवने	वहिङ्	शैव्य च	पङ्	पवने
प्लेवृङ्		महिङ्	कुत्सायाम्	व्यैङ्	
मेवृङ्	संदीपनजीवनक्लेशेषु	दत्तै	प्राधान्ये	मृङ्	वृद्धौ
म्लेवृङ्		गहै	परिभाषणाच्छाद-	डीङ्	
धुसै	विद्योपादाने	बहै	नहिंसासु	चुतै	विद्वावसा गतौ
धिचै		बहै		सुतै	
वृसै	याच्यायाम्	वहै		शुभै	दीप्तौ
शिचै		वहै		रुचै	
मिक्षै	मौल्योपनयननिय-	वहै		रिवताङ्	अभिप्रीतौ च
दीचै		वेहङ्		जिमिङ्	
	ममतादेशेज्यासु	जेहङ्		जिष्विदाङ्	वर्णे
		वाहङ्		घुटै	
ईचै	दृष्टौ	एपृङ्	प्रयत्ने	रुटै	मोक्षे च
ईषै		वेपृङ्		सुटै	
कनेशै	गतिहिंसयोश्च	द्राङ्	नित्येपे	लुटै	परिवृत्तौ च
भाषै		ऊहै		लुटै	
वषै	व्यक्तायां वाचि	गाहङ्	वितर्के	लुटै	पतिधाते
गेषङ्		ग्लहङ्	विलोडने	लुटै	
जेपृङ्	स्नेहे	घाषङ्	ग्रहणे	लुटै	संज्ञोने
रोपृङ्		स्मिङ्	वर्तौ	लुटै	
एपृङ्	अन्विच्छायाम्	लुङ्	ईषदसने	लुटै	हिंसायाम्
हेपृङ्		कुङ्		लुटै	
अहिङ्	गती	कुङ्		लुटै	अवससे
मिहै		कुङ्		लुटै	
रेपृङ्	अव्यक्ते शब्दे	कुङ्		लुटै	गती च
		कुङ्		लुटै	
		कुङ्		लुटै	विश्वामे
		कुङ्		लुटै	
		कुङ्		लुटै	वृत्तौ
		कुङ्		लुटै	
		कुङ्		लुटै	वृद्धौ
		कुङ्		लुटै	
		कुङ्		लुटै	शब्दकुत्सायाम्
		कुङ्		लुटै	
		कुङ्		लुटै	सवे
		कुङ्		लुटै	
		कुङ्		लुटै	सामर्थ्ये
		कुङ्		लुटै	
		कुङ्		लुटै	वृत्
		कुङ्		लुटै	

घटैषु	चेष्टायाम्	मथ	हिंसायाम्	फल	गमने
व्यथैषु	चलभीत्योः	वनथ		शल	
प्रथैषु	प्रख्यातौ	क्रथ		हुल	
प्रसैषु	विस्तारे	क्लथ		पेलु	
मुदैषु	मदे	चण	चलने	पथे	हिंसासंवरणयोश्च निष्पचने
खदैषु	खनने	हल		हुल	
जित्वराधै	संभ्रमे	हल		काथे	
क्रदैषु	वैक्लव्ये	ज्वल		दुवमु	उद्गरणे
कृदैषु		स्मृ	दीप्तौ	क्षर	संचलने
क्रदिङ्		द	आध्याने	पहै	मर्पणे
क्षजिङ्	गतिदानयोः	नृ	मये	रमुङ्	कीडायाम्
दक्षै	गतिहिंसायाम्	श्री	नये	शद्लु	शतने
कृषै	कृषायाम्	चलि	पाके	पद्लु	गतिविशरणयोश्च
	हैदितोऽमी	छदिर्	कम्पने	कुशौ	रोटनाहानयोः
स्वर		लडि	ऊर्जने	कुच	संचर्चनकौटिल्य-
गह	रोगे	मदी	जिह्वोन्मथने		प्रतिस्तंभविलेखनेषु
हैड	सेचने	स्वनिर्	हर्षपलेनयोः	सहौ	जनने
वट	वेष्टने	ध्वन	अवतंसने	कस्तु	गमने
भट	परिभाषणे	फल	शब्दे	भू	मुवि
नट			गतौ	बुधञ्	बोधने
ष्टक	रुत्तौ	वृत् घटादिः			वृत् ज्वलादिः
चक	लोढने	स्पमु	शब्दे	अत	
कले	तृती च	स्वन		चित्ती	सातत्यगमने
रगे	हसने	राजृङ्	दीप्तौ	चित्ती	संज्ञाने
लगे	शंक्ने	दुभ्राशृङ्		कित्ती	निवासे
हगे	संजने	दुभ्राशृङ्		कृत	गतिधृणास्पन्देषु
हगे	संवरणे	भ्राजै		ज्युतेर्	विभासे
हगे			वृत् पुणादिः	च्युतिर्	क्षरणे
पगे		ज्वल		श्च्युतिर्	
ष्टगे		चल	दीप्तौ	मुतिर्	
अक	कुटिलायां गतौ	जल	कम्पने	कुधि	हिंसासंकलेशयोः
अग		जल	घाम्ने	पुधि	
कण	गतौ	शल	वैक्लव्ये	लुधि	
रण		शल		मधि	
चख		हल	स्थाने	मंध	शास्त्रमाङ्गल्ययोः
वण	दाने	वल	विलेखने	विधू	
भण		पुल	प्राणधान्यावरोधयोः	विधु	
		कुल	महस्वे	लाद्	गतौ
			संस्थानसंतानयोः		भक्षणे

वद	स्थैर्ये	लुगि		तुज	हिसने
खद	हिंसायां च	अगि		तुजि	
गद	व्यक्तायां वाचि	तगि		पिजि	पालने च
रद	विलेखने	वगि		गज	
जिद्विदा		मगि	गतं	गुजि	
णद	अव्यक्ते शब्दे	स्वगि		गृज	
अर्द	गतिपाचनयोः	इगि		गृजि	
नर्द		रिगि		भृज	शब्दे
गर्द	शब्दे	लिगि		मृजि	
तर्द	हिंसायाम्	त्वगि	कम्पने च	रुज	
कर्द	कुत्सिते शब्दे	पुगि		लीज	
खर्द	दशने	जुगि	वर्जने	गर्ज	
अदि	बन्धने	कुगि		गज	मदने च
इदि	परमैश्वर्ये	दीघ	पालने	त्यजौ	त्यागे
विदि	अवयवे	लीघ	शोषणे	शुच	पाके
रिदि	कुत्सते	शिघ्र	आप्राप्ते	कुच	उच्चैः शब्दे
हुनदि	समृद्धौ	श्रोखु		कृच	कौटिल्याल्पीभावयोः
चदि	दीप्तिहादनयोः	राखु		लुच	अपनयने
अदि	चेष्टायाम्	लाखु	शोषणालमर्थयोः	अंच	गतिपूजनयोः
कदि		द्राखु		बंचु	
कृदि	आह्वानरोदनयोः	भ्राखु		चंचु	
किलदि	परिदेवने	शाखु		तंचु	
स्कंदिरौ	गतिशोषणयोः	श्राखु	ध्वासी	तंचु	गतौ
शुध	शुद्धौ	कक	नीचैर्गतौ	मंचु	
उख		तक		मंचु	
गख		कक	हसने	भ्रुचु	
वख		गम्ध		मुंचु	
मख		तकि	कृच्छ्रजीवने	मुखु	
रख		वक्क		ग्लुचु	
लख	गतौ	लप		ग्लुचु	
रलि		लज	भर्त्सने	भृचु	
लखि		लजि		ग्लुचु	गतौ
इखि		तर्ब		पंच	
ईखि		लज	मर्जने	ध्वज	
वल्ग		लाजि		ध्वजि	
रगि		जज		भृज	
		जजि	युद्ध	भृजि	
				वज	
				वजि	

प्रुचु	स्तेनकाराणि	रट	परिभाषणो	कठ	कृच्छ्रजीवे
ग्लुचु		रुट		हठ	स्तुतिशठत्वयोः
कुचु		लट		उठ	उपधाते
खुचु		शट		पिटि	दिसासंक्लेशयोः
अर्च	पूजयाम्	वट	वेष्टने	शठ	कैतवे
म्लेच्छ	अव्यक्तायां वाचि	खिट	उजासने	शुठ	गतिप्रतिष्ठाते
लछ	लछणे	षिट	अनादरे	श्रुठ	
लाछि		शिठ		लुठि	
वाछि		रौड		शुठि	
ह्रीच्छ	इच्छायाम्	जट	संघाते	विड	आलस्ये
हुर्ना	आयामे च	भट		भड	शोषणे
मुच्छर्	लज्जायाम्	पिट		लड	आक्रोशे
स्फूर्च्छ	कौटिल्ये	भट		कड	उद्यमे
युच्छ	मोहसमुखाययोः	तट	शब्दे च	कडु	विलासे
ठछि	विस्तृतौ	नट	भृतौ	उडु	मदे
गुज	प्रभोदे	खट	उच्छ्राये	अडु	कार्कर्ये
		हट	नृतौ	भडि	भावकरणे
		पट	कांक्षायाम्	मुडि	अभियोगे
गुजि	अव्यक्ते शब्दे	लुट	दीप्तौ	मुडि	भूपायाम्
कूज		चिट	अवयवे	मुडि	प्रमर्दने
अर्ज		स्फुटिर्	विलोढने	वडि	अल्पीभावे
सर्ज		हेट	परप्रेष्ये	रुटि	खण्डने
कर्ज	व्यथने	कुटि	विशरणे	लुटि	विभाजने
खर्ज	मार्जने च	अट	विचाधायाम्	स्तेथे	मुखैकदेशे
अज	गतिलेपणयोः	पट	वैकल्ये		
तेज	पाक्षने	इट	गतौ	गडि	
खज	मथने	किट		कीटु	
खजि	गतिवैकल्ये	किटी		तूटु	विहारे
एजु	कंपने	रुठि		गुपू	तोढने
दुओस्फूर्ज	वज्रनिघोषे	अठ	व्यक्तायां वाचि	धूप	रक्षणे
षञ्जी	संगे	लुठि		जल्प	तपःसंतापे
शौटु	गर्वे	अठ		रप	व्यक्तायां वाचि
यौटु	बन्धे	हुडु		लप	
मेडु	उन्मादे	पठ	मदनिवासयोः	जप	
मेडु		वठ		चप	
लोडु		मठ		षच	मानसे च
कडे	वर्षावरणयोः	भट		चुप	सात्वने
					समवाये
					मन्दायां गतौ

दुप	हिंसायाम्	काय	शब्दे	शूल	रुजायाम्
तुप		धग		तूल	निष्कर्षे
तुफ		ध्वग		पूल	संघाते
तुंफ		धण		मूल	प्रतिष्ठायाम्
तुप		वण		फल	निष्पत्तौ
तुंप		स्तन		कुल्ल	विकसने
तुरु		वन		तुल्ल	भावकरणे
तुंफ		वन		चिल्ल	शीथिल्ये
विभु		वण		वेल्ल	चलने
विंसु		शोण		वेल्लु	
शुंभ	भाषणे च मैथुने	शोण	संघाते	केल्लु	
वभौ		शोण		खेल्लु	
जम		शोण		कनेल्लु	
पप		शोण		दनेल्लु	
रफ		शोण		खल्ल	
रफि		शोण		खल्ल	
अर्ध		शोण		खल्ल	
वर्ध		शोण		खल्ल	
कध		शोण		खल्ल	
खध		शोण		खल्ल	
गध	गती	शोण	संघाते	खल्ल	संघये
शध		शोण		खल्ल	
पध		शोण		खल्ल	
चध		शोण		खल्ल	
गध		शोण		खल्ल	
मध		शोण		खल्ल	
पुध		शोण		खल्ल	
चुध		शोण		खल्ल	
अध		शोण		खल्ल	
रध		शोण		खल्ल	
वध	वक्त्रसंयोगे	शोण	संघाते	खल्ल	गतिप्रतिपाते
मध		शोण		खल्ल	
कध		शोण		खल्ल	
वध		शोण		खल्ल	
मध		शोण		खल्ल	
कध		शोण		खल्ल	
वध		शोण		खल्ल	
मध		शोण		खल्ल	
कध		शोण		खल्ल	
वध		शोण		खल्ल	
मध	शब्दे	शोण	संघाते	खल्ल	गती
कध		शोण		खल्ल	
वध		शोण		खल्ल	
मध		शोण		खल्ल	
कध		शोण		खल्ल	
वध		शोण		खल्ल	
मध		शोण		खल्ल	
कध		शोण		खल्ल	
वध		शोण		खल्ल	
मध		शोण		खल्ल	

नर	मक्षणे	वक्ष	रोपे	सुधु	सक्षने च
चिबु	निरसने	तक्ष	स्वचने	पुप	पुष्टो च
चिबु		सुक्ष	अनादरे	तुप	
जोव	प्राणधारणे	काक्षि		श्रिपु	
पीव		वाक्षि	काक्षापान्	श्रिपु	टाटे
मीव		माक्षि		प्रपु	
णीव	स्थौल्ये	द्राक्षि	घोरवासिते च	लुपु	
तीव		व्वाक्षि		वृपु	संश्रपं
तुर्वी		चूप	पाने	हपु	अलीके
धुर्वी		तूप	तुष्टौ	कृपौ	विलिखितौ
धुर्वी		लूप	स्तेये	लस	श्लेषको डनवोः
धुर्वी	हिंसने	मूप		जर्ज	
मर्वी		शूप	प्रसने	भर्च	परिभाषणहिंसाजर्जनेषु
शर्व		भूप	अलंकारे	क्षर्भ	
अर्थ		ऊष	रक्षायाम्	हसे	हसने
गुर्वी	उद्यमने	ईष	उन्ने	तुस	
दिवि		कप		हस	
दिवि	प्रीणने	शिप		हस	शब्द
धिवि		धष		रस	
कृवि	हिंसाविकरणयोः	भप		पुषिर	
अव	गतिप्रीतिवृष्टिदीप्तिवृ-	वप	हिंसायाम्	मिश	रोपकृते च
	द्धिकोत्यवत्यवगमन-	मप		मश	
	प्रवेशश्रवणस्वाभ्यर्थ-	रप		गिम	ममाने
	वाचनक्रियेच्छादिभिः -	रिप		शश	लुत्तिगनी
	नहिंसादनभावरक्षणेषु	जूप		दशिरो	प्रेक्षणे
मक्ष	संवाते	शप		दंशौ	दशने
अक्ष	व्याप्तौ च	शसु		शंसु	स्तुतौ
तक्ष	तनूकरणे	यूप	संवाते च	दशी	मस्मीकरणे
त्यक्ष		भपु		मिष्टौ	संचने
रक्ष	पालने	मप	भर्त्सने	चइ	परिकल्पने
णिक्ष	चुम्बने	जिपु		रइ	त्यागे
तुक्ष		विपु		दइ	
स्तृक्ष	गती	मिपु	सेचने	दहि	वृद्धौ
णक्ष		वृपु		वृइ	
शक्ष		वृपु		पृष	
रहि		उक्ष		वृहि	शब्दे च
पिस्त					
पेक्ष					

तुहिर	अर्दने	हे	वेष्टने	खनुज्	अवदारणे
उहिर		धै	चितायाम्	दानज्	खंडने
अहं	पूजने	स्मृ		शानज्	तेजने
सु		दुवृ	वरणे	शपौज्	आक्रोशे
शु	प्रसवैश्वर्ययोः	धृ	कौटिल्ये	मेज्	दौर्गते
हु		हृ		अव	पूर्वोपादाननि-
दु		स्वृ	शस्त्रोपतापयोः		रसनयोश्च
धु		सृ	गतौ	छपज्	हिंसायाम्
धु		शृ	प्रापणे च	चपज्	मुक्तौ
जि	स्थैर्ये च	गृ	सेचने	तुपज्	
जि		घृ		घासृज्	दाने
पा	पाने	तृ	लवनतरणयोः	दासृज्	
घेष्ट		टबोश्चि	गतिवृद्धयोः	माहृज्	माने
घा	गंधोपादाने	वसौ	निवासे	गुहृज्	संवरणे
घ्ना	शब्दाग्निसंयोगयोः	वद	ध्वस्तायां वाचि	भगृज्	आदाने च
घ्ना	गतिनिवृत्तौ	यजौज्	एते मयंतः	जीषज्	
भ्ना	अभ्यासे		दानदेवपूजा-	भिज्	सेवायाम्
दाणु	दाने	दुवपौज्	संगतकरणेषु	द्वज्	हरणे
दैप	शोधने	वहौज्	शीलसंताने	भृज्	भरणे
ग्लै	हर्षक्षये	वेज्	प्रापणे	धृज्	धारणे
ग्लौ	गात्रविनामे	व्येज्	तनुसदाने	हुकुज्	करणे
द्यै	न्यक्करणे	भजौज्	पाके	खीज्	प्रापणे
द्रे	स्वप्ने	रंजौज्	सेवायाम्		
द्रे	तृप्तौ	दुयान्वृज्	रागे		
कै	शब्दे	चतेज्	वाचने		
कै		चदेज्			
रे	संघाते	रेहृज्	परिमाणे	हु	दानादनयोः
एधौ		पोयुज्	पर्याप्तौ	भिमी	भये
स्यै	खदेन	मिधृज्	मेधाहिंसायाम्	ही	लज्जायाम्
स्यै		मेधृज्	संगमे च	पृ	पालनपूरणे
स्यै	ज्ञये	णिहृज्	उन्दे	शृ	गतौ
स्यै		मेहृज्		ओहाक्	त्यागे
स्यै	पाके	बुधृज्	बोधने	ओहाड्	गतौ
स्यै		बुधिरुज्	निशामने	माड्	माने
स्यै	शेषणे	चापृज्	पूजायां च	हुभृज्	धारणपोषणयोः
स्यै		वेणुज्	गतिचिन्ताज्ञाननि-	हुदाज्	दाने
स्यै			शामनवादिष्वग्रहणेषु	हुभाज्	धारणे च
स्यै				णिजिज्	शौचपोषणयोः

एते मयंतः

इति ६४६ भूषावयो न्याय-
शिकरणाः धवः ।

विजिघ्र्यो विजिघ्र्यो	पृथक्भावे व्यामौ	वा भा ष्वा भा द्रा प्ता पा रा सा गम् ग्या प्रा मा	गतेगंधनयोः दीप्तौ शौचे पाके कुत्सायां गतौ भक्षणे रक्षणे दाने आदाने लवने प्रकथने पूरणे माने	प्लुज् ब्रजौ	स्तुतौ व्यक्तायां वाचि इत्यश्वाद्यः ७० उद्विक्तरणाः धवः
इति १४ ह्लादयः उद्विक्तरणा धवः ।	अदो विद हनौ अस मृज् वचो रुदिर जिघ्र्यो अन श्वस जज्ञ	भक्षणे ज्ञाने हिंसागतयोः भुवि शुद्धौ परिभाषणे अश्रुविमोचने शये प्राणने भक्षहसनयोः		दिवु प्रिवु गुध क्षिप पुथ तिम ष्टिम द्योम	क्रोडाजयेच्छापणि- चुतिगतिपु तंतुसंज्ञाने परिवेष्टने प्रेरणो विकसने आर्द्रभावे
जाग परिद्रा चकारु शामु	वृत् निश्चाद्ये दुर्गतौ दीप्तौ अनुशिष्टौ	चक्षौङ् ईङ् ईङ् ईशौ आने वसे	चर्करीतं च व्यक्तायां वाचि गतौ स्तुतौ ऐश्वर्ये उपवेशने आच्छादने	ब्रीड इय पुह राधी व्यधी पुगौ शुषौ वृषौ द्वृषौ क्षिपौ शकौ जिदा क्षुधौ क्षुधौ शुधौ	लज्जायाम् गत्याम् शक्ने वृद्धावेव ताडने पुष्टौ शोषणे तोषणे वितर्षे आलिङ्गने मर्षणे गात्रप्रक्षरणे कोपे बुभुक्षणे शोचने संराध्वे हिंसने च अदर्शने प्रीणने मोहने च जिघांसायाम् नैचित्ये उद्गिरणे प्रीतौ
सस्ति पस वश धु सु वु कु रु उल्लु क्षु लु शु सु इक्षु इक्षु वी वा	स्वप्ने कान्ती अभिगमने ऐश्वर्यप्रमवर्षः वृत्तिहिंसापूरणेपु शब्दे तेजने शरणे स्तुतौ मिश्रणे गतौ स्मरणे गतिपजनकात्यशनेपु प्रापणे	आङ् शामुङ् इच्छायाम् कासिङ् गतिसंतानयोः णिमिङ् चुचने णिजिङ् शुद्धौ शिजिङ् अव्यक्ते शब्दे पिजिङ् पृजिङ् पृचोङ् ऊपूङ् शीङ् इङ् हूङ् दिषौज् दुहौज् दिहौज् लिहौज् अणुज्	संपर्चने प्राणिगर्भविमोचने स्वप्ने अध्ययने अपनयने अप्रीती क्षरणे लेपे आस्वादने आच्छादने	विधु रधू राशु वृषू दणू दृह मुह पणुह विणह	

असु	क्षेपणे	शसु	उपशमने	अनै	प्राणने
यसु	प्रयत्ने	दसु		अनो रुधौङ्	कामे
जसु	मोक्षणे	तसु		युजौङ्	समाधी
तसु	स्तम्भे	असु		सृजौङ्	विसर्गे
दसु		असु	चलने	लिशौङ्	अल्पे च
गुप		क्षसु	संज्ञे	उषूङ्	प्राणिप्रसवे
प्लुप		कलसु	ग्लाने	दूङ्	परितापे
व्युप	विभागे	मदी	हर्षे	दीङ्	क्षये
विस	प्रेरणे		तृङ्	जीङ्	गती
कुस	श्लेषणे	जुपु	वयोदानौ	धीङ्	अनादरे
वुस	उत्सर्गे	भुपु		मीङ्	हिंसायाम्
मुस	संज्ञने	शो		रीङ्	श्रवणे
गसी	परिमाणे	लो		लीङ्	श्लेषणे
लुट	विलोडने	दो	छेदे	वीङ्	वृणोत्यर्थे
उच	समवाये	पो		पीङ्	पाने
अश्च	अधःपतने			ईङ्	गती
अंश्च				प्रीङ्	प्रीती
वृश		शनीङ्	एते मन्तः	भाङ्	माने
कृश		काशौ	प्रादुर्भावे		एते छेदितः
त्रितृष	वरणे	दीपीङ्	दीती	मृषौङ्	तितिक्षायाम्
हृष	तनूकरणे	पूरीङ्	आप्याशने	शुचिरीङ्	पूतिभावे
रुष	पिपासायाम्	तूरीङ्	हिंसागतित्वरणयोः	शहौङ्	बंधने
डिष	तुष्टौ	थूरीङ्	हिंसावयोदान्योः	रञ्जौङ्	रागे
कुप	रोपे	जूरीङ्		शपीङ्	आक्रोशे
गुप	क्षेपे	धूरीङ्			एते जितः
शुप	कोपे	गूरीङ्		इति १२८ दिवादयः स्यविकरणाः	धवः
रुप	व्याकुले च	धूरीङ्	गतिहिंसयोः	शुङ्	अभिपवे
लुप	विमोहने	तूरीङ्	हिंसास्तम्भयोः	पिङ्	बंधने
सुभ		तूरीङ्	दाहे	श्रिङ्	निशाने
लुभ		तूरीङ्	ऐश्वर्ये वा	डुमिङ्	प्रक्षेपणे
गुभ		तूरीङ्	वरणे	चिङ्	चयने
शुभ	गांधर्वे	तूरीङ्	उपतापे	स्तृङ्	आच्छादने
लुभ	संचलने	तूरीङ्	शब्दे	कृङ्	हिंसायाम्
गुभ	हिंसने	तूरीङ्	गती	वृङ्	वरणे
क्लिबू	आर्द्रभावे	तूरीङ्	सत्तायाम्	धुङ्	कंपने
अभिदा	स्नेहे	तूरीङ्	दैर्घ्ये	धूङ्	
अदिबदा	मोक्षे च	तूरीङ्	संप्रहारे		
श्रुधु	वर्धने	तूरीङ्	शाने		
गधु	अभिक्रोदायाम्	तूरीङ्			एते जितः

डुटु	उपतापे	गु	निगारणे	तुफ	}	तृती
श्रु	भवसे	एते मयंतः		तुम्फ		
हि	गतिवृद्धयोः	हङ्	अनादरे	हफ	}	उत्कलेशे
पु	प्रीतौ	धृङ्	स्थाने	हम्फ		
स्यु	चलने च	ङितवेतौ		गुफ	}	ग्रंथने
आप्लु	व्याप्तौ	प्रच्छौ	शौप्तने	गुम्फ		
शक्लु	शक्तौ	वृत्		तुभ	}	पूरणे
राधै	} संसिद्धौ	सृजौ	विसर्गे	तुम्भ		
साधै		द्यौमस्रौ	गुद्धौ	शुभ	}	शोभायें
तिक	} हिंसायाम्	ऊरुजौ	मंगे	शुंभ		ग्रंथे
तिग		ऊसुजौ	कौटिल्ये	रभी	}	हिंसायां च
एव		रशी		चूती		
जिधृषा	प्रागल्भ्ये	रिशौ	हिंयने	मापी	}	गती
दंसु	दंभे	लुषौ		जुन		
अधु	वर्द्धने	स्पृशौ	सर्गें	शुन	}	विधाने
एते मयंतः		लिशौ		विध		
अशृङ्	व्याप्तौ	विच्छौ	गती	पृड	}	सुखने
धिषङ्	सात्त्विके	सृणौ	कर्मणें	मृड		
ङितावेतौ		विद्यौ	प्रवेशे	पृण	}	प्रीणने
इति २७ इनुविकरणाः धवः ।		गुदौ	लोटे	मृण		हिंसायाम्
		पद्लु	अवसातने	तुण	}	कौटिल्ये
		ओमश्चु	छेदने	पृण		कर्मणि शुभे
तुदौञ्	व्यथने	उच्छौ	विवासे	सुण	}	प्रतिज्ञाने
दिशौञ्	आतिसर्जने	अच्छु	इन्द्रियप्रलवमूर्ति- भावयोः	कुण		शब्दोपकरणयोः
भ्रस्रौञ्	पाके	मिच्छ	उत्कलेशे	द्रुण	}	हिंसागतिकौटिल्येषु
द्विबौञ्	प्रेरणे	चर्च		तुण		
एते जितः		जर्ज	परिभाषणे	घूर्ण	}	भ्रमणे
कृती	छेदने	क्षर्क्ष		पुर		दीनैश्चर्ययोः
जिदी	परितापे	त्वच	गुंवरणे	कुर	}	शब्दे
पिश	अवयवे	अच	स्तुतौ	लुर		चित्तलने
वृत्		उज्ज	आर्जवे	खुर	}	छेदने च
रि	} गती	उज्झ	उपसर्गे	मुर		संवेष्टने
पि		लुम	विमोहने	धुर	}	भीमार्थशब्दयोः
धि	धारणे	रिफ	कथनमुद्धनिदाहि- सादानेषु	पुर		उद्यमने
क्षि	निवासगतयोः	अफ		वृह	}	उद्यमने
धू	प्रेरणे	अम्फ	हिंसायाम्	तृह		
मृ	प्राणत्यागे			तृह	}	हिंसार्थाः
क्	विशेषणे			सृह		

इषु	इच्छायाम्	स्फार	स्फुरणे	हृदिर्ज	दीप्तिदेवनयोः
मिष	स्पर्धायाम्	स्फुर		तृदिर्जु	हिंसानादयोः
किल	शैत्यक्रीडनयोः	ब्रुड	उत्सर्गं	एते भितः	
तिल	स्नेहने	ब्रुड	संघाते	जिह्वधीङ्	दीप्ती
चल	विलसने	भृड		जिह्वीङ्	दैन्ये
बिल	संघरणे	हुङ		विदोङ्	विचारे
इल	स्वप्नक्षेपणयोः	तृड	निमज्जने	डितः	
विल	भेदने	स्फल	चलने	कृती	वेष्टने
मिल	गहने	लाल	संचये च	शिष्टु	विशेषणे
हिल	भाषकरणे	णू	स्तवने	पिष्टु	संचूर्णने
सिल	उज्ज्हे	धू	विधूनने	उमंजो	आमर्शने
शिल		गु	पुरीषोत्सर्गं	भुजो	रक्षाशनयोः
उज्जि		धु	गतिस्थैर्ययोः	तृह	हिंसने
लिल		एते मर्षतः			
कुट	अक्षरविन्यासे	कृङ्	शब्दे	उन्दी	कलेदने
पुट	कौटिल्ये	कृङ्	उत्थमने	अंजु	गतिव्यक्तिप्रक्षरणेषु
कुच	संश्लेषणे	गुरीङ्		वृत्	तंचू
व्यच	संकोचने		व्यावामे	जविजी	भये
गुज	व्याजीकरणे	पृङ्	प्रीतिसेवनयोः	इजो	वर्जने
गुड	शब्दे	जुषीङ्	भवचलनयोः	पृची	संपर्चने
लिप	रक्षणे	विबीडो	वीडे	एते मर्षतः	
छुर	क्षेपणे	लजीडो		संगे	इति २५ रुधादयः रनम्भिकरणाः
चुट	छेदने	लसुजीडो	राभस्ये	धवः	
छुट		ज्वजोङ्	प्रीती	तनुज्	विस्तारे
तुट		रभौङ्	डितः	पसुज्	दाने
सफुट	विकसने	उप्लतौङ्	इति १४६ तुदादयः शविकरणाः	क्षसुज्	हिंसायाम्
मुट	आक्षेपप्रमर्दनयोः			क्षिसुज्	
तुट	कलहकर्मणि		धवः	असुज्	अरने
जुड	बंधे			तृसुज्	दीप्ती
कड	मदे			धसुज्	भितः
सुट	संश्लेषणे	रुविजो	आवरणे	वनुङ्	याचने
तड	घसने	भिदिजो	विशरणे	मनुङ्	बोधने
कुड	वात्ये च	क्षिदिजो	द्वैधीकरणे	डितः	
धुट	प्रतिप्राप्ते	रिविजो	विरचने	इति ६ तनादय उविकरणाः	
तुड	लोडने	निचिजो	पृथग्भावे	धवः	
धुड	संघरणे	क्षुदिजो	संप्रेक्षणे		
स्थुड		धुजिजो	बोगे		

हुक्तीन्	द्रव्यविनिमये	क्षीप्नु	हिंसायाम्	ओलङि	उत्तेपे
प्रीन्	वृत्तिदीप्तयोः	शा	अवबोधने	हुल	
श्रीन्	पाके	बंधो	बंधने	जल	अपवारणे
मीन्	हिंसायाम्	श्रंध	प्रतिद्वेषमोचनयोः	पीड	गहने
पिन्	बन्धने	मंध	विलोडने	नट	अवस्यंदने
रुक्नु	आप्रवणे	ग्रंध	संदर्भे	श्रथ	प्रीतिहर्षे
केन्नु	शब्दे	कुंथ	संकलेशे	वध	संयमने
हन्	गतौ	मृद	क्षोदे	पृ	पूरणे
गृह्ण्	उपादाने	मृड	सुखने	वर्द्ध	क्षेदने च
पून्	पवने	गुध	रोषे	ऊर्ज	बलप्राप्तनयोः
स्तृन्	आच्छादने	कुष	निष्कर्षे	इल	मेरणे
कृन्	हिंसायाम्	जुष	संचलने	शुद्ध	
वृन्	वरणे	णभ	हिंसायाम्	चूर्ण	प्रक्षेपे
	अतः	तुभ	विवर्धने	पृथ	
शृ	हिंसायाम्	किलशू	मोजने	संब	संबंधे
कृ		अण	उल्ले	भक्ष	अदने
मृ	पालनपूरणयोः	प्रस	आभीक्ष्णे	सुटि	क्षेदने
पृ		इष्	विप्रयोगे	सुट	
थ	वरणे	विष	स्नेहनसेवनसेवनपूरणेषु	कुट	कुत्तने च
भ	भर्त्सने	मुष		कुट	
ह	भवे	प्लुष	स्तेये	शुद्ध	अल्पीभावे
द	नथे	मुष	पुष्टौ	शुद्ध	
नृ	वयोहानी	पुष	भूतप्रादुर्भावे	अट्ट	अनादरे
जृ	गतौ	सच	एते भवन्तः	गुट्ट	
शृ			संभक्ती	श्वठ	गतिर्धस्कारयोः
ड	शब्दे	वृड्	डित्	श्वठि	
ग			इति ५६ क्रयादयः श्नाधिकरणाः	तुजि	हिंसावलिदान-
	एते भवन्तः		धवः	पिजि	
धून्	अपने	चुर	स्तेये	पिश	निकेतनेषु
प्रीन्	तर्पणे	लुठ		साल्व	
	अतौ	चिति	स्मरणे	श्वल्क	भाषणे
ज्या	हानौ	यत्रि	चूर्णसंकोचने	चल्क	
ल्ली	वरणे	स्तुट	परिहासे	क्रिष्ण	श्लेषणे
प्लो	गतौ	कुट्रि	अनृतभाषणे	पथि	गतौ
री	रेपणे	लड	उपसेवायाम्	पिच	कुट्टने
ली	श्लेषणे	मिदि	स्नेहने	छिद	संवरणे
	वृत्	तिल		भण	दाने
घी	वरणे	स्निह		तड	आघाते
घ्री	भये				

खड्ग	भेदे	घट्ट	चलने	अकं	स्तुती
खाडि		खट्ट	संवरणे	ईड	
कडि		कपय	क्षये	रुप	
वडि		गुस्त	संघाते	चर्न	
मडि	विभाजने	डयि		डुफ	अध्ययने
मडि	भूषायाम्	डिपि		शब्द	भाषणे
छर्द	कल्याणे	पिटि		कण	सगिरादिष्कारणे
पुस्त	नमने	पूय	अभिनन्दने	जभि	निमीरुने
तुद	आदरानादरयोः	पुंस		खुद	नाशने
नक्क	नाशने	रकि		जम	आश्रयणे
धक्क		धूम	बंधने	पश	ताडने
णशि		कीट	कातिकरणे	अम	बंधने
चक्क		पूज	वर्णने	चट	गेणे
चुक्क	व्यथने	शुठ	पूजने	शुफट	हंत्यथाः
तल	शौचकर्मणि	शुठि	आलस्ये	वट	
तल	प्रतिष्ठाकरणे	मार्ज	शोषणे	दिवु	
तुल	उन्माने	गर्ज	शब्दे	अर्ज	
पुल	समुच्चये	धृ		तुष	भर्तने
स्तूल		पचि	सवशे	आठः	प्रतिपत्ते
मूल		तिज	विस्तारे	लस	विशब्दे
डिप		कृत	निशाने	भूष	व्रंटे
कल	क्षेपे	कुचि	आख्यानं	मोक्ष	शिक्षणयोगे
विल		लुचि	छादने	अर्ह	अलंकारे
जसि		तुचि	अर्द्धने	जा	असने
कुडि		हप		यत	पूजने
पल	रक्तणे	मच्छ		निसश्च	नियोगे
शुल्व		मच्छ	व्यक्तयां वाचि	भृष	निकायेपस्कारयोः
शूर्प		शठ	म्लेच्छने	भज	प्रसहने
मुट		शुठि		वस	विश्राणने
वज	माने	जस		चर	स्नेहछेदापहरणेपु
वज	संचूर्णने	रज		च्यु	संचये
शुल्क	मार्गशसंस्कारयोः	धृत	द्विसायाम्	भू	सहने
छवि	संजने	लुष		कृप	भावकरणे
क्षपि	शक्त्याम्	वहं		रक	
क्षजि	क्षत्त्याम्	गर्द		रज	
श्वर्त	कृच्छ्रजीवने	गुर्द		अंच	आस्वादने
	गमने च	गुर्द	अभिकांक्षणे	लिशि	विशेषणे
			पूर्वनिकेतने		चित्रकरणे

मुद	संसर्ग	सूत्र	अवमोचने	सुह	ईश्यायाम्
वस	वारणे	मूत्र	प्रसवणे	भाम	क्रोधे
मुच	प्रमोचने	रूक्ष	पाक्ष्ये	सूच	पैशुन्ये
(आस्वादः सकर्मकात्)		बष्क	दर्शने	खेट	भक्षणे
पुष	धारणे	कच्छ	शैथिल्ये	खोट	क्षेपे
दल	विदारणे	चित्र	चित्रकरणे	गोम	उपक्षेपे
पट			कदाचिद्दर्शने च	कुमार	क्रीडने
पुट		अंस	समाधाते	शील	उपधारणे
सुट		मिश्र	संपर्चने	साम	संस्वने
सुजि		छिद्र	कर्णभेदे	बेल	कालोपदेशे
तुजि		अंध	दृष्ट्युपसंहारे	पल्यूल	लयनपवनयोः
पिजि		दंड	दण्डनिपाते	वास	गतिमुखसेवनयोः
भजि		अंक	लक्षण्ये	गवेष	मार्गणे
पिसि		अंग	पदलक्षण्ये च	वास	उपसेवायाम्
कुसि		पर्या	हरितभावे	निवास	आच्छादने
दसि		वर्ण	वर्णक्रियाविस्तारः	भाज	पृथक्करणे
लसि			गुणवचनेषु	सभाज	प्रोतिदर्शनयोः
वसि		कय	वदने	ऊन	परिहाने
कुशि		वर	ईश्यायाम्	कूट	दाहे
घटि		गण	संख्यान्ये	कैत	
घृहि	भाषार्थाः	शठ	सम्प्रगवभाषणे	ग्राम	ग्रामंश्रणे
गुप		श्वठ		कुण	
धूप		पट	प्रथे	स्तैन	चौधे
विच्छ		घट	तित्तिच्छायाम्	वन्नि	विभाजने
चोव		मृष	त्यागे	लज्जि	प्रकाशने
वर्ह		रह		पार	
वल्द		स्तन	देवशब्दे	तीर	कर्मसमाप्तौ
पुप		गदी		स्तोम	श्लाघायाम्
लोकृ		पस	गतौ वा	दुल	
लोचृ		पष (अतिः)	"	दुःख	तत्क्रियायाम्
मद		स्वर	आक्षेपे	रस	आस्वादस्नेहयोः
नुप		रच	प्रतिपत्ने	व्यय	वित्तसमुत्सर्गे
तर्क		कल	गतौ	रूप	रूपक्रियायाम्
श्रु		चह	परिकल्कने	छेद	द्वैधीकरणे
पूर	आव्यायने	मह	पूजायाम्	लाम	प्रेरणे
स्वद	संवरणे	सर		मण	गात्रविचूर्णने
		कृप	शैथिल्ये		एते मवन्तः
		अथ			

पदे	गतौ	कृतौ	हितौ	भय	}	हिंसायाम्
ग्रहे	ग्रहणे	गुरौ	उद्यमने	क्रय		
मृगौ	अन्वेषणे	कुस्मै	कुम्भतो	हिसि	}	बन्धने च
कुहौ	विस्मापने	समै	}	प्रय		
शूरौ	}	लक्षे	आलोचने	चीक	}	आमर्षणे
बोरौ		कुस्यै	अवक्षेपे	शोक		
स्थूळ	परिवृंहणे	कुटे	प्रतापने	आङः सद		गतौ
	वृत्	भलौ	आभंडने	जुष		परितर्पणे
अर्धे	उपयाच्यायाम्	वचै	प्रसंभने	अंय	}	संदर्भे
सत्रे	संदानक्रियायाम्	वृगै	शक्तिबंधने	ग्रंथ		
गर्वे	माने	मदै	तृप्ति योगे	आलु		लंभने
संप्रामै	युद्धे	मदै	परिकूजे	तनु		अदोषहिंसायाम्
नितै	संविप्तौ	विषे	ख्याननिवासेषु	गेः (गिपूर्वस्तनुः)		दैर्घ्ये
छदै	संवरणे	मनै	स्तभे	वच		संदेशवचने
दंशौ	दशने	युङ्	जुगुप्सायाम्	मान		पूजायाम्
दशौ	दर्शने च	गृह्	विशपने	गर्ह		विनिन्दने
डंभे	}	}	ऊँदितः	माणै		अन्वेषणे
डिंभे			दर्शनांकनयः	कटि		शोके
तजै	कुटुम्बधारणे	लक्ष्म	मित्	गुज्		शौचादंकारयोः
मंजै	गुप्तभाषणे	युजौ	}	भृप		प्रसहने
स्पर्शौ	ग्रहणश्लेषणयोः	पिच				एते सर्वतः
भर्त्सै	}	प्रह	मर्षणे	मृगै		तितिक्षायाम्
तजै		ईर	क्षेपणे	तपै		दाहे
वस्तै	}	ली	द्रवीकरणे	वदे		भाषणे
प्रथे		वृजौ	वर्जने	अर्चै		पूजायाम्
किष्कै	हिंसायाम्	वृ	वयोदानौ	अर्द		हिंसायाम्
निष्कै	परिमाणे	रिच	वियोजनसंपर्चनयोः	शुदै		शोधने
चलौ	ईसायाम्	शिष	असर्वोपयोगे			प्रेदितः
कुरौ	संकोचने	विपूर्वौ (वि-शिष)	ऽतिशये	वृज्		वगणे
तुरौ	पूरणे	तृप	प्रीणने	धूज्		कंपने
भूरौ	आशायाम्	छुद	संदीपने	प्रीभ्		तर्पणे
शठै	श्लघावाम्	छुद	अपवारणे			जितः
यत्तै	पूजायाम्	दभी	भये			इति ३५१ चुरादयो धवः
		मी	गतौ			समाप्ताः ।

पाठप्रयोजनमनिष्कमिड्विकल्पे द्वेच्छप्रभृतिरव्योनिदवागनैश्च ।

दोनत्वमिड्विकलता च यथाक्रमेण धूर्ता सुधीभिरधिगम्यमिता स्वरायाम् (?) ॥

पादाभ्योजनमन्मानवपतिमकुटानर्धसाधिव्यतारानीकासंसेदिताद्यद्युतिललितनखानीकश्रीतांशुचिम्बः ।

दुर्धारानङ्गवाणाम्बुसहस्रमकरोदध्वस्तमिध्यान्धकारः शब्दवक्त्रा स जीयात् गुग्मिधिगुणनन्दिनतीशस्सुसौक्यः ॥